महामतिश्रीमाधवकरप्रणीतं

माधवनिदानम्

महामहोपाध्याय-श्रीविजयरक्षित-श्रीकण्ठदत्ताभ्यां
विरचितया मधुकोशाख्यव्याख्यया समुल्लसितम्

उत्तरार्द्धम्

दैवज्ञदिवाकरश्रीपण्डितदेवीचन्द्रात्मजेन आयुर्वेदाचार्यकविराजपण्डित-
श्रीदीनानाथशर्मशास्त्रिवैद्यवाचस्पतिना लवपुरीयश्रीमद्दयानन्दायुर्वैदिक-
महाविद्यालयस्य निदान-शारीर-कल्प-शल्याद्यध्यापकेन विरचितया
यशोवतीटिप्पणीसहितया समूलमधुकोशविकासिन्याख्यया
हिन्दीव्याख्यया समलङ्कृतम्

तच्चेदम्

आयुर्वेदाचार्यकविराजप्रभृत्युपाधिविभूषितेन पन्तोपाह्वश्रीपण्डितपूर्णानन्द-
शर्मवैद्यशास्त्रिणा हरिद्वारस्थ-ऋषिकुलीयायुर्वैदिकमहाविद्यालयस्थभूत-
पूर्वायुर्वेदप्रधानाध्यापकेन तथा लवपुरीयश्रीमद्दयानन्दायुर्वैदिकमहा-
विद्यालयस्य वर्तमानमधुकोशाद्यध्यापकेन सुसंशोधितम्

प्रकाशक

मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास
संस्कृत हिन्दी पुस्तक विक्रेता
सैदमिट्ठा बाज़ार, लाहौर.

प्रथमावृत्तिः] संवत् १९९४ विक्रमी [मूल्यम् ६)

निदानोक्त रोगों के विभिन्न भाषाओं में नामों का निर्देश

उत्तरार्द्ध

संस्कृत नाम	अरबी नाम	इंग्लिश नाम	देशी नाम
प्रमेह	जीरयान	Anomalies of urinary secretion or Diseases of the urine डिसीजेस ऑफ दी यूरिन्	प्रमेह
उदक मेह		Polyuria or. Diabetes insipidus डायबिटिस इन्सिपिडस	
पिष्ट मेह		Chylurea काल्यूरिया	
हस्ति मेह		False incontinence of urine फाल्स इन कान्टिनन्स आफ यूरिन or Anuresis अन्युरेसिस	
लाला, वसा,		Lipuria लायप्यूरिया	
मज्जामेह		Albuminuria अल्ब्यूमिन्यूरिया	
रक्तमेह	बौल उल दम	Haematurea हिमेच्यूरिया	
शुक्रमेह	जीरयान मनी	Spermatorrhoea स्परमटोरिया	
इक्षुमेह	झयाबीतुस	Alimentary glycosuria अली मेंटरी ग्लायकोस्यूरिया or Diabetes mellitus डाई बीटिस मेलिटस	
सान्द्रमेह		Mucous in urine म्युकस इन यूरिन	
सुरामेह		Phosphaturia फोस्फेच्यूरिया	
सिकतामेह		Passing of grovel' or urates in urine	
क्षारमेह		Alkaline urine एल्कलाईन यूरिन	
हारिद्रमेह		Choluria कोल्यूरिया or Bile in urine बाईल इन यूरिन	
प्रमेहपिडका		Carbuncle कार्बंकल	
मेदोवृद्धि	समन मुफरत	Obesity ओबेसिटि	
ऊर्ध्ववात		Eructation इरक्टेशन	
प्रत्यष्ठीला		Ovaritis ओवेरायटिस	
वाताष्ठीला		Typhlitis टायफ्लायटिस or Enlargement of prostrate or cancer of the rectum or prostrate	
प्लीहोदर	वरम उल तिहाल	Chronic enlargement of the spleen	

		क्रानिक इन्लार्जमेन्ट आफ दी स्प्लीन
यकृद्दाल्युदर	वरम उल कबिद	Hepatitis, Hepatic Enlargement हेपटायटिस, हेप्याटिक इन्लार्जमेण्ट
जलोदर	इस्तिस्का	Ascites असायटिस
बद्धगुदोदर		Pelvi rectol constipation or Dyschezia or Intestinal obstruction इन्टेस्टाइनल आब्स्ट्रकशन.
शोथ	वरम	Swelling, Dropsy. Anasarca, Oedema, स्वेलिंग, ड्राप्सी, अनासार्का, इडीमा.
क्षतोदर	कुरुह उल अमआ	Ulceration of the bowel. अलसरेशन आफ दी बावेल or Peritonitis due to perforation of the bowel.
वृद्धि		Scrotal swelling, or. Scrotal Enlargement स्क्रोटल इन्लार्जमेन्ट.
मूत्रज वृद्धि	किल्ल तुल्ल मेआ	Hydrocele हाईड्रोसील
दोषज वृद्धि	वरम उल उन्सियेन	Orchitis आरकायटीस.
रक्तज वृद्धि		Haematocele हिम्टोसील.
वातज वृद्धि		Chronic orchitis क्रानिक आर्काईटस
पित्तज वृद्धि		Acute orchitis अक्यूट आर्काईटस.
कफज वृद्धि		Tubercle Testes ट्यूबरकल टेस्टिस.
मेदोज वृद्धि	अभीम उल उन्सियेन	Elephantiasis of the scrotum एलिफैन्टिअसिस आफ स्क्रोटम.
अन्त्र वृद्धि	किल्ल तुल अमआ	Inguinal hernia इन्ग्वायनल हर्निया.
गलगण्ड		Goitre Bronchocele, गायटर ब्रान्कोसील.
अपची / गण्डमाला	खना भीर	Chronic tuberclous lymphadenitis, or Scrofula स्क्राफुला or tubercle glands ट्यूबरकल ग्लैन्डस.
मेदोऽर्बुद		Fatty tumour फॅटी ट्यूमर
मांसार्बुद	सरतान	Myoma मायोमा
रक्तार्बुद		Cancer केन्सर
अर्बुद	वगूर	Malignant tumour मलिग्नण्ट ट्यूमर

ग्रन्थि		Enlarged lymphatic gland इन्लार्जेड लिंफटिक ग्लैंड
श्लीपद	दाउ्ल फील	Elephantiasis एलिफैन्टि असिस
विद्रधि	दुबेला	Abscess
व्रण शोथ	आबला	Inflammation इन्फ्लेमेशन
शारीर व्रण		Idiopathic Ulcer ईडियो पैथिक अलसर
सद्योव्रण		Traumatic wound ट्रोमेटिक वुण्ड
छिन्न		Slashed स्लैशड
भिन्न		Punctured पंकचर्ड
विद्ध		Stab स्टेब
क्षत		Contused wound कन्ट्यज्ड वुण्ड
पिच्चित		Crushed क्रश्ड
घृष्ट		Excoriated एक्स्कोरिऐटिड
अस्थिभग्न	कस्त्र	Fracture फ्रैक्चर
सन्धि विश्लेष	खल आ	Dislocation डिस्लोकेशन
अश्वकर्ण		Spiral fracture स्पायरल फ्रैक्चर,
मज्जागत		Impacted fracture इम्फैक्टेड फ्रैक्चर
अस्थिच्छल्लिका		Green stick fracture ग्रीनस्टिक फ्रैक्चर
नाडी व्रण	नासूर	Sinus, Fistula सायनस, फिस्चुला
भगन्दर	नवासीर	Fistula in Ano फिस्चूला इन एनो
लिङ्गार्श	शालील उल कुजिब	Warts वार्ट्स
कुष्ठ		Diseases of the Skin or Dermatoses. डिसीजेस आफ दी स्किन, डर्माटासिस
महाकुष्ठ	जुझाम	Leprosy लेप्रसि
सिध्म	खल्फ़	Ptyriasis versicolor पिटिरियासिस् वार्टीकलर Cloasma ptyriasis क्लोआजमाटिरिअसिस
चर्मकुष्ठ		Zerodirma ज़ेरोडर्मा चंवल वा.
किटिभ		Psoriasis सोरायासिस
वैपादिक कुष्ठ		Rhagades हेगेड्स
अलसक		Lechen लीचेन
कच्छू		Scabies Itch स्केबीस इच
विस्फोटक		Impetigo इम्पेटिगो
शतारु		Rupia रूपिया
बिचर्चिका		Pemphigus पैंफिगस
दद्रु	कुबा	Ring worm or Tinea रिंगवर्म या टिनिया

किलास	वरस अबिजय	Leucoderma ल्यूकोडर्मा
पामा	जर्ब	Eczema एगज़ीमा
विसर्प	हुमरा	Erysipelas एरिसिपेलस
ग्रन्थिविसर्प		Erythema nodozum एरीथिमा नोडोज़म
कर्दमविसर्प		Cellulitis सेल्युलाईटिस
क्षत विसर्प		Traumatic erysipelas ट्रोमेटिक एरिसिपेलस्
शीत पित्त		Urticaria. अर्टिकेटिया
विस्फोट		Exenthymeta एकज़ेन्थीमेटा
मसूरिका	जुदरी	Small pox स्माल पौक्स
रोमान्तिका		Measles मीजल्स
इन्द्रलुप्त	इन्तशार उल शअ्र	Falling of hair, baldness फालिङ्ग आफ हेअर, बाल्डनेस
पाषाणगर्दभ		Epedamic parotitis, or Mumps मम्पस
विदारिका		Bubo ब्यूबो
पलित	शेब	Premature grey hair प्रेमेच्युर ग्रे हेअर
मुखदूषिका	बशूरउल लुबन	Acne एक्नी
मषक	शालील	Mole मोल
गुदभ्रंश	खरूजउलमुकअद	Prolapsus Ani प्रोलेप्सिस एनाय
तिलकालक	खाल	Non elevated mole, anychea
चिप्प	दाखस	Whitlow ह्विटलो Any cheta purutenta
सन्निरुद्ध गुद		Stricture of the rectum स्ट्रिकचर आफ दी रेक्टम
कक्षा		Herpes Zoster हर्पीस ज़ोस्टर कच्छरैली
कदर		Corn कार्न
निरुद्धप्रकश		Phimosis फाईमोसिस
परिवर्तिका		Paraphimosis प्याराफायमोसिस
अवपाटिका		Tear in the prepuce टेयर इन दी प्रेप्यूस
अहिपूतना	हकउलमुकअद	Infantile erythema of jacquet इन्फन्टायल एरिथीमा आफ जाक्वेट or Napkin rash न्यापकिन रैश or Sore buttocks सोअर बटकस or Pruritus anii प्ररायटस एनाय
उपदंश	जुम्राह	Soft chancre सोफ्ट शेंकर

फिरंगोपदंश		Hard chancre syphilis हार्ड शैंकर सिफलिस्	
खलिवर्धन	असनानउल भ्मायदा	Extra tooth एक्सट्रा टूथ	अक्कदाढ़
दन्तनाडी	कुरुह उल लशा	Sinus in the gums सायनस इन दी गम्स	
क्रिमिदन्तक	दीदान उल लशा	Caries of teeth करीज आफ टीथ	
दन्तहर्ष	जर्स	odontites ओडन्टायटीज or Irritation in the tooth इरिटेशन इन दी टूथ	
दन्तशर्करा	हजर	Tartar टार्टर	
श्यावदन्त		Black or necrosed tooth ब्लैक और नैक्रोभ्ड टूथ	
कराठशुराडी		Elongated uvula एलोंजेटेड युव्हुला	
उपजिह्वा	ज(द) फद उल लसान	Ranula रेन्युला	
मुखरोग (सर्वसर)		Stomatitis स्टोमेटायटिस	
शीताद		Spongy gums स्पन्जी गम्स	
दन्तवेष्ट		Pyorrhoea alveolaris पायोरिआ अल्वि ओलारिस or Suppurative gingivitis सप्युरेटिव्ह जिन्जिवाइटिस	
दन्तपुप्पट शौषिर		Gum boil गम बोइल	
अलास		Sublingual abscess सब्लिन्ग्वल ऐब्सेस	
ताल्वर्बुद		Palatal cancer पेलेटल कैंसर	
कर्णनाद	तनीन, वदी	Noises in the ear नायजेज इन दी इअर	
कर्णस्राव	इन्फज़ार उल उभ्मल	Otorrhoea ओटोह्यिा	
कर्णशूल	वजअ उल उभ्मन	Otitis, otalgia ओटायटिस ओटेल्जिया	
कर्णपाक	कुर्हतुल उभ्मन	Suppuration in the ear सप्युरेशन इन दी इअर	
पूतिकर्ण		Faetid discharge from the ear फीटिड डिस्चार्ज फ्रोम दी इअर	
क्रिमिकर्णक	दीदान उल उभ्मन	Worms in ear वर्म्स इन इअर	
कर्णशोथ	वर्म उल उभ्मन	Inflammation of the ear इन्फ्लेमेशन आफ दी इअर	
बाधिर्य	कर	Deafness डेफनेस	
अपीनस		Ozoena ओज़ीना	
नासापाक	बशूर उल अनफ	Pustule in the nose, suppurative rhinites पुस्चुल इन दि नोज सप्युरेटिव्ह हायनायटिस	

क्षवथु	अतूस	Sneezing स्नीझिंग
नासाशोष	जफाफ उल अनफ	Dryness of nose ड्राइनेस आफ़ नोज
प्रतिश्याय	जुकाम	Catarrah or cold in the nose कटाह् और कोल्ड इन दि नोज
अभिष्यन्द	दमआ	Ophthalmia ओफ्थोल्मिया
अक्षिपाकात्यय	रमद	
शिरोत्पात	सबल	Ponnus पोनस
शुक्र	न्याज	Corneal ulcer कॉर्नियल अलसर
पित्तविदग्धदृष्टि	जहर	Day Blindness डेब्लाइन्डनेस Hemaralopia हिमेरेलोपिया
पाददारी		Rhagades or Cracks in the sole क्रेक्स इन दि सोल
पद्मिनी कण्टक		Papilloma of the skin पेपीलोमा ओफ दी स्किन
कर्णगुथक		Wax in the ear वेक्स इन दी इअर
तुण्डीकेरी, अध्रुष		Abscess of the palate ऐब्सेस ऑफ दी पैलेट
मांस तान		Diphtheria डिफ्थेरिया
श्लेष्म विदग्ध दृष्टि	अशा	Night blindness नाईट ब्लाइन्ड नेस Nyctalopia निक्टलोपिया
अर्म		Pterygium टेरिजियम
नेत्रनाड़ी	नासूर उल मेआ	Lachrymal fistula लेक्रिमल फिस्च्युला
लिङ्गनाश	नभुल उल मेआ	Cataract केटेरेक्ट
क्रिमिग्रंथि		Parasites on suppurated glands पेरा साइटस
वर्त्मार्श		Granular conjunctivitis ग्रेन्युलर कन्जन्कटिव्हायटिस
अञ्जन नासिका		Stye स्टाय
वातहतवर्त्म	इस्तिर्खाय उल जुफन	Ptosis टोसीस
निमेष		Blepharosposm ब्लेफेरोस्पज्म
कुञ्चन	इलतिसाक उल जुफन	Atrophy एट्रोफी
पक्ष्म कोप	शअर मुन्कलव	Trichiasis ट्रिकियासिस
उपपक्ष्म	शअर सायद	Trichiasis ट्रिकियासिस
पक्ष्मशात	इन्तशार उल अहदाब	Tinea tarsi टिनिया टारसाय
शिरःशूल	सुदाअ	Headache हेडेक
अर्धावभेद	शकीका	Hemicrania हेमिक्रेनिया

रक्त प्रदर	इस्त हाजा	Metrorrhagia मेट्रोहेजिया
श्वेत प्रदर		Leucorrhea ल्यूकोहिया
वन्ध्यात्व	अक्र	Sterility, barrenness स्टेरिलिटी, बेरेनेस्स
योनिकन्द		Vaginal polypus व्हेजायनल् पोलिपस्
गर्भस्राव	इस्तकात हमल	Abortion एबोर्शन
गर्भपात		Miscarriage मिस्क्यारेज
मूढगर्भ		Malpresentation of the Foetus or Difficult labour डिफिकल्ट लेबर
मक्कल शूल		After pains आफ्टर पेन्स
स्तनरोग-कोप		Mammary abscess मेमेरी एब्सेस or Mastitis or inflammation of the breasts मासटायटिस, इन्फ्लेमेशन आफ दी ब्रेस्ट
स्तन्यदुष्टि		Diseased milk डिसीजड मिल्क
सूतिका रोग		Peurperal fever प्यूएरे पेरल फीवर
गति		Presentation प्रेजेन्टेशन
संकीलक		Vertex वर्टेक्स or chest back and side presentation
प्रतिखुर		Presentation of the head with two hands and two legs or hands and feet
बीजक		Head presentation with one or two hands prolapsins or head with both hands हेड विद बोथ हैन्ड्स
परिघ		Transverse presentation in general or Transverse ट्रान्सवर्स
बालरोग		Diseases of children डिसीज्यज् आफ चिल्ड्रन
कुकूणक		Ophthalmia in !children ऑफ्थै-ल्मिया इन चिल्ड्रन
पारिगर्भिक		Pining पायनिंग
तालुकण्टक		Polypus on hard palate
महापद्म विसर्प		Cellulitis सेल्युलाइटिस
योनिव्यापद		Disease of vagina डिसीज आफ [illegible]

आर्तव	Menstruation मेनस्टुएशन
सर्पविष	Snake poisoning स्नेक प्वैजनिंग
आखुविष	Rat bite fever or poisoning रैट बाइट् फीवर और प्वैजनिंग
वृश्चिकविष	Scorpion bite or poisoning स्कौरपीअन् बाइट आर प्वैजनिंग
स्नायुक	Guinea worm गिनी वर्म

माधवनिदानान्तर्गतविषयाणामनुक्रमणिका ।

उत्तरार्द्धम् ।

३६ शोथनिदानम्

३७ वृद्धिनिदानम्

३८ गलगण्डगण्डमालापची-ग्रन्थ्यर्बुदनिदानम्

३९ श्लीपदनिदानम्

४० विद्रधिनिदानम्

४१ व्रणशोथनिदानम्

४२ शारीरव्रणनिदानम्

४३ सद्योव्रणनिदानम्

४४ भग्ननिदानम्

४५ नाडीव्रणनिदानम्

४६ भगन्दरनिदानम्

४७ उपदंशनिदानम्

४८ शूकदोषनिदानम्

४९ कुष्ठनिदानम्

५० शीतपित्तोदर्दकोठनिदानम्

५१ अम्लपित्तनिदानम्

५२ विसर्पनिदानम्

५३ विस्फोटनिदानम्

५४ मसूरिकानिदानम्

५५ क्षुद्ररोगनिदानम्

५६ मुखरोगनिदानम्

५७ कर्णरोगनिदानम्

५८ नासारोगनिदानम्

५९ नेत्ररोगनिदानम्

६० शिरोरोगनिदानम्

६१ असृग्दरनिदानम्

६२ योनिव्यापन्निदानम्

६३ योनिकन्दनिदानम्

६४ मूढगर्भनिदानम्

६५ सूतिकारोगनिदानम्

६६ स्तनरोगनिदानम्

६७ स्तन्यदुष्टिनिदानम्

६८ बालरोगनिदानम्

६९ विषरोगनिदानम्

निदानपरिशिष्टम्

१ मन्थरज्वरनिदानम्

२ ग्रन्थिकज्वरनिदानम्

३ वातश्लैष्मिकज्वरनिदानम्

४ सन्धिकज्वरनिदानम्

५ श्वसनकज्वरनिदानम्

६ आक्षेपकज्वरनिदानम्

७ दण्डकज्वरनिदानम्

८ कर्णमूलिकज्वरनिदानम्

९ माल्टाज्वरनिदानम्

१० कालज्वरनिदानम्

११ परिशिष्टज्वरनिदानम्

१२ औपसर्गिकविसूचिकानिदानम्

१३ उरस्तोयनिदानम्

१४ फुफ्फुसावरणप्रदाहनिदानम्

१५ स्मरोन्मादनिदानम्

१६ भ्रमोन्मादादिनिदानम्

१७ महागदनिदानम्

१८ वृक्करोगनिदानम्

१९ अग्न्याशयरोगनिदानम्

२० तान्तविकरोगनिदानम्

२१ चुल्लिकाग्रन्थिरोगनिदानम्

२२ क्लैब्यरोगनिदानम्

२३ शुक्रदोषनिदानम्

३८ अंशुघातनिदानम्

३९ शीतलानिदानम्

४० अशीतिवातरोगनामानि

४१ चत्वारिंशत्पित्तरोगनामानि

४२ विंशतिः श्लेष्मरोगनामानि

ॐ

मधुकोषभाषाटीकाभ्यां सहितं

माधवनिदानम्

अथ प्रमेहप्रमेहपिडकानिदानम्।

प्रमेहस्य[1] निदानमाह—

आस्यासुखं स्वप्नसुखं दधीनि
ग्राम्यौदकानूपरसाः पयांसि।
नवान्नपानं गुडवैकृतं च
प्रमेहहेतुः कफकृच्च सर्वम्॥१॥

टीकाकर्तुर्मङ्गलाचरणम्—

कुमुदबान्धवकुन्दतुषारभा रुचिरक्षौमदुकूलधरा शुभा।
सुसितपद्मवरासनसंस्थिता जयति मङ्गलदा हि सरस्वती॥१॥

आस्यासुख (सुख से बैठने वा अधिक बैठे रहने से), स्वप्नसुख (अधिक सुखपूर्वक सोने से), दधि (यहां जाति के कहने के कारण बहुवचन है), वाराह आदि जन्तुओं के मांस, मत्स्यकूर्मादिक जल के जीवों का मांस, हंस चक्रवाक आदि आनूपदेशज जीवों का मांस, दूध, नए अन्न, नए (वर्षा का प्रथम) जल और गुड़ के पदार्थ ये सब तथा सम्पूर्ण कफकारक आहार विहारादि प्रमेह के कारण हैं।

---

१ सं०—प्रमेह, मेह; अ० जीरयान; इं० डिसीजेस् ऑफ दि यूरिन (Diseases of the urine).

वक्तव्य—यहां 'कफकृच्च सर्वम्' का यह भाव है कि ये सब हेतु प्रमेह-कारक हैं और कफकारक भी हैं अर्थात् प्रायः इनसे श्लैष्मिक प्रमेह होते हैं। दूसरा इसका यह भाव भी है कि जिस प्रकार इनके सेवन से प्रमेह और कफ होता है उसी प्रकार इसके विरुद्ध सेवन से प्रमेह और कफ शान्त होता है, जिससे श्लैष्मिक प्रमेहों की साध्यता होती है। यद्यपि इन हेतुओं से भी दूसरे (वातादिकों के) प्रमेह हो जाते हैं परन्तु वे कफज प्रमेहों के पश्चात् होते हैं अथवा ये सब सामान्य हेतु हैं। एवं जब इनके साथ और हायनक, उद्दालक आदि उष्ण, अम्ल, लवणादि वा कटु तिक्त कषायादि सेवन किए जाते हैं तो क्रमशः कफ, पित्त और वात के मेह होते हैं। यदि केवल यही हेतु सेवन किया जावे तथा औरों का सेवन न किया जावे तो सामान्य प्रमेह ही होगा और वह भी प्रायः श्लेष्मा के प्रमेहों का ही कोई एक भेद होगा कारण कि ये हेतु भी कफवर्धक हैं।

चन्द्रोदयप्रणयपीवरदुग्धसिन्धुपूरभ्रमं वहति यद्गुणकीर्तिगुच्छः।
तेन व्यधायि गुरुणा विजयेन शिष्यप्रेम्णाऽश्मरीरुगवधेर्मधुकोषबन्धः ॥१॥
श्रीकण्ठदत्तभिषजा गुरुभक्तिलेशादारभ्यते प्रभृति संप्रति मेहरोगात्।
सूक्तीर्विचिन्त्य मधुशीकरमुद्गिरन्तीष्टीकाकृतः कतिपयस्य तदीयशेषः ॥२॥

मधु०—अश्मरीरोगानन्तरं वस्तिविकृतिसाम्यात्प्रमेहनिदानमुच्यते-आस्यासुखमित्यादि। आस्या उपविष्टस्य चेष्टोपरमः, तेन कृतं सुखमास्यासुखम्, एवं स्वप्नसुखमिति द्रष्टव्यम्। तेनासनादि-दोषादास्यादुःखं स्वप्नदुःखं वा न प्रमेहहेतुः। गुडवैकृतमिति गुडविकाराः शर्करादयस्तथा गुड-कृताश्च भक्ष्याः। प्रमेहहेतुः कफकृच्च सर्वमित्यनुक्तहेतुसंग्रहार्थमुक्तम्। एष साधारणो हेतुः प्रमेहस्य; विशेषहेतुस्तु चरके निदानस्थाने—"हायनकोद्दालक" इत्यादिना कफजस्य, 'उष्णाम्ल-लवण'-इत्यादिना पित्तजस्य, 'कटुतिक्तकषाय' (च. नि. स्था. अ. ४) इत्यादिना वात-जस्याभिहितः। एतेन सामान्यहेतुसहितो विशिष्टहेतुः कफजादिप्रमेहस्य। किंच कफजनिदान-मप्येतदास्यासुखादि बोद्धव्यम् ॥१॥

इसका अर्थ सुगम है।

प्रमेहस्य संप्राप्तिं तत्तद्दोषजभेदानां साध्यत्वादिकञ्च दर्शयति—

मेदश्च मांसं च शरीरजं च
क्लेदं कफो वस्तिगतः प्रदूष्य।
करोति मेहान् समुदीर्णमुष्णै-
स्तानेव पित्तं परिदूष्य चापि ॥२॥
क्षीणेषु दोषेष्ववकृष्य धातून्
संदूष्य मेहान् कुरुतेऽनिलश्च।

श्लेष्मा मेद, मांस और शरीरज क्लेद को दूषित (उनसे मिल) कर प्रमेहों को कर देता है। इसी प्रकार उष्णवीर्य (लालमरिचादि) द्रव्यों (के सेवन) से

बढ़ा (कुपित) पित्त उन्हीं (मेद, मांस और लसीका) को दूषित कर बस्ति में जाकर पैत्तिक प्रमेहों को कर देता है। इसी प्रकार पित्तकफ के क्षीण होने पर बढ़ा हुआ वायु धातुओं को दूषित कर उनके साथ बस्ति में प्राप्त हो वातिक प्रमेहों को कर देता है। यथोक्तमपि—"मूत्राघाताः प्रमेहाश्च शुक्रदोषास्तथैव च। मूत्रदोषाश्च ये चापि बस्तौ ते सम्भवन्ति हि"।

साध्याः कफोत्था दश, पित्तजाः षड्
याप्या, न साध्यः पवनाच्चतुष्कः ॥३॥
समक्रियत्वाद् विषमक्रियत्वा-
न्महात्ययत्वाच्च यथाक्रमं ते।

कफ से होने वाले (श्लैष्मिक) दस प्रमेह साध्य, पित्त से होने वाले (पैत्तिक) छः प्रमेह याप्य और वायु से होने वाले (वातिक) चार प्रमेह असाध्य होते हैं। इनमें कारण यह है कि श्लैष्मिक प्रमेहों में दोष और दूष्यों की समान चिकित्सा होने से ये साध्य, पैत्तिक प्रमेहों में दोष और दूष्यों की परस्पर विरुद्ध चिकित्सा होने से ये याप्य और वातिक प्रमेहों में दोषों के गम्भीर धातुओं का आश्रय होने से, वा इसके विनाशकारक होने से, अथवा आशुकारी होने से ये असाध्य हैं।

वक्तव्य—इस श्लोक की व्याख्या में तीन शब्द आए हैं—एक समक्रियत्वात्, दूसरा विषमक्रियत्वात् तथा तीसरा महात्ययत्वात्। इनका स्पष्ट अर्थ नीचे यथाक्रम दर्शाया जाता है। १ समक्रियत्वात् का अर्थ है कि दोष और दूष्यों की एक ही चिकित्सा होने से (श्लैष्मिक मेह साध्य हैं) उसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है कि श्लैष्मिक प्रमेहों में दोष कफ है, और दूष्य रस, मांस, मेद, मज्जा, शुक्र, लसीका और ओज हैं। एवं जो पदार्थ कफवर्धक हैं, वे ही रसादिवर्धक हैं, और जो रसादिवर्धक हैं, वे ही कफवर्धक; इसी प्रकार जो पदार्थ कफ को शान्त करने वाले हैं, वे ही रसादि की भी शान्ति करते हैं; और जो रसादिशामक हैं, वे ही कफनाशक भी हैं। यथा—जैसे आस्यासुखादि कफवर्धक हैं, वैसे ही रसादि के वर्धक भी हैं; एवं जैसे कटुतिक्तकषाय आदि रसयुक्त पदार्थ कफशामक हैं, वैसे ही यहां रसादि दूष्यों को भी शमन करने वाले हैं। इस प्रकार एक ही चिकित्सा दोनों (दोष और दूष्यों) में कार्यसिद्धि करती हैं, इसी को समक्रियता कहते हैं। श्लैष्मिक प्रमेहों में इसी समक्रियता के होने से वे (श्लैष्मिक प्रमेह) साध्य हैं। अब यहां यह शंका होती है कि यह साध्य क्यों है? क्योंकि—"नच तुल्यगुणो दूष्यो न दोषः प्रकृतिर्भवेत्"—(च. सू. स्था. अ. १०) चरक में कहा है। इसका उत्तर यही है कि यहां व्याधि का स्वभाव ही ऐसा है, जिससे कि यहां तुल्यदूष्यता होने से ही यह सुखसाध्य है; जैसे

कहा भी है कि "ज्वरे तुल्यर्तुदोषत्वं प्रमेहे तुल्यदूष्यता। रक्तगुल्मे पुराणत्वं सुखसाध्यस्य लक्षणम्"। २ विषमक्रियत्वात् का अर्थ यह है कि दोष और दूष्यों की चिकित्सा परस्पर विषम (विरुद्ध) होने से (पैत्तिक मेह याप्य हैं) । यथा—पैत्तिक मेहों में दोष पित्त और दूष्य रस, मांस आदि हैं; एवं यदि शीतमधुरादि पित्त (दोष) हरण क्रिया की जावे, तो वह रसादि (दूष्यों) की वर्धक है; और यदि उष्ण, कटु आदि रसादि शमक क्रिया की जावे तो वह पित्तवर्धक है। इस प्रकार इनकी चिकित्सा विषम है; और इसी कारण ये (पैत्तिक मेह) याप्य हैं। उन्हें असाध्य इस कारण नहीं कहा कि कुछ एक द्रव्य दोनों में लाभ करते हैं। यथा—कषायरस पित्तशमक भी और रसादिशमक भी है अतः ये याप्य हैं। ३ महात्ययत्वात् का अर्थ यह है कि विनाशकारी होने से, मज्जादि गम्भीर धातुओं के अपकर्षक होने के कारण बहुत व्यापत्तिकारक होने से, एवं आशुकारी होने से वातिक प्रमेह असाध्य हैं।

मधु०—कफपित्तवातजमेहानां क्रमेण संप्राप्तिमाह—मेद इत्यादिना । अत्र कफजा एव मेहा भूयस्त्वेन साध्यत्वेन चादावुच्यन्ते । तानेवेति मेदोमांसशरीरजक्लेदान् । उष्णैरिति उष्णवीर्यस्पर्शैर्द्रव्यैः । क्षीणेषु दोषेष्विति प्रवृद्धत्वेनैव क्षीणेषु, न तु समानापेक्षया क्षीणेषु; अनेन वृद्धे कफे पित्ते वा यो वायुर्लङ्घनादिना क्रमेण वृद्धो भवति, स नेहासाध्यमेहचतुष्टयप्रकरणे विवक्षित इति सूच्यते । तत्र हि चिकित्साविधानात् साध्यत्वमस्ति । यदुक्तं—"या वातमेहान् प्रति पूर्वमुक्ता वातोल्बणानां विहिता क्रिया सा । वायुर्हि धातुष्वतिकर्षितेषु, कुप्यत्यसाध्यान् प्रति नास्ति चिन्ता" (च. चि. स्था अ. ६)–इति दोषेष्विति कफपित्तेषु, द्वयोश्च बहुवचनं व्यक्त्यपेक्षया बहुत्वात् । अवकृष्येति वस्तिमुखं नीत्वा । धातूनिति वसामज्जौजोलसीकाख्यान् । समक्रियत्वादिति कफस्य दोषस्य दूष्यस्य च मेदःप्रभृतेः समानत्वात् कटुतिक्तादिक्रियायाः । अत्र व्याधिमहिम्ना तुल्यदूष्यता साध्यताया हेतुः । तेन "न च तुल्यगुणो दूष्यो न दोषः प्रकृतिर्भवेत्" (च. सू. स्था. अ. १०) इति चरकवचनं कष्टसाध्यतार्थं नोद्भावनीयम् । यदुक्तं—"ज्वरे तुल्यर्तुदोषत्वं प्रमेहे तुल्यदूष्यता । रक्तगुल्मे पुराणत्वं सुखसाध्यस्य लक्षणम्" इति । विषमक्रियत्वादिति पित्तस्य प्रमेहप्रधानदूष्यस्य च मेदःप्रभृतेश्चान्योन्यविपरीतक्रियत्वात्; पित्तहरं हि मधुरादि मेदस्करं, मेदोहरं च कटुकादि पित्तकरमिति क्रियावैषम्यं; अत्र व्याधिस्वभावो हेतुः, तेनान्येषु व्याधिषु परस्परविरुद्धदोषदूष्यसंसर्गोऽप्युभयप्रत्यनीकभेषजविधिरविरोधीति । महात्ययत्वादिति मज्जादिगम्भीरधात्वपकर्षकत्वेन बहुव्यापत्तिकरत्वात्; आशुकारित्वादितीशानः । चकाराद्विषमक्रियत्वं च वातजानां समुच्चीयते ॥२–३॥

(क्षीणेष्विति—) 'क्षीणेषु' इस पद से प्रवृद्धपन से ही क्षीण में यह अर्थ लेना चाहिए, न कि समान की अपेक्षा क्षीणों में; इससे यह सिद्ध होता है कि कफवृद्धि वा पित्तवृद्धि होने पर जो वायु लङ्घनादि से क्रमशः वृद्ध होता है, उस वायु का यहां असाध्य मेह चतुष्टय के प्रकरण में ग्रहण नहीं है; क्योंकि उससे उत्पन्न प्रमेहों की चिकित्सा का कथन

१ मेदोऽवतिकर्षितानां.

करने से वह साध्य माने हैं। जैसे कहा भी है कि—या वातमेहानिति। इसी 'क्षीणेषु' पद की व्याख्या में चरक चतुरानन चक्रपाणि जी लिखते हैं कि 'क्षीणेष्विति वृद्धवातापेक्षया क्षीणे तेनावृद्धकफपित्ते यो वायुः क्रमेण वृद्धो भवति स नेहासाध्यमेहचतुष्टयप्रकरणे विवक्षित इति दर्शयति। अत्र चिकित्साविधानात्साध्यत्वमस्ति या वातमेहानित्यादि'। अन्य सब स्पष्ट ही है।

प्रमेहाणां दोषदूष्यसंग्रहमाह—

कफः सपित्तः पवनश्च दोषा
मेदोऽस्रशुक्राम्बुवसालसीकाः।
मज्जा रसौजः पिशितं च दूष्याः[1]
प्रमेहिणां विंशतिरेव मेहाः ॥४॥

प्रमेह में वायु, पित्त और कफ ये दोष हैं; मेदो, रक्त, शुक्र, अम्बु (शरीर-क्लेद), वसा, लसीका, मज्जा, रस, ओज और मांस ये दूष्य हैं; एवं मेहों की संख्या बीस ही है। लसीका के विषय में तन्त्रान्तर वाक्य है कि—"तेजोभूतः परं सूक्ष्मः स रक्तरस उच्यते। लसीकानाम लभते समगन्धिस्त्वगाश्रितः"। दूसरे तन्त्र में प्रमेह में दूष्य संग्रह इस प्रकार कहा है कि—"वसा मांसं शरीरस्य क्लेदः शुक्रं सशोणितम्। मेदो मज्जा लसीकौजः प्रमेहे दूष्यसंग्रहः"। यहां 'विंशतिरेव मेहाः' में एव शब्द समस्त प्रमेह भेदों की संख्या का निश्चय कराने वाला है, अर्थात् इससे अधिक प्रमेह नहीं होते, अन्यथा व्युल्बण आदिकों से अनेक भेद हो जाने का भय है।

मधु०—सर्वमेहानां दोषदूष्यसंग्रहमाह—कफ इत्यादिना। वसा मांसस्नेहः, सर्वदेहस्नेह इत्यन्ये। लसीकोदकविशेषः। यथाह चरकः—"यत्तु मांसत्वगन्तरे उदकं तल्लसीकाशब्दं लभते" (च. शा. स्था. अ. ७)—इति। रसौज इति रसश्च ओजश्च इति द्वन्द्वः। ओजश्चात्रार्धाञ्जलिपरिमितं श्लेष्मरूपम्, यदुक्तं—"श्लेष्मलस्यौजसोऽर्धाञ्जलिः परिमाणम्" (च. शा. स्था. अ. ७)—इति; नत्वष्टबिन्द्वात्मकं, तस्य भ्रंशेन मरणाभिधानात्। ननु, रस एवौजो रसौज इति कुतो न कल्प्यते? रसोऽप्योजःशब्देनोच्यते; यदुक्तं—"तस्मिन् काले पचत्यग्निर्यदन्नं कोष्ठमागतम्। मलीभवति तत् प्रायः कल्प्यते किंचिदोजसे" (च. चि. स्था. अ. ८)—इति; ओजसे इति रसायेत्यर्थः। नैवम्, ओजसो हि मधुमेहे दूष्यत्वेनोक्तत्वात्, ओजःशब्दोपादानवैफल्याच्च। यद्यप्यत्र बहूनि मेदःप्रभृतीनि दूष्यत्वेनोच्यन्ते, तथापि पूर्वं मेदोमांसशरीरजक्लेदानां सर्वमेहेष्ववश्यम्भाविदूष्यत्वेन पृथगभिधानम्। मज्जादयस्तु मेहविशेषे दूष्याः। तद्यथा—लसीकावसामज्जौजांसि वातिके, न पैत्तिके, न श्लैष्मिके। ईशानः पुनराह—रसरक्तशुक्राणि सर्वमेहेषु कदाचिद्दूष्यन्ते न त्ववश्यमिति। किंच सर्वमेहानामेव दोषत्रयजन्यत्वं सकलदूष्याश्रयित्वं च 'कफः सपित्तः'—इत्यादिनोपदर्श्यते। मेदोमांसादीनि त्वत्यन्तदूष्योपदर्शनार्थं पृथगुक्तानि। यतश्चरकेऽपि कियन्तःशिरसीयाध्याये सकलमेहवाचकमधुमेहकथने दोषत्रयप्रकोपो-

[1] दूष्यं.

ऽभिहितः। तथाहि—"समारुतस्य पित्तस्य कफस्य च मुहुर्मुहुः। दर्शयत्याकृतिं गत्वा क्षयमाप्याय्यते पुनः" (च. सू. स्था. अ. १७) इति। तथा सुश्रुतोऽप्याह—"वातपित्तमेदोभिरन्वितः श्लेष्मा मेहान् जनयति" (सु. नि. स्था. अ. ६)—इत्यादि। कफादीनां द्व्यल्वणादिसंसर्गस्यानन्त्येन सर्वमेहावस्थाविशेषेण मधुमेहेन च संख्याधिक्यप्रसङ्गनिरासायावधारणार्थमाह—विंशतिरेव मेहा इति ॥४॥

लसीका शब्द से उदक विशेष लेना चाहिए। जैसे चरक ने कहा भी है कि—'जो मांस और त्वचा के मध्य में उदक (जल) होता है, वह लसीका कहलाता है'। 'ओज' से यहां अर्धाञ्जलि परिमाण श्लेष्म रूप ओज लेना चाहिए, न कि अष्टबिन्द्वात्मक, क्योंकि उसके नाश से मरण कहा है। भाव यह है कि शास्त्र में दो प्रकार का ओज माना है—एक अर्धाञ्जलि परिमित, दूसरा अष्टबिन्द्वात्मक; अर्धाञ्जलि परिमित ओज के "त्रयो दोषा बलस्योक्ता व्यापद्विस्रंसनक्षयाः"—(सु. सू. स्था. अ. १५) के अनुसार व्यापत्ति, विस्रंस और क्षय ये तीन दोष वा तीन अवस्थायें होती हैं, परन्तु अष्टबिन्द्वात्मक का अंश आदि नहीं होता क्योंकि चरक में लिखा है कि "तन्नाशान्ना प्रणश्यति"—जिसका अभिप्राय यह है कि इस ओज के नाश हो जाने से मनुष्य मर जाता है। अतः ऊपर ओज शब्द से अर्धाञ्जलि परिमित ओज लेना चाहिए, न कि अष्टबिन्द्वात्मक। (प्रश्न—) रस ही ओज है, यह क्यों नहीं मान लिया जाता? क्योंकि रस भी तो ओजःशब्द से पुकारा जाता है। जैसे कहा भी है कि—'उस समय कोष्ठ में आए हुए जिस अन्न को अग्नि (जठराग्नि) पकाती है, वह (अन्न) प्रायः मलरूप में ही परिणत हो जाता है। उसका कुछ अंश ही ओज (रस) बनता है'। यहां 'ओज' शब्द से 'रस' लिया है। (उत्तर—) मधुमेह में ओज को पृथक् दूष्य कहा है, दूसरा ओज से भी रस ही का ग्रहण करें तो उक्त श्लोक में रस शब्द का पृथक् ग्रहण व्यर्थ होता है; अतः यहां रस ही ओज नहीं है, प्रत्युत रस और ओज दोनों पृथक् २ हैं और प्रमेह के दोनों ही दूष्य हैं। यद्यपि यहां मेदःप्रभृति बहुत से दूष्य कहे हैं, परन्तु पूर्व 'मेदश्च मांसञ्च शरीरजञ्च क्लेदं कफो बस्तिगतः प्रदूष्य' (मा. नि. प्र. प्र. श्लो. २) में केवल मेद, मांस और अम्बु को ही दूष्य कहा है। उसमें कारण यह है कि सामान्यतः मेद, मांस और अम्बु ये सभी मेहों में अवश्य होते हैं, परन्तु मज्जा आदि किसी प्रमेह विशेष में दूष्य होते हैं। तद्यथा—लसीका, वसा, मज्जा, और ओज ये वातिक मेहों में ही दूष्य होते हैं, पैत्तिक वा श्लैष्मिक में नहीं। इस पर ईशान का मत है कि रस, रक्त और शुक्र सभी मेहों में कभी २ दूष्य होते हैं, परन्तु यह आवश्यक नहीं कि सर्वदा ही हों। वैसे तो सभी मेह तीनों दोषों से होते हैं और सम्पूर्ण दूष्यों के आश्रय होते हैं, यह 'कफः सपित्तः' इत्यादि वाक्य से स्पष्ट हो जाता है, और मेदो मांसादि को तो उनकी अत्यन्त दूष्यता बतलाने के लिए पृथक् कहा है। चरकीय कियन्तःशिरसीय अध्याय में सकलमेहवाचक मधुमेह के अभिधान में तीनों दोषों का प्रकोप कहा है। तद्यथा—वायु, पित्त और कफ की आकृति को बार २ दिखाता है—आदि। स्पष्टमन्यत्।

प्रमेहस्य पूर्वरूपमाह—

दन्तादीनां मलाढ्यत्वं प्राग्रूपं पाणिपादयोः।
दाहश्चिक्कणता देहे तृट् स्वाद्वास्यं च जायते ॥५॥

दांत (नेत्र, गला, तालु, कान, जिह्वा) आदिकों का अतिमलिन होना,

हाथों पावों में जलन, शरीर में चिक्कणता, पिपासा और मुख का स्वाद मीठा होना प्रमेह के पूर्वरूप के लक्षण हैं।

मधु०—पूर्वरूपमाह—दन्तादीनामित्यादि। आदिशब्देन नयनतालुकर्णादीनां ग्रहणम्। यदुक्तं सुश्रुते—"तालुगलजिह्वादन्तेषु मलोत्पत्तिः॥" (सु. नि. स्था. अ. ६) इति। अत्र च मलभूयस्त्वं मेदोदोषात्। चिक्कणता देहे मेदःकफदुष्टेः। अत्र चकारात् सुश्रुतोक्तकेशजटिली-भावनखातिवृद्धी बोध्ये। एतच्च व्याधिविशेषनियतमेव, येनान्यत्र विद्यमानाऽपि कफमेदोदुष्टिर्नैवं कर्तुं क्षमा॥५॥

आदि शब्द से नयन, तालु, कर्णादिकों का ग्रहण करना चाहिए। जैसे सुश्रुत में कहा भी है कि 'तालु, गल, जिह्वा और दाँतों में मल की उत्पत्ति'। 'स्वाद्वास्यं च जायते' में चकार ग्रहण से सुश्रुतोक्त 'केशों का जटिल होना और नखों की वृद्धि होनी' जाननी चाहिए।

प्रमेहाणां सामान्यलक्षणमाह—

सामान्यं लक्षणं तेषां प्रभूताविलमूत्रता।
दोषदूष्याविशेषेऽपि तत्संयोगविशेषतः॥६॥ [वा० ३।१०]
मूत्रवर्णादिभेदेन भेदो मेहेषु कल्प्यते।

मूत्र का अधिक एवं विकृतरूप में आना प्रमेहों का सामान्यरूप है। दोष और दूष्यों के सामान्य होने पर भी उनके संयोग (अर्थात् सम्प्राप्ति) की विशेषता से तथा मूत्र के वर्णादिक भेद से मेहों में भेद की कल्पना की जाती है।

मधु०—सामान्यलक्षणमाह—सामान्यमित्यादि। प्रभूतेत्यादि प्रभूतमूत्रत्वं दूष्यद्रव-धातुसंबन्धात्, आविलत्वं दोषदूष्यसंसर्गात्। ननु, कथं कफेन दश, पित्तेन षडित्यादिव्यवस्था? यतः कारणभेदात् कार्यभेद इत्याशङ्क्याह—दोषदूष्याविशेषेऽपि तत्संयोगविशेषत इति। तेषां दोषदूष्याणामुत्कर्षापकर्षकृतात् संयोगभेदाद्भेदो मेहेषु भवति। यथा—पञ्चानां वर्णानां श्वेतकृष्ण-पीतलोहितश्यावानां संयोगभेदादनेकपिङ्गलपाटलादिभेदाः। सुश्रुतेऽप्युक्तं—"यथा पञ्चानां वर्णा-नामुत्कर्षापकर्षकृतेन संयोगविशेषेण कपिलादिनानावर्णोत्पत्तिरेवं दोषादिसंसर्गान्मेहानां नानात्वम्॥" (सु. नि. स्था. अ. ६) इति। संयोगभेदप्रतीतिः कुत इत्यत आह—मूत्रेत्यादि। मूत्रवर्णादिभेदं दृष्ट्वा कारणानां समानानां भेदः कल्पनीयः, यथा—मृदादिकारणकलापस्याभेदेऽपि कुम्भकारादिसंयोगभेदादुदञ्चनादिप्रपञ्चभेदः। ननु, उदञ्चनादौ कुम्भकारादिप्रयत्नभेदात् संयोग-भेदः, अत्र तु कः संयोगभेदहेतुः? उच्यते, तत्तदाहारादिकमदृष्टं च भवतीत्यदोषः॥६॥

(प्रश्न—) कफ से दस, पित्त से छः और वायु से चार यह व्यवस्था कैसे है? क्योंकि कार्य का भेद कारण के भेदानुसार होता है। (उत्तर—) दोष और दूष्यों के समान होने पर भी उनके पृथक् भेद परस्पर संयोग की भिन्नता के कारण हैं। जैसे कि श्वेत, कृष्ण, पीत, लोहित और श्याव इन वर्णों के परस्पर संयोग भेद से अनेक पिङ्गल (चितकबरे) आदि रंगों की उत्पत्ति होती है, और सुश्रुत में भी कहा है कि जैसे पांच वर्णों के घटने-बढ़ने के कारण भिन्न २ परस्पर संयोग होने से कपिलादि अनेक रंगों की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार दोष दूष्यों के संबन्ध से अनेक प्रकार के प्रमेहों की उत्पत्ति होती है। यदि कहें संयोग के भेद की प्रतीति कैसे होती है? तो इसका उत्तर यह है कि

मूत्रादि के रंगों में भेद को देखकर समान कारणों का भेद जानना चाहिए। जैसे मिट्टी आदि अनेक कारणों के एक सा होने पर भी कुम्भकार (कुम्हार) कृत संयोग भेद के कारण उदञ्चनादि प्रपञ्च (बर्तनों आदि के बनाने) में भेद होता है। उदञ्चन आदि में कुम्भकारादि के प्रयत्नभेद से संयोग भेद है, परन्तु यहां संयोगभेद में कारण क्या है? इस पर आचार्य कहते हैं कि उस २ प्रकार के आहारादि तथा दैव ही कारण है।

उदकमेहस्य लक्षणमाह—

अच्छं बहु सितं शीतं निर्गन्धमुदकोपमम् ॥७॥ [वा० ३।१०]
मेहत्युदकमेहेन किंचिदाविलपिच्छिलम्।

स्वच्छ, मात्रा में अधिक, श्वेत, शीतल, निर्गन्ध और जल के समान मूत्र को मनुष्य उदकमेह के कारण त्यागता है, अर्थात् उदकमेही मनुष्य में उपर्युक्त लक्षण होते हैं।

इक्षुमेहं लक्षयति—

इक्षो रसमिवात्यर्थं मधुरं चेक्षुमेहतः ॥८॥ [वा० ३।१०]

कुछ आविल (भद्दे रंग वाला) एवं पिच्छिल (लेसदार), इक्षु (गन्ने के) रस की तरह अति मधुर मूत्र को मनुष्य इक्षुमेह के कारण त्यागता है, अर्थात् इक्षुमेही मनुष्य में उपर्युक्त लक्षण होते हैं, वा ये इक्षुमेह के लक्षण हैं।

सान्द्रमेहं निरूपयति—

सान्द्रीभवेत् पर्युषितं सान्द्रमेहेन मेहति।

जो मनुष्य सान्द्रमेह के कारण मूत्र त्यागता है, उसका मूत्र पर्युषित (बासी) होकर घन हो जाता है, अर्थात् जिसका रक्खा हुआ मूत्र गाढ़ा हो जाता है, वह सान्द्रमेही होता है।

सुरामेहं निरूपयति—

सुरामेही सुरातुल्यमुपर्यच्छमधो घनम् ॥९॥ [वा० ३।१०]

जिसका मूत्र ऊपर से स्वच्छ और नीचे से गाढ़ा एवं मदिरा तुल्य होता है, वह मनुष्य सुरामेही होता है; वा जिसका मूत्र सुरा के समान ऊपर से स्वच्छ और नीचे से गाढ़ा होता है, वह मनुष्य सुरामेही होता है।

पिष्टमेहं वर्णयति—

संहृष्टरोमा पिष्टेन पिष्टवद्बहुलं सितम्।

पिष्टमेह वाला रोगी रोमाञ्चित होता हुआ माष (उड़द) आदि की पिट्ठी के समान अत्यन्त गाढ़े एवं श्वेत मूत्र को त्यागता है।

शुक्रमेहरूपमाह—

शुक्राभं शुक्रमिश्रं वा शुक्रमेही प्रमेहति ॥१०॥ [वा० ३।१०]

शुक्रमेही मनुष्य का मूत्र शुक्र के सदृश वा शुक्रयुक्त निकलता है।

सिकतामेहं लक्षयति—

"मूर्ताणून् सिकतामेही सिकतारूपिणो मलान्।

सिकतामेही मनुष्य कठोर एवं सूक्ष्म सिकता (रेत के कणों) की आकृति के समान मलों को छोड़ता है, अर्थात् ये लक्षण सिकतामेही के हैं।

शीतं मेहं दर्शयति—

शीतमेही सुबहुशो मधुरं भृशशीतलम् ॥११॥ [वा० ३।१०]

शीतमेही मनुष्य बहुशः मधुर और अत्यन्तशीतल मूत्र को त्यागता है।

शनैर्मेहस्वरूपमाह—

शनैः शनैः शनैर्मेही मन्दं मन्दं प्रमेहति।

शनैर्मेही मनुष्य धीरे २ एवं थोड़ा २ करके मूत्र छोड़ता है।

लालामेहस्वरूपमाह—

लालातन्तुयुतं मूत्रं लालामेहेन पिच्छिलम् ॥१२॥ [वा० ३।१०]

मनुष्य लालामेह के कारण लालातन्तुयुक्त एवं लेसदार मूत्र को करता है। इस प्रकार ये श्लेष्मा के दस प्रमेह हैं; इसी प्रकार सभी प्रमेह दोष और दूष्यों के संयोगगुण से बीस प्रकार के होते हैं। जैसे तन्त्रान्तर में कहा भी है कि-"शीताच्छशीतैरुदकप्रमेहः स्यादिक्षुवाली मधुराच्छशीतात्। पित्तोत्कटः स्वच्छगुणात्सुराख्यो मूत्रेण युक्तः सिकताप्रमेहः॥ मन्देन मूत्रेण शनैःप्रमेहो गुरोर्विदग्धाल्लवणप्रमेहः। पिष्टप्रमेहः खलु शुक्रभागात् समस्तसान्द्रेण तु सान्द्रमेहः॥ स्निग्धेन शुक्रेण च शुक्रमेहः स्यात्फेनमेहो गुरुशुक्लयोगात्। इत्येभिरंशैः कफदोषजातैर्नृणां प्रमेहा दश सम्भवन्ति॥ औत्कट्यतोऽयं व्यपदेश एषु संसर्गभावो गुणदोषदूष्यात्। पित्तान्नीलहरिद्राम्लक्षारमाञ्जिष्ठशोणितैः। सर्पिर्मेहं मरुत्कुर्याद्युक्तश्च लवणेन हि॥ मेदोयुक्तो वसायुक्तो वसामेहकरस्तु सः। क्षौद्रमेहे रौक्ष्यगुणाद्विष्टम्भो हस्तिमेहतः॥" अत्र मतभेदात्तु स्मृतिद्वैधवत्प्रमाणम्।

मधु०—अत्र कफस्य श्वेतशीतमूर्तपिच्छिलाच्छस्निग्धगुरुमधुरसान्द्रप्रसादमन्देषु गुणेषु मध्ये कुत्रचित् किंचिद्गुणप्रकर्षादुदकमेहादयो दश दृश्यन्त इत्याह—अच्छमित्यादि। सान्द्रप्रसादस्त्वेक एव गुणो गणनीयः, सान्द्रमेहव्यपदेशस्त्वेकदेशेन भविष्यतीति। एतैश्च श्वेतादिभिर्गुणैर्व्यस्तैः समस्तैश्च योगाद्दश मेहा न तु यथाक्रमं-"येन गुणेनैकेनानेकेन वा भूयस्तरमुपसृज्यते तत्समाख्यं गौणं नामविशेषं प्राप्नोति॥" (च. नि. स्था. अ. ४) इति चरकवचनात्। नच यथा दशभिर्गुणैर्दश मेहान् करोति तथा संसर्गविकल्पान्तरेणापरानपि कुतो न करोतीत्याशङ्कनीयं, भावस्वभावस्यापर्यनुयोज्यत्वात्, अदृष्टकल्पनायाश्चानर्हत्वात्। तत्र श्वेताच्छशीतैर्गुणैरुदकमेहः; मधुरशीताभ्यामिक्षुमेहः; सान्द्रपिच्छिलाभ्यां सान्द्रमेहः; अच्छेन पित्तानुरागिणा सुरामेहः; शुक्लेन पिष्टमेहः, अत्र पिष्टवदित्यालेपनपिष्टवत्; श्वेतस्निग्धाभ्यां शुक्रमेहः,

अत्र शुक्राभमिति सर्वमेव मूत्रं शुक्रतुल्यं, शुक्रमिश्रं वेति शुक्राभशुक्रमिश्रं; वास्तवशुक्रमिश्रत्वे तु कफजस्याप्यसाध्यत्वं स्यादिति; वाप्यचन्द्रस्तु शुक्रस्य मूत्रेण गुणकृतं सादृश्यं, [1]शुक्रमिश्रं वेति च शुक्रगुणानां संयुक्तसमवायान्मूत्रे दर्शनमित्याह; सान्द्रमूर्ताभ्यां सिकतामेहः, अत्र मूर्ताणूनिति मूर्तान् कठिनान्, अणून् अल्पान्; मलानिति बहुवचनं दोषाणामवयवबहुत्वात्; जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनमिति वाप्यचन्द्रः; मलोऽत्र प्रकरणात् कफः; गुरुमधुरशीतैः शीतमेहः; मन्दमूर्ताभ्यां शनैर्मेहः, पिच्छिलेन लालामेहः । चरके सुरामेहस्थाने सान्द्रप्रसादमेहः पठितः, तथा पिष्टमेहः शुक्रमेहशब्देन, तेनैव शीतमेहलालामेहौ पठितौ, पित्तजश्च कालमेहः; सुश्रुतस्तु चरकोक्तशीतमेहलालामेहयोः स्थाने फेनमेहलवणमेहौ, कालमेहस्थाने चाम्लमेहं पठितवान् । सामञ्जस्यं चात्र नास्त्येव, परस्परलक्षणसंवादाभावात्, स्मृतिद्वैध्यवत् सर्वं प्रमाणम् ॥७–१२॥

यहां कफ के श्वेत, शीत, मूर्त, पिच्छिल, अच्छ, स्निग्ध, गुरु, मधुर, सान्द्रप्रसाद, और मन्द इन दस गुणों में से कहीं किसी गुण की प्रकर्षता से उदकमेह आदि दश मेह दीखते हैं, यही अच्छमित्यादि से कहा है । (एतैश्चेति—इन) श्वेतादि व्यस्त (एक एक) वा समस्त (अनेकों) के योग से दश मेह होते हैं, न कि यथाक्रम से; क्योंकि चरक में भी कहा है कि 'जिस एक वा अनेक गुण से प्रमेह का अधिक संबंध हो जाता है, उसी के समान नाम को गौण रूप से प्राप्त करता है' । जिस प्रकार दश गुणों से दश प्रमेह होते हैं, उसी प्रकार इनके संयोगों के भेदों की कल्पना करके और अधिक प्रमेह क्यों नहीं होते ? इसका उत्तर यह है कि इसका स्वभाव ही ऐसा है; तथा अदृष्ट की कल्पना को उचित न मानने से इसके और भेद नहीं होते । उनमें से श्वेत, अच्छ और शीत गुणों से उदकमेह; मधुर और शीत से इक्षुमेह; सान्द्र और पिच्छिल से सान्द्रमेह, पित्तानुरागी अच्छमेह से सुरामेह; शुक्ल से पिष्टमेह; श्वेत गुण और स्निग्ध से शुक्रमेह; सान्द्र और मूर्त से सिकतामेह; गुरु, मधुर और शीत से शीतमेह; मन्द और मूर्त से शनैर्मेह एवं पिच्छिलगुण से लालामेह होता है । चरक में सुरामेह के स्थान में सान्द्रप्रसादमेह, पिष्टमेह के स्थान में शुक्लमेह पढ़ा है । एवं उसी ने शीतमेह और लालामेह, तथा पित्तज कालमेह भी कहा है । परन्तु सुश्रुत ने चरकोक्त शीतमेह और लालामेह के स्थान में फेनमेह और लवणमेह, एवं कालमेह के स्थान में अम्लमेह पढ़ा है । परंतु ऐसा होने पर भी इसमें किसी प्रकार की शंका नहीं है, क्योंकि इनके परस्पर लक्षणों का कथन नहीं है; अतः स्मृतिद्वैधवत् सब प्रमाणित है ।

क्षारनीलकालमेहानां लक्षणान्याह—

गन्धवर्णरसस्पर्शैः क्षारेण क्षारतोयवत् ।

क्षारमेह से मनुष्य क्षारीय जल के सदृश गन्ध, वर्ण, रस और स्पर्श वाला मूत्र त्यागता है अर्थात् क्षारीय जल की तरह गन्धादि से युक्त मूत्र क्षारमेह में आता है ।

नीलमेहस्य लक्षणमाह—

नीलमेहेन नीलाभं

नीलमेह से मनुष्य नीलाभ मूत्र को त्यागता है, अर्थात् नीलाभ मूत्र का आना नीलमेह का लक्षण है ।

१ मवान्तरशुक्रमिश्रत्वे.

कालमेहस्य लक्षणमाह—

कालमेही मसीनिभम् ॥१३॥ [वा० ३।१०]

कालमेही मनुष्य मसी (काली स्याही) समान मूत्र को त्यागता है।

हारिद्रमेहस्य लक्षणमाह—

हारिद्रमेही कटुकं हरिद्रासन्निभं दहत्।

हारिद्रमेही मनुष्य कटुक, हरिद्रा के समान वर्ण एवं जलनयुक्त मूत्र को त्यागता है।

माञ्जिष्ठमेहस्य लक्षणमाह—

विस्रं माञ्जिष्ठमेहेन मञ्जिष्ठासलिलोपमम् ॥१४॥ [वा० ३।१०]

मंजिष्ठामेह के कारण मनुष्य विस्र(आम) गन्धी एवं मञ्जिष्ठा जल (लाल रंग युक्त पानी के) सदृश मूत्र को करता है।

रक्तमेहस्य लक्षणमाह—

विस्रमुष्णं सलवणं रक्ताभं रक्तमेहतः।

रक्तमेही मनुष्य रक्तमेह के कारण विस्रगन्धी, उष्ण, लवण रस वाले रक्त के सदृश मूत्र को त्यागता है। ये छः पैत्तिक प्रमेह हैं। ये भी क्षार, नील, काल, पीत, लोहित और विस्र इनसे छः मेह होते हैं। यहां कई आचार्य इनसे क्षारमेह आदि यथाक्रम मानते हैं; परन्तु दूसरे आचार्य श्लैष्मिकमेहों की तरह यथासंभव मानते हैं, क्योंकि माञ्जिष्ठमेह विस्र और लोहित गुणों से होता है; एवं अन्य भी यथायोग्य जानने।

मधु०—पित्तात्तु षड्भिः पित्तगुणैः क्षारनीलकालपीतलोहितविस्रैर्यथाक्रमं क्षारमेहादयः षट्, तान् गन्धवर्णरसस्पर्शैरित्यादिना दर्शयति—गन्धेत्यादि। नीलाभमिति चासपक्षप्रभं, चासः 'स्वर्णचूड' इति लोके ख्यातः, क्वचित् 'टाकुसना चासः' इति गदाधरः, तत्पक्षश्च स्निग्धनीलो भवति। दहदिति मूत्रविशेषणम्। दहन्निति पाठान्तरे दाहमनुभवन् पुरुषः ॥१३-१४॥

पित्त से तो क्षार, नील, काल, पीत, लोहित और विस्र इन छः पैत्तिक गुणों से यथा क्रम क्षारमेहादि छः प्रमेह होते हैं।

वसामेहस्य लक्षणमाह—

वसामेही वसामिश्रं वसाभं मूत्रयेन्मुहुः ॥१५॥ [वा० ३।१०]

वसामेही मनुष्य वसामिश्र, वसासदृश एवं बार २ मूत्र करता है। अर्थात् ये वसामेह के लक्षण हैं।

मज्जामेहस्य लक्षणमाह—

मज्जाभं मज्जमिश्रं वा मज्जमेही मुहुर्मुहुः।

मज्जामेही मनुष्य मज्जामिश्र, मज्जासदृश एवं बार २ मूत्र करता है। अर्थात् ये मज्जामेह के लक्षण हैं।

---

१ मषीनिभम्. २ वसां वा. ३ मज्जानं.

क्षौद्रमेहं लक्षयति—

कषायं मधुरं रूक्षं क्षौद्रमेहं वदेद्बुधः ॥१६॥

कषाय (कसैले), मधुर और रूक्ष मूत्र त्यागने वाले मनुष्य को क्षौद्रमेही कहना चाहिए, अर्थात् क्षौद्रमेह के ये लक्षण हैं कि इसमें मूत्र कसैला और मधुर रस वाला एवं रूक्ष आता है।

हस्तिमेहस्वरूपमाह—

हस्ती मत्त इवाजस्रं मूत्रं वेगविवर्जितम्।
सलसीकं विबद्धं च हस्तिमेही प्रमेहति ॥१७॥ [वा० ३।१०]

हस्तिमेही मनुष्य मत्त हाथी की तरह निरन्तर एवं वेगरहित, लसीकायुक्त, रुकावट के साथ मूत्र को छोड़ता है, अर्थात् जिसे मत्त हाथी की तरह निरन्तर, वेगरहित, लसीकायुक्त एवं विबद्ध मूत्र आता है, वह मनुष्य हस्तिमेही है; और उपर्युक्त हस्तिमेह के लक्षण हैं। ये भी वसा, मज्जा, ओज और लसीका इन चार गुणों से यथायुक्त होते हैं।

मधु०—वातेन यथाक्रमं वसामज्जौजोलसीकाभिर्यथाक्रमं वसामेहादयः, तानाह—वसेत्यादि। अयं वसामेहः सुश्रुते सर्पिर्मेहनाम्ना, क्षौद्रमेहश्चरके मधुमेहनाम्ना पठितः ॥१५–१७॥

वात से वसा, मज्जा, ओज और लसीका द्वारा यथाक्रम वसामेहादि चार मेह होते हैं। वसामेह सुश्रुत में सर्पिर्मेह नाम से; और क्षौद्रमेह चरक में मधुमेह नाम से पढ़ा है; परन्तु इसमें कोई हानि नहीं; कारण कि एक तो इनके लक्षण एक से हैं, और वसा मज्जादि गुण भी समान हैं; केवल नामों में भेद है; दूसरा यदि भेद भी हो, तो भी कोई दोष नहीं; कारण कि "स्मृतिद्वैधन्तु यत्र स्यात्तत्र धर्मावुभावपि" के अनुसार दोनों माननीय हैं। तीसरा दोनों के परस्पर पृथक् वर्णन से यह प्रतीत होता है कि कुष्ठ आदि की तरह प्रमेह के भी बहुत से भेद हैं, जिनमें कुछ का सुश्रुत ने और कुछ का चरक ने अनुसन्धान कर अपने ग्रन्थ में रक्खा है; परन्तु हैं दोनों ही ठीक; अतः दोनों माननीय हैं।

कफजप्रमेहाणामुपद्रवानाह—

अविपाकोऽरुचिश्छर्दिर्निद्रा कासः सपीनसः।
उपद्रवाः प्रजायन्ते मेहानां कफजन्मनाम् ॥१८॥ [वा० ३।१०]

अन्न का न पचना, अरुचि, वमन, निद्रा, कास और पीनस ये उपद्रव कफ से उत्पन्न प्रमेहों में होते हैं।

पैत्तिकप्रमेहाणामुपद्रवान् परिगणयति—

वस्तिमेहनयोस्तोदो मुष्कावदरणं ज्वरः।
दाहस्तृष्णाऽम्लिका मूर्च्छा विड्भेदः पित्तजन्मनाम् ॥१९॥ [वा० ३।१०]

मूत्राशय में तोद (सुई चुभने की सी पीड़ा), लिङ्ग में तोद, पाक के कारण अण्डकोशों की त्वचा का फट जाना, ज्वर, दाह, तृष्णा, अम्लोद्गार, मूर्च्छा और विड्भेद (दस्त का पतला आना) ये पैत्तिक प्रमेहों के उपद्रव हैं।

---

१ दाहस्तृष्णाम्लिकाः.

वातिकप्रमेहाणामुपद्रवानाह—

वातजानामुदावर्तः कम्पहृद्ग्रहलोलताः ।
शूलमुन्निद्रता शोषः कासः श्वासश्च जायते ॥२०॥ [वा० ३।१०]

उदावर्त, कम्प, हृदय में पीड़ा, लोलुपता, शूल, उन्निद्रता (नींद का न आना), शोष, कास और श्वास ये वातिक प्रमेहों के लक्षण हैं ।

मधु०—इदानीं कफजादिमेहानां कृच्छ्रसाध्यत्वमसाध्यत्वं च ज्ञापयितुं भेदेनोपद्रवानाह—अविपाकोऽरुचिरित्यादि । कफजे कास आर्द्रः, वातजे शुष्कः । तोदः संसर्गिवातजन्यः, मेहानां त्रिदोषजन्यत्वात् । मुष्कावदरणं पाकेन । अम्लिका अम्लोद्गारः । लोलता सर्वरसभक्षणेच्छा, इयं तु प्रभावाद्धातुक्षयाद्वा भवति, यथा वातग्रहण्यां 'गृद्धिः सर्वरसानाम्' इत्युक्तम् ॥१८-२०॥

सर्वं स्पष्टमेव ।

सोपद्रवप्रमेहाणामसाध्यतामाह—

यथोक्तोपद्रवाविष्टमतिप्रस्रुतमेव च ।
पिडकापीडितं गाढः प्रमेहो हन्ति मानवम् ॥२१॥

उपर्युक्त अविपाकादि उपद्रवों से युक्त, अति धातुस्राव और अति मूत्रस्राव से युक्त, शराविका आदि पिडकाओं सहित एवं अवगाढ़ (पुराना या गम्भीर धात्वाश्रित) प्रमेह मनुष्य को मार देता है ।

मधु०—असाध्यतामाह—यथोक्तोपद्रवाविष्टमित्यादि । उक्तैरविपाकादिभिरन्यैश्च सुश्रुतोक्तैरुपद्रवैः; तद्यथा—कफजे आलस्यास्योपदेहशैथिल्यकफप्रसेकमक्षिकोपसर्पणादिकं, पित्तजे पाण्डुरोगादिकम् । अतिप्रस्रुतमिति अतिशयं धातुमूत्रस्रावयुक्तम् । पिडकापीडितमिति शराविकादिपिडकापीडितम् । गाढः कालप्रकर्षात् । यद्यपि पिडका अप्युपद्रवत्वेनाभिमताः; यदुक्तं चरके—'उपद्रवास्तु खलु प्रमेहिणां तृष्णातीसारज्वरदाहदौर्बल्यारोचकाविपाकाः पूतिमांसपिडकालजीविद्रध्यादयः ॥" (च. नि. स्था. अ. ४) इति, तथापि पिडकानां पृथगुत्पत्तिसूचनार्थं पृथक्करणम् । उक्तं च चरके—"विना प्रमेहमप्येता जायन्ते दुष्टमेदसः ॥" (च. सू. स्था. अ. १७) इति । अन्यदप्यसाध्यलक्षणं बोद्धव्यम् । यदाह चरकः—"सपूर्वरूपाः कफपित्तमेहाः क्रमेण ये वातकृताश्च मेहाः । साध्या न ते पित्तकृतास्तु याप्याः साध्यास्तु मेदो यदि न प्रदुष्टम् ॥" (च. चि. स्था. अ. ६) इति । अस्यार्थः—ये कफजाः साध्यास्ते सपूर्वरूपाः सन्तोऽसाध्याः, पित्तकृतास्तु याप्या ये ते सपूर्वरूपा एवासाध्याः । सर्वरोगाणामेव यद्यपि पूर्वरूपानुवृत्तावसाध्यत्वमुक्तं, तथाऽप्यत्रासकलपूर्वरूपान्वयेऽसाध्यत्वम्, अन्यत्र तु सकलपूर्वरूपान्वये सतीति विज्ञेयः । क्रमेणेति स्वनिदानक्रमेण । तेन निजहेत्वादिकृता ये वातजाश्चत्वारो मेहास्ते पूर्वरूपरहिता अपि नहि साध्याः, ये तु पश्चाद्धात्वपकर्षणाद्वातानुबन्धेन वातजास्ते साध्या याप्या वा । अत एवोक्तं—"या वातमेहान् प्रति पूर्वमुक्ता वातोल्बणानां विहिता क्रिया सा ॥" (च. चि. स्था. अ. ६) इत्यादि ॥२१॥

---

१ वातिकानामुदावर्तकण्ठहृद्ग्रहलोलताः.

यद्यपि पिडकाएं भी उपद्रव रूप से मानी हैं, जैसे चरक ने कहा भी है कि—'प्रमेहियों के उपद्रव तृषा, अतिसार, ज्वर, दाह और दौर्बल्य, अरोचक, भोजन का न पचना मांस का सड़ जाना, एवं अलजी विद्रधि आदि पिडकाएं हैं'। तथा पिडकाओं का 'यथोक्त इत्यादि उपरोक्त श्लोक में पृथक् कहना यह सूचित करता है कि ये प्रमेह के बिना भी होती हैं। जैसे चरक ने कहा भी है कि—'दुष्टमेद के कारण यह पिडकाएं प्रमेह के बिना भी होती हैं'।

मधुमेहिवीर्यजापत्यप्रमेहस्य अन्येषाञ्च पैतृकरोगाणामसाध्यतामाह—

जातः प्रमेही मधुमेहिनो वा
न साध्य उक्तः स हि बीजदोषात्।
ये चापि केचित्कुलजा विकारा
भवन्ति तांस्तान् प्रवदन्त्यसाध्यान् ॥२२॥

मधुमेही से अर्थात् प्रमेही से उत्पन्न प्रमेही बीज दोष के कारण साध्य नहीं होता, एवं जो अन्य कुलक्रमागत (खानदानी) विकार होते हैं, विद्वान् वैद्य उन्हें भी असाध्य ही कहते हैं। भाव यह है कि सुश्रुत ने व्याधिसमुद्देशीय अध्याय (सु. सू. स्था. अ. २४) में व्याधियां सात प्रकार की मानी हैं। तद्यथा—"आदिबलप्रवृत्ताः, जन्मबलप्रवृत्ताः, दोषबलप्रवृत्ताः, सङ्घातबलप्रवृत्ताः, कालबलप्रवृत्ताः, दैवबलप्रवृत्ताः, स्वभावबलप्रवृत्ता इति"। इनमें से प्रमेह आदिबलप्रवृत्त है। आदिबलप्रवृत्त के विषय में सुश्रुत जी कहते हैं कि—"तत्रादिबलप्रवृत्ता ये शुक्रशोणितदोषान्वयाः कुष्ठार्शःप्रभृतयः" (सु. सू. स्था. अ. २४)। यहां प्रभृति शब्द से प्रमेह, क्षय आदि आनुषङ्गिक रोगों का ग्रहण होता है। एवं 'जातः प्रमेही' आदि पद्य से यह सिद्ध होता है कि प्रमेह की भाँति कुष्ठ, अर्श, क्षय आदि आनुषङ्गिक रोग भी असाध्य हैं। यहां इसी भाव को लेकर कई आचार्य कहते हैं कि—वातादि प्रकृतियाँ भी आदिबलप्रवृत्त व्याधियाँ हैं; क्योंकि वे भी गर्भोत्पत्ति के प्रारम्भ में शुक्रशोणित दोष से ही पैदा होती हैं, और ये रोग भी शुक्रशोणित के उत्कट दोष से ही उत्पन्न होते हैं। साथ ही उनकी तरह ये भी हानिकारक नहीं हैं। एवं यदि प्रकृतियाँ स्वास्थ्य हैं, तो यह सब प्रमेह आदि भी व्याधियाँ कैसे हो सकती हैं ? क्योंकि ये भी तो प्राकृतिक रोग हैं, इत्यादि। इस पूर्ण मण्डनखण्डन को दोषों की मीमांसा में पूर्व कह दिया है। पाठक वहीं से देखें।

मधु०—असाध्यतायाः प्रकारान्तरमाह—जात इत्यादि। श्लेष्ममेदसोरतिदुष्ट्या मूत्रमेदःश्लेष्मणामतिमाधुर्यान्मधुमेहिना जातो यः प्रमेही स चाप्यसाध्यो भवतीति। बीजदोषादिति प्रमेहारम्भकदोषदुष्टबीजजातप्रमेहित्वात्। मधुमेहशब्देन चात्र मेहमात्रमुच्यते, यदि तु वातिक उपेक्षितो वा मेहो मधुमेह उच्यते, तदा चेतरप्रमेहयुक्तमातृपितृजनितप्रमेहिणो नासाध्यत्वमुक्तं स्यात्; किंच मधुमेहिना जनितस्य मधुमेहित्वमेव कारणानुरूपतया युक्तं, ततश्च मधुमेही मधुमेहिना (वा) जातो न साध्य इति वक्तुमुचितं; तस्यासाध्यत्वमपि न वक्तव्यं, मधुमेहस्या-

साध्यत्वादेव । अन्यत्रापि मधुमेहशब्देन मेहमात्रमुक्तम् । यथा—"गुल्मी च मधुमेही च राजयक्ष्मी च यो नरः । अचिकित्स्या भवन्त्येते बलमांसपरिक्षयात् ॥" (च. इं. स्था. अ.) इति । यदि ह्यत्र मधुमेहोऽभीष्टः स्यात्तदा बलमांसपरिक्षयादिति न कृतं स्यात्, तस्य स्वरूपत एवासाध्यत्वात् । यथा कियन्तःशिरसीयाध्याये—"उपेक्षयाऽस्य जायन्ते पिडका माधुमेहिकाः" (च. सू. स्था. अ. १७) इत्यादिना या मधुमेहसंबन्धित्वेनोक्तास्ता एव "प्रमेहिणां याः पिडका मयोक्ताः ॥" (च. चि. स्था. अ. ६) इत्यन्तेन च चिकित्सास्थाने प्रमेहिमात्र-संबन्धितयाऽनूद्य चिकित्सायां संयोजिताः । तस्माद्भाविनीं मधुमेहतामाश्रित्य सर्वे एव मेहा मधु-मेहशब्दवाच्याः । उक्तं हि वाग्भटे—"मधुरं यच्च मेहेषु प्रायो मध्विव मेहति । सर्वेऽपि मधुमेहाख्या माधुर्याच्च तनोरतः ॥" (वा. नि. स्था. अ. १०) इति । गदाधरेण तु पिडकासंबन्धेनैव मधुमेहत्वमुक्तं, यतश्चरके कियन्तःशिरसीयाध्याये (च. सू. स्था. अ. १७) मधुमेहमभिधाय पिडका उक्ता इति । तन्न मनोहरं, तत्र मधुमेहशब्देन प्रमेहमात्राभिधानात् । यदि तु मधुमेह एवाभीष्टः स्यात्, तदा 'उपेक्षयाऽस्य जायन्ते' इत्युपेक्षणाभिधानमनुपपन्नं स्यात्, पिडकानां च मधुमेहभवानां चिकित्सोपदेशो व्यर्थः स्यादिति । कुलजमेहस्यासाध्यताप्रसङ्गेना-परेषामपि कुलजानामसाध्यत्वमाह—ये चापीत्यादि । केचिदिति कुष्ठादयः । कुलजा इति पितृ-पितामहादिसंभूताः । एतेन प्रमेहिपितृपितामहमातामहस्यापि प्रमेहमसाध्यं दर्शयति । ननु, यस्य पितामहः प्रमेही तस्य पिताऽपि प्रमेही, प्रमेहिजातत्वात्; तथाच सति 'जातः प्रमेही मधुमेहिनो वा न साध्य उक्तः स हि बीजदोषात्' इत्यनेनैव गतार्थम् । नैवं, न हि प्रमेहिना जात इत्येतावता उत्पन्नमात्र एव प्रमेही भवति, किं तर्हि कालवशेन दुष्टेरभिव्यक्त्या; यथा—कुष्ठिजातस्य कुष्ठं; एतेन यदाऽनतिदुष्टबीजेन प्रमेहिजातेन पित्रा जन्यते पुरुषः प्रमेही सोऽप्यसाध्य इति । कुलजा इत्यनेनैव मेहस्याप्यसाध्यतायां लब्धतायां पुनस्तद्वचनं प्रमेहाणां प्रायेण सन्तानानुबन्धित्वप्रदर्श-नार्थम् । उक्तं च—'प्रमेहोऽनुषङ्गिनाम्' (च. सू. स्था. अ. २५) इति ॥२२॥

मधुमेह शब्द से यहां मेहमात्र लिया जाता है । यदि मधुमेह शब्द से वातिक मेह वा उपेक्षितमेह लिया जावे, तो मधुमेह से भिन्न प्रमेहयुक्त माता पिता से उत्पन्न प्रमेही असाध्य नहीं होगा? क्योंकि 'कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः' के अनुसार मधुमेही से उत्पन्न मधुमेही ही होना चाहिए, न कि प्रमेही; अतः उक्त पद्य में 'जातः प्रमेही मधुमेहिनो वा' के स्थान पर 'मधुमेही मधुमेहिजः खलु' यह पाठ होना चाहिए था । साथ ही श्लोक में प्रतिपादित द्वितीय पाद के 'वह साध्य नहीं है' आदि की आवश्यकता भी नहीं है; क्योंकि मधुमेह तो स्वरूप से ही असाध्य है । इसके अतिरिक्त और जगह भी मधुमेह शब्द केवल प्रमेहमात्र के लिए आता है । तद्यथा—'जो मनुष्य गुल्मी, मधुमेही और राजयक्ष्मी होता है, ये (तीनों ही) सब बलमांस के क्षीण हो जाने पर अचिकित्स्य हैं' । अब यदि यह कहा जावे कि यहां मधुमेह से वातिक प्रमेह विशेष वा उपेक्षित प्रमेह ही लिया जाता है, तो भी ठीक नहीं; कारण कि यदि यहां (मधुमेह शब्द से) मधुमेह ही अभिमत होता, तो (उसका विशेषण) 'बल मांस के क्षीण होने पर' (वह अचिकित्स्य होता है) यह कहने की कोई आवश्यकता नहीं थी; क्योंकि (वातिकप्रमेह विशेषरूप वा उपेक्षितप्रमेहरूप) मधुमेह स्वरूप से ही असाध्य है (अतः उसमें बल मांस की क्षीणता कहना आवश्यक नहीं

है)। यथा कियन्तःशिरसीय अध्याय में 'इसकी उपेक्षा करने से मधुमेह (प्रमेह) पिडकाएं हो जाती हैं' इत्यादि से भी जो पिडकाएं मधुमेह के सम्बन्ध से कही हैं, वे ही 'प्रमेहियों की जो पिडकाएं मैंने कही हैं' यहां तक के इस पाठ को चरक ने चिकित्सा-स्थान में प्रमेहीमात्र के सम्बन्ध में पढ़कर चिकित्सा में प्रयोग किया है । (अतः सिद्ध होता है कि मधुमेह शब्द मेहमात्र में भी प्रयुक्त होता है; और तदनुसार उपरोक्त 'जातः प्रमेही मधुमेहिनो वा' श्लोक में भी मधुमेह शब्द सामान्य प्रमेहवाचक है)। इसलिए होने वाली मधुमेहता को लेकर ही सभी प्रमेह मधुमेह शब्द से कहे जाते हैं, अर्थात् मधुमेह शब्द का प्रयोग सर्वत्र सामान्य प्रमेहों में होने वाली मधुमेहता को लक्ष्य में रखकर ही किया जाता है । वाग्भट ने कहा भी है कि 'मधुरं यच्च मेहेष्विति' । गदाधर ने तो मधुमेह को मधुमेह पिडकाओं से सम्बन्धित होने पर कहा है; क्योंकि चरकीय कियन्तः-शिरसीय अध्याय में मधुमेह के अनन्तर पिडकाएं कही हैं । यह मन्तव्य मनोहर नहीं है; क्योंकि वहां मधुमेह शब्द से प्रमेहमात्र कहा है। यदि वहां मधुमेह से मधुमेह ही लेना होता, तो 'उपेक्षयास्य जायन्ते' में 'उपेक्षा' का कथन करना व्यर्थ हो जाता है । साथ ही (मधुमेह का अर्थ वहां मधुमेह ही लेने पर) मधुमेह से होने वाली पिडकाओं का कथन भी निरर्थक हो जाता है (क्योंकि असाध्य मधुमेह में होने वाली पिडकाएं भी असाध्य होंगी और 'साधनं नत्वसाध्यानां व्याधीनामुपदिश्यते' के अनुसार उनकी चिकित्सा का उपदेश भी व्यर्थ होगा। (ननु—) जिसका पितामह प्रमेही होता है, उसका पिता भी प्रमेही से उत्पन्न होने के कारण प्रमेही ही होगा, जब ऐसा है तो 'मधुमेही से अर्थात् प्रमेही से उत्पन्न प्रमेही बीज दोष के कारण साध्य नहीं होता' यह अर्थ इससे ही निकल सकता है, तो ('कुलजाः' कहने की क्या आवश्यकता थी ?) इस पर आचार्य कहते हैं कि नहीं, (मधुमेही की सन्तान प्रमेही और असाध्य अवश्य होगी, यह नहीं) क्योंकि प्रमेही से उत्पन्न होने मात्र से ही वह प्रमेही नहीं होता है, प्रत्युत जैसे कुष्ठी की सन्तान में कुष्ठ कालान्तर में दुष्टि की व्यक्तता होने पर होता है, वैसे भी प्रमेह भी कालान्तर में दुष्टि की अभिव्यक्ति होने पर ही होता है। इससे यह भाव निकलता है कि अल्प दुष्ट बीज वाले प्रमेही से उत्पन्न पिता से पैदा हुआ प्रमेही पुरुष भी असाध्य होता है। 'कुलजाः' इस शब्द से ही मेह की असाध्यता सिद्ध हो जाने पर पुनः उसका निर्देश 'प्रायः प्रमेह सन्तानानुबन्धी (पीढ़ियों तक सम्बन्ध रखने वाले) होते हैं' यह दर्शाने के लिये किया है। जैसे चरक ने कहा भी है कि 'प्रमेहोनुषङ्गिनाम्' ।

उपेक्षया सर्वेषां प्रमेहाणां मधुमेहताऽसाध्यता च भवतीत्याह—

सर्व एव प्रमेहास्तु कालेनाप्रतिकारिणः ।
मधुमेहत्वमायान्ति तदाऽसाध्या भवन्ति हि ॥२३॥ [सु० २।६]

मधुमेहस्य कारणभेदेन द्वैविध्यमाह—

मधुमेहे मधुसमं जायते स किल द्विधा ।
क्रुद्धे धातुक्षयाद्वायौ दोषावृतपथेऽथवा ॥२४॥ [वा० ३।१०]
आवृतो दोषलिङ्गानि सोऽनिमित्तं प्रदर्शयन् ।
क्षणात्क्षीणः क्षणात्पूर्णो भजते कृच्छ्रसाध्यताम् ॥२५॥ [वा० ३।१०]

१ मधुमेही. २ प्रदर्शयेत. ३ क्षीणः क्षणात्.

मधुमेहस्य निरुक्तिमाह—

मधुरं यच्च मेहेषु प्रायो मध्विव मेहति ।
सर्वेऽपि मधुमेहाख्या माधुर्याच्च तनोरतः ॥२६॥ [वा० ३।१०]

जो मनुष्य प्रतिकार (चिकित्सा) नहीं करता उसके सभी प्रमेह मधुमेहता को प्राप्त हो जाते हैं, अर्थात् जो भी प्रमेह उस मनुष्य में होगा वह मधुमेह बन जावेगा, एवं उनमें मधुमेहता आ जाने से वह असाध्य हो जाते हैं। मधुमेह में मूत्र मधु (शहद) के समान आता है। वह मधु-मेह दो प्रकार से होता है; जैसे कि एक धातु के क्षय से वायु के कुपित होने पर, दूसरा मार्ग के पित्तादि दोष से रुक जाने पर। इनमें से प्रथम धातुक्षय के कारण कुपित वातज मधुमेह के लक्षण वातमेह के समान होते हैं; जैसे कहा भी है कि 'कृत्स्नं शरीरं निष्पीड्य मेदोमज्जवसायुतः। अधः प्रक्रमते वायुस्तेनासाध्य-स्तु वातजः'। और द्वितीय दोषावृतमार्ग वाले मधुमेह में मार्गावरोधक पित्तादि धातु के लक्षण भी होते हैं। इसका भाव यह है कि मधुमेह दो प्रकार का होता है—एक वातिक मधुमेह, दूसरा उपेक्षितप्रमेह मधुमेह। इनमें से प्रथम प्रकार का मधुमेह धातुक्षय से प्रकुपित वायु से होता है और इसमें वातिक मेहों के लक्षण होते हैं। दूसरे प्रकार का मधुमेह मार्ग के दोषावृत्त होने से होता है और उसमें उसी धातु के लक्षण होते हैं, अर्थात् यदि पैत्तिक उपेक्षितमेह से मधुमेह होगा तो उसमें पित्त से ही मार्गावरण होगा, अतः उसमें लक्षण पित्त के भी होते हैं। इसी पर आचार्य कहते हैं कि 'आवृत' इति—आवृत हुआ २ वह अकस्मात् दोष के लिङ्गों को दर्शाता हुआ क्षण में क्षीण और क्षण में पूर्ण होता हुआ कृच्छ्रसाध्य हो जाता है। भाव यह है, दोषावृत पथ के कारण उत्पन्न मधुमेह में आवरक दोष के साथ २ वायु के (अर्थात् वातिकमेह के) भी लक्षण होते हैं, अन्यथा वह मधुमेह नहीं कहला सकता। वातिकमेहों में से किस मेह के लक्षण होते हैं, इसी पर आचार्य कहते हैं कि—'मधुर'मित्यादि। जिनके मूत्र में मधुरता हो और जिनका मूत्र मधु (शहद) की तरह आवे, एवं शरीर मीठा हो, उनमें होने वाले सभी मेह मधुमेह कहे जा सकते हैं। भाव यह है, जब मूत्र में मिठास और उस का मधु की तरह आना एवं शरीर का भी मधुर होना ये लक्षण जिस किसी भी प्रमेह में होंगे, वह प्रमेह मधुमेह कहलावेगा। भाव यह निकला कि दोषावृत मार्ग के कारण उत्पन्न अर्थात् उपेक्षित मधुमेह में उस २ दोष लक्षण के साथ जब ये लक्षण भी हो जावें, तो वह प्रमेह मधुमेह हो जावेगा।

वक्तव्य—यदि उपर्युक्त भाव को संक्षिप्त रूप से कहना हो तो इतना ही कहना पर्याप्त है कि मधुमेह दो प्रकार का होता है—एक धातुक्षय के कारण कुपित वायु से, दूसरा दोषावृत मार्ग से। धातुक्षय-प्रकुपितवायुजन्य मधुमेह

वातिक मधुमेह होता है, और दोषावृत-मार्गजन्य मधुमेह उपेक्षित प्रमेह रूप मधुमेह होता है। इनमें से प्रथम में वातिक लक्षण होते हैं, और दूसरे में आवरक दोष के भी और वातिक मधुमेह के भी लक्षण होते हैं, और यही इनमें परस्पर व्यतिरेक है।

मधु०—उपेक्षया हि पित्तकफजानामपि मधुमेहत्वं प्रदर्शयितुमाह—सर्व एवेत्यादि। धातुक्षयावरणाभ्यां कुपितवातेन मधुमेहसंभवमाह—मधुमेह इत्यादि। मधुसममिति 'मूत्रम्' इति शेषः। स इति मधुमेहः। सावरणालिङ्गमाह—आवृत इत्यादि। आवृत इति आवृतवातकृतः। दोषलिङ्गानीति येन पित्तादिना आवृतस्तस्य वातस्य च लिङ्गानि प्रदर्शयति। अनिमित्तमकस्मात्। 'क्षीणः क्षणात् क्षणात्पूर्णः' इति आवरणेन पुनः पूर्णो भवन् कृच्छ्रसाध्यो भवति। तथाच चरकः—"समारुतस्य पित्तस्य कफस्य च मुहुर्मुहुः। दर्शयत्याकृतिं गत्वा क्षयमाप्यायते पुनः॥" (च. सू. स्था. अ. १७) इति। धातुक्षयकुपितवातजस्य तु केवलवातजमेव लिङ्गम्। गदाधरस्त्वाह—मधुमेहः सावरणवायुनैव क्रियते। यदाह चरकः—"तैरावृतगतिर्वायुरोज आदाय गच्छति। यदा बस्तिं तदा कृच्छ्रो मधुमेहः प्रवर्तते॥" (च. सू. स्था. अ. १७) इति। केवलवातजेषु तु कषायादिवमनाद्यतियोगादिकृतेषु धातुक्षयजेषु वायोरावरणं नास्तीति भेदः। मधुमेहशब्दप्रवृत्तौ निमित्तमाह—मधुरं यच्च मेहेष्वित्यादि॥२३-२६॥

सब स्पष्ट ही है।

प्रमेहपिडकाः परिगणयति—

शराविका कच्छपिका जालिनी विनताऽलजी।
मसूरिका सर्षपिका पुत्रिणी सविदारिका॥२७॥ [वा० ३।१०]
विद्रधिश्चेति पिडकाः प्रमेहोपेक्षया दश।
सन्धिमर्मसु जायन्ते मांसलेषु च धामसु॥२८॥ [वा० ३।१०]

१ शराविका, २ कच्छपिका, ३ जालिनी, ४ विनता, ५ अलजी, ६ मसूरिका, ७ सर्षपिका, ८ पुत्रिणी, ९ विदारिका और १० विद्रधि ये दश पिडकाएं प्रमेह की उपेक्षा करने से सन्ध्याश्रित मर्मों में वा सन्धियों और मर्मों में तथा मांसल प्रदेशों में उत्पन्न होती हैं।

मधु०—प्रमेहोपेक्षया पिडकासंभवं दर्शयितुमाह—शराविकेत्यादि। इह दशपिडकासु विनतायाः पाठो भोजविरुद्धः, भोजे हि नव पिडकाः; तद्यथा—"शराविका सर्षपिका कूर्मिका जालिनी तथा। कुलत्थिकाऽलजी पुत्री विदारी विद्रधी तथा॥ नवैताः पिडका ज्ञेयाः" इत्यादि। कुलत्थिका भोजे मसूरिका ज्ञेया; किंतु भोज एव विनता न्यूनेति वक्तुं सुकरं, सुश्रुते चरके च विनताया दर्शनात्। चरके तु सप्त पिडकाः। तद्यथा—"शराविका कच्छपिका जालिनी सर्षपी तथा। अलजी विनताख्या च विद्रधी चेति सप्तमी॥" (च. सू. स्था. अ. १७) इति। तत्र प्रायोभावात् सप्तानामभिधानम्। यतस्तेनैव कियन्तःशिरसीये "तथाऽन्याः पिडकाः सन्ति" इत्यादिनाऽधिकपिडकासंभवः सूचितः। प्रमेहोपेक्षयेत्यभिधानं मधुमेहेन प्रमेहमात्रेण च

पिडकासंभवं दर्शयति । अत एव "विना प्रमेहमप्येताः ॥" (च. सू. स्था. अ. १७) इत्यत्र प्रमेहमात्रग्रहणं कृतम् । धामस्विति स्थानेषु ॥२७-२८॥

यहां दश पिड़काओं में से विनता का पाठ भोज से विरुद्ध है, क्योंकि भोज में ९ पिडकाएं स्वीकार की हैं। तद्यथा—'शराविका, सर्षपिका, कूर्मिका, जालिनी, कुलत्थिका, अलजी, पुत्रिका विदारी और विद्रधि ये नौ पिडिकाएं हैं' इत्यादि। कुलत्थिका शब्द से भोज के मतानुसार मसूरिका ग्रहण करनी चाहिए। एवं विनता का अभाव होना भोज (कृत ग्रन्थ) में न्यूनता है, यही कहना समुचित है; क्योंकि सुश्रुत और चरक में विनता है। चरक ने सात पिड़काएं स्वीकार की हैं, तद्यथा—'शराविका, कच्छपिका, जालिनी, सर्षपी, अलजी, विनता और विद्रधि'। यहां (चरक में) बहुलता से होने के कारण सात पिडकाएं दर्शाई हैं, क्योंकि चरक ने ही कियन्तःशिरसीय अध्याय में 'तथान्याः पिडकाः सन्ति' इत्यादि से अधिक पिड़काओं का होना सूचित किया है। भाव यह है कि चरक ने जो सात पिड़काएं कही हैं, उसका यह अभिप्राय नहीं कि केवल इतनी ही हैं; यह (७ की) संख्या तो उसने प्रायिक कही है; अतएव उसने कियन्तःशिरसीय में 'तथान्याः पिडकाः सन्ति' कहा है। एवं परस्पर विरोध नहीं आता। यहां 'प्रमेहोपेक्षया' इस वाक्य से यह सिद्ध होता है कि ये मधुमेह वा प्रमेहमात्र से भी होती हैं, इसी कारण 'विना प्रमेहमप्येताः' में प्रमेह मात्र का ग्रहण किया है।

शराविकालक्षणमाह—

अन्तोन्नता तु तद्रूपा निम्नमध्या शराविका।

जो पिडका शराब (प्याले) की तरह किनारों पर से उठी हुई (उन्नत) और बीच में से नीची (निम्न) हो, वह शराविका होती है।

सर्षपिकालक्षणमाह—

गौरसर्षपसंस्थाना तत्प्रमाणा च सर्षपी ॥२९॥ [सु० २।६]

जो पिडका सफेद सरसों की सी आकृति एवं प्रमाण वाली होती है, वह सर्षपी पिडका होती है।

कच्छपिकालक्षणमाह—

सदाहा कूर्मसंस्थाना ज्ञेया कच्छपिका बुधैः।

जो पिडका दाहयुक्त एवं कछुवे की सी आकृति वाली हो, वह कच्छपिका होती है।

जालिन्याः स्वरूपमाह—

जालिनी तीव्रदाहा तु मांसजालसमावृता ॥३०॥ [सु० २।६]
अवगाढरुजाक्लेदा पृष्ठे वाऽप्युदरेऽपि वा।

जालिनी पिडका तीव्र दाह वाली, मांस के जाल से व्याप्त, अत्यन्त पीड़ा और अधिक क्लेद से युक्त होती है, एवं उसका उत्पत्ति स्थान पीठ वा उदर होता है। उसका उत्पत्ति स्थान पीठ वा उदर होना प्रायिक है, क्योंकि सामान्य रीति से स्थान बताते हुए "सन्धिमर्मसु जायन्ते मांसलेषु च धामसु" कहा है, जिससे

यह सिद्ध होता है कि "प्रायः यह पीठ और उदर पर होती है; और अन्यत्र नहीं हो सकती" यह नहीं है। इस पर दूसरे आचार्य कहते हैं कि—सन्धि, मर्म और मांसल स्थानों को कह देने पर भी फिर पीठ और उदर का कहना नियमन के लिये है।

विनतालक्षणमाह—

महती पिडका नीला विनता नाम सा स्मृता ॥३१॥ [वा० ३।१०]

जो पिड़का बड़ी एवं नीलवर्ण हो, वह विनता नाम से पुकारी जाती है।

पुत्रिणीलक्षणमाह—

महत्यल्पाचिता ज्ञेया पिडका चापि पुत्रिणी।

जो छोटी २ पिडकाओं से व्याप्त बड़ी पिडका हो, वह पुत्रिणी कहलाती है।

मसूरिकालक्षणमाह—

मसूराकृतिसंस्थाना विज्ञेया तु मसूरिका ॥३२॥ [सु० २।६]

जो पिडका स्वरूप और आकृति से समूह के समान हो, वह मसूरिका कहलाती है।

अलजीलक्षणमाह—

रक्ता सिता स्फोटचिता दारुणा त्वलजी भवेत्।

रक्त वा श्वेत एवं स्फोटों से व्याप्त कष्टप्रद पिडका अलजी कहलाती है।

विदारिकालक्षणमाह—

विदारीकन्दवद्वृत्ता कठिना च विदारिका ॥३३॥ [सु० २।६]

विदारिका नाम वाली पिडका विदारीकन्द की तरह गोल एवं कठिन होती है।

विद्रधिकालक्षणमाह—

विद्रधेर्लक्षणैर्युक्ता ज्ञेया विद्रधिका तु सा।

विद्रधिका नामक पिडका विद्रधि के लक्षणों वाली होती है।

मधु०—सर्वासामाकृतिमाह—अन्तोन्नतेत्यादि। तद्रूपेति शरावरूपा। अल्पाचिता अल्पपिडकान्तराचिता। विद्रधेर्लक्षणैर्युक्तेत्यभिधानेन विद्रधेरस्या भेदो बोध्यः ॥२६–३३॥

सब सरल ही है।

पिडकानामारम्भकं कारणमाह—

ये यन्मयाः स्मृता मेहास्तेषामेतास्तु तन्मयीः ॥३४॥ [सु० २।६]

विना प्रमेहमप्येता जायन्ते दुष्टमेदसः।

तावच्चैता न लक्ष्यन्ते यावद्वास्तुपरिग्रहः ॥३५॥

जो २ प्रमेह जिस २ दोष से आरम्भ होता है, उस २ प्रमेह में होने वाली ये पिडकाएं भी उसी दोष से सम्बन्ध रखने वाली जाननी चाहिएँ। अर्थात्

श्लेष्मजों में श्लेष्मज, पित्तजों में पित्तज और वातजों में वातज जाननी चाहिएँ। कभी २ ये पिडकाएं दुष्ट मेदा वाले मनुष्य में प्रमेह के बिना भी उत्पन्न हो जाती हैं; परन्तु जब तक ये स्थान नहीं घेर लेतीं, तब तक ये दीखतीं नहीं, अर्थात् इनका ज्ञान नहीं होता।

मधु०—पिडकानामारम्भककारणमाह—ये यन्मया इत्यादि। तन्मया इति निर्देशः क्वचिदपवादविषयेऽप्युत्सर्गोऽभिनिविशत इति ङीपं बाधित्वा टापा साधनीयः। तद्दोषं मत्वा कैश्चित् 'तत्कृताः' इति पाठान्तरं कृतम्। अयमत्र पिण्डार्थः—यो यद्दोषोल्बणो मेहस्तद्दोषोल्बणैव पिडका भवन्ति। ननु, जालिन्यां तीव्रदाहः पठितः, स च पित्तकृतः। भोजेऽपि जालिनी पित्तकृतैव पठिता, यथा—"परस्पराभिसंबन्धा पिडका चैकदेशजा। पित्तोत्कटा दाहवती भृशरुग् जालिनी मता"—इति। तत्कथं जालिन्यां पित्तजत्वनियमाद्ये यन्मयेत्यादिग्रन्थार्थसंगतिः? नैवं, प्रचुरपिडकानां तन्मयत्वेन बाहुल्येनाभिधानं; यथा—छत्रिणो गच्छन्तीति गदाधरः; किंवा स्वमहिम्ना जालिनी पित्तप्रधाना भवति, श्लेष्मवातजमेहभवत्वेन श्लेष्मवातप्रधाना च; तेन दोषत्रय-प्रधानत्वात् सर्वदा सा भवति। अन्यस्त्वाह—तीव्रदाहत्वं पित्तोत्कटत्वं च पैत्तिकमेहजायां जालिन्या-मवगन्तव्यम्, अन्यमेहजा त्वन्यदोषोत्कटा निर्दाहा च। अत एव चरके जालिनी कफोल्बणा निर्दाहा एव पठिता। तद्यथा—"शराविका कच्छपिका जालिनी चेति दुःसहाः। जायन्ते ता ह्यतिबलाः प्रभूतश्लेष्ममेदसाम्॥ स्तब्धा सिराजालवती स्निग्धस्रावा महाश्रया। रुजानिस्तोदबहुला सूक्ष्मच्छिद्रा च जालिनी॥" (च. सू. स्था. अ. १७) इति। न चातिप्रसक्तिः, उक्तं हि चरके समर्थ्यते, अस्मिंश्च समाधाने ये यन्मया इत्यादि न व्याहन्यते। चरकभोजवचनयोश्चाविरोधार्थं यत्नान्तरं मृग्यम्। कार्तिकस्त्वाह—पाककाले पित्तोत्कटत्वं, "तस्माद्धि सर्वान् परिपाककाले पचन्ति शोथांस्त्रय एव दोषाः॥" (सु. सू. स्था. अ. १७) इति वचनात्; एतत्तु सर्वत्राविशेषान्नाद्रियते॥३४-३५॥

'ये यन्मयाः' का संक्षिप्तार्थ यह है कि जो प्रमेह जिस दोष से होता है, उसमें होने वाली पिडकाएं भी उसी दोष से होती हैं। ननु, जालिनी पिडका में तीव्रदाह कहा है और दाह पित्त से पैदा होता है, अतः वह पिडका (जालिनी) पित्तज है। भोज ने भी जालिनी को पित्तज ही माना है, तद्यथा—'एक दूसरी से सम्बन्धित इसी प्रकार एक देश में होने वाली, पित्तप्रधान, दाह और पीडायुक्त पिडका जालिनी कहलाती है'। एवं जब वह पित्तजा है, तो इसमें 'ये यन्मयाः' की सङ्गति कैसे होगी। भाव यह है कि जालिनी पित्तजा है, और 'ये यन्मयाः' में कहा है कि जिस दोष से जो प्रमेह होगा उस प्रमेह की पिडका भी उसी दोष से होगी; इस प्रकार यदि जालिनी श्लैष्मिक प्रमेहों में होगी, तो वहां दाह नहीं होना चाहिए; क्योंकि 'ये यन्मयाः' के अनुसार उसे दाहाभाव से श्लेष्मजा होना चाहिए, परन्तु भोजादि ने उसे पित्तजा माना है। इस पर आचार्य रक्षित कहते हैं कि नहीं, यह दोष नहीं आता; क्योंकि 'ये यन्मयाः' में उक्त भाव 'छत्रिणो गच्छन्ति' की तरह 'बाहुल्येन व्यपदेशा भवन्ति' के अनुसार है, अर्थात् अधिकतर जिस दोषज प्रमेह में जो पिडका होती है वह उसी दोष वाली होती है। एवं उक्त दोष नहीं आता। किञ्च जालिनी अपनी महिमा से पित्त प्रधान होती है; परन्तु जब श्लैष्मिक या वातिक मेह में होती है, तो वह 'ये यन्मयाः' के अनुसार श्लैष्मिक या वातिक होती है; एवं यह त्रिदोष प्रधान होने से

सर्वदा होती है। कई आचार्य यहां यह कहते हैं कि तीव्रदाह और पित्तोत्कटता पैत्तिक जालिनी में जानना चाहिए। अन्यमेहजा में तो दूसरे दोष प्रधान और निर्दाह होती है। इसी कारण चरक में जालिनी को कफोल्बण एवं निर्दाह ही पढ़ा है। तद्यथा—'शराविका, कच्छपिका और जालिनी ये पिडकाएं दुःसह होती हैं, और श्लेष्मबहुल एवं मेदस्वियों में प्रबलता से होती हैं। जालिनी पिडका स्तब्ध सिराओं के जाल से युक्त, स्निग्ध स्राव वाली, बड़े आश्रय युक्त, अधिक रुजा वाली, निस्तोद सहित एवं सूक्ष्म छिद्रों वाली होती है'। इस प्रकार स्वीकार करने से यहां अतिप्रसङ्ग दोष को भी नहीं कहना चाहिए; क्योंकि उक्त वात ही चरक में समर्थित हैं, और इस समाधान में 'ये यन्मयाः' इत्यादि सिद्धान्त का भी खण्डन नहीं होता। परन्तु चरक और भोज के वचनों में परस्पर विरोध को दूर करने के लिए कोई दूसरा यत्न ढूंढ़ना चाहिए। कार्तिक तो यह कहता है कि 'पाक के समय पित्तोत्कटता होती है, इसमें इसी कारण परिपाक काल में सभी शोथों को तीनों दोष पकाते हैं' यह शास्त्र वचन भी है; परन्तु यह सर्वसामान्य होने से आदरणीय नहीं है। इसका भाव यह है कि उपर्युक्त का तो समाधान हो जाता है, शेष रहा चरक और भोज के वचनों का परस्पर विरोध, सो उसके समाधान के लिए कोई दूसरा मार्ग ढूंढ़ना चाहिए। कार्तिक जी वह मार्ग बतलाते हुए कहते हैं कि—भोज का वचन पाकावस्थापरक है, क्योंकि उस समय उसमें 'पाकः पित्तादृतेर्नास्ति' के अनुसार पित्त प्रधान होता है; इसी कारण सुश्रुत ने 'तस्माद्धि सर्वान्' इत्यादि कहा है। परन्तु यह समाधान का तरीका सर्वसाधारण होने से ठीक नहीं है।

पिडकानां प्रत्याख्येयतामाह—

गुदे हृदि शिरस्यंसे पृष्ठे मर्मसु चोत्थिताः।
सोपद्रवा दुर्बलाग्नेः पिडकाः परिवर्जयेत् ॥३६॥ [सु० २।६]

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने प्रमेहप्रमेहपिडकानिदानं समाप्तम् ॥३३॥

गुदा, हृदय, सिर, स्कंध, पीठ, और मर्म स्थानों में उत्पन्न, तृट् कास मांस-संकोच आदि उपद्रवों वाली एवं मन्दाग्नि—मनुष्य में उत्पन्न ये पिडकाएं वर्जनीय होती हैं।

मधु०—असाध्यपिडकालक्षणमाह—गुद इत्यादि। सोपद्रवा इति उपद्रवाश्च तृट्कासादयः। यथाह चरकः—"तृट्कासमांससंकोचमोहहिक्कामदज्वराः। विसर्पमर्मसंरोधाः पिडकानामुपद्रवाः॥" (च. सू. स्था. अ. १७) इति। पिडकास्तु प्रायेणाधःकाय एव दोषदूष्याणामधःप्रसरणात्, "रसायनीनां च दौर्बल्यान्नोर्ध्वमुत्तिष्ठन्ति प्रमेहिणां दोषाः॥" (सु. चि. स्था. अ. १२) इति वचनाच्च। केचिदाहुः—स्त्रीणां प्रमेहो न भवतीति। तथाच तन्त्रान्तरे—"रजःप्रसेकान्नारीणां मासि मासि विशुध्यति। सर्वं शरीरं दोषाश्च न प्रमेहन्त्यतः स्त्रियः॥" इति। किंतु स्त्रीषु प्रमेहदर्शनात्, एतद्धेतुबलादन्यरोगासंभवत्वाच्चैतत् प्रायोवादमाश्रित्योक्तम्। मेहनिर्वृत्तिलक्षणं च सुश्रुते पठितम्। तद्यथा—"प्रमेहिणो यदा मूत्रमनाविलमपिच्छिलम्। विशदं तिक्तकटुकं तदाऽऽरोग्यं प्रचक्षते॥" (सु. चि. स्था. अ. १२) इति ॥३६॥

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायां प्रमेहप्रमेहपिडकानिदानं समाप्तम् ॥३३॥

पिड़काओं के उपद्रव 'तृषा, कास, मांस संकोच, मोह, हिक्का, मद, ज्वर, विसर्प और मर्मसंरोध ये पिड़काओं के उपद्रव हैं'। पिड़का प्रायः शरीर के नीचे के भाग में ही होती हैं; क्योंकि दोष और दूष्य नीचे की ओर प्रसार करते हैं। इसमें वचन भी है कि 'धमनियों के दुर्बल हो जाने से प्रमेहियों के दोष ऊपर की ओर नहीं जाते'। प्रमेह के विषय में कई आचार्य कहते हैं कि स्त्रियों को प्रमेह नहीं होता। तन्त्रान्तर में कहा भी है कि 'स्त्रियों का सम्पूर्ण शरीर एवं दोष मास २ के अनन्तर रज आने के कारण शुद्ध हो जाता है, अतः स्त्रियों को प्रमेह नहीं होता'। किन्तु स्त्रियों में प्रमेह दीखने के कारण, तथा प्रमेह के आस्यासुखादि कारणों से और किसी रोग की उत्पत्ति असम्भव होने से, स्त्रियों को प्रमेह नहीं होता, यह प्रायिकवाद को लेकर कहा है। प्रमेह की निवृत्ति का लक्षण सुश्रुत ने इस प्रकार पढ़ा है कि 'प्रमेही मनुष्य का मूत्र जब शुद्ध, लेस रहित, विशद, तिक्त वा कटु आता है, तब उसे नीरोगी जानना चाहिए'। उपर्युक्त शंका का अभिप्राय यह है कि कई आचार्य कहते हैं कि—स्त्रियों को महीने २ बाद रजस्राव होता है, जिससे उनका शरीर और उनके दोष शुद्ध हो जाते हैं; जब उनका शरीर और दोष शुद्ध हो जाते हैं, तो प्रमेह नहीं हो सकता। इस पर दूसरे आचार्य इसे ठीक नहीं मानते, क्योंकि उनकी अनुत्पत्ति में जो हेतु दिए हैं, वे हेत्वाभास हैं; कारण कि यदि शरीरशुद्धि हो जाती है, अतः प्रमेह नहीं होता, तो अन्य रोग भी नहीं होने चाहिएं; क्योंकि शरीरशुद्धि और दोषशुद्धि के अनन्तर अन्य रोग भी नहीं होने चाहिएं। दूसरा—दोष और दूष्य जैसे पुरुषों में हैं, वैसे ही स्त्रियों में भी हैं; अतः जब स्त्रियाँ प्रमेहकारक निदान का सेवन करेंगी, तो तथाविध सम्प्राप्ति हो जाने से प्रमेह अवश्य होगा। तीसरा—आस्यासुखादि प्रमेह का निदान यदि स्त्रियाँ सेवन करें और फिर भी उससे प्रमेह न हो, तो उस निदान से कौन सा रोग होता है? क्योंकि दूसरा रोग दीखता नहीं; अतः स्त्रियों को प्रमेह होता है, यह मानना पड़ता है। चौथी बात इसमें यह भी है कि अनुभव से स्त्रियों में प्रमेह दीखता है। पाँचवाँ सुश्रुत ने प्रमेह निवृत्ति का लक्षण लिखा है। जब लक्षण, जिसमें, चाहे वह पुरुष हो वा स्त्री, न घटे तो उसे प्रमेह जानना चाहिए। इस प्रकार भी स्त्रियों में प्रमेह सिद्ध होता है। यदि कहा जावे कि उक्त 'रजःप्रसेकात्' इत्यादि से विरोध आता है, तो उसका उत्तर यह है कि यह श्लोक प्रायिक है; क्योंकि प्रायः स्त्रियों को प्रमेह नहीं होता; सर्वथा नहीं होता यह बात नहीं है; अथवा यह श्लोक बहुलतापरक है; क्योंकि अधिकतर स्त्रियों में प्रमेह नहीं होता। एवं उक्त पद्य से विरोध भी नहीं आता और स्त्रियों को प्रमेह नहीं होता—इसका भी खण्डन हो जाता है, इति दिक्।

अथ मेदोरोगनिदानम्।

मेदोरोगस्य निदानमाह—

अव्यायामदिवास्वप्नश्लेष्मलाहारसेविनः।
मधुरोऽन्नरसः प्रायः स्नेहान्मेदः प्रवर्धयेत् ॥१॥

तस्य संप्राप्तिमाह—

मेदसाऽऽवृतमार्गत्वात् पुष्यन्त्यन्ये न धातवः।
मेदस्तु चीयते तस्मादशक्तः सर्वकर्मसु ॥२॥

---

१ नाम—सं. मेदोरोग, मेदोवृद्धि, अ. समन मुफरत, इ. ओबेसिटि (Obesity).

तस्य स्वरूपमाह—

क्षुद्रश्वासतृषामोहस्वप्नक्रथनसादनैः ।
युक्तः क्षुत्स्वेददौर्गन्ध्यैरल्पप्राणोऽल्पमैथुनः ॥३॥
मेदस्तु सर्वभूतानामुदरेष्वस्थिषु स्थितम् ।
अत एवोदरे वृद्धिः प्रायो मेदस्विनो भवेत् ॥४॥
मेदसाऽऽवृतमार्गत्वाद्वायुः कोष्ठे विशेषतः ।
चरन् सन्धुक्षयत्यग्निमाहारं शोषयत्यपि ॥५॥
तस्मात् स शीघ्रं जरयत्याहारमभिकाङ्क्षति ।
विकारांश्चाप्नुते घोरान् कांश्चित् कालव्यतिक्रमात् ॥६॥

तस्य दुश्चिकित्स्यतामाह—

एतावुपद्रवकरौ विशेषादग्निमारुतौ ।
एतौ तु दहतः स्थूलं वनदावो वनं यथा ॥७॥
मेदस्यतीव संवृद्धे सहसैवानिलादयः ।
विकारान् दारुणान् कृत्वा नाशयन्त्याशु जीवितम् ॥८॥

अतिस्थूलस्य लक्षणमाह—

मेदोमांसातिवृद्धत्वाच्चलस्फिगुदरस्तनः ।
अयथोपचयोत्साहो नरोऽतिस्थूल उच्यते ॥९॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने मेदोनिदानं समाप्तम् ॥३४॥

व्यायाम न करने से, दिन में सोने और श्लेष्मल भोजन करने वाले मनुष्य का मधुर अन्नरस स्नेह के कारण प्रायः मेद को बढ़ा देता है। अतः मेद से मार्ग के रुक जाने के कारण दूसरे धातु पुष्ट नहीं होते; अतः मेद ही इकट्ठा हो जाता है, जिससे मनुष्य सभी कर्मों में अशक्त हुआ २ क्षुद्र श्वास, तृषा, मोह, निद्रा, गले में घुरघुराहट, अवसाद, क्षुधा, स्वेद और दौर्गन्ध्य इनसे युक्त एवं क्षीणबल और मैथुन में अल्पशक्ति वाला हो जाता है। मेद सभी प्राणियों के उदर और अस्थियों में होती है; इसी कारण मेदस्वी मनुष्य में मेद की वृद्धि प्रायः उदर में होती है। मेद से मार्ग के बन्द हो जाने के कारण वायु विशेषतः कोष्ठ में भ्रमण करता हुआ जठराग्नि को बढ़ा देता है और आहार को भी सुखा देता है। इसी कारण वह आहार को शीघ्र पचा देता है तथा और आहार की इच्छा करता है। कुछ काल के व्यतीत हो जाने पर वह रोगी घोर रोगों को प्राप्त कर लेता है। विशेषतः अग्नि और वायु ये दोनों ही बड़े उपद्रव करने वाले होते हैं। स्थूल मनुष्य को ये दोनों इस प्रकार जला देते हैं, जैसे कि दावाग्नि वन को। मेद के बहुत बढ़ जाने पर सहसा वायु आदि भयंकर विकारों को करके शीघ्र ही जीवन को नष्ट कर देते हैं। मेद और मांस के बहुत बढ़ जाने के कारण कम्पनयुक्त

(लटकने से हिलते हुए) नितम्ब, उदर और स्तनों वाला, एवं यथायोग्य अनुपयुक्त मांस तथा उत्साह वाला मनुष्य अतिस्थूल कहलाता है।

मधु०—'विना प्रमेहमप्येता जायन्ते दुष्टमेदस' इत्यत्र मेदःसंकीर्तनान्मेदोदुष्टेरभिधानं, मेदोदुष्ट्या च स्थौल्यम् । मधुरोऽन्नरस इति मधुरप्राय आम इवान्नरसः संभवन् स्नेहान्मेदो जनयति । सुश्रुतेऽप्युक्तं—"आम इवान्नरसो मधुरतरश्च भवति" इत्यादि । ननु, मेदस्विनस्तीक्ष्णाग्नित्वात् कथमाम इवान्नरसो भवति ? यदुक्तं चरकेण—"चरन् सन्धुक्षयत्यग्निम्" (च. सू. स्था. अ. २१) इति । अग्नौ च मन्दे आमोत्पादः, यदाह—"आमाशयस्थः कायाग्नेर्दौर्बल्यादविपाचितः । आद्य आहारधातुर्यः स आम इति कीर्तितः" इति । उच्यते, श्लेष्मलाहाराध्यशनशीलत्वेन कदाचित् कालव्यतिक्रमभोजनेन च बहुविकारकरणाग्निव्यापत्तेरन्नरसस्यामतुल्यता, अथवा मधुरतरान्नरसोपलिप्तेऽन्नवहस्रोतसि सर्व एवान्नरसो मधुरतरो निष्पद्यते, यथा पित्तयुक्तेऽन्नवहस्रोतसि मधुररसस्यापि विदाहः । यदुक्तं—"स्रोतस्यन्नवहे पित्तं पक्तौ वा यस्य तिष्ठति । विदाहि भुक्तमन्यद्वा तस्याप्यन्नं विदह्यते ॥" (सु. सू. स्था. अ. ४६) इति; स चामतुल्यत्वादाम इत्युच्यते । अशक्तः सर्वकर्मस्विति मेदसः सौकुमार्यात् । क्षुद्रश्वासः 'रूक्षायासोद्भव' इत्यादिनाऽभिहितः । क्रथनमकस्मादुच्छ्वासावरोधः । चरन् सन्धुक्षयत्यग्निमिति मेदोरुद्धमार्गत्वात् कुम्भकारपवनन्यायेनान्तर्वलवान् वृद्धो वायुरग्निं दीपयति । अतिवृद्धस्तु वायुरग्निवैषम्यजनकः । विकारांश्चाप्नुते घोरानिति वातविकाराणामन्यतमान्; कालव्यतिक्रमात् भोजनकालव्यतिक्रमात् । विकारान् दारुणानिति प्रमेहपिडकाज्वरभगन्दरविद्रधिवातरोगाणामन्यतमान् । अयथोपचयोत्साह इति अयथावन्मांसोपचय उत्साहश्च यस्य स तथा ॥१-६॥

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायां मेदोनिदानं समाप्तम् ॥३४॥

(प्रश्न—) मेदस्वी के तीक्ष्णाग्नि होने से अन्नरस आम की तरह कैसे हो सकता है ? जैसे चरक ने कहा भी है कि 'चरन् सन्धुक्षयत्यग्निम्' इत्यादि । आमरस तो मन्दाग्नि होने से होता है, जैसे कहा भी है कि 'जठराग्नि की दुर्बलता के कारण अपक्व आमाशय में स्थित जो प्रथम आहार धातु है, वह आम कहलाता है । (उत्तर—) श्लेष्मल आहार के अध्यशनशील होने से और कभी भी काल में भोजन न करने से बहुत से विकारों की कारणरूप जठराग्नि को दूषित होने से अन्नरस आम की तरह होता है; जैसे कि पित्तयुक्त अन्नवह स्रोत में मधुररस का भी विदाह होता है; यथोक्तमपि 'स्रोतस्यन्नवहे' इत्यादि । इस प्रकार वह पूर्वोक्त आहार रस आमतुल्य होने से आम कहलाता है ।

अथोदररोगनिदानम् ।

उदररोगस्य निदानमाह—

रोगाः सर्वेऽपि मन्देऽग्नौ सुतरामुदराणि च ।
अजीर्णान्मलिनैश्चान्नैर्जायन्ते मलसंचयात् ॥१॥ [वा० ३।१२]

जठराग्नि के मन्द होने पर ही सभी रोग होते हैं, विशेषतः उदररोग ।

१ तु.

इसके अतिरिक्त यह रोग अजीर्ण, मलिनान्न और पेट में मल (इकट्ठा) हो जाने से भी होते हैं। उदररोग शब्द आठों उदरों के लिये ही है।

मधु०—उदरोत्सेधसाधर्म्यादुदरनिदानम् । उदरस्य विशेषेण वह्निदुष्टिजन्यत्वमाह—रोगा इत्यादि । अग्निमान्द्यं च दोषत्रयजनकम् । यदुक्तं—"वर्षास्वग्निबले हीने कुप्यन्ति पवनादयः ॥" (च. सू. स्था. अ. ६) इति । मलिनैरिति अत्यर्थदोषजनकैर्विरुद्धाध्यशनादिभिः । मलसंचयादिति मला दोषाः पुरीषादयश्च, तेषामतिवृद्धत्वात् । तन्त्रान्तरं च—"अतिसंचितदोषाणां पापं कर्म च कुर्वताम् । उदराण्युपजायन्ते मन्दाग्नीनां विशेषतः ॥" इति । यद्यपि मन्दाग्नित्वमलिनान्नत्वयोः प्रत्येकमपि दोषत्रयजनकत्वमस्ति तथाऽप्यत्रोभयहेतुजनकत्वेन दोषदुष्टिप्रकर्षः ख्याप्यते, अतएव दुष्टिप्रकर्षख्यापनार्थं मलसंचयादित्यत्र संपूर्वं कृतवान् ॥१॥

मलसञ्चय शब्द से प्रकृत में दोष वा पुरीषादिकों की अति वृद्धि लेनी चाहिए। जैसे तन्त्रान्तर में कहा भी है कि 'अति वृद्ध वातादि वा पुरीषादि दोषों वाले और पापकर्मों को करने वाले मनुष्यों को उदररोग हो जाते हैं, विशेषतः मन्दाग्नि मनुष्यों को। यहां श्लोक में दोष शब्द से मल और दोष दोनों का ही उपचार से ग्रहण होता है, क्योंकि पुरीषादि का सञ्चय भी उदररोग को करता है, जैसे कि 'रोगाः सर्वेऽपि' में 'मलसञ्चयात्' से कहा भी है। दोष शब्द से पुरीषादि भी लिये जाते हैं, जैसे 'न घृतं बहुदोषाय देयं यन्न विरेचनम्' में दोष शब्द पुरीषवाचक है। यद्यपि मन्दाग्निता और मलिन अन्न का सेवन, दोनों ही पृथक् २ तीनों दोषों को कुपित (पैदा) करते हैं, तथापि यहां दुष्टि की अधिकता करने के लिये 'मलसंचयात्' में चय शब्द 'सम्' उपसर्गपूर्वक कहा है। दोनों हेतुओं को कहकर दोषों की अधिक पुष्टि बतलाई गई है।

तस्य संप्राप्तिमाह—

रुद्ध्वा स्वेदाम्बुवाहीनि दोषाः स्रोतांसि संचिताः ।
प्राणाग्न्यपानान्[1] संदूष्य जनयन्त्युदरं नृणाम् ॥२॥ [च० ६।१३]

सञ्चित हुए दोष मेद और लोमकूप आदि स्वेदवह तालु और क्लोम आदि अम्बुवह स्रोतों को रोक कर, प्राणवायु, जठराग्नि और अपानवायु को दूषित करके मनुष्यों में उदररोग को उत्पन्न कर देते हैं।

मधु०—संप्राप्तिमाह—रुद्ध्वेत्यादि । स्वेदाम्बुवाहीनीति स्वेदवहान्यम्बुवहानि च । अनयोश्च भेदः—"उदकवहानां स्रोतसां तालु मूलं क्लोम च; स्वेदवहानां स्रोतसां मेदो मूलं, लोमकूपाश्च ॥" (च. वि. स्था. अ. ५) इत्यनेनोक्तो ज्ञेयः । स्रोतोरोधश्चात्र वहिरेव न पुनरन्तः । यदुक्तं चरके—"स्वेदस्तु बाह्येषु स्रोतःसु प्रतिहतगतिस्तिर्यगवतिष्ठमानस्स एवोदकमाप्याययति ॥" (च. चि. स्था. अ. १३) इति । अत एवोदरपूर्णताऽन्नरसेन । प्राणाग्नीति पुनरग्निदूषणाभिधानेन मन्दस्याप्यग्नेः पुनर्दोषकृतं सुतरां मान्द्यं बोधयति । दोषसंचयगतेनापि वायुना प्राणापानयोर्दूषणं न विरुद्धं, यतो वायुना वाय्वन्तरदुष्टिः क्रियत एव । सुश्रुते तु पूर्वरूपमस्योक्तं, तद्यथा—"तत्पूर्वरूपं बलवर्णकाङ्क्षावलीविनाशो जठरे हि राज्यः । जीर्णापरिज्ञानविदाहवत्यो वस्तौ रुजः पादगतश्च शोथः ॥" (सु. नि. स्था. अ. ७) इति ॥२॥

---

१ प्राणापानाग्नि.

स्वेदवह और अम्बुवह इन दोनों में परस्पर भेद है। जैसे चरक ने कहा भी है कि—'उदकवह स्रोतों का मूल तालु और क्लोम तथा स्वेदवह स्रोतों का मूल मेद और लोमकूप हैं'। स्रोतों के अवरोध से यहां बाह्य स्रोतोवरोध लेना चाहिये, न कि आभ्यन्तरिक। जैसे चरक ने कहा भी है कि 'स्वेद बाह्य स्रोतों में गति की रुकावट होने पर तिरछा होकर जल को बढ़ा देता है'। अतएव अन्नरस से उदर भर जाता है। दोषों में शब्द के ग्रहण से वायु का ग्रहण हो जाने पर भी पुनः यह कहना कि, दोषसञ्चय प्राणवायु और अपानवायु को दुष्ट करता है, विरुद्ध है। इसका उत्तर यह है कि वायु भी दूसरे वायु को दुष्ट करता ही है, अतः विरोध नहीं।

उदराणां सामान्यलक्षणमाह—

आध्मानं गमनेऽशक्तिर्दौर्बल्यं दुर्बलाग्निता।
शोथः सदनमङ्गानां सङ्गो वातपुरीषयोः॥३॥ [सु० २।७]
दाहस्तन्द्रा च सर्वेषु जठरेषु भवन्ति हि।

तद्भेदानाह—

पृथग्दोषैः समस्तैश्च प्लीहबद्धक्षतोदकैः॥४॥ [च० ६।१३]
संभवन्त्युदराण्यष्टौ तेषां लिङ्गं पृथक् शृणु।

आध्मान, चलने में असमर्थता, दुर्बलता, अग्निमान्द्य, शोथ, अङ्ग में पीड़ा, अपानवायु तथा मल की रुकावट, दाह और तन्द्रा ये लक्षण सभी उदर रोगों में होते हैं। पृथक् २ दोषों से, सन्निपात से, प्लीहा से, बद्धता से, क्षत और उदक (जल) से इस प्रकार आठ उदररोग होते हैं; उनके पृथक् २ लक्षण सुनो।

मधु०—उदराणां सामान्यरूपमाह—आध्मानमित्यादि। दुर्बलाग्नितेति मन्दोऽग्निर्यद्यप्यत्र हेतुस्तथाऽप्यग्नेरतिशयदौर्बल्यं लिङ्गत्वेन ज्ञेयम्। उदराण्यष्टाविति यकृद्दाल्युदरस्य प्लीहोदरेण सार्धं समानचिकित्स्यतया तथोत्पत्तिविशिष्टदकोदरात् क्रमेण भूतदकोदरस्यापि समानलिङ्गचिकित्सितत्वेनाभिन्नत्वादष्टावेवोदराणि भवन्ति। प्लीहोदरादीनि च यद्यपि चत्वारि दोषजानि, तथाऽपि हेतुलिङ्गचिकित्साभेदात् पृथगुक्तानि॥३-४॥

उदररोग आठ हैं, यकृद्दाली उदर प्लीहोदर के साथ समान चिकित्सा होने के कारण, तथा उत्पत्ति विशेष वाले दकोदर से भूत दकोदर का भी समान लक्षण और चिकित्सा होने से अभिन्न होने के कारण उदर आठ ही होते हैं। प्लीहोदर आदि चार यद्यपि दोषज ही हैं, तथापि कारण, लक्षण और चिकित्सा भेद होने से पृथक् कहे हैं।

वातोदरस्य स्वरूपमवतारयति— Tympaniti[es]

तत्र वातोदरे शोथः पाणिपान्नाभिकुक्षिषु॥५॥ [वा० ३।१२]
कुक्षिपार्श्वोदरकटीपृष्ठरुक् पर्वभेदनम्।
शुष्ककासोऽङ्गमर्दोऽधोगुरुता मलसंग्रहः॥६॥ [वा० ३।१२]
श्यावारुणत्वगादित्वमकस्माद् वृद्धिह्रासवत्।

---

१ शोफः. २ शुष्क.

सतोदभेदमुदरं तनुकृष्णशिराततम् ॥७॥ [वा० ३।१२]
आध्मातदृतिवच्छब्दमाहतं प्रकरोति च।
वायुश्चात्र सरुक्शब्दो विचरेत्सर्वतो गतिः ॥८॥ [वा० ३।१२]

वातिक उदर में हाथ, पांव, नाभि और कुक्षि इनमें शोथ, कुक्षि, पार्श्व, उदर, कटि और पीठ में पीड़ा, पर्वभेद, शुष्ककास, अङ्गमर्द, नीचे के भाग में भारीपन, मलसंचय, त्वचा आदि में श्याव वा अरुणपन, पेट की अकस्मात् वृद्धि और अकस्मात् ह्रास, तोद भेदयुक्त तथा तनु, कृष्ण, एवं सिराओं से व्याप्त होना, ठकोरने से पेट का फूली हुई मशक की तरह शब्द करना, एवं सर्वकोष्ठगत वायु का पीड़ा और शब्द के साथ २ सञ्चरण होता है।

मधु०—वातोदरलक्षणमाह—तत्रेत्यादि। अकस्माद्वृद्धिह्रासवदिति अनियतवृद्धि-ह्रासयुक्तमुदरम्। आध्मातदृतिवदिति वातपूर्णचर्मपुटवदिति ॥५-८॥

सरल है।

पित्तोदरस्य लक्षणमाह—(Ac peritonitis)

पित्तोदरे ज्वरो मूर्च्छा दाहस्तृट् कटुकास्यता।
भ्रमोऽतिसारः पीतत्वं त्वगादावुदरं हरित् ॥९॥ [वा० ३।१२]
पीतताम्रशिरानद्धं सस्वेदं सोष्म दह्यते।
धूमायते मृदुस्पर्शं क्षिप्रपाकं प्रदूयते ॥१०॥ [वा० ३।१२]

पैत्तिक उदर रोग में ज्वर, मूर्च्छा, दाह, पिपासा, मुखकटुता, भ्रम, अति-सार, त्वचा आदि की पीतता, उदर हरी, पीली और लाल वर्ण की सिराओं से व्याप्त, ऊष्मायुक्त, दाहयुक्त, धूम्रयुक्त, मृदु स्पर्श वाला, शीघ्रपाकी तथा पीड़ा-युक्त होता है।

मधु०—पैत्तिकमाह—पित्तेत्यादि। दह्यत इति उदरमात्रं दह्यते। दाहस्तु सकलदेह-स्यैव बोद्धव्यः। धूमायते धूम इवोर्ध्वमेति। क्षिप्रपाकमिति क्षिप्रपाकाज्जलोदरतां यातीत्यर्थः। प्रदूयते व्यथते ॥९-१०॥

क्षिप्रपाक शब्द का अर्थ यह है कि शीघ्र ही पाकावस्था अर्थात् जलोदरता को प्राप्त करता है। भाव यह है कि यहां पाक शब्द परिपाक वा परिणामवाची है और सभी उपेक्षित उदरों का विपाक (परिणाम) यही है कि वे जलोदर बन जावें; इसी कारण शास्त्र में कहा है कि "अन्ते सलिलभावं हि भजन्ते जठराणि तु। सर्वाण्येव परीपाकात्तदा तानि विवर्जयेत् (विध्येत्त्यजेत् वा)" (सु. नि. स्था. अ. ८)। जिस प्रकार उपेक्षित (चिकित्सा न करने से) सभी प्रमेह मधुमेह में परिणत होकर असाध्य हो जाते हैं और मधुमेह में परिणत होना ही उनका परिपाक है, उसी प्रकार उपेक्षित सभी उदर जलोदर में परिणत होकर असाध्य हो जाते हैं और जलोदर में परिणत होना ही उनका परिपाक है।

श्लेष्मोदरस्य लक्षणमाह—

श्लेष्मोदरेऽङ्गसदनं स्वापः श्वयथुगौरवम्।
निद्रोत्क्लेशोऽरुचिः श्वासः कासः शुक्लत्वगादिता ॥११॥ [वा० ३।१२]

उदरं स्तिमितं स्निग्धं शुक्लराजीततं महत् ।
चिराभिवृद्धं कठिनं शीतस्पर्शं गुरु स्थिरम् ॥१२॥ [च० ३।१२]

श्लैष्मिक उदर में अङ्गसाद, अङ्गस्वाप (सुन्न हो जाना), शोथ, गुरुता, निद्रा, उत्क्लेश, अरुचि, श्वास, कास, त्वचादिकों में शुक्लता, उदर स्तिमित, स्निग्ध, श्वेतराजियों (सिराओं) से युक्त, बड़ा, चिरपाकी, कठिन, शीत स्पर्श वाला, गुरु एवं स्थिर होता है।

निदानसंप्राप्तिपूर्वकं सन्निपातोदरस्य लक्षणमाह—

स्त्रियोऽन्नपानं नखलोमसूत्र-
विडार्तवैर्युक्तमसाधुवृत्ताः ।
यस्मै प्रयच्छन्त्यरयो गरांश्च
दुष्टाम्बुदूषीविषसेवनाद् वा ॥१३॥ [सु० २।७]
तेनाशु रक्तं कुपिताश्च दोषाः
कुर्युः सुघोरं जठरं त्रिलिङ्गम् ।
तच्छीतवाते भृशदुर्दिने च
विशेषतः कुप्यति दह्यते च ॥१४॥ [सु० २।७]
स चातुरो मुह्यति हि प्रसक्तं
पाण्डुः कृशः शुष्यति तृष्णया च ।
दूष्योदरं कीर्तितमेतदेव

दुराचारिणी स्त्रियाँ नख, लोम, मूत्र, पुरीष और आर्तव से युक्त अन्नपान जिसे देती हैं; तथा जिसे शत्रु संयोगज (कृत्रिम वा गर) विष देते हैं, अथवा जो दुष्टजल और दूषीविष का सेवन करते हैं, उनका इन कारणों से शीघ्र रक्त कुपित हो तीनों दोषों के सहित तीनों दोषों के लक्षणों वाले घोर उदर रोग को कर देता है। वह त्रिदोषज उदर शीत वातादि तथा दुर्दिन में विशेष कुपित होता है और जलन करता है। वह रोगी निरन्तर मूर्च्छित (मोहं मूर्च्छेति तामाहुरित्यनुसारेण मोहशब्दस्यापि मूर्च्छा एवार्थः) होता है, उसका वर्ण पाण्डु, शरीर कृश और पिपासा से मुख शुष्क होता है, यही दूष्योदर कहा है।

मधु०—सन्निपातोदरमाह—स्त्रिय इत्यादि। [illegible] गरं संयोगजं विषम्। दुष्टमम्बु [illegible] वा दूषीविषमुच्यते। यदुक्तं—"जीर्णं विषघ्नौषधिभिर्हतं वा [illegible] स्वभावतो वा गुणविप्रहीनं विषं हि दूषीविषतामुपैति॥" ([illegible]) तेनाशु रक्तमिति [illegible] भवति। तच्छीतवाते [illegible]

१ [illegible]. २ [illegible]. ३ [illegible]. ४ [illegible]. ५ [illegible]. ६ [illegible] ७ [illegible].

कीर्तितं, न पुनरधिकमित्यर्थः । रक्तं दूष्यं दूषयित्वा भवतीति दूष्योदरं; किंवा परस्परं दूषयन्तीति दोषा एव दूष्यास्तैः कृतमुदरमिति ॥११-१४॥

स्त्रीग्रहण अविवेकी सन्निहित (समीप में रहने वाले) जन का उपलक्षण है (डल्हण भी सुश्रुत की टीका में लिखते कि—'स्त्रीग्रहणमत्रोपलक्षणं, तेनान्येऽपि सन्निहिता अविवेकिनो ग्राह्याः' इति) । वायु, अग्नि आदि से उपहत वा मन्द प्रभाव वाला विष ही दूषीविष कहलाता है । जैसे कहा भी है कि—'जीर्णता को प्राप्त, वा विषघ्न ओषधियों से आहत, अथवा दावाग्नि, वात और आतप से शोषित, वा जो स्वभाव से ही हीन गुण वाला हो, वह दूषीविषता को प्राप्त करता है' । दूष्य रक्त को दूषित करने से यह रोग होता है, अतः अथवा एक दूसरे को दूषित करने के कारण दोष ही दूष्य कहला सकते हैं; अतः उन दोष-रूपी दूष्यों से किया हुआ उदररोग दूष्योदर कहलाता है ।

निदानसंप्राप्तिपूर्वकं प्लीहोदरस्य लक्षणमाह—

प्लीहोदरं कीर्तयतो निबोध ॥१५॥ [सु० २।७]
विदाह्यभिष्यन्दिरतस्य जन्तोः
प्रदुष्टमत्यर्थमसृक् कफश्च ।
प्लीहाभिवृद्धिं कुरुतः प्रवृद्धौ
प्लीहोत्थमेतज्जठरं वदन्ति[1] ॥१६॥ [सु० २।७]
तद्वामपार्श्वे[2] परिवृद्धिमेति
विशेषतः सीदति चातुरोऽत्र ।

यकृद्दाल्युदरस्य लक्षणमाह—

मन्दज्वराग्निः कफपित्तलिङ्गै-
रुपद्रुतः क्षीणबलोऽतिपाण्डुः ।

अब प्लीहोदर सुनो । विदाही और अभिष्यन्दि पदार्थों को अत्यन्त सेवन करने वाले मनुष्य का अत्यन्त प्रदुष्ट रक्त और कफ यह दोनों ही बढ़ कर प्लीहा को बढ़ा देते हैं । इसी जठर रोग को आचार्य प्लीहोदर कहते हैं । वह प्लीहोदर वाम पार्श्व में बढ़ता है । इस रोग से आतुर मनुष्य मन्दज्वर, मन्दाग्नि और कफ-पित्त के लक्षणों से उपद्रुत (उपद्रवों वाला), क्षीणबल और अति पाण्डुवर्ण वाला हो पीड़ित होता है ।

यकृद्दाल्युदरस्य लक्षणमाह—

सव्यान्यपार्श्वे[3] यकृति प्रवृद्धे
ज्ञेयं यकृद्दाल्युदरं तदेव ॥१७॥ [सु० २।७]

दक्षिण पार्श्व में यकृत् के बढ़ जाने पर वही प्लीहोदर वा प्लीहोदर के समान यकृद्दाल्युदर जानना चाहिए । यकृद्दाल्युदर कोई पृथक् उदर नहीं है,

---

१ प्लीहाभिवृद्धिं सततं करोति प्लीहोदरं तत् प्रवदन्ति तज्ज्ञाः. २ वामे च पार्श्वे. ३ सव्येतरस्मिन्.

प्रत्युत इसका अवरोध प्लीहोदर में ही हो जाता है, इसी बात को ज्ञापित करने के लिये आचार्य सुश्रुत ने 'तदेव' पद दिया है।

मधु०—प्लीहोदरमाह—प्लीहेत्यादि। असृक्कफश्चेत्यसृग्दुष्ट्यैव तत्तुल्यकारणतया पित्तदुष्टिरप्युच्यते, विदाहिना रक्तं पित्तं च दूष्यते; अत एव पश्चाद्वक्ष्यति–'कफपित्तलिङ्गैरुपद्रुतः'–इति। अत्र पित्तस्य लिङ्गं मन्दज्वरः, कफस्य लिङ्गं मन्दाग्नित्वमिति गदाधरः। प्लीहोदर एव यकृद्दाल्युदरस्यावरोधं दर्शयन्नाह–सव्यान्यपार्श्वे इत्यादि। सव्यान्यपार्श्वे दक्षिणपार्श्वे। तदेवेति तादृशमेव, प्लीहोदरसममेव न विलक्षणमित्यर्थः। यकृद्दालयति दोषैर्भेदयतीति यकृद्दाल्युदरम् ॥ १५–१७॥

इसकी भाषा सरल ही है।

तत्र वातादिदोषसम्बन्धेन लक्षणान्याह—

उदावर्तरुजानाहैर्मोहतृड्दहनज्वरैः ।
गौरवारुचिकाठिन्यैर्विद्यात्तत्र मलान् क्रमात् ॥१८॥ [च० ६।१३]

इन उपर्युक्त प्लीहोदर तथा यकृद्दाली (यकृदुदररोग) में उदावर्त, पीड़ा और आनाह से वायु का, मूर्च्छा, पिपासा, दाह और ज्वर से पित्त का तथा गौरव अरुचि और काठिन्य से कफ का संबंध जानना चाहिए।

मधु०—तत्र दोषसंबन्धमाह—उदावर्तेत्यादि। उदावर्तरुजानाहैर्वातं, मोहतृड्दहनज्वरैः पित्तं, गौरवारुचिकाठिन्यैः कफं जानीयात ॥१८॥

अर्थ सरल ही है।

निदानसंप्राप्तिपूर्वकं बद्धगुदोदरस्य लक्षणमाह—

यस्यान्त्रमन्नैरुपलेपिभिर्वा
बालाश्मभिर्वा पिहितं यथावत्[1] ।
संचीयते तस्य मलः सदोषः
शनैः शनैः संकरवच्च नाड्याम्[2] ॥१९॥ [सु० २।७]
निरुध्यते तस्य[3] गुदे पुरीषं
निरेति कृच्छ्रादपि चाल्पमल्पम् ।
हृन्नाभिमध्ये परिवृद्धिमेति
तस्योदरं बद्धगुदं वदन्ति ॥२०॥ [सु० २।७]

(Partial Intestinal obstruction) Hair V. Ch 4

जिस मनुष्य का अन्त्र शाकशालूकादि लेसदार (पिच्छिल) अन्नों से, या छोटे से पत्थर के टुकड़े से यथायुक्त बन्द हो जाता है, उसका दोषयुक्त मल शनैः २ बुहारनी से एकत्रित किये हुए कूड़े की तरह आँत में सञ्चित हो जाता है, जिससे उसकी गुदा में पुरीष रुक जाता है, वा बड़ी कठिनता से थोड़ा २ करके आता है। इसमें उदर, हृदय और नाभि के बीच में बढ़ जाता है, उसी को आचार्य बद्धगुदोदर रोग कहते हैं।

१ सहितैः पृथग्वा. २ सञ्चीयते तत्र मलः सदोषः क्रमेण नाड्यामिव संकरो हि. ३ चास्य.
४ अत्र सुश्रुते 'त(य)चोदरं विड्समगन्धिकं च प्रच्छर्दयन् बद्धगुदी विभाव्यः' अयं पाठो दृश्यते.

मधु०—बद्धगुदमाह—यस्यान्त्रमन्नैरित्यादि । उपलेपिभिः पिच्छिलैरन्नैः शाकशालुकादिभिः । पिहितं विबद्धम् । यथावदिति यथार्हम् । मलः पुरीषम । सदोष इति दोषत्रयसहितः । नाड्यामित्यन्त्रनाड्याम् । संकरवदिति संमार्जनीक्षिप्यमाणतृणाद्यवकरो यथा चीयते क्रमेण तथेत्यर्थः । बद्धगुदमिति गुदोपर्यन्त्रस्य बद्धत्वाद्बद्धगुदम् । यदुक्तं चरके—"पक्ष्मबालैः सहान्नेन भुक्तैर्बद्धायने गुदे ॥" (च. चि. स्था. अ. १३) इति । पुरीषायतनस्य रुद्धत्वात् हृन्नाभिमध्येऽन्नपाकस्थाने वृद्धिः; गुदमात्रनिरोधे तु मलदोषैर्गुदादूर्ध्वमेवोदरवृद्धिः स्यात् ॥१९—२०॥

भाषा स्पष्ट ही है ।

निदानसंप्राप्तिपूर्वकं क्षतोदरस्य (परिस्राव्युदरस्य) लक्षणमाह—

शल्यं तथाऽन्नोपहितं यदन्त्रं
भुक्तं भिनत्त्यागतमन्यथा वा ।
तस्मात्स्रुतोऽन्त्रात्सलिलप्रकाशः
स्रावः स्रवेद्वै गुदतस्तु भूयः ॥२१॥ [सु० २।७]
नाभेरधश्चोदरमेति वृद्धिं
निस्तुद्यते दाल्यति चातिमात्रम् ।
एतत्परिस्राव्युदरं प्रदिष्टं,

जो मनुष्य कण्टक शर्करादि मिश्रित अन्न को खा लेता है, उसमें वह शल्य आँतों में ठीक न आकर (तिरछा होकर अपनी नोक से) अन्त्र में छेद कर देता है । तब उस आँत से जल जैसा स्राव बार २ गुदा से स्रवित होता है । यह उदर नाभि के नीचे बढ़ता है, और इसमें तोद और शस्त्र से फाड़ने की सी पीड़ा होती है । यही उदर परिस्राव्युदर कहा है ।

मधु०—क्षतोदरमाह—शल्यमित्यादि । शल्यं कण्टकशर्करादि । अन्नोपहितमन्नयुक्तम् । भुक्तमागतमिति अर्थतः पाकाशयात्; विलोमेनागतमन्त्रं भिनत्ति, ऋज्वागतं हि शल्यमपि नान्त्रभेदकम् । अन्यथा वेति जृम्भणात्यशनाभ्यामन्त्रं भिद्यते । यदुक्तं चरके—"शर्करातृणलोष्टास्थिकण्टकैरन्नसंयुतैः । भिद्येतान्त्रं यदा भुक्तैर्जृम्भयाऽत्यशनेन वा ॥" (च. चि. स्था. अ. १३) इति । स्रुत इति गलितः । स्रावः स्रवेद्वै गुदतस्तु भूय इति बहु यथा भवति तथाऽन्त्रात् स्रुतः; दीपजेषु पुनरुपश्लेहन्यायेनाल्प एव स्रावो भूयः पुनःपुनर्गुदतश्च स्रवेत् । तुशब्दश्चार्थे, भूयःशब्दोऽत्रावर्तनीयः; तेनोक्ता व्याख्या साध्वी भवति । ननु, भिन्नान्त्रात्तिर्यगत्र स्रावनिर्गमः; तत्कथं 'स्रावः स्रवेद्वै गुदतस्तु भूय' इत्युपपद्यते ? नैवं; सच्छिद्रान्त्रमार्गेण बहिर्गतस्यातिवृद्धस्य पुनरागमनादुपश्लेहन्यायाद्वा गुदतः स्राव उपपन्न एव । चरकेऽप्युक्तं—"पूरयन् गुदमन्त्रं च जनयत्युदरं नृणाम् ॥" (च. चि, स्था. अ. १३) इति । स्रावेण द्रवस्य निम्नगत्वान्नाभेरधो जठरं वृद्धिमेति; एतच्छिद्रोदरं जलोदरमिति भण्यत इति गदाधरः । यतश्चरकेणोक्तं—"तदधो नाभेः प्रायोऽभिनिर्वर्तमानं जलोदरं स्यात् ॥" (च. चि. स्था. अ. १३) इति । तदन्ये

१. शल्यं यदन्नोपहितं तदन्त्रं भिनत्ति यस्यागतमन्यथा वा.

नानुमन्यन्ते, यतश्छिद्रोदरं शीघ्रं जलोदरतां यातीत्यभिप्रायेण चरकेणोक्तं, अन्यथा दकोदरं पृथङ्न स्यात् ॥२१॥

(प्रश्न—) अन्त्र के भिन्न हो जाने से यहां स्राव का निकास तिरछा होता है, जब ऐसा ही है, तो 'स्रावः स्रवेद्ध गुदतस्तु भूयः' यह कैसे हो सकता है ? (उत्तर—) सच्छिद्र अन्त्र मार्ग से बाहर गए हुए अति प्रवृद्ध रस के पुनः आँत में लौट आने से अथवा उपस्नेह न्याय से गुदा से स्राव हो सकता है। चरक में भी कहा है कि 'गुदा और अन्त्र को पूरित करता हुआ मनुष्यों में उदररोग को पैदा करता है'। उपस्नेह न्याय का भाव यह है कि—जैसे घृत पूर्णघट में से उसके सूक्ष्मातिसूक्ष्म छिद्रों में से छन २ कर बाहर आ जाता है, उसी प्रकार स्राव भी स्रवित होकर गुदमार्ग से निकलता है। द्रवरूप स्राव के निम्नग होने के कारण नाभि के निचले भाग में उदर बढ़ता है। यही छिद्रोदर जलोदर कहलाता है, यह गदाधर मानता है; क्योंकि चरक ने कहा है कि 'वह प्रायः नाभि के नीचे बढ़ता हुआ जलोदर हो जाता है'। इस बात को दूसरे आचार्य नहीं मानते; क्योंकि छिद्रोदर शीघ्र ही जलोदर हो जाता है, इस अभिप्राय को लेकर ही चरक ने 'तदधो नाभेरित्यादि' कहा है; अन्यथा वे दकोदर को पृथक् न कहते।

निदानसंप्राप्तिपूर्वकं जलोदरस्य लक्षणमाह—

दकोदरं कीर्तयतो निबोध ॥२२॥ [सु० २।७]

यः स्नेहपीतोऽप्यनुवासितो वा
वान्तो विरिक्तोऽप्यथवा निरूढः।
पिबेज्जलं शीतलमाशु तस्य
स्रोतांसि दूष्यन्ति हि तद्वहानि ॥२३॥ [सु० २।७]
स्नेहोपलिप्तेष्वथवाऽपि तेषु
दकोदरं पूर्ववदभ्युपैति।
स्निग्धं महत्तत्परिवृत्तनाभि
समाततं पूर्णमिवाम्बुना च।
यथा दृतिः क्षुभ्यति कम्पते च
शब्दायते चापि दकोदरं तत् ॥२४॥ [सु० २।७]

अब दकोदर का लक्षण कहते हैं। जो मनुष्य स्नेहपान, अनुवासित, वान्त, विरिक्त अथवा निरूहित हो, वह यदि (शीघ्र ही) शीतल जल पी लेता है, तो उसके जल(उदक)वह स्रोत उसी समय दुष्ट हो जाते हैं; अथवा उन उदकवह स्रोतों के स्नेह से उपलिप्त हो जाने के कारण स्राव उपस्नेह न्याय से बाहर आकर जलोदर कर देता है। इससे उदर बड़ा, स्निग्ध, परिवर्तित नाभि वाला, खूब तना हुआ और जल से पूर्ण होता है। जैसे जल से पूर्ण मशक क्षुब्ध होती है, काँपती है, एवं शब्द करती है, उसी प्रकार वह जलोदर भी क्षुब्ध होता है, काँपता है, एवं शब्द करता है।

१ भृशीतलम्.

मधु०—उत्पत्तिविशिष्टं दकोदरमाह—यः स्नेहपीत इत्यादि। स्नेहपीत इति कर्तरि क्तः, तेन स्नेहं पीतवानित्यर्थः। दूष्यन्तीति स्वकर्मसु दुष्टानि भवन्ति। तद्वहानि उदकवहानि। तेष्विति उदकवहस्रोतःसु। पूर्ववदिति यथा पूर्वमुक्तम्। अन्नरस उपस्नेहन्यायेन बहिर्निःसृत्योदरं जनयतीत्यर्थ इति जेज्जटः। गदाधरस्त्वाह—क्षतान्त्रोदरे यथा अधोनाभेरुदराभिवृद्धिर्गुदस्रावश्च तथा जलोदरेऽपि भवतीति। ननु, सर्वेषामेवोपस्नेहन्यायेन बहिर्निःसृतान्नरसमूलत्वात् कथमनुदकत्वं ? नैवं, तेषु हि प्रथमतो नातिमन्दत्वादग्नेरन्नरसस्याल्पत्वाच्चानुदकत्वम्, अल्पत्वेन तद्व्यपदेशात्; अत्र तु प्रागेव भूरिजलोत्पत्तिरिति विशेषः। समाततं वेदनया विस्तार्यमाणमिवोदरं भवति। यथा दृतिः क्षुभ्यतीति दृतिरिव जलपूर्णा क्षुभ्यतीति, अन्तर्जलचलमिव धत्ते। शब्दायते गुडगुडायते॥२२-२४॥

गदाधर कहता है कि क्षतान्त्रोदर में जैसे नाभि के नीचे उदर बढ़ जाता है और गुदस्राव होता है, वैसे ही जलोदर में भी होता है। (प्रश्न—) सभी उदरों से उपस्नेह न्यायानुसार उदर से बाहर निकले अन्नरस से उदर रोगों की उत्पत्ति मानी गई है तो उन सब में जल क्यों नहीं होता? (उत्तर—) उनमें पहले अग्नि अधिक मन्द न होने से और अन्नरस के अल्प होने से जल नहीं होता; साथ ही यह कथन अन्नरस के होने से है और जलोदर में पूर्व ही अधिक जल की उत्पत्ति होती है, यही इसमें विशेषता है, अर्थात् जलोदर में आरम्भ से ही जल अधिक और दूसरों में अल्प होता है।

उदररोगाणां प्रत्याख्येयत्वादिकमाह—

जन्मनैवोदरं सर्वं प्रायः कृच्छ्रतमं मतम्।
बलिनस्तदजातास्बु यत्नसाध्यं नवोत्थितम्॥२५॥ [च० ६।१३]
पक्षाद्बद्धगुदं तूर्ध्वं सर्वं जातोदकं तथा।
प्रायो भवत्यभावाय छिद्रान्त्रं चोदरं नृणाम्॥२६॥ [च० ६।१३]

प्रायः सभी उदर जन्म से ही कृच्छ्रतम माने हैं, परन्तु बलवान् मनुष्य में अजातोदक एवं नवोत्पन्न यत्नसाध्य होता है। प्रायः पक्ष के बाद बद्धगुद और जातोदक सभी उदर एवं छिद्रान्त्र मनुष्यों के नाशार्थ होते हैं। यहां 'प्रायः' शब्द का यह अभिप्राय है कि कभी २ बद्धगुद पक्ष के अनन्तर भी साध्य होता है, एवं कभी २ जातोदक और छिद्रान्त्र भी शल्यक्रिया से साध्य हो जाता है, इसी लिये तो सुश्रुत ने कहा है कि—"विध्येत् त्यजेत् वा"।

मधु०—उदररोगस्य साध्यत्वादिलक्षणमाह–जन्मनैवेत्यादि। जन्मनैवोदरमिति उत्पत्तिमात्रेणैव। अजातोदकस्योदरस्य लक्षणं चरकेऽवगन्तव्यं, तद्यथा—"अशोथमरुणाभासं सशब्दं नातिभारिकम्। सदा गुडगुडायन्तं सिराजालगवाक्षितम्॥ नाभिं विष्टभ्य पायौ तु वेगं कृत्वा प्रणश्यति। हृद्वङ्क्षणकटीनाभिगुदप्रत्येकशूलिनः॥ कर्कशं सृजतो वातं नातिमन्दे च पावके। लालया विरसे चास्ये मूत्रेऽल्पे संहते विशि॥ अजातोदकमित्येतैर्युक्तं विज्ञाय लक्षणैः॥" (च. चि. स्था. अ. १३) इति। अत्र कर्कशमिति वेगवन्तम्। जातोदकलक्षणं च चरके यथा—"कुक्षेरतिमात्रं वृद्धिः सिरान्तर्धानगमनम्, उदकपूर्णदृतिसमानक्षोभस्पर्शनं च भवति॥" (च. चि. स्था. अ. ३१) इति। पक्षा- [illegible]दि। बद्धगुदमुदरं पक्षादूर्ध्वं विनाशाय भवतीति। जातोदकं पक्षात्। प्रायोग्रहणेन कदाचित्

पश्चादूर्ध्वमपि न विनाशाय, तथा शल्यशास्त्राभिमतया चिकित्सया कदाचिज्जातोदकं छिद्रान्त्रं बद्धगुदं च सिध्यतीति दर्शयति। जातोदकं छिद्रान्त्रं च विनाशाय पश्चादूर्ध्वमिति संबन्ध इति केचित् ॥२५-२६॥

अजातोदक के लक्षण चरक से जानने चाहिएँ, तद्यथा—अशोथमित्यादि। एवं जातोदक के लक्षण भी—कुक्षेरतिमात्रमित्यादि से चरक में कहे हैं। इनके अर्थ सरल ही हैं।

उपद्रवानुबन्धितया तेषामेव प्रत्याख्येयतालक्षणान्याह—

शूनाक्षं कुटिलोपस्थमुपक्लिन्नतनुत्वचम्।
बलशोणितमांसाग्निपरिक्षीणं च वर्जयेत् ॥२७॥ [च० ६।१३]
पार्श्वभङ्गान्नविद्वेषशोथातीसारपीडितम्।
विरिक्तं चाप्युदरिणं पूर्यमाणं विवर्जयेत् ॥२८॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने उदरनिदानं समाप्तम् ॥३५॥

जिसकी आंखों पर शोथ आ गया हो, जिसका उपस्थ (लिङ्ग) टेढ़ा हो गया हो, जिसकी त्वचा उपक्लिन्न एवं तनु (पतली) हो गई हो, जिसका बल, मांस, रक्त, जठरानल क्षीण हो गया हो उस उदररोगी को छोड़ दे, अर्थात् वैद्य उसकी चिकित्सा न करे। पार्श्वभङ्ग, अन्नविद्वेष, शोथ और अतिसार इनसे पीड़ित एवं विरेचन आने पर भी पूर्णोदर वाले मनुष्य को भी (वैद्य) छोड़ दे।

मधु०—साध्यतयाऽभिहितानामप्यवस्थाविशेषेणासाध्यतामाह—शूनाक्षमित्यादि। 'उदरिणम्' इति शेषः। कुटिलोपस्थमिति वक्रमेहनम्। उपक्लिन्नतनुत्वचमिति उपक्लिन्ना तन्वी त्वक् यस्य तम्। अग्निपरिक्षीणमिति अग्निक्षयश्च यद्यप्युदरे पूर्वमेव भवति तथाऽप्यत्र विशेषेणाग्निक्षयो लक्षणान्तरयुक्तश्चासाध्यतालिङ्गं संभवतीति ज्ञेयम् ॥२७-२८॥

इति श्रीकण्ठदत्तविरचितायां मधुकोशव्याख्यायामुदरनिदानं समाप्तम् ॥३५॥

भाषा सरल ही है।

अथ शोथनिदानम्।[1]

शोथस्य संप्राप्तिमाह—

रक्तपित्तकफान् वायुर्दुष्टो दुष्टान् बहिः शिराः।
नीत्वा रुद्धगतिस्तैर्हि कुर्यात्त्वङ्मांससंश्रयम् ॥१॥ [वा० ३।१३]
उत्सेधं संहतं शोथं तमाहुर्निचयादतः।

तद्भेदानाह—

सर्वं हेतुविशेषैस्तु रूपभेदान्नवात्मकम् ॥२॥ [वा० ३।१३]
दोषैः पृथग्द्वयैः सर्वैरभिघाताद्विषादपि।

---

१ नाम—सं० शोथ, शोफ, श्वयथु; अ० वरम; इ० स्वेलिंग, ड्राप्सी, अनासार्का, इडीमा.

प्रदुष्टवायु प्रदुष्ट रक्त, पित्त और कफ को बाहर की सिराओं में ले जाकर पुनः उनसे अवरुद्धगति होकर त्वचा और मांस में स्थान कर लेता है । इस प्रकार रक्त सहित तीनों दोषों से होने वाले इस उठाव और कठिनता को शोथ कहते हैं। तदनु वह हेतुविशेष वा रूपभेद से नौ प्रकार का होता है; वे प्रकार ये हैं । तद्यथा—तीनों दोषों से तीन, द्वन्द्वज से तीन, सन्निपात से एक, अभिघात से एक और विष से एक, एवं ये नौ प्रकार हैं ।

मधु०—उदरे शोथस्योपद्रवत्वेनोक्तत्वात्तदनन्तरं शोथनिदानम् । तस्य संप्राप्तिमाह—रक्तपित्तकफानित्यादि । रक्तपित्तकफान् स्वहेतुभिः स्वातन्त्र्येण दुष्टान् कुपितान्, दुष्टः स्वहेतुकुपितो वायुर्बहिःसिरा बाह्या अगम्भीराः सिरा नीत्वा गमयित्वा, तै रक्तपित्तकफै रुद्धगतिरावृतमार्गो वायुरुत्सेधमुच्छ्रायं कुर्यादिति योजना । बहिःसिराशब्देनात्रागम्भीरतयोक्तानां स्रोतसामपि ग्रहणम् । त्वङ्मांससंश्रयमित्यनेन व्रणशोथाद्भेदं दर्शयति, अष्टसु व्रणवास्तुषु व्रणशोथस्य संभवात् । यदुक्तं सुश्रुतेन—"त्वङ्मांससिरास्नाय्वस्थिसन्धिकोष्ठमर्माणीत्यष्टौ व्रणवास्तूनि ॥" (सु. सू. स्था. अ. २२) इति । संहतं संहतात्मकम् । कुतः संहतात्मकमित्यत आह—निचयादत इति । अतोऽस्मात् पूर्वोक्ताद्रक्तसहितदोषत्रयसमुदायात्; एतेन रक्तसहितत्रिदोषजन्यत्वमस्योक्तं भवति । सर्वमित्यादि । सर्वमिति पूर्वेण संबध्यते, सर्वमुत्सेधं शोथमाहुरित्यर्थः । हेतुविशेषैरिति दोषत्रयाभिघातप्रभृतिभिः कारणभेदैर्यो रूपभेदस्तस्मात् सर्वं नवात्मकमाहुरिति पूर्वक्रियया संबन्धः । 'सर्वहेतुविशेषैः' इति पाठान्तरे सर्वेषां हेतुविशेषैरित्यर्थः । द्वयैरिति द्वन्द्वैः, सर्वैस्त्रिभिः ॥१-२॥

(त्वङ्मांसेति—) त्वङ्मांससंश्रय कहने से व्रणशोथ से भेद दर्शाया है, क्योंकि व्रणशोथ आठ स्थानों में होता है । जैसे सुश्रुत ने कहा भी है कि—'त्वचा, मांस, सिरा, स्नायु, अस्थि, सन्धि, कोष्ठ और मर्म—ये आठ व्रण के स्थान होते हैं ।

तस्य प्राग्रूपमाह—

तत्पूर्वरूपं दवथुः शिरायामोऽङ्गगौरवम् ॥३॥ [वा० ३।१३]

शोथ का पूर्वरूप उपताप (दाह), सिराओं में तनाव सा होना और अङ्गगौरव होता है । अर्थात् ये लक्षण शोथोत्पत्ति से पूर्व होते हैं ।

मधु०—पूर्वरूपमाह–तदित्यादि । दवथुरुपतापः । सिरायामः सिराप्रसरणवत् पीडा ॥३॥

स्पष्ट ही है ।

शोथस्य निदानमाह—

शुद्ध्यामयाभुक्तकृशावलानां
क्षाराम्लतीक्ष्णोष्णगुरूपसेवा ।
दध्यामसृच्छाकविरोधिदुष्ट-
गरोपसृष्टान्ननिषेवणं च ॥४॥ [च० ६।१२]
अर्शांस्यचेष्टा न च देहशुद्धि-
र्मर्मोपघातो विषमा प्रसूतिः ।

१ भक्त. २ क्षीरा०

मिथ्योपचारः प्रतिकर्मणां च
निजस्य हेतुः श्वयथोः प्रदिष्टः ॥५॥ [च० ६।१२]

वमन विरेचनादि शोधन, ज्वर आदि व्याधियों, भोजन न करने वा विगुण भोजन से, कृश एवं दुर्बल हुए मनुष्यों द्वारा क्षार, अम्ल, तीक्ष्ण, उष्ण और गुरु पदार्थों का सेवन तथा दधि, कच्चा भोजन, मृत्तिका, शाक, संयोगादि विरुद्ध पदार्थ, दुष्ट पदार्थ, एवं गरयुक्त पदार्थ का सेवन, अर्शोरोग, अव्यायाम वा निष्क्रियता, शोधनादि योग्य मनुष्य में शोधनादि का अप्रयोग, मर्मोपघात, गर्भपातादि विषम प्रसूति और वमनादिकों का सम्यक् प्रयोग न करना—ये सब दोषों से होने वाले शोथ रोग के निदान हैं।

मधु०—पूर्वरूपानन्तरं कामचारान्निदानमाह—शुद्ध्यामयेत्यादि । शुद्धिर्वमनविरेचनादिः, आमया ज्वरादयः, अभुक्तमभोजनं, विगुणं च भोजनं, तैः कृशानामबलानां च क्षारादिसेवा निजस्य श्वयथोर्हेतुः । दध्यादयः स्वतन्त्रा एव हेतवः, आममपक्वं, दुष्टं दोषजनकं मन्दकनवोदकादि, गरं संयोगजं विषम् । अचेष्टा निष्क्रियत्वम् । न च देहशुद्धिरिति शोधनार्हेऽपि दोषे देहाशुद्धिः । मर्मोपघात इह दोषकृत एव ज्ञेयः, बाह्यहेतुजस्तु मर्मोपघात आगन्तुशोथहेतुरेव । विषमा प्रसूतिरामगर्भपतनादिका । मिथ्योपचारोऽसम्यक्करणमसम्यगुपचारः । प्रतिकर्मणां वमनादीनाम् ॥४–५॥

इसकी भाषा सरल ही है।

तस्य सामान्यस्वरूपमाह—

सगौरवं स्यादनवस्थितत्वं
सोत्सेधमूष्माऽथ शिरातनुत्वम् ।
सलोमहर्षश्च[1] विवर्णता च
सामान्यलिङ्गं श्वयथोः प्रदिष्टम् ॥६॥ [च० ६।१२]

भारीपन, अनवस्थितता, त्वचा में उठाव, उष्णता तथा सिराओं की सूक्ष्मता और लोमहर्ष, विवर्णता, ये शोथ के सामान्य लक्षण हैं।

मधु०—सामान्यलिङ्गमाह—सेत्यादि । सगौरवमिति अनवस्थितत्वविशेषणं, तथा सोत्सेधमिति च ॥६॥

सब सरल है।

वातिकशोथस्य स्वरूपमाह—

चलस्तनुत्वक् परुषोऽरुणोऽसितः
सुप्तिहर्षार्तियुतोऽनिमित्ततः ।
प्रशाम्यति प्रोन्नमति प्रपीडितो
दिवाबली च श्वयथुः समीरणात् ॥७॥ [च० ६।१२]

वायु से होने वाला शोथ चल, सूक्ष्म त्वचा वाला, परुष, अरुण, कृष्ण,

१ सलोमहर्षांङ्ग.

सुषुप्तियुक्त, रोमहर्षयुक्त और पीड़ायुक्त होता है; तथा कारण के बिना ही शान्त होता है; दबाने से ऊँचा उठता है और दिन में बलवान् होता है।

मधु०—वातशोथलिङ्गमाह—चल इत्यादि। तनुत्वक् अबहलत्वक्। असितः कृष्णः। सुषुप्तिः स्पर्शाज्ञता; हर्षो झिणिझिणिवद्वेदना, किंवा रोमहर्षः। अनिमित्ततः प्रशाम्यतीति वायोश्चलत्वेन कदाचिन्निमित्तं विनाऽपि लीनो भवति; निमित्तत इति पाठे स्नेहोष्णमर्दनादेर्निमित्ततः प्रशाम्यति उपशमं प्राप्नोतीति, उपशयार्थमेतदुक्तम्। प्रोन्नमति प्रपीडित इति प्रपीडितः सन्नन्तरुन्नमतीत्यर्थः। दिवाबलीति दिवा बलवान्, नत्वबली। स्नेहोष्णमर्दनाद्यैश्च प्रशाम्येत्, स च वातिकः-"यश्चाप्यरुणवर्णाभः शोथो नक्तं प्रणश्यति ॥" (च. सू. स्था. अ. १८) इति चरकवचनात् ॥७॥

सरल ही है।

पैत्तिकशोथस्य स्वरूपमाह—

मृदुः सगन्धोऽसितपीतरागवान्
भ्रमज्वरस्वेदतृषामदान्वितः ।
य उष्यते स्पर्शरुगक्षिरागकृत्[1]
स पित्तशोथो भृशदाहपाकवान् ॥८॥ [च० ६।१२]

कोमल, गन्धयुक्त, कृष्णवर्ण, पीतवर्ण एवं रक्तवर्ण, भ्रम, ज्वर, स्वेद, तृषा और मद से युक्त, तथा जो दाहयुक्त, पीड़ासहित, आंखों में लालिमा करने वाला, एवं जो अत्यन्त दाह और पाक वाला होता है, वह पैत्तिक शोथ होता है।

मधु०—पैत्तिकमाह—मृदुरित्यादि। उष्यत इति दह्यते ॥८॥

स्पष्ट है।

श्लैष्मिकशोथस्य स्वरूपमाह—

गुरुः स्थिरः पाण्डुररोचकान्वितः
प्रसेकनिद्रावमिवह्निमान्द्यकृत् ।
स कृच्छ्रजन्मप्रशमो निपीडितो
न चोन्नमेद्रात्रिबली कफात्मकः ॥९॥ [च० ६।१२]

कफज शोथ गुरु, स्थिर, पाण्डुर, अरोचकयुक्त, लालास्राव, अति निद्रा, वमन और अग्निमान्द्य को करने वाला, देर में पैदा होने वाला और विलम्ब से शान्त होने वाला होता है; एवं वह दबाने से ऊँचा नहीं उठता और रात को बलवान् होता है।

मधु०—कफजमाह—गुरुरित्यादि। अरोचकान्वित इति अरोचकव्याधिसहचारी। कृच्छ्रजन्मप्रशम इति चिरोत्पत्तिविनाशः। रात्रिबलीति रात्रौ स्रोतोऽवरोधजेन देहक्लेदेनाचेष्टया

१ स्पर्शसहोऽक्षिरागकृत्.

च कफस्य वृद्धत्वात्तज्जः शोथो वलवान् भवति; दिवा तु स्फुटस्रोतसि शरीरे सचेष्टे च न कफो वली भवति, किं तर्हि वायुः, तेन तज्जः शोथो दिवाबली भवति ॥९॥

स्पष्टमेव

द्वन्द्वजसान्निपातिकशोथानां लिङ्गमाह—

निदानाकृतिसंसर्गाच्छ्वयथुः स्याद् द्विदोषजः ।
सर्वाकृतिः सन्निपाताच्छोथो व्यामिश्रलक्षणः ॥१०॥

द्विदोषज निदान और लक्षणों के संसर्ग से होने वाला शोथ द्वन्द्वज और तीनों दोषों से होने वाला सर्वाकृति, एवं मिलित तीनों दोषों के लक्षणों वाला शोथ सान्निपातिक होता है। ये प्रकार प्रकृतिसमसमवायारब्ध हैं।

मधु०—व्यामिश्रौषधविधानार्थं क्वापि क्वापि प्रकृतिसमसमवेता अपि शिष्यहितैषितया द्वन्द्वसन्निपाता अतिदेशेन पठ्यन्ते, ये तु विकृतिविषमसमवेतास्तान् कण्ठरवेण पठति; अतोऽतिदेशेन द्वन्द्वत्रयसन्निपातानाह—निदानाकृतिसंसर्गादित्यादि। व्यामिश्रलक्षण इति मिलितवातादित्रयलिङ्गः। अनेनैव सर्वाकृतिरित्यस्यार्थे सिद्धे तदभिधानं वातादिप्रत्येकं कृत्स्नलिङ्गनियमार्थम् ॥१०॥

सरल है।

अभिघातजशोथस्य लक्षणमाह—

अभिघातेन शस्त्रादिच्छेदभेदक्षतादिभिः ।
हिमानिलोदध्यनिलैर्भल्लातकपिकच्छुजैः ॥११॥ [वा० ३।१३]
रसैः शूकैश्च संस्पर्शाच्छ्वयथुः स्याद्विसर्पवान् ।
भृशोष्मा लोहिताभासः प्रायशः पित्तलक्षणः ॥१२॥ [वा० ३।१३]

जो शोथ अभिघातज होता है, वह शस्त्रादिकृत छेदन, भेदन, क्षत आदि से ठण्डे वायु से, समुद्र की हवा से भिलावे के रस के स्पर्श से और कौंच बीज की शूकों (कण्टकों) के स्पर्श से होता है। यह शोथ फैलने वाला, अत्यन्त गर्म, लाल रंग वाला एवं प्रायः पित्त शोथ के लक्षणों सहित होता है। यहां 'क्षतादिभिः' में पढ़े आदि शब्द से व्यधन (शिरावेध आदि) लिए जाते हैं; क्योंकि उनसे भी शोथ का होना सम्भव है।

मधु०—अभिघातजं श्वयथुमाह—अभिघातेनेत्यादि। अभिघातेन यः शोथः स शस्त्रादिभिर्भवति। हिमानिलोदध्यनिलैरिति हिमानिलैरुदध्यनिलैश्च, उदधिः समुद्रः। भल्लातकपिकच्छुजै रसैः शूकैरिति भल्लातकरसैः कपिकच्छ्वाः शूकैश्च। कपिकच्छुः शूकशिम्बी ॥११-१२॥

सरल है।

विषजशोथस्य निदानपूर्वकं लक्षणमाह—

विषजः सविषप्राणिपरिसर्पणमूत्रणात् ।
दंष्ट्रादन्तनखाघातादविषप्राणिनामपि ॥१३॥ [वा० ३।१३]
विण्मूत्रशुक्रोपहतमलवद्वस्त्रसंकरात् ।
विषवृक्षानिलस्पर्शाद् गरयोगावचूर्णनात् ॥१४॥ [वा० ३।१३]
मृदुश्चलोऽवलम्बी च शीघ्रो दाहरुजाकरः । [वा० ३।१३]

विषज शोथ, विषैले प्राणियों के शरीर में संबंध होने और मूत्र कर देने से, विषरहित प्राणियों के दाढ़, दाँत और नख के आघात से, विषैले प्राणियों के मल, मूत्र, वीर्य आदि से युक्त एवं मल वाले वस्त्र के स्पर्श से, विषैले वृक्षों से उत्पन्न वायु के स्पर्श से और कृत्रिम विष के अवचूर्णन (बुरकने) से होता है। यह शोथ मृदु, चल, अधोगमनशील, शीघ्र दाहकर एवं शीघ्र पीड़ाकर होता है।

मधु०—विषजमाह—विषज इत्यादि । सविषप्राणिनः सर्पादयस्तेषां परिसर्पणं भ्रमणं तस्मात्, सविषप्राणिनां मूत्रणाच्च । दंष्ट्रादन्तेति दंष्ट्रा कुटिला 'दाढ' इति ख्याता; तद्विपरीतश्च दन्तो, गोवलीवर्दन्यायात् । विण्मूत्रशुक्रोपहतमलवद्वस्त्रसंकरादिति सविषप्राणिनां विण्मूत्राद्युपहतं मलवच्च वस्त्रं यत्तस्य संस्पर्शात् । अवलम्बी अधोगमनशीलः । शीघ्रः शीघ्रोत्पत्तिः । अयं चागन्तुरपि विशिष्टलिङ्गचिकित्सोपयोगात् पृथक् पठितः ॥१३-१४॥

सरल है ।

स्थानभेदेन दोषाणां भिन्नप्रदेशेषु शोथकर्तृत्वमाह—

दोषाः श्वयथुमूर्ध्वं हि कुर्वन्त्यामाशयस्थिताः ॥१५॥
पक्वाशयस्था मध्ये तु वर्चःस्थानगतास्त्वधः ।
कृत्स्नदेहमनुप्राप्ताः कुर्युः सर्वसरं तथा ॥१६॥

आमाशय में स्थित दोष छाती आदि ऊपर के स्थानों में शोथ करते हैं, पक्वाशय में स्थित दोष शरीर के मध्य भाग में शोथ करते हैं, मलाशय में स्थित दोष पक्वाशय से नीचे के अङ्गों में शोथ करते हैं और सारे शरीर में व्याप्त दोष सारे शरीर में शोथ करते हैं ।

मधु०—यत्रस्था दोषा यत्र देशे शोथं कुर्वन्ति तमाह—दोषा इत्यादि । ऊर्ध्वमिति उरःप्रभृत्यूर्ध्वदेहे । मध्य इति उरःपक्वाशयमध्ये । अध इति पक्वाशयादधः । सर्वसरं सर्वशरीरसरणशीलम् ॥१५-१६॥

सरल ही है ।

स्थानभेदेन तस्य कष्टसाध्यत्वादिकमाह—

यो मध्यदेशे श्वयथुः स कष्टः सर्वगश्च यः ।
अर्धाङ्गे रिष्टभूतः स्याद्यश्चोर्ध्वं परिसर्पति ॥१७॥

उपद्रवानुबन्धितया तस्यैव असाध्यतामाह—

श्वासः पिपासा छर्दिश्च दौर्बल्यं ज्वर एव च ।
यस्य चान्ने रुचिर्नास्ति श्वयथुं तं विवर्जयेत् ॥१८॥

स्त्रीपुरुषाङ्गविशेषगतत्वेन तस्यैव प्रत्याख्येयतामाह—

अनन्योपद्रवकृतः शोथः पादसमुत्थितः ।
पुरुषं हन्ति नारीं च मुखजो गुह्यजो द्वयम् ।

तस्यैव अवस्थाविशेषेण साध्यत्वादिकमाह—

नवोऽनुपद्रवः शोथः साध्योऽसाध्यः पुरेरितः ॥१९॥ [वा० ३।१३]

विवर्जयेत्कुक्ष्युदराश्रितं च
तथा गले मर्मणि संश्रितं च।
स्थूलः खरश्चापि भवेद्विवर्ज्यो
यश्चापि बालस्थविराबलानाम् ॥२०॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने शोथनिदानं समाप्तम् ॥३६॥

जो शोथ (सूजन) मध्य प्रदेश में होता है, वह कष्टसाध्य होता है, और जो समस्त शरीर या आधे शरीर में (यह दो प्रकार से हो सकता है— १ अर्धनारीश्वराकार से, २ नृसिंहाकार से, यहां सामान्यवचन होने से दोनों प्रकार लिए जाते हैं) एवं जो ऊर्ध्वगामी होता है, वह रिष्ट के समान होता है। श्वास, प्यास, वमन, दुर्बलता, ज्वर और अरुचि इन उपद्रवों से युक्त शोथरोगी को छोड़ देना चाहिए। श्वास, पिपासा आदि शोथ के ही उपद्रवों से उत्पन्न वा अपने कारणों से उत्पन्न पैरों से प्रारम्भ हुआ शोथ पुरुष को, मुख से प्रारम्भ हुआ शोथ स्त्री को और गुह्य (गुदा आदि) स्थान से प्रथम उत्पन्न हुआ शोथ दोनों को मार देता है। उपद्रवों से रहित नया शोथ साध्य और 'अर्धाङ्गे रिष्टभूतः' इत्यादि लक्षणों से युक्त असाध्य होता है। कुक्षि, उदर, कण्ठ और मर्म इन स्थानों में उत्पन्न शोथ, एवं स्थूल, खर तथा बालकों, वृद्धों और निर्बलों में होने वाला शोथ असाध्य होता है।

मधु०—अतःपरं कृच्छ्रादिभेदमाह—यो मध्यदेश इत्यादि। मध्यदेहगस्य कष्टत्वं तद्देशगशोथप्रभावात्। सर्वग इति सर्वदेहगामी। सर्वज इति पाठान्तरे सर्वजः सान्निपातिकः। रिष्टभूत इति रिष्टतुल्यः, भूतशब्द उपमाने; यथा—मातृभूतः पितृभूत इति। व्याधेरेवात्र रिष्टभूतत्वं तस्य च निमित्तकृतत्वाद्भूतशब्द उपात्त इति कार्तिकः। अन्ये तु भूतशब्दं स्वरूपवचनमाहुः। यश्चोर्ध्वं परिसर्पतीति पुरुषविषयकमेतत; चकारात स्त्रियाश्चोपरिजो योऽधो याति स गृह्यते, तथा गुह्यजो यः सर्वगः। वचनं हि—"यस्तु पादाभिनिर्वृत्तः शोथः सर्वाङ्गगो भवेत्। पुरुषं हन्ति, नारीं च मुखजो, गुह्यजो द्वयम् ॥" (च. सू. स्था. अ. १८) इति। अनन्योपद्रवकृत इति अन्यस्य उपद्रवा अन्योपद्रवास्तद्विपरीता अनन्योपद्रवाः, एतेनायमर्थः—शोफस्यैव ये उपद्रवास्तैः कृतः। ते च—"श्वासः पिपासा दौर्बल्यं ज्वरश्छर्दिररोचकः। हिक्कातीसारकासाश्च शोथिनं क्षपयन्ति हि ॥" (सु. चि. स्था. अ. २३) इति सुश्रुतोक्ताः। चरकेऽप्युक्तं—"छर्दिस्तृष्णाऽरुचिः श्वासो ज्वरोऽतीसार एव च। सप्तकोऽयं सदौर्बल्यः शोथोपद्रवसंग्रहः ॥" (च. चि. स्था. अ. १८) इति। अथवा अन्यमुपद्रवं करोतीति अन्योपद्रवकृन्निदानं, नान्योपद्रवकृदनन्योपद्रवकृत, ततः स्वनिदानात्, 'जातः' इति शेषः; तेन शोथजनकनिदानादेवोत्पन्न इत्यर्थः। पाण्डुरोगादौ तु यः शोथः पादसमुत्थितः सोऽन्योपद्रवकृतो निदानान्तराज्जातः, साध्य एव। 'आननोपद्रवगत' इति पाठान्तरेऽयमर्थः—पादयोरुत्थितः पूर्वं पश्चादाननमुपद्रवेण प्रसारेणोपद्रवत्वेन वा गतः। तथा च तन्त्रान्तरं—"पादप्रवृत्तः श्वयथुर्नृणां यः प्राप्नुयान्मुखम्। स्त्रीणां वक्त्रादधो याति बस्तिजश्च न सिद्ध्यति ॥" इति। क्षार-

पाणिनाऽप्युक्तम्—"ऊर्ध्वगामी नरं पद्भ्यामधोगामी मुखात् स्त्रियम्। उभयं बस्तिसंजातः शोथो हन्ति न संशयः ॥" इति । गुह्यज इति बस्तिजातः । द्वयमिति नरं नारीं च । असाध्यः पुरेरित इति 'अर्धाङ्गे रिष्टभूत' इत्यादिना ॥१७–२०॥

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायां शोथनिदानं समाप्तम् ॥३६॥

(यश्चोर्ध्वमिति—) 'यश्चोर्ध्वं परिसर्पतीति' ऊपर मूल में जो यह कहा है कि जो शोथ ऊपर की ओर चलता है, वह असाध्य होता है। यहां, ऊपर की ओर जाना, पुरुष में होने वाले शोथ के लिए है; जो शोथ इस प्रकार का—असाध्यता लिए हुए—स्त्री को होगा वह ऊपर से नीचे की ओर जाता हुआ ही असाध्य होगा, यह सब भाव श्लोक में पठित चकार से निकलता है । एवं गुह्यज समस्त शरीर में पैदा हुआ शोथ असाध्य होता है । इसमें वचन भी है कि—'जो शोथ पैरों से आरम्भ होकर समस्त शरीर में फैल जाता है वह मनुष्य को, और जो मुख से आरम्भ होकर सर्वाङ्गव्यापी होता है वह स्त्री को, एवं जो गुह्यस्थान से आरम्भ होकर सर्वाङ्गव्यापी होता है, वह दोनों (स्त्री पुरुष दोनों) को मार देता है । (अनन्योपद्रवकृतः—) दूसरे के उपद्रव अन्योपद्रव कहलाते हैं, उससे विपरीत अनन्योपद्रव होते हैं; अर्थ यह निकला कि शोथ के ही जो उपद्रव हैं, उनसे किया हुआ, और वे उपद्रव 'श्वास, पिपासा, दुर्बलता, ज्वर, छर्दि, अरुचि, हिक्का, अतिसार और कास' ये हैं। चरक में भी कहा है कि—छर्दि, तृष्णा, अरुचि, श्वास, ज्वर, अतिसार और दुर्बलता—ये सात शोथ के उपद्रव हैं। अथवा अनन्येत्यादि का अर्थ—जो अन्य उपद्रव को करता है, वह अन्योपद्रवकारक निदान, न अन्योपद्रवकारक इति अनन्योपद्रवकारक, एवं इस प्रकार के अपने निदान से उत्पन्न यह अर्थ लेना चाहिए । पाण्डुरोग में जो पादोत्थशोथ होता है, वह अन्योपद्रवकृत एवं निदानान्तर से उत्पन्न होने के कारण साध्य होता है। 'आननोपद्रवगतः' इस पाठान्तर में यह अर्थ होता है कि पूर्व पैरों से उठ बाद में उपद्रव से फैलने के हेतु वा उपद्रवपन से मुख में आया हुआ। प्रमाण भी है कि—पैरों से उत्पन्न जो शोथ मनुष्यों के मुख को प्राप्त होता है और जो स्त्रियों में मुख से उत्पन्न पैरों की ओर जाता है, एवं जो बस्ति से उत्पन्न होकर सारे शरीर की ओर फैलता है, वह दोनों में असाध्य होता है। क्षारपाणि ने भी कहा है कि—पैरों से होकर ऊपर को जाने वाला मनुष्यों को, मुख से उठ कर नीचे की ओर जाने वाला स्त्रियों को और बस्ति से उत्पन्न होकर सर्वव्यापी दोनों को ही मार देता है ।

अथ वृद्धिनिदानम् ।

वृद्धेः संप्राप्तिमाह—

क्रुद्धोऽनूर्ध्वगतिर्वायुः शोथशूलकरश्चरन् ।
मुष्कौ वङ्क्षणतः प्राप्य फलकोषाभिवाहिनीः ॥१॥
प्रपीड्य धमनीर्वृद्धिं करोति फलकोषयोः ।

---

१ नाम—सं० वृद्धि. इं० स्क्रोटल एन्लार्जमेंट (Scrotal Enlargement).
...र्ध्वगतिरित्यर्थः । क्रुद्धो रूद्धगतिर्वायुः.

शोथ और शूल को करने वाला अनूर्ध्वगति (निम्न गति वाला अपानवायु) एवं वृद्धवायु चलता हुआ वंक्षण प्रदेश से अण्डकोश में प्राप्त होकर और अण्डकोशों में जाने वाली धमनियों को प्रपीड़ित कर अण्डकोशों की वृद्धि कर देता है ।

तद्भेदानाह—

दोषास्रमेदोमूत्रान्त्रैः स वृद्धिः सप्तधा गदः ॥२॥
मूत्रान्त्रजावप्यनिलाद्धेतुभेदस्तु केवलम् ।

वह वृद्धि वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक, रक्तज, मेदोज, मूत्रज और अन्त्रज इन भेदों से सात प्रकार की होती है । मूत्रवृद्धि और अन्त्रवृद्धि ये दोनों भी वायु से ही होती हैं, परन्तु भेद केवल इनके निदान में है ।

मधु०—शोथत्वसामान्याच्छोथानन्तरं वृद्धिरभिधीयते । वृद्धेः संप्राप्तिमाह—क्रुद्धोऽनूर्ध्वगतिर्वायुरित्यादि । अनूर्ध्वगतिरधोगतिर्वायुर्मुष्कौ प्राप्य चरन् गच्छन्, वङ्क्षणतो मेढ्रजङ्घासन्धेः[१] सकाशात्; फलकोषाभिवाहिनीरिति फलं च कोषश्च फलकोषौ, अथवा फलयोः कोषौ, तद्वहा धमनीश्च प्रपीड्य संदूष्य, वृद्धिं करोति । फलकोषयोरिति द्विवचनमुपलक्षणं, तेनैककोषेऽपि दृश्यमाना वृद्धिः संगता । स वृद्धिरिति "क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम्" इत्यनेन क्तिजन्तो वृद्धिशब्दः पुंलिङ्गः, क्तिन्नन्तस्तु स्त्रीलिङ्गः, वृद्धिः कुरण्डोऽभिधीयते । संख्येयनिर्देशादेव संख्यायां लब्धायां सप्तधेति वचनं न्यूनाधिकसंख्यानिरासार्थं, तेन द्वन्द्वजादिवृद्धेरधिकाया निरासः; असंभवस्तु तस्या व्याधिस्वभावात्; मूत्रान्त्रवृद्ध्योर्वातवृद्ध्यन्तर्भावात् न्यूनसंख्यानिरासार्थमनयोर्वातजत्वेऽपि निमित्तचिकित्साभेदात् पृथगभिधानं, निमित्तभेदनिबन्धन एव व्याधिभेदः । यदुक्तं—"दोषदूष्यसंसर्गायतनविशेषान्निमित्ततश्चैषां व्याधीनां भेदः ॥" (सु. सू. स्था. अ. २४) इति । अत आह—मूत्रान्त्रजावप्यनिलाद्धेतुभेदस्तु केवलमिति ॥१–२॥

इस मधुकोश व्याख्यान की भाषा सरल ही है ।

वातजवृद्धेर्लक्षणमाह—

वातपूर्णदृतिस्पर्शो रूक्षो वातादहेतुरुक् ॥३॥ [वा० ३।११]

वातिकवृद्धि का स्पर्श हवा से भरी हुई मशक की तरह होता है, और वह रूक्ष एवं उसमें अकारण पीड़ा होती है ।

पित्तजवृद्धेर्लक्षणमाह—

पक्वोदुम्बरसंकाशः पित्ताद्दाहोष्मपाकवान् ।

पैत्तिक वृद्धि पके हुए गूलर फल के समान, दाहयुक्त, ऊष्मायुक्त और पाक वाली होती है ।

कफजवृद्धेर्लक्षणमाह—

कफाच्छीतो गुरुः स्निग्धः कण्डूमान् कठिनोऽल्परुक् ॥४॥ [वा० ३।११]

---

१ मेढ्रोरुसन्धेरित्यर्थः.

श्लैष्मिकवृद्धि शीतल, गुरु, स्निग्ध, कण्डु सहित, कठिन और थोड़ी पीड़ा वाली होती है।

रक्तजवृद्धेर्लक्षणमाह—

कृष्णस्फोटावृतः पित्तवृद्धिलिङ्गश्च रक्तजः।

रक्तजवृद्धि कृष्णवर्ण के स्फोटों से युक्त एवं पैत्तिकवृद्धि के लक्षणों के समान लक्षणों वाली होती है।

मेदोजवृद्धेः स्वरूपमाह—

कफवन्मेदसा वृद्धिर्मृदुस्तालफलोपमः ॥५॥ [वा० ३।११]

मेदोज वृद्धि मृदु, ताड़फल के समान एवं कफवृद्धि के लक्षणों के समान लक्षणों वाली होती है।

मूत्रजवृद्धेर्लक्षणमाह—

मूत्रधारणशीलस्य मूत्रजः स तु गच्छतः।
अम्भोभिः पूर्णदृतिवत् क्षोभं याति सरुङ्मृदुः ॥६॥ [वा० ३।११]
मूत्रकृच्छ्रमधः स्याच्च चालयन् फलकोषयोः[१]।

मूत्रवेग को रोकने वाले मनुष्य को मूत्रवृद्धि होती है और उसके चलते हुए वह मूत्रवृद्धि जल से भरी हुई मशक की तरह हिलती हुई मालूम होती है। उसमें पीड़ा होती है, और वह स्वयं मृदु होती है। इस प्रकार की वृद्धि में मूत्रकृच्छ्र होता है एवं फलकोषों (अण्डकोषों) में चलन, अर्थात् वेदना की गति होती है। यहां 'अधः स्याच्च चालयन् फलकोषयोः' का अर्थ वेदना और शोथ ही लेना चाहिए वा फलकोषों में फलों को चलाता हुआ यह अर्थ भी हो सकता है। उस अवस्था में फलकोषों में फलों के चलने से पीड़ा और शोथ होती है, अन्यथा फलकोषों में फलों का चलना साधारण होने से उसके कथन की कोई आवश्यकता नहीं थी। फलकोषों में पीड़ा और शोथ होती है, इसमें वचन भी है कि 'मूत्रसन्धारणशीलस्य मूत्रवृद्धिर्भवति, सा गच्छतोऽम्बुपूर्णा दृतिरिव क्षुभ्यति मूत्रकृच्छ्रवेदनां वृषणयोः, श्वयथुं फलकोषयोश्चापादयति" (सु. नि. स्था. अ. ११)। यहां वृषणों में वेदना कहने से फलकोषों में शोथ के साथ २ वेदना का भी ग्रहण होता है, क्योंकि शोथ में वेदना अवश्यम्भावी है। 'वलयं फलकोषयोः' इस पाठान्तर में यह अर्थ होता है कि फलकोषों के नीचे वलय अर्थात् छल्ला-सा पड़ जाता है।

मधु०—वातजादीनां मूत्रजान्तानां वृद्धीनां क्रमेण लक्षणान्याह—वातेत्यादि। अहेतुरुगिति अनिमित्ततो दाहादिरुक्। रक्तजे 'कृष्णस्फोटावृत' इति पित्तजवृद्धिलिङ्गादधिकं; तेन हेतुलिङ्गचिकित्साभेदाद्रक्तजवृद्धिः पृथग्गण्यते। मेदोजे तालफलोपम इति पक्वतालफलमिव नीलवर्तुलः। मूत्रजे मूत्रकृच्छ्रमिति मूत्रकृच्छ्रवद्वेदना। चालयन् फलकोषयोरिति फलकोषयोश्चालयन् चलो भवन्नितस्ततो गच्छन् सोऽधः स्यात्। चालयन्निति स्वार्थिको णिच् ॥३–६॥

इसकी भाषा सरल ही है।

---

१ अयमेव पाठो वाग्भटेऽपि दृश्यते.

अन्त्रवृद्धेर्निदानमाह—

वातकोपिभिराहारैः शीततोयावगाहनैः ॥७॥ [वा० ३।११]
धारणेरणभाराध्वविषमाङ्गप्रवर्तनैः ।
क्षोभणैः क्षोभितोऽन्यैश्च क्षुद्रान्त्रावयवं यदा ॥८॥ [वा० ३।११]

अन्त्रवृद्धेः संप्राप्तिमाह—

पवनो विगुणीकृत्य स्वनिवेशादधो नयेत् ।
कुर्याद्वङ्क्षणसन्धिस्थो ग्रन्थ्याभं श्वयथुं तदा ॥९॥ [वा० ३।११]

अन्त्रवृद्धेः स्वरूपमाह—

उपेक्ष्यमाणस्य च मुष्कवृद्धि-
माध्मानरुक्स्तम्भवतीं स वायुः ।
प्रपीडितोऽन्तःस्वनवान् प्रयाति
प्रध्मापयन्नेति पुनश्च मुक्तः ॥१०॥ [वा० ३।११]
अन्त्रवृद्धिरसाध्योऽयं वातवृद्धिसमाकृतिः ।

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने वृद्धिनिदानं समाप्तम् ॥३७॥

रूक्ष, तिक्त, कषाय आदि वातप्रकोपक आहार के सेवन से, शीतल जल में अवगाहन करने से, वेगावरोध से, अप्राप्त मल मूत्र वेगों के त्यागने से, भार उठाने से, मार्ग चलने से, अङ्गों के विषम रखने से और अन्य बलवानों से युद्ध, दृढ़ धनुराकर्षणादि अन्य क्षोभकों से क्षोभित वायु जब क्षुद्रान्त्र के अवयव को अपने स्थान से विगुण कर नीचे ले आता है, तब वह (वायु) वंक्षणों की सन्धि में (दोनों में से किसी एक में वा दोनों में ही) ग्रन्थि के सदृश शोथ कर देता है। आध्मान, पीड़ा और स्तम्भ वाली मुष्कवृद्धि की उपेक्षा करने वाले का वातप्रकोपकों से प्रकुपित तथा वंक्षण सन्धि में स्थित वह वायु हाथ से दबाने पर शब्द के साथ २ अन्तर्लीन हो जाता है और फिर उस स्थान से हाथ को उठा लेने से उसी स्थान को फुलाता हुआ आ जाता है। भाव यह है कि जब उतरी हुई आँत को हथेली से कुशलतापूर्वक दबाया जाता है, तब वायु आँत के साथ २ अन्तर्विलीन हो जाता है और जब हथेली उठा ली जाती है तो पुनः वायु वहां आ जाती है और वह स्थान फूल जाता है। यह वातिक वृद्धि के लक्षणों के समान लक्षणों वाली अन्त्रवृद्धि असाध्य होती है।

मधु०—अन्त्रवृद्धिमाह—वातकोपिभिरित्यादि । धारणं वेगस्योपस्थितस्य, ईरणमप्राप्तस्य। क्षोभणैः क्षुभितोऽन्यैरिति बलवद्विग्रहधनुराकर्षणादिभिः । क्षुद्रान्त्रावयवमिति वृहदन्त्रव्युदासार्थम् । विगुणीकृत्येति संकुचीकृत्य । द्विगुणीकृत्येति पाठान्तरे संकोचेन द्विगुणीकृत्य । स्वनिवेशात् स्वस्थानात् । तदा वङ्क्षणसन्धिस्थः सन् वङ्क्षणसन्धौ ग्रन्थिरूपमसाध्यं श्वयथुं करोति, तत्र ग्रन्थिरूपेण स्थित्वा कालान्तरेण फलकोषं गच्छतीति । तां मुष्कवृद्धिमाध्मानरुक्स्तम्भवतीमुपेक्षमाणस्य अचिकित्सतः पुरुषस्य । अत्र भोजः—"अन्त्रं द्विगुणमादाय जन्तोर्नयति

वङ्क्षणम् । वङ्क्षणात्तद्गुजायुक्तं फलकोषं प्रपद्यते ॥" इति । प्रध्मापयन्निति उच्छूनयन् । असाध्योऽयमिति कथं ? यतोऽस्य चिकित्साऽभिहिता; नैवम्, अप्राप्तफलकोषायामयं चिकित्साविधिः, प्राप्तफलकोषा त्वसाध्या; याप्यायां वा तस्यां चिकित्साविधिः । यदुक्तं भोजे—"याप्यां तामन्त्रजां विदुः ॥" इति । ब्रध्ननिदानं तु तन्त्रान्तरे पठ्यते । तद्यथा—"अत्यभिष्यन्दिगुर्वन्नसेवनान्निचयं गतः । करोति ग्रन्थिवच्छोथं दोषो वङ्क्षणसन्धिषु ॥ ज्वरशूलाङ्गसादाढ्यं तं ब्रध्नमिति निर्दिशेत्" इति ॥७-१०॥

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायां वृद्धिनिदानं समाप्तम् ॥३७॥

ऊपर मूल में अन्त्रवृद्धि को असाध्य कहा है, यह कैसे हो सकता है? क्योंकि इसकी चिकित्सा मिलती है । इस पर आचार्य रक्षित जी कहते हैं कि नहीं, यह चिकित्साविधि उस समय की जब कि वृद्धि अभी फलकोषों में नहीं पहुंची होती है और जब फलकोषों में अन्त्रवृद्धि पहुंच जाती है, तब असाध्य होती है । अथवा, जो चिकित्सा विधान है, वह असाध्य में नहीं है, प्रत्युत याप्य में है । जैसे भोज ने कहा भी है कि 'उस अन्त्रवृद्धि को याप्य अन्त्रवृद्धि जानना चाहिए' । ब्रध्न का निदान तन्त्रान्तर में इस प्रकार पढ़ा है कि 'अति अभिष्यन्दि और अतिगुरु (वा गुरु) अन्न के सेवन से संचित दोष वंक्षण सन्धि में ग्रन्थि की तरह शोथ कर देता है; ज्वर, शूल और अङ्गसाद से युक्त उसी शोथ को ब्रध्न कहना चाहिए' ।

अथ गलगण्डगण्डमालापचीग्रन्थ्यर्बुदनिदानम् ।

गलगण्डस्य सामान्यस्वरूपमाह—

निबद्धः श्वयथुर्यस्य मुष्कवल्लम्बते गले ।
महान् वा यदि वा ह्रस्वो गलगण्डं तमादिशेत् ॥१॥ [सु० २।११]

जिसके गले में पैदा हुआ शोथ अण्ड की तरह लटक जाता है, चाहे वह बड़ा हो या लघु उसे गलगण्ड कहते हैं । भाव यह है कि गले में स्थित ग्रन्थि में विकृति के अनुसार होकर शोथ हो जाता है और साथ ही वह ग्रन्थि भी बढ़कर लटकने लगती है । इसे आम पंजाबी भाषा में गिल्लड़ कहते हैं । इस पर भोज ने भी कहा है कि—'हनु, मन्या और गल के आश्रय में महान् अथवा स्वल्प अण्डवत् लटकते हुए शोथ को देखकर उस (शोथ) को गलगण्ड कहना चाहिए' ।

मधु०—वृद्धियुक्तमुष्कसमानलिङ्गत्वात्तदनन्तरं गलगण्डनिदानम् । तस्य सामान्यलिङ्गमाह—निबद्धः श्वयथुरित्यादि । निबद्धोऽनुबन्धवान् । मुष्कवदण्डवत् । भोजेऽप्युक्तं—"महान्तं शोथमल्पं वा हनुमन्यागलाश्रयम् । लम्बन्तं मुष्कवद्दृष्ट्वा गलगण्डं विनिर्दिशेत्" इति ॥१॥

इसकी भाषा सुगम है ।

---

१ नाम—सं० गलगण्ड, पं० गिल्लड़, इं० गॉयटर (Goitre) ब्रान्कोसील (Bronchocele).

गलगण्डस्य संप्राप्तिमाह—

वातः कफश्चापि[1] गले प्रदुष्टो[2]
मन्ये च संश्रित्य[3] तथैव मेदः।
कुर्वन्ति गण्डं क्रमशः स्वलिङ्गैः
समन्वितं तं गलगण्डमाहुः ॥२॥ [सु० २।११]

वात, कफ और मेद गले में प्रदुष्ट होकर दोनों मन्याओं का आश्रय लेकर क्रमशः अपने २ लक्षणों से युक्त गण्ड को कर देते हैं, इसे गलगण्ड कहते हैं।

मधु०—तस्य संप्राप्तिमाह—वात इत्यादि। वातकफमेदांसि पृथक् गलगण्डकारणानि, तेन त्रय एव गलगण्डाः, पैत्तिकस्तु न भवत्येव, व्याधिस्वभावात्; चातुर्थकज्वरवत्। चातुर्थके हि वचनं—"चातुर्थको दर्शयति प्रभावं द्विविधं ज्वरः। जङ्घाभ्यां श्लैष्मिकः पूर्वं शिरस्तोऽनिलसंभवः॥" (च. चि. स्था. अ. ३) इति। क्रमश इत्यनेन शनैरेव वर्धनं दर्शयति। स्वलिङ्गैः समन्वितमिति 'निबद्धः श्वयथुः' इत्यादिनोक्तगलगण्डलिङ्गैरन्वितम् ॥२॥

वात, पित्त और मेद ये पृथक् २ गलगण्ड में कारण हैं। एवं गलगण्ड तीन ही होते हैं। चातुर्थक ज्वर की तरह व्याधि के स्वरूप भाव से पैत्तिक गलगण्ड नहीं होता। चातुर्थक ज्वर के पैत्तिक न होने में मुनिवचन भी है कि 'चातुर्थको दर्शयतीति'।

वातिकगलगण्डस्य रूपमाह—

तोदान्वितः कृष्णशिरावनद्धः
श्यावोऽरुणो[4] वा पवनात्मकस्तु।
पारुष्ययुक्तश्चिरवृद्ध्यपाको
यदृच्छया पाकमियात्कदाचित् ॥३॥ [सु० २।११]
वैरस्यमास्यस्य च तस्य जन्तो-
र्भवेत्तथा तालुगलप्रशोषः।

वातात्मक गलगण्ड तोद (सूचिकाओं की-सी चुभान) युक्त, काली २ सिराओं से व्याप्त, श्याव और अरुण वर्ण का होता है, एवं वह खर चिर वृद्धि वाला और पाक रहित होता है, परन्तु कभी २ वह (दोषदूष्यसंयोग के विशेष प्रभाव व बाह्य कारण के प्रभाव से) स्वयं ही पक जाता है। जिस मनुष्य में यह रोग होते हैं, उसमें मुख की विरुद्धरसता, तथा तालु और गल का प्रशोष होता है। भाव यह है कि लक्षण कुछ स्थानिक होते हैं और सर्वशरीरव्यापी; एवं यहां भी कुछ (तोदादि) स्थानिक तथा कुछ (मुखविरसता आदि) शारीरिक कहे हैं। इस प्रकार का क्रम प्रायः सर्वत्र होता है।

---

१ कफश्चैव. २ प्रवृद्धौ. ३ संसृत्य. ४ कृष्णो. गलगण्ड को नवीन आचार्य शार्ङ्गधर जी 'गण्डालजी' नाम से पुकारते हैं तथा उन्होंने इसे एक ही प्रकार का माना है। तद्यथा—'गण्डालजी तु चैका स्यात्' (शा. पू. खं. अ. ७).

सुश्रुत में यहां तृतीय श्लोक के पूर्वार्ध और उत्तरार्ध के मध्य में 'मेदोऽन्वितश्चोपचितश्च कालाद्भवेदतिस्निग्धतरोऽरुजश्च' यह अधिक पाठ भी मिलता है, परं आचार्य माधव ने अनावश्यक होने से इसे यहां नहीं पढ़ा।

मधु०—वातजमाह—तोदान्वित इत्यादि। चिरवृद्धिरिति विकारप्रभावात् वातजोऽपि चिरेण वर्धते। यदृच्छया पाकमियादिति कारणाप्रतिनियमेन कदाचित् पाकं याति, कारणाप्रतिनियमश्च बाह्योऽभिप्रेतः, आभ्यन्तरं तु पाककारणं पित्तं रक्तं च नियतमेव। कदाचिदिति न सर्वकालम्। "यदृच्छया चैव भवेत् कदाचित्" इति पाठान्तरे 'पाक' इति शेषः ॥३॥

'यदृच्छया' का अर्थ कारण के अप्रतिनियम से कभी पक जाता है, और कारण का अप्रतिनियम बाह्य अभिप्रेत है, क्योंकि आभ्यन्तरिक पाक का कारण पित्त और रक्त होता है, यह नियत ही है।

श्लैष्मिकगलगण्डस्य लक्षणमाह—

स्थिरः सवर्णो गुरुरुग्रकण्डूः
शीतो महांश्चापि कफात्मकस्तु ॥४॥ [सु० २।११]
चिराभिवृद्धिं भजते चिराद्वा
प्रपच्यते मन्दरुजः कदाचित्।
माधुर्यमास्यस्य च तस्य जन्तो-
र्भवेत् तथा तालुगलप्रलेपः ॥५॥ [सु० २।११]

कफात्मक गलगण्ड, अचल, प्राकृतिक वर्ण वाला, भारी, तीव्र खुजलीयुक्त, शीत स्पर्श वाला एवं स्थूल होता है। यह गलगण्ड बहुत देर बाद बढ़ता है और बहुत देर बाद ही पकता है। इसमें पाक के समय पीड़ा स्वल्प होती है। इस रोग में रोगी के मुख का स्वाद मीठा होता है और उसका तालु एवं गल कफ से लिप्त होता है।

मधु०—श्लेष्मजमाह—स्थिर इत्यादि। सवर्ण इति प्रकृतिसमवर्णः ॥४-५॥

'श्लेष्मजमाह' इत्यादि की भाषा सरल है।

मेदोजगलगण्डस्य लक्षणमाह—

स्निग्धो गुरुः पाण्डुरनिष्टगन्धो
मेदोभवः कण्डुयुतोऽल्परुक् च।
प्रलम्बतेऽलाबुवदल्पमूलो
देहानुरूपक्षयवृद्धियुक्तः ॥६॥ [सु० २।११]
स्निग्धास्यता तस्य भवेच्च जन्तो-
र्गलेऽनुशब्दं कुरुते च नित्यम्।

१ भवेत्प्रतिस्तब्धगलोऽरुजश्च. भवेत्प्रदिग्धे च गलेऽरुजश्च. २ अल्परुगुग्रकण्डूः. ३ चिराच्च. ४ मृदुः. ५ मेदःकृतो नीरुगथातिकण्डूः. ६ गलेन.

मेदोज गलगण्ड स्निग्ध, गुरु, पाण्डु, दुर्गन्धित, कण्डुयुक्त एवं स्वल्प पीड़ा वाला होता है। यह गलगण्ड अलाबु की तरह स्वल्प मूल वाला लटकता हुआ होता है। उसकी क्षीणता और वृद्धि देह के अनुरूप ही होती है। इसमें मनुष्य का मुख स्निग्ध एवं गले में अनुनाद होता है।

मधु०—मेदोजमाह—स्निग्ध इत्यादि। देहानुरूपक्षयवृद्धियुक्त इति देहक्षये क्षयं, देहवृद्धौ च वृद्धिं यातीत्यर्थः। गलेऽनुशब्दमिति अनुनादं करोति। "गले तु शब्दम्" इति पाठान्तरं सुगमम् ॥६॥

'मेदोजमाह' इत्यादि की भाषा सुगम है।

गलगण्डस्य प्रत्याख्येयतालक्षणान्याह—

कृच्छ्राच्छ्वसन्तं मृदुसर्वगात्रं
संवत्सरातीतमरोचकार्तम् ॥७॥ [सु० २।११]
क्षीणं च वैद्यो गलगण्डयुक्तं
भिन्नस्वरं चापि विवर्जयेच्च।

जो गलगण्ड का रोगी बड़ी कठिनता से श्वास लेता है, शिथिल गात्रों वाला होता है, एक वर्ष से अधिक समय से गलगण्ड रोग से ग्रस्त, अरुचि से पीड़ित, क्षीण तथा जो स्वरभेद से युक्त होता है, वैद्य उसे छोड़ दे, अर्थात् वह असाध्य होने से अचिकित्स्य है।

मधु०—असाध्यतामाह—कृच्छ्राच्छ्वसन्तमित्यादि। कृच्छ्राच्छ्वसन्तं दुःखेन श्वासविमोक्षकारिणम्। भिन्नस्वरं स्वरभेदवन्तम् ॥७॥

'असाध्यतामाह' इत्यादि की भाषा स्पष्ट है।

गण्डमालायाः[3] स्वरूपमाह—

कर्कन्धुकोलामलकप्रमाणैः
कक्षांसमन्यागलवङ्क्षणेषु ॥८॥
मेदःकफाभ्यां चिरमन्दपाकैः
स्याद्गण्डमाला बहुभिश्च गण्डैः।

मेद और कफ के कारण कक्षा (भुजामूल जहां शरीर से लगी होती है, उस सन्धि का नाम कक्षा है), अंस (बाहुओं के मूल प्रदेश को अंस—कंधा कहते हैं), मन्या (शिरोधरा वा शिर के निचले भाग को कहते हैं, अर्थात मन्या से कर्णमूलों के निचले स्थान लिये जाते हैं, परन्तु उपचार से पिछला भाग भी लिया जाता है। भाव यह है कि मन्या से वह स्थान अभिप्रेत है, जहां कि मन्यास्तम्भ होता है और मन्या नामक सिराएं हैं), गले (गल शब्द से यहां चिबुक के नीचे का स्थान लेना चाहिए) और वंक्षण (विटप और ऊरुओं

१ गलगण्डिनं तं. २ चैव. ३ गण्डमाला युनानीवैद्यके 'खनाज़ीर' इति नाम्ना आङ्ग्लभाषायाम् [illegible]

की सन्धि को वंक्षण कहा जाता है) प्रदेश में छोटे बेर, बड़े बेर और आमले के फल के समान आकार वाले एवं बहुत देर बाद धीरे २ पकने वाले बहुत से गण्डों से निचित गण्डमाला होती है। यहां मेददूष्य और कफदोष का निर्देश 'व्यपदेशस्तु भूयसा' के अनुसार है। ये दोनों प्रायः एक से गुणों वाले होते हैं। अतएव मूल में 'चिरमन्दपाकैः' कहा है, क्योंकि केवल मेद वा कफ होने से ही चिरपाक वा मन्दपाक प्रायः आवश्यक है। पर जहां मेद और कफ दोनों ही प्रधान हों, वहां तो पाक अवश्य चिरकाल बाद और उस पर भी शनैः २ वा स्वल्प होगा। इसमें वातादि का भी सम्बन्ध है, इस विषय पर इसी श्लोक की मधुकोश व्याख्या के विवरण प्रसंग में स्पष्ट लिखा जायगा।

मधु०—स्थानतुल्यतया गण्डमालामिहैवाह—कर्कन्धुकोलामलकप्रमाणैरित्यादि। कर्कन्धुः शृगालकोलिः, कोलं बृहद्बदरम्। मेदःकफाभ्यामिति मेदो दूष्यं, कफो दोषोऽत्रारम्भकः, मेदःकफौ प्राधान्येनोक्तौ; तेन वातपित्तसंबन्धोऽप्यत्र द्रष्टव्यः। यदाह भोजः—"वातपित्तकफा वृद्धा मेदश्चापि समाचितम्। जङ्घयोः कण्डराः प्राप्य मत्स्याण्डसदृशान् बहून्॥ कुर्वन्ति ग्रथितांस्तेभ्यः पुनः प्रकुपितोऽनिलः। तान् दोषानूर्ध्वगो वक्षःकक्षमन्यागलाश्रितः[1]॥ नानाप्रकारान् कुरुते ग्रन्थीन् सा त्वपची मता[2]। तां तु मालाकृतिं विद्यात्कण्ठहृद्धनुसन्धिषु॥ गण्डमालां विजानीयादपचीतुल्यलक्षणाम्॥" इति। स्याद्गण्डमालेति मालातुल्यगण्डयोगाद्गण्डमाला। गलमात्र एव गण्डमाला चरके पठिता। यथा—"मेदःकफाच्छोणितसंचयोत्थो गलस्य मध्ये गलगण्ड एकः। स्याद्गण्डमाला बहुभिश्च गण्डैः॥" (च. चि. स्था. अ. १२) इति॥८॥

प्रकृत में मेद और कफ प्रधानता से माने हैं, (न कि नियमता से अन्यथा भोज से विरोध आता है, क्योंकि उसने वातजादि गण्डमाला भी मानी है। इसीलिए "मेदःकफाभ्यां खलु रोग एष सुदुस्तरो वर्षगणानुबन्धी"–(सु. नि. स्था. अ. ११) की टीका में डल्हण जी ने भी 'खलु' शब्द का अपि अर्थ स्वीकार कर कहा है कि 'खलु शब्दोऽप्यर्थः। तेन मेदःकफौ वातादिदोषान्तरानुविद्धौ ज्ञेयौ'। इससे यहां वात और पित्त का सम्बन्ध भी जानना चाहिए। जैसे भोज ने कहा भी है कि 'बढ़े हुए वात, पित्त और कफ तथा (निचित) मेद जङ्घाओं की कण्डराओं को प्राप्त होकर मत्स्याण्ड सदृश बहुत सी ग्रन्थियों को कर देता है। फिर उनसे प्रकुपित वायु उन दोषों को भी साथ लेकर ऊर्ध्वगामी होकर वक्षःस्थल, कक्षा, मन्या, कण्ठ, हृदय और हनु की सन्धियों में आश्रय बना अनेक प्रकार की ग्रन्थियों को करता है; ये ग्रन्थियाँ ही अपची होती हैं; और कण्ठ, हृदय और हनु इनकी सन्धियों में उत्पन्न उसी अपची को माला की आकृति में देखकर गण्डमाला कहना (जानना) चाहिए; उस गण्डमाला के लक्षण अपची के समान ही हैं'। इसके आगे भोज ने वातादिकों के लक्षण भी लिखे हैं। तद्यथा—व्यामिश्रदोषसंजाता[3] कृच्छ्रसाध्या प्रकीर्तिता। तासां वातोत्तरा रूक्षा वातवेदनयान्विता। क्षिप्रपाकसमुत्थाना दाहयुक्ता च पैत्तिकी॥ गूढपाका च[4] कठिना कफात्स्निग्धा-ल्परुक्करा। मेदोभवा[5] श्लैष्मिकी च विशेषादतिमार्दवा॥ अपची कण्ठमन्यासु कक्षवंक्षणसन्धिषु[6]। तां

१ कक्षामन्यागलाश्रितः. २ स्मृता. ३ जातस्य. ४ तु. ५ मेदोऽधिका. ६ कक्षावंक्षणसन्धिषु.

तु मालाकृतिसमां[1] कण्ठहृद्दन्तसन्धिषु । गण्डमालां[2] विजानीयादपचीतुल्यलक्षणाम्''–इति । अर्थात्—मिलित दोषों से उत्पन्न अपची कृच्छ्रसाध्य कही है । शोषों (वातादिकों) में से वातप्रधान अपची रूक्ष और वातिक पीड़ा (तोदादिरूप) से युक्त होती है । पित्तप्रधान अपची शीघ्र पकने और उत्पन्न होने वाली एवं दाहयुक्त होती है, और श्लेष्मप्रधान अपची गूढ़पाक वाली, कठिन, स्निग्ध स्वल्प पीड़ा करने वाली होती है । विशेषतः मेदोभव तथा श्लेष्मज कण्ठ, मन्या, कक्षा और वंक्षण की सन्धि में होने वाली अपची अतिमृदु होती है । यही जब कण्ठ-दन्तादि की सन्धि में मालाकृति के समान होती है, तब गण्डमाला कहलाती है, जो कि अपची के समान लक्षणों वाली ही होती है । चरक में तो गण्डमात्र में ही गण्डमाला पढ़ी है । यथा—मेद, कफ और शोणित के सञ्चय से उत्पन्न गले के बीच में होने वाला एक गण्ड गलगण्ड होता है; और बहुत से गण्डों वाली गण्डमाला होती है, अर्थात् जब एक गण्ड होगा तो गलगण्ड कहलावेगा और जब बहुत गण्ड होंगे तो गण्डमाला होगी ।

अपचीं लक्षयति—

> ते ग्रन्थयः केचिदवाप्तपाकाः
> स्रवन्ति नश्यन्ति भवन्ति चान्ये ॥९॥
> कालानुबन्धं चिरमादधाति
> सैवापचीति प्रवदन्ति तज्ज्ञाः ।
> साध्याः स्मृताः पीनसपार्श्वशूल-
> कासज्वरच्छर्दियुतास्त्वसाध्याः ॥१०॥

वे कई एक ग्रन्थियाँ पाक को प्राप्त कर, स्रावयुक्त होती, नष्ट हो जाती हैं तथा उत्पन्न होती हैं । वे बहुत देर तक स्थायी रहती हैं और उन्हीं को वैद्य विद्वान् अपची कहते हैं । ये पूर्वोक्त अपचियाँ साध्य होती हैं; परन्तु पीनस, पार्श्वशूल, कास, ज्वर और छर्दि से युक्त अपचियाँ असाध्य होती हैं ।

मधु०—गण्डमालातुल्यतयाऽपचीमाह—ते ग्रन्थय इत्यादि । ते इति गण्डमालारम्भकदोषदूष्यकृता ये ग्रन्थयस्त एवेत्यर्थः । कालानुबन्धं चिरमिति चिरकालानुबन्धम् । सैवापचीति तादृशी अमालारूपा अपची भण्यते । सैवापचीति इतिशब्देनाभिहितत्वात् प्रवदन्तीति क्रियायोगेऽपि न द्वितीया । अपचीनिरुक्तिश्चापरापरोपचीयमानतया । अत एव "चयप्रकर्षादपचीं वदन्ति ॥" (सु. नि. स्था. अ. ११) इति सुश्रुतः । चयप्रकर्षश्चापरापरभवनेनैव, साधुत्वं च नैरुक्तेन विधिना । यदुक्तम्—"वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ । धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम् ॥" इति । अत एवोक्तं–नश्यन्ति भवन्ति चान्य इति । साध्याः स्मृता इति छेदः । पीनसादिभिरुपद्रवैरसाध्याः । अयं तु ग्रन्थिश्चरके गण्डमालायामस्ति; संग्रहकारेण तु गण्डमालया सह तुल्यत्वादपच्या अपच्यामेव पठितः ॥९–१०॥

अपची की निरुक्ति 'अपरापरोपचीयमानेत्यपची' यह है; अतएव सुश्रुत में 'चयप्रकर्षादपचीं वदन्ति' यह कहा है । यहां भी चयप्रकर्ष का अर्थ 'अपरापर होना' ही लिया जाता है । यह निर्वचन नैरुक्त की विधि से ठीक है । नैरुक्त पांच प्रकार से निरुक्ति मानते हैं । तद्यथा—वर्णागम (किसी एक वर्ण को निरुक्ति के समय ले आना), वर्णविपर्यय

[1] मालाकृति विद्यात्. [2] कण्ठमालां.

(निरुक्ति के समय वर्णों को उल्टा देना, यथा 'हिनस्तीति सिंहः'), वर्णविकार (अर्थात् निरुक्ति के समय किसी वर्ण को बदल देना), वर्णनाश (निरुक्ति के समय किसी वर्ण का लोप कर देना) और निर्वचनीय शब्द के अर्थ में धातु के अर्थ का योगातिशय (अर्थात् जिस शब्द की निरुक्ति करनी हो उसके अर्थ को लेकर पुनः उसी अर्थ वाली उसके समान वा असमान धातु को लेकर निरुक्ति करने को ही धातु के साथ उस (शब्द) के अर्थ को योगातिशय कहते हैं । ये पाँच प्रकार की निरुक्तियाँ हैं। इनका विशेष विवरण तथा इनके उदाहरण निरुक्त (सम्प्रत्युपलभ्यमान यास्ककृत निरुक्त) में देखने चाहिएँ। विस्तार भय से यहां उनका निर्देश नहीं किया जाता।

ग्रन्थेः संप्राप्तिपूर्वकं लक्षणमाह—

वातादयो मांसमसृक् प्रदुष्टाः[1]
संदूष्य मेदश्च तथा[2] शिराश्च ।
वृत्तोन्नतं विग्रथितं च शोथं[3]
कुर्वन्त्यतो ग्रन्थिरिति प्रदिष्टः ॥११॥ [सु० २।११]

प्रदुष्ट वातादि दोष, मेद एवं शिराएं मांस और रक्त को दूषित कर गोल, ऊँची, एवं गँठी हुई शोथ को कर देते हैं। अतः (गोल, ऊँची, एवं गँठी हुई होने से) वह शोथ ग्रन्थि कहलाती है। इस पद्य से वात, पित्त, कफ, श्लेष्म, मेद और सिरा इनसे होने वाली पाँच प्रकार की ग्रन्थियाँ सिद्ध होती हैं पर तीसरी और चौथी ग्रन्थि भी दोषानुबन्ध से ही होती है।

मधु०—अनन्तरमपचीगण्डकतुल्यतया ग्रन्थिमाह—वातादय इत्यादि । वातपित्तकफाः प्रत्येकं दुष्टाः; दुष्टिश्चात्र वृद्धिरेव न क्षयः, क्षीणानां विकारकरणाक्षमत्वात् । यद्येवं तर्हि कथं वातादिक्षये मन्दचेष्टादयः ? उच्यते, तत्क्षये विरोधिदोषकोपात्; यथा—मधुरस्निग्धादिभिर्वाते क्षीणे तत्समानत्वाच्छ्लेष्मा प्रकुप्यति । वचनं हि–"वृद्धिश्चापि विरोधिनाम् ॥" इति । संदूष्य मेदश्च मांसमसृक् सिराश्चेत्यनेन मेदोजः कफसंबन्धाद्यो भवति तथा सिराजोऽपि वायुना सिरादुष्ट्या यो जन्यते स उच्यते । एवं पञ्च ग्रन्थयः । तथेति संदूष्य । मांसमसृगिति अत्रासृजः क्रमोल्लङ्घनेन पाठोऽप्राधान्यप्रतिपादनार्थः, विसर्पे तु शोणितमेव प्रधानम् । अत एव क्वचित् चकारमप्राधान्यसूचकं निवेश्य 'असृक् च' इति पाठः । चरके तु ग्रन्थिर्ग्रथितकफज एव ग्रन्थिविसर्पशब्देनोक्तः । वृत्तोन्नतमिति वृत्तं वर्तुलम्, उन्नतमुच्छूनम् । विग्रथितं कठिनं, कर्कशं वा; विग्रथितत्वादेव ग्रन्थिरिति संज्ञा ॥११॥

यहां वातादिकों की दुष्टि इस शब्द से वृद्धिरूप दुष्टि ही लेनी चाहिए, न कि क्षयरूप दुष्टि; क्योंकि क्षीणदोष विकार करने में समर्थ नहीं होते। यदि ऐसा ही है (कि क्षीणदोष विकार करने में समर्थ नहीं होते) तो वातादि की क्षीणता में मन्द चेष्टादि लक्षण क्यों होते हैं ? इसका उत्तर यह है कि—उन दोषों के क्षीण होने पर विरोधी दोष के प्रकोप से मन्द चेष्टादि होते हैं; यथा—मधुर, स्निग्धादिकों से वायु के क्षीण होने पर मधुरादि के समान कफ प्रकुपित हो जाता है। इस पर वचन भी है कि—'वृद्धिश्चापि विरोधिनाम्'।

---

१ च दुष्टाः. २ कफानुविद्धं. ३ शोफं.

वक्तव्य—भाव यह है कि प्रकृत में वातादिकों की दुष्टि से वृद्धिरूप दुष्टि लेनी चाहिए, न कि ह्रासरूप दुष्टि; क्योंकि ह्रसित (क्षीण) दोष रोगों को उत्पन्न करने की शक्ति नहीं रखते। (प्रश्न—) यदि क्षीण दोष विकारों को उत्पन्न करने की शक्ति नहीं रखते, तो सुश्रुत में 'वातक्षये मन्दचेष्टताऽल्पवाक्त्वमप्रहर्षो मूढसंज्ञता च, पित्तक्षये मन्दोष्माग्निता निष्प्रभत्वं (ता) च, श्लेष्मक्षये रूक्षताऽन्तर्दाह आमाशयेतरश्लेष्माशयशून्यता सन्धिशैथिल्यं तृष्णादौर्बल्यं प्रजागरणं च' (सु. सू. स्था. अ. १५) ये वातादिकों के क्षय लक्षण क्यों कहे हैं ? इन लक्षणों से यह प्रतीत होता है कि क्षीणदोष भी रोगों को उत्पन्न करते हैं; जब ऐसा है, तो ऊपर 'प्रदुष्टाः' शब्द से वृद्धदोष क्यों लिए जाते हैं ? क्षीणदोष क्यों नहीं लिए जाते ? इसका उत्तर यह है कि दोषों के क्षीण होने पर विरोधी दोष बढ़ जाते हैं, और उनके बढ़ने से मन्दचेष्टा आदि विकार होते हैं। भाव यह है कि ऊपर कहा गया है—वायु के क्षीण होने पर मन्दचेष्टादि लक्षण होते हैं। वस्तुतः मन्दचेष्टादि लक्षण वायु की क्षीणता के कारण ही नहीं होते, प्रत्युत विरोधी दोष की वृद्धि के कारण ये लक्षण होते हैं। तद्यथा—मन्दचेष्टा होना कफ की वृद्धि के कारण होता है, और वात की क्षीणता में भी मन्दचेष्टा कहा है; इससे यह भाव निकलता है कि जब वायु की क्षीणता होती है, तो कफ बढ़ जाता है; कफ के बढ़ने से मन्दचेष्टा हो जाती है; यह सब लक्षण दोषक्षीणता के नहीं, प्रत्युत दोषक्षीणता के कारण बढ़े हुए दोष के हैं। दोष की क्षीणता से विरोधी दोष बढ़ता है। इसमें प्रमाण भी है कि—'वृद्धिश्चापि विरोधिनाम्'। एवं अन्यत्र भी जानना चाहिए। एवं यह सार निकला कि प्रकृत में 'प्रदुष्टः' का अर्थ प्रवृद्धदोष ही लेना चाहिए। इस पर आचार्य डल्हण की भी यही सम्मति है, वे कहते हैं कि—'दुष्टा वृद्धिंगता इत्यर्थः'। अब पुनः यह शंका होती है कि यदि दोषों की क्षीणता हो जाने से दोषों के असमर्थ हो जाने के कारण विकार उत्पन्न नहीं होते, प्रत्युत विरोधी दोष की वृद्धि से विकार होते हैं, तो दोषों की क्षीणता, तथा दोषक्षीणता के लक्षण कहने की क्या आवश्यकता थी ? (उत्तर—) यह सब निर्देश चिकित्सा के लिए है। अर्थात् जब प्रकृति में (यहाँ प्रकृति शब्द से सुश्रुतोक्त 'शुक्रशोणितसंयोगे' आदि वाली प्रकृति ली जाती है) वात २० अंश, पित्त २० अंश और कफ भी २० अंश हो, और मधुर, स्निग्ध आदि पदार्थ सेवन किए जावें, तो वायु की क्षीणता होगी, अर्थात् वह १६ अंशान्त हो जावेगा; साथ ही उसकी क्षीणता से तथा मधुरादि द्वारा कफ की वृद्धि हो जाती है, जिससे मन्दचेष्टा आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं। एवं जब इनकी चिकित्सा कर ली होगी, तो कटुतिक्तादि वातल पदार्थों का सेवन कर क्षीणवात को पुनः बढ़ा प्रकृति में लाया जावेगा; इस प्रकार इससे तथा कटुतिक्तादि पदार्थों के प्रभाव से बढ़ा हुआ कफ भी घट कर प्रकृति में आ जावेगा। इस चिकित्सा के लिए ही क्षीणता आदि का निर्देश किया है। अब पुनः यह शंका होती है कि इस प्रकार की चिकित्सा तो स्वयं ही हो जाती है; क्योंकि जब भी मन्द चेष्टादि लक्षणों को देख कर कफ की चिकित्सा करेंगे, तभी कफ क्षीण हो जायगा, और क्षीणवायु स्वयं ही बढ़कर प्रकृति में आ जायगी। इस चिकित्सा में तो कोई विशेषता नहीं, पुनः क्षीणतादि के लक्षण क्यों प्रतिपादित किए ? इसका उत्तर यह है कि यह आवश्यक नहीं कि सर्वत्र एक दोष की क्षीणता के कारण ही विरोधी दोष बढ़ते हैं, प्रत्युत कहीं २ प्रकृति में से दो दोष प्रकृति में ही रहते हैं और एक दोष बढ़ जाता है। यदि ऐसा न माना जाय, तो दोषों के त्रिषष्टि भेद ही नहीं बन सकते। दूसरा 'वृद्धिश्चापि विरोधिनाम्' में स्थित 'अपि' अव्यय यह सूचित करता है कि—यह आवश्यक नहीं कि दोषों की क्षीणता होने पर ही विरोधी दोष की वृद्धि हो, वा एक दोष की वृद्धि होने पर अवश्य ही

दूसरे विरोधी दोष की क्षीणता हो, प्रत्युत कहीं २ एक दोष की क्षीणता के विना भी दूसरे (विरोधी) दोष की वृद्धि, एवं एक दोष की वृद्धि के विना भी दूसरे दोष की क्षीणता हो जाती है। अतः वहां क्रमशः उस २ दोष की वृद्धि वा ह्रास ही करना होता है। अतएव त्रिविध चिकित्सा में 'क्षीणा वर्धयितव्याः, वृद्धा ह्रासयितव्याः, समाः पालयितव्याः' (सुश्रुत ने) कहा है। एवं चिकित्सा में विशेषता तथा क्षीणदोषों के लक्षण प्रतिपादन की आवश्यकता सिद्ध होती है। (प्रश्न—) जब दूसरे (विरोधी) दोष की वृद्धि के बिना भी एक दोष क्षीण हो सकता है, तो उसमें अवश्य कोई न कोई लक्षण होंगे; क्योंकि दोष का क्षीण होना भी विकृति है और विकृति का लक्षण होना आवश्यक है। एवं 'प्रदुष्टाः' से प्रकृत में भी 'क्षीणत्वेन प्रदुष्टाः' यह अर्थ भी हो सकता है; जब हो सकता है, तो इस विकृति के ही ये लक्षण होंगे। (उत्तर—) यहां 'प्रदुष्टाः' का यह अर्थ नहीं हो सकता; क्योंकि यदि 'क्षीणत्वेन प्रदुष्टाः' लिया जाय, तो यहां जो क्षीण दोषों के सुश्रुत में लक्षण कहे हैं, केवल वही लक्षण होने चाहिएं। परन्तु ऐसा नहीं है। अतः यहां 'प्रदुष्टाः' का यह अर्थ भी नहीं है। साथ ही यहां पर 'प्रदुष्टाः' यह विशेषण वात, पित्त और कफ तीनों का ही है; एवं यदि तीनों ही क्षीणत्वेन प्रदुष्ट लिये जावें, तो क्षीणदोष के विकार उत्पन्न करने में असमर्थ होने से यह विकार नहीं हो सकता; परन्तु तीनों वृद्ध होने से विकार हो सकते हैं। क्योंकि—"दोषाः प्रवृद्धाः स्वं लिङ्गं दर्शयन्ति यथाबलम्। क्षीणा जहति लिङ्गं स्वं समाः स्वं कर्म कुर्वते"–(चरकः) के अनुसार क्षीण-दोष तो अपने लक्षणों को छोड़ देते हैं, और लक्षण नहीं करते। अतः यहां 'प्रदुष्टाः' का अर्थ 'वृद्धत्वेन दुष्टाः' यह लेना चाहिए। इसका और भी विशेष अनुसन्धान विद्वान् स्वयं कर लें। अधिक विस्तृति भय से यहां नहीं लिखा जाता।

वातजग्रन्थेः स्वरूपमाह—

आयम्यते वृश्चति तुद्यते च
प्रत्यस्यते मथ्यति भिद्यते च[1]।
कृष्णो मृदुर्वस्तिरिवाततश्च
भिन्नः स्रवेच्चानिलजोऽस्रमच्छम् ॥१२॥ [सु० २।११]

वातग्रन्थि खिंचाव से दीर्घ हुई-सी, छेद, तोद, क्षेप, मन्थन और भेद की-सी पीड़ा वाली होती है। एवं वह कृष्ण वर्ण की, कोमल, मूत्राशय की तरह दीर्घ और भिन्न हुई स्वच्छ रक्त को स्रवित करती है।

मधु०—अनिलग्रन्थिमाह—आयम्यत इत्यादि। आयम्यते आकृष्य दीर्घीक्रियते। वृश्चतीति छिनत्तीव, अत्र दिवादेराकृतिगणत्वात् श्यन्प्रत्ययः। प्रत्यस्यते क्षिप्यते, मथ्यति आलोडयतीव, अत्रापि पूर्ववत् समाधानम्। भिद्यते विदीर्यत इव। अस्रं स्रावम् ॥१२॥

'अनिलग्रन्थिमाह' इत्यादि की भाषा सुगम है।

पित्तजग्रन्थेः स्वरूपमाह—

दन्दह्यते धूप्यति वृश्च्यते[2] च
पापच्यते प्रज्वलतीव चापि।

१ आयम्यते व्यथ्यते एति तोदं प्रत्यस्यते कृत्यते एति भेदम्. २ चोपचाँश्च. चातिमात्रं. चूष्यते च.

रक्तः सपीतोऽप्यथवाऽपि पित्ता-
भिन्नः स्रवेदुष्णमतीव चास्रम् ॥१३॥ [सु० २।११]

पैत्तिक ग्रन्थि अति दाहयुक्त, अति सन्तापकारक, छेद की-सी पीड़ा वाली, क्षार से अत्यर्थ पकती हुई और दाह से भस्म होती हुई-सी होती है। एवं वह पीतता सहित रक्त वर्ण वाली, अथवा रक्त वा पीत वर्ण वाली होती है, और भिन्न हुई २ उष्णरक्त को बहुत मात्रा में स्रवित करती है।

मधु०—पित्तग्रन्थिमाह—दन्दह्यत इत्यादि। दन्दह्यते अत्यर्थं दह्यते अग्निनेव। पापच्यते भृशं पच्यत इव क्षारेण, किंवा उत्क्वथ्यत इव। प्रज्वलतीव ज्वलन् भस्मीभवतीव ॥१३॥

'पित्तग्रन्थिमाह' इत्यादि की भाषा सरल है।

श्लैष्मिकग्रन्थेः स्वरूपमाह—

शीतोऽविवर्णोऽल्परुजोऽतिकण्डुः
पाषाणवत् संहननोपपन्नः।
चिराभिवृद्धश्च कफप्रकोपा-
द्भिन्नः स्रवेच्छुक्लघनं च पूयम् ॥१४॥ [सु० २।११]

श्लैष्मिक ग्रन्थि शीत, प्राकृतिक वर्ण वाली, स्वल्पपीड़ायुक्त, खाजयुक्त, पाषाण की तरह कठिन, स्वरूप में बड़ी देर से बढ़ने वाली और फटने पर श्वेत एवं गाढ़े पूय को स्रवित करती है।

मधु०—कफग्रन्थिमाह—शीत इत्यादि। अविवर्णः प्रकृतिवर्णः ईषद्विवर्ण इति कश्चित्। पाषाणवत् संहननोपपन्न इति पाषाणवत् कठिन इत्यर्थः, किंवा पाषाणवद्भवति। संहननोपपन्न इति संघातान्वितो महानित्यर्थः ॥१४॥

इसकी भाषा सरल है।

मेदोजग्रन्थेः स्वरूपमाह—

शरीरवृद्धिक्षयवृद्धिहानिः
स्निग्धो महान् कण्डुयुतोऽरुजश्च।
मेदःकृतो गच्छति चात्र भिन्ने
पिण्याकसर्पिःप्रतिमं तु मेदः ॥१५॥ [सु० २।११]

मेदोज ग्रन्थि शरीर की वृद्धि और क्षीणता के साथ २ वृद्धि और क्षीणता वाली होती है। एवं वह स्निग्ध, बड़ी, कण्डुयुक्त और स्वल्प पीडान्वित होती है। उसके फटने पर खल और घृत के समान वर्ण वाली मेदा उसमें से निकलती है।

मधु०—मेदोजग्रन्थिमाह—शरीरेत्यादि। शरीरवृद्धिक्षयवृद्धिहानिरिति शरीरवृद्धिक्षयाभ्यां यथाक्रमं वृद्धिहानी यस्य स तथा। मेदोजेष्वेवं युक्तिर्धातुस्वभावात् चिरस्थायित्वाद्वा। गच्छति चात्र भिन्ने पिण्याकसर्पिःप्रतिमं तु मेद इति भिन्ने सति पिण्याकस्तिलकल्कः, सर्पिरत्र स्त्यानं, तत्सदृशं मेदः स्रवति। भोजेन तु मेदोग्रन्थेः संप्राप्तिः पठ्यते। यथा—"मेदो वायुर्यदा

१ भिन्नः स्रवेदुष्णमतीव चाद्यम्. २ चिराभिवृद्धिश्च. ३ अल्परुजोऽतिकण्डूः.

मांसे निक्षिपेदथवा त्वचि । तत्र मेदोभवो ग्रन्थिः श्यावो भवति पाण्डुरः ॥ कृशः कृशे महान् स्थूले ग्रन्थिर्भिन्नश्च पीडितः । तिलकल्कनिभः स्रावो घृतवच्चास्य जायते ॥" इति ॥१५॥

(भोजेनेति—) भोज ने तो मेदोग्रन्थि की सम्प्राप्ति भी पढ़ी है । तद्यथा—जब प्रकुपित वायु मेद को मांस अथवा त्वचा में ले आता है (वा फेंक देता है) तो वहां श्याव (यकृत् के समान वा शाक वर्ण) वा पाण्डुर ('श्वेतरक्तस्तु पाण्डुरः' इत्यमरः) वर्ण की मेदोग्रन्थि उत्पन्न हो जाती है, जो कि कृश मनुष्य में कृश (सूक्ष्म) और स्थूल मनुष्य में स्थूल होती है; एवं भिन्न हो जाने के बाद पीड़ित हुई २ वह तिलकल्क (खल) के समान वा घृत के समान स्राव छोड़ती है । यहां 'मांसे निक्षिपेदथवा त्वचि' में मांस के बाद त्वचा शब्द देने से यह सिद्ध होता है कि यह अधिकतर मांस में होती हैं, अन्यथा क्रम-भङ्ग करने की यहां आवश्यकता न थी ।

निदानसंप्राप्तिपूर्वकं शिराजग्रन्थेः स्वरूपमसाध्यताञ्चाह—

व्यायामजातैरबलस्य तैस्तै-
राक्षिप्य वायुस्तु[1] शिराप्रतानम् ।
संकुच्य संपिण्ड्य[2] विशोष्य चापि
ग्रन्थिं करोत्युन्नतमाशु वृत्तम् ॥१६॥ [सु० २।११]
ग्रन्थिः शिराजः स तु कृच्छ्रसाध्यो
भवेद्यदि स्यात् सरुजश्चलश्च ।
स चारुजश्चाप्यचलो[3] महांश्च
मर्मोत्थितश्चापि विवर्जनीयः ॥१७॥ [सु० २।११]

उन २ व्यायाम समूहों से प्रकुपित वायु सूक्ष्म सिराजाल को आक्षिप्त, संकुचित, सम्पिण्डित, एवं विशोषित कर शीघ्र ही उन्नत एवं गोल ग्रन्थि को कर देता है । वह सिराजग्रन्थि यदि पीड़ान्वित एवं चल हो, तो कृच्छ्रसाध्य होती है; और यदि पीड़ारहित, अचल, महान् एवं मर्मस्थानों में उत्पन्न हो तो वर्ज्य है ।

मधु०—सिराजग्रन्थेः संप्राप्तिमाह—व्यायामजातैरित्यादि । संकुच्येत्यन्तर्भावितोऽत्र णयर्थः, तेन संकोच्येत्यर्थः । संपिण्ड्येति संहतीकृत्य । उन्नतमाशु वृत्तमिति अस्य सामान्यलक्षणेनैव सिद्धे पुनस्तदुक्तिरतिशयार्थम् । स च सिराजो ग्रन्थिर्यदि सरुजश्चलश्च स्यात्तदा कृच्छ्रसाध्यः । स चारुजश्चापीत्यादिना न साध्यः । स चेति चकारेणारुजत्वादिधर्मयोगादपरेऽपि ग्रन्थयोऽसाध्या इति सूचयति । यदुक्तं भोजे—"पञ्चैतानरुजो ग्रन्थीन् मर्मजानचलांस्त्यजेत् । कपोलगलमन्यासु दुश्चिकित्स्याश्च सन्धिषु ॥" इति । अन्ये तु मांसासृग्भ्यां षष्ठं ग्रन्थिं वदन्त एवं पठन्ति—मांसास्रजं चार्बुदलक्षणेन तुल्यं हि दृष्टं त्वथ लक्षणज्ञैः ॥" इति । किंत्वनार्षोऽयं पाठः, भोजादिसमानतन्त्रेष्वदृष्टत्वात् ॥१६-१७॥

---

१ वायुर्हि. २ संपीड्य सङ्कोच्य विशोष्य चापि. ३ अरुक् स एवाप्यचलो महांश्च. अल्परुक् स एवाविचलो महांश्च.

'स च' इसमें चकार शब्द से यह सार निकलता है कि अरुजत्वादि धर्म के सम्बन्ध से दूसरी ग्रन्थियाँ भी असाध्य होती हैं। जैसे भोज ने कहा भी है कि 'इन पीड़ारहित, मर्मों में उत्पन्न एवं अचल पाँचों ग्रन्थियों को (वैद्य) छोड़ दे। कपोल, गल, मन्या और सन्धियों में होने वाली दुश्चिकित्स्य होती हैं'। दूसरे आचार्य मांस और रक्त से छठी ग्रन्थि होती है, ऐसा मानते हुए यह पाठ पढ़ते हैं कि—मांसज और अस्रज अर्बुद लक्षणज्ञ आचार्यों ने अर्बुदों के लक्षणों के समान लक्षणों वाले होते हैं, यह माना है। किन्तु यह पाठ अनार्ष है, क्योंकि भोज आदि समान शास्त्रों में यह नहीं दीखता।

अर्बुदस्य संप्राप्तिमाह—

गात्रप्रदेशे क्वचिदेव दोषाः
संमूर्च्छिता मांसमसृक् प्रदूष्य।
वृत्तं स्थिरं मन्दरुजं महान्त-
मनल्पमूलं चिरवृद्ध्यपाकम् ॥१८॥ [सु० २।११]
कुर्वन्ति मांसोच्छ्रयमत्यगाधं
तदर्बुदं शास्त्रविदो वदन्ति।

प्रकुपित वातादि दोष किसी भी गात्र प्रदेश में मांस और रक्त को प्रदूषित कर, अथवा वातादि दोष किसी भी गात्रप्रदेश में प्रकुपित होकर मांस और रक्त को प्रदूषित कर गोल, स्थिर, अल्प पीड़ा वाले, विशालाकृति, विशालमूल, देर में बढ़ने और पकने वाले, अतिगम्भीर मांसोच्छ्रय (मांस के उठाव) को कर देते हैं, और उसी मांसोच्छ्रय को शास्त्रज्ञ अर्बुद कहते हैं।

तद्भेदानाह—

वातेन पित्तेन कफेन चापि
रक्तेन मांसेन च मेदसा वा ॥१९॥ [सु० २।११]
तज्जायते तस्य च लक्षणानि
ग्रन्थेः समानानि सदा भवन्ति।

वह अर्बुद वात, पित्त, कफ, रक्त, मांस और मेद से होता है और उसके लक्षण सदा ग्रन्थि के समान होते हैं।

मधु०—मांसशोणितदूष्यसाम्यादर्बुदाभिधानम्। तस्य संप्राप्तिमाह—गात्रप्रदेशे क्वचि-दित्यादि। क्वचिदेवेत्यनेनानियतदेशे, न पुनरपचीवन्नियतदेशे। 'संमूर्च्छिता' इति पाठान्तरे संमूर्च्छिता वृद्धाः, दूष्यसंसृष्टा इति कार्तिकः। मांसमसृक् प्रदूष्येति सर्वार्बुद[illegible] दुष्टं, मांसा-र्बुदमेदोर्बुदयोस्तु विशेषेण मांसदुष्टिः; मांसार्बुदमेदोर्बुदयोर्[illegible] तेन [illegible]

१ अर्बुद युनानीवैद्यके 'सलआ' इति नाम्ना [illegible] — ([illegible]) इति नाम्ना प्रसिद्धम्, २ मांसमभिप्रदूष्य, ३ 'वृत्तं स्थिरं [illegible]' इति आतङ्कदर्पणे पाठान्तरम्, ४ मांसोच्चयं तु [illegible]. ५ [illegible] ट्यूमर (Fatty tumour) इति नाम्ना प्रसिद्धम्.

दोषकर्तृतया संप्राप्तिरियं भवति। मांसोच्छ्रयमिति मांसोच्छ्रयतया प्रतीयमानम्। मेदोजेऽपि मांसमुद्गतं भवति। अल्पगाधमिति दूरानुप्रविष्टम्; अत एवानल्पमूलमित्युक्तम्। वातादिभिस्तदर्बुदं जायते भवति, तेन षडर्बुदानि भवन्ति। ग्रन्थेः समानानीति वातपित्तकफमेदोग्रन्थिभिर्वातपित्तकफ-मेदोर्बुदानां लक्षणानि समानानि, शोणितजमांसजयोस्तु लक्षणं पृथक् वक्ष्यति ॥१८–१९॥

इसकी भाषा सरल ही है।

रक्तार्बुदस्य संप्राप्तिपूर्वकं लक्षणमाह—

दोषः प्रदुष्टो रुधिरं शिराश्च[1]
संकुच्य संपिण्ड्य ततस्त्वपाकम्[2] ॥२०॥ [सु० २।११]
सास्रावमुन्नह्यति मांसपिण्डं
मांसाङ्कुरैराचितमाशुवृद्धम्[3] ।
करोत्यजस्रं रुधिरप्रवृत्ति-[4]
मसाध्यमेतद् रुधिरात्मकं[5] तु[6] ॥२१॥ [सु० २।११]
रक्तक्षयोपद्रवपीडितत्वात्
पाण्डुर्भवेदर्बुदपीडितस्तु ।

प्रदुष्ट दोष रुधिर और सिराओं को सङ्कुचित एवं सम्पिण्डित (भली प्रकार पिण्डवत् वर्तुल) कर पाकरहित, अल्प स्राव वाले, मांसाङ्कुरों से युक्त (व्याप्त वा निचित) शीघ्र प्रवृद्ध मांसपिण्ड को उच्छ्रित (ऊपर की ओर उठाव वाला) करता है, तथा निरन्तर रक्तप्रवृत्ति भी करता है। अथवा प्रदुष्ट दोष होकर रक्त और सिराओं को सङ्कुचित एवं सम्पिण्डित कर ईषत् पाक वाले, स्रावयुक्त शीघ्र बढ़ने वाले मांसपिण्ड को मांसाङ्कुरों से व्याप्त करता है, तथा निरन्तर रक्त प्रवृत्ति को करता है। आचार्य सुश्रुत इसकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं कि 'प्रदुष्ट दोष सिराओं में जाकर रुधिर को संपीड़ित कर एवं संकुचित कर मांस पिण्ड को ऊपर की ओर उठाता है' और स्रावादि मांसपिण्ड के विशेषण हैं। एवं यह रुधिरात्मक अर्बुद असाध्य होता है। इसमें अर्बुदपीड़ित मनुष्य रक्तक्षय के उपद्रवों से पीड़ित होने के कारण, वा रक्तक्षयरूप उपद्रव से पीड़ित होने के कारण पाण्डु-वर्ण का हो जाता है। रक्तक्षय के उपद्रव सुश्रुत ने अपने श्लोकस्थान में इस प्रकार बतलाए हैं कि—"शोणितक्षये त्वक्पारुष्यमम्लशीतप्रार्थनासिराशैथिल्यञ्च"–(सु. सू. स्था. अ. १५)।

मधु०—रक्तार्बुदमाह—दोषः प्रदुष्ट इत्यादि। संकुच्येति अन्तर्भावितोऽत्र ण्यर्थः। अपाकमीषत्पाकं, तेन सास्रावमित्युपपन्नं भवति। दोष उन्नह्यति उच्छ्रितो भवति। सास्रावमीषत्स्रावम्। मांसपिण्डमाशुवृद्धं शीघ्रवर्धनं, मांसाङ्कुरैराचितं करोति, तथा अजस्रं रुधिरप्रवृत्तिमपि करोति;

१ शिरास्तु. २ संपीड्य सङ्कोच्य गतस्तु पाकम्. ३ आशुवृद्धिम्. ४ स्रवत्यजस्रं रुधिरं प्रदुष्टम्. ५ रक्तार्बुदम्-आङ्ग्लभाषायां 'कॅन्सर' (Cancer) इति नाम्ना प्रसिद्धम्. ६ स्यात्.

रुधिरं चात्राधिष्ठानभूतं सिरागतं प्रवर्तते न तु पाकात्, ईषदेव स्रावस्य क्लेदरूपस्योक्तत्वात् । किंवा उन्नह्यतीत्यन्तर्भावितण्यर्थः, तेन मांसपिण्डमुन्नाहयति उद्वृत्तं करोति । 'दोषाः प्रदुष्टा' इति पाठपक्षे 'स्रावमुन्नह्य हि' इति पाठः । उन्नह्य उन्नाह्य, अन्तर्भावितण्यर्थत्वात् । हि पादपूरणे ॥२०-२१॥

स्पष्टमेव ।

मांसार्बुदस्य निदानसंप्राप्तिपूर्वकं लक्षणमाह—

मुष्टिप्रहारादिभिरर्दितेऽङ्गे
मांसं प्रदुष्टं जनयेद्धि शोथम् ॥२२॥ [सु० २।११]
अवेदनं स्निग्धमनन्यवर्ण-
मपाकमश्मोपममप्रचाल्यम् ।
प्रदुष्टमांसस्य नरस्य गाढ-
मेतद् भवेन्मांसपरायणस्य ॥२३॥ [सु० २।११]
मांसार्बुदं त्वेतदसाध्यमुक्तं,

मुष्टि ('मुक्की' इति) प्रहारादि से अङ्ग के पीड़ित होने पर प्रदुष्ट मांस वेदनारहित, स्निग्ध, प्राकृतिक वर्ण वाले, पाकरहित, पत्थर के तुल्य और अप्रचाल्य (जो चल-चरणशील न हो) शोथ को उत्पन्न कर देता है । प्रदुष्ट मांस वाले एवं मांसभक्षणशील मनुष्य का यह शोथ (अर्बुद) गाढ़ (अतिगम्भीर) होता है । यह शोथ मांसार्बुद कहलाता है, और असाध्य कहा है । यहां 'मुष्टिप्रहारादिभिः' के स्थान में कई आचार्य 'काष्ठप्रहारादिभिः' यह पाठ पढ़ते हैं; दोनों प्रकारों से कोई दोष नहीं आता, कारण कि दोनों से ही यह हो सकता है; जहाँ काष्ठ पाठ है, वहां आदि शब्द मुष्टि आदि का, और जहां मुष्टि पाठ है, वहां आदि शब्द से काष्ठ आदि का ग्रहण हो जाता है ।

मधु०—मांसजन्यसंप्राप्तिमाह—मुष्टिप्रहारादिभिरित्यादि । अश्मोपमं पाषाणवत् कठिनम् । अप्रचाल्यं स्थिरम् । यद्यपि रक्तमांसार्बुदयो रक्तमांसयोर्हेतुत्वेनोक्तिस्तथाऽपि रक्तजे पित्तं, मांसजे वायुरारम्भकः, एवमपि ताभ्यां घृतदुग्धन्यायेन व्यपदेशः । मांसपरायणस्य मांसाशनशीलस्य । तस्य चातिमात्रं मांसवृद्धिः, "मांसं मांसेन वर्धते" इत्यभिधानात् ॥२२-२३॥

(यद्यपीति—) यद्यपि रक्तार्बुद और मांसार्बुद का कथन इन २ कारणों से है, तथापि रक्तार्बुद में पित्त और मांसार्बुद में वायु ही आरम्भक है; इस प्रकार भी उनका निर्देश घृत-दुग्ध-न्याय की तरह है । इसका भाव यह है कि सिद्धान्तरूप से वात, पित्त और कफ ये तीन दोष तथा रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र ये सात दूष्य होते हैं । जब भी व्याधि उत्पन्न होती है तभी वातादि दोषों के रसादि दूष्यों को यथायुक्त दूषित करने पर ही होती है । एवं वातादि दोष कारण होते हैं, जैसे कहा भी है कि—'भिषक् कर्ताऽथ करणं रसा दोषास्तु कारणम्' (सु. उ. तं. अ. ६२) । जब ऐसा है, तो यहाँ

१ मांसार्बुदमाङ्ग्लभाषायां 'मायोमा' (Myoma) इति नाम्ना प्रसिद्धम्. २ प्रकरोति-पाठान्तरम्. ३ पाठम्.

इस बात से विरोध आता है, क्योंकि यहां रक्तार्बुद और मांसार्बुद में रस और मांस को कारण रूप से माना है। इसी बात को लक्ष्य रख कर आचार्य रक्षित ने यह कहा है कि—यद्यपि रक्तार्बुद में रक्त और मांसार्बुद में मांस का अभिधान इनके कारण होने से किया है, तथापि वस्तुतः रक्तार्बुद में पित्त और मांसार्बुद में वायु ही आरम्भक है और आरम्भक होने से वास्तविक कारण ये दोष ही हैं, रक्त और मांस को कारण होने से कथन तो उपचार से है।

तस्य असाध्यतालक्षणमाह—

साध्येष्वपीमानि तु वर्जयेच्च।
संप्रस्रुतं मर्मणि यच्च जातं
स्रोतःसु वा यच्च भवेदचाल्यम् ॥२४॥ [सु० २।११]

साध्य अर्बुदों में से भी स्रावयुक्त, मर्मों में उत्पन्न, नासादि स्रोतों में उत्पन्न और स्थिर, इन अर्बुदों को छोड़ देना चाहिए।

वक्तव्य—भाव यह है कि पहले कुछ अर्बुद स्वरूपतः साध्य और कुछ अर्बुद स्वरूपतः असाध्य कहे हैं; एवं जो स्वरूपतः साध्य कहे हैं, वे भी जब स्रावयुक्त आदि लक्षणों से युक्त हो जाते हैं, तब असाध्य हो जाते हैं।

मधु०—साध्येष्वप्यसाध्यप्रकारानाह—साध्येष्वपीत्यादि। संप्रस्रुतं स्रावयुक्तं, स्रावश्चात्रापाकित्वेऽपि त्वगवदरणान्मनागवगन्तव्यः। स्रोतःसु नासादिषु। अचाल्यं स्थिरम् ॥२४॥

साध्येष्वपीत्यादि की भाषा सरल है।

अध्यर्बुद(द्विरर्बुद)स्य लक्षणमाह—

यज्जायतेऽन्यत् खलु पूर्वजाते
ज्ञेयं तदध्यर्बुदमर्बुदज्ञैः।

पूर्वोत्पन्न अर्बुद के ऊपर जो दूसरा और अर्बुद उत्पन्न हो जाता है, अर्बुदज्ञ विद्वानों को वह अध्यर्बुद जानना चाहिए।

यद्द्वन्द्वजातं युगपत् क्रमाद्वा
द्विरर्बुदं तच्च भवेदसाध्यम् ॥२५॥ [सु० २।११]

जो अर्बुद एक साथ का वा क्रमशः द्वन्द्वज होता है, वह द्विरर्बुद होता है, और असाध्य होता है। अधिकतः उक्त पद्य का अर्थ आचार्य इस प्रकार करते हैं कि—जो पूर्वोत्पन्न अर्बुद के ऊपर अर्बुद होता है, वह अध्यर्बुद होता है; तथा जो युगपत् वा क्रम से युग्मरूप से होता है, वह द्विरर्बुद होता है; यहां 'तच्च' में स्थित चकार इस प्रकार का बोध कराता है कि ये दोनों द्विरर्बुद हैं, और असाध्य हैं। यहां आचार्य डल्हण भी दोनों को द्विरर्बुद ही मानते हैं। तद्यथा—"अध्यर्बुदमपि द्विरर्बुदमेव, अन्ये 'अत्यर्बुदम्' इति पठन्ति। यद्द्वन्द्वजातमित्यादि द्वन्द्वेन युग्मेन जातं द्वन्द्वजातं, न केवलमध्यर्बुदं द्विरर्बुदं, यद्द्वन्द्वजातं तदपि द्विरर्बुदमित्यर्थः" इति डल्हणः। ऊपर दोनों प्रकार की व्याख्याएं रख दी हैं। अध्यर्बुद और द्विरर्बुद दो स्वीकार करने से भी कोई दोष नहीं, क्योंकि इनमें प्रत्यक्ष यह भेद है कि

होने से भी यह नहीं पकते क्योंकि अपची में कुछ काल बाद रक्त, पित्त अधिक होकर पाक प्रारम्भ कर देते हैं; परन्तु यहां सदा दोष के समान रहने से तथा ग्रथित होने से वह पाकारम्भक नहीं है। अन्य आचार्य तो 'दोषस्थिरत्वात्' से 'दोषोच्छ्रायरूप शोथ के कठिन होने से' यह अर्थ लेते हैं; परन्तु यह अप्रयोजक है, क्योंकि दूसरे स्थानों पर दोषोच्छ्रायरूप शोथ के कठिन होने पर भी पाक दीखता है। (प्रश्न—) यदि ऐसा है, तो यहां हेतु की सम्पत्ति कैसे हो सकती है? (उत्तर—) निसर्गत इति। अर्थात् व्याधि के स्वभाव से ही यहां पाक नहीं होता। भोज में भी कहा है कि—स्थिर होने से, ग्रथित होने और अपाकरूप स्वभाव होने से (अर्बुद) पकता नहीं है।

अथ श्लीपदनिदानम्।

श्लीपदसंप्राप्तिमाह—

यः सज्वरो वङ्क्षणजो भृशार्तिः
शोथो नृणां पादगतः क्रमेण।
तच्छ्लीपदं स्यात् करकर्णनेत्र-
शिश्नौष्ठनासास्वपि केचिदाहुः ॥१॥

जो ज्वरसहित, वंक्षण में होने वाला, अतिपीड़ाप्रद शोथ क्रमशः मनुष्यों के पैरों में पहुंच जाता है, वह श्लीपद होता है। कई आचार्य हाथ, कर्ण, आँख, लिङ्ग और नासादि में भी यह होता है, यह कहते हैं।

वक्तव्य—श्लीपद[1] वा हाथीपाँव प्रायः श्लेष्म प्रकृति वाले मनुष्यों को और प्रायः आनूप देशों में होता है। यह पादगुल्फों में, पाओं की तली में होता है, और बढ़कर पिण्डलियों और ऊपर जङ्घाओं तक हो जाता है। इसमें लक्षण शोथरूप में प्रकट होते हैं और शोथ इतना बढ़ता है कि रुग्ण अङ्ग हाथी के पाँवों जैसा मोटा हो जाता है, और उसमें से सड़ाव के कारण अत्यधिक दुर्गन्धि आने लगती है। हाथी के पाँव जैसा मोटा पाँव होने के कारण ही इस रोग को 'फील (हाथी) पाँव' कहा जाता है। ऊपर वक्तव्य में कहा है कि पहले शोथ पादगुल्फों में होता है, तदनु ऊपर की ओर बढ़ता है; परन्तु सम्प्राप्ति में प्रकुपित दोष नीचे की ओर क्रमशः वंक्षण, ऊरु और जङ्घाओं में ठहरते हुए कुछ काल बाद पाँव में आते हैं, यह कहा है; इस प्रकार भी कोई दोष नहीं आता, क्योंकि प्रकुपित दोष क्रमशः पाँओं में आकर ही पूर्व शोथ करते हैं, तदनु वह शोथ ऊपर की ओर जाता है। यही बात सुश्रुत ने भी कही है कि—"कुपितास्तु दोषा वातपित्तश्लेष्माणोऽधः प्रपन्ना वंक्षणोरुजानुजङ्घास्ववतिष्ठमानाः कालान्तरेण पादमाश्रित्य शनैः शोफं जनयन्ति, तं श्लीपदमित्याचक्षते"–(सु. नि. स्था. अ. १२)। एवं यह

१ नाम—सं० श्लीपद, पं० हाथीपाँव, अ० दाय् उल् फील, इ० एलिफेन्टीएसिस (Elephantiasis).

श्लीपद तीन प्रकार का होता है—१ वातिक, २ पैत्तिक और ३ श्लैष्मिक। यथोक्तमपि तन्त्रान्तरे "श्लीपदञ्च त्रिधा प्रोक्तं वातात्पित्तात्कफादपि" इति। सुश्रुतोऽप्याह यथा—"तत्त्रिविधं-वातपित्तकफनिमित्तमिति"-(सु. नि. स्था. अ. १२) इति। श्लीपद यह नाम निरुपाधिक (निरर्थक) है; परन्तु कई आचार्य 'शिलावत् पदमिति श्लीपदम्' यह निरुक्ति कर नैरुक्त्य विधि से सिद्ध करते हैं, जो कि ठीक है। श्लीपद यह उपलक्षणमात्र ही है; क्योंकि यही रोग हाथ आदि में भी होता है। जैसे सुश्रुत ने भी कहा है कि "पादवद्धस्तयोश्चापि श्लीपदं जायते नृणाम्। कर्णाक्षिनासिकौष्ठेषु केचिदिच्छन्ति तद्विदः"-(सु. नि. स्था. अ. १२) इति।

वातिकश्लीपदस्य स्वरूपमाह—

वातजं कृष्णरूक्षं च स्फुटितं तीव्रवेदनम्।
अनिमित्तरुजं तस्य बहुशो ज्वर एव च ॥२॥

वातिक श्लीपद कृष्णवर्ण, रूक्ष, स्फुटित, तीव्र पीड़ान्वित, बिना कारण ही पीड़ायुक्त और प्रायः ज्वर युक्त होता है। 'अनिमित्तरुजम्' का अर्थ यह है कि इसमें पीड़ा अभिघातादि कारण के बिना ही होती है, और शान्त भी हो जाती है।

पैत्तिकश्लीपदस्य स्वरूपमाह—

पित्तजं पीतसंकाशं दाहज्वरयुतं मृदु।

पैत्तिक श्लीपद पीतावभास, दाहयुक्त, ज्वरान्वित और मृदु स्पर्श वाला होता है।

श्लैष्मिकश्लीपदस्य लक्षणमाह—

श्लैष्मिकं स्निग्धवर्णं च श्वेतं पाण्डु गुरु स्थिरम् ॥३॥

श्लैष्मिक श्लीपद स्निग्धावभास, श्वेतवर्ण, पाण्डुवर्ण, भारी और स्थिर होता है।

मधु०—उत्सेधसाधर्म्यादर्बुदेन सह कफसंबन्धाव्यभिचारसाम्याच्चाथ श्लीपदनिदानम्। तस्य संप्राप्तिमाह—य इत्यादि। वङ्क्षणावस्थानमेवास्य पूर्वरूपम्। क्रमेणेति शनैः शनैः। तच्छ्लीपदं स्यादित्यनेन निरुपाधिरेवेयं संज्ञेति दर्शयति, अन्ये शिलावत् पदं श्लीपदमिति वदन्ति, नैरुक्त्येन च विधिना साधुत्वम्। करकर्णादिगतश्लीपदानां यथोक्तसंप्राप्त्यभावात् केचिदाहुरिति परमतेनोक्तिः ॥१-३॥

इसकी भाषा सरल ही है।

श्लीपदस्य प्रत्याख्येयतामाह—

वल्मीकमिव संजातं कण्टकैरुपचीयते।
अब्दात्मकं महत्तच्च वर्जनीयं विशेषतः ॥४॥

१ सर्वात्मवान्.

वल्मीक की तरह शिखराकारों में प्रवृद्ध, कण्टकों से उपचित, एक वर्ष का पुराना और विशालाकृति श्लीपद वर्ज्य है।

मधु०—एषामसाध्यतामाह—वल्मीकमिवेत्यादि । संजातं प्रवृद्धं सत् वल्मीकवद्बहुशिखराकारं ग्रन्थिभिरुपचितं यद्भवति तदसाध्यम् । अन्ये तु पुनरमुं ग्रन्थिं कफजलक्षणत्वेन वर्णयन्ति; तन्न मनो धिनोति, सुश्रुते वल्मीकवज्जातस्यासाध्यत्वेनाभिधानात् । तद्यथा—"तत्र संवत्सरातीतमतिमहद्वल्मीकमिव संजातं संप्रस्रुतमिति वर्जनीयानि भवन्ति ॥" (सु. नि. स्था. अ. १२) इति । अब्दात्मकमित्यादि । अब्दात्मकं संवत्सरातीतम्, अब्दमेकमिति पाठे तु 'अतिक्रान्तम्' इति शेषः । महदिति अत्यन्तमुच्छूनम् । वर्जनीयं विशेषत इति प्रत्याख्येयम् ॥४॥

अन्य आचार्य तो इस ग्रन्थि को कफज के लक्षणों से कहते हैं; परन्तु यह मन को अच्छी बात नहीं लगती, क्योंकि सुश्रुत में वल्मीकवज्जात को असाध्यपन से कहा है कि—'उनमें से एक वर्ष से पुराना, बहुत बड़ा, वल्मीक की तरह प्रवृद्ध और प्रस्रुत—ये श्लीपद वर्ज्य हैं'।

श्लीपदेषु बलासस्याव्यभिचारेण प्राधान्यमाह—

त्रीण्यप्येतानि जानीयात्श्लीपदानि कफोच्छ्रयात् ।
गुरुत्वं च महत्त्वं च यस्मान्नास्ति कफं विना ॥५॥ [सु० २।१२]

ये तीनों ही श्लीपद कफ की अधिकता से जानने चाहिएँ, क्योंकि गुरुता और महत्ता कफ के बिना नहीं होती ।

मधु०—श्लीपदेषु कफस्याव्यभिचारेण प्राधान्यमाह—त्रीण्यप्येतानीत्यादि । ननु, यद्यव्यभिचारी सर्वत्र कफः कथं तर्ह्येकदोषजत्वव्यपदेशः, सर्वस्य द्विदोषजत्वप्रसङ्गात् ? उच्यते, अनुबन्धोऽत्र कफः, न त्वनुबन्ध्यः; एतेनात्र न द्विदोषजप्रसङ्ग इत्यभिप्रायः ॥५॥

(प्रश्न—) यदि कफ सर्वत्र अव्यभिचरितरूप से है, तो इनका एक २ दोष से व्यपदेश क्यों किया है ? क्योंकि सर्वत्र द्विदोषजत्व प्रसङ्ग आता है । (उत्तर—) यहां कफ अनुबन्धरूप से है, न कि अनुबन्ध्यरूप से; अतएव यहां द्विदोषजप्रसङ्ग नहीं है ।

श्लीपदजनकदेशमाह—

पुराणोदकभूयिष्ठाः सर्वर्तुषु च शीतलाः ।
ये देशास्तेषु जायन्ते श्लीपदानि विशेषतः ॥६॥ [सु० २।१२]

जो देश पुराणोदक बहुल (पुराने संचित जल का प्रयोग अधिक करने वाले) और सभी ऋतुओं में शीतल हैं, विशेषतः उन्हीं देशों में श्लीपद होते हैं ।

मधु०—श्लीपदसंभवहेतुं देशमाह—पुराणोदकेत्यादि । अनूपदेशे हि सलिलं पतितं बहूदकं निम्नतया न शोषमुपयाति; जाङ्गले त्वाग्नेयोन्नतभूभागत्वान्न पुराणोदकभूयिष्ठता । स्तिमितस्यानूपस्य मन्दातपत्वेनोष्णर्तावपि शीततेत्यत उक्तं–सर्वर्तुषु च शीतला इति । करकर्णादिगतश्लीपदसंदेहे कोपद्वारेण ज्वरेण च श्लीपदावधारणं करणीयम् ॥६॥

इसकी भाषा सरल ही है ।

चरक ने इस प्रकार कही है कि—"शीतकान्नविदाह्युष्णरूक्षशुष्कातिभोजनात् । विरुद्धाजीर्णसंक्लिष्टविषमासात्म्यभोजनात् । व्यापन्नबहुमद्यत्वाद्वेगसन्धारणाच्छ्रमात् । जिह्मव्यायामशयनादतिभाराध्वमैथुनात् । अन्तःशरीरे मांसासृगाविशन्ति यदा मलाः । तदा सञ्जायते ग्रन्थिर्गम्भीरस्थः सुदारुणः" इति (च. सू. स्था. अ. १७)। इनके स्थान तथा विशेष लक्षण आगे आचार्य स्वयं ही कहेंगे ।

तद्भेदानाह—

विज्ञेयः षड्विधश्च सः ॥२॥

पृथग्दोषैः समस्तैश्च क्षतेनाप्यसृजा तथा ।
षण्णामपि हि तेषां तु लक्षणं संप्रचक्ष्यते ॥३॥ [सु० २।६]

वह विद्रधि छः प्रकार की जाननी चाहिए । (तद्यथा—) १ वात से, २ पित्त से, ३ कफ से, ४ सन्निपात से, ५ क्षत से और ६ रक्त से । इस प्रकार विद्रधि रोग छः प्रकार का कहा है । (अब आगे) इन सब के लक्षण कहे जाते हैं ।

मधु०—शोथत्वसामान्याद्विद्रधिनिदानम् । तस्य संप्राप्तिमाह–त्वग्रक्तमांसमेदांसीत्यादि। घोरमित्यन्येभ्योऽपि शोथसमुत्थानेभ्यो ग्रन्थ्यादिभ्य आशुकारित्वाद्दारुणम् । उच्छ्रिता भृशमिति अत्यर्थं वृद्धाः । अस्थिसमाश्रिता इत्यनेन स्थानसंश्रयोऽभिहितः । उच्छ्रिता भृशमित्यनेन प्रकोप आविष्कृतः, एतेनैवान्तरीयकतया चयप्रसरावप्याक्षिप्तौ मन्तव्यौ । महामूलमस्थ्यादिसमाश्रयणाद्गम्भीरमूलम् । रुजावन्तमिति उत्पत्तावेव रुजापकर्षवन्तं, अतिशायने मतुप् । वृत्तमित्यादि । वृत्तं वर्तुलम् । आयतं दीर्घम् । वृत्तायताभ्यां ग्रन्थ्यादिविलक्षणता । विद्रधिरिति ख्यात इति इतिशब्देन निरुपाधिसंकेतमात्रा विद्रधिसंज्ञेति दर्शयति । चरके तु विदाहप्रकर्षाद्विद्रधिसंज्ञा । यदुक्तं— "स वै शीघ्रविदाहित्वाद्विद्रधीत्यभिधीयते ॥" (च. सू. स्था. अ. १७) इति ॥१-३॥

'स विद्रधिरिति ख्यातः' इस शब्द से आचार्य यह दिखाते हैं कि यह विद्रधि संज्ञा निरुपाधिक है; परन्तु चरक में तो विदाह की अधिकता होने से इसकी विद्रधि संज्ञा दी है । जैसे उसने कहा भी है कि—'स वै शीघ्रविदाहित्वाद्विद्रधीत्यभिधीयते' ।

वातिकविद्रधेः स्वरूपमाह—

कृष्णोऽरुणो वा विषमो भृशमत्यर्थवेदनः ।
चित्रोत्थानप्रपाकश्च विद्रधिर्वातसंभवः ॥४॥ [सु० २।६]

वातिक विद्रधि कृष्ण वा अरुणवर्ण, अत्यर्थ विषम (कभी २ स्वल्प और कभी २ महान्), अत्यर्थ पीड़ान्वित, नाना प्रकार से उत्पत्ति तथा नाना प्रकार से पकने वाली होती है ।

मधु०—वातिकमाह—कृष्ण इत्यादि। विषमो भृशमिति कदाचिदल्पः कदाचिन्महान्। चित्रोत्थानप्रपाक इति चित्रौ नानाविधौ वायोर्विषमक्रियत्वादुद्गमप्रपाकौ यस्य स तथा ॥४॥

'वातिकमाह' की भाषा सरल है ।

पैत्तिकविद्रधेः स्वरूपमाह—

पक्कोदुम्बरसंकाशः श्यावो वा ज्वरदाहवान् ।
क्षिप्रोत्थानप्रपाकश्च विद्रधिः पित्तसंभवः ॥५॥ [सु० २।६]

पित्त से होने वाली विद्रधि पके गूलर फल के समान, श्याववर्ण, ज्वरयुक्त, दाहान्वित, शीघ्रोत्पत्तिशील एवं शीघ्र पकने वाली होती है ।

मधु०—पैत्तिकमाह—पक्केत्यादि । ज्वरदाहावुत्थानकाल एव, पाककाले तु प्रकर्षवन्तौ ताविति विशेषः ॥५॥

पैत्तिकमाह की भाषा सुगम है ।

श्लैष्मिकविद्रधेः स्वरूपं दर्शयति—

शरावसदृशः पाण्डुः शीतः स्निग्धोऽल्पवेदनः ।
चिरोत्थानप्रपाकश्च विद्रधिः कफसंभवः ॥६॥ [सु० २।६]

शराव (प्याले) के समान आकृति (महान् आकार) वाली, पाण्डुवर्ण, शीत स्पर्श वाली, स्निग्ध, स्वल्पपीड़ान्वित, देर में उत्पत्ति और प्रपाक वाली विद्रधि कफसम्भव (कफज) होती है ।

मधु०—कफजमाह—शरावेत्यादि । शरावसदृश इति महत्त्वसूचनपरम् ॥६॥

इसकी भाषा स्पष्ट ही है ।

उक्तविद्रधीनामास्रावलिंगमाह—

तनुपीतसिताश्चैषामास्रावाः क्रमशः स्मृताः ।

वात, पित्त और कफ से क्रमशः पतला, पीत और श्वेत स्राव होते हैं ।

मधु०—पाकानन्तरं संभूतास्रावलिङ्गमाह—तनुपीतसिताश्चैषामित्यादि । क्रमश इति यथाक्रमं; तेन वातेन तनुः, पित्तेन पीतः, कफेन सितः; तनुस्रावे वातानुरूपो वर्णो ज्ञेयः ।

इसकी भाषा सरल है ।

सान्निपातिकविद्रधेर्लक्षणमाह—

नानावर्णरुजास्रावो घाटालो विषमो महान् ॥७॥ [सु० २।६]
विषमं पच्यते चापि विद्रधिः सान्निपातिकः ।

कृष्ण, पीत, शुक्ल, अरुणादि अनेक वर्णों वाली, तोद, दाह, कण्डु आदि पिड़ाओं से युक्त, तनु, पीत, सित (श्वेत) आदि अनेक स्रावों वाली, घाटाल (अर्थात् अत्युन्नताग्र), असम, विशालाकृति और विषमता से पकने वाली विद्रधि सान्निपातिक होती है ।

मधु०—सन्निपातजमाह—नानेत्यादि । नानावर्णरुजास्राव इति नानाशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते, नाना बहुविधा वर्णाः कृष्णपीतशुक्लवर्णाः, रुजास्तोददाहकण्ड्वादिकाः, तनुपीतसिता आस्रावाश्च यस्य स तथा । अन्यत्र शोथे पाककाले नानारुजा, अत्र तु सर्वदा । घाटाल इति घाटा अस्यास्ति स घाटाल इति मत्वर्थीयो लच्, अत्युच्छ्रिताग्रत्वेन घाटाल इव । विषमोऽसाम्य-

१ घोरो.

त्वात् । विषमं पच्यत इति चिराचिरगम्भीरोत्तानोर्ध्वानूर्ध्वभेदेन विषमं यथा भवति तथा पच्यत इति विषमसमम् । ननु, विषमपाकित्वं वातिके विद्रधावुक्तं, तथाऽनुपक्रान्ते च शोथे; यथा- "योऽभ्युत्थितोऽल्पो यदि वा महान् स्यात् क्रियां विना पाकमुपैति शोथः । विशालमूलो विषमो विदग्धः स कृच्छ्रतां यात्यवगाढदोषः ॥" (सु. सू. स्था. अ. १७) इति; अतः संशये कथं मिथो भेदप्रतीतिः ? उच्यते, वातिकेऽप्रतीकारेणैव विषमपाकित्वम्, इह पुनः प्रतीकारेऽपि वैषम्यं; वातिके तु पाकमात्रवैषम्यं, न तु गाम्भीर्यादिना, अतो वातिकः साध्यः ॥७॥

(प्रश्न—) विषमपाकीपन तो वातिक विद्रधि में भी कहा है, तथा—प्रमादादिवशतः उपेक्षित शोथ में भी कहा है कि—'जो अल्पोत्थित वा महान् उत्थित शोथ चिकित्सा के न करने से पक जाता है, वह विशाल मूल वाला, विषम(असम)पाकी एवं आभ्यन्तर पूय वाला शोथ कृच्छ्रसाध्य हो जाता है' । एवं जब यहां इस प्रकार का संशय है, तो इनमें भेद कैसे प्रतीत होगा ? (उत्तर—) वातिक विद्रधि में पाकपन चिकित्सा न करने पर ही होता है; परन्तु यहां प्रतिकार करने पर भी विषमपाकता है; वातिक विद्रधि में तो पाकमात्र में ही विषमता है, न कि गम्भीरता आदि से; अतः वातिक विद्रधि साध्य है ।

अभिघातजविद्रधेः निदानपूर्विकां संप्राप्तिमाह—

तैस्तैर्भावैरभिहते क्षते वाऽपथ्यकारिणः ॥८॥ [सु० २।६]
क्षतोष्मा वायुविसृतः सरक्तं पित्तमीरयेत् ।

तस्य स्वरूपमाह—

ज्वरस्तृष्णा च दाहश्च जायते तस्य देहिनः ॥९॥ [सु० २।६]
आगन्तुर्विद्रधिर्ज्ञेयः पित्तविद्रधिलक्षणः ।

काष्ठ, लोष्ट, पाषाण आदि वस्तुओं से चोट लग जाने से, कुचल जाने से वा घाव से रक्तस्राव होने पर कुपथ्यसेवी मनुष्य की वायु से फैलाई—(वायु के कारण सर्वत्र गई—व्याप्त हुई—) व्रण की गर्मी रक्तसहित पित्त को प्रकुपित करती है (यहां तक आगन्तुज विद्रधि की सम्प्राप्ति है और आगे लक्षण हैं), जिससे ज्वर, तृष्णा और दाह होता है । उस मनुष्य की यह उपर्युक्त 'पक्वोदुम्बरसङ्काशः' आदि पित्तविद्रधि के लक्षणों के समान लक्षणों वाली विद्रधि आगन्तुज विद्रधि कहलाती है ।

मधु०—अभिघातजस्यागन्तोः संप्राप्तिमाह—तैस्तैरित्यादि । तैस्तैरिति काष्ठलोष्टपाषाणादिभिः, अभिहत इति अस्रुतरक्तस्य मथितपिच्चितादेरुपलक्षणं, क्षत इति स्रुतरक्तस्य छिन्नभिन्नादेः; द्वयोरभिहतयोरपथ्यकारिण इति विशेषणम् । क्षतोष्मेति क्षतशब्दस्य हिंसामात्रपरिग्रहात् क्षताभिहतयोरप्यूष्मा क्षतोष्मशब्देनोच्यते । वायुविसृत इति क्षते रक्तक्षयादभिहतेऽभिघातादेव वातकोपः, कुपितेन वातेन हेतुभूतेन विसृतः प्रसृतो वायुविसृतः । यद्यप्ययं वातपित्तरक्तजस्तथाऽपि प्रागभिघातसंभवत्वेनागन्तुः, वातपित्तरक्तजानां जनकत्वेनैव विलक्षणाऽस्य संप्राप्तिः । पित्तविद्रधिलक्षण इति अत्रोक्तज्वरादिव्यतिरिक्तसंस्थानवर्णवेदनादिपित्तविद्रधिलिङ्गयुक्त इत्यर्थः ॥८-९॥

इसकी भाषा स्पष्ट एवं सरल ही है ।

१ विषम.

रक्तजविद्रधेः स्वरूपमाह—

कृष्णस्फोटावृतः श्यावस्तीव्रदाहरुजाकरः ॥१०॥ [सु० २।६]
पित्तविद्रधिलिङ्गस्तु रक्तविद्रधिरुच्यते ।

कृष्णवर्ण के स्फोटों से आवृत, श्याववर्ण (शाकवर्ण वा यकृद्वर्ण) वाला, तीव्रदाह से युक्त, पीड़ाकर और पैत्तिक विद्रधि के लक्षणों वाली रक्तविद्रधि होती है।

मधु०—रक्तजमाह—कृष्णेत्यादि । पित्तविद्रधिलिङ्गातिदेशेन लब्धावपि दाहज्वरौ तीव्रताविशेषार्थमुक्तौ । श्याव इति पित्तविद्रधिलिङ्गातिदेशेन प्रसक्तस्य पक्वोदुम्बरसंकाशस्यापवादः । भोजप्रभृतयस्तु धातुरक्तजं विद्रधिं परित्यज्य मक्कल्लसंज्ञयाऽऽर्तवलक्षणरक्तजं पठन्ति । तेषां मते आर्तवजेन सह षड्विद्रधयः, सुश्रुते तु धातुरक्तजोऽपि तथा मक्कल्लसंज्ञकोऽपि विद्रधिः सामान्येन रक्तज एवेति षड्विद्रधय इति बोद्धव्यम् ॥१०॥

भोजादि आचार्य तो धातुरूप रक्तजविद्रधि को न मानकर मक्कल्लसंज्ञक आर्तव-लक्षण रक्त से होने वाली विद्रधि को ही रक्तजविद्रधि के नाम से मानते हैं। उनके मत में आर्तव से उत्पन्न के साथ २ छः विद्रधियाँ होती हैं; परन्तु सुश्रुत में तो धातुरूप रक्तज तथा मक्कल्लसंज्ञक आर्तवरूप रक्तज दोनों ही प्रकार की स्वीकार कर सामान्यतः रक्तज में ही अन्तर्हित कर दी हैं, अतः छः ही रहती हैं।

अन्तर्विद्रधेः संप्राप्तिमाह—

पृथक् संभूय वा दोषाः कुपिता गुल्मरूपिणम् ॥११॥ [सु० २।६]
वल्मीकवत् समुन्नद्धमन्तः कुर्वन्ति विद्रधिम् ।

वातादि दोष पृथक्रूप से वा समस्तरूप से कुपित होकर अभ्यन्तर (मध्यप्रदेश में) गुल्म की तरह संहत और वल्मीक (कीड़ियों से किया हुआ मिट्टी का ढेर भौन) की तरह चारों ओर से उन्नत विद्रधि को करते हैं।

अन्तर्विद्रधेरधिष्ठानान्याह—

गुदे वस्तिमुखे नाभ्यां कुक्षौ वङ्क्षणयोस्तथा ॥१२॥ [सु० २।६]
वृक्कयोः प्लीह्नि यकृति हृदि वा क्लोम्नि चाऽप्यथ ।

गुदा, वस्ति (मूत्राशय) के मुख, नाभि, कुक्षि, वंक्षण, वृक्क, प्लीहा, यकृत्, हृदय और क्लोम में यह (अन्तर्विद्रधि) होती है।

वक्तव्य—अन्तर्विद्रधि के स्थानों का निर्देश चरक में इस प्रकार है कि "हृदये क्लोम्नि यकृति प्लीह्नि कुक्षौ च वृक्कयोः। नाभ्यां वंक्षणयोर्वापि वस्तौ वा" इति (च. सू. स्था. अ. १७)।

तेषामुक्तानि लिङ्गानि बाह्यविद्रधिलक्षणैः ॥१३॥

अधिष्ठानविशेषेणान्तर्विद्रधीनां विशिष्टस्वरूपाण्याह—

अधिष्ठानविशेषेण लिङ्गं शृणु विशेषतः ।
गुदे वातनिरोधश्च वस्तौ कृच्छ्राल्पमूत्रता ॥१४॥ [सु० २।६]

१ कृष्णः स्फोटावृतः.

नाभ्यां हिक्का तथाऽऽटोपः कुक्षौ मारुतकोपनम् ।
कटीपृष्ठग्रहस्तीव्रो वङ्क्षणोत्थे तु विद्रधौ ॥१५॥ [सु० २।६]
वृक्कयोः पार्श्वसंकोचः प्लीह्न्युच्छ्वासावरोधनम् ।
सर्वाङ्गप्रग्रहस्तीव्रो हृदि कासश्च जायते ॥
श्वासो यकृति हिक्का च क्लोम्नि पेपीयते पयः ॥१६॥ [सु० २।६]

उन अन्तर्विद्रधियों के लक्षण आचार्यों ने (वातादि के अनुसार) बाह्यविद्रधियों के समान ही कहे हैं। अब स्थान की विशेषता से विशेष लक्षण सुनो। जब विद्रधि गुदा में होगी, तो अधोवायु का सरना बन्द हो जाता है; एवं बस्ति में विद्रधि के होने से मूत्रकृच्छ्र और अल्पमूत्र रोग, नाभि में होने से हिक्का तथा आटोप, कुक्षि में होने से वायु का प्रकोप, वंक्षणोत्थ में तीव्र कटिशूल और तीव्र पृष्ठपीड़ा, वृक्कों में होने से पार्श्वों का सङ्कोच, प्लीहा में होने से उच्छ्वास की रुकावट, हृदय में होने से अतितीव्र सर्वाङ्गशूल और कास, यकृत् में होने से श्वास और हिक्का और क्लोम में (विद्रधि) होने से पिपासा की अधिकता होती है।

वक्तव्य—क्लोम क्या है ? इसमें बहुत मतभेद है। कई इसे तालु आदि के साथ पठित होने से सहचरित-न्यायानुसार उन्हीं के पास के स्थानविशेष को क्लोम कहते हैं; कई वृक्कों के ऊपर इसे स्वीकार करते हैं; कई यकृत् के नीचे इसे मानते हैं और कई अग्न्याशय को ही क्लोम कहते हैं। विद्रधि चाहे वातादि में से कोई एक भी जब गुदादि में से किसी एक स्थान पर होगी, तो उसमें दो प्रकार के लक्षण होंगे—१ उस दोष के और २ उस स्थान के। प्रथम प्रकार के लक्षण इनमें बाह्यविद्रधि के लक्षणों के समान होते हैं और दूसरे प्रकार के लक्षण वातनिरोधादि होते हैं। इनके दोषानुसार लक्षण चरक ने इस प्रकार कहे हैं कि—"व्यधच्छेदभ्रमानाहशब्दस्फुरणसर्पणैः। वातिकीं, पैत्तिकीं तृष्णादाहमोहमदज्वरैः॥ जृम्भोत्क्लेशारुचिस्तम्भशीतकैः श्लैष्मिकीं विदुः। सर्वासु च महच्छूलं विद्रधीषूपजायते। तप्तैः शस्त्रैर्यथा मथ्येतोल्मुकैरिव दह्यते। विद्रधिर्व्यम्लतां याता वृश्चिकैरिव दश्यते॥ तनुरूक्षारुणस्रावं फेनिलं वातविद्रधिः। तिलमाषकुलत्थोदसन्निभं पित्तविद्रधिः॥ श्लैष्मिकी स्रवति श्वेतं बहलं पिच्छिलं बहु। लक्षणं सर्वमेवैतद्भजते सान्निपातिकी" ॥ इति (च. सू. स्था. अ. १७)।

मधु०—अधिष्ठानविशेषेण लिङ्गविशेषं साध्यतामसाध्यतां च प्रतिपादयितुमाभ्यन्तरविद्रधिमाह—पृथगित्यादि। इयमधिकविधानार्थमुक्ताऽपि संप्राप्तिर्विद्रधेः पुनरुच्यते। आभ्यन्तरस्य रक्तजस्य तथाऽऽगन्तोश्च विद्रधेर्दोषेण व्यपदेशादियमेव तत्रापि संप्राप्तिर्ज्ञेयेति कश्चित्। बाह्यागन्तुवदाभ्यन्तरागन्तुसंप्राप्तिरित्यर्थः। क्षतजस्याभ्यन्तराभावान्न निर्दिष्टः क्षतज इति तु जेज्जटः[१]। गुल्मरूपिणमिति गुल्मवत् संहतम्। एतदाभ्यन्तरविद्रधीनां समान्यरूपं; विशेषलक्षणं तु बाह्यविद्रधिलक्षणैरेव ज्ञेयम्। वल्मीकवत् समुन्नद्धं समन्तादुन्नतं; एतदपि पच्यमानावस्थायां सर्वेषां

१ क्षतस्यान्तर्भावान्त.

समानम् । बस्तिमुख इति बस्तिमुख एव, विद्रध्याधारभूतमांसादिसंभवात्; न बस्तौ, तस्य ततुलात् । आटोपो रुजापूर्वकक्षोभः । मारुतकोपनमिति मार्गावरोधाद्वायोः कोपः । वृक्कयोरिति कुक्षमग्रमांसम् । सर्वाङ्गप्रग्रहः प्रत्यङ्गव्यथा, सर्वसिराधिष्ठानत्वाद्धृदयस्य । क्लोम्नीति क्लोम वृक्कादूर्ध्वं पिपासास्थानम् । पेपीयते पय इति पुनः पुनर्जलं पातुमिच्छतीत्यर्थः ॥११-१६॥

भाषा सरल है ।

अन्तर्विद्रधीनां स्रावनिर्गममार्गमाह—

नाभेरुपरिजाः पक्का यान्त्यूर्ध्वमितरे त्वधः ।

नाभि के ऊपर के भागों में (अर्थात् जो अन्तर्गुल्म के आश्रय स्थान नाभि के ऊपर है, उनमें) होने वाले गुल्म के पकने से उनका स्राव ऊपर की ओर से और नाभि से निचले भागों में होने वाले गुल्मों के पकने से उनका स्राव नीचे की ओर जाता है । अर्थात् नाभि के ऊपर होने वाले गुल्मों का स्राव मुख से और नाभि से निचले भागों में होने वाले गुल्मों का स्राव गुदा से निकलता है; एवं नाभिजों का स्राव दोनों ओर से निकलता है ।

मधु०—स्रावनिर्गममार्गमाह—नाभेरित्यादि । उपरिजा वृक्कप्लीहादिजाः । यान्ति स्रवन्ति । नाभिजस्तूभयमार्गस्रावी, ऊर्ध्वाधःस्रावश्च तथागतित्वाद्वातस्य । यदाह हारीतः—"ऊर्ध्वं प्रभिन्नेषु मुखान्नराणां प्रवर्ततेऽसृक्सहितोऽपि पूयः । अधःप्रभिन्नेषु च पायुमार्गात्, द्वाभ्यां प्रवृत्तिस्त्विह नाभिजेषु ॥" इति । इतर इति नाभिवस्तिवङ्क्षणजाः ॥—

नाभिज विद्रधि उभयमार्गस्रावी होती है । ऊर्ध्व और अधःस्राव वायु की उस प्रकार की गति के कारण होता है । जैसे हारीत जी कहते हैं कि—"ऊपरले (यकृदादि) स्थानों में होने वाली विद्रधियों के फट जाने पर रक्तमिश्रित पूय मनुष्यों के (मनुष्य शब्द यहां जातिवाचक है, अतः स्त्रियों में होने वाली विद्रधि का भी यही क्रम है) मुख से निकलती है; निचले (बस्ति आदि) स्थानों में होने वाली विद्रधियों के फट जाने पर रक्त-मिश्रित पूय गुदमार्ग से निकलती है; और नाभि में होने वाली विद्रधियों के फट जाने पर दोनों ओर (अर्थात् मुख और गुदा) से रक्तमिश्रित पूय निकलती है" ।

अधिष्ठानादिविशेषेण साध्यत्वादिकमाह—

अधःस्रुतेषु जीवेत्तु स्रुतेषूर्ध्वं न जीवति ॥१७॥
हृन्नाभिवस्तिवर्ज्या ये तेषु भिन्नेषु वाह्यतः ।
जीवेत् कदाचित् पुरुषो नेतरेषु कदाचन ॥१८॥ [सु० २।६]
साध्या विद्रधयः पञ्च विवर्ज्यः सान्निपातिकः ।

अन्तर्विद्रधीनामामपक्कावस्थामाह—

आमपक्कविदग्धत्वं तेषां शोथवदादिशेत् ॥१९॥

सोपद्रवविद्रधीनामसाध्यतामाह—

आध्मातं बद्धनिष्यन्दं छर्दिहिक्कातृषान्वितम् ।
रुजाश्वाससमायुक्तं विद्रधिर्नाशयेन्नरम् ॥२०॥ [सु० १।३३]

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने विद्रधिनिदानं समाप्तम् ॥४०॥

जब कि नाभि आदि में होने वाली विद्रधियां स्वयमेव फटकर गुदमार्ग से स्रवित होती हैं, तब मनुष्य मरता नहीं है; और जब (नाभ्यूर्ध्वज) विद्रधि के फट जाने से मुखमार्ग से स्राव होता है, तब मनुष्य मर जाता है। हृदय, नाभि और बस्ति से भिन्न स्थानों में होने वाली विद्रधियों के बाहर की ओर फूट पड़ने पर मनुष्य कभी २ (न कि सब समय) जीवित भी रहता है; परन्तु इनसे दूसरे (अर्थात् हृदय, नाभि और बस्ति में होने वाली) विद्रधियों के बाह्य भिन्न होने पर भी मनुष्य कभी भी जीवित नहीं रहता। पांच (वातज, पित्तज, कफज, क्षतज और रक्तज) विद्रधियाँ साध्य होती हैं; और सान्निपातिक (त्रिदोषज) विद्रधि विवर्ज्य है। इन विद्रधियों की आमावस्था, पक्वदशा और विदग्धावस्था शोथ की तरह जाननी चाहिएँ। आध्मात (फूला हुआ), बद्धमूत्र, छर्दि, हिक्का, तृषा (पिपासा), पीड़ा और श्वास से युक्त विद्रधि मनुष्य को मार देती हैं।

वक्तव्य—ऊपर प्रतिपादित किया है कि इनको आमता आदि शोथ की तरह जानना चाहिए। शोथ की आमता आदि सुश्रुत ने इस प्रकार बताई है कि—"तत्र मन्दोष्मता त्वक्सवर्णता शीतशोफता चामलक्षणमुद्दिष्टं; सूचीभिरिव निस्तुद्यते दश्यत इव पिपीलिकाभिस्ताभिश्च संसर्प्यत ('संसृप्यत' इति पा०) इव छिद्यत इव शस्त्रेण भिद्यत इव शक्तिभिस्ताड्यत इव दण्डेन पीड्यत इव पाणिना घट्यत इव चाङ्गुल्या दह्यते पच्यत इव चाग्निक्षाराभ्याम्, ओषचोषपरिदाहाश्च भवन्ति, वृश्चिकविद्ध इव च स्थानासनशयनेषु न शान्तिमुपैति, आध्मातबस्तिरिवाततश्च शोफो भवति, त्वग्वैवर्ण्यं शोफाभिवृद्धिर्ज्वरदाहपिपासा भक्तारुचिश्च पच्यमानलिङ्गं; वेदनोपशान्तिः पाण्डुताऽल्पशोफता वलीप्रादुर्भावस्त्वक्परिपुटनं निम्नदर्शनमङ्गुल्यावपीडिते प्रत्युन्नमनं, बस्ताविवोदकसंचरणं पूयस्य प्रपीडयत्येकमन्तमन्ते वाऽवपीडिते, मुहुर्मुहुस्तोदः कण्डूरुन्नता ('कण्डूरनुन्नता' इति पा०) व्याधेरुपद्रवशान्तिर्भक्ताभिकांक्षा च पक्वलिङ्गम्"–(सु. सू. स्था. अ. १७)।

मधु०—साध्यत्वादिकमाह—अध इत्यादि। अधःस्रुतेष्विति स्वयमेव यदा नाभ्यादिजा भिन्ना अधः स्रवन्ति तदा जीवति। स्रुतेषूर्ध्वं न जीवतीति ऊर्ध्वं पूयस्यासम्यङ्निर्गमान्न जीवनम्। हृन्नाभिबस्तिवर्ज्या इति प्लीहक्लोमादिजाः। भिन्नेषु बाह्यत इति वैद्यव्यापारेण भिन्नेषु; अन्ये मर्माद्याशयजेषु स्वयमेव भिन्नेष्विति व्याचक्षते, अन्तर्भिन्नेष्वप्यधःस्राविषु जीवनोक्तेः। नेतरेष्विति हृन्नाभिबस्तिजेषु भिन्नेषु तेषां मर्मत्वात् बाह्या आभ्यन्तरा वा वर्ज्याः। कदाचनेति पाके अपाके वा। तथाच भोजः—"असाध्यो मर्मजो ज्ञेयः पक्वाऽपक्वश्च विद्रधिः। सन्निपातोत्थितोऽप्येवं पक्व एव तु बस्तिजः॥ त्वग्जो नाभेरधो यश्च साध्यो मर्मसमीपजः। अपक्वश्चैव पक्वश्च साध्यो नोपरिनाभिजः॥" इति। अत्र मर्मजशब्देन हृदयनाभिजावुच्येते। बद्धनिष्यन्दमिति बद्धमूत्रम्। एतद्बस्तिजे प्रायः॥१७–१०॥

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायां विद्रधिनिदानं समाप्तम्॥४०॥

'नेतरेषु कदाचन' में स्थित 'कदाचन' शब्द का अर्थ, पकने वा न पकने पर भी मनुष्य नहीं बचता, यह है। इस पर भोज की भी सम्मति है कि—मर्मज (हृदय, नाभि और बस्ति में होने वाली) विद्रधि, चाहे वह पक्व हो वा अपक्व, असाध्य होती है; एवमेव सान्निपातिक विद्रधि भी, चाहे वह पक्व हो वा अपक्व, असाध्य होती है; परन्तु बस्ति में होने वाली विद्रधि पकी हुई (पकने पर) ही असाध्य होती है। त्वचा में होने वाली, नाभि के नीचे होने वाली और मर्म के समीप होने वाली विद्रधि साध्य होती है; और नाभि के ऊपर (अर्थात् मर्मजः, नाभिरत्रोपलक्षणमात्रं, तेन हृदयबस्तिमर्मण्यपि ग्राह्ये। यद्यपि बस्तिरत्र स्वरूपेणैवोक्ता परमत्रापि तस्य ग्रहणं भवति) होने वाली विद्रधि, चाहे वह पक्व हो वा अपक्व, असाध्य होती है।

अथ व्रणशोथनिदानम्।

व्रणशोथस्य[1] पूर्वरूपमाह—

एकदेशोत्थितः शोथो व्रणानां पूर्वलक्षणम्।

किसी एक देश (शरीर के भाग) में शोथ का उठ आना व्रणशोथ का पूर्वरूप है।

तद्भेदान् सामान्यलक्षणञ्चाह—

षड्विधः स्यात् पृथक्सर्वरक्तागन्तुनिमित्तजः ॥१॥
शोथाः षडेते विज्ञेयाः प्रागुक्तैः शोथलक्षणैः।
विशेषः कथ्यते चैषां पक्वापक्वादिनिश्चये ॥२॥

यह व्रणशोथ १ वातिक, २ पैत्तिक, ३ श्लैष्मिक, ४ त्रिदोषज, ५ रक्तज और ६ आगन्तुज इन भेदों से छः प्रकार की होती है। यह छः प्रकार की शोथ के लक्षण प्रागुक्त शोथ के लक्षणों के समान होते हैं। पक्वापक्वादिविनिश्चय में इनका विशेष (विवरण) पुनः कहा जाता है।

मधु०—प्रायेण चिकित्सासाधर्म्यात् भाविव्रणत्वसंबन्धतुल्यत्वाच्च व्रणशोथनिदानमाह—एकदेशोत्थित इत्यादि। षड्विध इति संख्याकथनं द्वन्द्वजनिषेधार्थम्। प्रागुक्तैरिति आमपक्वैषणीयोक्तैः, तत्र हि—"वातश्वयथुररुणः कृष्णो वा परुषो मृदुरनवस्थितः॥" (सु. सू. अ. १७) इत्यादिना षट्शोथलक्षणान्युक्तानि। विशेषः कथ्यते चैषामिति तत्रानुक्तो विशेषः कथ्यत इत्यर्थः। पक्वापक्वादिनिश्चय इति अत्रादिशब्देन पच्यमानस्य परिग्रहः॥१-२॥

इसकी भाषा सरल है।

---

१ नाम—सं० व्रणशोथ, अ० आवरा, इं० इन्फ्लेमेशन् (Inflammation).

वातादिभेदेन लक्षणमाह—

विषमं पच्यते वातात् पित्तोत्थश्चाचिराच्चिरम् ।
कफजः पित्तवच्छोथो रक्तागन्तुसमुद्भवः ॥३॥

वातिक शोथ (व्रणशोथ) विषमता से पकता है, पैत्तिक शीघ्रता से पकता है, श्लैष्मिक देर से पकता है और रक्तज तथा आगन्तुज पित्त की तरह (शीघ्रता से) पकता है ।

मधु०—वातादिभेदेन विशेषलक्षणमाह—विषममित्यादि । पित्तवदिति पित्तशोथवदचिरं पच्यते ॥३॥

इसकी भाषा स्पष्ट है ।

तेषामामतालक्षणमाह—

मन्दोष्मताऽल्पशोथत्वं काठिन्यं त्वक्सवर्णता ।
मन्दवेदनता चैतच्छोथानामामलक्षणम् ॥४॥

ऊष्मा (गरमी) का मन्द होना, शोथ का कम होना, कठिनता होनी, वर्ण त्वचा के समान होना और वेदना का मन्द होना, शोथों के आम लक्षण हैं; अर्थात् जिस शोथ में ये लक्षण हों, वह आम समझनी चाहिए ।

तेषां पच्यमानतालक्षणमाह—

दह्यते दहनेनेव क्षारेणेव च पच्यते ।
पिपीलिकागणेनेव दश्यते छिद्यते तथा ॥५॥
भिद्यते चैव शस्त्रेण दण्डेनेव च ताड्यते ।
पीड्यते पाणिनेवान्तः सूचीभिरिव तुद्यते ॥६॥
सोषाचोषो विवर्णः स्यादङ्गुल्येवावघट्यते ।
आसने शयने स्थाने शान्तिं वृश्चिकविद्धवत् ॥७॥
न गच्छेदाततः शोथो भवेदाध्मातवस्तिवत् ।
ज्वरस्तृष्णाऽरुचिश्चैव पच्यमानस्य लक्षणम् ॥८॥

अग्नि से जलते हुए की तरह, क्षार से पकते हुए की तरह, पिपीलिका (कीड़ियों के) समूह से काटे जाते हुए की तरह, शस्त्र से छिन्न वा भिन्न होते हुए की तरह, दण्ड से ताड़ित की तथा हाथ से पीड़ित की तरह, सूचिकाओं (सुइयों) से चुभान होते हुए की तरह, उषा (एक देश में होने वाला दाह) चोष और विवर्ण से युक्त, अङ्गुली से चालित की तरह, बिच्छु से काटे हुए की तरह, बैठने सोने तथा उठने में शान्तिरहित, बस्ति की तरह फूला हुआ फैलावयुक्त शोथ होना, एवं ज्वर, तृष्णा और अरुचि होनी पच्यमानशोथ के लक्षण हैं । अर्थात् जिस शोथ में उक्त लक्षण हों, वह पच्यमान शोथ जानना चाहिए । इन लक्षणों में कई लक्षण स्थानिक हैं और कई अस्थानिक (अर्थात् सर्वाङ्गव्यापी वा रोगाङ्ग से दूसरे अङ्ग में होने वाले) हैं; उनको यथोचित जान लेना चाहिए ।

मधु०—पच्यमानलक्षणमाह—दह्यत इत्यादि । पच्यमानशोथे पित्तलिङ्गान्येव भूयसा भवन्ति, विदाहस्य पित्तप्रकोपजत्वात्; विदाहश्चात्र दोषादीनामेव । तेन ज्वरतृष्णारुच्यादयोऽत्र पित्तलिङ्गानि । छिद्यत इति द्विधा क्रियत इव । भिद्यत इति विदार्यते । सोषाचोष इति उषा दाहः, चोषः पार्श्वस्थाग्निसंतापवद्व्यथा, ताभ्यां सह वर्तते यः स तथा ॥५-८॥

'पच्यमानलक्षणमाह' की भाषा सुगम है।

तेषां पक्वतालक्षणमवतारयति—

वेदनोपशमः शोथोऽलोहितोऽल्पो न चोन्नतः ।
प्रादुर्भावो वलीनां च तोदः कण्डूर्मुहुर्मुहुः ॥९॥
उपद्रवाणां प्रशमो निम्नता स्फुटनं त्वचाम् ।
वस्ताविवाम्बुसंचारः स्याच्छोथेऽङ्गुलिपीडिते ॥१०॥
पूयस्य पीडयत्येकमन्तमन्ते च पीडिते ।
भक्ताकाङ्क्षा भवेच्चैतच्छोथानां पक्वलक्षणम् ॥११॥

पीड़ा की शान्ति होनी, शोथ का अलोहित (पाण्डु धूसर वा यदुक्तं सुश्रुते-"पाण्डुताऽल्पशोथता" इति) स्वल्प (थोड़ा) तथा अनुन्नत (ऊँचा न) होना, वलियों का पड़ना, तोद होना, बार २ कण्डू (खुजली) होनी, उषा चोष तृष्णादि उपद्रवों की शान्ति होनी, त्वचा का नीची तथा स्फुटित होना, शोथ को अङ्गुली द्वारा पीड़ित करने से वस्ति में होने वाले जलसंचार की तरह वहाँ भी पूयसञ्चार का प्रतीत होना, शोथ के किसी एक प्रान्त को पीड़ित करने से पूय से दूसरे प्रान्त का पीड़ित होना, एवं खाने की इच्छा होनी—पक्व शोथों के लक्षण हैं; अर्थात् जिस शोथ में ये लक्षण हों, वह पक्व जानना चाहिए।

मधु०—पक्वलक्षणमाह—वेदनोपशम इत्यादि । दाहादिवेदनोपशान्तिः, विदाहोपशमेन पित्तस्यावलवत्त्वात् । तोदः कण्डूश्चात्र वातकफलिङ्गम् । प्रादुर्भावो वलीनामिति संकोचत्वाद्वलीसंभवः । उपद्रवाणां प्रशम इति पित्तकोपजनिता उषाचोषतृष्णारुच्यादयो ये तत्र उपद्रवास्तेषां प्रशमः । निम्नता स्वरूपतः, अङ्गुलिपीडनाद्वा । स्फुटनं त्वचामिति [illegible] । वस्ताविवेत्यादि । वस्तिश्चर्मपुटकं, पूयस्येत्यत्र 'संचार' इति शेषः । अयमर्थः—यथा बस्तावम्बुसंचारस्तथा शोथेऽङ्गुलिपीडिते सति पूयस्य संचारः । पीडयत्येकमन्तमन्ते च पीडिते इति एकमन्तं देशम्, अन्ते अवयवे पीडिते पीडयत्यवगाहते, 'पूय' इति शेषः ॥९-११॥

इसकी भाषा सरल है।

शोथपाककाले सर्वदोषानुबन्धमाह—

नर्तेऽनिलाद्रुङ् न विना च पित्तं
पाकः कफं चापि विना न पूयः ।
तस्माद्धि सर्वे परिपाककाले
पचन्ति शोथांस्त्रय एव दोषाः ॥१२॥

१ सर्वे परिपाककाले पचन्ति शोथांस्त्रिभिरेव दोषैः ।

वायु के बिना पीड़ा, पित्त के बिना पाक और कफ के बिना पीड़ा नहीं होती; अतएव परिपाक के समय सभी शोथों को तीनों ही दोष पकाते हैं।

मधु०—एकदोषारब्धेऽपि शोथे पाककाले सर्वदोषसंबन्धमाह—नर्तेऽनिलाद्रुगित्यादि। रुग्रुजा तोदादिरूपा। सुश्रुते—"त्रिभिरेतैः शोणितचतुर्थैश्च शरीरमिदं धार्यते॥" (सु. सू. स्था. अ. २१) इति द्वितीयदर्शने शोणितप्राधान्याख्यापकमाश्रित्योक्तम्—"कालान्तरेणाभ्युदितं तु पित्तं कृत्वा वशे वातकफौ प्रसह्य। पचत्यतः शोणितमेव पाको मतः परेषां विदुषां द्वितीयः॥" (सु. सू. स्था. अ. १७) इति। अत्र दर्शने पित्तं विदाहकुपितं शोणितं दूष्यं कर्मभूतं पचति; वातकफौ वशे कृत्वा क्रोडीकृत्य, हीनार्थो वा वशेशब्दः, वातकफौ हीनौ कृत्वेत्यर्थः; शोणितं कर्तृभूतं वा, तेन पक्त्यनुकूलत्वाद्विवक्षितं; पूर्वदर्शने कफात् पूयः, अत्र दर्शने शोणितात् पूय इति विशेषः। गम्भीरपाके शोथे सकलामपच्यमानलक्षणानुदयादज्ञायमाने लक्षणान्तरमुक्तं सुश्रुतेन। तद्यथा—"कफजेषु खलु शोथेषु गम्भीरगतित्वादभिघातजेषु वा केषुचिदसमस्तं पक्वलक्षणं दृष्ट्वा पक्वमपक्वमिति भिषङ्मोहमुपैति, यत्र हि त्वक्सवर्णता शीतशोथताऽल्परुजताऽश्मवद्घनता च, न तत्र मोहमुपेयात्॥" (सु. सू. स्था. अ. १७) इति। अस्यार्थः-यदा रागदाहादिवेदनासमुदयानन्तरं त्वक्सवर्णतादीनि भवन्ति तदा न मोहमज्ञानतामुपेयात् पक्वमेवेति निश्चिनुयात्। गदाधरेण तु त्वक्सवर्णतादीनि संशयहेतून्युक्तानि; यतस्तेन "गम्भीरपाकित्वादन्तः पाको बहिः पुनस्त्वक्सावर्ण्यं, गम्भीरपाकित्वादेव बहिः शीतता, कफारब्धत्वान्मन्दरुजताऽश्मवच्च घनता" इत्यभिधाय "शेषं पक्वलक्षणैर्जानीयात्" इत्युक्तम्॥१२॥

इसकी भाषा सरल ही है।

अविनिःसृतपूयस्य विकारकर्तृत्वमाह—

कक्षं समासाद्य यथैव वह्नि-
र्वाय्वीरितः संदहति प्रसह्य।
तथैव पूयो ह्यविनिःसृतो हि
मांसं शिराः स्नायु च खादतीह॥१३॥

जिस प्रकार वायु से प्रेरित अग्नि तृणराशि को पाकर हठात् (एकदम वा प्रचण्ड वेग से) जला देता है, उसी प्रकार घाव से न निकला हुआ पूय मांस, शिरा और स्नायुओं को खा जाता है।

मधु०—अविनिःसृतस्य पूयस्य दोषमाह—कक्षमित्यादि। कक्षं समासाद्येति कक्षं तृणादिगहनम्॥१३॥

इसकी भाषा सरल है।

आमपक्वत्वज्ञाने वैद्यस्य निन्दामाह—

आमं विदह्यमानं च सम्यक् पक्वं च यो भिषक्।
जानीयात् स भवेद्वैद्यः शेषास्तस्करवृत्तयः॥१४॥
यश्छिनत्त्यामम‌ज्ञानाद्यो वा पक्वमुपेक्षते।
श्वपचाविव मन्तव्यौ तावनिश्चितकारिणौ॥१५॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने व्रणशोथनिदानं समाप्तम्॥४१॥

जो वैद्य शोथ में आमावस्था, पच्यमानावस्था और पक्वावस्था को भली प्रकार (सम्यक्) जान लेता है, वह (वस्तुतः) वैद्य है, दूसरे (अर्थात् जो इन बातों को नहीं जान सकते वे) तस्करवृत्ति वाले अर्थात् चोर हैं। इसी पाठ की श्रीकण्ठदत्त तथा आतङ्कदर्पणकारादि इस प्रकार व्याख्या करते हैं कि—जो वैद्य शोथ में आमावस्था, पच्यमानावस्था और भली प्रकार पक्वावस्था को जान लेता है, वह आयुर्वेदज्ञ है, दूसरे चोर हैं। इसमें तथा उसमें भेद केवल यही है कि यहां 'सम्यक्' पक्व का विशेषण माना है और वहां 'जानीयात्' (क्रिया) का विशेषण है। वहां 'सम्यक्' पक्व का इसलिये विशेषण दिया है कि भली प्रकार पक्व होने पर क्रिया की जाती है; यद्यपि पक्व होने पर ही क्रियाविहित है फिर भी 'सम्यक्' यह विशेषण सावधानता बताने के लिये वा अल्पपक्वता आदि के निरास के लिये बनाया है; परन्तु पहली व्याख्या में यह प्रयोजन भी पूरा हो जाता है तथा आमावस्था एवं पच्यमानावस्था में भी वे बातें आ जाती हैं, जो कि अच्छी बात है। जो वैद्य अज्ञानता से आमशोथ को काट देता है और जो वैद्य अज्ञानता से पक्वशोथ को नहीं काटता—अनिश्चितकारी ये दोनों वैद्य चाण्डालवत् जानने चाहिएँ। भाव यह है कि जो वैद्य आम को ही छेद देता है वह, तथा दूसरा जो पक्व को नहीं चीरता, ये दोनों ही निश्चयपूर्वक कार्य न करने के कारण चाण्डाल की तरह जानने चाहिएँ।

मधु०—श्वपचाविव चण्डालाविव, मन्तव्यौ ज्ञातव्यौ। शेषास्तस्करवृत्तय इति लोभमात्रप्रयुक्तत्वात्तस्करा इव शेषाः ॥१४–१५॥

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायां व्रणशोथनिदानं समाप्तम् ॥४१॥

इसकी भाषा सरल ही है।

अथ शारीरव्रणनिदानम्।

व्रणस्य द्वैविध्यं समुत्थानञ्चाह—

द्विधा व्रणः स विज्ञेयः शारीरागन्तुभेदतः।
दोषैराद्यस्तयोरन्यः शस्त्रादिक्षतसंभवः ॥१॥

शारीर और आगन्तुज भेद से व्रण दो प्रकार का होता है; उनमें से प्रथम दोषों से होता है, और दूसरा शस्त्रादिकों के लगने से क्षत के कारण होता है। यहां 'दोषैः' से रक्त का ग्रहण भी होता है; क्योंकि रक्तज व्रण भी होता है।

वातिकव्रणं लक्षयति—

स्तब्धः कठिनसंस्पर्शो मन्दस्रावो महारुजः।
तुद्यते स्फुरति श्यावो व्रणो मारुतसंभवः ॥२॥

---

१ नाम—सं. शारीरव्रण, व्रण; इ. इडियोपैथिक अल्सर (Idiopathic Ulcer).

वायु से होने वाला व्रण अचल, कठिन स्पर्श वाला, स्वल्पस्रावी, अत्यन्त पीड़ायुक्त, तोदान्वित, स्फुरणशील और श्याववर्ण वाला होता है।

पैत्तिकव्रणं लक्षयति—

तृष्णामोहज्वरक्लेददाहदुष्ट्यवदारणैः ।
व्रणं पित्तकृतं विद्याद्गन्धैः स्रावैश्च पूतिकैः ॥३॥

पिपासा, मूर्च्छा, ज्वर, क्लेद, दाह (जलन), दुष्टि, अवदारण (फटना) और पूतिक गन्ध (मुर्दे जैसी गन्ध) तथा पूतिक स्राव वाला व्रण पैत्तिक व्रण होता है।

श्लैष्मिकव्रणलक्षणमाह—

बहुपिच्छो गुरुः स्निग्धः स्तिमितो मन्दवेदनः ।
पाण्डुवर्णोऽल्पसंक्लेदश्चिरपाकी कफव्रणः ॥४॥

बहुत पिच्छिल (पूय वाला), गुरु, स्निग्ध, निश्चल, स्वल्प पीड़ा वाला, पाण्डुवर्ण, थोड़ा आर्द्र और देर से पकने वाला व्रण श्लेष्मज होता है; अर्थात् जिस व्रण में ये लक्षण हों, वह श्लेष्मज होता है; वा ये लक्षण श्लेष्मज व्रण के हैं।

रक्तजव्रणस्वरूपमाह—

रक्तो रक्तस्रुती रक्तात्

रक्तज व्रण रक्तवर्ण का तथा रक्तस्रावी होता है।

मधु०—शोथानामनुपक्रान्तानां व्रणभावापत्तेर्व्रणनिदानमाह—द्विधेत्यादि । 'व्रण गात्रविचूर्णने' इत्यस्माद्धातोर्व्रणस्य साधुत्वमुक्तम् । व्रणनिरुक्तिश्च सुश्रुतेन कृता । यथा—"वृणोति यस्माद्रूढेऽपि व्रणवास्तु[1] न नश्यति । आदेहधारणाज्जन्तोर्व्रणस्तस्मान्निरुच्यते[2] ॥" (सु. सू. स्था. अ. २१) इति । अन्य इत्यागन्तुः । आगन्तुव्रणे यद्यपि दोषस्तत्कालं तदात्वे न संचयकोपप्रसरणशाली विकारकरणसमर्थः कल्पयितुं शक्यते, तथाऽपि सप्तरात्रं क्षतोष्मनिर्वापणाय मधुसर्पिरुपयोगात् शीतक्रियाविधानाच्च निजव्रणविलक्षणचिकित्सार्थं व्यपदिश्यते ॥१-४॥

व्रण शब्द की सिद्धि के विषय में आचार्य कहते हैं कि—'व्रण गात्रविचूर्णने' इस धातु से व्रण शब्द की सिद्धि होती है। व्रण की निरुक्ति सुश्रुत ने की है कि—वह आच्छादित करती है, (स वृणोति आच्छादयति) अतः (यस्मात्तस्मात्) व्रण कहलाता है (व्रण इति—इति डल्हणः); अथवा जब तक मनुष्य देह को धारण किए रहता है (अर्थात् जीवित रहता है), तब तक व्रणस्थान (व्रणचिह्न) रूढ होने पर भी नष्ट नहीं होता; अतएव विद्वान् इसे व्रण कहते हैं। अथवा, क्योंकि रूढ़ हो जाने पर भी व्रणचिह्न यावज्जीवन नष्ट नहीं होता अर्थात् स्थिर रहता है, अतः यह मनुष्य के जीवन तक आच्छादित करता है; अतएव विद्वान् इसे व्रण कहते हैं।

द्वन्द्वजसान्निपातिकव्रणानां लक्षणमाह—

द्वित्रिजः स्यात्तदन्वयैः ।

---

१ व्रणवस्तु. २ आदेहधारणात्तस्माद् व्रण इत्युच्यते बुधैः.

वातादिकों में से किन्हीं दो के मिलित लक्षण जिन व्रणों में हों, वे द्वन्द्वज; और सब के मिलित लक्षण जिस व्रण में हों, वह त्रिदोषज होता है।

वक्तव्य—यहां द्वन्द्वज और सन्निपातज में रक्त भी लिया जाता है; अर्थात् जिस प्रकार वातपित्त का द्वन्द्व है, उसी प्रकार वात और रक्त का भी द्वन्द्व यहां लिया जाता है। एवं सन्निपात में भी रक्त का ग्रहण होता है। इस प्रकार पंद्रह भेद बनते हैं; इन्हें ही सुश्रुत ने प्रसर माना है; उसने कहा है कि— "तद्यथा–वातः, पित्तं, श्लेष्मा, शोणितं, वातपित्ते, वातश्लेष्माणौ, पित्तश्लेष्माणौ, वातशोणिते, पित्तशोणिते, श्लेष्मशोणिते, वातपित्तशोणितानि, वातपित्तकफाः, वातपित्तकफशोणितानि; इत्येवं पञ्चदशधा प्रसरन्ति"–इति (सु. सू. स्था. अ. २१)। (प्रश्न—) ऊपर मूल में 'द्वित्रिजः' कहा है, परन्तु रक्त को भी साथ लेने से 'द्वित्रिचतुर्जः' बनता है; क्योंकि वात, पित्त, कफ और रक्त ये चार हैं; चार होने से संसर्ग में दोनों और तीनों का मेल होगा, एवं संसर्ग दो प्रकार का होगा—१ द्विमेलज और २ त्रिमेलज; सन्निपात यहां चारों के मेल से एक ही प्रकार का बनेगा, एवं या तो 'संसर्गसन्निपातजः' ऐसा कहना चाहिए था, क्योंकि इस प्रकार संसर्ग में दोनों का मेल और तीनों का मेल आ जाता है और सन्निपात में चारों का मेल आ जाता है, अथवा यहां 'द्वित्रिचतुर्जः' कहना चाहिए था; परन्तु यहां वैसा नहीं है, अतः रक्त का ग्रहण नहीं होता; परन्तु आचार्य इसमें रक्त का ग्रहण करते हैं, इस प्रकार यहां दोष आता है। (उत्तर—) 'द्वित्रिजः' यह पाठ दोषों को लक्ष्य रखकर कहा हैं, क्योंकि दोष तो तीन ही हैं; रक्त यहां अनुगामी होता है और अनुगामी होने से अप्रधान है, अतएव यहां 'द्वित्रिजः' यह कहा है। इसी भाव को लक्ष्य रख कर आतङ्कदर्पणकार ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है कि—"द्वित्रिजः स्यात्तदन्वयैरिति पृथग्दोषै रक्तानुगैः द्वन्द्वैश्च, तेन पृथग्दोषैः सरक्तैर्द्विजः द्वन्द्वजैस्त्रिदोषैस्त्रिजः, एवं त्रिदोषजेऽपि रक्तः सम्बन्धनीयः। तद्यथा–वातजः, पित्तजः, श्लेष्मजः, संघातजः, रक्तजः, वातपित्तजः, वातश्लेष्मजः, पित्तश्लेष्मजः, एवमष्टौ; शोणितसम्बन्धात्सप्त, वातश्लेष्मशोणितजः, पित्तश्लेष्मशोणितजः, सन्निपातशोणितज इत्यादि; एवं दोषाणां भेदेन पञ्चदशधा प्रसर उक्तः" इति आ. द.॥

मधु०—रक्तस्यैकैकस्मिन् दोषे द्वन्द्वे च प्रसरमाह—द्वित्रिजः स्यात्तदन्वयैरिति। रक्तान्वयैरेकैकदोषैर्द्वन्द्वैश्च; रक्तान्वितैरेकैकदोषैर्द्विजो व्रणः, रक्तान्वितैर्द्वन्द्वत्रयैस्त्रिजः; एवं दोषत्रयेऽपि रक्तसंबन्ध ऊहनीयः; एवं पञ्चदशधा प्रसरो दोषाणामुपगृहीतो भवति। अथवाऽयमर्थः—तदन्वयैर्दोषद्वन्द्वत्रयान्वयैः, तेन दोषद्वयान्वयेन द्विजो द्वन्द्वजो व्रणः, दोषत्रयान्वयेन त्रिजः सन्निपातजः॥

इसकी भाषा सरल है।

व्रणानां साध्यत्वादिलक्षणमवतारयति—

त्वङ्मांसजः सुखे देशे तरुणस्यानुपद्रवः ॥५॥
धीमतोऽभिनवः काले सुखे साध्यः सुखं व्रणः।

वायु से होने वाला व्रण अचल, कठिन स्पर्श वाला, स्वल्पस्रावी, अत्यन्त पीड़ायुक्त, तोदान्वित, स्फुरणशील और श्याववर्ण वाला होता है।

पैत्तिकव्रणं लक्षयति—

तृष्णामोहज्वरक्लेददाहदुष्ट्यवदारणैः ।
व्रणं पित्तकृतं विद्याद्गन्धैः स्रावैश्च पूतिकैः ॥३॥

पिपासा, मूर्च्छा, ज्वर, क्लेद, दाह (जलन), दुष्टि, अवदारण (फटना) और पूतिक गन्ध (मुर्दे जैसी गन्ध) तथा पूतिक स्राव वाला व्रण पैत्तिक व्रण होता है।

श्लैष्मिकव्रणलक्षणमाह—

बहुपिच्छो गुरुः स्निग्धः स्तिमितो मन्दवेदनः ।
पाण्डुवर्णोऽल्पसंक्लेदश्चिरपाकी कफव्रणः ॥४॥

बहुत पिच्छिल (पूय वाला), गुरु, स्निग्ध, निश्चल, स्वल्प पीड़ा वाला, पाण्डुवर्ण, थोड़ा आर्द्र और देर से पकने वाला व्रण श्लेष्मज होता है; अर्थात् जिस व्रण में ये लक्षण हों, वह श्लेष्मज होता है; वा ये लक्षण श्लेष्मज व्रण के हैं।

रक्तजव्रणस्वरूपमाह—

रक्तो रक्तस्रुती रक्तात्

रक्तज व्रण रक्तवर्ण का तथा रक्तस्रावी होता है।

मधु०—शोथानामनुपक्रान्तानां व्रणभावापत्तेर्व्रणनिदानमाह—द्विधेत्यादि । 'व्रण गात्रविचूर्णने' इत्यस्माद्धातोर्व्रणस्य साधुत्वमुक्तम् । व्रणनिरुक्तिश्च सुश्रुतेन कृता । यथा—"वृणोति यस्माद्रूढेऽपि व्रणवा[1]स्तु न नश्यति । आदेहधारणाज्जन्तोर्व्रणस्तस्मान्निरुच्यते ॥[2]" (सु. सू. स्था. अ. २१) इति । अन्य इत्यागन्तुः । आगन्तुव्रणे यद्यपि दोषस्तत्कालं तदात्वे न संचयकोपप्रसरणशाली विकारकरणसमर्थः कल्पयितुं शक्यते, तथाऽपि सप्तरात्रं क्षतोष्मनिर्वापणाय मधुसर्पिरुपयोगात् शीतक्रियाविधानाच्च निजव्रणविलक्षणचिकित्सार्थं व्यपदिश्यते ॥१–४॥

व्रण शब्द की सिद्धि के विषय में आचार्य कहते हैं कि—'व्रण गात्रविचूर्णने' इस धातु से व्रण शब्द की सिद्धि होती है। व्रण की निरुक्ति सुश्रुत ने की है कि—वह आच्छादित करती है, (स वृणोति आच्छादयति) अतः (यस्मात्तस्मात्) व्रण कहलाता है (व्रण इति—इति डल्हणः); अथवा जब तक मनुष्य देह को धारण किए रहता है (अर्थात् जीवित रहता है), तब तक व्रणस्थान (व्रणचिह्न) रूढ होने पर भी नष्ट नहीं होता; अतएव विद्वान् इसे व्रण कहते हैं। अथवा, क्योंकि रूढ़ हो जाने पर भी व्रणचिह्न यावज्जीवन नष्ट नहीं होता अर्थात् स्थिर रहता है, अतः यह मनुष्य के जीवन तक आच्छादित करता है; अतएव विद्वान् इसे व्रण कहते हैं।

द्वन्द्वजसान्निपातिकव्रणानां लक्षणमाह—

द्वित्रिजः स्यात्तदन्वयैः ।

१ व्रणवस्तु. २ आदेहधारणात्तस्माद् व्रण इत्युच्यते बुधैः.

वातादिकों में से किन्हीं दो के मिलित लक्षण जिन व्रणों में हों, वे द्वन्द्वज; और सब के मिलित लक्षण जिस व्रण में हों, वह त्रिदोषज होता है।

वक्तव्य—यहां द्वन्द्वज और सन्निपातज में रक्त भी लिया जाता है; अर्थात् जिस प्रकार वातपित्त का द्वन्द्व है, उसी प्रकार वात और रक्त का भी द्वन्द्व यहां लिया जाता है। एवं सन्निपात में भी रक्त का ग्रहण होता है। इस प्रकार पंद्रह भेद बनते हैं; इन्हें ही सुश्रुत ने प्रसर माना है; उसने कहा है कि—"तद्यथा-वातः, पित्तं, श्लेष्मा, शोणितं, वातपित्ते, वातश्लेष्माणौ, पित्तश्लेष्माणौ, वातशोणिते, पित्तशोणिते, श्लेष्मशोणिते, वातपित्तशोणितानि, वातपित्तकफाः, वातपित्तकफशोणितानि; इत्येवं पञ्चदशधा प्रसरन्ति"—इति (सु. सू. स्था. अ. २१)। (प्रश्न—) ऊपर मूल में 'द्वित्रिजः' कहा है, परन्तु रक्त को भी साथ लेने से 'द्वित्रिचतुर्जः' बनता है; क्योंकि वात, पित्त, कफ और रक्त ये चार हैं; चार होने से संसर्ग में दोनों और तीनों का मेल होगा, एवं संसर्ग दो प्रकार का होगा—१ द्विमेलज और २ त्रिमेलज; सन्निपात यहां चारों के मेल से एक ही प्रकार का बनेगा, एवं या तो 'संसर्गसन्निपातजः' ऐसा कहना चाहिए था, क्योंकि इस प्रकार संसर्ग में दोनों का मेल और तीनों का मेल आ जाता है और सन्निपात में चारों का मेल आ जाता है, अथवा यहां 'द्वित्रिचतुर्जः' कहना चाहिए था; परन्तु यहां वैसा नहीं है, अतः रक्त का ग्रहण नहीं होता; परन्तु आचार्य इसमें रक्त का ग्रहण करते हैं, इस प्रकार यहां दोष आता है। (उत्तर—) 'द्वित्रिजः' यह पाठ दोषों को लक्ष्य रखकर कहा है, क्योंकि दोष तो तीन ही हैं; रक्त यहां अनुगामी होता है और अनुगामी होने से अप्रधान है, अतएव यहां 'द्वित्रिजः' यह कहा है। इसी भाव को लक्ष्य रख कर आतङ्कदर्पणकार ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है कि—"द्वित्रिजः स्यात्तदन्वयैरिति पृथग्दोषैः रक्तानुगैः द्वन्द्वैश्च, तेन पृथग्दोषैः सरक्तैर्द्विजः द्वन्द्वजैस्त्रिदोषैस्त्रिजः, एवं त्रिदोषजेऽपि रक्तः सम्बन्धनीयः। तद्यथा—वातजः, पित्तजः, श्लेष्मजः, संघातजः, रक्तजः, वातपित्तजः, वातश्लेष्मजः, पित्तश्लेष्मजः, एवमष्टौ; शोणितसम्बन्धात्सप्त, वातश्लेष्मशोणितजः, पित्तश्लेष्मशोणितजः, सन्निपातशोणितज इत्यादि; एवं दोषाणां भेदेन पञ्चदशधा प्रसर उक्तः" इति आ. द.॥

मधु०—रक्तस्यैकैकस्मिन् दोषे द्वन्द्वे च प्रसरमाह—द्वित्रिजः स्यात्तदन्वयैरिति। रक्तान्वयैरेकैकदोषैर्द्वन्द्वैश्च; रक्तान्वितैरेकैकदोषैर्द्विजो व्रणः, रक्तान्वितैर्द्वन्द्वत्रयैस्त्रिजः; एवं दोषत्रयेऽपि रक्तसंबन्ध ऊहनीयः; एवं पञ्चदशधा प्रसरो दोषाणामुपगृहीतो भवति। अथवाऽयमर्थः—तदन्वयैः दोषद्वन्द्वत्रयान्वयैः, तेन दोषद्वयान्वयेन द्विजो द्वन्द्वजो व्रणः, दोषत्रयान्वयेन त्रिजः सन्निपातजः॥

इसकी भाषा सरल है।

व्रणानां साध्यत्वादिकलक्षणमवतारयति—

त्वङ्मांसजः सुखे देशे तरुणस्यानुपद्रवः ॥५॥
धीमतोऽभिनवः काले सुखे साध्यः सुखं व्रणः।

त्वचा वा मांस में होने वाला, शरीर के मर्मरहित अवयव में उत्पन्न, तरुण मनुष्य का, उपद्रवरहित, अचञ्चल बुद्धि वाले मनुष्य का, नवोत्पन्न व्रण सुखकर काल में (हेमन्त वा शिशिर में) सुखसाध्य होता है।

वक्तव्य—ये सम्पूर्ण सुखसाध्यहेतु समष्टिरूप से कारण हैं, व्यष्टिरूप से नहीं; क्योंकि यदि इनमें से कोई एक भी कम होगा, तो व्रण कृच्छ्रसाध्य हो जावेगा; यही बात वक्ष्यमाण व्रण के कष्टसाध्यलक्षण में आगे स्पष्ट आई है।

कृच्छ्रसाध्यव्रणस्य लक्षणमाह—

गुणैरन्यतमैर्हीनस्ततः कृच्छ्रो व्रणः स्मृतः ॥६॥

सुखसाध्यलक्षण में प्रतिपादित गुणों में से किसी एक गुण के हीन होने पर व्रण कृच्छ्रसाध्य होता है।

असाध्यव्रणस्य लक्षणमाह—

सर्वैर्विहीनो विज्ञेयस्त्वसाध्यो भूर्युपद्रवः।

सुखसाध्यलक्षण में कथित सब गुणों से विहीन एवं बहुत उपद्रवों वाला व्रण असाध्य जानना चाहिए।

वक्तव्य—यद्यपि अनुपद्रव से विहीनता उपद्रवरूप ही है, परं यहां भूर्युपद्रव कहने से यह भाव निकलता है कि—उपद्रव हों और वे प्रबल एवं अधिक हों।

मधु०—साध्यत्वादिकमाह— त्वगित्यादि। सुखे देश इति मर्मरहिते देहावयवे। अनुपद्रव इति ज्वरतृष्णाद्युपद्रवरहितः। धीमत इति हिताहितज्ञस्य। काले सुखे इति हेमन्ते शिशिरे च। अन्यतमैरिति उक्तानां गुणानां मध्ये एकतमैर्गुणैः ॥५–६॥

इसकी भाषा सुगम है।

दुष्टव्रणस्य लक्षणमाह—

पूतिः पूयातिदुष्टासृक्स्राव्युत्सङ्गी चिरस्थितिः ॥७॥
दुष्टो व्रणोऽतिगन्धादिः शुद्धलिङ्गविपर्ययः।

दुर्गन्धित, पूययुक्त, अतिदुष्ट रक्तस्रावी, कोटरवाला, देर तक रहने वाला वा चिरकाल से उत्पन्न, अतिगन्धादियुक्त तथा वक्ष्यमाण शुद्ध व्रण के लक्षणों से विपरीत लक्षणों वाला व्रण दुष्ट होता है।

मधु०—दुष्टव्रणलिङ्गमाह—पूतिरित्यादि। पूयातिदुष्टासृक्स्रावीति पूययुक्तमतिदुष्टं रक्तं सततं स्रवतीत्यर्थः। उत्सङ्गी कोटरवान्। चिरस्थितिरित्यनेन बहुलदोषसंबन्धं दर्शयति। तथाचोक्तम्—"अनात्मवतामज्ञैश्चोपक्रान्ता व्रणाः प्रदूष्यन्ति, वृद्धत्वाद्दोषाणाम् ॥" (सु. सू. स्था. अ. २२) इति। दुष्टव्रण इत्यत्र 'परिभावित' इति शेषः। अतिगन्धादिरिति आदिशब्देन वर्णस्राववेदनाकृतयो गृहीताः, अतिशब्देन च विशिष्यन्ते। शुद्धलिङ्गविपर्यय इति वक्ष्यमाण-

१ निरुपक्रमः. सर्वैर्विहीनोऽसाध्यस्तु तथैवोपद्रवान्वितः.

शुद्धलिङ्गविपरीतः पूतित्वादियोगादेव । 'पूतिपूयातिदुष्टासृक्स्रावी' इति क्वचित् पाठे पूतिशब्दः पूयदुष्टासृग्विशेषणम् ॥७॥

इसकी भाषा सरल ही है ।

शुद्धव्रणस्य लक्षणमाह—

जिह्वातलाभोऽतिमृदुः श्लक्ष्णः स्निग्धोऽल्पवेदनः ॥८॥
सुव्यवस्थो निरास्रावः शुद्धो व्रण इति स्मृतः ।

जिह्वा के तलभाग की सी कान्ति वाला, अतिमृदु, श्लक्ष्ण, स्निग्ध, स्वल्प पीड़ा वाला, यथोचित व्यवस्थिति (अच्छी आकृति) वाला एवं स्रावरहित व्रण शुद्ध होता है ।

मधु०—शुद्धव्रणलक्षणमाह—जिह्वेत्यादि । जिह्वातलाभ इति जिह्वातलवदाभा प्रभा यस्य स तथा, तलशब्दः स्वरूपवचनः । जिह्वातलाभशब्दश्चात्र मृदुश्लक्ष्णस्निग्धशब्दैः प्रत्येकमभिसंबध्यते; तेन जिह्वातलाभो मृदुः श्लक्ष्णः स्निग्धश्चेत्याहुः । सुव्यवस्थ इति उत्सन्नोत्सङ्गित्वरहितः । निरास्राव इति दोषकृतस्रावरहितः । चरके तु पठ्यते—"नातिरक्तो नातिपाण्डुर्नातिस्रावो न चातिरुक् । न चोत्सन्नो न चोत्सङ्गी शुद्धो रोप्यः परं व्रणः ॥" (च. चि. स्था. अ. २५) इति, तद्दर्शनादत्र निरास्रावत्वं दोषकृतस्रावहीनत्वं, विगतवेदनत्वं च वाताद्युक्तवेदनारहितत्वम् । व्रणस्रावकृतवेदनायुक्तत्वं पुनरस्त्येव, अत एव रूढलिङ्गे अरुजमित्युक्तम् ॥८॥

निरास्राव का अर्थ दोषकृत स्राव से रहित है । चरक में लिखा है कि—'न अधिक लाल, नाति पाण्डु, नाति स्राव वाला, न अधिक पीड़ा वाला, न अधिक उठाव वाला और न अधिक उत्सङ्गी व्रण शुद्ध होता है; इसके बाद व्रण भरने योग्य हो जाता है । एवं इसके अनुसार यहां निरास्राव का अर्थ दोषकृत स्राव से विहीनता ली जाती है ।

रुह्यमाणव्रणस्य स्वरूपमाह—

कपोतवर्णप्रतिमाः यस्यान्ताः क्लेदवर्जिताः ॥९॥
स्थिराश्च पिडकावन्तो रोहतीति तमादिशेत् ।   [सु. ११२३]

जो जो व्रण कबूतर के वर्ण के समान पाण्डु धूसर होता है, और जिसके चारों किनारे क्लेदरहित, अचल एवं पिड़िका वाले हों, उस (व्रण) को भर रहा है ऐसा कहना चाहिए; अथवा जिस व्रण के प्रान्त कपोतवर्ण, क्लेदरहित, अचल एवं पिड़िका वाले हों, उस (व्रण) को रुह्यमाण कहना चाहिए । इन दोनों व्याख्याओं में भेद केवल यही है कि—प्रथम व्याख्या में 'कपोतवर्णप्रतिमा' व्रण का विशेषण है और दूसरी व्याख्या में प्रान्तों का । इसे प्रान्तों का विशेषण बना कर व्याख्या करनी ठीक है; क्योंकि इस प्रकार विशेष्यविशेषणों के लिङ्ग और वचन समान मिल जाते हैं; परन्तु प्रथम व्याख्या के अनुसार लिङ्ग वचन समान नहीं मिलते; यदि अध्याहार किया जावे तो गौरव है; साथ ही अध्याहार वहां होता है, जहां कि अन्यथा कार्य न चले; किन्तु यह स्थल ऐसा नहीं है, अतः इसकी आवश्यकता भी नहीं है और दूसरी व्याख्या ही ठीक है ।

१ नातिरक्तः. २ स्थिराश्चिपिडिकावन्तः.

मधु०—रुह्यमाणलक्षणमाह—कपोतेत्यादि । कपोतवर्णप्रतिमा इति पाण्डुधूसराः । स्थिरा अदरणाः । 'चिपिटिकावर्णा' इति पाठान्तरे चिपिटिका मांसचेली, तद्वर्णाः ॥९॥

इसकी भाषा स्पष्ट ही है ।

सुरूढव्रणस्य लक्षणमाह—

रूढवर्त्मानमग्रन्थिमशूनमरुजं व्रणम् ॥१०॥
त्वक्सवर्णं समतलं सम्यग्रूढं विनिर्दिशेत् । [सु० १।२३]

जिसका व्रणमार्ग रूढ़ हो गया हो, जो ग्रन्थि की आकृति जैसा न हो, शोथरहित हो, पीड़ारहित हो, त्वचा के समान वर्ण वाला एवं समतल हो—वह व्रण सम्यग्रूढ़ होता है । ये समस्त लक्षण ही सम्यग्रूढ़ के हैं ।

मधु०—सम्यग्रूढलक्षणमाह—रूढवर्त्मानमित्यादि । रूढवर्त्मानमिति वर्त्म व्रणमार्गो व्रणवास्तु रूढो यस्य तम् । अन्तःपूयाभावादशूनमरुजं च । त्वक्सवर्णं त्वचा समानवर्णम् । समतलमिति समं तलेन जिह्वातलेन करतलेन वा, अग्रन्थिमित्यनेनोपर्युच्छूनताया निषेधः, समतलेन त्वधोनिम्नताया निषेधः ॥१०॥

इसकी भाषा सुगम है ।

व्याधिविशेषानुबन्धितया तस्य कृच्छ्रसाध्यतामाह—

कुष्ठिनां विषजुष्टानां शोषिणां मधुमेहिनाम् ॥११॥
व्रणाः कृच्छ्रेण सिध्यन्ति येषां चापि व्रणे व्रणाः । [सु० १।२३]

स्रावविशेषेण व्रणद्वयस्य साध्यतासाध्यतामाह—

वसां मेदोऽथ मज्जानं मस्तुलुङ्गं च यः स्रवेत् ॥१२॥
आगन्तुजो व्रणः सिध्येन्न सिद्ध्येद्दोषसंभवः । [सु० १।२३]

कुष्ठी, दूषीविषार्त, शोषी और मधुमेहियों के व्रण कठिनता से ठीक होते हैं; और जिनके व्रणों में व्रण हों, वे भी कृच्छ्रसाध्य होते हैं । वसा, मेद, मज्जा और मस्तुलुङ्ग जिन व्रणों से निकलता है, वह आगन्तुज व्रण तो साध्य होता है; किन्तु इस प्रकार का (वसादिस्रावी) दोषज व्रण साध्य नहीं होता ।

मधु०—व्याधिविशेषेण व्रणस्य कृच्छ्रसाध्यत्वमाह—कुष्ठिनामित्यादि । कुष्ठे विशेषेणात्यन्तदोषदूषितरक्तादिदूष्यत्वेन सर्वदा दुष्टिरधिकेति कृच्छ्रसाध्यत्वम् । विषजुष्टानामिति दूषीविषार्तानाम् । शोषे मधुमेहे च धातुक्षयात्, व्रणे च रक्तस्रावादाहारसंयमनादधिका दुष्टिः । वसां मेदोऽथ मज्जानं मस्तुलुङ्गं च यः स्रवेदिति मज्जा अस्थिस्नेहः, मस्तुलुङ्गं घृतिका । न सिध्येद्दोषसंभव इति दोषैरतिदूषितानां वसादीनां स्रावस्य बहुव्यापत्तिकरत्वात् ॥११–१२॥

इसकी भाषा सरल है ।

गन्धविकृतिविशेषेण व्रणानां रिष्टव्यापकतामाह—

मद्यागुर्वाज्यसुमनःपद्मचन्दनचम्पकैः ॥१३॥
सगन्धा दिव्यगन्धाश्च मुमूर्षूणां व्रणाः स्मृताः ।

मुमूर्षु (मरने वाले) मनुष्यों के व्रण मद्य (शराब), अगुरु, घृत, मालती, पद्म, चन्दन और चम्पक (चम्बा) के समान गन्ध वाले एवं अलौकिक गन्ध वाले होते हैं। भाव यह है कि जिनके व्रणों में से उक्त प्रकार की गन्ध आती हो, वह रोगी अवश्य ही मर जाता है।

मधु०—रिष्टरूपां गन्धविकृतिमाह—मद्यागुर्वाज्येत्यादि। सुमना जाती, सगन्धाः समानगन्धाः, दिव्यगन्धा अपरिकल्पिताद्भुतपारिजातादिगन्धाः ॥१३॥

इसकी भाषा सरल है।

स्थानवेदनोपद्रवादिविशेषेण व्रणानां प्रत्याख्येयतालक्षणान्याह—

ये च मर्मस्वसंभूता भवन्त्यत्यर्थवेदनाः ॥१४॥
दह्यन्ते चान्तरत्यर्थं बहिः शीताश्च ये व्रणाः।
दह्यन्ते बहिरत्यर्थं भवन्त्यन्तश्च शीतलाः ॥१५॥
प्राणमांसक्षयश्वासकासारोचकपीडिताः।
प्रवृद्धपूयरुधिरा व्रणा येषां च मर्मसु ॥१६॥
क्रियाभिः सम्यगारब्धा न सिध्यन्ति च ये व्रणाः।
वर्जयेदपि तान् वैद्यः संरक्षन्नात्मनो यशः ॥१७॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने शारीरव्रणनिदानं समाप्तम् ॥४२॥

जो व्रण मर्मस्थानों में उत्पन्न न होने पर भी अत्यन्त पीड़ायुक्त होते हैं, जो व्रण भीतर (गम्भीरता में) से अत्यन्त दाहयुक्त और बाहर से शीतल होते हैं एवं जो व्रण बाहर से अत्यन्त दाहयुक्त और भीतर से शीतल होते हैं—उनको, तथा प्राणक्षय, मांसक्षय, श्वास, कास और अरोचक से पीड़ित मनुष्यों के प्रवृद्धपूय तथा रुधिर वाले व्रणों को एवं मर्मस्थलज व्रणों को और जो व्रण भली प्रकार योग्य चिकित्सा करने पर भी ठीक नहीं होते उन व्रणों को अपने यश की रक्षा करता हुआ वैद्य छोड़ दे।

मधु०—ये च मर्मस्वसंभूता इति मर्मसु न जाता अपि भृशवेदनाः, मर्मजातत्वेन हि भृशवेदनावत्त्वं युक्तम्। प्राणमांसक्षय इति प्राणक्षयेण शक्तिक्षयः, मांसक्षयेण चोपचयक्षयः। अनुक्तमप्यशेषं रिष्टं संगृह्णन्नाह—क्रियाभिरित्यादि ॥१४–१७॥

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायां शारीरव्रणनिदानं समाप्तम् ॥४२॥

स्पष्ट ही है।

अथ सद्योव्रणनिदानम्।

सद्योव्रणस्य निदानमाह—

नानाधारमुखैः[1] शस्त्रैर्नानास्थाननिपातितैः।
भवन्ति नानाकृतयो व्रणास्तांस्तान्निबोध मे[2] ॥१॥ [सु० ४।२]

---

[1] नाम—सं० सद्योव्रण, इं० ट्रोमेटिक वुण्ड (Traumatic Wound). [2] नानाधारमुखैः.
[illegible] इति सु. पा.

सद्योव्रणस्य भेदानाह—

छिन्नं भिन्नं तथा विद्धं क्षतं पिच्चितमेव च ।
घृष्टमाहुस्तथा षष्ठं तेषां वक्ष्यामि लक्षणम् ॥२॥ [सु० ४।२]

अनेक प्रकार की धार वाले शस्त्रों के अनेक स्थानों में लगने से अनेक प्रकार की आकृतियों वाले व्रण होते हैं; अब वे बतलाए जाते हैं। १ छिन्न, २ भिन्न, ३ विद्ध, ४ क्षत, ५ पिच्चित और ६ घृष्ट—ये व्रणों के छः भेद हैं; अब इनके लक्षण बतलाए जाते हैं।

मधु०—शारीरव्रणमभिधायागन्तुव्रणमाह–नानाधारमुखैरित्यादि । नाना धारा मुखानि च येषां तानि तथा । स्थानविशेषोऽपि शस्त्रनिपाततुल्यत्वेनाकृतिविशेषे हेतुरित्यत उक्तं—नानास्थाननिपातितैरिति ॥१–२॥

यह सरल ही है।

छिन्नस्य लक्षणमाह—

तिर्यक् छिन्न ऋजुर्वाऽपि यो व्रणस्त्वायतो भवेत् ।
गात्रस्य पातनं तच्च छिन्नमित्यभिधीयते ॥३॥ [सु० ४।२]

जो व्रण तिर्यक् (तिरछा), छिन्न अथवा ऋजु (सीधा कटा हुआ) लम्बा होता है, और जिसमें हस्तपादादि शरीर के हिस्से कट कर पृथक् हो जावें या उन्हीं में जुड़े रह जावें, तो उसको छिन्नव्रण कहते हैं। यहां कट कर पृथक् न हो यह अर्थ 'पातनं तच्च' में स्थित 'च' से निकलता है; इसी बात को डल्हण ने भी कहा है कि—"गात्रपातनं शस्त्रादिप्रहारेण गात्रस्य हस्तादेः पातनं, चकारादपातनं च किञ्चिद्विच्छिन्नम्" इति।

वक्तव्य—किसी भी शस्त्र से जो कि तीक्ष्ण धारा वाला हो, उससे किया हुआ (धारा की ओर से) सीधा वा तिरछा छेद, जिससे कि सब अङ्ग कट जावे वा कुछ कट जावे, छिन्न व्रण कहलाता है। धारा से किया हुआ ही व्रण छिन्नव्रण कहलाता है, नोक आदि से किया हुआ नहीं। उदाहरणार्थ—यदि खड्ग (तलवार) प्रहार धारा की ओर से किया जावे और उससे कोई अङ्ग तिरछा वा सीधा कट जावे, तो उस व्रण को छिन्न कहा जाता है; और यदि खड्ग प्रहार नोक की ओर से किया जावे, अर्थात् खड्ग नोक की ओर से खुबो दिया जावे, तो उससे हुआ व्रण छिन्न नहीं कहला सकता; वह तो विद्ध होता है। और यदि कोई आशय इस प्रकार विद्ध हो जावे, तो यह व्रण भिन्न कहलाता है। इसका विशेष निर्देश आगे किया जाता है।

मधु०—छिन्नलक्षणमाह—तिर्यगित्यादि । तिर्यगिति तिर्यग्व्यवस्थितः । छिन्नश्छेदसंपन्नः । ऋजुरवक्रः । गात्रस्य पातनमिति गात्रावयवस्य तदेकदेशरूपस्य वा गात्रस्य पातनम् ॥३॥

इसकी भाषा सरल है।

---

१ छिन्नमित्याङ्ग्लभाषायां 'स्लैश्ड' (Slashed) इति नाम्ना प्रसिद्धम्. २ तिरश्चीनं ऋजुर्वापि. ३ क्षपि. ४ छिन्नमित्युपदिश्यते. ५ हस्तादिपातनं.

भिन्नस्य स्वरूपमाह—

शक्तिदन्तेषुखड्गाग्रविषाणैराशयो हतः।
यत्किंचित् प्रस्रवेत्तद्धि भिन्नलक्षणमुच्यते ॥४॥

शक्ति, दन्त, बाण, खड्गाग्रभाग और शृङ्गों से आहत हुआ २ आशय (जब) जिस किसी वस्तु को प्रस्रावित करे (तब उस व्रण को) भिन्न कहते हैं। भाव यह है कि शक्ति आदि शरीर में घुस कर जब किसी आशयविशेष को विद्ध कर देता है और उसमें से चाहे कोई भी स्राव निकलने लगे, तो इस व्रण को भिन्न कहा जाता है; वा यह भिन्न का लक्षण है। कई आचार्य उपर्युक्त पद्य की व्याख्या करते हुए अग्रशब्द को शक्ति प्रभृति सब के साथ संयुक्त करते हैं; इस प्रकार व्याख्या का स्वरूप यह बनता है कि—शक्ति, दन्त, बाण और खड्ग के अग्रभाग से, एवं शृङ्ग से (शृङ्गाग्रभाग से) आहत कोई एक आशय (स्थान) जब किसी एक स्राव को छोड़ता है, तो यह व्रण भिन्न व्रण कहलाता है; यह भिन्न व्रण का लक्षण है। यहां किसी स्रावविशेष का नाम न लेकर 'यत्किञ्चित् प्रस्रवेत्' यह कहना इस अभिप्राय से है कि आशय बहुत से हैं; और भिन्न २ आशयवेध से भिन्न २ स्राव निकलते हैं, कोई एक स्राव नहीं निकलता; अतएव किसी स्रावविशेष को कहकर नियम नहीं किया; इसलिए यह सामान्य वचन (यत्किञ्चित्प्रस्रवेत्) कह दिया है। यह बात ठीक भी है, क्योंकि उदर मेद वा रक्त को, यकृत् प्लीहा रक्त को, बस्ति मूत्र को और पुरीषाशय पुरीष को स्रवित करता है।

वक्तव्य—भिन्न व्रण में दो बातें हैं—१ किसी शस्त्र वा विषाणादि के अग्रभाग से क्षत होना, २ किसी आशय का विद्ध होना और उसमें से यथोचित स्राव का निकलना। ये दोनों बातें आवश्यक हैं। यदि पहली बात न हो तो व्रण छिन्न कहलावेगा, और यदि दूसरी न हो तो व्रण विद्ध कहलावेगा।

मधु०—भिन्नलक्षणमाह—शक्तीत्यादि। विषाणं दन्तः शृङ्गं च। एतद्भिन्नलक्षणं पारिभाषिकं, तेन व्यध एवाशयदेशे भेद उच्यते, आशयदेशरहिते तु व्यधः। यत्किंचिदित्यादि। यस्य मूत्ररुधिरादेर्य आशयो भिन्नः स तत् प्रस्रवेत्, तेन बस्तिर्भिन्नो मूत्रं, रुधिराशयो रुधिरमिति ॥४॥

इसकी भाषा सरल है।

कोष्ठस्य लक्षणमाह—

स्थानान्यामाग्निपक्वानां मूत्रस्य रुधिरस्य च।
हृदुण्डुकः फुप्फुसश्च कोष्ठ इत्यभिधीयते ॥५॥ [सु० ४।२]

आम का स्थान, अग्नि का स्थान, पक्व का स्थान, मूत्र का स्थान, रुधिर का स्थान, हृदय, उण्डुक और फुप्फुस ये सब मिलकर कोष्ठ कहलाता है।

१ स्पष्ट (Punctured).

वक्तव्य—भाव यह है कि कोष्ठ इन स्थानों के समुदाय को वा जिसमें ये स्थान रहते हैं, उसको कहा जाता है; और ये स्थान ही आशय कहलाते हैं; और यथाक्रम इन नामों से पुकारे जाते हैं; तद्यथा—आमाशय, अग्न्याशय (पच्यमानाशय), पक्वाशय (मलाशय), मूत्राशय (बस्ति), रुधिराशय (यकृत् और प्लीहा), हृदय (चेतनाशय), उण्डुक और फुफ्फुस—यही आशय हैं।

कोष्ठभेदस्य लक्षणमाह—

तस्मिन् भिन्ने रक्तपूर्णे ज्वरो दाहश्च जायते।
मूत्रमार्गगुदास्येभ्यो रक्तं घ्राणाच्च गच्छति ॥६॥ [सु० ४।२]
मूर्च्छा श्वासस्तृषाऽऽध्मानमभक्तच्छन्द एव च।
विण्मूत्रवातसङ्गश्च स्वेदास्रावोऽक्षिरक्तता ॥७॥ [सु० ४।२]
लोहगन्धित्वमास्यस्य गात्रदौर्गन्ध्यमेव च।
हृच्छूलं पार्श्वयोश्चापि

उस कोष्ठ के भिन्न एवं रक्तपूर्ण होने पर ज्वर और दाह होता है; मूत्रमार्ग, गुदा, मुख और नासिका से रक्त जाता है; मूर्च्छा, श्वास, पिपासा, आध्मान, अरुचि, विट्सङ्ग, मूत्रसङ्ग, वातसङ्ग (अधोवायु का निरोध), स्वेदागमन, लोहिताक्षता (आंखों का रक्तवर्णयुक्त होना), मुख से लोहगन्ध आनी, रक्तागमन के कारण गात्रों से दुर्गन्धि, हृदय और पार्श्वों में शूल होता है।

आमाशयस्थभिन्नव्रणस्य लक्षणमाह—

विशेषं चात्र मे शृणु ॥८॥ [सु० ४।२]
आमाशयस्थे रुधिरे रुधिरं छर्दयत्यपि।
आध्मानमतिमात्रं च शूलं च भृशदारुणम् ॥९॥ [सु० ४।२]

यहां पर, अर्थात् आशयों के भिन्न होकर रक्तपूर्ण होने से, जो विशेष लक्षण होते हैं, अब वे कहे जाते हैं। भेद के कारण जब रक्त आमाशय में स्थित होता है, तो रुधिर की वमन अत्यधिक होती है; आध्मान भी अत्यधिक होता है; और शूल भी अत्यन्त होता है।

पक्वाशयगतभिन्नाख्यव्रणस्य लक्षणमाह—

पक्वाशयगते चापि रुजा गौरवमेव च।
अधःकाये विशेषेण शीतता च भवेदिह ॥१०॥ [सु० ४।२]

भेद के कारण जब रक्त पक्वाशय में चला जाता है तो पीड़ा, गौरव और नीचे के शरीर में—अर्थात् नाभि के निचले भाग में—शीतलता विशेष होती है। 'शीतता चाप्यधो नाभेः खेभ्यो रक्तस्य चागमः' इस पाठान्तर में यह अर्थ होगा कि—भेद के कारण जब रुधिर पक्वाशयगत होता है, तो पीड़ा, गौरव, नाभि के निचले भाग में शीतता और स्रोतों से रक्तस्राव होता है।

वक्तव्य—पीड़ा और गौरव भी यहां प्रायः नाभि के निचले भाग में ही होता है।

मधु०—यत्र भूयसामाशयानां स्थाने भेदव्यपदेशस्तमाह—स्थानानीत्यादि। आमस्य स्थानमामाशयः, अग्नेः पच्यमानाशयः, मलस्य पक्वाशयः, मूत्रस्य वस्तिः, रुधिरस्य यकृत्प्लीहानौ, हृत् हृदयम्, उण्डुक इक्षुरसपाकमलवद्यः शोणितमलस्तज्ज उण्डुकः; स चान्त्रदेशे व्यवस्थितः पुरीषाधानमिति, फुप्फुस इति हृदयस्य वामपार्श्वे (रक्ताधारः) 'फुप्फुस' इति ख्यातः। मूत्रमार्गगुदास्येभ्यो रक्तं घ्राणाच्च गच्छतीति बस्त्यादौ भिन्ने मेहनगुदाभ्यां रक्तं निःसरति, आमाशयादिभेदे तु मुखघ्राणाभ्यां रक्तनिर्गमः। स्वेदास्राव इति स्वेदस्यात्यन्तस्रुतिः। पार्श्वयोश्चापीति शूलमिति संवन्धः। मे इत्यव्ययं मत्त इत्यर्थः। आमाशयस्थ इत्यादि आध्मानं रक्तावततत्वाद्वायोः। रुजा शूलम्। गौरवं रक्तबहुत्वात्। अधःकाये विशेषेण शीततेति व्याधिप्रभावात् ॥५–१०॥

इसकी भाषा सरल ही है।

विद्धस्य स्वरूपमाह—

सूक्ष्मास्यशल्याभिहतं यदङ्गं त्वाशयं विना।
उत्तुण्डितं निर्गतं वा तद्विद्धमिति निर्दिशेत् ॥११॥ [सु० ४।२]

आमाशय आदि आशय के विना जो अङ्ग सूक्ष्म मुख वाले शल्य से अभिहत होकर उत्तुण्डित (न निकले हुए शल्य से उपलक्षित वा उन्नत मुख वाले) अथवा निर्गत (शल्य) हो, उसे विद्ध कहना चाहिए।

वक्तव्य—भाव यह है कि सूक्ष्म मुख वाले शल्य से आमाद्याशयों के विना जब कोई अङ्ग क्षत हो जाता है, चाहे वह (अङ्ग) उत्तुण्डित हो वा अनुत्तुण्डित, निर्गत हो वा अनिर्गत, विद्ध कहलाता है। इसमें शर्तें आई हैं—१ आशयों के बिना अङ्गों का अभिहत होना। २ सूक्ष्म मुख वाले शस्त्रों से अभिहत होना। ३ अङ्गों का उत्तुण्डित वा अनुत्तुण्डित होना। ४ निर्गत मुख वा सर्वथा निर्गत होना। इन चारों शर्तों के होने से अभिहत विद्ध कहला सकता है, अन्यथा नहीं। यदि प्रथम शर्त के विना शेष शर्तें हों, तो वह क्षत भिन्न कहलावेगा। यदि दूसरी शर्त के विना अर्थात् तीक्ष्ण मुख वाले शस्त्र (मुखजन्य) अभिघात के विना शेष शर्तें हों, तो वह व्रण छिन्न कहलाता है। तीसरी और चौथी शर्त साधारण है।

मधु०—विद्धलक्षणमाह—सूक्ष्मास्यशल्येत्यादि। आशयं विनेति उक्तामाशयादीन् विना। उत्तुण्डितमनिर्गतशल्योपलक्षणं, तेनानुत्तुण्डितमुत्तुण्डितं च विद्धं गृह्यते, निर्गतेन च निर्गतमुखं विद्धं सर्वथा निर्गतं च गृह्यते; तेन तन्त्रान्तरे "विद्धमुत्तुण्डितमनुत्तुण्डितं भिन्नं निर्भिन्नम्" इति यच्चतुष्प्रकारमभिहितं तत् सर्वं संगृहीतम् ॥११॥

इसकी भाषा सरल है।

क्षतं[1] लक्षयति—

नातिच्छिन्नं नातिभिन्नमुभयोर्लक्षणान्वितम् ।
विषमं व्रणमङ्गे यत्तत् क्षतं त्वभिधीयते[2] ॥१२॥ [सु० ४।१२]

जो व्रण न तो अधिक छिन्न हो और न ही अधिक भिन्न हो, किन्तु दोनों के लक्षणों वाला हो, वह अङ्गों को विषम करने वाला व्रण क्षतव्रण कहलाता है ।

मधु०—क्षतमाह—नातिच्छिन्नमित्यादि । नातिच्छिन्नमिति नावगाढच्छेदम् । नातिभिन्नमिति नातिविदीर्णाशयम् । उभयोर्लक्षणान्वितमिति स्तोकच्छेदस्तोकावदरणयोगादुभयलक्षणयुक्तम् । विषमं व्रणमङ्गे यदिति अङ्गवैषम्यकरं व्रणं यत्तत् क्षतम् ॥१२॥

इसकी भाषा सुगम है ।

पिच्चितं[3] लक्षयति—

प्रहारपीडनाभ्यां तु यदङ्गं पृथुतां गतम् ।
सास्थि तत् पिच्चितं विद्यान्मज्जरक्तपरिप्लुतम् ॥१३॥ [सु० ४।१२]

प्रहार वा पीड़न से जो अङ्ग अस्थिसहित चपटा हो जाता है और मज्जा तथा रक्त से परिप्लुत होता है, वह पिच्चित जानना चाहिए । अथवा प्रहार वा पीड़न से जो अङ्ग चपटा हो जाता है और अस्थिखण्ड से युक्त होता है वह मज्जा तथा रक्त से परिप्लुत अङ्ग पिच्चित जानना चाहिए । भाव यह है कि किसी भारी वस्तु (मुद्गर आदि) की चोट से, वा किसी वस्तु (किवाड़ आदि) के बीच में आकर पिस जाने से जो अङ्ग चपटा हो जाता है, उसे पिच्चित वा 'फिस्सना' कहा जाता है ।

मधु०—पिच्चितलक्षणमाह—प्रहारेत्यादिना । प्रहारो मुद्गरादिना, पीडनं कपाटादिना । पृथुतामिति चिप्पिटताम् । मज्जरक्तपरिप्लुतमित्यनेन व्रणभावात् मज्जरक्तागमं दर्शयति । तेन यत् व्रणं पिच्चितं, तद्भग्नस्य तथा सद्योव्रणस्य च चिकित्साविषयम् ॥१३॥

इसकी भाषा सुगम है ।

घृष्टस्य[4] लक्षणमाह—

घर्षणादभिघाताद्वा यदङ्गं विगतत्वचम् ।
उषास्रावान्वितं तच्च घृष्टमित्यभिधीयते ॥१४॥

घर्षण (घिसावट) वा अभिघात (चोट) से जो अङ्ग त्वचारहित एवं उषा (दाहविशेष) तथा स्रावयुक्त हो जाता है, वह घृष्ट कहलाता है ।

वक्तव्य—जब किसी अङ्ग से घिसावट (घर्षण) वा चोट (अभिघात) लगने के कारण त्वचा उचट जाती है और उसमें से कुछ दाहविशेष तथा स्राव निकलने लगता है, तो उस व्रण को घृष्ट (घिसावट, घिसीट वा घिसीटन) कहते हैं ।

---

१ क्षतं छाङ्ग्लभाषायां 'कन्टयूज्ड वुन्ड' (Contused Wound) इति नाम्ना प्रसिद्धम्.
२ त्वभिनिर्दिशेत्. ३ पिच्चितमित्याङ्ग्लभाषायां 'क्रश्ड' (Crushed) इति नाम्ना प्रसिद्धम्.
४ घृष्टं छाङ्ग्लभाषायाम् 'एक्स्कोरिएटेड' (Excoriated) इति नाम्ना प्रसिद्धम्.

घृष्ट में अधिकतर उपचर्म ही उतरता है, परन्तु कभी २ जब कि वह गम्भीर होती है, तो चर्म भी उतर जाता है; इसमें से लसीका सा पतला स्राव वा कभी २ रक्त भी स्रवित होने लगता है।

मधु०—घृष्टलक्षणमाह—घर्षणादित्यादि । घर्षणात् कर्कशवस्त्रादिना । विगतत्वचमिति पाठं त्यक्त्वा विगतत्वचेति पाठः साधुः, विगतत्वचोपलक्षितमङ्गम् । उषा ऊष्मनिर्गमवद्व्यथा ॥१४॥

यह सरलार्थक ही है।

सशल्यव्रणस्य लक्षणमाह—

श्यावं सशोथं पिडकाचितं च
मुहुर्मुहुः शोणितवाहिनं च ।
मृदूद्गतं बुद्बुदतुल्यमांसं
व्रणं सशल्यं सरुजं वदन्ति ॥१५॥

श्याववर्ण, शोथयुक्त, पिड़िकानिचित, बार २ रक्तवाही, कोमल, ऊपर को उठा हुआ, बुद्बुद (बुलबुले) के समान मांस वाला एवं पीड़ायुक्त व्रण शल्यान्वित कहलाता है। भाव यह है कि जिस व्रण में उपर्युक्त लक्षण हों, वह व्रण शल्य सहित होता है।

कोष्ठगतशल्यस्य लक्षणमाह—

त्वचोऽतीत्य शिरादीनि भित्त्वा वा परिहृत्य वा ।
कोष्ठे प्रतिष्ठितं शल्यं कुर्यादुक्तानुपद्रवान् ॥१६॥

त्वचाओं (सप्त त्वचाओं) को लाँघकर सिरा, मांस, स्नायु, अस्थि और सन्धियों को भिन्न वा परिहृत कर (हटाकर) कोष्ठ में गया हुआ शल्य प्रनष्टशल्यविज्ञानीय (सु. सू. स्था. अ. २६) अध्यायोक्त उपद्रवों को कर देता है। वे उपद्रव "कोष्ठगते त्वाटोपानाहौ मूत्रपुरीषाहारदर्शनं च व्रणमुखात् भवति"— (सु. सू. स्था. अ. २६) ये हैं।

मधु०—कोष्ठभेदमाह—त्वच इत्यादि । त्वच इति सप्त त्वचः । सिरादीनीति मांसस्नाय्वस्थिसन्धीनि । परिहृत्य वेति परिहारपक्षेऽपि कोष्ठभेदस्य संगतत्वात्; सिराव्यधलिङ्गं चात्रैव "इन्द्रगोपप्रतिमम्" इत्यादिना व्यक्तीभविष्यति । उक्तानिति प्रनष्टशल्यविज्ञानीये । तत्र ह्युक्तं— "कोष्ठगते त्वाटोपानाहौ मूत्रपुरीषाहारदर्शनं च व्रणमुखाद्भवति ॥" (सु. सू. स्था. अ. २६) इति ॥१५–१६॥

सब स्पष्ट है।

कोष्ठगतशल्यस्य प्रत्याख्येयतालक्षणान्याह—

तत्रान्तर्लोहितं पाण्डुशीतपादकराननम् ।
शीतोच्छ्वासं रक्तनेत्रमानद्धं च विवर्जयेत् ॥१७॥

जिसके कोष्ठ में रक्त स्थित हो, जिसके पाँव हाथ और मुख पाण्डु तथा शीत हों, उस ठंडे ऊर्ध्व श्वास युक्त, रक्त नेत्र वाले और आनाहान्वित कोष्ठभेदी

को छोड़ देना चाहिए। भाव यह है कि उपर्युक्त लक्षणान्वित कोष्ठभेदी असाध्य होने से विवर्ज्य होता है।

मधु०—असाध्यकोष्ठभेदलिङ्गमाह—तत्रेत्यादि। तत्र कोष्ठे। अन्तर्लोहितमिति। अभ्यन्तरस्थितरक्तम्, अनिःसृतरक्तमिति यावत्। आनद्धमित्यानाहवन्तम् ॥१७॥

इसकी भाषा सुगम है।

मांसादिमर्मगतक्षतस्य सामान्यस्वरूपमाह—

भ्रमः प्रलापः पतनं प्रमोहो
विचेष्टनं ग्लानिरथोष्णता च।
स्रस्ताङ्गता मूर्च्छनमूर्ध्ववात-
स्तीव्रारुजो वातकृताश्च तास्ताः ॥१८॥ [सु० १।२४]
मांसोदकाभं रुधिरं च गच्छेत्
सर्वेन्द्रियार्थोपरमस्तथैव ।
दशार्धसंख्येष्वथ विक्षतेषु
सामान्यतो मर्मसु लिङ्गमुक्तम् ॥१९॥ [सु० १।२५]

भ्रम, प्रलाप (बकवास), पृथ्वी पर गिरना, मनोमोह वा शरीरशैथिल्य, विरुद्ध चेष्टाएं, हर्षक्षय, उष्णता, अङ्गों तथा सन्धियों की विस्रंसता (ढीलापन), मूर्च्छा, ऊर्ध्ववात, वातिक (दण्डापतानकाक्षेपकादि) तीव्र पीडाएं, मांसोदक (मांसधावनाम्बु) के समान रक्त का बहना, और नेत्रादि सभी इन्द्रियों की अपने २ रूपादि विषय ग्रहण में असमर्थता ये लक्षण मांस, सिरा, स्नायु, अस्थि और सन्धि इन पांच मर्मों के विक्षत होने से सामान्यतः होते हैं।

मधु०—मांससिरास्नाय्वस्थिसन्धिमर्मसु पञ्चसु क्षतेषु सामान्यलिङ्गमाह—भ्रम इत्यादि। विचेष्टनं विरुद्धचेष्टनं करचरणादिक्षेपादिकम्। ग्लानिर्बलक्षयः। स्रस्ताङ्गता अङ्गसन्धिविस्रंसवद्व्यथा। मूर्च्छनमिन्द्रियमोहः। इन्द्रियार्थोपरम इन्द्रियाणां स्वविषयेषु रूपादिषु उपरमो ग्रहणाशक्तिः। दशार्धसंख्येषु पञ्चसु ॥१८–१९॥

इसकी भाषा सरल है।

मर्मशून्यशिरागतक्षतस्य लक्षणमाह—

सुरेन्द्रगोपप्रतिमं प्रभूतं
रक्तं स्रवेत्तत्क्षतजश्च वायुः।
करोति रोगान् विविधान् यथोक्तान्
शिरासु विद्धास्वथ वा क्षतासु ॥२०॥ [सु० १।२५]

सिराओं के (बाणादि से) विद्ध और (खड्गादि से) क्षत होने पर इन्द्रगोप (वीरबहूटी-वर्षा में पैदा होने वाली लाल मखमल की तरह रंग वाली) के समान (वर्णवाला) अधिक रक्त निकलता है और क्षत के कारण उत्पन्न वायु यथोक्त (शिरोविकार, अन्धापन तथा आक्षेपकादि) विविध रोगों को करता है।

मर्मशून्यस्नायुगतक्षतस्य स्वरूपमाह—

कौब्ज्यं शरीरावयवावसादः
क्रियास्वशक्तिस्तुमुला रुजश्च ।
चिराद्व्रणो रोहति यस्य चापि
तं स्नायुविद्धं पुरुषं व्यवस्येत् ॥२१॥ [सु० १।२५]

कुब्जता (कुबड़ापन), शरीर के अवयवों (हस्तपादादि अङ्गों) का अवसाद, क्रियाओं में असमर्थता (शरीर के अङ्गों का उत्क्षेपण अपक्षेपण प्रसारण आकुञ्चन क्रियाएँ न करना) और अत्यन्त पीड़ा तथा व्रण का बहुत देर बाद अवरोपण जिस मनुष्य में होता है, उस मनुष्य को स्नायुविद्ध जानना चाहिए। भाव यह है कि स्नायुविद्ध मनुष्य में कुब्जपन, अङ्गों का अवसाद, क्रिया में अशक्तता और व्रण विलम्ब से भरता है।

मर्मशून्यसन्धिगतक्षतस्य लक्षणमाह—

शोफाभिवृद्धिस्तुमुला रुजश्च
बलक्षयः सर्वत एव शोथः ।
क्षतेषु सन्धिष्वचलाचलेषु
स्यात् सर्वकर्मोपरमश्च लिङ्गम् ॥२२॥ [सु० १।२५]

चल वा अचल सन्धियों के क्षत होने पर शोफ (सूजन), वृद्धि, अत्यन्त पीड़ा, बल की क्षीणता, चारों ओर शोथ और सम्पूर्ण कर्मों में असमर्थता होती है अर्थात् ये लक्षण सन्धिविद्ध के हैं।

मर्मशून्यास्थिगतक्षतस्य स्वरूपमाह—

घोरा रुजो यस्य निशादिनेषु
सर्वास्ववस्थासु च नैति शान्तिम् ।
भिषग्विपश्चिद्विदितार्थसूत्र-
स्तमस्थिविद्धं पुरुषं व्यवस्येत् ॥२३॥

जिस मनुष्य में रात दिन घोर पीड़ाएं रहें और जो मनुष्य सभी अवस्थाओं में शान्ति प्राप्त नहीं करता, अर्थात् सूत्रज्ञ विद्वान् वैद्य उस मनुष्य को अस्थिविद्ध जाने। भाव यह है कि जो मनुष्य रात दिन घोर पीड़ाओं से पीड़ित रहे और किसी भी अवस्था में (बैठने, उठने, लेटने आदि अवस्था में वा परिस्थिति में) सुखी नहीं होता उसे विवेकी एवं विद्वान् वैद्य अस्थिविद्ध जानें, क्योंकि ये लक्षण अस्थिविद्ध के हैं।

वक्तव्य—यहां पर वैद्य के दो विशेषण दिए हैं—१ विपश्चित् और २ विदितार्थसूत्रः भिषक् शब्द से यह सारा अर्थ आ जाता है, क्योंकि भिषक् की

१ शोफाभिवृद्धिः.

प्रशंसा में वाग्भट ने लिखा है कि—"दक्षस्तीर्थात्तशास्त्रार्थो दृष्टकर्मा शुचिर्भिषक्" इति (वा. सू. स्था. अ. १)। किन्तु फिर भी सामान्य भिषक् शब्द से सन्देह रह जाता है; कारण कि भिषक् दो प्रकार के होते हैं; १ प्राणाभिसर और रोगहन्ता, २ रोगाभिसर और प्राणहन्ता। जैसे चरक ने कहा भी है कि—"द्विविधास्तु खलु भिषजो भवन्ति अग्निवेश! प्राणानामेकेऽभिसरा हन्तारो रोगाणाम्, रोगाणामेकेऽभिसरा हन्तारः प्राणानाम्" (च. सू. स्था. अ. २९)। एवं इसी सन्देह को दूर करने के लिए ही ये दो विशेषण दिए हैं। इस प्रकार प्राणाभिसर वैद्य ही यह सब कुछ जान सकता है, दूसरा नहीं; क्योंकि वह तो अन्यत्र अन्य रोग के कारण इनसे मिलते-जुलते लक्षणों को देख विरुद्ध ज्ञान के कारण अनर्थ कर सकता है। परन्तु जो विदितार्थसूत्र विपश्चिद्भिषक् है, वह संशय में भ्रान्त नहीं हो सकता। जो भ्रान्त नहीं हो सकता, वही प्राणाभिसर है। प्राणाभिसर का लक्षण "तस्माच्छास्त्रेऽर्थविज्ञाने प्रवृत्तौ कर्मदर्शने। भिषक् चतुष्टये युक्तः प्राणाभिसर उच्यते"–(च. सू. स्था. अ. १९) यह है। इस तरह यह सिद्ध होता है कि प्राणाभिसर वैद्य इन लक्षणों से युक्त मनुष्य को अस्थिविद्ध जाने।

मधु०—सिरादयो मर्मरूपा अमर्मरूपाश्च सन्ति, तत्र पूर्वं मर्मरहितानां सिरादीनां विद्धलिङ्गमाह–सुरेन्द्रगोपेत्यादि। यथोक्तानिति शोणितवर्णनीयोक्तान्। तत्र चोक्तं—"तदतिप्रवृत्तं शिरोऽभितापमान्ध्यमाक्षेपादींश्च करोति॥" (सु. सू. स्था. अ. १४) इति। विद्धासु बाणादिना। क्षतासु खड्गादिना। कौब्ज्यं कुब्जता। तुमुला गहनाः। सन्धिष्वचलाचलेष्विति अचलेषु निश्चेष्टेषु, चलेषु चेष्टावत्सु, सन्धयश्चलाचलभेदेन द्विविधाः। तथाच सुश्रुतः–"शाखासु हन्वोः कट्यां च चेष्टावन्तश्च सन्धयः। शेषास्तु सन्धयः सर्वे विज्ञातव्याः स्थिरा बुधैः" (सु. शा. स्था. अ. ५) इति॥२०–२३॥

चलाचलेषु का अभिप्राय चल और अचल सन्धियों के विद्ध होने पर यह है। 'चलाचल' शब्द इसलिए दिया है कि सन्धियाँ दो प्रकार की होती हैं—१ चल, २ अचल। इनमें से प्रथम प्रकार की सन्धियाँ हाथों, पांवों, कटि और हनु में होती है। और दूसरे प्रकार की सन्धियाँ अन्यत्र होती हैं। यही सुश्रुत ने 'शाखासु' इत्यादि से कहा है।

सममर्मशिराद्याश्रितक्षतानां लक्षणान्याह—

यथास्वमेतानि विभावयेच्च
लिङ्गानि मर्मस्वभिताडितेषु।

सिरादि मर्मों के अभिहत होने पर सिरादिकों के अपने २ लक्षण सामान्यतः जानने चाहिएँ।

वक्तव्य—भाव यह है कि जो सिरादि विद्ध के लक्षण कहे हैं वे तथा जो 'भ्रमः प्रलापादि' सामान्य लक्षण कहे हैं, वे लक्षण सिरादि मर्मों के अभिहत होने से होते हैं।

मधु०—मर्मरहितानां सिरादीनां विद्धलक्षणमभिधाय सिरादिमर्मविद्धलिङ्गमतिदेश-न्नाह—यथास्वमेतानीत्यादि । विभावयेच्चेति चकारो भिन्नक्रमे; तेन एतानि लिङ्गानि तथा सामान्यलिङ्गानि च जानीयादित्यर्थः ॥

स्पष्ट ही है ।

मांसमर्मगतक्षतस्य लक्षणमाह—

पाण्डुर्विवर्णः स्पृशितं न वेत्ति
यो मांसमर्मण्यभिपीडितः स्यात् ॥२४॥

जो मनुष्य पाण्डु, वा मलित वर्ण वाला और स्पर्श ज्ञान जिसे न हो, वह मांसमर्म में अभिहत जानना चाहिए ।

मधु०—अनुक्तमांसमर्मणो विद्धस्य लिङ्गमाह—पाण्डुर्विवर्ण इत्यादि । ननु, सिरादिविद्धलिङ्गवत् मांसविद्धलिङ्गमपि पूर्वं कुतो नोपदिष्टम् ? उच्यते, केवलमांसविद्धस्याबहुव्यापत्कर-त्वात् पूर्वमनुपादानम् ॥२४॥

(प्रश्न—) सिरादिविद्धलिङ्ग की तरह मांसविद्धलिङ्ग भी पहले क्यों नहीं कहा ? (उत्तर—) केवल मांसविद्ध के बहुत व्यापत्तिकर न होने से उनका पहले अभिधान नहीं किया । भाव यह है कि विद्धसिरादि लक्षण पहले कह अवशिष्ट प्रतिपाद्य विषय का प्रतिपादन कर पुनः मांसविद्ध के लक्षण अब क्यों कहे ? उनके साथ ही कहने उचित थे । इसका उत्तर आचार्य ने यह दिया है कि केवल मांस मर्म बहुत व्यापत्तिकर न होने से इसका पूर्व अभिधान न कर अब कर दिया है ।

व्रणस्य षोडशोपद्रवानाह—

विसर्पः पक्षघातश्च शिरास्तम्भोऽपतानकः ।
मोहोन्मादव्रणरुजो ज्वरस्तृष्णा हनुग्रहः ॥२५॥
कासश्छर्दिरतीसारो हिक्का श्वासः सवेपथुः ।
षोडशोपद्रवाः प्रोक्ता व्रणानां व्रणचिन्तकैः ॥२६॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने सद्योव्रणनिदानं समाप्तम् ॥४३॥

विसर्प, पक्षाघात, सिरास्तम्भ, अपतानक, मूर्च्छा, उन्माद, व्रणपीड़ा, ज्वर, पिपासा, हनुस्तम्भ, खांसी, वमन, अतिसार, हिक्का (हिचकी), श्वास (दमा) और कँपकँपी, व्रणज्ञ आचार्यों ने ये १६ उपद्रव व्रणों के कहे हैं ।

मधु०—सर्वव्रणानामुपद्रवानाह—विसर्प इत्यादि ॥२५-२६॥

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायां सद्योव्रणनिदानं समाप्तम् ॥४३॥

इसकी भाषा सरल ही है ।

———

अथ भग्ननिदानम् ।

भग्नस्य द्वैविध्यमाह—

भग्नं समासाद् द्विविधं हुताश !
काण्डे च सन्धौ च हि तत्र सन्धौ ।

हे अग्निवेश ! ('हुताश' से अग्निवेश लिया जाता है, चरक में प्रायः अग्निवेश को हुताश शब्द से भी संबोधित किया है) संक्षेपतः भग्न दो प्रकार का होता है। प्रथम—भग्न काण्ड में होना, इसे काण्डभग्न कहते हैं; दूसरा—भग्न सन्धि में होना, इसे सन्धिभग्न कहते हैं। ये दोनों भेद अव्रणभङ्ग के हैं। भाव यह है कि भग्न पहले दो प्रकार का होता है—१ सव्रणभग्न, २ अव्रणभग्न। प्रथम प्रकार का भग्न सविस्तर पहले प्रतिपादित कर चुके हैं, अब द्वितीय (अव्रणभङ्ग) का अवसर होने से उसके विवरण में पहले आचार्य ने अव्रणभङ्ग को संक्षेपतः काण्डभेद और सन्धिभेद इन दो भेदों से दो प्रकार का कहा है। यही भाव सुश्रुत के गद्य में इस प्रकार प्रतिपादित हुआ है कि—"तत्तु भङ्ग-(भग्न इति पा.) जातमनुसार्यमाणं द्विविधमेवोत्पद्यते; सन्धिभग्नं काण्डभग्नञ्च" इति (सु. नि. स्था. अ. १५)। अर्थात् अव्रणभङ्ग के दो प्रकार हैं। इनमें तात्त्विकदृष्टि से अनुसन्धान करने पर समस्तभङ्ग दो ही प्रकार के होते हैं; एक सन्धिमुक्त और दूसरा काण्डभग्न। सन्धिमुक्त-सन्धिविश्लेष; इसमें अस्थि शिर अपना स्थान छोड़ कर दूर हो जाते हैं, वा सन्धिकोष के छिद्र में से बाहर निकल जाते हैं। इसको डिस्लोकेशन कहा जाता है। काण्डभग्न-अस्थिकाण्डभग्न; इसको फ्रॅक्चर कहा जाता है।

सन्धिभग्नस्य[1] उत्पिष्टादिभेदेन षाड्विध्यमाह—

उत्पिष्टविश्लिष्टविवर्तितं च
तिर्यग्गतं क्षिप्तमधश्च षट् च ॥१॥

उन दो भेदों में से सन्धि में १ उत्पिष्ट, २ विश्लिष्ट, ३ विवर्तित, ४ तिर्यग्गत, ५ क्षिप्त और ६ अधः ये छः प्रकार के भेद होते हैं।

वक्तव्य—तिर्यग्गत को सुश्रुत ने 'तिर्यक्क्षिप्त' नाम से, क्षिप्त को 'अतिक्षिप्त' के नाम से और अधः को 'अधःक्षिप्त' के नाम से कहा है। शेष नाम समान हैं। तद्यथा—"तत्र सन्धिमुक्तम्-उत्पिष्टं, विश्लिष्टं, विवर्तितम्, अवक्षिप्तम्, अतिक्षिप्तं, तिर्यक्क्षिप्तमिति षड्विधम्" (सु. नि. स्था. अ. १५) इति। वस्तुतः माधवकर को भी यहां सुश्रुतमत ही अभिप्रेत है; परन्तु नामों में परिवर्तन छन्दोनुरोध के कारण किया है। उत्पिष्ट में हड्डी का चूर्ण वा पेषण होता है। इसे (Fracture dislocation) कहा जाता है। विश्लिष्ट में कुछ विश्लेष होता

१ सन्धिभग्नं (सन्धिमुक्तं) युनानीवैद्यके 'खलआ' इति नाम्ना आङ्ग्लभाषायाञ्च 'डिस्लोकेशन' (Dislocation) इति नाम्ना प्रसिद्धम्.

है, इसे सबलक्सेशन (Subluxation) कहा जाता है; अथवा इसे इन्कम्प्लीट डिस्लोकेशन भी कहा जाता है। अवक्षिप्त में अस्थि नीचे की ओर सरक जाती है; इसे डाऊनवर्ड डिस्प्लेसमेंट कहते हैं। विवर्तित में अस्थि वाम वा दक्षिण ओर को सरकती है; इसे ल्पाटरल डिस्प्लेसमेंट कहा जाता है। अतिक्षिप्त में मांस सिरा धमनी आदि विदीर्ण हो जाती हैं; इसे कॉम्प्लिकेटेड फ्रैक्चर कहा जाता है। तिर्यक्क्षिप्त में अस्थि वक्र हो जाती है; इसे कम्प्लीट डिस्लोकेशन कहते हैं।

मधु०—आगन्तुसामान्याद्भग्ननिदानम्। द्विविधं हि भग्नं सव्रणमव्रणं च, तत्र सव्रणमभिधायाव्रणमाह—भग्नं समासादित्यादि। हुताश इति अग्निवेशसंबोधनं, चरके हुताशशब्देनाग्निवेशोऽभिधीयते, एकदेशेनापि समुदायप्रतीतेः। काण्डे च सन्धौ चेति सन्धिविच्छिन्नमेकं, द्वितीयं काण्डभग्नं; काण्डमस्थिकाण्डः, काण्डेन च नलककपालवलयतरुणरुचकानां ग्रहः, तत्र भग्नं काण्डेभग्नं; द्वयोरस्थ्नोः सन्धानं सन्धिः, तद्विश्लेषः सन्धिमुक्तम्। तत्र सन्धाविति सन्धौ मुक्ते 'लिङ्गमभिधीयते' इति शेषः। ननु कथं सन्धिमुक्तं भग्नमुच्यते ? अस्थ्नां हि भङ्गो युक्तः। उच्यते, अस्थिविश्लेषोऽत्र भङ्गोऽभिप्रेतः, स च काण्डभग्ने सन्धिमुक्ते चास्तीति न दोषः ॥१॥

(प्रश्न—) सन्धिच्युति को भग्न कैसे कहा जा सकता है ? क्योंकि भग्न तो अस्थियों में होना चाहिए। (उत्तर—) भङ्ग शब्द का अर्थ यहां अस्थियों का परस्पर विश्लेष (पृथक् होना) लिया गया है, और विश्लेष काण्डभग्न और सन्धिभग्न दोनों में ही है; अतः कोई दोष नहीं। इस सन्दर्भ का भाव यह है कि 'भग्न' शब्द का अर्थ टूटना है और टूटना अस्थियों में ही होता है, न कि सन्धियों में; क्योंकि सन्धियाँ टूटती नहीं, वे तो विश्लिष्ट (पृथक् वा अलग) होती हैं, अतः काण्डभग्न तो हो सकता है, क्योंकि इसमें अस्थि का भङ्ग होना है; किन्तु सन्धिभङ्ग नहीं हो सकता, क्योंकि सन्धियाँ विश्लिष्ट होती हैं, न कि भग्न; यह है शंका। इसका उत्तर यह है भङ्ग शब्द से यहां टूटना न लेकर विश्लेष लिया जाता है, एवं विश्लेष अर्थ लेने से वह दोष नहीं आता; क्योंकि विश्लेष (भग्न में भी होने से) काण्डभग्न में और सन्धियों में (केवल विश्लेष होने से) उभयत्र होता है; अतः कोई दोष नहीं आताः। यही अभिप्राय आचार्य सुश्रुत का भी है अतएव तो उसने भग्न का निवारण करते हुए कहा है कि 'तत्तु भग्नजातमनुपसार्यमाणं द्विविधमेवोपलभते सन्धिमुक्तं काण्डभग्नञ्च'। यहां सुश्रुत ने भग्न शब्द का विश्लिष्टता अर्थ लेकर ही सन्धि को मुक्त और काण्ड को भग्न बताया है, अन्यथा 'भग्नजातं' के साथ 'सन्धिमुक्तं' का विरोध आता है। आर्षवाक्यों में व्याक्तिविरोध नहीं होता; अतः युक्त्यन्तरमार्गणा से यही सिद्ध होता है कि 'भग्न' शब्द का अर्थ यहां विश्लेष है।

सन्धिभग्नस्य सामान्यस्वरूपमाह—

प्रसारणाकुञ्चनवर्तनोग्रा
रुक् स्पर्शविद्वेषणमेतदुक्तम्।
सामान्यतः सन्धिगतस्य लिङ्गम्

प्रसारण (भग्न स्थान के फैलाने में), आकुञ्चन (सिकोड़ने में) और परिवर्तन में (अङ्ग की परिस्थिति बदलने में वा करवट लेने में) अत्यन्त पीड़ा

एवं स्पर्श में द्वेष अर्थात् स्पर्शासहिष्णुता होनी—ये सन्धिगत भग्न के सामान्य लक्षण हैं। प्रसारणादि उपलक्षण हैं; अतएव सुश्रुतोक्त आक्षेपण का भी इसी में ग्रहण हो जाता है। सुश्रुत ने आक्षेपण में भी रुजा मानी है; तद्यथा—"तत्र प्रसारणाकुञ्चनविवर्तनाक्षेपणाशक्तिरुग्ररुजत्वं स्पर्शासहत्वं चेति सामान्यं सन्धिमुक्तलक्षणमुक्तम्" (सु. नि. स्था. अ. १५) इति।

मधु०—सन्धिभग्नस्य सामान्यलिङ्गमाह—प्रसारणेत्यादि । प्रसारणाकुञ्चनवर्तनोग्रा रुगिति प्रसारणादिषु उग्रा रुक् । वर्तनं निष्क्रियतयाऽवस्थानम् ॥

सन्धिभग्न इत्यादि की भाषा सुगम है।

उत्पिष्टसन्धेर्लक्षणमाह—

उत्पिष्टसन्धेः श्वयथुः समन्तात् ॥२॥
विशेषतो रात्रिभवा रुजा च

उत्पिष्ट सन्धि में चारों ओर शोथ और रात्रि को विशेष पीड़ा होती है। अर्थात् जब सन्धि उत्पिष्ट अर्थात् चूर्णित हो, तो उसमें चारों ओर शोथ एवं रात को विशेष पीड़ा होती है। यहां चारों ओर (समन्तात्) का अर्थ सन्धि के दोनों ओर है; अर्थात् सन्धि में एक से अधिक अस्थियाँ ही होती हैं; एवं उन दोनों अस्थियों में ही अस्थि के चारों ओर शोथ हो जाती है।

विश्लिष्टसन्धेर्लक्षणमाह—

विश्लिष्टजे तौ च रुजा च नित्यम्।

विश्लिष्ट सन्धिभग्न में रात्रि में पीड़ा, चारों तरफ सूजन और नित्य पीड़ा होती है। भाव यह है कि विश्लिष्ट सन्धिभग्न में उत्पिष्ट के लक्षणों के साथ २ नित्य पीड़ा होती है।

वक्तव्य—विश्लिष्ट लक्षण में कहा है कि—'तौ च रुजा च नित्यम्' यहां 'तौ च' का अर्थ उत्पिष्ट सन्धि में प्रोक्त रात्रि में रुजा और समन्ताच्छोथ है। अब विचारना यह है कि विश्लिष्ट के लक्षण में नित्य रुजा भी कही है; नित्य रुजा का अर्थ सर्वदा पीड़ा रहनी है; एवं जब पीड़ा सर्वदा रहेगी, तो रात्रि में रुजा कहने की क्या आवश्यकता है; क्योंकि जब सर्वदा रुजा रहेगी तो रात्रि में रुजा उसमें ही आ जावेगी। इसका उत्तर यह है कि यद्यपि सर्वदा पीड़ा इसमें रहती है, परन्तु रात्रि को पीड़ा विशेषतः होती है; इसलिये रात्रिरुजा और नित्यरुजा दोनों पद दिये हैं। उत्पिष्ट से इसका भेद यह है कि—उत्पिष्ट में समन्तात् शोथ अधिक होती है और सर्वदा रुजा कम और रात्रि को रुजा विशेष होती है।

विश्लिष्ट—चारों तरफ शोथ स्वल्प, सर्वदा रुजा अधिक और रात्रिरुजा उससे भी अधिक होती है। भाव यह निकला कि इसमें चारों ओर शोथ उत्पिष्ट की अपेक्षा स्वल्प और सर्वदा रुजा तथा रात्रि में रुजा अधिक होती है। स्वल्प

शोथादि के लिए सुश्रुत ने कहा भी है कि "विश्लिष्टेऽल्पः शोफो वेदना सातत्यं सन्धिविक्रिया च" इति । (प्रश्न—) ऊपर सन्धिभग्न में भग्न का अर्थ विश्लेष माना है, जब ऐसा ही है तो पुनः सन्धिभग्न के भेदों में विश्लिष्ट क्यों पढ़ा ? (उत्तर—) वहां विश्लेष का अर्थ अस्थिविश्लेष है; वह चाहे किसी भी प्रकार का क्यों न हो; किन्तु यहां विश्लेष का अर्थ सन्धि का अनभिधान युक्त होना है। वा यह कहें कि वहां विश्लेष शब्द सामान्य(जाति)रक है और यहां विशेषपरक है । यथा—तृण, धातु, ज्वर, यक्ष्म और मल आदि शब्द; ये जब सामान्यवाचक (जातिवाचक) होते हैं, तो क्रमशः तृणसमूह को, वातादि दोष रसादि धातु आदि को, बुखार आदि सभी रोगों को, रोगसमूह को और पित्त, कफ, विण्मूत्रादि को बोधित कराते हैं; किन्तु जब ये विशेष (व्यक्ति) वाचक होते हैं, तो क्रमशः तृणविशेष को, रसादिकों को, बुखार को, राजयक्ष्मा को और विण्मूत्रादि को बोधित करते हैं । एवं प्रकृत में भी विश्लिष्ट शब्द विशेष वाचक होकर इसी भग्नविशेष का बोधक है ।

विवर्तितसन्धेः स्वरूपमवतारयति—

विवर्तिते पार्श्वरुजश्च तीव्राः

विवर्तित सन्धिभग्न में भग्न के पार्श्वों में तीव्र पीड़ा होती है । यहां चकार से कई विद्वान् समन्तात् शोथ रात्रिरुजा और नित्य पीड़ा लेते हैं । भेद यह है कि इसमें पार्श्वपीड़ा तीव्र होती है । किन्तु कई विद्वान् चकार से सुश्रुतोक्त विषमाङ्गता लेते हैं; जैसे सुश्रुत ने कहा भी है कि—"विवर्तिते तु सन्धिपार्श्वापगमनाद्विषमाङ्गता वेदना च" इति (सु. नि. स्था. अ. १५) ।

तिर्यग्गतभग्नसन्धेः स्वरूपमाह—

तिर्यग्गते तीव्ररुजो भवन्ति ॥३॥

तिर्यक्गत सन्धिमुक्त होने में तीव्र पीड़ाएं होती हैं । ये पीड़ाएं एक अस्थि के पार्श्वापगमन के कारण हैं, जैसे सुश्रुत में कहा भी है कि—"तिर्यक्क्षिप्ते त्वेकास्थिपार्श्वापगमनमत्यर्थवेदना चेति" ।

क्षिप्तसन्धेर्लक्षणमाह—

क्षिप्तेऽतिशूलं विषमत्वमस्थ्नोः

(ऊपर की ओर) सन्धि के अतिक्षिप्त होने पर शूल और अस्थियों में विषमपन होता है ।

वक्तव्य—अतिक्षिप्त का लक्षण अन्यत्र ऐसा लिखा है कि—"अतिक्षिप्ते द्वयोः सन्ध्यस्थ्नोरतिक्रान्तता वेदना च" इति ।

अधःक्षिप्तसन्धेः लक्षणमाह—

क्षिप्ते त्वधो रुग्विघटश्च सन्धेः ।

अधःक्षिप्त सन्धिभग्न में पीड़ा और सन्धि का विघट्टन होता है।

मधु०—उत्पिष्टादिलिङ्गमाह—उत्पिष्टसन्धेरित्यादि । उत्पिष्टं द्वाभ्यामस्थिभ्यां सन्धौ घर्षणम् । श्वयथुः समन्तादिति उभयभागे शोथः, उभयतः सन्ध्यस्थ्नोर्घर्षितत्वात् । विशेषतो रात्रिभवा रुजा चेति अभिघातकुपित एव रात्रौ शैत्येनात्यन्तं वृद्धो वायुः रुजां करोति । अत्र चूर्णितत्वेन मार्गावरणाद्वातकोप इत्यर्थः । विश्लिष्टज इति विश्लिष्टजाते सन्धिमुक्ते, विश्लिष्टं मनाक् सन्धिविश्लेषः शिथिलतामात्रं, विश्लिष्टमिति भावे क्तः । तौ चेति विश्लिष्टे रात्रिरुजासमन्ताच्छोथौ; समन्ताच्छोथोऽप्यत्राल्पो बोध्यः, सन्धेरनभि(ति)घातात् । सन्धिविक्रियया अस्थ्नोरपसृतत्वान्मध्यनिम्नत्वम्—"**उत्पिष्टमथ विश्लिष्टं सन्धिं वैद्यो न घट्टयेत् ॥**" (सु. चि. स्था. अ. २) इति वचनात्; मनाग्विक्रियया वा । रुजा च नित्यामिति सर्वदा रुजा बलवती भवतीत्युत्पिष्टाद्विशेषः । विवर्तिते इति 'सन्धौ' इति शेषः, विवर्तिते विपरीतं वर्तिते, विवर्तनं सन्धौ द्वयोरस्थ्नोर्विवृतिर्विभ्रमणमनार्जवता । पार्श्वरुजश्च तीव्रा इति आभ्यन्तरसन्धिस्थानयोः पार्श्वसन्ध्यस्थ्नोः पार्श्वगमनत्वात्तीव्राः पार्श्वरुजः । तिर्यग्गत इति तिर्यक्क्षिप्ते । अत्र ह्येकं सन्ध्यस्थि सन्धिस्थानं त्यक्त्वा तिर्यग्याति । क्षिप्तेऽतीति अतिक्षिप्ते; 'ऊर्ध्वे' इति शेषः । अत्र ह्येकास्थिविक्रियया उभयास्थिविक्रियया वा द्वयोरप्यस्थ्नोः परस्परातिक्रमणं दूरगमनं वा; विश्लिष्टे तु मनाक् शिथिलतामात्रं; अधःक्षिप्ते तु किंचिदधोगमनमिति विशेषः । 'विषमाश्च सक्थ्नोः' इति पाठे तु 'रुज—' इति शेषः । क्षिप्ते त्वधोरुग्विघटश्च सन्धेरिति अधःक्षिप्ते रुक् रुजा, सन्धेर्विघटश्च विघट्टनम् । 'विरुद्धचेष्टा विघटस्य' इति पाठान्तरे विघटितस्य सन्धेरित्यर्थः । अत्र अधोऽस्थिगमनम् । अधःक्षिप्तवदूर्ध्वक्षिप्तस्याप्यभिधाने प्राप्ते, अनुक्तिरतिक्षिप्तेऽवरोधात् ॥२–३॥

कोई विशेष व्याख्यान योग्य बात नहीं हैं; क्योंकि यह पाठ सरल ही है।

काण्डभग्नस्य[1] द्वादशविधत्वमाह—

काण्डे त्वतः कर्कटकाश्वकर्ण-
विचूर्णितं पिच्चितमस्थिछल्लिका ॥४॥
काण्डेषु भग्नं ह्यतिपातितं च
मज्जागतं च स्फुटितं च वक्रम् ।
छिन्नं द्विधा द्वादशधापि काण्डे

काण्डभग्नस्य सामान्यस्वरूपमाह—

स्रस्ताङ्गता शोथरुजातिवृद्धिः ॥५॥
संपीड्यमाने भवतीह शब्दः
स्पर्शासहं स्पन्दनतोदशूलाः ।
सर्वास्ववस्थासु न शर्मलाभो
भग्नस्य काण्डे खलु चिह्नमेतत् ॥६॥

---

१ काण्डभग्नं युनानीवैद्यके 'कस्र' इति नाम्ना आङ्ग्लभाषायाञ्च 'फ्रॅक्चर' (Fracture) इति नाम्ना प्रसिद्धम्.

कर्कटक, अश्वकर्ण, विचूर्णित, पिच्चित, अस्थिछल्लिका, काण्डभग्न, अतिपातित, मज्जागत, स्फुटित, वक्र, छिन्न और द्विधाभूत—ये काण्डभग्न के १२ भेद हैं। द्विधाभूत (वा विदीर्ण) को सुश्रुत ने पाटित माना है, और शेष समान हैं, तद्यथाह सुश्रुतः—"काण्डभग्नमत ऊर्ध्वं वक्ष्यामः-कर्कटकम्, अश्वकर्णं, चूर्णितं, पिच्चितम् अस्थिच्छलितं, काण्डभग्नं, मज्जानुगतम्, अनुपातितं, वक्रं, छिन्नं, पाटितं, स्फुटितमिति द्वादशविधम्" इति।

काण्डभग्न के सामान्य लक्षण—अङ्गों का ढीला होना, शोथ और पीड़ा की वृद्धि, पीड़न करने पर शब्द की उत्पत्ति, स्पर्श में असहिष्णुता, स्पन्दन, तोद, शूल और किसी भी अवस्था में सुख का न मिलना—काण्डभग्न का लक्षण है। अर्थात् जब काण्डभग्न के भेदों में से कोई एक भग्न हो जावे, तो उसमें सामान्यतया स्रस्ताङ्गता आदि लक्षण होते हैं। इसी अभिप्राय को तन्त्रान्तर में भी इस प्रकार प्रतिपादित किया है कि—"श्वयथुबाहुल्यं स्पन्दनं विवर्तनं स्पर्शासहिष्णुत्वमवपीड्यमाने शब्दः स्रस्ताङ्गता विविधवेदनाप्रादुर्भावः सर्वास्ववस्थासु न शर्मलाभ इति समासेन काण्डभग्नलक्षणमुक्तम्" इति। ये सामान्य लक्षण हैं। विशेष लक्षण सुश्रुत ने इस प्रकार दर्शाए हैं। तद्यथा—"विशेषतस्तु संमूढमुभयतोऽस्थिमध्ये भ(ल)ग्नं ग्रन्थिरिवोन्नतं कर्कटकम्, अश्वकर्णवदुद्गतमश्वकर्णकं[1], स्पृश्यमाने शब्दवच्चूर्णितमवगच्छेत्, पिच्चितं पृथुतां गतमनल्पशो शोफं, पार्श्वयोरस्थि हीनोद्गतमस्थिछल्लितं[2], वेल्लते प्रकम्पमानं काण्डभग्नम्, अस्थ्यवयवोऽस्थिमध्यमनुप्रविश्य मज्जानमुन्नह्यतीति मज्जानुगतम्[3], अस्थि निःशेषतश्छिन्नमतिपातितम्, आभुग्नमविमुक्तास्थि वक्रम्, अन्यतरपार्श्वावशिष्टं छिन्नं, पाटितमणु बहुविदारितं वेदनावच्च, शूकपूर्णमिवाध्मातं विपुलं विस्फुटितं स्फुटितमिति"-(सु. नि. अ. १५)।

मधु०—अतःपरं काण्डभग्नमभिधीयते—काण्डे त्वत इत्यादि। काण्डे इत्यत्र भग्नमिति शेषः। अत इति अतः परम्। कर्कटकेति उभयोः पार्श्वयोर्निपीडनेनाहतावनतम्, अत एव मध्ये ग्रन्थिरिवोन्नतं, कर्कटतुल्यत्वात् कर्कटकम्। अश्वकर्णेति अश्वकर्णवत् विपुलास्थिनिर्गमादश्वकर्णम्। विचूर्णितमिति क्षुण्णमस्थि, तच्च शब्दस्पर्शाभ्यामवगन्तव्यम्। पिच्चितमिति यन्त्रितं बहुशोथम्। अस्थिछल्लिकेति छल्लं वल्कलं तदत्रास्तीत्यस्थिछल्लिका, अत्र मत्वर्थीयष्ठिकन्। अत्र तु ष्ठ न भवति, वृद्धेरनित्यत्वात्। एषा पार्श्वगतस्तोकास्थिविश्लेषाद्भवति। 'अस्थिछल्लितम्' इति वा पाठः, छल्लमस्य संजातमिति छल्लितम्। काण्डेषु भग्नमित्यनेन काण्डभग्नमभिधीयते, प्रसारणे कम्पमानं काण्डभग्नम्। यद्यपि काण्डभग्नं सर्वमेव कर्कटादि, तथाऽपि विशिष्टे काण्डभग्ने काण्डभग्नसंज्ञा [illegible]। यथा—[illegible] सामान्ये, विशेषे पुन[illegible] च वर्तते। अतिपातितमिति अस्थि निःशेषतश्छिन्नमतिपातितम्। मज्जागतमिति अस्थ्यवयवोऽस्थिमज्जानु-

१ [illegible] (Spiral Fracture) इति प्रसिद्धम्. २ ग्रीन स्टिक फ्रैक्चर (Green Stick Fracture). ३ इम्पैक्टेड फ्रैक्चर (Impacted Fracture).

प्रविश्य मज्जानं निःसारयतीति मज्जागतम् । स्फुटितं स्तोकं बहुधा विदीर्णं शूकपूर्णमिव वेदनावत् । वक्रमिति अविमुक्तास्थि कुब्जीभूतं वक्रम् । वक्रताऽपि भग्नत्वं ज्ञेयम् । छिन्नं द्विधेति एकमणुविदीर्णं, बहुविदीर्णमन्यत्; एकं विदीर्णं संलग्नं, अपरं विदीर्णं द्विधाभूतम्; अन्यस्तु विपुलैकविदरणमित्याह; सुश्रुते एतत् पाटितसंज्ञम् । काण्डेभग्नस्य द्वादशविधत्वं नियमयति—काण्ड इति । अत्र भग्नमिति शेषः । अपिशब्दोऽत्र भिन्नक्रमः, स चावधारणार्थे, तेन छिन्नमित्यत्र संबध्यते । छिन्नमेव द्विधा, न कर्कटादि ॥४–६॥

कर्कटकेति—कर्कटक उसे कहते हैं कि जो कि दोनों पार्श्वों को निपीड़न करने से आहत होकर अवनत हो; इसी कारण इस रोग में मध्य में ग्रन्थि-सी उठी होती है । कर्कटक इसे कर्कटक के समान होने से कहते हैं । अश्वकर्णेति—अश्व के कर्ण की विपुल (मोटी वा बड़ी) अस्थि के निकल आने से इसे अश्वकर्ण कहा जाता है । विचूर्णितमिति—विचूर्णित उसे कहते हैं जिस काण्डभग्न में अस्थि चूर्णित (सूक्ष्म हिस्सों में भग्न) हो जावे; यह सब शब्द और स्पर्श से ही जानना चाहिए । पिच्चितमिति—पिच्चित का अर्थ यंत्रित (अर्थात् काण्ड का किसी यन्त्र में आकर पिस जाना) है, और इसमें शोथ अधिक होती है । अस्थिछल्लिकेति—छल्ल नाम वल्कल का है; अतः वल्कल की तरह जिस अस्थि में से उसका भाग पृथक् हो जावे, उसे अस्थिछल्लिका कहते हैं; यहां शब्दशास्त्रानुसार मत्वर्थीय ठिकन् प्रत्यय होता है, किन्तु वृद्धि के अनित्य होने से आ नहीं होता । यह अस्थिछल्लिका पार्श्वगत तनिक अस्थिविश्लेष से होती है । काण्डेषु भग्नमिति—काण्डों में भग्न होने से इसे काण्डभग्न कहा जाता है । काण्डभग्न में अङ्ग फैलाने पर काँपता है । यद्यपि काण्डभग्न में सभी कर्कटक आदि आ जाते हैं, परन्तु फिर भी काण्डभग्न यह संज्ञा विशिष्ट काण्डभग्न में जाननी चाहिए । यथा—जाङ्गल शब्द जङ्घालादि अष्टविध मांसवर्ग में सामान्य है, और विशेषता से एणादि में ही है; (एवं काण्डभग्न कर्कटकादि सब में सामान्यतः और केवल काण्डभग्न में विशेषतः है) । अतिपातित का अर्थ है कि अस्थि का सम्पूर्णता से कट जाना । मज्जागतमिति—जिस भग्न में अस्थि का हिस्सा अस्थि में प्रविष्ट होकर मज्जा को निकालता है, उस भग्न को मज्जागत कहते हैं । अस्थि का छोटे २ टुकड़ों में फूटना और शूकों से पूर्ण हुए की तरह पीड़ा होनी स्फुटित अस्थिभग्न में होता है । वक्रभग्न उसे कहते हैं जिसमें कि अस्थि एक दूसरे से पृथक् तो न हो, किन्तु कुबड़ी हो जावे । वक्रता भी भग्नपन ही है । छिन्न और द्विधा का भाव यह है कि छिन्न अणुविदीर्ण (थोड़ी फटी हुई) और भिन्न बहुत विदीर्ण (बहुत फटी हुई) होती है; प्रथम विदीर्ण होने पर अस्थि पृथक् नहीं होती, परन्तु दूसरा विदीर्ण (द्विधारूप) द्विधाभूत होता है । भाव यह है कि छिन्न और द्विधा दोनों एक हैं; जब स्वल्प होगा—अर्थात् उपर्युक्त अणु विदीर्णादि लक्षणान्वित होगा, तो छिन्न; अन्यथा द्विधाभूत जानना चाहिए । श्रीकण्ठ जी व्याख्या करते हुए यहां यह मानते हैं कि छिन्न दो प्रकार का होता है; (१) अणु छिन्न और विदीर्ण होने पर भी संलग्न, (२) बहुविदीर्ण और दो प्रकार से विदीर्ण । भाव एक ही है, केवल संयोजन में भेद है । कोई कहता है कि बहुविदीर्ण उसे कहते हैं जिसका कि एक भाग बड़ा और दूसरा छोटा हो; सुश्रुत में इसे 'पाटित' नाम से कहा है ।

काण्डभग्नस्य उक्तद्वादशप्रकारादप्यधिकत्वमाह—

भग्नं तु काण्डे बहुधा प्रयाति
समासतो नामभिरेव तुल्यम् ॥७॥

काण्डभग्न बहुत प्रकार का होता है; परन्तु इसके लक्षण नामानुरूप ही होते हैं अर्थात् काण्डभग्न जिस प्रकार का होगा उस प्रकार का नाम भी वैसा ही होगा; इस प्रकार काण्डभेद बहुत प्रकार का होता है।

मधु०—काण्डभग्नस्य द्वादशप्रकाराद्प्यधिकत्वमाह—भग्नमित्यादि । समासतो नामभिरेव तुल्यमिति संक्षेपतो नामानुरूपमेतद्वगन्तव्यमित्यर्थः ॥७॥

इसकी भाषा सरल है।

भग्नस्य कष्टसाध्यतालक्षणमाह—

अल्पाशिनोऽनात्मवतो जन्तोर्वातात्मकस्य च ।
उपद्रवैर्वा जुष्टस्य भग्नं कृच्छ्रेण सिध्यति ॥८॥

कम भोजन करने वाले, अपथ्याशी, वातप्रधान एवं ज्वराध्मानादि उपद्रवों से युक्त मनुष्य का भग्न कठिनता से ठीक होता है।

मधु०—कष्टसाध्यतामाह—अल्पेत्यादि । वातात्मकस्येति वातप्रकृतेः । उपद्रवैरिति उपद्रवा ज्वराध्मानमूत्रपुरीषसङ्गादयः ॥८॥

इसकी भाषा सरल है।

स्थानलिङ्गविशेषेण असाध्यतामाह—

भिन्नं कपालं कट्यां तु सन्धिमुक्तं तथा च्युतम् ।
जघनं प्रतिपिष्टं च वर्जयेद्धि विचक्षणः ॥९॥ [सु० २।१५]
असंश्लिष्टकपालं च ललाटे चूर्णितं च यत् ।
भग्नं स्तनान्तरे पृष्ठे शङ्खे मूर्ध्नि च वर्जयेत् ॥१०॥ [सु० २।१५]

कटी में भिन्न कपाल, सन्धिमुक्त और च्युत को, जघन में पिष्ट, उत्पिष्ट तथा च्युत को विद्वान् वैद्य छोड़ दे; क्योंकि यह भग्न असाध्य हो जाते हैं। असंश्लिष्ट (जिसमें संयोग अर्थात् मेल न हो उस) कपाल को, चूर्णित ललाट को, भग्न हुए स्तनान्तर (स्तनों के मध्यभाग), पीठ, शङ्ख और सिर को छोड़ दे। भाव यह है कि श्लेषरहित कपाल को, ललाट (मस्तक) में चूर्णित को, स्तनमध्य, पीठ, शङ्ख और सिर में हुए भग्न को छोड़ देना चाहिए; क्योंकि असाध्य होने से ये ठीक नहीं हो सकते।

मधु०—असाध्यतामाह—भिन्नं कपालमित्यादि । [illegible] ... "कपालानि [illegible]" ([illegible]) इति । [illegible] ... "[illegible]" ([illegible]) इति; [illegible]

ललाटे कपालस्यासंश्लिष्टस्यासाध्यत्वं, नान्यथा भिन्नस्येति। भिन्नं कपालमिति काण्डभग्नमेतत्। सन्धिमुक्तमिति नानाविधमपि सन्धिमुक्तं कट्यां न सिध्यतीति। च्युतमिति अधःक्षिप्तम्, अन्यस्तु विश्लिष्टमाह; अथवा कट्यां सन्धिमुक्तं च्युतलक्षणं न सर्वम्। जघनं प्रतिपिष्टं चेति जघनस्थाने पिष्टमुत्पिष्टमेतत्तथा च्युतमिति च। सन्धिमुक्तं पुनर्विशेषार्थमुक्तं, विशेषाभिधानादन्यस्य कटी-सन्धिमुक्तस्य कदाचित् साध्यता सूच्यते, अत एव चिकित्सिते—"ततः स्थानस्थिते सन्धौ॥" (सु. चि. स्था. अ. ३) इति वक्ष्यति। असंश्लिष्टकपालं च ललाटे चूर्णितं च यदिति यथा अविद्यमानसंश्लेषं यत् कपालं, तथा ललाटे चूर्णितं च यत् विघटितसन्धि तदसाध्यम्। भग्नमिति सामान्येन सन्धिमुक्तं काण्डभग्नं गृह्यते। अन्ये तु भग्नमित्यनेन काण्डभग्नविशेषं 'प्रसारणे कम्पमानम्' इत्यनेनोक्तं वदन्ति। उक्तं च भालुकिना—"शङ्खे मूर्ध्नि स्तनान्तरे वा काण्डेभग्नं मरणाय" इति। स्तनान्तरे उरसि, मूर्ध्नि चूडास्थाने॥९–१०॥

'भिन्नं कपालं कट्यां तु' में भग्न शब्द के स्थान पर जो भिन्न शब्द उपादान किया है, वह कपालों का प्रायः भेद होने के कारण किया है। इसका भाव यह है कि 'भिन्नं कपालं कट्यां तु' इत्यादि पद्य में 'भग्नं कपालं कट्यां तु' न कह कर जो 'भिन्नं कपालं कट्यां तु' कहा है, वह कपालों में प्रायः भेद होने के कारण ही कहा है। इसी लिए सुश्रुत ने कहा भी है कि 'कपालसंज्ञक अस्थियाँ टूट जाती हैं'।

(प्रश्न—) कटी में होने वाली अस्थि की कपालसंज्ञा न होने से 'भिन्नं कपालं कट्यां तु' यह कैसे कहा जा सकता है? जैसे कि सुश्रुत में कहा भी है कि—जानु (गोड़ा वा घुटना), नितम्ब, अंस, कपोल, तालु, शङ्ख, वंक्षण और शिर में होने वाली अस्थियाँ कपालसंज्ञक होती हैं (एवं इनमें कटी का निर्देश न होने से कटि-अस्थि की कपालसंज्ञा नहीं हो सकती)। (उत्तर—) सुश्रुत के उक्त सूत्र में नितम्ब का निर्देश किया है, एवं नितम्ब के निर्देश से ही कटी का भी निर्देश हो जाता है; अतः कोई दोष नहीं आता। अथवा अस्थिभिन्न सब कपालसंज्ञक ही हैं, अतः कटि में भी अस्थिभिन्न को छोड़ देना चाहिए। 'असंश्लिष्टकपालं च' यह कथन नियम के लिए है; इससे ललाट में असंश्लिष्ट कपाल की असाध्यता होती है, अन्यथा भिन्न की असाध्यता नहीं होती। जो 'भिन्नं कपालं' यह कहा है, यह काण्डभग्न है। 'सन्धिमुक्तं' अर्थात् अनेक प्रकार की सन्धिमुक्त भी कटी में सिद्ध नहीं होती। च्युत शब्द से यहां अधःक्षिप्त अर्थ लेना चाहिए; किन्तु दूसरे विद्वान् च्युत शब्द से विश्लिष्ट मानते हैं। अथवा इसका यह अर्थ करना चाहिए कि कटि में च्युतलक्षण सन्धिमुक्त असाध्य होता है, न कि सभी प्रकार का संन्धिमुक्त। 'जघनं प्रतिपिष्टं च' से जघनस्थान में उत्पिष्ट तथा च्युत होना असाध्य है, यह अर्थ लेना चाहिए। पुनः सन्धिमुक्त का कथन विशेषता बताने के लिए किया है और इस विशेषता के प्रतिपादन से अन्य-कटि-सन्धिमुक्त की कभी २ साध्यता भी सूचित होती है, और इसलिए सुश्रुत चिकित्सा-स्थान में 'ततः स्थानस्थिते सन्धौ' इत्यादि कहा जावेगा। 'असंश्लिष्टकपालं च ललाटे चूर्णितं च यत्' का अर्थ यह है कि जैसे संश्लेषरहित कपाल असाध्य होता है, वैसे ही जो ललाट में चूर्णित होता है—असाध्य होता है। 'भग्नं स्तनान्तरे' में स्थित भग्न शब्द से यहां सामान्यतः सन्धिमुक्त काण्डभग्न लिया जाता है। दूसरे विद्वान् तो भग्न शब्द से 'प्रसारणे कम्पमानं' इत्यादि पाठ से उक्त विशेष प्रकार के काण्डभग्न को कहते हैं। जैसे भालुकि ने कहा भी है कि शङ्खप्रदेश में, सिर में और उरःस्थल में और काण्ड में भग्न मारणात्मक होता है।

अनवधानेन सर्वेषां भग्नानां प्रत्याख्येयतामाह—

सम्यक् सन्धितमप्यस्थि दुर्निक्षेपनिबन्धनात् ।
संक्षोभाद्वाऽपि यद्गच्छेद्विक्रियां तच्च वर्जयेत् ॥११॥ [सु० २।१५]

जो अस्थि भली प्रकार सन्धित करने पर भी स्थापना तथा बन्धन के अच्छा न होने से एवं क्षोभादि के कारण विकृत हो जाती है, उसको भी वैद्य छोड़ दे ।

मधु०—सर्वेषामनवधानतोऽसाध्यत्वमाह—सम्यगित्यादि । सन्धितं संयमितम् । दुर्निक्षेपनिबन्धनादिति दुःस्थापनात्तथा दुष्टबन्धनात् । संक्षोभाद्वेति अभिघातभयादिसंक्षोभात् । अयमर्थः—सम्यक् संयमितमपि दुःस्थापनात्, सुन्यस्तमपि दुष्टबन्धनात्, सुन्यस्तं सुबद्धमपि संक्षोभाद्विकृतमसाध्यम् ॥११॥

सर्वेषामित्यादि स्पष्ट ही है ।

अस्थिविशेषेण भग्नानां वैशिष्ट्यमाह—

तरुणास्थीनि नम्यन्ते भिद्यन्ते नलकानि च ।
कपालानि विभज्यन्ते स्फुटन्ति रुचकानि च ॥१२॥ [सु० २।१५]

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने भग्ननिदानं समाप्तम् ॥४४॥

तरुण अस्थियां वक्र (टेढी) हो जाती हैं, नलकाकार अस्थियां टूट जाती हैं, कपालसंज्ञक अस्थियां पृथक् हो जाती हैं और रुचक (दन्त) संज्ञक अस्थियां खिल जाती हैं । भाव यह है—अस्थियां पाँच प्रकार की होती हैं; १ कपालसंज्ञक, २ रुचकसंज्ञक, ३ तरुणसंज्ञक, ४ वलयसंज्ञक और ५ नलकसंज्ञक । जैसे सुश्रुत ने कहा भी है कि—"एतानि पञ्चविधानि भवन्ति; तद्यथा—कपालरुचकतरुणवलयनलकसंज्ञानि" इति (सु. शा. स्था. अ. ५) । इनमें कपालसंज्ञक जानु, नितम्ब, अंस, गण्ड, तालु, शङ्ख और शिर में होने वाली अस्थियां होती हैं; जैसे कहा भी है कि—"जानुनितम्बांसगण्डतालुशङ्खशिरस्सु कपालानि" इति सुश्रुतः । इनमें जब भग्न होता है तो वह विभिन्न होता है । रुचक(दन्त)संज्ञक अस्थियां ये हैं । जैसे कहा भी है कि—"दशनास्तु रुचकानि" इति । इनमें भग्न स्फुटितरूप होता है । नाक, कान, ग्रीवा, नेत्र और कोषों की अस्थियां तरुणसंज्ञक होती हैं; तद्यथोक्तमपि—"घ्राणकर्णग्रीवाक्षिकोषेषु तरुणानि" इति सुश्रुतः । ये अस्थियां अभिघातादि से वक्र हो जाती हैं । वलयसंज्ञक अस्थियां पार्श्वों में पृष्ठ में और उर में होती हैं, जैसे कहा भी है कि—"पार्श्वपृष्ठोरःसु वलयानि" इति सुश्रुतः । इनमें भी अभिघात आदि से रुचकास्थियों की तरह स्फुटन ही होता है । इन ४ प्रकार की अस्थियों से जो भिन्न अस्थियां हैं, वे नलकसंज्ञक हैं; सुश्रुत ने कहा भी है कि—"शेषाणि नलकसंज्ञानि" (सु. शा. स्था. अ. ५) इति । ये अस्थियां आघात आदि से

भिन्न होती हैं। वलयाकार अस्थियां रुचकों की तरह स्फुटित होती हैं, यह अर्थ 'स्फुटन्ति रुचकानि च' में स्थित चकार से स्फुटित होता है।

मधु०—अस्थिविशेषेण भग्नविशेषमाह—तरुणास्थीनीत्यादि। नम्यन्ते वक्रीभवन्ति, तेनात्र वक्रलक्षणं भग्नम्। घ्राणकर्णाक्षिपुटेषु तरुणं कोमलमस्थि। भिद्यन्ते नलकानि चेति अस्थ्यन्तरानुप्रवेशाद्भिद्यन्ते, अतिपातितलक्षणेन च भग्नेन नलकानि युज्यन्ते; अन्ये तु द्वादशविधमपि भग्नमत्रेच्छन्ति। कपालानि विभज्यन्त इति कपालेषु विदरणलक्षणो भङ्गः। 'विभिद्यन्ते' इति पाठान्तरं, अर्थस्तु स एव। रुचकानि दन्ताः, तेषु स्फुटितलक्षणो भङ्गः। अस्थीनि पञ्चविधानि तरुणनलककपालवलयरुचकभेदात्। रुचकानि चेति चकाराद्वलयान्यपि स्फुटितानि भवन्तीति। एतत् सुश्रुते स्फुटितं भग्नम् ॥१२॥

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायां भग्ननिदानं समाप्तम् ॥४४॥

अस्थिविशेषेणेत्यादि सरल ही है।

अथ नाडीव्रणनिदानम्[1]।

नाडीव्रणस्य संप्राप्तिमाह—

यः शोथमाममतिपक्व[2]मुपेक्षतेऽज्ञो[3]
यो वा व्रणं प्रचुरपूयमसाधुवृत्तः।
अभ्यन्तरं प्रविशति प्रविदार्य तस्य
स्थानानि पूर्वविहितानि ततः स पूयः ॥१॥

तस्य निरुक्तिमाह—

तस्यातिमात्रगमनाद्गतिरिष्यते[4] तु
नाडीव यद्वहति तेन मता तु नाडी।

जो मूर्ख पकी हुई सोजश को आम समझता हुआ उपेक्षा करता है अर्थात् (पीड़न वा शोधनादि नहीं करता), तथा जो कुपथ्यसेवी अत्यधिक पूय वाले व्रण की उपेक्षा करता है, उसके पूर्वोक्त त्वचा, मांस, सिरा, स्नायु, सन्धि, अस्थि, कोष्ठ और मर्मरूप—इन व्रणस्थानों को विदीर्ण कर वह पूय अन्दर प्रविष्ट हो जाता है; उस पूय के अत्यधिक गमन से गति हो जाती (मार्ग बन जाता) है, (और गति के कारण ही) जो वह पूय नाड़ी की तरह बहता है, अतः उसे नाडी कहा जाता है। भाव यह है 'नाडीव यद्वहति तेन मता तु नाड़ी' यह नाडी की निरुक्ति है।

मधु०—भग्नस्यापि व्रणस्योपेक्षया नाडी भवति, अतोऽनन्तरं नाडीमाह—यः शोथमित्यादि। उपेक्षत इति पीडनशोधनादिकं न करोति। प्रचुरपूयमित्यनेन गम्भीरपाकित्वमुक्तम्।

---

१ नाम—सं० नाडीव्रण, पं० नासूर, इ० साइनस (Sinus); फिस्चुला (Fistula).
२ शोफं न पक्वमिति सु. पा. ३ यः इति सु. पा. ४ गतिरित्यतश्च इति सु. पा.

असाधुवृत्तोऽहिताहाराचारः । स्थानानि पूर्वविहितानीति व्रणास्रावविज्ञानीयोक्तानि त्वङ्मांससिरा-स्नायुसन्ध्यस्थिकोष्ठमर्माणि ॥१॥

मधु०—तस्येति पूयस्य । नाडीवेति अन्तःशुषिरलतादिनाडीवत् ।

भग्नस्यापीत्यादि सरल ही है ।

तद्भेदानाह—

दोषैस्त्रिभिर्भवति सा पृथगेकशश्च
संमूर्च्छितैरपि च शल्यनिमित्ततोऽन्या ॥२॥ [सु० २।१०]

वह नाड़ी दोषों की पृथक्ता से, सन्निपात से और शल्य से होती है। अर्थात् (१) वात से (२) पित्त से (३) कफ से (४) सन्निपात से और (५) शल्य से नाड़ी होती है। इस प्रकार इसके पाँच भेद बनते हैं; परन्तु सुश्रुत में उसे द्वन्द्वज भी माना है; तद्यथा—"दोषद्वयाभिहितलक्षणदर्शनेन तिस्रो गतीर्व्यतिकरप्रभवास्तु विद्यात्" (सु. नि. स्था. अ. १०) इति; एवं ये ८ भेद बनते हैं। इसका उत्तर यह है कि द्वन्द्वज का ग्रहण इसलिये नहीं किया कि वह प्रकृतिसमसमवायानुसार है; एवं नाड़ी पाँच प्रकार की ही है, यह गयदास का अभिप्राय है। परन्तु अन्य आचार्य कहते हैं कि तीनों दोषों की पृथक्ता से तीन, सन्निपात से एक, संश्लेष अर्थात् द्वन्द्व से तीन और शल्यज एक, एवं नाड़ी आठ प्रकार की होती है। यदि ऐसा माना जावे, तो 'सम्मूर्च्छितैरपि च' में स्थित 'अपि' और 'च' ये व्यर्थ हो जाते हैं।

मधु०—तासां कालान्तरसंभवेन दोषानुबन्धेन संख्यामाह—दोषैस्त्रिभिरित्यादि । दोषैः पृथक् तिस्रः । एकशश्च संमूर्च्छितैरिति प्रत्येकं वृद्ध्या मिश्रीभूतैस्त्रिभिश्चतुर्थी; कार्तिकस्तु सन्निपतितैरित्यध्याहार्यं एकशश्च सन्निपतितैरन्या । संमूर्च्छितैः संश्लिष्टैरपरास्तिस्रः । अत एवोक्तं सुश्रुते—"दोषद्वयाभिहितलक्षणदर्शनेन तिस्रो गतीर्व्यतिकरप्रभवास्तु विद्यात् ॥" (सु. नि. स्था. अ. ५) इति । व्यतिकरप्रभवा द्वन्द्वप्रभवाः; अपिचकारौ सार्थकावित्याहुः । न चोक्तपञ्चसंख्याहानिः, अस्मिन् पक्षेऽतिदेशेनोक्तयोर्द्वन्द्वसन्निपातयोः सर्वत्रागणनात् । शल्यनिमित्ततोऽन्येति आगन्तुरपरेत्यर्थः । इति पञ्च नाड्यः ॥२॥

तासामित्यादि स्पष्ट ही है ।

वातिकनाडीव्रणं लक्षयति—

तत्रानिलात् परुषसूक्ष्ममुखी सशूला
फेनानुविद्धमधिकं स्रवति क्षपासु ।

वातिक नाड़ी कर्कश और सूक्ष्ममुख वाली पीड़ायुक्त और रात्रि को फेन-युक्त (झागदार) अधिक स्राव को छोड़ने वाली होती है ।

मधु०—[illegible]—[illegible] । अधिकं स्रवति क्षपास्विति [illegible] ॥—

१ [illegible]

इसकी भाषा सरल ही है।

पैत्तिकनाडीव्रणस्वरूपमाह—

पित्तात्तृषाज्वरकरी परिदाहयुक्ता
पीतं स्रवत्यधिकमुष्णमहःसु चापि ॥३॥

पैत्तिक नाड़ी तृषा और ज्वर को करने वाली, दाहयुक्त और दिन को पीत-वर्ण एवं उष्ण स्राव को अधिक स्रवित करने वाली होती है।

मधु०—पित्तजामाह—पित्तादित्यादि। अधिकमुष्णमहःसु चेति दिवा औष्ण्येन पित्त-कोपात् ॥३॥

पित्तजामाह यह सुगम ही है।

श्लैष्मिकनाडीव्रणस्वरूपमाह—

ज्ञेया कफाद्बहुघनार्जुनपिच्छिलास्रा
स्तब्धा सकण्डुररुजा रजनीप्रवृद्धा।

श्लैष्मिक नाड़ी बहुत घने श्वेत वर्ण के पिच्छिल स्राव वाली, स्तब्ध, कण्डूान्वित पीड़ा वाली एवं रात को बढ़ने वाली होती है।

मधु०—कफजामाह—ज्ञेयेत्यादि। बहुघनार्जुनपिच्छिलास्रेति। अत्रार्जुनः श्वेतः, घनः सान्द्रः, आस्रशब्द आस्रावशब्दैकदेशपाठः, पदेऽपि पदैकदेशप्रयोगात्। यथा "जे प्रोष्ठपदानाम्" इत्यत्र जे इत्यनेनैव जात इत्युच्यते। पिच्छिलासुरिति पाठेऽप्ययमेवार्थः। आसुशब्दः संपदादिषु पाठात् क्विबन्तः; तुगभावस्त्वागमानित्यत्वात् ॥—

कफजामाहेत्यादि सब सरल ही है।

त्रिदोषजनाडीव्रणस्य लक्षणमाह—

दाहज्वरश्वसनमूर्च्छनवक्त्रशोषा
यस्यां भवन्त्यभिहितानि च लक्षणानि ॥४॥
तामादिशेत्पवनपित्तकफप्रकोपाद्
घोरामसुक्षयकरीमिव कालरात्रिम्। [सु० २।१०]

दाह, ज्वर, श्वास, मोह और मुखशोष—ये लक्षण जिस नाड़ी में होते हैं, कालरात्रि की तरह प्राणनाशक उस घोर नाड़ी को वातपित्त और कफ के सन्निपात से उत्पन्न जानना चाहिए।

मधु०—त्रिदोषजामाह—दाहेत्यादि। अभिहितानीति प्रत्येकं वातादिजनाडीकथितानि। असुक्षयकरीमिति मारणात्मिकां, कालरात्रिं मरणकारिणीं यमभगिनीमिव। 'गतिं त्वसुहरां' इति पाठान्तरम् ॥४॥

सब स्पष्ट ही है।

१ तृड्तापतोदसदनज्वरभेदहेतुः पीतं स्रवत्यधिकमुष्णमहःसु पित्तात्.

शल्यजनाडीव्रणं लक्षयति—

नष्टं कथंचिदनुमार्गमुदीरितेषु
स्थानेषु शल्यमचिरेण गतिं करोति ॥७॥
सा फेनिलं मथितमुष्णमसृग्विमिश्रं
स्रावं करोति सहसा सरुजा च नित्यम् । [सु० २।१०]

त्वचा आदि पूर्व प्रतिपादित स्थानों में प्रमादादिवश गया हुआ अदृश्य शल्य शीघ्र ही गति करने लगता है, जिससे नाडी वन जाती है; वह नाडी झागदार, उन्मथित, उष्ण और रक्तमिश्रित स्राव को शीघ्र ही निकालती है; एवं उसमें सर्वदा पीड़ा रहती है ।

वक्तव्य—सूची आदि शस्त्ररूप वा कण्टक आदि अनुशस्त्ररूप शल्य जब अनवधानता से त्वचा आदि में प्रविष्ट होकर नष्ट हो (छिप) जाता है, तो उसके वाद वह शीघ्र ही चलनशील होकर नाडीरूप व्रण को उत्पन्न कर देता है; उस नाडी व्रण के मुख से फेनयुक्त शल्य के कारण उन्मथित रक्तसञ्चार अधिक होने के कारण उष्ण एवं रक्तमिश्रित स्राव निकलता है और व्रण में अन्दर शल्य होने के कारण सर्वदा पीड़ा होती है ।

मधु०—शल्यनिमित्तामाह—नष्टमित्यादि । नष्टमदृश्यमानम् । कथंचिदिति वेगक्षया-दिकारणानामनियमार्थमुक्तम् । अनुमार्गे मार्गे लक्षीकृत्य । केचित् 'अणुमार्ग' इति पठित्वा शल्यविशेषणतया योजयन्ति । किंत्वस्मिन् पक्षेऽणुमार्गत्वेनैव शल्यस्यादर्शने प्रयुक्ते कथंचिदिति निरर्थकं स्यात् । उदीरितेष्विति त्वगादिषु । फेनिलं फेनवन्तम् । मथितमुन्मथितम् । उष्णमुष्ण-स्पर्शम् । एते च धर्माः प्रसारणाकुञ्चनादौ चलता शल्येन मांसादिक्षोभेन भवन्ति ॥७॥

इसकी भाषा सरल है ।

नाडीव्रणानां साध्यत्वादिकमाह—

नाडी त्रिदोषप्रभवा न सिध्ये-
च्छेषाश्चतस्रः खलु यत्नसाध्याः ॥८॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने नाडीव्रणनिदानं समाप्तम् ॥४५॥

त्रिदोषज नाडी साध्य नहीं है, किन्तु अवशिष्ट चार नाडियाँ यत्न से ठीक हो सकती हैं—अर्थात् यत्न साध्य हैं ।

मधु०—असाध्यत्वादिकमाह—नाडीत्यादि । ननु, नाडी त्रिदोषप्रभवा न सिध्येदिति [illegible] [illegible] [illegible] ॥८॥

इति श्री[illegible] मधुकोशव्याख्यायां नाडीव्रणनिदानं समाप्तम् [illegible]

१. [illegible] २. [illegible] ३. [illegible]

ननु, 'नाडी त्रिदोषप्रभवा न सिध्येत्' यह प्रतिपादन पुनरुक्तिरूप है; क्योंकि त्रिदोष-लक्षण में कथित 'असुक्षयकरी' से ही असाध्यता सिद्ध हो जाती है। अतः इसका प्रतिपादन पौनरुक्त्य है। इस पर आचार्य श्रीकण्ठदत्त जी कहते हैं कि—यहां पौनरुक्त्य दोष नहीं है; क्योंकि यह पाठ सुश्रुत ने निदानस्थान-प्रतिपादित त्रिदोषज की असाध्यता का अनुवाद कर दूसरी चार प्रकार की नाडियों की यत्नसाध्यता बतलाने के लिये लिखा है; और वही पाठ साधन करके यहां एकत्र कर दिया है; अतः कोई दोष नहीं।

अथ भगन्दरनिदानम्।

भगन्दरस्य[१] सप्राग्रूपं सामान्यस्वरूपमाह—

गुदस्य द्व्यङ्गुले क्षेत्रे पार्श्वतः पिडकाऽऽर्तिकृत्।
भिन्ना भगन्दरो ज्ञेयः स च पञ्चविधो मतः ॥१॥

गुदा के दो अङ्गुल स्थान के पार्श्व में उत्पन्न पीड़ा करने वाली पिडका भिन्न (फटी) हुई २ भगन्दर कहलाती है, और वह भगन्दर पांच प्रकार का होता है।

वक्तव्य—गुदा के उस स्थान के जहां से कि मल बाहर आता है और जिसे मल-द्वार कहा जाता है, चारों ओर दो अङ्गुल परिमित क्षेत्र केवल मांसल होता है। जब वहां किसी कारण से पिडका हो जाती है, और वह पिडका पक कर फट जाती है, तो भगन्दर कहलाती है। भगन्दर शब्द की सिद्धि के विषय में भट्टोजिदीक्षित 'भगे च दारेरिति काशिकायाम्' यह कहकर सिद्ध करते हैं; एवं—'भगं दारयतीति भगन्दरः' यह भगन्दर शब्द की व्युत्पत्ति है। भग शब्द यहां उपलक्षण मात्र है; अतः भग शब्द से भग, गुद और वस्ति-प्रदेश लिया जाता है; उसको विदारण करने के कारण ही इसे भगन्दर कहा जाता है। सुश्रुत ने यही भाव लेकर इसकी इस प्रकार ही निरुक्ति की है कि—"भगगुदवस्ति-दारणाच्च भगन्दरा इत्युच्यन्ते" (सु. नि. स्था. अ. ४)। यही भाव लेकर भोज ने कहा है कि—"भगं परिसमन्ताच्च गुदं वस्तिं तथैव च। भगवद्दारयेद्यस्मात् तस्माज्ज्ञेयो भगन्दरः"। इसी भगन्दर को लक्ष्य में रखकर आयुर्वेदाचार्य क. हरदयाल जी लिखते हैं कि—"वृषण और गुदा का मध्यवर्ती स्थान, जिसको 'सीवन' या 'स्थूण' कहते हैं, इस स्थान पर प्रथम शोथ होता है। पुनः वह पिडका की संज्ञा धारण करता है। तत्पश्चात् जब पक कर फूट जाता है, तब उसे 'भगन्दर' कहते हैं"। वस्तुतः इसका भगन्दर नाम तभी होता है, जब कि पिडका पक जावे वा पक कर फूट जावे। इस पर सुश्रुत की भी सम्मति है। वे कहते हैं कि—"अपक्वाः पिडकाः पक्वास्तु भगन्दराः"। इस पर वाग्भट ने भी कहा है कि—"अपक्वं पिडकामाहुः पाकप्राप्तं भगन्दरम्" (वा. उ. स्था. अ. २८)। भगन्दर को

---

१ नाम—सं० भगन्दर, अ० नवासीर, इं० फिस्चुला इन् एनो (Fistula-in-Ano).

उत्पन्न करने वाली पिडका भागन्दरी पिडका कहलाती है। इन्हीं पिडकाओं से ही यथायुक्त भगन्दर होते हैं। भगन्दर पाँच होते हैं; जैसे सुश्रुत ने कहा भी है कि—"वातपित्तश्लेष्मसन्निपातागन्तुनिमित्ताः शतपोनकोष्ट्रग्रीवपरिस्राविशम्बूकावर्तोन्मार्गिणो यथासंख्यं पञ्च भगन्दरा भवन्ति"। (सु. नि. स्था. अ. ४)। किन्तु अन्यत्र पश्चाद्वर्ती आचार्यों ने आठ भगन्दर माने हैं; तद्यथा—तत्राष्टौ स्युर्भगन्दराः। शतपोनकस्तु पवनादुष्ट्रग्रीवश्च पित्ततः॥ परिस्रावी कफाज्ज्ञेय ऋजुर्वातकफोद्भवः। परिक्षेपी मरुत्पित्तादर्शोजः कफपित्ततः। आगन्तुजातश्चोन्मार्गी शङ्खावर्तस्त्रिदोषजः" इति (शा. पूर्व खं. अ. ७)। क्रमशः इनके लक्षण तन्त्रान्तर में इस प्रकार कहे हैं—"तत्र वातजा। दीर्यतेऽणुमुखैः छिद्रैः शतपोनकवत् क्रमात्॥ अच्छं स्रवद्भिरास्रावमजस्रं फेनसंयुतम्। शतपोनकसंज्ञोऽयम्, उष्ट्रग्रीवस्तु पित्तजः॥ बहुपिच्छापरिस्रावी परिस्रावी कफोद्भवः। वातपित्तात्परिक्षेपी परिक्षिप्य गुदं गतः। जायते परितस्तत्र प्राकारपरिखेव च॥ ऋजुर्वात कफादृज्व्या गुदो गत्या तु दीर्यते। कफपित्ते तु (स) पूर्वोत्थं(त्थे) दुर्नामाश्रित्य कुप्यतः॥ अर्शोमूले ततः शोफः कण्डूदाहादिमान्भवेत्। स शीघ्रं पक्वभिन्नोऽस्यै क्लेदयन्मूलमर्शसः। स्रवत्यजस्रं गतिभिरयमर्शो भगन्दरः॥ सर्वजः शम्बुकावर्तः शम्बुकावर्तसन्निभः। गतयो दारयन्त्यस्मिन् रुग्वेगैर्दारुणैर्गुदम्॥ अस्थिलेशोऽभ्यवहृतो मांसगश्च यदा गुदम्। क्षिणोति तिर्यङ्निर्गच्छन्नुन्मार्गं क्षततो गतिः॥ स्यात्ततः पूयदीर्णायां मांसकोथेन तत्र च। जायन्ते कृमयस्तस्य खादन्तः परितो गुदम्॥ विदारयन्ति च चिरादुन्मार्गी क्षतजश्च सः" (वा. उ. स्था. अ. २८)।

मधु०—नाडीविशेषत्वात् संख्यासाम्याच्च भगन्दरनिदानम्। भगन्दरपूर्वरूपपिडकामाह—गुदस्येत्यादि। क्षेत्रे देशे। सैव भिन्ना भगन्दरः। निरुक्तिरस्य सुश्रुतेन कृता। तद्यथा—"गुदभगबस्तिप्रदेशदारणात् भगन्दराः॥" (सु. नि. स्था. अ. ४) इति। भगशब्दो गुदाद्युपलक्षणम्। भोजेऽप्युक्तं—"भगं परिसमन्ताच्च गुदं बस्तिं तथैव च। भगवद्दारयेद्यस्मात्तस्माज्ज्ञेयो भगन्दरः" इति। पूर्वरूपं तस्य सुश्रुते पठ्यते; यथा—"कटीकपालवेदना गुदकण्डूर्दाहः शोफश्च गुदस्य भवति॥" (सु. नि. स्था. अ. ४) इति। एतत् सामान्यं पूर्वरूपम्। कटीकपालमत्र कटीफलकम्। पञ्चविध इति संख्याकथनं रक्तजद्वन्द्वजभगन्दरसंभावनानिरासार्थम्॥१॥

इसकी भाषा सरल है।

वातिक(शतपोनाख्य)भगन्दरं लक्षयति—

कषायरूक्षैरतिकोपितोऽनिल-
स्त्वपानदेशे पिडकां करोति याम्।
उपेक्षणात् पाकमुपैति दारुणं
रुजा च भिन्नाऽरुणफेनवाहिनी॥२॥

१ [illegible]

तत्रागमो मूत्रपुरीषरेतसां
व्रणैरनेकैः शतपोनकं वदेत् ।

कषाय और रूक्ष पदार्थों से अति प्रकुपित वायु गुद-प्रदेश में जिस पिडका को करती है, वह पिडका लापरवाही करने से दारुण पाक को प्राप्त करती है, और भिन्न हुई २ पीडान्वित होती है; एवं रक्तवर्ण की झाग को निकालती है। उसमें से मूत्र, मल और शुक्र भी आने लगता है; यह बहुत से व्रणों वाला शतपोनक कहलाता है।

मधु०—शतपोनकमाह—कषायेत्यादि । अपानदेश इति गुददेशे । उपेक्षणादिति विम्लापनाद्यकरणात् । रुजा च भिन्नेति रुजा रुजान्विता, अर्शआदेराकृतिगणत्वादच्, भिन्ना विदीर्णा । व्रणैरनेकैः शतपोनकं वदेदिति शतपोनकतुल्यत्वात् शतपोनकः; शतपोनकश्चालनिका, सहस्रधारेत्यन्ये; किंवा शतपोनकः शूकदोषे पठितो विकारः "छिद्रैरणुमुखैः" इत्यादिना, किंतु यदि शूकदोषपठितशतपोनकतुल्यत्वमस्य तदा छिद्रैरणुमुखैरित्यादिनिमित्तस्योभयत्र पठितत्वात् किं तत्सादृश्यप्रवृत्तेयं संज्ञा, सा वा एतत्सादृश्यप्रवृत्तेति दुर्विज्ञानात्तत्रापि चालनिकातुल्यत्वमेव प्रवृत्तिनिमित्तमिति मन्यमानेन जेज्जटेन चालनिकातुल्यत्वमत्र वर्णितम् । शतपोनकवदनेकमुखत्वे वातिकभगन्दरस्वभाव एव हेतुः ॥२॥—

शतपोनक चालनिका (छननी, चलनी वा छाननी) को कहते हैं; दूसरे इसे सहस्रधारा कहते हैं। शतपोनक—नामक विकार शूक दोषों में भी "छिद्रैरणुमुखैः" इत्यादि से पढ़ा है; एवं यदि शूक दोषों में पठित शतपोनक के समान ही यह भी है, तो 'छिद्रैरणुमुखैः' इत्यादि कारणों का दोनों जगह लिखा होने से क्या यह संज्ञा उस सादृश्य को लेकर है, वा वह संज्ञा इस सादृश्य को लेकर है, यह बात आती है; पर इस बात के दुर्विज्ञेय होने से वहां भी चालनिका के तुल्यपन को प्रवृत्तिनिमित्त मानते हुए जेज्जट ने यहां पर भी चालनिका के तुल्यपन को वर्णित किया है।

पैत्तिक(उष्ट्रग्रीव)भगन्दरस्य रूपमाह—

प्रकोपणैः पित्तमतिप्रकोपितं
करोति रक्तां पिडकां गुदाश्रिताम् ॥३॥
तदाऽऽशुपाकाहिमपूतिवाहिनीं
भगन्दरं तूष्ट्रशिरोधरं वदेत् ॥४॥

पित्तप्रकोपक आहार विहारों से अति प्रकुपित पित्त गुदा के आश्रित (अर्थात् आस पास) लाल रङ्ग की पिडिका को करता है। तब शीघ्रपाक वाली एवं उष्णपूतिवाहिनी उस पिडका को उष्ट्रशिरोधर (ग्रीव) नामक भगन्दर कहते हैं।

वक्तव्य—यह भगन्दर पैत्तिक होता है। इसकी भागन्दरी पिडका उष्ट्र की ग्रीवा के समान होती है।

मधु०—उष्ट्रग्रीवलक्षणमाह—प्रकोपणैरित्यादि। तदाशुपाकाहिमपूतिवाहिनीमिति तदेति तत्काले, पित्तजत्वेनाशुपाका च सा अहिमपूतिवाहिनी उष्णपूतिवाहिनी च सा आशुपाकाहिमपूतिवाहिनी ताम् । अत्र पिडकावस्थागतगलवक्रत्वेनोष्ट्रग्रीवाकारत्वं, तेनोष्ट्रग्रीवसंज्ञा ॥३-४॥

श्लैष्मिक(परिस्रावि)भगन्दरं लक्षयति—

कण्डूयनो घनस्रावी कठिनो मन्दवेदनः ।
श्वेतावभासः कफजः परिस्रावी भगन्दरः ॥५॥

परिस्रावी भगन्दर अधिक कण्डू वाला, घनस्रावी, कठिन, श्वेतावभास एवं कफज होता है ।

वक्तव्य—इसका विशेष विवरण सुश्रुत ने इस प्रकार किया है—"श्लेष्मा तु प्रकुपितः समीरणेनाधः प्रेरितः पूर्ववदवस्थितः शुक्लावभासां स्थिरां कण्डूमतीं पिडकां जनयति, साऽस्य कण्ड्वादीन् वेदनाविशेषाञ्जनयति, अप्रतिक्रियमाणा च पाकमुपैति, व्रणश्च कठिनः संरम्भी कण्डूप्रायः पिच्छिलमजस्रमास्रावं स्रवति, उपेक्षितश्च वातमूत्रपुरीषरेतांसि विसृजति; तं भगन्दरं परिस्राविणमित्याचक्षते" इति (सु० नि० स्था० अ० ४) ।

मधु०—परिस्राविणमाह—कण्डूयन इत्यादि । परिस्रावी कफजः, स च घनस्राव-योगात् परिस्रावी ॥५॥

सब सुगम ही है ।

शम्बूकावर्ताख्यं भगन्दरं लक्षयति—

बहुवर्णरुजास्रावा पिडका गोस्तनोपमा ।
शम्बूकावर्तवन्नाडी शम्बूकावर्तको मतः ॥६॥

अनेक वर्ण वाली अनेक रुजाओं वाली और अनेकविध स्रावों वाली गोस्तन (वा द्राक्षा) के बराबर लघु शङ्ख के आवर्तों के समान आवर्तों वाली नाडीरूप पिडका शम्बूकावर्त नामक भगन्दर कहलाती है । यह भगन्दर संज्ञा इसमें भी पकावस्था आने के कारण ही है ।

वक्तव्य—इसकी सम्प्राप्ति स्वरूप और लक्षणादि सुश्रुत ने स्फुट लिखे हैं; तद्यथा—"वायुः प्रकुपितः प्रकुपितौ पित्तश्लेष्माणौ परिगृह्याधो गत्वा पूर्ववदवस्थितः पादाङ्गुष्ठप्रमाणां सर्वलिङ्गां पिडकां जनयति, साऽस्य तोददाहकण्ड्वादीन् वेदनाविशेषान् जनयति, अप्रतिक्रियमाणा च पाकमुपैति व्रणश्च नानाविधवर्णमास्रावं स्रवति, पूर्णनदीशम्बूकावर्तवच्चात्र समुत्तिष्ठन्ति वेदनाविशेषाः; तं भगन्दरं शम्बूकावर्तमित्याचक्षते" (सु. नि. स्था. अ. ४) ।

मधु०—[illegible] शम्बूकावर्तमाह—बहुवर्णेत्यादि । [illegible] । [illegible] शम्बूकावर्त [illegible] । [illegible] भोजः—"नदीनां परिवर्तानां [illegible] यथा । [illegible] ॥" इति ॥६॥

इसकी भाषा स्पष्ट है ।

शल्यजमुन्मार्गिभगन्दरमाह—

क्षताद्गतिः पायुगता विवर्धते
ह्युपेक्षणात् स्युः क्रिमयो विदार्य ते।
प्रकुर्वते मार्गमनेकधा मुखै-
र्व्रणैस्तदुन्मार्गि भगन्दरं वदेत् ॥७॥

क्षत के कारण गुदप्रदेश में उत्पन्न पिडका जब बढ़ जाती है, तो उसकी उपेक्षा करने से उसमें क्रिमि उत्पन्न हो जाते हैं, जो कि उसे विदीर्ण कर (अनेक) मार्ग बना देते हैं; एवं उस अनेक मुख और व्रणों वाले भगन्दर को उन्मार्गी कहना चाहिए। अथवा क्षत के कारण गुदप्रदेश में उत्पन्न पिडका जब बढ़ जाती है, तो उसकी उपेक्षा करने से उसमें क्रिमि उत्पन्न हो जाते हैं, जो कि उसमें अपने मुखों से अनेक मार्ग बना देते हैं; एवं उस अनेक व्रणों वाले पिडकारूप भगन्दर को उन्मार्गी कहना चाहिए।

वक्तव्य—यह उन्मार्गी भगन्दर आगन्तुज है; इसकी उत्पत्ति प्रायः मांसादि के साथ युक्त अस्थिशल्य के अवगाढ पुरीष के साथ २ गुदा तक जाने से और वहां उससे क्षत होने से होती है। जब क्षत हो जाता है, तब पूर्व उसमें सड़न होती है, तदनु क्रिमि उत्पन्न होकर खाते हुए गुदा को बहुत प्रकार से विदीर्ण कर देते हैं; तत्पश्चात् उन छिद्रों में से वात, मूत्र और मलादि भी आने लगते हैं। इसका विशद वर्णन सुश्रुत ने निम्न प्रकार से किया है—"मूढेन मांसलुब्धेन यदास्थिशल्यमन्नेन सहाभ्यवहृतं यदावगाढपुरीषोन्मिश्रमपानेनाधःप्रेरितमसम्यगागतं गुदं क्षिणोति, तत्र क्षतनिमित्तः कोथ उपजायते, तस्मिँश्च क्षते पूयरुधिराकीर्णमांसकोथे भूमाविव जलप्रक्लिन्नायां क्रिमयः सञ्जायन्ते, ते भक्षयन्तो गुदमनेकधा पार्श्वतो दारयन्ति, तस्य तैर्मार्गैः क्रिमिकृतैर्वातमूत्रपुरीषरेतांस्यभिनिःसरन्ति, तं भगन्दरमुन्मार्गिणमित्याचक्षते"। तन्त्रान्तर में ऋजु अर्शोभगन्दरादि तीन भगन्दर और भी माने हैं; परन्तु उन सब का अन्तर्भाव इन्हीं पाँचों में ही लक्षणानुसार हो जाता है।

मधु०—उन्मार्गिभगन्दरमागन्तुमाह—क्षताद्गतिरित्यादि। क्षतादिति कण्टकादिघातात्। विदार्य ते इति ते क्रिमयो विदार्य मार्गं प्रकुर्वत इति योजना। अनेकधा मुखैरनेकमुखैः। अत्रोन्मार्गेण क्रिमिकृतविमार्गेण पुरीषादिगमनादुन्मार्गिसंज्ञा ज्ञेया। तन्त्रान्तरे त्वर्शोभगन्दरः पठितः। तद्यथा—"कफपित्ते तु पूर्वोत्थे दुर्नामाश्रित्य कुप्यतः। अर्शोमूले ततः शोथः कण्डूदाहार्तिमान् भवेत्॥ स शीघ्रं पक्वभिन्नोऽस्य क्लेदयन् मूलमर्शसः। स्रवत्यजस्रं गतिभिरयमर्शोभगन्दरः॥" इति। अयमन्यतमस्मिन् शतपोनकादीनां दोषलक्षणदर्शनादन्तर्भाव्यः ॥७॥

भाषा स्पष्ट ही है।

एषां साध्यत्वादिकमाह—

घोराः साधयितुं दुःखाः सर्व एव भगन्दराः ।
तेष्वसाध्यस्त्रिदोषोत्थः क्षतजश्च विशेषतः ॥८॥ [सु० २।४]

सभी भगन्दर भयङ्कर एवं दुःसाध्य होते हैं । किन्तु उनमें से भी सान्निपातिक भगन्दर असाध्य होता है । क्षतज भगन्दर तो विशेष रूप से असाध्य है ।

वक्तव्य—भाव यह है कि भगन्दर स्वभावत भयङ्कर एवं दुःसाध्य होते हैं; सान्निपातिक असाध्य और विशेषतः क्षतज भगन्दर असाध्य है । क्षतज भी तब असाध्य है, जब कि क्रिमि आदि हो जावें । अतएव चिकित्सा में इसकी चिकित्सा कही है । वह चिकित्सा क्रिमि आदि की उत्पत्ति से पूर्व ही करनी उचित है, अन्यथा 'साधनं नत्वसाध्यानां व्याधीनामुपदिश्यते' के अनुसार पूर्व असाध्यनिर्देशानन्तर पुनः साधननिर्देश विरुद्ध पड़ता है ।

मधु०—प्रतीकारप्रयत्नायाह—घोरा इत्यादि । दुःखा इति दुःखप्रदाः । क्षतजश्च विशेषत इति क्षतजोऽपि विशेषमनेकव्रणयोगं क्रिमिसंभवादिकं च वीक्ष्यासाध्यः, अत एव चिकित्सितेऽसाध्यतां प्रतिज्ञाय क्रियां वक्ष्यति । विशेषत इति ल्यब्लोपे पञ्चमी, विशेषतोऽतिशयादसाध्य इत्यर्थः; यापनार्थे क्रियाविधिरिति । क्वचित् 'क्षतजश्च भगन्दरः' इति पाठः । क्षतजो विशेषतः साधयितुं घोरोऽसाध्य एव, स्रावल्पविशेषस्य युक्तत्वादिति गदाधरः ॥८॥

भाषा सरल है ।

अवस्थाविशेषेण तदसाध्यतामाह—

वातमूत्रपुरीषाणि क्रिमयः शुक्रमेव च ।
भगन्दरात् स्रवन्तस्तु नाशयन्ति तमातुरम् ॥९॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने भगन्दरनिदानं समाप्तम् ॥४६॥

भगन्दर से स्रवित होते हुए अधोवायु, मूत्र, पुरीष, क्रिमि और शुक्र रोगी को मार देते हैं । भाव यह है कि जब भगन्दर में से अधोवायु आदि आने लगते हैं, तो वे अधोवायु आदि भगन्दर के रोगी को मार देते हैं ।

मधु०—अवस्थायामसाध्यतामाह—वातमूत्रपुरीषाणीत्यादि । भगन्दरात्स्रवन्त इत्यत्र 'अमी विशेषा' इति शेषः ॥९॥

इति श्रीकण्ठदत्तविरचितायां मधुकोशव्याख्यायां भगन्दरनिदानं समाप्तम् ॥४६॥

भाषा स्पष्ट है ।

अथोपदंशनिदानम् ।

उपदंशस्य निदानमाह—

हस्ताभिघातान्नखदन्तपाता-
दधावनाद् [illegible]सेवनाद् वा ।

[illegible]

योनिप्रदोषाच्च भवन्ति शिश्ने
पञ्चोपदंशा विविधापचारैः ॥१॥

हस्ताभिघात से (अर्थात् हाथ से चोट आदि लगने के कारण वा हस्त-क्रिया से), नख और दन्त के लगने से, शिश्न को न धोने से, मैथुन के अतिसेवन से, स्वल्पद्वार, महाद्वार, दीर्घ, कर्कश, रोमश, संकीर्णदेशादि योनि दोष से, और खारी, उष्ण एवं मलिन जल से प्रक्षालन और ब्रह्मचारिणी के पास गमन आदि विविध अपचारों से शिश्न में पाँच प्रकार के उपदंश होते हैं।

वक्तव्य—उपदंश रोग पाँच प्रकार का ही आचार्यों ने माना है; जैसे तन्त्रान्तर में भी कहा है कि—"मेढ्रे पञ्चोपदंशाः स्युर्वातपित्तकफैस्त्रिधा। सन्निपातेन रक्ताच्च" इति। अन्यत्रापि चोक्तम्—"उपदंशोऽत्र पञ्चधा। पृथग्दोषैः सरुधिरैः समस्तैश्च" (वा. उ. स्था. अ. ३३) इति। इसी उपदंश को कई वैद्य भ्रमवश 'फिरङ्ग' रोग समझने लगते हैं; परं वस्तुतः आयुर्वेद के इस उपदंश रोग से आधुनिक 'फिरङ्ग' रोग भिन्न है। उपदंश और फिरङ्ग में केवल स्थानिक साम्य अवश्य है, परं लक्षण, कारण, सम्प्राप्ति चिकित्सा तथा परिणाम में समता का अभाव है। अतएव उपदंश और फिरङ्ग भिन्न २ मानने चाहिएं। इसी कारण भावमिश्र ने इन्हें भिन्न २ माना है।

मधु०—स्थानप्रत्यासत्तेरुपदंशनिदानमाह—हस्तेत्यादि। नखदन्तपातादिति बलवदनुरागोदयान्नखदन्तच्छेदस्थानत्वेनानुक्तेऽपि मेहने नखदन्तपातः यदुक्तं कामशास्त्रे—"शास्त्रस्य विषयस्तावद्यावन्मन्दरसा नराः। प्रवृत्ते रतिचक्रे तु न शास्त्रं नापि च क्रमः॥" (का. सू. सां. अ. अ. २) इति। कलहादिवशाद्वा मेहने नखदन्तपातः। अधावनादप्रक्षालनात्। रत्यतिसेवनादिति व्यवायस्यात्यन्तसेवनात्। योनिप्रदोषादिति दीर्घकर्कशरोमादियोगाद्योनिदुष्टेः। शिश्ने मेहने। विविधापचारैरिति अशुद्धसलिलप्रक्षालनब्रह्मचारिणीगमनादिभिः। उपदंशसंज्ञा च दंशनोपाधिमन्तरेणापि रूढा बोद्धव्या। यद्यप्यभिघातक्षते मेहने उपदंश आगन्तुः षष्ठः संभाव्यते, तथाऽपि तस्य दोषलिङ्गयुक्ततया दोषज एवान्तर्भावः॥१॥

(नखदन्तपातादिति—) यद्यपि शिश्न नखदन्तच्छेद्य नहीं हैं, (क्योंकि कामशास्त्र ने तथा साहित्यरसज्ञों ने नखों से अङ्क्य स्थान कुचमण्डल आदि और दाँतों से अङ्क्य (क्षत्य) स्थान अधर आदि वर्णित किए हैं; किन्तु अनुरागवेग (आसक्ति आवेश वा कामान्धता) के अधिक होने से वहाँ भी नखदन्ताभिघात हो जाता है। जैसे कामशास्त्र में कहा भी है कि 'शास्त्र का विषय तभी तक होता है, जब तक कि मनुष्य अल्प आसक्ति वाले रहते हैं; किन्तु जब रतिचक्र प्रारम्भ हो जाता है, तब न कोई शास्त्र रहता है और न ही कोई क्रम'। भाव यह है कि जब तक मनुष्यों के सिर पर कामवासना वा कामान्धता सवार नहीं होती, तब तक शास्त्रोपदेश स्थिर है और मनुष्य तदनुसार चलते हैं; किन्तु जब मनुष्य रतिचक्र (मैथुन) में प्रवृत्त हो जाता है तब उसके लिए न शास्त्र है, न क्रम। एवं ऐसी अवस्था में पुरुष और स्त्री मदान्ध होते हैं; अतः शिश्न में नखदन्तघात हो सकता है। कई आचार्य नखघात को अनवधानतावश मानते हैं; और दन्त शब्द से पिपीलिका

आदि के घात को लेते हैं। एवं इस हेतु की संयुक्ति करते हैं । सुश्रुत (सु. नि. स्था. अ. १२) में इसका विशद वर्णन किया गया है ।

वातिकोपदंशस्य स्वरूपमाह—

सतोदभेदैः स्फुरणैः सकृष्णैः
स्फोटैर्व्यवस्येत् पवनोपदंशम् ।

तोद, भेद और स्फुरणयुक्त कृष्णवर्ण के स्फोटों वाले उपदंश को वातिक जानना चाहिए। अर्थात् वातिक उपदंश के ये लक्षण हैं ।

पैत्तिकस्योपदंशस्य स्वरूपमाह—

पीतैर्बहुक्लेदयुतैः सदाहैः पित्तेन

पीतवर्ण, बहुत क्लेद वाले और दाहयुक्त स्फोटों वाले उपदंश को पैत्तिक उपदंश जानना चाहिए। अर्थात् ये पैत्तिक उपदंश के भेद हैं ।

मधु०—पैत्तिकमाह—पीतैरित्यादि । स्फोटैरित्यनुसंजनीयम् । एवमुत्तरत्रापि ॥

इसकी भाषा स्पष्ट है ।

रक्तजस्य चोपदंशस्य रूपमाह—

रक्तात् पिशितावभासैः ॥२॥
स्फोटैः सकृष्णैः रुधिरं स्रवन्तं
रक्तात्मकं पित्तसमानलिङ्गम् ।

मांस के समान ताम्र एवं कृष्णवर्ण के स्फोटों वाला रुधिरस्रावी, रक्तात्मक पैत्तिक लक्षणों के समान लक्षणों वाला उपदंश रक्त से उत्पन्न जानना चाहिए ।

श्लैष्मिकोपदंशं लक्षयति—

सकण्डुरैः शोथयुतैर्महद्भिः
शुक्लैर्घनैः स्रावयुतैः कफेन ॥३॥

कण्डु वाले, फूले हुए, विशालाकृति, श्वेतवर्ण, घन एवं स्रावयुक्त स्फोटों वाले उपदंश को कफज जानना चाहिए अर्थात् इन लक्षणों वाला उपदंश कफ से होता है ।

मधु०—रक्तजमाह—रक्तादित्यादि । रक्तात् पिशितावभासैरिति मांसवर्णैः स्फोटैः रक्तात्मकोपदंशं लक्षयेत् । 'रक्तैः' इति पाठान्तरे रक्तैः शोणितैः ॥२-३॥

इसकी भाषा स्पष्ट है ।

त्रिदोषजोपदंशं निर्दिशति—

नानाविधस्रावरुजोपपन्न-
मसाध्यमाहुस्त्रिमलोपदंशम् ।

अनेक प्रकार के स्रावों और अनेक प्रकार की पीड़ाओं से युक्त सान्निपातिक उपदंश को विद्वान् वैद्य असाध्य कहते हैं ।

मधु०—सन्निपातजमाह—नानाविधेत्यादि। नानाविधस्रावरुजोपपन्नमिति प्रत्येकदोषोक्तस्राववेदनायुक्तम्। त्रिमलोपदंशमिति त्रिदोषोपदंशम्॥—

यह पाठ सुगम है।

तस्य प्रत्याख्येयतामाह—

विशीर्णमांसं क्रिमिभिः प्रजग्धं
मुष्कावशेषं परिवर्जयेच्च॥४॥

जिस उपदंश रोगी का मांस विशीर्ण हो जावे, क्रिमियों से खाया जावे वा जिसका गुप्तस्थान अण्डकोषावशेष रह जावे उस रोगी की चिकित्सा नहीं करनी चाहिए।

मधु०—असाध्यतामाह—विशीर्णेत्यादि। मुष्कावशेषमिति विशीर्णसमस्तमेहनमांसत्वेनावशिष्टफलकोषमात्रम्॥४॥

इसकी व्याख्या सरल है।

जातमात्रस्य तस्य उपक्रमणीयतामाह—

संजातमात्रे न करोति मूढः
क्रियां नरो यो विषये प्रसक्तः।
कालेन शोथक्रिमिदाहपाकै-
र्विशीर्णशिश्नो म्रियते स तेन॥५॥

जो अति व्यवाय में रत मूर्ख मनुष्य उपदंश के होने पर ही चिकित्सा नहीं करता वह कुछ ही काल बाद शोथ, क्रिमि, दाह और पाक से विशीर्ण लिङ्ग होकर उपदंश से ही मर जाता है।

मधु०—उपक्रमे चिकित्साकरणार्थमाह—संजातेत्यादि। विषये प्रसक्त इति अतिव्यवायरतः; कालेन चिरकालेन॥५॥

सब स्पष्ट ही है।

लिङ्गार्शोलक्षणमाह[1]—

अङ्कुरैरिव संघातैरुपर्युपरि संस्थितैः।
क्रमेण जायते वर्तिस्ताम्रचूडशिखोपमा॥६॥
कोषस्याभ्यन्तरे सन्धौ सर्वसन्धिगताऽपि वा।
(सवेदना पिच्छिला च दुश्चिकित्स्या त्रिदोषजा।)
लिङ्गवर्तिरभिख्याता लिङ्गार्श इति चापरे॥७॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने उपदंशनिदानं समाप्तम्॥४७॥

अङ्कुरों के समान कुछ दीर्घ और एक दूसरे के ऊपर २ स्थित मांस प्रतानों से क्रमशः कुक्कुड़ की कलगी के समान वर्ति हो जाती है। वह वर्ति (वत्ती) कोष में

१ अयं रोगः युनानीवैद्यके 'शालील उल कुजिब नाम्ना आङ्ग्लभाषायाञ्च 'वॉर्ट्स' (Warts) इति नाम्ना प्रसिद्धः.

मेढ़ के रंध्र की सन्धि में वा सभी सन्धियों में होती है (यह वेदना वाली पिच्छिल त्रिदोषज वर्ति दुःसाध्य होती है)। यह लिङ्गवर्ति कहलाती है परन्तु कई आचार्य इसे लिङ्गार्श कहते हैं।

मधु०—एकस्थानत्वेनात्र लिङ्गार्श आह—अङ्कुरैरित्यादि । अङ्कुरैरङ्कुरसदृशैरीपद्दीर्घैः, संघातैर्मांसप्रतानैः, 'संजातैः' इति पाठे 'मांसैः' इति शेषः । ताम्रचूडशिखोपमेति ताम्रचूडः कुक्कुटः, तच्चूडातुल्या । सन्धाविति मेढ्रन्ध्रसन्धौ, सर्वसन्धिगतेत्यनेन सर्वसन्धेरुक्तत्वात् । एषा त्रिदोषजा; अत एव 'सवेदना पिच्छिला च दुश्चिकित्स्या त्रिदोषजा' इति क्वचित् पाठः । सुश्रुते क्वचित् स्त्रीणामप्युपदंशः पठ्यते । यथा—"मेढ्रसंधौ व्रणाः केचित् केचित् सर्वाश्रयास्तथा । कुलत्थाकृतयः केचित् केचित् पद्मदलोपमाः ॥ रुजादाहार्तिबहुलाः कृष्णास्तोदसमन्विताः । शीघ्रं केचिद्विसर्पन्ति शनैः केचित्तथाऽपरे । स्त्रीणां पुंसां च जायन्ते उपदंशाः सुदारुणाः" इति । किंतु समानतन्त्रेष्वदर्शनादेतदनार्षमाहुः ॥६-७॥

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायामुपदंशनिदानं समाप्तम् ॥४७॥

(एषेति—) यह वर्ति त्रिदोषज है, इसी कारण किसी सुश्रुत में 'सवेदना पिच्छिला' आदि कहा है। सुश्रुत में कहा २ स्त्रियों का भी उपदंश होता है, यह कहा है; तद्यथा—"कई एक व्रण मेढ्रसन्धि में, कई एक सर्वत्र (मेढ्र में) होते हैं। उनमें से कइयों की आकृति कुलत्थ के समान और कइयों की पद्मपत्र के समान होती है। उन पीड़ाबहुल, दाहबहुल, अतिबहुल कृष्णवर्ण और तोदयुक्तों में से कई एक शीघ्र विसर्पण और कई एक विलम्ब से विसर्पणशील होते हैं। ये व्रण ही उपदंश होते हैं जो कि स्त्री पुरुषों में होते हैं"। किन्तु समानतन्त्रों में न दीखने के कारण कई इसे अनार्ष पाठ कहते हैं।

वक्तव्य—आयुर्वेद प्रतिपादित उपदंश स्त्रियों में होता है वा नहीं? अब इस विषय पर विचार करना है। सिद्धान्त रूप में आयुर्वेदीय उपदंश पुरुष का ही रोग प्रतीत होता है। तथाहि—आयुर्वेद प्रतिपादित उपदंश सुश्रुत ने वृद्धि, श्लीपद रोग के साथ पढ़ा है और वाग्भट ने इसका पाठ गुह्य रोगों में किया है। श्लीपद रोग एक ऐसा रोग है, जो कि पुरुष और स्त्रियों में समान होता है, किन्तु वृद्धि रोग जितना भी प्रतिपादित किया है पुरुषों को तो सम्पूर्णतः हो सकता है किन्तु स्त्रियों में कुछ कम हो सकता है, कारण कि स्त्रियों में वृषण न होने के कारण अन्त्र बढ़कर वहां नहीं जा सकता, परन्तु उन्हें वंक्षण ग्रन्थि आदि हो सकती है। इस प्रकार सुश्रुत के द्वादश अध्याय में ही एक साधारण और दूसरा साधारणासाधारण रोग है। इससे इसमें आगत उपदंश रोग को यह भी नहीं कहा जा सकता है कि—साधारण रोगों में आने के कारण यह भी साधारण रोग है, प्रत्युत यहां तो यह कहा जाता है कि इस अध्याय में श्लीपद रोग साधारण, वृद्धि साधारणासाधारण और उपदंश असाधारण अर्थात् केवल पुरुषगत है। वाग्भट ने इसे गुह्य रोगाध्याय में लिखा है; यद्यपि गुह्यस्थान [illegible] स्त्रियों में भी इसकी सम्भावना हो सकती है, परन्तु [illegible] उसमें कई असाधारण ([illegible]) रोग भी प्रतिपादित हैं, जिनमें से कई केवल स्त्रियों के हैं और कई पुरुषों के [illegible] रोगों की [illegible] में [illegible] है, अतः यह पुरुषों का ही रोग है [illegible] कि [illegible] ([illegible]) रोग है किन्तु स्त्रियों [illegible] पुरुषों में [illegible] है, [illegible]

क्योंकि प्रमेह के निदान तथा सम्प्राप्ति उभयत्र सम्भव होने से वह उभयत्र हो सकता है, किन्तु इस (उपदंश) के निदान तथा इसकी सम्प्राप्ति यह बताते हैं कि यह पुरुषों का रोग है । तद्यथाह वाग्भटः—"स्त्रीव्यवायनिवृत्तस्य सहसा भजतोऽथवा । दोषाध्युषितसङ्कीर्णमलिनाणुरजःपथाम् ॥ अन्ययोनिमनिच्छन्तीमगम्यां नवसूतिकाम् । दूषितं स्पृशतस्तोयं रतान्तेष्वपि नैव वा ॥ विवर्धयिषया तीक्ष्णान् प्रलेपादीन् प्रयच्छतः । मुष्टिदन्तनखोत्पीडाविषवच्छुक्रपातनैः ॥ (दोषा दुष्टा गता गुह्यं त्रयोविंशतिमामयान् ॥) जनयंत्युपदंशादीन्"–(वा. उ. स्था. अ. ३३) । ये निदान सभी पुरुषों के ही हैं, क्योंकि उनमें ही सम्भव है । यद्यपि ये निदान २३ गुह्य रोगों के हैं परन्तु पुरुषों के ही गुह्य रोगों के हैं न कि स्त्रियों के । अतः जहां स्त्रियों के गुह्य रोग आरम्भ होते हैं, वहाँ पुनः "विषमस्थाङ्गशयनभृशमैथुनसेवनैः" आदि निदान कहे हैं । कीलकों के सम्बन्ध में जो कहा है कि वह स्त्रियों को भी होते हैं वह छत्राकार में होते हैं, और योन्यर्श कहलाते हैं (इनका वर्णन अर्शोऽधिकार में कर चुके हैं) । एवं इन निदानों से भी यही सिद्ध होता है कि यह रोग पुरुषगत है । अब सम्प्राप्ति को लीजिए, इसकी सम्प्राप्ति में सुश्रुत जी कहते हैं कि—"मेढ्रमागम्य प्रकुपिता दोषाः क्षतेऽक्षते वा श्वयथुमुपजनयन्ति" इति । यहा 'मेढ़ में आकर प्रकुपित दोष क्षत वा अक्षत में श्वयथु पैदा कर देते हैं' में 'मेढ़' शब्द कहा है । यह विशेषाङ्ग पुरुषों में ही होता है, अतः यह रोग भी पुरुषों का ही है । इस प्रकार सम्प्राप्ति भी इसे पुरुषों का रोग सिद्ध करती है । अब इसके लक्षण और असाध्यलक्षण भी यही बताते हैं कि यह रोग पुरुषों का ही है । एवं सिद्धान्ततः यही स्थिर होता है कि आयुर्वेदोक्त उपदंशरोग पुरुषों का ही रोग है । उपदंश रोग स्त्रियों में भी होता है, इसकी सिद्धि में जो सुश्रुत के श्लोक श्रीकण्ठदत्त ने दिए हैं, वे समानतन्त्रों से असंवादी होने के कारण अनार्ष हैं । अब यदि यह शंका हो कि जो स्त्रियों में इस प्रकार के व्रण आदि हों उन्हें क्या कहा जावे, तो इसका उत्तर यही है कि जिस रोग के साथ लक्षणानुसार मिले उसी में ये अन्तर्हित कर लेने चाहिएं वा 'नहि सर्वविकाराणां नामतोऽस्ति ध्रुवा स्थितिः' के अनुसार यदि उसका नाम न भी हो तो कोई हानि नहीं क्योंकि चिकित्सा लक्षणानुसार हो सकती है । आधुनिक पाश्चात्यमतानुयायी विद्वान् इसे फिरङ्गरोग मानकर उभयव्यापी मानते हैं अतएव आधुनिक आचार्यों ने उपदंश का वर्णन करते हुए उसके पर्याय—उपदंश, आतशक, सिफलिस, गर्मी, फिरङ्गरोग माने हैं । आयुर्वेद इससे सहमत नहीं है, इसलिए भावमिश्र ने फिरङ्गरोग को पृथक् दिया है । पृथक् देने से हमारी कोई मानहानि नहीं है, इसमें न यह बात आती है कि आयुर्वेद असम्पूर्ण है, क्योंकि एक तो यह रोग फिरङ्गदेश का है और वहीं से यहां आया, पूर्व यह यहां नहीं था अतः उसका वर्णन अनावश्यक होने से त्रिकालज्ञ महर्षियों ने नहीं किया, दूसरा उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि रोग इतने अधिक हैं कि उनका नाम से निर्देश वा सभी रोगों का निर्देश नहीं हो सकता, अतः जो अनुपवर्णित रोग मिलें उनका नाम 'रुजावर्णसमुत्थानस्थानसंस्थाननामभिः' (चरक ६) के अनुसार व्यवस्थित किया जा सकता है, इसमें लज्जा की कोई बात नहीं क्योंकि चरक ने कहा भी है—'विकारनामाकुशलो न जिह्रीयात्कदाचन । नहि सर्वविकाराणां नामतोऽस्ति ध्रुवा स्थितिः' । जो आधुनिक विद्वान् इन्हें एक ही मान कर निर्देश करते उनका अभिप्राय एक तो दोनों मतों का संयोजन है और दूसरा यह कि इससे प्राचीन और नवीन दोनों का ज्ञान हो । अतएव इन्होंने दोनों के निदान और लक्षणों को मिला दिया जिससे फिरङ्ग और उपदंश एक हो जाता है । अपने ग्रन्थनिर्माण में ग्रन्थकर्त्ता प्रभु होता है, वह अपने विचार प्रकट कर सकता है । यद्यपि यह पद्धति (दोनों का मेल) वर्तमानकालानुसार ठीक है, परं वस्तुतः

आयुर्वेदीय उपदंश फिरङ्गरोग से भिन्न है और पुरुषों का ही रोग है। फिरङ्ग स्त्री और पुरुष दोनों को होता है। इसका विशेष वर्णन आगे परिशिष्ट में किया जायगा।

अथ शूकदोषनिदानम्।

शूकदोषस्य निदानमाह—

अक्रमाच्छेफसो वृद्धिं योऽभिवाञ्छति मूढधीः।
व्याधयस्तस्य जायन्ते दश चाष्टौ च शूकजाः ॥१॥

जो मूढबुद्धि मनुष्य अनुचित क्रम से लिङ्ग की वृद्धि करना चाहता है, उसे शूकज अठारह (१८) व्याधियां हो जाती हैं।

वक्तव्य—कामवासना की अत्यधिक पूर्ति के लिए पूर्वाचार्यों तथा वात्स्यायनादि मुनियों ने लिङ्गवृद्धि के शूकों का प्रयोग किया है। यह प्रायः जलजन्तु होते हैं और नानाविध होते हैं। इनमें से कई सविष और कई निर्विष होते हैं। प्राचीन समय में लिङ्गवृद्ध्यर्थ इनका प्रयोग प्रचुरता से होता था किन्तु आजकल अत्यल्प होता है। आजकल तो इस कार्य के लिए 'गैण्डे' इन्द्रगोप आदि का प्रयोग करते हैं। शास्त्रीयविधानानुसार इनका (शूकों का) प्रयोग लाभप्रद होता है पर उच्छृंखलतापूर्वक इनका प्रयोग रोगप्रद माना गया है। शूकजन्य १८ रोग सुश्रुत ने माने हैं। तद्यथा—"लिङ्गवृद्धिमिच्छतामक्रमप्रवृत्तानां शूकदोषनिमित्ता दश चाष्टौ च व्याधयो जायन्ते। तद्यथा—सर्षपिका, अष्ठीलिका, ग्रथितं, कुम्भिका, अलजी, मृदितं, संमूढपिडका, अवमन्थः, पुष्करिका, स्पर्शहानिः, उत्तमा, शतपोनकः, त्वक्पाकः, शोणितार्बुदं, मांसपाकः, विद्रधिः, तिलकालकश्चेति" (सु. नि. स्था. अ. १४)। इसी का आश्रय लेकर आचार्य माधव ने भी १८ शूकरोग स्वीकार किए हैं। वाग्भट आदि पश्चाद्भावी आचार्यों ने शूकरोग को गुह्यरोग के अन्दर लिखा है; एवं वे अवपाटिका निरुद्धमणि आदि अधिक रोगों को भी इन्हीं में गिनते हैं। इसी भाव को लेकर शार्ङ्गधराचार्य ने भी शूकरोग २४ माने हैं। तद्यथा—"...मेढ्रे शूकामयस्तथा। चतुर्विंशतिराख्याता लिङ्गार्शो ग्रथितं तथा। निवृत्तमवमन्थश्च मृदितं शतपोनकः। अष्ठीलिका सर्षपिका त्वक्पाकश्चावपाटिका ॥ मांसपाकः स्पर्शहानिर्निरुद्धमणिरुत्तमा। मांसार्बुदं पुष्करिका संमूढपिडकालजी ॥ रक्तार्बुदं विद्रधिश्च कुम्भिका तिलकालकः। निरुद्धप्रकशः प्रोक्तस्तथैव परिवर्तिका"। इनमें १ लिङ्गार्श, २ निवृत्त, ३ अवपाटिका, ४ निरुद्धमणि, ५ निरुद्धप्रकश और ६ परिवर्तिका ये छः रोग अधिक पढ़े हैं, सम्भवतः ये रोग भी शूक से होते हों अतएव इन आचार्यों ने इन्हें शूकरोग में ले लिया हो, या यह भी हो सकता है कि स्थानसमता को लेकर ही इन्होंने इन छः रोगों का भी निर्देश शूकरोगों में कर दिया है। अथवा यह भी हो सकता

है कि ये छः रोग शूकदोष से भी होते हों और अन्य कारणों से भी, एवं शूकदोषसाम्य को लेकर वाग्भटादिकों ने इन्हें शूकदोषों में पढ़ा हो और सुश्रुत तथा माधव ने अन्यकारणजन्य होने से वा क्षुद्ररोग होने से निरुद्धप्रकश आदि का क्षुद्ररोग में एवं अर्शरूप होने से लिङ्गार्श का अर्श में वा उपदंश में पाठ किया हो। इसमें प्रमाण यह है कि सुश्रुत ने तिलकालक को शूकरोग भी माना है और क्षुद्ररोग भी। इससे प्रतीत होता है ये सब ही वैसे ही होंगे और अष्टादश यह निर्धारणवाक्य केवल शूकज रोगों को लक्ष्य रखकर वा प्रधानता को लक्ष्य रख कर दिया हो अथवा शूकदोष में आदि शब्द लुप्त मान कर वाग्भट आदि ने इसमें अन्य रोग भी सम्मिलित कर दिए हैं। आचार्य शार्ङ्गधर ने निरुद्धमणि और निरुद्धप्रकश ये दो रोग मानें हैं, किन्तु सुश्रुत ने केवल निरुद्धप्रकश ही माना है और वाग्भट ने केवल निरुद्धमणि। सुश्रुत ने लक्षणसाम्य होने से निरुद्धमणि को निरुद्धप्रकश में अन्तर्हित किया है और वाग्भट ने लक्षणसमता होने से निरुद्धप्रकश को निरुद्धमणि में अन्तर्हित किया है। किन्तु वाग्भट ने इन्हें पृथक् २ इसलिए माना है कि निरुद्धप्रकश में चर्ममणि से सज्जित होकर मणि को रोकता हुआ अपने लक्षण करता है और निरुद्धमणि में चर्म मणि से सज्जित न होकर केवल मुख की सूक्ष्मता के कारण मणि को रोकता हुआ अपने लक्षण करता है। यही इनमें व्यतिरेक है। निवृत्तरोग वाग्भट आदि ने माना है परन्तु सुश्रुत ने इसे कफलक्षणान्वित वातिक परिवर्तिका में अन्तर्हित किया है। अवपाटिका आदि के लक्षणों का निर्देश क्षुद्ररोग में यथास्थान किया जावेगा।

मधु०—समानस्थानत्वाच्छूकदोषनिदानमाह—अक्रमादित्यादि। शूको जलशूकः, स तु विषजन्तुर्जलमलोद्भवः सशूकः, तथा शूकप्रधानो लिङ्गवृद्धिकरो वात्स्यायनाद्युक्तो योगः शूक उच्यते; तस्य दोषो वैकृतमसम्यक्करणात्, ततो वा दोषो वातादिः, तत्कृतो वा विकारः, "दोषा अपि व्याध्याख्यां लभ्यन्ते" इत्यागमात्; अत एव शूकदोषविवरणे शूकदोषनिमित्ता व्याधय एव बोद्धव्याः। एवं च यदत्र 'कुम्भिका रक्तपित्तोत्था' इत्यादिकारणान्तरोपवर्णनं तत् शूककृतरक्तपित्तादिरूपं ज्ञेयम्। अन्ये त्वादिशब्दलोपात् शूकादिदोषनिदानमाहुः। आदिशब्देन दुष्टयोनिगूढान्तर्लोमदुर्भगागमनादि गृह्यते; तन्न मनोहरं, 'वृद्धिं योऽभिवाञ्छति' इत्यनेन विशेषणेन दुष्टयोन्यादेरयोग्यस्य ग्रहीतुमनर्हत्वात्। अन्ये तु दुष्टयोन्यादीन्युपदंशहेतुत्वेनोक्तत्वान्नानुमन्यन्ते; तदनैकान्तिकम्, एकजातीयहेतूनामनेकरोगकरणदर्शनात्। अक्रमादित्यनुचितवृद्धिक्रमात्; अनुचिता च वृद्धिर्भूरिविकारकरजलशूकयोगानामवचारणात्, जलशूकयोगानां वात्स्यायनादौ विस्तरः। यथा—"भल्लातकास्थिजलशूकमथाब्जपत्रमन्तर्विदह्य मतिमान् सह सैन्धवेन। एतद्विरुद्धवृहतीफलतोयपिष्टमालेपनं महिषविड्विमलीकृतेऽङ्गे॥ स्थूलं महत्तरतुरङ्गमतुल्यमाशु शेफं करोत्यभिमतं न हि संशयोऽस्ति" इत्यादि। यच्च जलशूकरहितमश्वगन्धादितैलं तदुचितमेव लिङ्गवर्धनम्। यदुक्तम्—'अश्वगन्धावरीकुष्ठमांसीसिंहीफलान्वितम्। चतुर्गुणेन दुग्धेन तिलतैलं विपाचयेत्॥ स्तनलिङ्गकर्णपालिवर्धनं म्रक्षणादिदम्" इति। गदाधरस्त्वाह लिङ्गवृद्धिरेव कामपरायणनिन्दितपुरुषैः

क्रियमाणा अक्रमः । दश चाष्टौ चेत्यष्टादश; संख्येयनिर्देशादेव लब्धायां संख्यायां पुनस्तदुक्तिः संमूढपिडकादौ द्वित्वशङ्कानिरासार्थम् ॥१॥

शूक जलशूक को कहते हैं, अथवा शूकप्रधान लिङ्गवर्धक वात्स्यायनादि प्रतिपादित प्रयोग शूक कहलाता है । उसका भली प्रकार प्रयोग न करना दोष है, वा उसके दोष वातादि उनसे किया हुआ रोग दोष कहलाता है, क्योंकि 'दोषों की भी व्याधि संज्ञा है' इस आगम से यह सिद्ध होता है कि शूकदोष से शूकव्याधि को जानना चाहिए । एवं जो यहां कुम्भिका पिडका रक्तपित्त से होती है, यह कारणान्तरोपवर्णन शूककृत रक्तपित्तादिरूप जानना चाहिए । दूसरे विद्वान् यहां आदि शब्द का लोप मानते हैं, एवं 'शूकादिदोष-निदानं' यह मान, आदि शब्द से दुष्टयोनि निगूढ़ अन्तर्लोम दुर्भगा आदि के पास जाना भी लिया जाता है; परन्तु यह सङ्गत नहीं क्योंकि 'वृद्धिं योऽभिवाञ्छति' इस विशेषण के देने से दुष्टयोनि आदि का ग्रहण अनुचित है । इस पर कई आचार्य यह भी कहते हैं कि दुष्ट-योनि आदि गमन उपदंश के हेतु कहे हैं अतः वे इसके नहीं हो सकते, आदि शब्द के खण्डन का यह हेतु अनैकान्तिक है क्योंकि एकजातीय निदान भिन्न रोगों को अत्यन्त कर सकते हैं । जलशूक योगों का वात्स्यायन आदि में विस्तार है । यथा—'भिलावे की अस्थि-जलशूक, कमलपत्र और सैन्धानमक इनको अन्तर्धूम जलाकर पुनः बड़ी कण्टकारी फल के जल से पीस भैंस के गोबर से शुद्ध किए हुए अङ्ग (शिश्न) पर लेपन करने से शीघ्र ही यह लेप शिश्न को अश्व के शिश्न के बराबर अतिस्थूल कर देता है, इसमें कोई सन्देह नहीं' । इस प्रकार के लेप शोथ कर देते हैं जिससे लिङ्ग स्थूल हो जाता है, किन्तु वस्तुतः यह हानिप्रद है । परं जो जलशूकरहित लिङ्गवर्धक अश्वगन्धादि तैल है, वह उपर्युक्त है । जैसे कहा भी है कि—असगन्ध, शतावरी, कुष्ठ, जटामांसी और कण्टकारीफल इनसे चतुर्गुण दुग्धा-न्वित तैल का पाचन करने से यह तैल सज्जित होता है । एवं यह तैल मर्दन करने से स्तन, लिङ्ग और कर्णपालि को बढ़ाता है । संख्येय (भेदों के) निर्देश से ही जब संख्या का ज्ञान हो जाता है तब पुनः संख्या का निर्देश सम्मूढपिडका आदि को दो न माना जावे, इसी लिए है ।

सर्षपिकां लक्षयति—

गौरसर्षपसंस्थाना शूकदुर्भुग्नहेतुका ।
पिडका श्लेष्मवाताभ्यां ज्ञेया सर्षपिका तु सा ॥२॥

सफेद सरसों के समान शूक के दुरुपयोग से उत्पन्न श्लेष्मवात दोषप्रधान पिडका सर्षपिका होती है ।

वक्तव्य—सर्षपिका नामक पिडका मधुमेहपिडका भी है किन्तु उसमें और इसमें यह भेद है कि वह मधुमेह के कारण या दुष्टमेद के कारण होती है और उसके स्थान सन्धिमर्म और मांसल स्थान हैं । जैसे कहा भी है कि—"सन्धिमर्मसु जायन्ते मांसलेषु च धामसु" इति; और उसमें दोष भी मेदानुसार होता है, परन्तु यह केवल शूकदोष के कारण होती है और इसका स्थान मेढ्र है, एवं इसमें नियत श्लेष्मवातदोष होता है । इसका और उसका एक सा नाम संस्थान सादृश्य से है, क्योंकि व्याकरण '[illegible]'

1 [illegible]

इस शास्त्र के अनुसार संस्थान साम्य से भी होता है। सुश्रुत में इसे कफरक्तज माना है। तद्यथा—"गौरसर्षपतुल्या तु शूकदुर्भग्नहेतुका। पिडका कफरक्ताभ्यां ज्ञेया सर्षपिका बुधैः"–(सु. नि. स्था. अ. १४) इति। यह पद्य माधव ने सुश्रुत से लिया प्रतीत होता है, परन्तु पुनः यह पाठ भेद इसमें लेखकप्रमादजन्य प्रतीत होता है, और संहिता का पाठ ठीक जँचता है, क्योंकि इसका अनुगामी आचार्य वाग्भट भी इसे कफरक्तज मानता है। तद्यथा—"गुह्यस्य बहिरन्तर्वा पिटिकाः कफरक्तजाः। सर्षपमानसंस्थाना घनाः सर्षपिकाः स्मृताः" इति (वा. उ. स्था. अ. ३३)। इस श्लोक में बहुत से पाठान्तर समुपलब्ध होते हैं; तद्यथा—'गौरसर्षपसंस्थाना' के स्थान पर 'गौरसर्षपतुल्या तु' और 'गौरसर्षपसंस्थाना' ये पाठ मिलते हैं। 'शूकदुर्भुग्नहेतुका' के स्थान पर 'शूकदुर्भग्नहेतुका' और 'शूकदुर्भगहेतुका' यह पाठ मिलते हैं; 'शूकदुर्भगहेतुका' के विषय में डल्हण भी लिखते हैं कि—अन्ये 'शूकदुर्भगहेतुका' इति पठन्ति, व्याख्यानयन्ति च शूको दुष्टभगश्च हेतुर्यस्याः सा तथा। तन्नेच्छति गयदासाचार्यः" इति। 'पिडका श्लेष्मवाताभ्याम्' के स्थान में 'पिडका कफरक्ताभ्यां' यह सुश्रुत में पाठ मिलता है। 'ज्ञेया सर्षपिका तु सा' के स्थान पर 'ज्ञेया सर्षपिका बुधैः' यह पाठान्तर समुपलब्ध होता है।

मधु०—सर्षपिकामाह—गौरेत्यादि। शूकदुर्भुग्नहेतुकेति दुर्भुग्नशूकहेतुकेत्यर्थः। पिडकादिषु उभयवचनमिति (?) परनिपातः। दुर्भुग्नो दुरवचारितः। 'शूकदुर्भगहेतुका' इति पाठान्तरे शूकनिमित्ता दुष्टयोनिनिमित्ता चेत्यर्थः ॥२॥

इसकी भाषा स्पष्ट है।

अष्ठीलिकास्वरूपमाह—

कठिना विषमैर्भुग्नैर्वायुनाऽष्ठीलिका भवेत्।

अप्रशस्त एवं वक्र शूकों से होने वाली अष्ठीला के समान कठिनपिडका अष्ठीलिका होती है, और इसमें दोष वायु होता है, वा शूकों द्वारा कुपित वायु से इस प्रकार की पिडका होती है।

वक्तव्य—अष्ठीलिका और वाताष्ठीला में बहुत अन्तर है। इनके स्थान, लक्षण तथा आकृति में भी भेद है। इनके निदान में भी पर्याप्त भेद है। इस अष्ठीलिका का लक्षण अन्यत्र इस प्रकार दिया है कि—"कठिना विषमैरन्तैर्मारुतस्यप्रकोपतः। शूकैर्विषसंयुक्तैः पिडकाऽष्ठीलिका भवेत्" (सु. नि. स्था. अ. १४) इति; अपिच—"विषमा कठिना भुग्ना वायुनाऽष्ठीलिका स्मृता" (वा. उ. स्था. अ. ३३) इति।

मधु०—अष्ठीलिकामाह–कठिनेत्यादि। विषमैर्भुग्नैरिति वक्ष्यमाणशूकैरित्यनेन संबध्यते। विषमैरित्यप्रशस्तैः। अष्ठीलिका लोहकारस्य भाण्डीविशेषः, तत्तुल्यत्वादष्ठीलिका ॥—

इसकी भाषा स्पष्ट है।

ग्रथितस्य लक्षणमाह—

शूकैर्यत् पूरितं शश्वद्ग्रथितं नाम तत् कफात् ॥३॥ [सु० २।१४]

शूकों से सर्वदा पूरित होने से लिङ्ग ग्रन्थिल हो जाता है, जिसे कि ग्रथित कहते हैं, यह शूक द्वारा प्रकुपित कफ के कारण होता है।

वक्तव्य—इसे अन्यत्र भी कफज ही माना है। तद्यथा—"लिङ्गं शूकैरिवा-पूर्णं ग्रथिताख्यं कफोद्भवम्" (वा. उ. स्था. अ. ३३) इति।

मधु०—ग्रथितमाह—शूकैरित्यादि। शूकैर्यत् पूरितं शश्वद्ग्रथितमिति शूकैः सर्वदा पूरितं लिङ्गं यत् ग्रन्थिलं तत् ग्रथितमित्यर्थः, ग्रथिततुल्यत्वात् ग्रथितसंज्ञा ॥३॥

इसकी भाषा स्पष्ट है।

कुम्भिकां लक्षयति—

कुम्भिका रक्तपित्तोत्था जाम्बवास्थिनिभाऽशुभा।

कुम्भिका पिडका रक्तपित्त से उत्पन्न, जम्बूफल की अस्थि के समान आकृति वाली एवं कृष्णवर्ण की होती है।

वक्तव्य—कुम्भीक पिडका एक वर्त्मरोग भी है। तद्यथा—"उत्सङ्गिन्यथ कुम्भीका पोथक्यो वर्त्मशर्करा" इत्यादि (सु. उ. तं. अ. ३)। इसकी और उसकी आकृति समान होने से नाम एक सा है, किन्तु भेद यह है कि यह लिङ्ग में होती है और वह वर्त्म में; यह रक्तपित्त से होती है और वह सन्निपात से।

मधु०—कुम्भिकामाह—कुम्भिकेत्यादि। कुम्भी कुम्भीतुलता, तस्याः फलं कुम्भी; तद्धितस्य लुक्; इवे प्रतिकृतौ कन्, कुम्भीफलवत् कुम्भिका। अशुभेति शुभं शुक्लं तद्विरोधि नञ्, कृष्णेत्यर्थः। 'आशुगा' इति पाठान्तरम् ॥—

इसका अर्थ स्पष्ट है।

अलजीलक्षणमाह—

तुलजां त्वलजीं विद्याद्यथाप्रोक्तां विचक्षणः ॥४॥

अलजीनामक प्रमेहपिडका के समान लक्षणों वाली शूकदोष से उत्पन्न पिडका को अलजी कहना चाहिए। शूकदोषज अलजीपिडका अलजी नामक प्रमेहपिडका के समान लक्षणों वाली होती है।

वक्तव्य—यह भी उसकी तरह रक्त, असित एवं स्फोटों से व्याप्त होती है। इनमें और उनमें भेद यह है कि यह शूकदोषज है, इसकी चिकित्सा पृथक् है और यह लिङ्ग में ही होती है; और वह प्रमेह या मधुमेह के कारण होती है, उसकी चिकित्सा इससे भिन्न है और सन्धिमर्मों तथा मांसल स्थानों में होती है। अब यह शंका होती है कि यदि यह इसके समान रूप की हो तो [illegible] पिडका को कौन सी पिडका कहेंगे। इसका उत्तर यह है कि यदि लिङ्ग में शूक नहीं है तो वह [illegible] प्रमेहपिडका या मधुमेहज [illegible]

शूकज। इसी अलजी के लक्षण तन्त्रान्तर में भी संवादी ही हैं। तद्यथा-"अलजीं मेहवद्विद्यात्" इति। अपिच—"अलजीलक्षणैर्युक्तामलजीञ्च वितर्कयेत्" इति।

मधु०—अलजीमाह—तुल्यजामित्यादि। तुल्यजामिति प्रमेहपिडका अलजी तत्तुल्यसंभवा, सा च रक्ताऽसिता स्फोटचिता। तुल्यत्वमेव विवृणोति—यथाप्रोक्तामिति, अलजी यथा प्रोक्ता यादृशलक्षणा तथेयमपीत्यर्थः। एषा च कारणचिकित्साभेदात् प्रमेहं विना लिङ्ग एव संभवाच्च ततः पृथग्भूता ज्ञेया ॥४॥

इसका अर्थ सरल है।

मृदितं लक्षयति—

मृदितं पीडितं यच्च संरब्धं वातकोपतः।

पातितशूक वाले लिङ्ग को हाथों से अत्यधिक मसलने से एवं प्रकुपित वात से होने वाले शोथान्वित रोग को मृदित कहते हैं।

वक्तव्य—इसका लक्षण अन्यत्र इस प्रकार भी लिखा है कि—"मृदितं मृदितं वस्त्रसंरब्धं वातकोपतः"[1]।

मधु०—मृदितमाह—मृदितमित्यादि। पीडितमिति अधिकृतत्वात् शूकपातानन्तरं पीडितमिति ज्ञेयं, पीडितं 'लिङ्गं' इति शेषः, संरब्धं सशोथम् ॥—

इसकी भाषा स्पष्ट ही है।

संमूढपिडकामाह—

पाणिभ्यां भृशसंमूढे संमूढपिडका भवेत् ॥५॥

पातितशूक वाले लिङ्ग को हाथों से पीड़ित कर अवनत करने वाली पिडका संमूढपिडका कहलाती है।

वक्तव्य—यह पिडका भी वात से ही होती है, क्योंकि 'वातकोपतः' इसकी अनुवृत्ति आती है। इसे आचार्य वाग्भट ने 'संव्यूढपिडका' कहा है। वे इसका लक्षण इस प्रकार लिखते हैं कि—"पाणिभ्यां भृशसंव्यूढे संव्यूढपिडका भवेत्"।

मधु०—संमूढपिडकामाह—पाणिभ्यामित्यादि। पाणिभ्यां भृशसंमूढे इत्यधिकारात् पातितशूके लिङ्गे पाणिभ्यां भृशसंमूढे पिच्चितावनते, अत्रापि 'वातकोपात्' इत्यनुवर्तते ॥५॥

इसकी भाषा स्पष्ट ही है।

अधिमन्थं लक्षयति—

दीर्घा वह्व्यश्च पिडका दीर्यन्ते मध्यतस्तु याः।
सोऽधिमन्थः कफासृग्भ्यां वेदनारोमहर्षकृत् ॥६॥

शूकपात से प्रकुपित श्लेष्मरक्त से होने वाली दीर्घ एवं बहुत पिडकाएं, जो कि मध्य भाग से विदीर्ण हो जाती हैं, एवं पीड़ा और रोमहर्ष को करने वाली होती हैं, अधिमन्थ कहलाती हैं।

१ वाग्भटः. २ सुश्रुतः. ३ यत्र. ४ वाग्भटः.

वक्तव्य—अधिमन्थ नेत्र रोग भी है, जो कि सर्वगत है। वह केवल नेत्र में होता है और यह लिङ्ग में, इसका कारण शूकदोष है और उसका नेत्रोद्वेजक कारण निदान है। वाग्भट इसी अधिमन्थ को अवमन्थ कहता है। तद्यथा—"पिटिका बह्वो दीर्घा दीर्यन्ते मध्यतश्च याः। सोऽवमन्थः कफासृग्भ्यां वेदना रोमहर्षवान्"। सुश्रुत ने अधिमन्थ अवमन्थ नाम से ही पढ़ा है। वह भी कहता है कि—"सोऽवमन्थः कफासृग्भ्याम्" इत्यादि। वस्तुतः अधिमन्थ और अवमन्थ में कोई भेद नहीं लक्षणादि सब एक से ही हैं, केवल शब्द में भेद है, शब्द में भी केवल उपसर्ग का ही भेद है, सुश्रुतादिकों ने 'मन्थ' के पूर्व 'अव' उपसर्ग दिया है और माधव ने 'अधि' उपसर्ग। अर्थ दोनों का एक सा ही है।

मधु०—अधिमन्थमाह—दीर्घा इत्यादि। कफासृग्भ्यामिति शूकपातकृताभ्याम्। एवमन्यत्रापि सामान्येन शूकदोषाभिहिते शूकपातोऽनुक्तोऽपि ज्ञेयः। वेदनारोमहर्षकृदिति वेदनया रोमहर्षं करोति ॥६॥

अर्थ सरल ही है।

पुष्करिकालक्षणमाह—

पिडका पिडकाव्याप्ता पित्तशोणितसंभवा।
पद्मकर्णिकसंस्थाना ज्ञेया पुष्करिका तु सा ॥७॥

पिडकाओं से व्याप्त, पित्तरक्त से होने वाली एवं कमलकोष के तुल्य शूक दोष के कारण उत्पन्न पिडका पुष्करिका कहलाती है।

वक्तव्य—इसी पिडका का लक्षण अन्यत्र इसी प्रकार ही है, तद्यथा—"पित्तशोणितसम्भूता पिडका पिडकाचिता। पद्मपुष्करसंस्थाना ज्ञेया पुष्करिकेति सा" ॥ अपि च—"पिटिका पिटिकाचिता। कर्णिका पुष्करस्येव ज्ञेया पुष्करिकेति सा" ॥

मधु०—पुष्करिकामाह—पिडकेत्यादि ॥७॥

अर्थ सरल है।

स्पर्शहानिं लक्षयति—

स्पर्शहानिं तु जनयेच्छोणितं शूकदूषितम्।

शूक प्रयोग से दूषित किया हुआ रक्त स्पर्शहानि नामक व्याधि को उत्पन्न करता है।

वक्तव्य—इसमें शूक प्रयोग से चेतना शक्ति का नाश वा ह्रास हो जाता है, जिससे कि स्पर्शहानि (स्पर्शाज्ञान) रोग हो जाता है। इसका लक्षण अन्यत्र इस प्रकार लिखा है कि—"शूकदूषितरक्तोत्था स्पर्शहानिस्तदाह्वया"।

मधु०—स्पर्शहानिमाह—स्पर्शहानिमित्यादि ॥—

अर्थ सुगम ही है।

उत्तमामाह—

मुद्गमाषोपमा रक्ता रक्तपित्तोद्भवा तु या ॥८॥
व्याधिरेषोत्तमा नाम शूकाजीर्णनिमित्तजा।

माष वा मुद्र के समान आकृति वाली, रक्तवर्ण एवं रक्तपित्त से उत्पन्न व्याधि उत्तमा नामक होती है, जो कि पुनः शूक के दुरुपयोग के कारण होती है।

वक्तव्य—बार २ दुष्टशूकों का प्रयोग करने से रक्त और पित्त दुष्ट हो जाता है, जिससे इस रोग की उत्पत्ति होती है। इस रोग का लक्षण तन्त्रान्तर में इस प्रकार दिया है कि—"उत्तमां रक्तपित्तजाम्। पिटिकां माषमुद्गाभ्याम्"-(विद्यादिति)। किञ्च—"मुद्गमाषोपमा रक्ता पिडका रक्तपित्तजा। उत्तमैषा तु विज्ञेया शूकाजीर्णनिमित्तजा" इति।

मधु०—उत्तमामाह—मुद्गमाषेत्यादिना। एषोत्तमा व्याधिः शूकाजीर्णनिमित्तजा भवति, शूकाजीर्णं पुनः पुनर्दुरवचारितशूकविकृतिरूपमेव। व्याधिरेषोत्तमो नामेति पाठान्तरे एषोत्तम इति निर्देशः पूर्वत्रासिद्धविधेरनित्यत्वात् साधुः ॥८॥

स्पष्ट ही है।

शतपोनकस्वरूपं दर्शयति—

छिद्रैरणुमुखैर्लिङ्गं चितं यस्य समन्ततः ॥९॥
वातशोणितजो व्याधिः स ज्ञेयः शतपोनकः।

जिस मनुष्य का लिङ्ग शूकावचारण के कारण चारों ओर से सूक्ष्म मुख वाले छिद्रों से व्याप्त हो, उसे वात शोणित से होने वाली वह व्याधि शतपोनक नाम वाली जाननी चाहिए।

वक्तव्य—"छिद्रैरणुमुखैर्यत्तु मेहनं सर्वतश्चितम्। वातशोणितकोपेन तं विद्याच्छतपोनकम्"। यह तन्त्रान्तर का लक्षण भी इसका संवादी ही है। शतपोनक के विषय में पहले लिखा जा चुका है।

मधु०—शतपोनकमाह—छिद्रैरणुमुखैरित्यादिना। छिद्रैरिति दुरवचारितशूकदोपजनितवातशोणितजैः। चितमुपचितम्, अत एव चिकित्सायां लेखनोपदेशः। शतपोनकश्चालनिका, तत्तुल्यत्वात् शतपोनकः ॥९॥

सब स्पष्ट ही है।

त्वक्पाकं लक्षयति—

वातपित्तकृतो ज्ञेयस्त्वक्पाको ज्वरदाहकृत् ॥१०॥

शूकावचारण के कारण प्रकुपित वातपित्त से उत्पन्न, ज्वर और दाह को करने वाला त्वक् का पाक त्वक्पाक रोग कहलाता है।

वक्तव्य—सुश्रुत में 'वातपित्तकृतः' के स्थान पर 'पित्तरक्तकृतः' यह पाठ समुपलब्ध होता है। डल्हण ने भी इसी की व्याख्या की है। सुश्रुतानुयायी वाग्भट ने भी इसे पित्तासृक्जन्य ही माना है। तद्यथा—"पित्तासृग्भ्यां त्वचः पाकस्त्वक्पाको ज्वरदाहवान्" इति। किन्तु गयदासाचार्य इसे दुरवचारित शूकदूपित वातपित्तज ही मानता है। अतएव सुश्रुत में भी कहीं २ 'वातपित्तकृतो' यह पाठ समुपलब्ध

होता है। माधवनिदान के टीकाकार श्रीकण्ठदत्त वाचस्पतिमिश्र आदिकों ने भी 'वातपित्तकृतः' यही स्वीकार कर व्याख्यान किया है।

मधु०—त्वक्पाकमाह—वातपित्तकृत इत्यादि। शूकदोषेषु क्वचित् कस्यचिद्दोषस्याभिधानं शूकविशेषादाहाचारभेदाच्च समर्थनीयम् ॥१०॥

इसका अर्थ स्पष्ट है।

शोणितार्बुदं लक्षयति—

कृष्णैः स्फोटैः सरक्ताभिः पिडकाभिर्निपीडितम्।
यस्य वास्तुरुजश्चोग्रा ज्ञेयं तच्छोणितार्बुदम् ॥११॥ [सु० २।१४]

जिस मनुष्य का मेढ़ शूकावचारण के कारण कृष्णवर्ण के स्फोटों तथा रक्तवर्ण की पिडकाओं से निपीडित हो, एवं व्रणस्थान उग्र पीड़ायुक्त हो उसे शोणितार्बुद जानना चाहिए अर्थात् ये शोणितार्बुद के लक्षण हैं।

वक्तव्य—यद्यपि रक्तार्बुद और भी है परन्तु इसका और उसका निदान, लक्षण, संस्थान और स्थान भिन्न २ हैं। इसका लक्षण तन्त्रान्तर में इस प्रकार लिखा है—"सरागैरसितैः स्फोटैः पिटिकाभिश्च पीडितम्। मेहने वेदनाश्चोग्रास्तं विद्यादसृगर्बुदम्" इति।

मधु०—शोणितार्बुदमाह—कृष्णैः स्फोटैरित्यादिना। पिडकाभिरिति स्वल्पाभिर्निपीडितं लिङ्गमिति बोद्धव्यम्। यस्य वास्तुरुज इति वास्तु व्रणाधिष्ठानं, तत्र रुजः, अग्राधोच्छ्रितमांसशोफत्वात्। 'वस्तिरुजश्चोग्रा' इति पाठान्तरम्। अर्बुदं दुरवचारितशूकजशोणितकृतम् ॥११॥

इसकी भाषा सरल है।

मांसार्बुदमाह—

मांसदोषेण जायते यदर्बुदं मांससंभवम्।

शूकपात के बाद प्रहारादिजन्य मांसदोष से उत्पन्न अर्बुद को मांसार्बुद कहते हैं। यह मांसार्बुद दूसरे मांसार्बुद से निदान स्थान आदि भिन्नता के कारण भिन्न है।

मधु०—मांसार्बुदमाह—मांसदोषेणेत्यादि। मांसदोषेणेति शूकपातानन्तरं प्रहारादिजनितदुष्टेन मांसदोषेण ॥—

अर्थ सरल ही है।

मांसपाकं लक्षयति—

शीर्यन्ते यस्य मांसानि यत्र सर्वाश्च वेदनाः ॥१२॥ [सु० २।१८]
विद्यात्तं मांसपाकं तु सर्वदोषकृतं भिषक्।

शूकपात के कारण जिस मनुष्य का मांस सड़ जाता है और जिसे सब प्रकार की पीड़ायें होती हैं, उसे यह रोग त्रिदोषज मांसपाक जानना चाहिए।

---

१. [illegible]

वक्तव्य—मांस पाक का लक्षण शास्त्रान्तर में यथा—"मांसपाकः सर्वजः सर्ववेदनो मांसशातनः" इति।

मधु०—मांसपाकमाह—शीर्यन्ते यस्येत्यादि। शीर्यन्ते गलन्ति, सर्वाश्च वेदना इति वातपित्तकफजाः ॥१२॥

इसकी भाषा सरल है।

विद्रधिस्वरूपमाह—

विद्रधिं सन्निपातेन यथोक्तमिति निर्दिशेत्[1] ॥१३॥ [सु० २।१४]

'नानावर्णरुजास्रावः' इत्यादि से प्रतिपादित लक्षणों वाली शूकदोष के कारण लिङ्ग में उत्पन्न विद्रधि को विद्रधि कहते हैं, और यह त्रिदोषज होती है।

वक्तव्य—इनमें भेद कारण और स्थान का है।

मधु०—विद्रधिमाह—विद्रधिमित्यादि। सन्निपातेन यथोक्तमिति 'नानावर्णरुजास्रावः' इत्यादिना सन्निपातजविद्रधिलक्षणं विद्रधिमिह जानीयादित्यर्थः ॥१३॥

इसकी भाषा स्पष्ट है।

तिलकालकस्य लक्षणमाह—

कृष्णानि चित्राण्यथवा शूकानि सविषाणि वा[2]।
पातितानि पचन्त्याशु मेढ्रं निरवशेषतः ॥१४॥ [सु० २।१४]
कालानि भूत्वा मांसानि शीर्यन्ते यस्य देहिनः।
सन्निपातसमुत्थांस्तु तान् विद्यात्तिलकालकान्[3] ॥१५॥ [सु० २।१४]

जो मनुष्य कृष्णवर्ण वा कर्बुरवर्ण अथवा विषैले शूकों को मेढ्र पर प्रयुक्त करता है, उस मनुष्य के सम्पूर्ण लिङ्ग को वे पातित शूक शीघ्र ही पका देते हैं, जिससे वहां के मांस (खण्ड) कृष्ण (तिलवर्ण) होकर विशीर्ण हो जाते हैं। इस प्रकार के रोग को तिलकालक कहते हैं अर्थात् इस प्रकार के मांसखण्ड तिलकालक कहलाते हैं, ये त्रिदोषज होते हैं।

वक्तव्य—इन तिलकालकों में तथा क्षुद्ररोग में पठित तिलकालकों में पर्याप्त अन्तर है, जो कि इनके लक्षण देखने से स्पष्ट हो जाता है। इनमें निदान-भेद भी है। इसका लक्षण दूसरे शास्त्र में इस प्रकार लिखा है कि "कृष्णानि भूत्वा मांसानि विशीर्यन्ते समन्ततः। पक्वानि सन्निपातेन तत् विद्यात्तिलकालकान्"।

मधु०—तिलकालकमाह—कृष्णानीत्यादि। चित्राणीति नानावर्णानि। सविषाणीति शूकानां सविषत्वेऽपि विशेषार्थमुक्तम्। कालानीति कृष्णानि, कृष्णतिलतुल्यत्वात्तिलकालकसंज्ञा। शीर्यन्ते गलन्ति ॥१४–१५॥

इसकी भाषा सरल है।

---

१ अभिनिर्दिशेत्. २ च. ३ तिलकालकम्.

शूकदोषेषु प्रत्याख्येयानाह—

तत्र मांसार्बुदं यच्च मांसपाकश्च यः स्मृतः।
विद्रधिश्च न सिध्यन्ति ये च स्युस्तिलकालकाः ॥१६॥ [सु० २।१४]

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने शूकदोषनिदानं समाप्तम् ॥४८॥

इन शूकदोषों में मांसार्बुद, मांसपाक, विद्रधि और तिलकालक सिद्ध नहीं होते, अर्थात् ये असाध्य हैं। इस पर तन्त्रान्तर वाक्य भी है कि—"मांसोत्थमर्बुदं पाकं विद्रधिं तिलकालकान्। चतुरो वर्जयेदेषां शेषांश्छीघ्रमुपाचरेत्" इति।

मधु०—शूकदोषेष्वसाध्यानाह—तत्र मांसार्बुदमित्यादि। यच्चेति चकारोऽयं भिन्नक्रमः, स च न सिद्धयतीत्यनन्तरं द्रष्टव्यः, तेन साध्यताऽप्येषामचिरत्वादिना भवति, अत एव प्रत्याख्याय चिकित्साविधानमुपपन्नमिति गदाधरः। दुर्ज्ञानात् साध्ये एवासाध्यतारोपादसंपूर्णावस्थायामसाध्येऽपि क्रियासिद्धेश्च मा निवर्ततां भिषगिति प्रत्याख्याय चिकित्सां कारुणिकतया आचार्य उपदिशतीति मन्तव्यम् ॥१६॥

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायां शूकदोषनिदानं समाप्तम् ॥४८॥

इसकी भाषा सरल है।

अथ कुष्ठनिदानम्।

कुष्ठानां निदानमवतारयति—

विरोधीन्यन्नपानानि द्रवस्निग्धगुरूणि च।
भजतामागतां छर्दिं वेगांश्चान्यान् प्रतिघ्नताम् ॥१॥ [च० ६।७]
व्यायाममतिसन्तापमतिभुक्त्वा निषेविणाम्।
घर्मश्रमभयार्तानां द्रुतं शीताम्बुसेविनाम् ॥२॥ [च० ६।७]
अजीर्णाध्यशिनां चैव पञ्चकर्मापचारिणाम्।
नवान्नदधिमत्स्यातिलवणाम्लनिषेविणाम् ॥३॥ [च० ६।७]
माषमूलकपिष्टान्नतिलक्षीरगुडाशिनाम्।
व्यवायं चाप्यजीर्णेऽन्ने निद्रां च भजतां दिवा ॥४॥ [च० ६।८]
विप्रान् गुरून् धर्षयतां पापं कर्म च कुर्वताम्।
वातादयस्त्रयो दुष्टास्त्वग्रक्तं मांसमम्बु च ॥५॥ [च० ६।७]
दूषयन्ति स कुष्ठानां सप्तको द्रव्यसंग्रहः।
अतः कुष्ठानि जायन्ते सप्त चैकादशैव च ॥६॥ [च० ६।७]

विरोधी अन्न, पान, द्रव पदार्थ स्निग्ध पदार्थ और गुरु पदार्थ के सेवन करने वालों के; आई हुई छर्दि (वमन) तथा आए हुए मलमूत्रादिकों के वेग को रोकने वालों के; बहुत खाने के बाद व्यायाम और अतिसन्ताप करने वालों के; गर्मी (धूप), थकावट और भय से पीड़ित होने पर शीघ्र शीत जल को सेवन करने वालों के; अजीर्ण (अपक्व) अन्न को खाने वाले तथा पञ्चकर्म को भली प्रकार न प्रयुक्त (अर्थात् मिथ्या प्रयोग) करने वाले मनुष्यों के; नए अन्न, दधि, मत्स्य (मछली), अतिलवण के पदार्थ तथा अति अम्ल पदार्थ सेवियों के; माष, मूलक, पिष्ठ (पीठी) के अन्न, तिल, दूध और गुड़ भोजियों के; भोजन के जीर्ण न होने पर मैथुन और दिन में शयन करने वालों के; एवं ब्राह्मण और गुरुओं की अवज्ञा तथा पाप कर्म करने वालों के वातादि तीनों दोष प्रकुपित होकर त्वचा, रक्त, मांस और लसीका को दूषित करते हैं। यह (वातादि तीन तथा त्वचा, रक्त, मांस और लसीका रूप) सप्तक कुष्ठों का द्रव्य संग्रह है। इनसे ७ तथा ११ अर्थात् १८ कुष्ठ उत्पन्न होते हैं।

वक्तव्य—उपर्युक्त निदान कुष्ठ के निदान तो अवश्य हैं, परन्तु इनका प्रभाव तभी होता है, जब कि दोष दूष्यों की सम्मूर्च्छनावस्था कुष्ठजनक हो। कारण कि एक ही निदान कई रोगों को उत्पन्न करने की शक्ति रखता है, किन्तु उत्पन्न वही रोग होता है जिसकी कि सम्प्राप्ति वा दोष और दूष्यों की सम्मूर्च्छना तदनुसार हो जावे। अतः यह आवश्यक नहीं कि ये निदान अवश्य ही कुष्ठोत्पादक हैं। हाँ, सम्भावना अवश्य है। यही कारण है कि कई भोजनोत्तर मैथुन तथा दिन में शयन करने पर भी इस रोग से ग्रस्त नहीं होते। साथ ही एक वा दो हेतु निर्बल होने पर भी रोगोत्पादक नहीं हो सकते; कभी ये हेतु परिस्थिति के अनुसार भी अकिञ्चित्कर होते हैं। यथा—यहां दिवास्वाप कुष्ठ में कारण लिखा है, किन्तु ग्रीष्मऋतु में दिवास्वाप विहित है। जैसे कहा भी है कि—"सर्वर्तुषु दिवास्वापो निषिद्धोऽन्यत्र ग्रीष्मात्" (सु. शा. स्था. अ. ४) इति। एवं अन्य भी कई एक व्यक्ति ऐसे होते हैं जिन्हें कि दिन में सुलाना हितकर होता है, अतः वहां यह रोग नहीं हो सकता। उपर्युक्त पाठ में अष्टादश के स्थान में 'सप्त चैकादश' इस प्रकार का पाठ करना, महाकुष्ठ तथा क्षुद्रकुष्ठ का ज्ञापक है। एवं सप्त महाकुष्ठ हैं और ११ क्षुद्रकुष्ठ। कुष्ठों की प्रतिपादित संख्या में मतभेद नहीं है, किन्तु वर्गीकरण, नामकरण एवं कुष्ठान्तर निर्देश में भेद अवश्य है, जो कि आगे स्पष्ट किया जायगा। वायु, पित्त, कफ, त्वचा (वा रस), रक्त, मांस और लसीका ये कुष्ठ के सात द्रव्य हैं। चरक में व्यायामादि अर्धश्लोक के अन्त और धर्मादि अर्धश्लोक के आदि में "शीतोष्णलङ्घनाहारान् क्रमं मुक्त्वा निषेविणाम्" यह पाठ मिलता है।

मधु०—अष्टादशसंख्यारूपेण तुल्यत्वात् कुष्ठनिदानमुच्यते । विशेषेण कुष्ठजनकं निदानमाह—विरोधीनीत्यादि । विरोधीनि "न मत्स्यान् पयसाऽभ्यवहरेत्" (च. सू. स्था. अ. २६) इत्यादिनोक्तानि । भजतामिति पूर्वेण संवध्यते । आगतामिति उपस्थितवेगाम् । वेगांश्चान्यानिति मूत्रपुरीषादिवेगान् । व्यायाममतिसन्तापमतिभुक्त्वेति भुक्त्वा व्यायाममतियुज्य सन्तापमतियुज्य निषेविणामिति एतयोरेव सेवनशीलानां, निषेविणामित्यनेन सह प्रथमतः संबन्धे कृशीगलक्षणा षष्ठी स्यात्, ततश्च व्यायामस्यातिसन्तापस्यातिनिषेविणामिति प्रयोगः प्रसज्येत। 'शीतोष्णलङ्घनाहारान् क्रमं मुक्त्वा निषेविणाम्' इति पाठान्तरे शीतोष्णादीनां यदा येन क्रमेण सेव्यत्वमुक्तं, तद्विपरीत्येन तान् सेव्यमानानां; शीतोष्णलङ्घनाहारानित्यनन्तरं प्रतीति द्रष्टव्यं, तेन शीतोष्णादीन् प्रति यः क्रमस्तं मुक्त्वा एतेषामेव निषेविणाम् । घर्मश्रमभयार्तानामिति घर्मादिभिरार्तत्वे सति द्रुतमविश्रम्य शीताम्बुसेविनाम् । घर्म आतपः । अजीर्णाध्यशिनामिति अजीर्णमाममन्नम्, अपक्वमिति यावत्, तद्भुञ्जानानाम्; अध्यशिनामाहारे एवापरिणते भुञ्जानानाम् । अशिनामिति अजीर्णाधिशब्दाभ्यां सह संबध्यते । पञ्चकर्मापचारिणामिति पञ्चकर्मणि क्रियमाणेऽपचारिणाम् । नवान्नदधिमत्स्यानीति अतिशब्दो नवान्नादिभिः सर्वैः संबध्यते । व्यवायं चाप्यजीर्णे इति विदग्धादिरूपे अजीर्णे । धर्षयतामिति अभिभवताम् । पापं कर्म च कुर्वतामित्यनेनैव विप्रादिधर्षणे लब्धे पुनस्तद्वचनं विशेषार्थम् । दोषदूष्यसंग्रहमाह—वातादय इत्यादिना । वातादीनां त्रित्वे प्रतीतेऽपि त्रय इति वचनं सर्वकुष्ठेषु मिलितानामेव त्रयाणां दुष्टिप्रदर्शनार्थम् । द्रव्यसंग्रह इति द्रव्यमारम्भकं कारणमुच्यते, यथा—"रसनार्थो रसस्तस्य द्रव्यमापः क्षितिस्तथा" (च. सू. स्था. अ. १) इति । अर्थलब्धमपि सप्तकमिति पदं सर्वत्र सप्तकनियमार्थं पुनरुक्तम् । ननु, विसर्पाणां समुत्पादे एतावत्येव सामग्री, यदुक्तं—"रक्तं लसीका त्वङ्मांसं दूष्यं दोषास्त्रयो मलाः । विसर्पाणां समुत्पत्तौ विज्ञेयाः सप्त धातवः" (च. चि. स्था. अ. २१) इति । इति लसीकया च सप्तकमुच्यते, तत् किंनिबन्धनः कुष्ठविसर्पयोर्भेदः ? उच्यते, कुष्ठं [illegible] स्थिरैः [illegible], विसर्पस्तु [illegible] कुष्ठे [illegible] न विसर्पे । अन्ये त्वाहुः—विसर्पा वातादिभिरेकैकशोऽपि भवन्ति, यदुक्तं—"पृथक् त्रयस्त्रिभिश्चैको विसर्पो द्वन्द्वजास्त्रयः" (च. चि. स्था. अ. २१) इति, कुष्ठं तु त्रिदोषजमेवेति । [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ॥१–८॥

(भाषार्थबोधिनि—) [illegible] [illegible] [illegible] (द्रव्य संग्रह इति) [illegible] यथा—"रसना (रसनेन्द्रिय) का अर्थ (विषय) [illegible] ([illegible]) [illegible] [illegible] (मधु—)

विसर्पों की उत्पत्ति में भी यही सामग्री (द्रव्य सप्तक रूप) है। जैसे कहा भी है कि—"रक्त, लसीका, त्वचा और मांस ये दूष्य; वात, पित्त और कफ ये मल एवं ये सातों धातु विसर्पों की उत्पत्ति में कारण हैं"। यहां लसीका शब्द से उदक लिया जाता है। जब ऐसा ही है तो कुष्ठ और विसर्प का भेद किस कारण है ? इसका उत्तर यह है कि—कुष्ठ चिर क्रिया वाले, स्थिर, निर्बल, रक्तपित्त वाले दोषों से होते हैं और विसर्प अचिर विसर्पणशील, प्रबल रक्तपित्त वाले दोषों से; एवं कुष्ठ में गुरु की अवज्ञा और चोरी आदि कारण हैं किन्तु विसर्प में नहीं है। दूसरे आचार्य कहते हैं कि विसर्प वातादि एक २ से भी होते हैं। जैसे कहा भी है कि—"पृथक् २ दोषों से तीन, तीन दोषों से एक, और द्वन्द्वज तीन, एवं सात प्रकार का होता है"। एवं कुष्ठ त्रिदोषज ही होता है। यह इनमें भेद है। (इस पर श्रीकण्ठदत्त जी कहते हैं कि) विसर्पों के त्रिदोषज होने पर भी एक दोषज कुष्ठ की तरह उनकी एक दोष से उत्पत्ति हो सकती है, अतः यह समाधान ठीक नहीं है।

एषां त्रिदोषजत्वेऽपि उल्वणदोषतया सप्तप्रकारतामाह—

कुष्ठानि सप्तधा दोषैः पृथग्द्वन्द्वैः समागतैः।
सर्वेष्वपि त्रिदोषेषु व्यपदेशोऽधिकत्वतः ॥७॥

पृथक् २ दोषों से अर्थात् वात, पित्त और कफ से तीन; दोषों के द्वन्द्व से अर्थात् वातपित्त, वातकफ और पित्तकफ से तीन; सभी दोषों के मेल (सन्निपात) से एक एवं कुष्ठ सात प्रकार के होते हैं।

वक्तव्य—यद्यपि सभी कुष्ठ त्रिदोषज हैं, पुनरपि इस प्रकार का निर्देश 'व्यपदेशस्तु भूयसा' के अनुसार है। इसका भाव यह है कि सभी कुष्ठ के त्रिदोषज होने पर भी उस २ दोष की अधिकता के कारण उन्हें एकदोषज, द्विदोषज वा त्रिदोषज कहा जाता है। यथा—सभी कुष्ठ त्रिदोषज होते हैं, इस सिद्धान्त के अनुसार कपालकुष्ठ भी त्रिदोषज है, किन्तु फिर भी उसमें वात की प्रधानता होने से उसे वातिक कुष्ठ कहा जाता है।

मधु०—कुष्ठानां त्रिदोषजत्वेऽप्युल्वणदोषेण सप्तप्रकारतामाह—कुष्ठानीत्यादि। दोषैः पृथक् त्रयः, द्वन्द्वैस्त्रयः, समागतैः सन्निपातैरेक इति सप्तत्वम्। व्यपदेशोऽधिकत्वत इति यथा—वातेन कुष्ठं कापालमित्यादि ॥७॥

भाषा सरल है।

कुष्ठस्य पूर्वरूपमाह—

अतिश्लक्ष्णखरस्पर्शस्वेदास्वेदविवर्णताः।
दाहः कण्डूस्त्वचि स्वापस्तोदः कोठोन्नतिर्भ्रमः[1] ॥८॥ [वा० ३।१४]
व्रणानामधिकं शूलं शीघ्रोत्पत्तिश्चिरस्थितिः।
रूढानामपि रूक्षत्वं निमित्तेऽल्पेऽतिकोपनम्[2] ॥९॥ [वा० ३।१४]
रोमहर्षोऽसृजः कार्ष्ण्यं कुष्ठलक्षणमग्रजम्।

---

१ श्रमः २ निमित्तेऽल्पेऽपि.

अतिश्लक्ष्णता (चिक्कणता) वा रूक्षता होनी, स्वेद का अधिक आना वा बिलकुल न आना, वैवर्ण्य, (सर्वाङ्ग) दाह, त्वचा में खुजली, सुप्तिवात, तोद, कोठों (वरटी—धमोड़ी वा डेमू के काटने से पड़े रक्तवर्ण चफ्फड़ व सोजश को कोठ कहते हैं) की उत्पत्ति, भ्रम, व्रणों में पीड़ाधिक्य, व्रणों की शीघ्रोत्पत्ति (व्रणों का जल्दी उत्पन्न होना), व्रणों की चिरस्थिति (और देर तक रहना), रूढ़ होने (भर जाने) पर भी उनमें (व्रणों में) रूक्षता, कारण के स्वल्प होने पर भी व्रणों का अधिक प्रकोप होना, रोमहर्ष होना और रक्त का कृष्ण वर्ण होना कुष्ठ के पूर्वरूप हैं अर्थात् अतिश्लक्ष्णता प्रभृति लक्षण कुष्ठ की पूर्वरूपावस्था में होते हैं।

मधु०—पूर्वरूपमाह—अतिश्लक्ष्णेत्यादिना । अतिश्लक्ष्णोऽतिमसृणः । खरो रूक्षः (खरः कर्कशः), अतिश्लक्ष्णो वा खरो वा स्पर्शः । स्वेदास्वेदौ स्वेदबहुलतोऽवरोधानवरोधकृतौ । स्वापः स्पर्शाज्ञानम् । कोठोन्नतिः वरटीदष्टसंकाशः शोथः कोठः, तस्योन्नतिः । शीघ्रोत्पत्तिश्चिरस्थितिश्च व्रणानामेव । निमित्तेऽल्पेऽतिकोपनमिति अन्यथाऽपि दुष्टशोणितत्वाद्व्रणानां देहगतानामल्पेऽपि हेतौ कोपः । कुष्ठलक्षणमग्रगमिति कुष्ठानां पूर्वरूपमित्यर्थः ॥८–९॥

इसकी भाषा स्पष्ट है।

तत्र सप्तमहाकुष्ठेषु पूर्वं कापालकुष्ठस्य लक्षणमाह—

कृष्णारुणकपालाभं यद्रूक्षं परुषं तनु ॥१०॥ [नं० १०५]
कापालं तोदबहुलं तत्कुष्ठं विषमं स्मृतम् ।

कृष्ण या अरुण वर्ण के कपालों की सी कान्ति वाला, रूक्ष, कठोर एवं तनु त्वचा वाला तोदबहुल कुष्ठ कपाल संज्ञक होता है। यह कुष्ठ दुश्चिकित्स्य होता है।

औदुम्बरकुष्ठस्य लक्षणमाह—

रुग्दाहरागकण्डूभिः परीतं रोमपिञ्जरम् ॥११॥ [नं० १०६]
उदुम्बरफलाभासं कुष्ठमौदुम्बरं वदेत् ।

रुजा, दाह, राग (रक्तवर्णता) और खुजली से व्याप्त कपिल रोमों वाला एवं औदुम्बर फल के समान वर्ण वाला कुष्ठ औदुम्बर कुष्ठ कहलाता है।

मण्डलकुष्ठस्य लक्षणमाह—

श्वेतं रक्तं स्थिरं स्त्यानं स्निग्धमुत्सन्नमण्डलम् ॥१२॥ [नं० १०७]
कृच्छ्रमन्योन्यसंसक्तं कुष्ठं मण्डलमुच्यते ।

श्वेत, रक्त, स्थिर, स्त्यान (वा सघन), स्निग्ध, ऊँचे उठे हुए मण्डलों वाला और एक दूसरे से मिला हुआ कुष्ठ [illegible] मण्डल कुष्ठ कहलाता है। [illegible] है। कोई कहते हैं कि [illegible] कुष्ठ [illegible] होता है।

[illegible]

ऋष्यजिह्वं लक्षयति—

कर्कशं रक्तपर्यन्तमन्तःश्यावं सवेदनम् ॥१३॥ [च० ६।७]
यदृष्यजिह्वसंस्थानमृष्यजिह्वं तदुच्यते ।

खरस्पर्श, रक्तवर्ण के किनारों वाला, मध्य में श्याव वर्ण, वेदनायुक्त और जो ऋष्य (नीलाण्ड हरिण वा रीछ) की जिह्वा के समान होता है, वह कुष्ठऋष्यजिह्व कहलाता है ।

पुण्डरीककुष्ठं लक्षयति—

सश्वेतं रक्तपर्यन्तं पुण्डरीकदलोपमम् ॥१४॥ [च० ६।७]
सोत्सेधं च सरागं च पुण्डरीकं तदुच्यते ।

श्वेतता लिये लाल किनारों वाला (पाण्डुर) पुण्डरीक नामक कमल के समान, उत्सेध (औन्नत्य) युक्त और रक्तवर्ण वाला कुष्ठ पुण्डरीक कुष्ठ कहलाता है ।

सिध्मकुष्ठस्वरूपमाह—

श्वेतं ताम्रं तनु च यद्रजो घृष्टं विमुञ्चति ॥१५॥ [च० ६।७]
प्रायश्चोरसि तत् सिध्ममलाबुकुसुमोपमम् ।

जो कुष्ठ श्वेतवर्ण, ताम्रवर्ण, तनु और घिसने से परागत्यागी होता है तथा जो प्रायः छाती पर होता है, वह सिध्मकुष्ठ कहलाता है । उसकी आकृति अलाबु फूल के समान होती है ।

काकणकुष्ठं लक्षयति—

यत्काकणन्तिकावर्णं सपाकं तीव्रवेदनम् ॥१६॥ [च० ६।७]
त्रिदोषलिङ्गं तत्कुष्ठं काकणं नैव सिध्यति ।

जो कुष्ठ रत्तियों के से वर्ण वाला, पाकयुक्त, तीव्रपीडान्वित एवं तीनों दोषों के लक्षणों से युक्त होता है, वह काकणकुष्ठ कहलाता है । यह कुष्ठ असाध्य है ।

मधु०—सप्तमहाकुष्ठानां लक्षणमाह—कृष्णारुणकपालाभमित्यादि । कृष्णारुणकपालाभं कृष्णारुणकपालवर्णं, कपालं खर्परशकलम् । परुषं खरस्पर्शम् । तनु तनुत्वक्, विषमं दुश्चिकित्स्यम् । रोमपिञ्जरमिति रोमभिः पिञ्जरं कपिलरोममित्यर्थः । स्थिरं कठिनम् । स्त्यानमार्द्रं सजलं वा । उत्सन्नमण्डलमुद्गतमण्डलम् । कृच्छ्रं कृच्छ्रसाध्यम् । अन्योन्यसंयुक्तमिति अपरापरैर्मिलितम् । ऋष्यजिह्वासंस्थानमिति ऋष्यो नीलाण्डो हरिणः, तस्य जिह्वाकारम् । पुण्डरीकदलोपममिति पुण्डरीकं रक्तपद्मं तत्पत्रोपमं, तेन सश्वेतं रक्तपर्यन्तम् । सरागमिति सलोहितं, मध्ये श्वेतलोहितमित्यर्थः । श्वेतं ताम्रमिति श्वेतलोहितात्मकम् । प्रायश्चोरसीत्युरसि तद्बाहुल्येन भवति, कफप्रधानत्वात् । प्रायोग्रहणादन्यत्रापि भवति । यत् काकणन्तिकावर्णमिति काकण-

१ सदाहं च. २ अलाबुपुष्पवर्णं तत्सिध्मं प्रायेण चोरसि.

दद्रुकुष्ठस्य[1] लक्षणमाह—

सकण्डूरागपिडकं दद्रुमण्डलमुद्गतम् ।

जो कुष्ठ कण्डू तथा लालिमायुक्त पिडकाओं से व्याप्त एवं मण्डलरूप में उठा हुआ होता है, वह दद्रुमण्डल कुष्ठ कहलाता है। यह दद्रुमण्डल कुष्ठ का लक्षण है।

चर्मदलस्य लक्षणमाह—

रक्तं[2] सशूलं कण्डूमत् सस्फोटं यद्दलत्यपि ।
तच्चर्मदलमाख्यातं संस्पर्शासहमुच्यते[3] ॥२०॥ [च० ६।७]

रक्तवर्ण, शूलान्वित, खुजली वाला, स्फोटयुक्त, गलनशील और संस्पर्शासह (वार २ वा अधिक स्पर्श को न सहन करने वाला) कुष्ठ चर्मदलनामक होता है अर्थात् इस कुष्ठ का नाम चर्मदलकुष्ठ है।

पामां[4] कच्छूञ्च लक्षयति—

सूक्ष्मा बह्व्यः पिडकाः स्रावबत्यः
पामेत्युक्ताः कण्डुमत्यः सदाहाः ।

सूक्ष्म, संख्या में अनेक स्रावयुक्त, कण्डूयुक्त और दाहान्वित पिडकाएं पामा नाम से कही हैं।

कच्छूकुष्ठस्य लक्षणमाह—

सैव स्फोटैस्तीव्रदाहैरुपेता
ज्ञेया पाण्योः कच्छुरुग्रा स्फिचोश्च ॥२१॥

वही पामा जब तीव्रदाह वाले स्फोटों से युक्त होती है तो कच्छू कहलाती है, यह हाथों तथा स्फिचों में उग्ररूप से होती है। इस पद्यांश का अर्थ इस प्रकार भी किया जाता है कि वही पामा जब तीव्रदाह वाले स्फोटों से युक्त एवं हाथों तथा स्फिचों में तीव्र रूप से होती है, तो कच्छू जाननी चाहिए।

प्रतिपद्यार्धेन विस्फोटकलक्षणान्याह—

स्फोटाः श्यावारुणाभासा विस्फोटाः स्युस्तनुत्वचः ।

पतली त्वचा वाले, श्याव और अरुण कान्ति वाले स्फोटों को विस्फोटकुष्ठ कहा जाता है।

शतारुकुष्ठस्य लक्षणमाह—

रक्तं श्यावं सदाहार्ति शतारुः स्याद्बहुव्रणम् ॥२२॥ [च० ६।७]

जो कुष्ठ रक्तवर्ण, श्यावव्रर्ण, दाहयुक्त एवं बहुत से व्रणों वाला होता है, वह शतारुकुष्ठ कहलाता है।

---

१ अयं रोगः अरबीभाषायां 'कुबा' आङ्ग्लभाषायाञ्च 'रिङ्गवर्म' (Ringworm) नाम्ना प्रसिद्धः. २ रक्तं सकण्डु सस्फोटं सरुग्दलति चापि यत्. ३ अस्पर्शसहम्. ४ अरबीभाषायामयं रोगः 'जर्ब' नाम्ना आङ्ग्लभाषायाञ्च 'एग्झीमा' (Eczema) इति नाम्ना प्रसिद्धः.

विचर्चिकानां लक्षणान्याह—

सकण्डूः पिडका श्यावा बहुस्रावा विचर्चिका। [च० ६।७]

कण्डूयुक्त श्याववर्ण की पिडका जो कि स्राव अधिक छोड़ती है विचर्चिका कहलाती है।

मधु०—अतः परमेकादशक्षुद्रकुष्ठान्युच्यन्ते—अस्वेदनमित्यादि। महावास्तु महास्थानम्। मत्स्यशकलोपममिति मत्स्यस्य त्वक्सदृशम्। चर्माख्यं चर्मकुष्ठम्। बहलमपत्तनम्। किणखरस्पर्शमिति किणो व्रणस्थानम्। परुषं रूक्षम्। वैपादिकमिति विपादिकायाः स्वार्थेऽण्। गण्डैरिति स्फोटैः। दद्रुमण्डलमिति मण्डलरूपतयोत्पादाद्दद्रुमण्डलमिति कीर्तनम्। ननु, कथमस्य चरके क्षुद्रत्वेनाभिधानं, सुश्रुते महाकुष्ठे दद्रोरुक्तत्वात्; तथा सिध्म चरके महाकुष्ठे, सुश्रुते क्षुद्रकुष्ठे दर्शितम्। उच्यते—असिता दद्रुरवगाढमूला सुश्रुते महाकुष्ठम्, असितेतरदद्रुश्चरकेऽनवगाढमूला क्षुद्रकुष्ठे, सुश्रुते असितेतरदद्रुः विसर्पकुष्ठेऽन्तर्भावः, विसर्पणयोगात्; तथाऽवगाढं सिध्म चरके महाकुष्ठं, 'सिध्मपुष्पिका तु त्वङ्मात्रगता सुश्रुते क्षुद्रकुष्ठम्; असितदद्रौ असितसिध्मनोऽपरोध' इति गदाधरः।

(नन्विति—) (प्रश्न—) सुश्रुत में दद्रुकुष्ठ को महाकुष्ठों में प्रतिपादन होने से चरक में इसका क्षुद्रकुष्ठान्तर्गत प्रतिपादन क्यों है? एवमेव सिध्मकुष्ठ चरक में महाकुष्ठान्तर्गत और सुश्रुत में क्षुद्रकुष्ठान्तर्गत क्यों माना है? इसका उत्तर यह है कि—असित (कृष्ण) एवं अवगाढमूल वाली दद्रु सुश्रुत में महाकुष्ठ और कृष्णेतर एवं अनवगाढमूल वाली दद्रु चरक में क्षुद्रकुष्ठपन से है। कृष्णेतर दद्रु को सुश्रुत ने विसर्पणा के कारण विसर्प में माना है; एवं अवगाढमूल वाला सिध्म चरक में महाकुष्ठ और त्वचामात्र में होने वाली सिध्मपुष्पिका सुश्रुत में क्षुद्रकुष्ठ है; सितेतर दद्रुकुष्ठ में सितेतर सिध्म का अन्तर्भाव हो जाता है, यह गदाधर मानता है।

वक्तव्य—भाव यह है कि दद्रुनामक कुष्ठ को सुश्रुत ने महाकुष्ठ और चरक ने क्षुद्रकुष्ठ माना है। इसी प्रकार सिध्मनामक कुष्ठ को चरक ने महाकुष्ठ और सुश्रुत ने क्षुद्रकुष्ठ माना है। इनका यह परस्पर विरोध क्यों है? इसका उत्तर यह है कि—कृष्णवर्ण वाला एवं गहरी मूल वाला दद्रुकुष्ठ सुश्रुत ने महाकुष्ठ माना है और इतर दद्रु को विसर्पण के कारण उसने विसर्पान्तर्गत किया है। एवं चरक ने श्वेत तथा लघु मूल (गम्भीर धातुओं में न फैलने) वाला दद्रु क्षुद्रकुष्ठ में माना है और इतर दद्रु को इसने भी महाकुष्ठों में ही अन्तर्हित किया है। इसको और भी स्पष्ट इस प्रकार किया जाता

त्वचामात्र में होने वाली सिध्मपुष्पिका सुश्रुत ने क्षुद्रकुष्ठों में मानी है। अर्थात् दद्रु की तरह सिध्म भी दो प्रकार का होता है—एक सिध्म और दूसरा पुष्पिका सिध्म। इनमें से सिध्म दुःसाध्य होता है और पुष्पिकासिध्म सुखसाध्य होता है। अतएव चरक ने सिध्म को महाकुष्ठ और सुश्रुत ने सिध्मपुष्पिका को क्षुद्रकुष्ठ में माना है। एवं कोई दोष नहीं आता। यदाह डल्हणोऽपि—सिध्मकुष्ठं द्विविधं—सिध्मं पुष्पिकासिध्मं च, पुष्पिकासिध्मस्य सुखसाध्यत्वात् सुश्रुते क्षुद्रकुष्ठेषु पाठः, सिध्मस्य दुःखसाध्यत्वाच्चरके महाकुष्ठे पाठ इत्यदोषः' इति।

मधु०—जेज्जटस्त्वाह—चरकोक्तं सिध्मैव सुश्रुते दद्रुशब्दाभिहितं; नामभेदः केवलं परं न वस्तुभेदः, सन्ति ह्यर्थान्तराणि समानशब्दाभिहितानीत्यविरोधः। किंत्वियमसाध्वी व्याख्या लक्षणवैलक्षण्यात्; किंच चरकसुश्रुतयोः कुष्ठं प्रति बहुप्रकारो विरोधः; तथाहि–सुश्रुतोक्तमरुणं न चरके पठ्यते, मण्डलं चरकोक्तम् न सुश्रुते, क्षुद्रकुष्ठे चरकोक्तचर्माख्यालसकशतारुप्रभृतीनि न सुश्रुते, सुश्रुतोक्तक्षुद्रकुष्ठा रकसादयश्च न चरके; तस्मादयं समाधिरुचितः—कुष्ठानामसंख्येयत्वमिति केचित् चरके केचित् सुश्रुते कुष्ठप्रकारा उच्यन्ते। उक्तं हि चरके—"कुष्ठं सप्तविधम्, अष्टादशविधम्, असंख्येयं वा" (च. नि. स्था. अ. ५) इति।

(जेज्जटस्त्वाहेति—) इसी बात पर आचार्य जेज्जट कहते हैं कि चरकोक्त सिध्म ही सुश्रुत में दद्रु नाम से कहा है, अतः केवल नाम में भेद है वस्तु में नहीं, क्योंकि बहुत से ऐसे अर्थान्तर हैं जो कि एक शब्द से कहे जाते हैं, अतः उक्त प्रसङ्ग में चरक और सुश्रुत का परस्पर विरोध नहीं है। इस सन्दर्भ का भाव यह है कि चरक ने सिध्म को महाकुष्ठ में और सुश्रुत ने दद्रु को महाकुष्ठ में माना है, अतः इनमें परस्पर विरोध है। इसके उत्तर में जेज्जटाचार्य जी कहते हैं कि यहां परस्पर विरोध नहीं है क्योंकि जिसे चरक ने सिध्म नाम से माना है उसे ही सुश्रुत ने दद्रु शब्द से कहा है, वस्तु एक ही है उसी के इन दोनों के भिन्न २ दो नाम दिए हैं। वस्तुतः ऐसे अर्थान्तर मिल जाते हैं जो कि समान शब्दों के अर्थ को कहते हैं अर्थात् बहुत से शब्द ऐसे हैं जो कि पर्यायवाचक शब्दों की तरह समान अर्थ को बताते हैं। जेज्जट के इस समाधान पर रक्षित जी कहते हैं कि—यह व्याख्या ठीक नहीं है, क्योंकि सिध्म और दद्रु के लक्षणों में परस्पर भिन्नता है अर्थात् चरक और सुश्रुत में जो इनके लक्षण लिखे हैं वे परस्पर भिन्न हैं; साथ ही दूसरी बात यह भी है कि चरक और सुश्रुत का कुष्ठ के विषय में बहुत प्रकार का विरोध है; जैसे सुश्रुत में प्रतिपादित अरुणकुष्ठ चरक में और चरक में प्रतिपादित मण्डल सुश्रुत में नहीं है, एवं क्षुद्रकुष्ठों में चरकोक्त चर्मकुष्ठ अलसक शतारु आदि सुश्रुत में नहीं हैं और क्षुद्रकुष्ठों में सुश्रुतोक्त रकसा आदि चरक में नहीं हैं, इसलिए प्रकृत में यह समाधान ठीक है कि—कुष्ठ असंख्येय हैं, उनमें से कई प्रकार चरक में और कई प्रकार सुश्रुत में कहे हैं। इस पर प्रमाणरूप में चरक का वाक्य भी है कि—'कुष्ठ सात प्रकार का, अठारह प्रकार का वा असंख्येय प्रकार का है'।

वक्तव्य—इसका भाव यह है कि—जेज्जटोक्त सिध्म और दद्रु की एकता ठीक नहीं है क्योंकि उनके लक्षण भिन्न २ हैं; साथ ही कुष्ठ पर चरक सुश्रुत का परस्पर अन्यत्र भी बहुत मतभेद है। सुश्रुत ने अरुणकुष्ठ माना है परन्तु चरक ने उसका निर्देश नहीं किया, एवं चरक ने मण्डल कुष्ठ माना है किन्तु सुश्रुत ने इसका निर्देश नहीं किया। इसी प्रकार चरक ने क्षुद्र कुष्ठों में चर्मकुष्ठ आदि लिखे हैं परन्तु वे सुश्रुत में नहीं हैं, एवं सुश्रुत ने क्षुद्र-कुष्ठों में रकसा आदि लिखे हैं किन्तु वे चरक में नहीं हैं। अतः सिद्धान्तरूप में यही कहना

ठीक है कि कुष्ठ बहुत प्रकार का होता है। उनमें से कुछ प्रकार सुश्रुत में और कुछ चरक में कहे हैं, इस कारण विरोध नहीं है। उपर्युक्त विवाद का संक्षिप्त सार यह है कि—दद्रुकुष्ठ को सुश्रुत ने महाकुष्ठ में माना है और चरक ने क्षुद्रकुष्ठ में, एवं सिध्म को चरक ने महाकुष्ठ में माना है और सुश्रुत ने क्षुद्रकुष्ठ में एवं यह विरोध क्यों? इसका उत्तर यह है कि दद्रु और सिध्म दो २ प्रकार के होते हैं। असितदद्रु और सितदद्रु ये दद्रु के दो भेद हैं, एवं पुष्पिका सिध्म और सिध्म ये सिध्म के दो भेद हैं। सुश्रुत ने जो दद्रु महाकुष्ठ में माना है वह असितदद्रु है, क्योंकि यह अवगाढ़मूल होने से महाकुष्ठान्तर्गत ही ठीक होता है। एवं चरक ने जो दद्रु क्षुद्रकुष्ठ में माना है वह सितदद्रु है, क्योंकि यह अनवगाढ़-मूल होने से क्षुद्रकुष्ठान्तर्गत ही ठीक होता है। इसी प्रकार सिध्म को चरक ने महाकुष्ठ में और सुश्रुत ने सिध्मपुष्पिका को क्षुद्रकुष्ठ में माना है। सितदद्रु सुश्रुत ने विसर्पकुष्ठ में और असितसिध्म का असितदद्रु में अन्तर्भाव किया है। यह आचार्य गदाधर का मत है। परन्तु जेज्जट कहता है कि चरक प्रतिपादित सिध्म ही सुश्रुत में दद्रुकुष्ठ कहा है। केवल नाम में भेद है, वस्तु एक ही है। इस पर कहा है कि यह व्याख्या ठीक नहीं है, क्योंकि इनके लक्षण परस्पर नहीं मिलते। अतः यह समाधान ठीक है कि कुष्ठ अनेक प्रकार के हैं इसलिए उनमें से कुछ एक का सुश्रुत ने तथा कुछ एक का चरक ने निर्देश किया है, पर वस्तुतः जहां लक्षण समानता नहीं वहां भेद है, किन्तु उक्तसिद्धान्तानुसार भेद होने पर भी विरोध नहीं है।

मधु०—[illegible] गमनाति विदीर्यते। शतारुरिति बहुव्रणोपेतं नाम। "सकण्डूः पिडका श्यावा बहुस्रावा विचर्चिका" इति अत्र कण्डूत्वं कफात्, बहुस्रावत्वं पित्तात्, श्यावत्वं वातात्, एवं सर्वत्र दोषज्ञानमूह्यम्। ननु, एककुष्ठमारभ्य विचर्चिकापर्यन्तेन द्वादश क्षुद्रकुष्ठानि भवन्ति, तत्कथमेकादश इति? उच्यते, विचर्चिकैव पादयोर्भवन्ती विपादिकेत्यभिधीयते, तेन न संख्यातिरेकः। तथा च भोजः "दोषाः प्रदूष्य त्वङ्मांसं [illegible] समाश्रिताः। [illegible] ॥ [illegible] विपादिका। सैव विचर्चिका [illegible]" इति गदाधरः। अन्ये त्वाहुः—[illegible] ॥३०—३४॥

(संक्षिप्त—) ननु एककुष्ठ से लेकर विचर्चिकाकुष्ठ तक क्षुद्रों की गणना करने से बारह (१२) क्षुद्र बनते हैं। तब ऐसा होते हैं, सो ये ग्यारह हैं, ऐसा क्यों कहा? इसका उत्तर यह है कि विचर्चिका कुष्ठ ही जब पैरों में उत्पन्न होकर उसका विदारण करता है तो वही विपादिका कहलाती है। इस प्रकार संख्यावृद्धि नहीं होती। जैसे भोज ने इस विषय में कहा भी है कि—दोष, त्वचा और मांस को दूषित कर [illegible]

[illegible]

वक्तव्य—इसका भाव यह है कि एक कुष्ठ से विचर्चिका तक गणना करने से बारह कुष्ठ बनते हैं, ग्यारह नहीं। किन्तु यहां ग्यारह कहे हैं, अतः संख्यावृद्धि होती है। इस पर गदाधर समाधान करता है कि विचर्चिका ही जब पैरों में होती है तो विपादिका कहलाती है, एवं इन दोनों के एक होने से संख्यावृद्धि नहीं होती। जैसे भोज ने भी 'दोषाः' इत्यादि से कहा है। इसी शंका पर दूसरे आचार्य कहते हैं कि पामा ही जब तीव्र दाहादि लक्षणों से अन्वित होती है तो कच्छू में परिणत हो जाती है, वस्तुतः ये दोनों एक ही हैं। एवं गणना करने से संख्यावृद्धि नहीं आती।

दोषत्रयनियतं कुष्ठस्वरूपमाह—

खरं श्यावारुणं रूक्षं वातकुष्ठं सवेदनम् ॥२३॥
पित्तात्प्रकुथितं दाहरागस्रावान्वितं मतम्।
कफात्क्लेदि घनं स्निग्धं सकण्डूशैत्यगौरवम् ॥२४॥
द्विलिङ्गं द्वन्द्वजं कुष्ठं त्रिलिङ्गं सान्निपातिकम्।

खर, श्याव, अरुण, रूक्ष और पीडान्वित कुष्ठ वातिक (वातकुष्ठ) होता है। अर्थात् वायु के कारण कुष्ठ श्यावादि लक्षणों वाला होता है। कोथ, जलन, रक्तिमा और स्राव से युक्त कुष्ठ पित्त के कारण होता है। अर्थात् जिस कुष्ठ में कोथ, जलन, रक्तिमा और स्राव हो वह पित्तप्रधान समझना चाहिये। क्लेद, घनता, स्निग्धता, खुजली, शीतता तथा गुरुता वाला कुष्ठ कफप्रधान होता है। अर्थात् कफप्रधान कुष्ठ में क्लेद आदि लक्षण होते हैं। उपर्युक्त किन्हीं दो दोषों के लक्षणों वाला कुष्ठ द्वन्द्वज तथा उपर्युक्त तीनों दोषों के लक्षणों वाला कुष्ठ सान्निपातिक होता है।

मधु०—दोषत्रयनियतं कुष्ठलिङ्गमाह—खरं श्यावारुणमित्यादि। श्यावारुणमिति श्यावं वा अरुणं वा भवति। चरके कुष्ठमधिकृत्य दोषविशेषकुष्ठजनकहेतूनां परस्परं ज्ञाप्यज्ञापकत्वमुक्तं, यथा—"कुष्ठविशेषैर्दोषा दोषविशेषैः पुनश्च कुष्ठानि। ज्ञायन्ते ते हेतुं हेतुस्तांश्च प्रकाशयति" (च. चि. स्था. अ. ७) इति ॥२३-२४॥

चरक में कुष्ठ को लेकर दोषविशेषों और कुष्ठविशेषों का परस्पर ज्ञाप्यज्ञापक भाव कहा है। तद्यथा—कुष्ठ विशेषों से दोष और दोषविशेषों से कुष्ठ जाने जाते हैं अर्थात् वे (कुष्ठविशेष) हेतु (दोषों) को तथा हेतु (दोषविशेष) उन (कुष्ठों) को प्रकाशित करते हैं। (च. चि. स्था. अ. ७)।

रसादिसप्तधातुगतकुष्ठानां लक्षणान्याह—

त्वक्स्थे वैवर्ण्यमङ्गेषु कुष्ठे रौक्ष्यं च जायते ॥२५॥
त्वक्स्वापो रोमहर्षश्च स्वेदस्यातिप्रवर्तनम्।

रस नामक वा त्वचा नामक धातुस्थ कुष्ठ में अङ्गों में विवर्णता तथा रूक्षता आ जाती है (एवं इसमें त्वक्स्वाप, रोमहर्ष और स्वेदातिप्रवृत्ति होती है)।

कण्डूर्विपूयकश्चैव कुष्ठे शोणितसंश्रिते ॥२६॥

जब कुष्ठ रक्तनामक धातु में आश्रित होजाता है, तो उसमें (त्वचा का सो जाना, रोंगटों का खड़ा होना, पसीने का अत्यधिक आना) खुजली होनी और पूय होनी ये लक्षण होते हैं।

वक्तव्य—कई आचार्य त्वक्स्वाप, रोमहर्ष और स्वेदातिप्रवृत्ति को रसस्थ कुष्ठ के लक्षण मानते हैं और कई मांसस्थ कुष्ठ के लक्षण मानते हैं। किन्तु कई "देहलीदीपकन्याय" से इन्हें दोनों का लक्षण मानते हैं। इस मतभेद में कारण यह है कि त्वक्स्थ इत्यादि श्लोकार्ध के बाद त्वक्स्वाप इत्यादि श्लोकार्ध पढ़ा है, तदनु च मांसलक्षण प्रतिपादक "कण्डूः" इत्यादि श्लोकार्ध पठित है। एवं मध्यस्थ त्वक्स्वाप इत्यादि श्लोकार्धोक्त लक्षणों को पहले आचार्य पूर्वोक्त रसगत कुष्ठ लक्षणों के साथ संयुक्त कर लेते हैं, और दूसरे उत्तरोक्त रक्तगत कुष्ठ लक्षणों के साथ संयुक्त कर लेते हैं। तीसरे आचार्य इसे देहलीदीपकन्याय से रसगत कुष्ठ लक्षणों के साथ भी तथा रक्तगत कुष्ठ लक्षणों के साथ भी संयुक्त करते हैं। ये कहते हैं कि धातुविशेष के नाम से रहित यह श्लोकार्ध दोनों ओर संगति करने के लिये ही मध्य में रक्खा है। अन्यथा इसमें धातुविशेष का नाम होना चाहिये था जिससे कि स्वयं निर्णय हो जाता। परन्तु ऐसा न होने से प्रतीत होता है कि यह दोनों से संयुक्त होता है। अथवा यदि इसका संयोग केवल पूर्वोक्त रसधातु से अभीष्ट होता तो आचार्य को प्रकृत में उक्तानुसार पाठ न रखकर "त्वक्स्वापो रोमहर्षश्च स्वेदस्यातिप्रवर्तनम्। त्वक्स्थे वैवर्ण्यमङ्गेषु कुष्ठे रौक्ष्यं च जायते" यह पाठ रखना चाहिये था। और यदि इसका संयोग उत्तरोक्त रक्तधातु से अभीष्ट होता तो आचार्य को प्रकृतानुसार पाठ न रखकर "कण्डूर्विपूयकश्चैव स्वेदस्यातिप्रवर्तनम्। त्वक्स्वापो रोमहर्षश्च कुष्ठे शोणितसम्भवे" इस प्रकार रखना चाहिये था। परन्तु उसने ऐसा नहीं किया अतः प्रतीत होता है कि इस श्लोकार्धोक्त लक्षणों की व्याप्ति उभयत्र हो जाती है। वस्तुतः त्वक्स्वाप इत्यादि श्लोकार्ध प्रतिपादित लक्षणों का संगमन रसधातुगत लक्षणों के साथ ही करना चाहिये क्योंकि जब रस (त्वचा) नामक धातु में कुष्ठ आवेगा तभी त्वक्स्वाप होगा। अतः त्वक्स्वापरोमहर्षादिक लक्षण भी रसस्थ कुष्ठ लक्षणों से संयुक्त करने चाहियें। रक्तधातु में इनका होना तो स्वतः सिद्ध है, क्योंकि पूर्व २ धातुगत कुष्ठ के लक्षण भी उत्तरोत्तर धातुगत कुष्ठ में आते हैं, तथा उसके स्वलक्षण भी होते हैं। इस बात का ज्ञापक "लिङ्गं [illegible]" यह [illegible] है। [illegible]

रसगत के लक्षण रक्त में अवश्य आने के कारण उभयवादी के मतानुसार ये दोनों में भी होते हैं। (ननु—) यदि यह कहा जावे कि रसगतवादी के विचार में रक्तगतता की व्यावृत्ति के सहित ये रसगत होते हैं, तथा रक्तवादी के विचार में रसगतता की व्यावृत्ति के सहित ये लक्षण रक्तगत होते हैं, तो इसका उत्तर यह है कि प्रथम तो उन २ आचार्यों का यह विचार ही नहीं है, और यदि हो भी तो भ्रममूलक है। अन्यथा 'प्रागुक्तानि तथैव च' यह सामान्य वचन दूषित होता है और अनुभव से भी विरोध आता है। जो यह कहा है कि यह केवल एक के साथ संगमित नहीं हो सकते, अन्यथा पाठ परिवर्तित होना चाहिये था। इसका उत्तर यह है कि उक्त "त्वक्स्वाप" इत्यादि श्लोकार्ध में त्वक्स्वापादि लक्षण त्वचा में होने के कारण त्वक्(रस)गत कुष्ठ के ही लक्षण हैं। किंच—'त्वक्स्वापश्च' त्वक् शब्द भी इसका बोधक है अन्यथा केवल स्वाप शब्द से ही काम चल सकता था और त्वक् शब्द देने की कोई आवश्यकता न थी। (ननु—) यदि ये त्वक्(रस)गत कुष्ठ के लक्षण हैं, तो रक्तगत में इनका प्रत्यक्ष होने से अनुभव विरोध दोष आता है। इसका उत्तर यह है कि यह दोष नहीं आता क्योंकि पूर्व २ धातुगत कुष्ठ के लक्षण उत्तर २ धातुगत कुष्ठ में भी आते हैं, यह पूर्व कह दिया है। अतः यदि ये लक्षण रक्तगत कुष्ठ में भी दीखते हैं तो कोई हानि नहीं क्योंकि यह हो सकता है।

वाहुल्यं वक्त्रशोषश्च कार्कश्यं पिडकोद्गमः।
तोदः स्फोटः स्थिरत्वं च कुष्ठे मांससमाश्रिते ॥२७॥

मांसधातुगत कुष्ठ में स्थूल मण्डलता, मुखशोष, कर्कशता (खर्खरापन), पिडकोत्पत्ति, सुइयों की सी चुभान, स्फोटोत्पत्ति, त्वचास्फुटन और अचलता ये लक्षण होते हैं।

कौण्यं गतिक्षयोऽङ्गानां संभेदः क्षतसर्पणम्।
मेदःस्थानगते लिङ्गं प्रागुक्तानि तथैव च ॥२८॥

कुष्ठ के मेदोधातुगत होने पर कूणता (हाथों का झड़ जाना), चलने में असमर्थता, अङ्गभेद, क्षत का फैलना ये लक्षण तथा पूर्व प्रतिपादित रसादिगत कुष्ठ लक्षण होते हैं।

नासाभङ्गोऽक्षिरागश्च क्षतेषु क्रिमिसंभवः।
स्वरोपघातश्च भवेदस्थिमज्जसमाश्रिते ॥२९॥

नासिका का विदीर्ण हो जाना, नेत्रों का रक्त होना, क्षतों (घावों) में क्रिमियों की उत्पत्ति और स्वर का नाश ये लक्षण अस्थि तथा मज्जागत कुष्ठ में होते हैं।

वक्तव्य—इन दोनों धातुओं का परस्पर आश्रय आश्रयीभाव सम्बन्ध होने से इनमें प्राप्त कुष्ठ लक्षण भी समान ही हैं। एवं वक्ष्यमाण मज्जा में भी जानना चाहिये। अर्थात् यहां अस्थिमज्जगत मसूरिका के लक्षण भी एक से ही हैं।

दम्पत्योः कुष्ठबाहुल्याद् दुष्टशोणितशुक्रयोः।
यदपत्यं तयोर्जातं ज्ञेयं तदपि कुष्ठितम् ॥३०॥

कुष्ठ की बहुलता के कारण दुष्ट रजवीर्य वाले उन दम्पतियों (स्त्री पुरुषों के जोड़ों) से जो सन्तान उत्पन्न होती है, वह भी कुष्ठयुक्त जाननी चाहिये। इसका भाव यह है कि कुष्ठयुक्त सन्तान की उत्पत्ति शुक्र तथा आर्तवगत कुष्ठ का लक्षण है। अर्थात् रजवीर्यगत कुष्ठ में कुष्ठी सन्तान उत्पन्न होती है। कई यहां पर 'दुष्टशोणितशुक्रयोः' के स्थान पर 'दुष्टिः शोणितशुक्रयोः' यह पाठान्तर मानते हैं। इस पाठान्तर में इसकी व्याख्या दूसरे प्रकार से होती है कि—स्त्री और पुरुष में कुष्ठ की अतीव अवगाढ़ मूलता होने पर रज और वीर्य की दुष्टि हो जाती है। तथा उनसे उत्पन्न सन्तान भी कुष्ठी होती है। इसका भाव यह है कि रजवीर्यगत कुष्ठ में रजवीर्य की दुष्टिरूप (एक) लक्षण तथा उनसे उत्पन्न सन्तान का भी कुष्ठी होना रूप (दूसरा) लक्षण होता है। 'उनसे' शब्द का अभिप्राय शुक्रशोणित-गत कुष्ठ वाले स्त्री पुरुषों से है, या दुष्टियुक्त रजवीर्य से भी हो सकता है।

मज्जान्तर्गतकुष्ठलिङ्गानि भवन्ति । कुष्ठितमिति संजातं कुष्ठमस्येति तारकादित्वादितच् । अत्र दुष्टं शुक्रमार्तवं वा सर्वथा बीजत्वानुपघातादपत्यजनकं, परन्तु विकृतं जनयतीति द्रष्टव्यम् ॥२५–३०॥

धातुगत कुष्ठों का वर्णन न होने के कारण त्वक् शब्द से यहां पर रस लिया जाता है, क्योंकि रस नामक धातु त्वचा में रहता है । आचार्य जेज्जट त्वक् शब्द से त्वचा ही लेता है । बाह्य त्वचा को चरक के उदकधरा कहने से रसग्रहण न हो सकने के कारण यहां पर दूसरी असृग्धरा नाम से कही है । उदक से रसभिन्न होता है । जैसे कहा भी है कि—'(स्वस्थ मनुष्य के शरीर में) उदक दस अञ्जलिप्रमित होता है (और) रस नौ अञ्जलिप्रमित' । रस को छोड़कर रक्तादिकों का निर्देश रस को पूर्व ही साथ लेकर तिर्यक्-सिरानुसारी दोषों के कुष्ठोत्पन्न करने के कारण है । अर्थात् यहां रस को छोड़कर रक्तादिकों का अभिधान इसलिए किया है कि तिर्यक्सिरानुसारी दोष पूर्व ही रस को लेकर कुष्ठ उपजाते हैं । सिराओं में रक्त की व्यवस्थिति उसका आशय है । रस का साक्षात् कथन न होने से बृहत्कुष्ठ रसगत नहीं होते, इस बात की आशंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि सुश्रुत ने ही कहा है कि—'उनका महत्त्व तो सर्वधात्वनुसारी होने से ही है' । यहां सर्व शब्द से रस का भी ग्रहण होता है । भोज में कहा है कि—'प्रदुष्ट होकर प्रच्युत हुए दोष रस, रक्त और मांस का आश्रय लेकर मनुष्यों के शरीरों में शीघ्र ही कुष्ठों को उपजा देते हैं—'त्वक्स्रावो रोमहर्षश्च स्वेदस्यातिप्रवर्तनम्' यह लक्षण कई आचार्य रक्त का ही (लक्षण) मानते हैं । दूसरे आचार्य इस लक्षण को रसगत कुष्ठ का ही लक्षण स्वीकार करते हैं । यहां पर रूक्षता, स्वेदातिप्रवृत्ति और रोमहर्ष कुष्ठ के आरम्भक दोषों द्वारा स्वेद वह स्रोतों की दुष्टि होने पर होता है । जैसे कहा भी है कि—'स्वेदवाही स्रोतों के दुष्ट होने पर, परुषता, रोमहर्ष, अतिस्वेद, अस्वेद और परिदाह होता है' । "प्रागुक्तानि तथैव च" का अर्थ रस, रक्त और मांस धातुगत कुष्ठ के लक्षण, यह है । यह एक स्थान में कहा होने पर भी क्रमशः पर और अपर धातु की दुष्टि में पूर्व २ धातुदुष्टि के लक्षणों को बतलाने के लिए है, क्योंकि न्याय सर्वत्र समान ही होता है । जैसे कहा भी है कि--समान अर्थों के होने पर एक स्थान पर भी कही हुई विधि अन्यत्र भी लगा लेनी चाहिए । इस उपर्युक्त सन्दर्भ का भाव यह है कि मेदस्थ कुष्ठ में उक्त 'प्रागुक्तानि तथैव च' का अर्थ, रसादिगत धातुओं के लक्षण भी इसमें होते हैं, यह है । यह बात यद्यपि एकत्र ही कही है परन्तु सर्वसामान्य न्याय होने से अवशिष्ट स्थानों पर भी समझनी चाहिए । अर्थात् सर्वत्र पूर्व २ धातुगत कुष्ठ में भी होते हैं । क्योंकि समान अर्थों के होने पर एक स्थान पर भी कही हुई विधि अन्यत्र भी लगा लेनी चाहिए । (प्रश्न—) कुष्ठी स्त्री पुरुषों के रजवीर्य दुष्टिदुष्ट होने से सन्तति-जनक कैसे हो सकते हैं । इस पर आचार्य कहते हैं कि यहां आर्तव और वीर्य दुष्ट होने पर भी सर्वथा बीजोपघाती न होने से सन्तति होती तो है, किन्तु विकृत होती है । अर्थात् शास्त्र का कथन है कि गर्भारम्भक बीज का जितना भाग दुष्ट होता है, सन्तति में उतना ही दोष आता है । यथा यदि गर्भारम्भक बीज का अर्श के कारण गुदवल्युत्पादक भाग उपतप्त होगा तो उत्पन्न होने वाली सन्तति में भी गुदवलि अर्श के दोष से दुष्ट होगी । एवं प्रकृत में भी गर्भारम्भक बीज का कुष्ठ के कारण जितना भाग उपतप्त होगा, सन्तति में भी उतनी ही विकृति आती है । हाँ, यदि गर्भारम्भक बीज सर्वांश में उपहत हो तो वह गर्भोत्पादक वा अपत्यजनक नहीं होता । एवं प्रकृत में जो कुष्ठदोष से दुष्टरजवीर्य द्वारा सन्तानोत्पत्ति दर्शाई है, वह गर्भोत्पादक बीज के कुछ उपतप्त होने से होती है । अतः सन्तति में भी उतनी ही उपतप्तता अर्थात् विकृति होती है ।

कुष्ठानां साध्यत्वादिकमाह—

साध्यं त्वग्रक्तमांसस्थं वातश्लेष्माधिकं च यत् ।
मेदसि द्वन्द्वजं याप्यं वर्ज्यं मज्जास्थिसंश्रितम् ॥३१॥
क्रिमितृड्दाहमन्दाग्निसंयुक्तं यत् त्रिदोषजम् ।
प्रभिन्नं प्रस्रुताङ्गं च रक्तनेत्रं हतस्वरम् ॥३२॥
पञ्चकर्मगुणातीतं कुष्ठं हन्तीह मानवम् ।

त्वक्स्थ, रक्तस्थ, मांसस्थ, और वातश्लेष्माधिक कुष्ठ साध्य होता है; मेदस्थ और द्वन्द्वज याप्य होता है; मज्जस्थ और अस्थिस्थ वर्ज्य होता है तथा क्रिमियुक्त, पिपासायुक्त, दाहयुक्त, मन्दाग्नियुक्त, त्रिदोषज, विदीर्ण, प्रस्रुताङ्ग, लोहितनयन, हतस्वर और वमनादि पञ्चकर्म के गुणों को निष्फल करके उत्पन्न कुष्ठ मनुष्य को मार देता है ।

मधु०—साध्यादिभेदमाह—साध्यं त्वग्रक्तमांसस्थमित्यादि । वातश्लेष्माधिकं च साध्यमिति एककुष्ठकिटिभादिवर्जम् । मज्जास्थिसंश्रितमिति अत्र मज्जास्थिग्रहणमुपलक्षणं शुक्रगतस्याप्यसाध्यत्वं बोधनाय । प्रभिन्नमिति विदीर्णम् । पञ्चकर्मगुणातीतमिति पूर्वरूपक्रियया सह रसादिधातुचतुष्टये क्रियाकलापाः पञ्चकर्माणि, तेषां गुणा वीर्याणि, तान्यतीतो यः स तथा, अतिक्रान्तपञ्चकर्मवीर्य इत्यर्थः, तत्र क्रियाः पूर्वरूपे शोधनमुभयतः; त्वक्प्राप्ते शोधनालेपनादि, रक्तप्राप्ते शोधनालेपनकषायपान-शोणितावसेचनादि, एवं मांसमेदसोरपि द्रष्टव्यमिति । अथवा पञ्चकर्माणि वमनादीनि, तेषां गुणाः फलानि, तान्यतीतः ॥३१-३२॥

'पञ्चकर्मगुणातीतम्' का अर्थ पूर्वरूप की क्रिया के साथ रसादि चार धातुओं का क्रियासमूह पञ्चकर्म कहलाता है । इन (पञ्च कर्मों) के प्रभावों का उल्लङ्घन करने वाला अर्थात् जिसका कि उपर्युक्त पाँचों कर्मों से नाश नहीं हुआ ऐसा, अर्थात् असाध्य और बलवान् कुष्ठ मनुष्य को मार देता है । वे क्रियाएँ हैं—१ कुष्ठ की पूर्वरूपावस्था में वमन और विरेचन देना, २ त्वग्गत होने पर शोधन लेपन आदि का प्रयोग करना, ३ रक्तगत होने पर शोधन, आलेपन, कषायपान, शोणितावसेचन आदि का प्रयोग । इसी प्रकार चतुर्थ तथा पञ्चम मांस और मेदोगत का भी समझना चाहिए । अथवा—पञ्चकर्म से यहाँ वमन विरेचन आदि लिए जाते हैं, एवं इसका अर्थ यह हुआ कि पञ्चकर्मों के फल को लांघने वाला हुआ कुष्ठ मनुष्य को मार देता है ।

सप्तकुष्ठेषु दोषभेदमाह—

वातेन कुष्ठं कापालं पित्तेनौदुम्बरं कफात् ॥३३॥
मण्डलाख्यं विचर्ची च ऋष्याख्यं वातपित्तजम् ।
चर्मैककुष्ठं किटिभं सिध्मालसविपादिकाः ॥३४॥
वातश्लेष्मोद्भवाः श्लेष्मपित्ताद्दद्रुशतारुषी ।
पुण्डरीकं सविस्फोटं पामा चर्मदलं तथा ॥३५॥
सर्वैः स्यात्काकणं पूर्वत्रिकं दद्रु सकाकणम् ।
पुण्डरीकर्ष्यजिह्वे च महाकुष्ठानि सप्त तु ॥३६॥

वात से कपाल नामक कुष्ठ, पित्त से औदुम्बर नामक कुष्ठ, कफ से मण्डल नामक तथा विचर्ची नामक कुष्ठ, वात पित्त से ऋष्याख्य कुष्ठ, वात कफ से चर्म-कुष्ठ-एककुष्ठ-किटिभकुष्ठ-सिध्मकुष्ठ-अलसककुष्ठ तथा विपादिका नामक कुष्ठ, श्लेष्म पित्त से दद्रु-शतारु-पुण्डरीक-पामा तथा चर्मदल नामक कुष्ठ, और सन्निपात से काकण नामक कुष्ठ होता है। पहले तीन कुष्ठ (अर्थात् कपालकुष्ठ, औदुम्बर-कुष्ठ तथा मण्डलकुष्ठ), तथा द्रदु, काकण, पुण्डरीक, और ऋष्यजिह्व ये सात महाकुष्ठ होते हैं।

मधु०—कुष्ठेषु चिकित्सार्थं प्रधानं दोषमाह—वातेन कुष्ठं कापालमित्यादि। विचर्च्यपि कफात्तथेति श्लेष्मपित्तात्, तेन दद्रुप्रभृति चर्मदलान्तं श्लेष्मपित्तजमित्यर्थः। पूर्वत्रिकमिति कपालो-दुम्बरमण्डलाख्यम्, अतः सप्तमहाकुष्ठादन्यत् क्षुद्रकुष्ठम् ॥३३-३६॥

इसकी भाषा सरल ही है।

किलासस्य लक्षणमवतारयति—

कुष्ठैकसंभवं श्वित्रं किलासं वारुणं भवेत्।
निर्दिष्टमपरिस्रावि त्रिधातूद्भवसंश्रयम् ॥३७॥
वाताद्रूक्षारुणं पित्तात्ताम्रं कमलपत्रवत्।
सदाहं रोमविध्वंसि कफाच्छ्वेतं घनं गुरु ॥३८॥ [वा० ३।१४]
सकण्डुरं क्रमाद्रक्तमांसमेदःसु चादिशेत्।
वर्णेनैवेदगुभयं कृच्छ्रं तच्चोत्तरोत्तरम् ॥३९॥

श्वित्र, किलास और वारुण कुष्ठ के निदान से निदान वाले अपरिस्रावी वातादि तीनों दोषों में आश्रित वा रक्तमांस और मेदा इन तीनों धातुओं में आश्रित होता है। अथवा कुष्ठ के समान निदान वाला अपरिस्रावी त्रिधातु-उद्भव संश्रयवाला रोग श्वित्र होता है, और उसके किलास तथा वारुण ये दो अवस्थान्तर भेद हैं। वात से होनेवाला कुष्ठ रूक्ष और अरुण होता है, पित्त से होने वाला कुष्ठ कमल पत्र की तरह ताम्र वर्ण वाला, दाहयुक्त और रोमनाशक होता है तथा कफ से होने वाला कुष्ठ श्वेत, घन, महान् और खुजलीयुक्त होता है। इस प्रकार के वर्ण वाला किलास क्रमशः रक्त, मांस तथा मेदोगत समझना चाहिये। अर्थात् अरुण वर्ण का किलास रक्तगत, ताम्रवर्ण का किलास मांसगत तथा श्वेत वर्ण का किलास मेदोगत समझना चाहिये। एवं व्रणज तथा दोषज यह दोनों प्रकार का किलास उत्तरोत्तर कृच्छ्र होता है। अर्थात् व्रणज वा दोषज अरुण से ताम्र और ताम्र से श्वेत कृच्छ्र होता है।

मधु०—त्वग्दुष्टितुल्यत्वादत्रैव किलासमाह—कुष्ठैकसंभवमित्यादि। कुष्ठेन सह एकं समानं विरुद्धाशनपापकर्मादि संभवो निदानं यस्य तत्तथा, कुष्ठेन सह समानचिकित्सितत्वं च बोद्धव्यं, "कुर्याच्चास्मै कुष्ठोक्तं विधानम्" इति वचनात्। चरके त्वस्य हेतुविशेषोऽपि पठ्यते, यथा-"वचांस्यतथ्यानि कृतघ्नभावो निन्दा गुरूणां गुरुधर्षणं च। पापक्रिया पूर्वकृतं

वात से कपाल नामक कुष्ठ, पित्त से औदुम्बर नामक कुष्ठ, कफ से मण्डल नामक तथा विचर्ची नामक कुष्ठ, वात पित्त से ऋष्याख्य कुष्ठ, वात कफ से चर्म-कुष्ठ–एककुष्ठ–किटिभकुष्ठ–सिध्मकुष्ठ–अलसककुष्ठ तथा विपादिका नामक कुष्ठ, श्लेष्म पित्त से दद्रु-शतारु-पुण्डरीक-पामा तथा चर्मदल नामक कुष्ठ, और सन्निपात से काकण नामक कुष्ठ होता है। पहले तीन कुष्ठ (अर्थात् कपालकुष्ठ, औदुम्बर-कुष्ठ तथा मण्डलकुष्ठ), तथा द्रदु, काकण, पुण्डरीक, और ऋष्यजिह्व ये सात महाकुष्ठ होते हैं।

मधु०—कुष्ठेषु चिकित्सार्थं प्रधानं दोषमाह—वातेन कुष्ठं कापालमित्यादि। विचर्च्यपि कफात्तथेति श्लेष्मपित्तात्, तेन दद्रुप्रभृति चर्मदलान्तं श्लेष्मपित्तजमित्यर्थः। पूर्वत्रिकमिति कपालो-दुम्बरमण्डलाख्यम्, अतः सप्तमहाकुष्ठादन्यत् क्षुद्रकुष्ठम् ॥३३-३६॥

इसकी भाषा सरल ही है।

किलासस्य लक्षणमवतारयति—

कुष्ठैकसंभवं श्वित्रं किलासं वारुणं भवेत्।
निर्दिष्टमपरिस्रावि त्रिधातूद्भवसंश्रयम् ॥३७॥
वाताद्रूक्षारुणं पित्तात्ताम्रं कमलपत्रवत्।
सदाहं रोमविध्वंसि कफाच्छ्वेतं घनं गुरु ॥३८॥ [वा० ३।१४]
सकण्डुरं क्रमाद्रक्तमांसमेदःसु चादिशेत्।
वर्णेनैवेदृगुभयं कृच्छ्रं तच्चोत्तरोत्तरम् ॥३९॥

श्वित्र, किलास और वारुण कुष्ठ के निदान से निदान वाले अपरिस्रावी वातादि तीनों दोषों में आश्रित वा रक्तमांस और मेदा इन तीनों धातुओं में आश्रित होता है। अथवा कुष्ठ के समान निदान वाला अपरिस्रावी त्रिधातु-उद्भव संश्रयवाला रोग श्वित्र होता है, और उसके किलास तथा वारुण ये दो अवस्थान्तर भेद हैं। वात से होनेवाला कुष्ठ रूक्ष और अरुण होता है, पित्त से होने वाला कुष्ठ कमल पत्र की तरह ताम्र वर्ण वाला, दाहयुक्त और रोमनाशक होता है तथा कफ से होने वाला कुष्ठ श्वेत, घन, महान् और खुजलीयुक्त होता है। इस प्रकार के वर्ण वाला किलास क्रमशः रक्त, मांस तथा मेदोगत समझना चाहिये। अर्थात् अरुण वर्ण का किलास रक्तगत, ताम्रवर्ण का किलास मांसगत तथा श्वेत वर्ण का किलास मेदोगत समझना चाहिये। एवं व्रणज तथा दोषज यह दोनों प्रकार का किलास उत्तरोत्तर कृच्छ्र होता है। अर्थात् व्रणज वा दोषज अरुण से ताम्र और ताम्र से श्वेत कृच्छ्र होता है।

मधु०—त्वग्दुष्टितुल्यत्वादत्रैव किलासमाह—कुष्ठैकसंभवमित्यादि। कुष्ठेन सह एकं समानं विरुद्धाशनपापकर्मादि संभवो निदानं यस्य तत्तथा, कुष्ठेन सह समानचिकित्सितत्वं च बोद्धव्यं, "कुर्याच्चास्मै कुष्ठोक्तं विधानम्" इति वचनात्। चरके त्वस्य हेतुविशेषोऽपि पठ्यते, यथा–"वचांस्यतथ्यानि कृतघ्नभावो निन्दा गुरूणां गुरुधर्षणं च। पापक्रिया पूर्वकृतं

च कर्म हेतुः किलासस्य विरोधि चान्नम्" (च. चि. स्था. अ. ७)–इति । किलासमेव मांसमेदःसमाश्रयणयोगत्वादरुणं श्वित्रं च भण्यते, त्वग्गतमेव किलासं, तस्य लक्षणं निर्दिष्टमपरिस्रावीति । स्रावो हि रक्तादिदुष्ट्या भवति, तेनास्य त्वग्गतत्वेन स्रावाभावः । उक्तं च–"त्वग्गतं च यदस्रावि तत् किलासं प्रकीर्तितम्"–इति । त्रिधातूद्भवसंश्रयमिति त्रिधातुस्त्रयो दोषास्तथा रक्तमांसमेदांसि संश्रयोऽधिष्ठानं यस्य तत्तथा; अथवा त्रिधातुः रक्तमांसमेदांसि उद्भवाय संश्रयो यस्य तत्तथा, दोषास्तु सर्वसाधारणत्वाल्लभ्यन्त एव । ननु, यदि धातुत्रयाश्रितं किलासं, तत्कथं "यदा त्वचमतिक्रम्य तद्धातूनवगाहते । हित्वा किलाससंज्ञां च कुष्ठसंज्ञां लभेत्तदा"–इति विश्वामित्रवचनं किलाससंज्ञाप्रतिक्षेपकं न विरुध्यते ? तथा "त्वग्गतमेव किलासम्" (सु. नि. स्था. अ. ५)–इति सुश्रुतेऽवधारणं विरुद्धम् ? उच्यते, विश्वामित्रवचनस्य तावदयमर्थः प्रत्येतव्यः—यदोक्तरक्तादिगतसमस्तकुष्ठलक्षणजनकतया धातूनवगाहते तदा न तत् किलासं, किं तर्हि कुष्ठजनकहेत्वन्तरबृंहितदोषोपप्लवात् धातून् दूषयेत्, तथा हेतुलक्ष्यलक्षणमरुणादिकुष्ठं तत्; अन्यदितररक्तादिगतकुष्ठलिङ्गव्यतिरिक्तमुत्पादसमकालभाविरक्तताम्रादिवर्णतामात्रकारकं रक्तादिगतदोषजन्यं किलासमेव, अन्यथा रक्तादिगतकिलासलक्षणेन चरकोक्तेन विरोधः स्यात् । स यदाह–"दोषे रक्ताश्रिते रक्तं ताम्रं मांससमाश्रिते । श्वेतं मेदःस्थिते श्वित्रं गुरु तच्चोत्तरोत्तरम् (च. चि. अ. ७)"–इति । चरके हि किलासस्यैव धातुत्रयसंबन्धकृतवर्णेन दारुणादिसंज्ञान्तरमात्रं कृतं, सुश्रुतेऽपि त्वग्गतमेवेत्यनेन रक्तादिदुष्ट्या विशिष्टरक्तादिगतमहाकुष्ठलिङ्गरहितत्वं, तथा क्षुद्रकुष्ठवद्युगपद्रक्तलसीकात्वङ्मांसदूषकत्वविरहः ख्याप्यते; अथवा एवकारोऽयोगव्यवच्छेदे, यथा–नीलं सरोजं भवत्येवेति । उक्तप्रकारेण धातुत्रयमात्रगतत्वेनैकदोषजत्वेन चास्य कुष्ठाद्भेदः; 'श्वित्रसंज्ञां लभेत्तदा' इति जेज्जटपाठे तु श्वित्रसंज्ञामात्रव्यवहारः किलासस्य, न पुनरर्थभेदः कश्चिदिति । भालुकिना तु धातुभेदेन किलासस्य संज्ञान्तरं दर्शितं,–"वारुणं तत्तु विज्ञेयं मांसधातुसमाश्रयम् । मेदःश्रितं भवेच्छ्वित्रं दारुणं रक्तसंश्रयम्"–इति । तथा चरकेऽपि,–"दारुणं वारुणं श्वित्रं किलासं नामभिस्त्रिभिः" (च. चि. स्था. अ. ७)–इति । तेनेहापि तथा बोद्धव्यम् । क्रमाद्रक्तमांसमेदःसु चादिशेद्वर्णैनैवेदृगुभयमिति ईदृशमेव वर्णेनारुणं ताम्रं श्वेतं च किलासं रक्तमांसमेदःसु यथाक्रमेणादिशेत । उभयमिति व्रणजं दोषजं च तच्छ्वित्रं भवति, तथाच भोजः—"श्वित्रं तु द्विविधं विद्याद्दोषजं व्रणजं तथा । तत्र मिथ्योपचाराद्धि व्रणस्य व्रणजं स्मृतम् ॥ दोषजं च द्विधा प्रोक्तमात्मजं परजं तथा । परसंस्कारसंस्पर्शाद्यत्तत् परजमुच्यते । तदात्मजं विजानीयाद्यद्देहेष्वनिलादिजम्"–इति । रक्तादिधातुत्रयगतस्य च किलासस्य दूष्यप्रभावाद्यस्य कस्यापि दोषस्य संबन्धनियता एवारुणादयो वर्णा बोद्धव्याः, यदि तु तत्र दोषनियतो वर्णः कल्प्यते तदा वर्णातिदेशो व्यर्थः स्यात्, वाताद्रूक्षारुणमित्यादिनैव सिद्धत्वात् । यद्येवं दोषेणात्र वर्णाभिधानं विफलं ? निर्विषयत्वात्; नैवं, त्वङ्मात्रगते किलासे दोषवर्णस्य चरितार्थत्वात् । हन्त तर्हि कथं रक्तादिगतत्वमस्य निश्चेतव्यं ? त्वग्गते स्वभावेनारुणादिवर्णस्य सद्भावेन सन्दिग्धत्वात् । उच्यते, क्रमेणारुणादिवर्णोत्पादाद्रक्तादिगतत्वं निश्चेतव्यम्, उत्पत्तिमात्रे त्वरुणादियोगात्त्वग्गतत्वमिति ॥३७-३९॥

'कुष्ठैकसम्भवम्' अर्थात् कुष्ठ के साथ समान है विरुद्ध भोजन तथा पापकर्मादि निदान जिसका वह, एवं कुष्ठ के साथ समान चिकित्सा वाला भी जानना चाहिये, क्योंकि 'इसके लिये कुष्ठोक्त विधान करना चाहिये' यह वचन समान चिकित्सा का प्रदर्शक है। चरक में तो इसका हेतु विशेष भी पढ़ा है। तद्यथा—'असत्यभाषण, कृतघ्नता, गुरुनिन्दा (गुरु, अर्थात् आचार्य, माता पिता आदिकों में न होने वाले दोषों का सर्वत्र फैलाना), गुरुधर्षण (गुरुओं का अपमान), ब्रह्मविप्रवधादि पापकर्म पूर्वजन्मकृत कुकर्म तथा विरोधि अन्न का सेवन किलास की उत्पत्ति में कारण है'। किलास ही क्रमशः मांस तथा मेदोधातु के आश्रित होने पर क्रमशः अरुण और श्वित्र कहलाता है, और किलास त्वक्गत ही होता है, जिसका कि लक्षण 'निर्दिष्टमपरिस्रावि' कहा है। स्राव रक्तादि की दुष्टि होने पर होता है, एवं किलास के त्वक्गत होने के कारण (इसमें) स्राव नहीं होता। जैसे कहा भी है कि—जो त्वचागत एवं स्राव हीन होता है, वह किलास कहलाता है। 'त्रिधातूद्भव संश्रयम्' त्रिधातु अर्थात् तीनों दोष तथा रक्त मांस और मेद है संश्रय अर्थात् अधिष्ठान जिसका, वह। अथवा त्रिधातु अर्थात् रक्त, मांस और मेद हैं उद्भव (उत्पत्ति) के लिये संश्रय (अधिष्ठान) जिसका, वह। इसमें साधारण होने से दोष तो स्वयं आ जाते हैं। (शंका—) यदि किलास धातुत्रयाश्रित होता है, तो 'जब (किलास) त्वचा का उल्लङ्घन कर मांसादि धातुओं का अवगाहन करता है तब वह अपनी किलाससंज्ञा को छोड़कर कुष्ठसंज्ञा को प्राप्त कर लेता है' यह किलाससंज्ञा का प्रतिक्षेपक विश्वामित्र का वचन विरुद्ध क्यों नहीं होता? तथा 'किलास त्वक्गत ही होता है' सुश्रुत में यह अवधारणा विरुद्ध होती है। इसका उत्तर यह है कि विश्वामित्र के वचन का यह अर्थ जानना चाहिये कि उक्त रक्तादिगत किलास जब सम्पूर्ण कुष्ठ लक्षणों को उपजाता हुआ धातुओं का अवगाहन करता है तब वह किलास नहीं रहता, उस समय तो वह कुष्ठ को उत्पन्न करने वाले दूसरे हेतुओं से प्रवृद्ध दोषों से धातुओं को दूषित करता है, अतः तब वह निदान लक्ष्य लक्षण वाला अरुणादि कुष्ठ कहलाता है। दूसरा प्रथम प्रकार की भिन्नता से रक्तादिगत कुष्ठ लक्षणों के बिना उत्पत्ति के समय ही होने वाले लोहित ताम्रादि वर्णमात्र का उत्पादक तथा रक्तादि की दुष्टि से उत्पन्न होने वाला वह किलास ही होता है। यदि ऐसा स्वीकार न किया जावे तो चरकोक्त रक्तादिगत किलास के लक्षण से विरोध आता है। जैसे कहा भी है कि 'जब दोष रक्त धातु के आश्रय में होते हैं तो रक्त, जब मांसधातु के आश्रय में होते हैं तो ताम्र, और जब मेदोधातु के आश्रय में होते हैं तो श्वेत वर्ण के श्वित्र को उत्पन्न करते हैं। इनमें उत्तरोत्तरवर्ती किलास गुरु (कृच्छ्र) होता है'। चरक में किलास की ही धातुत्रय के साथ सम्बन्ध होने से वर्णोत्पत्ति के कारण दारुण आदि संज्ञामात्र की है। सुश्रुत में भी 'यह त्वक्गत ही है' इस प्रकार की अवधारणा रक्तादि की दुष्टि होने पर भी विशिष्ट रक्तादिगत महाकुष्ठ के लक्षणों की रहितता तथा क्षुद्रकुष्ठ की तरह एक ही समय में रक्त, लसीका, त्वचा और मांस की दूषकता का न होना व्यापक है। अथवा 'त्वक्गतमेव किलासम्' में स्थित एवकार 'नीलं सरोजं भवत्येव' की तरह प्रयोग व्यवच्छेद में है। एवं उक्त प्रकारानुसार धातुत्रयमात्रगामिता तथा एकदोषजन्यता के कारण इसका कुष्ठ से भेद है (अर्थात् कुष्ठ सर्वधातुगत एवं सर्वदोषज होता है और यह धातुत्रयमात्रगत तथा एकदोषज होता है। यही इनका परस्पर भेद है)। 'श्वित्रसंज्ञां लभेत्तदा' जेज्जट के इस पाठ में भी किलास का ही श्वित्र संज्ञामात्र से निर्देश है, इसमें कोई अर्थ भेद नहीं है। आचार्य भालुकि ने तो धातु भेद से किलास की दूसरी संज्ञायें दर्शाई हैं। तद्यथा—'मांस नामक धातु में आश्रित वह

किलास वारुण नामक मेदो नामक, धातु में स्थित वह किलास श्वित्र नामक और रक्त नामक धातु में स्थित वह किलास दारुण नामक होता है अर्थात् जब किलास इन २ धातु में जाता है तो उसका यह २ नाम होता है। तथा चरक में भी कहा है कि—दारुण, वारुण और श्वित्र इन तीन नामों से किलास को जानना चाहिए अर्थात् किलास के ही दारुण आदि तीन नाम हैं। इसी प्रकार प्रकृत में भी वैसा ही जानना चाहिए। 'उभयज' का अर्थ व्रणज कुष्ठ तथा दोषज कुष्ठ है। जैसे भोज ने कहा भी है कि—श्वित्र को दो प्रकार का जानना चाहिए, एक दोषज तथा दूसरा व्रणज। उनमें से व्रणज व्रण के मिथ्योपचार करने से होता है। दोषज श्वित्र भी दो प्रकार का होता है, एक आत्मज तथा दूसरा परज। दूसरे के संस्कार संस्पर्श से होने वाले को परज कहते हैं। एवं जो शरीर में अनिलादि प्रकोप के कारण होता है, उसे आत्मज जानना चाहिए। रक्तादि धातुत्रयगत किलास में दोष दूष्य के प्रभाव के कारण जिस किसी दोष का सम्बन्ध होने से नियत अरुण आदि वर्ण जानने चाहिएं। और यदि किलासों में दोष से नियत वर्ण ही होता है, यह माना जावे तो वर्ण का अतिदेश व्यर्थ होता है, क्योंकि वर्णज्ञान तो 'वाताद् रूक्षारुणम्' से ही हो जाता है। यदि ऐसा ही हो तो निर्विषय होने से दोष द्वारा यहां वर्णों का निर्देश विफल होता है। (उत्तर—) इस प्रकार का निश्चय नहीं करना चाहिए, क्योंकि किलास में दोष का वर्ण चरितार्थ होता है। (ननु—) यदि किलास में यह चरितार्थ है, तो इसकी रक्तादिगतता किस प्रकार निश्चित की जा सकती है ? क्योंकि त्वक्गत में स्वभावतः अरुणादि वर्ण की उत्पत्ति होने से सन्देह रह जाता है। इसका उत्तर यह है कि क्रमशः अरुणादि वर्णों की उत्पत्ति से रक्तादिगतता जाननी चाहिए। उत्पत्ति मात्र में तो अरुण वर्णादि होने पर भी इसकी त्वक्गतता ही होती है।

अस्य साध्यत्वादिकमाह—

अशुक्लरोमाऽबहुलमसंश्लिष्टमथो नवम्।
अनग्निदग्धजं साध्यं श्वित्रं वर्ज्यमतोऽन्यथा ॥४०॥
गुह्यपाणितलौष्ठेषु जातमप्यचिरन्तनम्।
वर्जनीयं विशेषेण किलासं सिद्धिमिच्छता ॥४१॥

जो कुष्ठ कृष्णरोम वाला, पतला, परस्पर असंश्लिष्ट, नवोत्पन्न और अवह्निदग्ध होता है, वह साध्य होता है। इससे विपरीत अर्थात् अकृष्णरोम वाला, मोटा, परस्पर संश्लिष्ट, चिरोत्पन्न और वह्निदग्ध कुष्ठ वर्ज्य होता है। सिद्धि को चाहने वाले वैद्य के लिए आवश्यक है कि गुह्य स्थान में होने वाला, हाथों में होने वाला, पादतल में होने वाला तथा ओष्ठ पर होने वाला नवीन भी किलास विशेषतः वर्जनीय होता है, अतः उसे छोड़ दे।

मधु०—तस्य साध्यत्वमसाध्यत्वं चाह—अशुक्लेत्यादि। अशुक्लरोम कृष्णरोम, अबहुलं तनु, असंश्लिष्टं परस्परमसंयुक्तम्। अनग्निदग्धजं अग्निदग्धजम् यन्न भवति, एतत् साध्यम्। अतोऽन्यथा अतोऽन्यथोक्तसर्वप्रकारमसाध्यं, चरकेऽप्येवंविधस्यासाध्यत्वमुक्तम्। यथा—"यच्छुक्लरोमबहुलं यत् संलग्नं परस्परम्। यच्च वर्षगणोपेतं तच्छ्वित्रं नैव सिध्यति" (च. चि. स्था. अ. ७)—इति। गुह्यपाणितलौष्ठेष्विति तलमत्र पादतलं, सुश्रुते "अन्ते जातम्" इति सामान्येन निर्देशात् ॥४०–४१॥

'अतोऽन्यथा' का अभिप्राय, उक्त लक्षणों से विपरीत लक्षणों वाला कुष्ठ असाध्य होता है, यह है। चरक में भी इस प्रकार के कुष्ठ को असाध्य कहा है। यथा—'जो अधिक शुक्लरोम वाला होता है और एक दूसरे से मिला होता है तथा कई वर्षों से उत्पन्न होता है, वह श्वित्र सिद्ध (साध्य) नहीं होता'। 'गुह्यपाणितलौष्ठेषु' में 'तल' शब्द से पादतल है, क्योंकि सुश्रुत में 'अन्तेजातं' यह सामान्य निर्देश दीखता है।

कुष्ठाद्यामयानां संसर्गजत्वमाह—

प्रसङ्गाद्गात्रसंस्पर्शान्निःश्वासात् सहभोजनात्।
एकशय्यासनाच्चैव वस्त्रमाल्यानुलेपनात् ॥४२॥ [सु० २।५]
कुष्ठं ज्वरश्च शोषश्च नेत्राभिष्यन्द एव च।
औपसर्गिकरोगाश्च संक्रामन्ति नरान्नरम् ॥४३॥ [सु० २।५]

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने कुष्ठनिदानं समाप्तम् ॥४९॥

मैथुन करने से, गात्र संस्पर्श से, रोगी के निःसृत निःश्वास को लेने से, एक पात्र में साथ भोजन करने से, एक शय्या में सोने पर, एक आसन पर बैठने से और उच्छिष्ट वस्त्र तथा माल्य के सेवन से कुष्ठ, ज्वर, शोष, नेत्राभिष्यन्द और औपसर्गिक रोग एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य में चले जाते हैं। इसका भाव यह है कि कुष्ठादि रोग मैथुनादि से एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य में सङ्क्रमित हो जाते हैं।

मधु०—कुष्ठस्य संसर्गजप्रसङ्गेन सर्वानेव संसर्गजान् रोगानाह—प्रसङ्गादित्यादि। प्रसङ्गो मैथुनम्, अथवा प्रसङ्गः सातत्यं, तेन कृतात् गात्रसंस्पर्शादेः। औपसर्गिकरोगा इति औपसर्गिकाः पापरोगादयो भूतोपसर्गजाश्च। संक्रामन्ति आविशन्ति। रोगसंक्रान्तिश्च कुष्ठिप्रभृतिपापिजनसंसर्गेण पापसंक्रान्तेर्विकारप्रभावाद्वा बोद्धव्या ॥४२-४३॥

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायां कुष्ठनिदानं समाप्तम् ॥४९॥

इसकी भाषा सरल है।

अथ शीतपित्तोदर्दकोठनिदानम्[1]।

शीतपित्तस्य निदानपूर्विकां संप्राप्तिमाह—

शीतमारुतसंस्पर्शात् प्रदुष्टौ कफमारुतौ।
पित्तेन सह संभूय बहिरन्तर्विसर्पतः ॥१॥

ठंडी वायु के लगने से प्रकुपित कफ और वायु पित्त के साथ मिलकर बाहर और अन्दर फैल जाते हैं, जिससे शीतपित्त रोग होता है।

---

१ नाम—सं शीतपित्त, अ. अर्टिकेरिया (Urticaria), पं. छपाकी.

मधु०—त्वग्दुष्टिदोषत्रयजन्यत्वसामान्यात् कुष्ठानन्तरं शीतपित्तोदर्दादिनिदानम् । तस्य दोषत्रयजन्यत्वमाह—शीतमारुतसंस्पर्शादित्यादि । पित्तेन सह संभूयेति स्वहेतूपचितेन पित्तेन संभूय मिलित्वा । बहिरन्तरिति बहिस्त्वचि, अन्तः शोणितादौ, विसर्पतः प्रसरतः ॥१॥

त्वचा की दुष्टि तथा तीनों दोषों से उत्पत्तिरूप इनकी समानता होने के कारण कुष्ठ के उपरान्त शीतपित्त, उदर्द तथा कोठनिदान का वर्णन किया जाता है । इसकी (शीतपित्त की) उत्पत्ति में कफ, वात तथा पित्त तीनों दोष कारण हैं । पित्त के साथ मिल कर, इस पद का तात्पर्य यह है कि अपने हेतुओं से बढ़े हुए पित्त के साथ मिल कर (वात और कफ त्वचा के बाहर और अन्दर फैल जाते हैं) बाहर शब्द से त्वचा का तात्पर्य है । अन्दर शब्द से रक्त आदि धातुओं से तात्पर्य है ।

शीतपित्तस्य पूर्वरूपमाह—

पिपासारुचिहृल्लासदेहसादाङ्गगौरवम् ।
रक्तलोचनता तेषां पूर्वरूपस्य लक्षणम् ॥२॥

प्यास, अरुचि, जी मिचलाना, देह में पीड़ा सी प्रतीत होना, अङ्गों में भारीपन, और नेत्रों में लाली की प्रतीति होनी शीत पित्तादिकों के पूर्वरूप हैं ।

मधु०—पूर्वरूपमाह—पिपासेत्यादि । रक्तलोचनता प्रभावात् । पूर्वरूपस्य लक्षणमिति पूर्वरूपस्य स्वरूपमित्यर्थः; न तु लक्षणमत्र लिङ्गं, पिपासादिव्यतिरिक्तस्य पूर्वरूपस्याभावात् ॥२॥

आंखों का लाल होना रोग के प्रभाव से होता है । 'पूर्वरूप के लक्षण' इस शब्द से लिङ्ग का ग्रहण नहीं किया जाता क्योंकि प्यास आदि के अतिरिक्त और कोई पूर्वरूप नहीं है, इसलिये पूर्वरूप के लक्षण से पूर्वरूप के स्वरूप का ही ग्रहण होता है ।

शीतपित्त(उदर्द)स्य लक्षणमाह—

वरटीदष्टसंस्थानः शोथः संजायते बहिः ।
सकण्डूस्तोदबहुलश्छर्दिज्वरविदाहवान् ॥३॥
उदर्दमिति तं विद्याच्छीतपित्तमथापरे ।
वाताधिकं शीतपित्तमुदर्दस्तु कफाधिकः ॥४॥

वरटी (डेम्बू भृण्ड) के काटने के समान त्वचा के बाह्यभाग में सूजन हो जाती है, जिसमें कि खुजली होती है और सुई चुभने की सी पीड़ा होती है । एवं वमन (कै) बुखार तथा जलन भी होती है । यह उदर्द का लक्षण है । कई आचार्य इसे ही शीतपित्त कहते हैं । परन्तु शीतपित्त में वायु की अधिकता होती है और उदर्द में कफ की अधिकता होती है ।

मधु०—उदर्दलक्षणमाह—वरटीत्यादि । सकण्डूस्तोदबहुलश्छर्दिज्वरविदाहवानिति अत्र कण्डूः कफात्, तोदो वातात्, छर्दिज्वरविदाहाः पित्तादिति दोषत्रयलिङ्गम् । अनयोः शीतपित्तोदर्दयोः समानसंस्थानत्वेऽपि वाताधिकं शीतपित्तं, कफाधिक उदर्दः ॥३-४॥

उदर्द में तीनों दोषों के लक्षण इस प्रकार हैं—कण्डू (खुजली) कफ से होती है, सुइयों की सी चुभान वात से होती है तथा वमन, बुखार और जलन पित्त से होते हैं,

इस प्रकार यह रोग त्रिदोषजन्य होता है। शीतपित्त तथा उदर्द, इन दोनों के परस्पर समानलक्षण होने पर भी शीतपित्त में वायु की अधिकता तथा उदर्द में कफ की अधिकता होने से इनमें परस्पर भेद है।

उदर्दस्य लक्षणमाह—

सोत्सङ्गैश्च सरागैश्च कण्डूमद्भिश्च मण्डलैः।
शैशिरः कफजो व्याधिरुदर्द इति कीर्तितः ॥५॥

उदर्द में किनारों में ऊँचे तथा मध्य में गहरे चकत्ते होते हैं, इनमें खुजली और लालिमा होती है। यह रोग कफ से तथा शिशिर ऋतु में होता है।

मधु०—उदर्दस्य धर्मान्तरमाह—सोत्सङ्गैरित्यादि। उत्सङ्गैर्मध्यनिम्नैः, शैशिर इति शिशिरसंभवः ॥५॥

उदर्दस्येत्यादि स्पष्टमेव।

कोठस्य निदानपूर्वकं लक्षणमाह—

असम्यग्वमनोदीर्णपित्तश्लेष्मान्ननिग्रहैः।
मण्डलानि सकण्डूनि रागवन्ति बहूनि च।
उत्कोठः सानुबन्धश्च कोठ इत्यभिधीयते ॥६॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने शीतपित्तोदर्दकोठनिदानं समाप्तम् ॥५०॥

वमन के मिथ्या तथा अयोग से, बाहर निकलते हुए पित्त श्लेष्मा एवं अन्न के रोकने से मण्डल हो जाते हैं। ये संख्या में अधिक तथा लालिमायुक्त होते हैं। (इनमें से) उत्कोठ अनुबन्धयुक्त होता है और कोठ अनुबन्ध रहित होता है।

मधु०—त्वग्दुष्टिसाम्यादत्रैव कोठोऽभिधीयते—असम्यग्वमनेत्यादि। असम्यक्त्वं वमनस्यायोगमिथ्यायोगादिना, तथोदीर्णानां पित्तश्लेष्मान्नानां निग्रहो वेगविधारणं, तैर्मण्डलानि जायन्ते, स कोठः; अथवाऽयमर्थः;—असम्यग्वमनोदीर्णौ पित्तश्लेष्माणौ, तथाऽन्ननिग्रह उपस्थितवेगस्यान्नस्य निग्रहश्छर्दिनिग्रह इति यावत्, तैर्हेतुभिर्भवन्ति। वमनस्य चासम्यक्त्वमयोगमिथ्यायोगाभ्यां ज्ञेयम् अतियोगस्य तु पित्तश्लेष्मकोठाकरत्वात्। एतेन हेतुलक्षणभेदाद्भिन्नः कोठ उदर्दात्। कोठो निरनुबन्धः। तथा चोक्तम्,—"क्षणिकोत्पादविनाशः कोठ इति निगद्यते तज्ज्ञैः"—इति। सानुबन्ध उत्कोठोऽभिधीयते। सानुबन्धता च पुनःपुनर्भवनेन ॥६॥

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायां शीतपित्तोदर्दकोठनिदानं समाप्तम् ॥५०॥

त्वचादुष्टि की समानता होने से यहीं पर कोठ का निर्देश किया जाता है। वमन का असम्यग्योग अयोग, मिथ्यायोग और अतियोग से होता है। पित्त, श्लेष्मा और अन्ननिग्रह से तात्पर्य वेगों का रोकना है, क्योंकि इन कारणों से मण्डल (चकत्ते) हो जाते हैं, जिन्हें कि 'कोठ' कहते हैं। अथवा—यह अर्थ होता है कि असम्यक्वमन से उदीर्ण हुए २ पित्त और श्लेष्मा से; तथा अन्ननिग्रह अर्थात् उपस्थित वेग वाले अन्न को रोकने अर्थात् वमन को रोकने से मण्डल होते हैं। वमन का असम्यक्पन अयोग तथा मिथ्यायोग

ही जानना चाहिए, अतियोग से तो पित्तश्लेष्म कोठ नहीं हो सकता, क्योंकि इससे पित्त और श्लेष्मा का क्षय होता है। इससे उदर्द तथा कोठ का हेतु और लक्षणों से भिन्नता होती है। कोठ अनुबन्धरहित होता है, जैसे कहा भी है कि—'जिसकी क्षण में उत्पत्ति तथा क्षण में नाश होता है, उसे कोठ कहते हैं'। उत्कोठ अनुबन्धसहित होता है। इसकी अनुबन्धता फिर २ होने से होती है।

अथाम्लपित्तनिदानम्।

अम्लपित्तस्य[1] निदानपूर्वकं सामान्यलक्षणमाह—

विरुद्धदुष्टाम्लविदाहिपित्त-
प्रकोपिपानान्नभुजो विदग्धम्।
पित्तं स्वहेतूपचितं पुरा यत्
तदम्लपित्तं प्रवदन्ति सन्तः ॥१॥

विरोधी (मान विरुद्ध, संयोग विरुद्ध आदि यथा मछली खाकर दूध पीना आदि), दुष्ट, खट्टे तथा विदाही और पित्त को प्रकुपित करने वाले अन्न पान के सेवकों का विदग्ध (अम्लभाव को प्राप्त) हुए पित्त को, जो कि पूर्व भी अपने हेतुओं से वृद्धि को प्राप्त हो चुका होता है, (उसे) सज्जन पुरुष अम्लपित्त नाम से पुकारते हैं।

मधु०—कोठहेतौ पित्तश्लेष्मोल्लेखात् पित्तश्लेष्ममिलितरूपस्याम्लपित्तस्य निदानम्। निदानपूर्वकमम्लपित्तस्य स्वरूपमाह—विरुद्धेत्यादि। विरुद्धं क्षीरमत्स्यादि, दुष्टं व्यापन्नमन्नं, विदाहिस्थाने विदग्धेति पाठान्तरे विदग्धं भर्जितं; पित्तप्रकोपिपानान्नभुज इति पित्तप्रकोपि पानं तक्रसुरादि, अन्नमाशुधान्यमाषादि; पित्तप्रकोपिपानान्नग्रहणेनैवाम्लविदाहिनो ग्रहणे सिद्धे तदभिधानं विशेषार्थं, 'पित्तप्रकोपणाद्यन्नभुज' इति पाठान्तरे आदिशब्दात् कफादिप्रकोपणमन्नं गृह्यते। एवंविधपानान्नमुपभुञ्जानस्य विदग्धं कुपितं, स्वहेतूपचितं पुरा यदिति वर्षासु जलौषधिगतविदाहादिभिः स्वहेतुभिरुपचितं संचयमापन्नम्। यदुक्तं,—"वर्षास्वम्लविपाकित्वादद्भिरोषधिभिस्तथा" (च. चि. स्था. अ. ३) इति। विदाहाद्यम्लगुणोद्रिक्तं पित्तमम्लपित्तम् ॥१॥

कोठ के कारणों में पित्त और श्लेष्मा का उल्लेख होने से, और पित्तश्लेष्मा के मिलितरूप होने से अम्लपित्त के निदान का वर्णन करते हैं। निदानपूर्वक अम्लपित्त के स्वरूप का वर्णन किया जाता है। विरुद्ध अर्थात् दूध, मछली आदि खराब हुए अन्न को दुष्ट कहते हैं। विदाही के स्थान में जो 'विदग्ध' यह पाठान्तर है, उसका तात्पर्य भर्जित है। पित्त को प्रकुपित करने वाले पेय पदार्थ तक्र सुरा आदि हैं। अन्न से आशुधान्य माष आदि का ग्रहण होता है। पित्त को प्रकुपित करने वाले अन्न तथा पान के ग्रहण से ही अम्ल और विदाह का ग्रहण हो सकता है। पुनः इसको पृथक् क्यों लिखा गया? इसका उत्तर यह है कि—'विशेषरूप से यह कारण है' इसको द्योतन करने के लिए पृथक् ग्रहण किया गया है। 'पित्तप्रकोपणाद्यन्नभुजः' इस पाठान्तर के होने पर यहां आदि

---

[1] नाम—सं० अम्लपित्त, इ० एसिडिटी (Asidity).

शब्द से कफादि को प्रकुपित करने वाला अन्न भी लिया जाता है। इस प्रकार के पान तथा अन्न के सेवन करने वाले का प्रकुपित हुआ २ पित्त तथा वर्षाऋतु में अपने २ जल तथा ओषधिगत विदाह आदि हेतुओं से सञ्चित पित्त अम्लपित्तरोग को पैदा करता है ! जैसे चरक ने कहा भी है कि—'वर्षाऋतु में जल तथा ओषधियों का अम्लपाक होने से' इत्यादि (च. चि. स्था. अ. ३)। विदाही आदि अम्लगुणों से वृद्ध हुए २ पित्त को अम्लपित्त कहते हैं।

तस्य विशेषलक्षणमाह—

अविपाकक्लमोत्क्लेशतिक्ताम्लोद्गारगौरवैः ।
हृत्कण्ठदाहारुचिभिश्चाम्लपित्तं वदेद्भिषक् ॥२॥

अन्न का न पचना, बिना परिश्रम के थकावट की प्रतीति, उत्क्लेश, तिक्त तथा अम्ल उद्गारों का आना, भारीपन होना, हृदय प्रदेश तथा कण्ठ में दाह होना एवं रुचि का न होना; इन लक्षणों वाले रोग को वैद्य लोग अम्लपित्त कहते हैं। यह अम्लपित्त का लक्षण है।

मधु०—तस्य लिङ्गमाह—अविपाकेत्यादि। अविपाक इत्याहारापाकः, क्लमोऽनायासजः श्रमः। अम्लपित्ते पित्तं प्रधानं, वातकफावप्यत्रानुगौ गौरवोद्गारकम्पादिना ज्ञेयौ ॥२॥

(अम्लपित्तेत्यादि—) अम्लपित्त में पित्त तो मुख्य है, परन्तु गौरव, उद्गार और कम्प आदि से वातकफ की अनुगामिता का भी ज्ञान होता है।

अधोगाम्लपित्तस्य लक्षणमाह—

तृड्दाहमूर्च्छाभ्रममोहकारि
प्रयात्यधो वा विविधप्रकारम्।
हृल्लासकोठानलसादहर्ष-
स्वेदाङ्गपीतत्वकरं कदाचित् ॥३॥

प्यास, जलन, ज्ञानशून्यता, भ्रम, विपरीतज्ञान, जी मिचलाना, उदराग्नि की मन्दता, हर्ष (रोमाञ्च), पसीना तथा पीताङ्गता को करने वाला अम्लपित्त कभी २ अनेक हरित, पीत, कृष्ण, रक्तादि वर्णों में परिवर्तित होकर नीचे की ओर (से) जाता है।

वक्तव्य—अम्लपित्त दो प्रकार का होता है—१ ऊर्ध्वगामी, २ अधोगामी। उपर्युक्त लक्षण अधोगामी अम्लपित्त के हैं। अर्थात् अधोगामी अम्लपित्त में प्यास, जलन, मूर्च्छा, भ्रम, विपरीतज्ञान, हृल्लास, अग्निमान्द्य, रोमहर्ष, स्वेद और पीताङ्गता होती हैं, एवं अधोगामी अम्लपित्तरूप द्रव हरित, पीत, कृष्ण, रक्तादि वर्ण लिए हुए होता है।

मधु०—तस्य कदाचिदधऊर्ध्वगमनभेदाद्वि(द्वि)विधस्याधोगतिं तावदाह—तृड्दाहेत्यादि। मूर्च्छा सर्वथा ज्ञानशून्यत्वं, मोहो विपरीतज्ञानम्। प्रयात्यधो वेत्यत्र वाशब्दो भाव्यूर्ध्वगमनापेक्षया। विविधप्रकारमिति हरितपीतकृष्णरक्तादिबहुवर्णत्वदुर्गन्धित्वयोगान्नानाविधम्। कदाचिदिति न सर्वकालम् ॥३॥

(विविधप्रकारमितीति—) विविध प्रकार से तात्पर्य यहां पर हरा, पीला, काला, लाल आदि नाना प्रकार के मल का उतरना है।

ऊर्ध्वगाम्लपित्तस्य लक्षणमाह—

वान्तं हरितपीतकनीलकृष्ण-
मारक्तरक्ताभमतीव चाम्लम्।
मांसोदकाभं त्वतिपिच्छिलाच्छं
श्लेष्मानुजातं विविधं रसेन ॥४॥
भुक्ते विदग्धे त्वथवाऽप्यभुक्ते
करोति तिक्ताम्लवमिं कदाचित्।
उद्गारमेवंविधमेव कण्ठ-
हृत्कुक्षिदाहं शिरसो रुजं च ॥५॥

कफपित्तस्य लक्षणमाह—

करचरणदाहमौष्ण्यं
महतीमरुचिं ज्वरं च कफपित्तम्।
जनयति कण्डूमण्डल-
पिडकाशतनिचितगात्ररोगचयम् ॥६॥

ऊर्ध्वग अम्लपित्त के रूप में आई हुई वस्तु (द्रव पदार्थ) हरित, पीत, नील, कृष्ण, आरक्त, रक्ताभ, अत्यम्ल, मांसोदकसदृश, अतिपिच्छिल, स्वच्छ, कफयुक्त एवं अनेक रस वाली होती है। भोजन करने पर, विदग्धावस्था में अथवा भोजन से पूर्व अम्लपित्त कभी २ तिक्त और अम्लवमि को तथा कभी २ तिक्त और अम्ल उद्गार को एवं कण्ठ, हृदय और कुक्षि में दाह तथा सिर में पीड़ा करता है। अम्लपित्त की तरह ऊर्ध्वग कफ पित्त हाथों पैरों में जलन, शरीर में गर्मी, अरोचक, ज्वर, खुजली, चकत्ते, पिडकाएं तथा अन्य रोग समूह को करता है।

वक्तव्य—भाव यह है कि प्रकृत पित्त के दो प्रकार हैं—एक अम्लपित्त, दूसरा कफपित्त। अम्लपित्त के भी दो प्रकार होते हैं—एक ऊर्ध्वगत अम्लपित्त और दूसरा अधोगत अम्लपित्त। ऊर्ध्वग अम्लपित्त भी दो प्रकार से होता है—एक वमनरूप, दूसरा उद्गाररूप। एवं अधोग रक्तपित्त का लक्षण तृड्दाहेत्यादि से ऊपर कहा गया है और ऊर्ध्वग रक्तपित्त (के भेदों) का तथा अम्लपित्त का लक्षण 'वातमित्यादि' से 'रोगचयम्' इत्यादि तक के पाठ में आ जाता है। इन तीन श्लोकों का भाव यह है कि—ऊर्ध्वगत अम्लपित्त में वमन हरे, पीले, नीले, काले और थोड़े २ लाल वर्ण का तथा लाल कान्तिवाला, वहुत ही खट्टा एवं मांसधावन जल के समान और वहुत पिच्छिल (लेसदार) स्वच्छ, श्लेष्मायुक्त और नाना प्रकार के रसवाला आता है। खाना खाने पर विदग्धावस्था में अथवा

न खाने पर भी कभी २ तीखी तथा खट्टी उल्टी (वमन) आती है (यह वमन-रूप है) एवं उद्गार भी खट्टे तथा तीक्ष्ण आते हैं (यह उद्गार रूप है) कण्ठ, हृदय तथा कुक्षि में दाह होता है और सिर में पीड़ा होती है। ये लक्षण अम्ल-पित्त के हैं। हाथों पैरों में दाह, अङ्गों में उष्णता, अरुचि, ज्वर, खुजली, मण्डल (चकत्ते), पिडकाएं और रोमसमूह कफपित्त में हो जाते हैं। यह लक्षण कफ-पित्तजन्य अम्लपित्त के हैं।

मधु०—ऊर्ध्वगतिमाह—वान्तमित्यादि। नीलं स्निग्धकृष्णं, कृष्णं मर्दनाञ्जनवद्रूक्ष-कृष्णम्, आरक्तमीषल्लोहितं, रक्तमन्तर्लोहितम्। मांसोदकाभमिति मांसधावनतोयाभं कृष्णलोहि-तमित्यर्थः। विविधं रसेनेति रसेन लवणकटुतिक्ताख्येन नानारूपम्। करोति तिक्ताम्लवमिमिति तिक्तस्य अम्लस्य वा वमिं करोति। उद्गारमेवंविधमेवेति अत्र करोतीति संवध्यते, एवंविधमिति अम्लतिक्तम्। कण्ठहृत्कुक्षिदाहं शिरसो रुजं चेति अत्रापि करोतीति संबध्यते। कण्डूमण्डल-पिडकाशतनिचितगात्ररोगचयमिति कण्ड्वादिनिचितगात्रं च रोगचयं चेति द्वन्द्वः, तेन कण्ड्वा-दिनिचितगात्रं रोगचयं च करोतीत्यर्थः, रोगचयोऽविपाकोत्क्लेशादिः॥४–६॥

नील शब्द से चिकना काला वर्ण लिया जाता है। कृष्ण शब्द से सुरमे की तरह रूखे कृष्णवर्ण का ग्रहण होता है। आरक्त में 'आ' शब्द से थोड़े का ग्रहण होता है एवं आरक्त का थोड़ा लाल यह अर्थ होता है। रक्त से यहां अन्तर्लोहित का भाव लेना चाहिए। मांसधावन जल के सदृश का तात्पर्य कृष्णलोहित से है।

अस्य साध्यत्वादिकमाह—

रोगोऽयमम्लपित्ताख्यो यत्नात् संसाध्यते नवः।
चिरोत्थितो भवेद्याप्यः कृच्छ्रसाध्यः स कस्यचित्॥७॥

यह अम्लपित्ताख्य रोग यदि नवीन हो तो यत्न करने पर ठीक हो जाता है। यदि चिरकालीन हो तो याप्य होता है अर्थात् जब तक औषध सेवन होता रहे रोगी ठीक रहता है अन्यथा वह (रोगी) पुनः रोगग्रस्त हो जाता है। एवं किसी २ रोगी का अम्लपित्त चिरकालिक होने पर भी कठिनता से ठीक हो जाता है।

मधु०—साध्यत्वादिकमाह—रोग इत्यादि। कृच्छ्रसाध्यः स कस्यचिदिति हिताहारा-चारशीलिनः कस्यचिच्चिरोत्थितोऽपि कृच्छ्रसाध्यः॥७॥

(कृच्छ्रसाध्यः स इति—) हितकर आहार आचार के सेवन करने वाले रोगी का अम्लपित्त चिरकालज होने पर कृच्छ्रसाध्य हो जाता है।

तत्र अनिलकफसंसर्गमाह—

सानिलं सानिलकफं सकफं तच्च लक्षयेत्।
दोषलिङ्गेन मतिमान् भिषङ्मोहकरं हि तत्॥८॥

तत्र अनिलसंसर्गजलक्षणान्याह—

कम्पप्रलापमूर्च्छाचिमिचिमिगात्रावसादशूलानि।

तमसो दर्शनविभ्रमविमोहहर्षाण्यनिलकोपात् ॥९॥

तत्र कफसंसर्गजलक्षणान्याह—

कफनिष्ठीवनगौरवजडतारुचिशीतसादवमिलेपाः।
दहनबलसादकण्डूनिद्राश्चिह्नं कफानुगते ॥१०॥

अनिलकफसंसर्गजलक्षणान्याह—

उभयमिदमेव चिह्नं मारुतकफसंभवे भवत्यम्ले।
(तिक्ताम्लकटुकोद्गारहृत्कुक्षिकण्ठदाहकृत् ॥११॥)

श्लेष्मपित्तस्य लक्षणमाह—

भ्रमो मूर्च्छारुचिश्छर्दिरालस्यं च शिरोरुजा।
प्रसेको मुखमाधुर्यं श्लेष्मपित्तस्य लक्षणम् ॥१२॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदानेऽम्लपित्तनिदानं समाप्तम् ॥५१॥

वैद्य अम्लपित्त में उन २ दोषों के लक्षणों को देख २ कर वातयुक्त, वातकफयुक्त तथा कफयुक्त अम्लपित्त का ज्ञान करे, क्योंकि अन्यथा (विपरीत ज्ञान होने से) यह वैद्यों को अड़चन में (अज्ञानता में) डाल देता है। वातज अम्लपित्त का लक्षण—वातज अम्लपित्त में कम्प, प्रलाप (वृथा बकवास), मूर्च्छा, शरीर में चींटी काटने की सी पीड़ा, अङ्ग में ग्लानि, शूल, अन्धकार का दिखाई देना, भ्रान्ति होना, इन्द्रिय तथा मन का मोह, और रोमाञ्च का होना, ये लक्षण होते हैं। कफज अम्लपित्त का लक्षण—कफयुक्त अम्लपित्त में कफ का गिरना, भारीपन, जड़ता, अरोचक, ठण्डक, अङ्गग्लानि, वमन, कफलिप्ताननता, अग्निमान्द्य, बलहानि, खुजली और निद्रा ये लक्षण होते हैं। वातकफज अम्लपित्त का लक्षण—वातकफ से होने वाले अम्लपित्त में उपर्युक्त वात और कफ दोनों के लक्षण विद्यमान रहते हैं (तीखे, खट्टे, कड़वे डकार आते हैं; हृदय, कोख तथा कण्ठ में दाह होता है)। भ्रम, मूर्च्छा, अरुचि, वमथु, आलस्य, शिर में पीड़ा, मुख से पानी बहना और मुखमधुरता ये कफपैत्तिक अम्लपित्त के लक्षण हैं।

मधु०—तत्रैव केवलानिलकफानिलकफमात्राणां संसर्गमाह—सानिलमित्यादि। भिषङ्मोहकरमिति तस्योर्ध्वाधःप्रवर्तमानत्वेन छर्द्यतीसाराभ्यां सकाशाद्भेदस्य दुर्ज्ञेयत्वाद्वैद्यमोहकरत्वम्। सादवमिलेपा इत्यत्र सादोऽङ्गसादः, लेपः श्लेष्मलिप्तास्यता। दहनबलसादेति सादशब्दो दहनबलाभ्यां संबध्यते ॥८-१२॥

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायामम्लपित्तनिदानं समाप्तम् ॥५१॥

वमन तथा अतिसार के स्वरूप में क्रमशः ऊपर नीचे प्रवृत्त होने के कारण (इनका परस्पर) भेद ज्ञान कठिन हो जाता है। इसी कारण वैद्य को विपरीतज्ञान की सम्भावना रहती है। 'साद' शब्द से अङ्गग्लानि का तात्पर्य है। 'लेप' से मुख का श्लेष्मा से लिप्त सा होना लिया जाता है। 'दहनबलसाद' पद में स्थित साद शब्द दहन (जठराग्नि) और बल दोनों से सम्बन्धित समझना चाहिए।

अथ विसर्पनिदानम् ।

विसर्पस्य निदानं भेदांश्चाह—

लवणाम्लकटूष्णादिसंसेवादोषकोपतः ।
विसर्पः सप्तधा ज्ञेयः सर्वतः परिसर्पणात् ॥१॥
पृथक् त्रयस्त्रिभिश्चैको विसर्पा द्वन्द्वजास्त्रयः ।
वातिकः पैत्तिकश्चैव कफजः सान्निपातिकः ॥२॥ [च० ६।२१]
चत्वार एते वीसर्पा वक्ष्यन्ते द्वन्द्वजास्त्रयः ।

द्वन्द्वजविसर्पाणां नामानि निरूपयति—

आग्नेयो वातपित्ताभ्यां ग्रन्थ्याख्यः कफवातजः ॥३॥ [च० ६।२१]
यस्तु कर्दमको घोरः स पित्तकफसंभवः ।

नमकीन, खट्टे, कडुवे तथा गरम पदार्थों के निरन्तर सेवन से वातादि दोष कुपित होकर सात प्रकार के विसर्प को उत्पन्न कर देते हैं। इस व्याधि का 'विसर्प' यह नाम सर्वत्र तथा सब ओर फैलने (विसर्पण) के कारण रक्खा गया है। विसर्पों के प्रकार—वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक तथा सान्निपातिक ये चार विसर्प हैं और तीन द्वन्द्वज विसर्प होते हैं वे आगे निर्दिष्ट किये जायेंगे। तद्यथा—वातपैत्तिक आग्नेय, कफवातज ग्रन्थी नामक और पित्तकफज कर्दम नामक ये तीन पूर्वोक्त द्वन्द्वज हैं। एवं इनकी गणना सात में समाप्त होती है।

वक्तव्य—'विसर्प' शब्द का अर्थ 'सर्वतो विसर्पणात्' के अनुसार चारों ओर फैलना है। एवं जो रोग चारों ओर फैलता है, उसे विसर्प कहते हैं। इसी भाव को लक्ष्य रख कर प्रकृत व्याधि का नाम आचार्यों ने विसर्प रक्खा है, क्योंकि यह व्याधि सब ओर फैल जाती है। इस पर चरकाचार्य का प्रमाण भी है कि—"विविधं सर्पति यतो विसर्पस्तेन स स्मृतः। परिसर्पोऽथवा नाम्ना सर्वतः परिसर्पणात्"—अर्थात् क्योंकि यह व्याधि विविध (अनेक) प्रकार से सर्पण (प्रसार वा फैलाव) करती है, अतः यह (रोग) विसर्प नाम से कहा है, अथवा चारों ओर से (सर्वतः) परिसर्पण (प्रसार) के कारण इसे परिसर्प कहते हैं।

मधु०—अम्लपित्तसंभवच्छर्देर्वेगविधारणाद्रक्तदुष्टौ सत्यां विसर्पोत्पत्तेर्हेतुसाम्यात्तदनन्तरं विसर्पनिदानम्। छर्दिवेगविघातस्य रक्तदूषकत्वे चरकवचनं यथा—"छर्दिवेगप्रतीघातात् काले चानवसेचनात्। शरत्कालप्रभावाच्च शोणितं संप्रदुष्यति"–(च. सू. स्था. अ. २४) इति। तस्य निदानपूर्विकां संख्यां निरुक्तिं चाह—लवणाम्लेत्यादि। 'विसर्पो न ह्यसंसृष्टो रक्तपित्तेन लक्ष्यते'–इति वचनात् लवणाम्लादिकं विशेषेण रक्तपित्तनिदानमुक्तम्। संसेवया सततसेवया दोषकोपः संसेवादोषकोपस्ततः। अत्र, आदिग्रहणाच्चरकोक्तानां हरितशाकशिण्डाकीप्रभृतीनां ग्रहणम्। सप्तधेति उल्बणैकैकदोषजास्त्रयः, सन्निपातज एकः, त्रयो द्वन्द्वजाः, इति सप्त-

१ नाम—युनानी—हुमरा, आ. एरिसिपेलस् (Erysipelas).

प्रकारत्वमुक्तम् । सर्वतः परिसर्पणादिति सर्वतः परिसर्पणात् परिसर्पः, विविधं सर्पणाद्विसर्पः । यदुक्तं चरके,–"विविधं सर्पति यतो विसर्पस्तेन स स्मृतः । परिसर्पोऽथवा नाम्ना सर्वतः परिसर्पणात्"–(च. चि. स्था. अ. २१) इति ॥१–३॥

अम्लपित्त में वमन होता है, उसके वेग को रोकने से रक्त दुष्ट हो जाता है। इस प्रकार विसर्प की उत्पत्ति में भी रक्त की दुष्टि कारण होती है। एवं हेतु की समानता होने के कारण अम्लपित्त के अनन्तर आचार्य माधव विसर्प का वर्णन करते हैं। (छर्दिवेग-विघातस्येति—) छर्दि के वेग को रोकने से रक्त का दूषण चरक ने भी स्वीकार किया है। तद्यथाह—'वमन के वेग को रोकने से, शोणितदुष्टिकाल में रक्त के न निकलवाने से और शरत्काल के प्रभाव से रक्त दुष्ट हो जाता है' (च. सू. स्था. अ. २४)। विसर्प की निदानपूर्वक संख्या और निरुक्ति 'लवणाम्ल' इत्यादि से ऊपर बता दी गई है। 'विसर्पो न—ह्यसंस्पृष्टो रक्तपित्तेन लक्ष्यते' अर्थात् असंस्पृष्ट (बिना स्पर्श के वा उत्पत्ति के बिना) विसर्प रक्तपित्त से लक्षित (ज्ञात) नहीं होता, इस वचन से लवणादि की विशेष तौर पर रक्तपित्त का निदान बताया है। 'संसेवात्' कहने का अभिप्राय यह है कि निरन्तर सेवन से दोष कुपित हो जाता है। उपर्युक्त पद्य में पठित आदि शब्द से चरकनिर्दिष्ट हरे शाक शिण्डाकी आदि का ग्रहण होता है। परिसर्पण तथा विसर्प शब्द की निरुक्ति क्रमशः 'सर्वतः परिसर्पणात् परिसर्पः तथा विविधं सर्पणाद्विसर्पः' यह है। इस पर चरक भी कहते हैं कि—'(यह) नाना प्रकार से फैलता है, इसलिए इसे विसर्प कहते हैं और सब ओर फैलने वाले का परिसर्प नाम रक्खा गया है'।

वक्तव्य—विसर्प दो प्रकार का होता है वा यह कहें कि विसर्प की दो विशेषताएं हैं—एक अनेक प्रकार से फैलना; दूसरी चारों ओर से फैलना। एवं अनेक प्रकार से फैलने वाले विसर्प को 'विसर्प' तथा चारों ओर से फैलने वाले विसर्प को 'परिसर्प' कहते हैं, ये विसर्प और परिसर्प नाम वाले दो विसर्प होते हैं। इनके कारण और इनकी सम्प्राप्ति आदि सामान्य हैं। चरक के उक्त श्लोक का भी भाव यही है।

विसर्पाणां दोषदूष्यसंग्रहमवतारयति—

रक्तं लसीका त्वङ्मांसं दूष्यं दोषास्त्रयो मलाः ॥४॥ [च० ६।२१]
विसर्पाणां समुत्पत्तौ विज्ञेयाः सप्त धातवः ।

सात धातु का रक्त, लसीका, त्वचा और मांस ये चार दूष्यरूप तथा वात, पित्त और कफ ये तीन दोषरूप (सात) धातुएं विसर्पों की उत्पत्ति में कारण होती हैं।

वक्तव्य—इसका भाव यह है कि—विसर्प की उत्पत्ति में सात धातु काम करते हैं। उनमें से रक्त, लसीका, त्वचा और मांस ये चार दूष्य हैं और वायु, पित्त तथा कफ ये तीन दोष हैं। इनकी मिलित संख्या सात होती है। यहां इन सातों को धातु कहा गया है, अतः ये सातों धातु विसर्पोत्पत्ति में कारण हैं। दोषों को धातु देहधारण करने के कारण कहा जाता है। इनकी धातुसंज्ञा सुश्रुत ने भी देहधारणरूप शक्ति (कार्य) को लक्ष्य रख कर रक्खी है, अतः उसने कहा है कि "देहधारणाद्धातवः"। (ननु—) यदि इन्हें देहधारण

के कारण धातु कहा जाता है, तो जब कि ये विकृत होकर देह को नष्ट करते हैं तब भी इन्हें धातु क्यों कहा जावे ? और प्रकृत में भी ये दुष्ट होकर रोग उत्पन्न करते हैं और फिर भी इन्हें धातु कहा है, यह कैसे बन सकता है ? इसका उत्तर यह है कि—वस्तुतः इनकी धातुसंज्ञा देहधारक होने से ही है, परन्तु जब ये देहनाशक हो जाते हैं, तो इनको धातु 'विप्रपरिव्राजक' आदि न्याय के अनुसार कहा जाता है। एवं दोष नहीं आता। किञ्च जो यह कहा है कि 'प्रकृत में भी ये दुष्ट होकर रोग उपजाते हैं और फिर भी इन्हें धातु कहा है' इसका उत्तर भी यह है कि यहां भी उपर्युक्त न्याय के अनुसार ही इन्हें धातु कहा है। अथवा—यहां धातुशब्द से पूर्व 'विकृत' शब्द लुप्त निर्दिष्ट है, एवं विकृत-धातु इस रोग में कारण है, यह अर्थ बनता है। इस प्रकार उक्त दोष नहीं आता। (ननु—) यदि यहां विकृत शब्द लुप्त निर्दिष्ट है तो भी काम नहीं चलता क्योंकि 'विकृतधातु' यह पद नहीं बन सकता। कारण कि जब ये रक्तादि धातु होंगे तो इन्हें विकृत नहीं कहा जा सकता और यदि ये रक्तादि विकृत होंगे तो धातु नहीं कहला सकते। इसका उत्तर यह है कि—यहां रक्तादिकों की धातुसंज्ञा कार्मनामिक (अन्वर्थक) नहीं समझनी चाहिए, प्रत्युत यहां इन्हें धातु रूढ़ि के अनुसार कहा है, एवं 'विकृतधातु' यह पद बन जाता है, यहां 'उष्णकिरणो हिमांशुः' की तरह दोष नहीं आता।

वातादित्रिदोषजविसर्पाणां लक्षणान्याह—

तत्र वातात् स वीसर्पो वातज्वरसमव्यथः ॥५॥
शोथस्फुरणनिस्तोदभेदायासार्तिहर्षवान् ।

वातविसर्प लक्षण—उपर्युक्त विसर्पों में से वातिक विसर्प में वातज्वर के समान लक्षण होते हैं, तथा यह सूजन, फड़कन, सुइयों के चुभने की सी पीड़ा, तोड़ने की सी व्यथा, परिश्रम करने की सी वेदना तथा रोमाञ्च होता है।

पित्ताद्द्रुतगतिः पित्तज्वरलिङ्गोऽतिलोहितः ॥६॥ [वा. ३।१३]

पैत्तिक विसर्प लक्षण—पित्त के कारण होने वाला विसर्प शीघ्र सर्पण-शील, पित्तज्वर के समानलिङ्ग वाला तथा लोहितवर्ण होता है।

कफात् कण्डूयुतः स्निग्धः कफज्वरसमानरुक् ।

श्लैष्मिक विसर्प लक्षण—श्लेष्मज विसर्प में खुजली, चिकनाहट तथा कफज ज्वर के समान पीड़ा होती है।

सन्निपातसमुत्थश्च सर्वलिङ्गसमन्वितः ॥७॥

सन्निपातज विसर्प लक्षण—सन्निपातज विसर्प में सब दोषों के लक्षण पाए जाते हैं।

मधु०—सर्वेषामेव रक्तादिदूष्यचतुष्टयदोषत्रयजन्यत्वमाह—रक्तमित्यादि। विसर्पस्य समानसामग्रीकत्वेऽपि कुष्ठाद्भेदः कुष्ठाध्याये एव निरूपितः। दोषशब्देनैव वातादिग्रहणे सिद्धे मला

इति यत् कृतं, तदत्यर्थदुष्ट्या शरीरमलिनीकरणत्वं दोषाणां प्रतिपादयितुम् । सन्निपातजेऽसाध्यत्वमपि "सर्वात्मकः क्षतकृतश्च न सिद्धिमेति ॥" (सु. नि. स्था. अ. १०) इति वचनात् । तेन विकृतिविषमसमवेतत्वमस्य । चरके त्वन्तर्जबहिर्जभेदेन विसर्पः पठितः । यदाह—"मर्मोपघातात् संमोहादयनानां विघट्टनात् । तृष्णातियोगाद्वेगानां विषमं च प्रवर्तनात् ॥ विद्याद्विसर्पमन्तर्जमाशु चाग्निबलक्षयात् । अतो विपर्ययाद्बाह्यमन्यं विद्यात् स्वलक्षणैः" (च. चि. स्था. अ. २१) इति ॥४–७॥

सब विसर्प रक्तादि चार दूष्यों तथा वातादि तीनों दोषों से उत्पन्न होते हैं । विसर्प तथा कुष्ठ की समान सामग्री होने पर भी इनका परस्पर भेद कुष्ठ के अध्याय में दिखा दिया गया है । जब दोष शब्द से ही वातादि का ग्रहण सिद्ध हो सकता था फिर मल शब्द प्रयोग क्यों किया गया ? (उत्तर—) दोषों की अत्यन्त दुष्टि से शरीर का मलिन होना बताने के लिये यहां दोष और मल इन दोनों शब्दों का निर्देश किया है । सान्निपातिक विसर्प असाध्य होता है, जैसे महर्षि सुश्रुत ने लिखा है कि—'सन्निपातज विसर्प तथा क्षतज विसर्प ठीक (साध्य) नहीं होते' । इससे इस सन्निपातज विसर्प का विकृतिविषमसमवायपन सिद्ध होता है, क्योंकि यदि यहां प्रकृतिसमसमवाय होता तो यह असाध्य कोटि में नहीं आना चाहिये था । वात, पित्त और कफ से होने वाले विसर्प पृथक् २ रूप में साध्य हैं । उनका सन्निपात प्रकृतिसमसमवाययुक्त तो साध्य होता है परन्तु प्रकृतोक्त सन्निपात साध्य निर्दिष्ट नहीं किया, अतः प्रकृत सन्निपातज विसर्प में विकृतिविषमसमवाय है । चरक ने तो अन्तर्ज तथा बहिर्ज भेद से विसर्प को भिन्न किया है । जैसे—मर्म स्थान पर चोट लगने से, संमोह से, स्रोतों के बन्द होने से, अधिक प्यास से, वेगों के ठीक प्रवृत्त न होने से एवं अग्नि के मन्द होने से अन्तर्ज विसर्प हो जाता है । इससे विपरीत लक्षणों वाले विसर्प को बाह्यज विसर्प जानना चाहिए (च. चि. स्था. अ. २१) ।

अग्निविसर्पस्य लक्षणमाह—

वातपित्ताज्ज्वरच्छर्दिमूर्च्छातीसारतृड्भ्रमैः ।
ग्रन्थिभेदाग्निसदनतमकारोचकैर्युतः ॥८॥
करोति सर्वमङ्गं च दीप्ताङ्गारावकीर्णवत् ।
यं यं देशं विसर्पश्च विसर्पति भवेत् स सः ॥९॥ [वा० ३।१३]
शान्ताङ्गारासितो नीलो रक्तो वाऽऽशु च चीयते ।
अग्निदग्ध इव स्फोटैः शीघ्रगत्वाद्द्रुतं स च ॥१०॥ [वा० ३।१३]
मर्मानुसारी वीसर्पः स्याद्वातोऽतिबलस्ततः ।
व्यथतेऽङ्गं हरेत्संज्ञां निद्रां च श्वासमीरयेत् ॥११॥ [वा० ३।१३]
हिक्कां च स गतोऽवस्थामीदृशीं लभते न ना ।
क्वचिच्छर्मारतिग्रस्तो भूमिशय्यासनादिषु ॥१२॥ [वा० ३।१३]
चेष्टमानस्ततः क्लिष्टो मनोदेहप्रमोहवान् ।
दुष्प्रबोधोऽश्नुते निद्रां सोऽग्निवीसर्प उच्यते ॥१३॥

वातपैत्तिक अर्थात् आग्नेयविसर्प में बुखार, वमन, संज्ञानाश, अतीसार, प्यास, चक्कर आना, ग्रन्थियों का टूटना, अग्नि का मन्द होना, तमकश्वास तथा

अरोचक होता है, एवं सारे अङ्ग जलते हुए अङ्गारों के समान प्रतीत होते हैं। जहां २ पर विसर्प प्रसरण करता है वहीं २ अङ्ग जलते हुए अङ्गारों से व्याप्त प्रतीत होता है। रुग्ण स्थान बुझे हुए अङ्गार के समान कृष्णवर्ण, नीलवर्ण अथवा रक्तवर्ण को धारण कर लेता है और जल्दी २ बढ़ता जाता है। एवं अग्निदग्ध सदृश स्फोटों से युक्त वह शीघ्र गति वाला होने से जल्दी २ मर्मस्थानों में चला जाता है। इसके अनन्तर वायु अधिक बलवान् हो जाता है, जिससे कि अङ्गों में व्यथा होती है, संज्ञानाश हो जाती है और निद्रा नहीं आती, श्वास बढ़ जाता है और हिचकी लग जाती है। ऐसी अवस्था में होकर मनुष्य को कहीं भी शान्ति नहीं मिलती। वह बेचैनी से युक्त होकर भूमि, शय्या तथा आसन पर लोट पोट होने लगता है, और उसका मन तथा देह मोहयुक्त हो जाते हैं। इस रोग के रोगी को तदनु ऐसी निद्रा आ जाती है कि वह जगाने पर भी नहीं जगता अर्थात् उसे महानिद्रा (मरणात्मिका मृत्युरूपा वा) आ जाती है। इन लक्षणों वाले रोग को अग्निविसर्प कहते हैं।

मधु०—आग्नेयविसर्पमाह—वातपित्तादित्यादि। दीप्ताङ्गारावकीर्णवदिति ज्वलदङ्गारेणैव व्याप्तमङ्गं मन्यते। शान्ताङ्गारासित इति निर्वाणाङ्गारवत् कृष्णवर्णः स देशो भवति। नीलो रक्तो वेति स देशः स्निग्धनीलो रक्तो वा भवति। अग्निदग्ध इवेति अग्निदग्धदेश इव। शीघ्रगत्वादिति शीघ्रकारित्वात्। मर्मानुसारी हृदयाद्यनुसारी। व्यथतेऽङ्गमित्यत्रान्तर्भावितो णयर्थः, तेन व्यथयतीत्यर्थः। निद्रां चेत्यत्र हरेदिति संबध्यते। शर्म सुखम्। दुष्प्रबोधोऽश्नुते निद्रामिति निद्रां मरणरूपां प्राप्नोति ॥८-१३॥

मर्म स्थानों को आश्रित कर लेता है अर्थात् हृदय आदि मर्म स्थानों में पहुँच जाता है। यहां 'निष्प्रबोधोऽश्नुते निद्राम्' का अर्थ महानिद्रा है (मरना है)।

ग्रन्थिविसर्पस्य लक्षणमवतारयति—

कफेन रुद्धः पवनो भित्त्वा तं बहुधा कफम्।
रक्तं वा वृद्धरक्तस्य त्वक्सिरास्नायुमांसगम् ॥१४॥ [वा० ३।१३]
दूषयित्वा तु दीर्घाणुवृत्तस्थूलखरात्मनाम्।
ग्रन्थीनां कुरुते मालां सरक्तां तीव्ररुग्ज्वराम् ॥१५॥
श्वासकासातिसारास्यशोषहिक्कावमिभ्रमैः।
मोहवैवर्ण्यमूर्च्छाङ्गभङ्गाग्निसदनैर्युताम् ॥१६॥ [वा० ३।१३]
इत्ययं ग्रन्थिवीसर्पः कफमारुतकोपजः।

अपने कारणों से कुपित हुए २ कफ से रुका हुआ स्वहेतु से कुपित वायु कफ का भेदन करके अर्थात् फैला कर बढ़े हुए रक्त वाले मनुष्य की त्वचा, मांस, सिरा और स्नायु में स्थित रक्त को दूषित कर लम्बी, छोटी, गोल, मोटी, और कठिन ग्रन्थियों की पंक्ति बना देता है, जिनमें रक्त होता है तथा जो कि तीव्र पीड़ा और ज्वर को करती है। खांसी, दमा, दस्त, मुख का सूखना, हिचकी, कय,

चक्कर, संज्ञानाश, वा मैलापन, मूर्च्छा, अङ्गों का टूटना और अग्नि का मन्द होना, यह लक्षण कफवात से होने वाले ग्रन्थिविसर्प के होते हैं।

मधु०—ग्रन्थिविसर्पमाह—कफेन रुद्ध इत्यादि । कफेनेति स्वहेतुकुपितेन, पवनः स्वहेतुकुपितः, तेन कफमारुतजत्वमस्योपपन्नं भवति। भित्त्वा तं वहुधा कफमिति कफं विस्तार्य। रक्तं वेति दूषयित्वेत्यनेन वक्ष्यमाणेन संबध्यते । दीर्घाणुवृत्तस्थूलखरात्मनामिति वृत्तं वर्तुलं, स्थूलमुच्छूनं, खरं कठिनम्, एवंरूपाणां ग्रन्थीनां मालां करोति, अयं च ग्रन्थिविसर्पः सुश्रुतेऽपचीसंज्ञया पठ्यते ॥१४-१६॥

यही ग्रन्थिविसर्प सुश्रुत में अपची नाम से बताया गया है।

कर्दमविसर्पस्य स्वरूपमाह—

कफपित्ताज्ज्वरः स्तम्भो निद्रा तन्द्रा शिरोरुजा ॥१७॥ [वा० ३।१३]
अङ्गावसादविक्षेपौ प्रलेपारोचकभ्रमाः।
मूर्च्छाग्निहानिर्भेदोऽस्थ्नां पिपासेन्द्रियगौरवम् ॥१८॥ [वा० ३।१३]
आमोपवेशनं लेपः स्रोतसां स च सर्पति।
प्रायेणामाशयं गृह्णन्नेकदेशं न चातिरुक् ॥१९॥ [वा० ३।१३]
पिडकैरवकीर्णोऽतिपीतलोहितपाण्डुरैः ।
स्निग्धोऽसितो मेचकाभो मलिनः शोथवान् गुरुः ॥२०॥
गम्भीरपाकः प्राज्योष्मा स्पृष्टः क्लिन्नोऽवदीर्यते।
पङ्कवच्छीर्णमांसश्च स्पष्टस्नायुसिरागणः ॥२१॥ [वा० ३।१३]
शवगन्धी च वीसर्पः कर्दमाख्यमुशन्ति तम्।

श्लेष्म पित्त से होने वाले कर्दमविसर्प में बुखार, जकड़ाहट, नींद, तन्द्रा, विना श्रम के थकावट, सिर में पीड़ा, अङ्गों में अवसाद (धीमी २ वेदना), अङ्गों का विक्षेप (इधर उधर पटकना), प्रलेप, अरोचक, भ्रम, मूर्च्छा, अग्निमान्द्य, हड्डियों का टूटना, प्यास, इन्द्रियों में भारीपन, आम मल की प्रवृत्ति और श्लेष्मा से स्रोतों की लिप्तता होती है। यह विसर्प प्रायः आमाशय की ओर जाकर और उसे ग्रहण कर अर्थात् आमाशय की ओर चल कर तथा उसे प्राप्त कर एकदेशव्यापी हो जाता है और इसमें अधिक पीड़ा नहीं होती। एवं अधिक पीले, लाल तथा पाण्डुर वर्ण वाली पिडकाओं से व्याप्त, चिकना, कृष्णवर्ण, सुरमें के समान मैले वर्ण वाला, शोथयुक्त, भारी, गहरे पाक वाला, अत्यधिक ऊष्मायुक्त और क्लेदान्वित यह अवदीर्ण हो जाता है। इसमें कीचड़ की तरह मांस गल जाता है, स्नायु तथा सिरा समूह स्पष्ट हो जाते हैं और मुर्दे की सी गन्ध आने लगती है। इस विसर्प को वैद्यविद्याविशारद आचार्य कर्दम नाम से पुकारते हैं।

मधु०—कर्दमविसर्पमाह—कफपित्तादित्यादि । स्तम्भ इति गात्रस्य स्तब्धता, आमोपवेशनमामस्य वर्चसस्त्यजनम् । स च सर्पति प्रायेणामाशयं गृह्णन्नेकदेशमिति कफपित्तयोरामा-

शयस्थत्वात् प्रायेणामाशये भवन्नेकदेशव्यापी भवतीत्यर्थः । पिडकैरिति पिडकाभिः । मलिन इति मलदिग्धः । गम्भीरपाक इत्यन्तःपाकः, प्राज्योष्मा प्रचुरोष्मा । स्पष्टस्नायुसिरागण इति पूतिमांसगलेन स्नाय्वादीनां स्पष्टता । कर्दमाख्यमुशन्ति तमिति तं कर्दमसारूप्यात् कर्दमाख्यमिच्छन्ति ॥१७–२१॥

स्तम्भ शब्द से गात्रों की जकड़ाहट ली जाती है । आमोपवेशन—अर्थात् आम मल का त्याग करना । 'स च' इत्यादि वाक्य का भाव यह है कि—कफ और पित्त के आमाशयस्थ होने से यह विसर्प (कफपित्तज होने के कारण) प्रायः आमाशय में होता हुआ एकदेशव्यापी हो जाता है । कर्दमाख्यमिति—कर्दम के समान रूप होने के कारण इसको कर्दम नाम से पुकारते हैं ।

क्षतजविसर्पस्य लक्षणमाह—

बाह्यहेतोः क्षतात् क्रुद्धः सरक्तं पित्तमीरयन् ॥२२॥ [वा० ३।१३]
वीसर्पं मारुतः कुर्यात् कुलत्थसदृशैश्चितम् ।
स्फोटैः शोथज्वररुजादाहाढ्यं श्यावशोणितम् ॥२३॥ [वा० ३।१३]

विसर्पस्य उपद्रवानाह—

ज्वरातिसारौ वमथुस्त्वङ्मांसदरणं क्लमः ।
अरोचकाविपाकौ च विसर्पाणामुपद्रवाः ॥२४॥

बाह्य कारणों से क्षत द्वारा कुपित हुआ २ वायु रक्त सहित पित्त को साथ लेकर कुल्थी के सदृश स्फोटों से व्याप्त विसर्प को उत्पन्न करता है । इसमें सूजन, बुखार, पीड़ा और जलन होती है, एवं यह श्याम तथा लालवर्ण का होता है । विसर्पों के उपद्रव—बुखार, दस्त, वमि, त्वचा का गलना, मांस का गलना, बिना श्रम के थकावट, अरोचक और अविपाक (अन्न का न पचना), ये विसर्पों के उपद्रव हैं ।

मधु०—क्षतविसर्पमाह—बाह्यहेतोरित्यादि । अयं च पित्तजे विसर्पेऽन्तर्भावनीयः, तेन न संख्याधिक्यम् । तथाच भोजः—"शस्त्रप्रहारैस्तैस्तैस्तु व्याडदन्तनखैरपि । क्षते वाऽप्यथवा भग्ने बहुदोषस्य देहिनः ॥ रक्तं पित्तं च कुपितं व्रणमाशु प्रपद्यते । कुरुतस्ते समेते तु व्रणशोथं सुदारुणम् ॥ आचितं तनुविस्फोटैः कृष्णैः पीतकसन्निभैः । पित्तवीसर्पवल्लिङ्गं तस्य शेषं विनिर्दिशेत् ॥" इति ॥२२–२४॥

इस क्षतज विसर्प का पित्तज विसर्प में अन्तर्भाव कर लेना चाहिए । इस प्रकार अन्तर्भाव से विसर्पों की संख्यावृद्धि नहीं होती । इसका पैत्तिक विसर्प में अन्तर्भाव होता है । इस विषय पर आचार्य भोज भी कहते हैं कि—'शस्त्रप्रहारैः' इत्यादि ।

वक्तव्य—पूर्व सात विसर्पों की गणना की गई है और यहां पर एक क्षतज विसर्प का भी वर्णन कर दिया है, एवं इसकी भी गणना करने से संख्या में अधिकता आ जाती है । इस पर आचार्य श्रीकण्ठदत्त जी कहते हैं कि—इसका पित्तज विसर्प में अन्तर्भाव कर लेना चाहिए, एवं पित्तज विसर्प में इसका अन्तर्भाव कर लेने से संख्या में अधिकता नहीं आती । इसका पित्तज क्षत में अन्तर्भाव होता है । इस विषय में भोज का प्रमाण भी है ।

तद्यथा—'उन २ शस्त्र प्रहारों से, हिंसक जीवों के दांतों तथा नखों से क्षत होने पर अथवा भग्न होने पर बहुत दोषयुक्त मनुष्य के शरीर में रक्त और पित्त कुपित होकर व्रण को प्राप्त कर लेते हैं; और उसके अनन्तर वे मिलकर बहुत कठोर व्रणशोथ कर देते हैं, तथा वह शोथ कृष्णवर्ण तथा पीतवर्ण के छोटे २ स्फोटों से व्याप्त होती है। इस (क्षतजविसर्प) के शेष लक्षण पैत्तिक विसर्प की तरह होते हैं'। इस प्रमाण द्वारा इस विसर्प का अन्तर्भाव पित्तविसर्प में करने से संख्यातिरेक नहीं होता।

एषां साध्यत्वादिकमाह—

सिध्यन्ति वातकफपित्तकृता विसर्पाः
सर्वात्मकः क्षतकृतश्च न सिद्धिमेति।
पित्तात्मकोऽञ्जनवपुश्च भवेदसाध्यः
कृच्छ्राश्च मर्मसु भवन्ति हि सर्व एव ॥२५॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने विसर्पनिदानं समाप्तम् ॥५२॥

वात, कफ और पित्त के कारण से उत्पन्न होने वाले विसर्प ठीक हो जाते हैं, परन्तु सन्निपात तथा क्षत के कारण उत्पन्न होने वाले विसर्प ठीक नहीं होते अर्थात् असाध्य होते हैं। अञ्जन के समान शरीर (वर्ण) वाला पित्तात्मक विसर्प भी असाध्य होता है, एवं मर्मस्थानों में होने वाले सभी विसर्प कृच्छ्रसाध्य होते हैं।

मधु०—साध्यत्वादिकमाह—सिध्यन्तीत्यादि। पित्तात्मकोऽञ्जनवपुरिति अत्यन्तमुद्रिक्त-पित्तोऽञ्जनसमवर्णतनुः, अग्निविसर्पाख्यो न साध्य इति व्याख्यानयन्ति। कृच्छ्राश्च मर्मस्विति असाध्यत्वेन कृच्छ्रत्वं बोद्धव्यम्। यदाह भोजः—"वर्ज्यस्तु क्षतजस्तेषां सन्निपातात्तु यो भवेत्। भिषजा जानता त्याज्याः सर्वे एव तु मर्मजाः॥" इति ॥२५॥

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायां विसर्पनिदानं समाप्तम् ॥५२॥

'पित्तात्मकोऽञ्जनवपुः' का अर्थ अत्यन्त बढ़े हुए पित्त वाला तथा अञ्जन के समान वर्ण से युक्त शरीर वाला (अञ्जनाभ इत्यर्थः) अग्निविसर्प नामक विसर्प साध्य नहीं है, यह टीकाकार कहते हैं। मर्मप्रदेशों में होने वाले विसर्प कृच्छ्रसाध्य होते हैं, यहां यह कृच्छ्रसाध्यता असाध्यपन के कारण जाननी चाहिए। जैसे भोज ने भी कहा है कि—'उन विसर्पों में से जो विसर्प क्षत के कारण होता है; वह, तथा जो विसर्प सान्निपातिक होता है; वह, एवं हृदयादि मर्मस्थानों में होने वाले सभी विसर्प ज्ञानी वैद्य से छोड़ने योग्य होते हैं' अर्थात् इन विसर्पों को विद्वान् वैद्य छोड़ दें क्योंकि ये असाध्य होते हैं।

अथ विस्फोटनिदानम्[1]।

विस्फोटस्य निदानमाह—

कट्वम्लतीक्ष्णोष्णविदाहिरूक्ष-
क्षारैरजीर्णाध्यशनातपैश्च ।

---

१ नाम—सं० विस्फोट, इं० एक्सेन्थीमेटा (Exenthymeta).

तथर्तुदोषेण विपर्ययेण
कुप्यन्ति दोषाः पवनादयस्तु ॥१॥

तत्संप्राप्तिमाह—

त्वचमाश्रित्य ते रक्तमांसास्थीनि प्रदूष्य च।
घोरान् कुर्वन्ति विस्फोटान् सर्वान् ज्वरपुरःसरान् ॥२॥

कड्डुवे, खट्टे, तीखे, गरम, विदाही, रूखे और खारे पदार्थों के प्रयोग से; जीर्ण न होने पर भी भोजन कर लेने, भोजन पर भोजन करने, धूप का सेवन करने, ऋतु के दोष से तथा ऋतु के विपर्यय से वातादिक दोष कुपित हो जाते हैं। तदनु वे दोष त्वचा का आश्रय लेकर एवं रक्त, मांस तथा अस्थियों को दूषित करके ज्वरपूर्वक सभी स्फोट उपजाते हैं।

मधु०—प्रायेण दोषदूष्यचिकित्सासाम्याद्विस्फोटनिदानमाह—कट्वित्यादि। अजीर्णाध्यशनातपैश्चेति अजीर्णाशनमपक्वद्रव्यस्याशनम्, अध्यशनमजीर्णे भोजनम्, अथवा अजीर्णं स्वरूपतो हेतुरध्यशनं च। ऋतुदोषेणेति शीतोष्णादीनामतियोगेन। विपर्ययेणेति ऋतुविपर्ययश्च ऋतुस्वभावस्यान्यथाभावः। एभिर्हेतुभिर्यथासंभवं प्रत्येकं दोषत्रयप्रकोपो बोद्धव्यः। ज्वरपुरःसरानित्यनेन ज्वरस्य पूर्वरूपतां दर्शयति ॥१-२॥

आचार्य माधव दोष, दूष्य तथा चिकित्सा की प्रायः समानता होने के कारण विसर्प के अनन्तर विस्फोट के निदान को 'कटु'इत्यादि से कहता है। अजीर्णाशन का तात्पर्य अपक्वद्रव्य का खाना है। अध्यशन—पूर्वकृत भोजन के जीर्ण न होने पर भी पुनः भोजन कर लेने को कहते हैं। अथवा—अजीर्ण तथा अध्यशन स्वरूप से (स्वत एव) हेतु है। 'ऋतुदोषेण' का तात्पर्य शीतोष्णादि के अतियोग से है। ऋतुविपर्यय अर्थात् मौसम का अन्यथा होना, यह अर्थ है। इसका उदाहरण जैसे कि—ग्रीष्मकाल में शीत का होना तथा शीतकाल में गर्मी का होना यह ऋतु विपर्यय है। 'ज्वरपुरःसरान्' से ज्वर का पूर्वरूप के रूप में प्रदर्शन किया है।

विस्फोटस्य सामान्यस्वरूपमाह—

अग्निदग्धनिभाः स्फोटाः सज्वरा रक्तपित्तजाः।
क्वचित् सर्वत्र वा देहे विस्फोटा इति ते स्मृताः ॥३॥

वातिकविस्फोटस्य लक्षणमाह—

शिरोरुक् शूलभूयिष्ठं ज्वरस्तृट् पर्वभेदनम्।
सकृष्णवर्णता चेति वातविस्फोटलक्षणम् ॥४॥

पैत्तिकविस्फोटस्य लक्षणमाह—

ज्वरदाहरुजास्रावपाकतृष्णाभिरन्वितम्।
पीतलोहितवर्णं च पित्तविस्फोटलक्षणम् ॥५॥

श्लैष्मिकविस्फोटकस्य लक्षणमाह—

छर्द्यरोचकजाड्यानि कण्डूकाठिन्यपाण्डुताः।
अवेदनश्चिरात्पाकी स विस्फोटः कफात्मकः ॥६॥

द्वन्द्वजविस्फोटानां लक्षणान्याह—

वातपित्तकृतो यस्तु कुरुते तीव्रवेदनाम् ।
कण्डूस्तैमित्यगुरुभिर्जानीयात्कफवातिकम् ॥७॥
कण्डूर्दाहो ज्वरश्छर्दिरेतैस्तु कफपैत्तिकः ।

अग्नि से जले हुए के समान, ज्वरयुक्त, रक्तपित्तजन्य जो स्फोट शरीर में कहीं २ अथवा सब जगह होते हैं, उन्हें विस्फोट कहते हैं। वातिकविस्फोट-लक्षण—वातिकविस्फोट में सिर में पीड़ा होती है, शूल अधिक होता है, ज्वर होता है, प्यास लगती है, पाँव टूटते हैं, और वर्ण काला होता है। ये वातिकविस्फोट के लक्षण हैं। पैत्तिकविस्फोटलक्षण—ज्वर, दाह, पीड़ा, स्राव, पाक तथा तृष्णा से युक्त पीत एवं रक्तवर्ण के स्फोटों का होना पित्तजविस्फोट के लक्षण हैं। श्लैष्मिकविस्फोटलक्षण-वमन, अरोचक, जड़ता, खुजली, कठिनता तथा पाण्डुता होनी एवं वेदना न होनी तथा चिर से पकना; ये श्लैष्मिकविस्फोट के लक्षण हैं। वातपैत्तिकविस्फोटलक्षण—वातपित्तकृत विस्फोट में तीव्र वेदना होती है एवं खुजली, तथा गीले कपड़े से आवृत सी अङ्गों की प्रतीति और गुरुता होती है, ये लक्षण कफवातात्मकविस्फोट के जानने चाहिएं। कफपैत्तिक-विस्फोटलक्षण—कफपित्तज विस्फोट में खुजली, दाह, बुखार और छर्दि ये लक्षण होते हैं।

मधु०—विस्फोटस्वरूपमाह—अग्निदग्धनिभा इत्यादि । रक्तपित्तजा इति सर्वत्रैव विस्फोटे रक्तपित्तयोरव्यभिचारित्वं, यथा शूले वातस्य; वातानुबन्धोऽप्यत्र बोद्धव्यः । यदाह भोजः—"यदा रक्तं च पित्तं च वातेनानुगतं त्वचि । अग्निदग्धनिभान् स्फोटान् कुरुतः सर्वदेहगान् ॥ सज्वरान् सपरीदाहान् विद्याद्विस्फोटकांस्तु तान् ॥" इति ॥३-७॥

अब आचार्य अग्निदग्धेत्यादि से विस्फोट के स्वरूप को कहते हैं। उपर्युक्त श्लोक में 'रक्तपित्तजाः' शब्द का यह भाव है कि—सब विस्फोटों में रक्त और पित्त निश्चितरूप से होते हैं, जिस प्रकार कि (सभी) शूलों में वायु [भाव यह है कि सभी शूलों में वायु अव्यभिचारीरूप में रहता है, चाहे वह शूलपैत्तिक हो वा श्लैष्मिक; एवं जैसे यहाँ वायु अव्यभिचारीरूप में रहता है, वैसे प्रकृत (विस्फोटों) में रक्त और पित्त अव्यभिचारी (निश्चित) रूप से रहते हैं]। यहां पर (विस्फोट में) वात का अनुबन्ध भी जानना चाहिए। जैसे भोज ने भी कहा है कि—जब रक्त और पित्त वायु से अनुगत होकर त्वचा में जाकर अग्निदग्ध के समान सारे शरीर में स्फोटों को करता है, तो ज्वरयुक्त, एवं परि-दाह वाले उन स्फोटों को विस्फोटक जानना चाहिए।

त्रिदोषजविस्फोटस्य स्वरूपमाह—

मध्ये निम्नोन्नतोऽन्ते च कठिनोऽल्पप्रपाकवान् ॥८॥
दाहरागतृषामोहच्छर्दिमूर्च्छारुजाज्वराः ।
प्रलापो वेपथुस्तन्द्रा सोऽसाध्यः स्यात्त्रिदोषजः ॥९॥

बीच में झुका हुआ, पार्श्वों से उन्नत, कठिन तथा थोड़े पाक वाला, दाह, लालिमा, प्यास, मोह, छर्दि, मूर्च्छा, पीड़ा, ज्वर, प्रलाप, कम्पन और तन्द्रा वाला स्फोट सान्निपातिक होता है अर्थात् सन्निपातज विस्फोट में ये लक्षण होते हैं।

मधु०—सान्निपातिकलक्षणमाह—मध्य इत्यादि । मध्ये निम्नोन्नतोऽन्ते चेति मध्ये निम्नोऽन्ते चोन्नत इत्यर्थः । निम्नोन्नत इति प्रयोगोऽसिद्धस्यानित्यत्वेन । एवं संपूर्णलक्षणो यस्त्रिदोषजः सोऽसाध्यः ॥८-९॥

सान्निपातिकलक्षणमाहेत्यादि स्पष्ट ही है।

रक्तजविस्फोटस्य लक्षणमाह—

रक्ता रक्तसमुत्थाना गुञ्जाविद्रुमसन्निभाः ।
वेदितव्यास्तु रक्तेन पैत्तिकेन च हेतुना ॥१०॥
न ते सिद्धिं समायान्ति सिद्धैर्योगशतैरपि ।

विस्फोटानां साध्यत्वादिकमाह—

एकदोषोत्थितः साध्यः कृच्छ्रसाध्यो द्विदोषजः ॥
सर्वदोषोत्थितो घोरस्त्वसाध्यो भूर्युपद्रवः ॥११॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने विस्फोटनिदान समाप्तम् ॥५३॥

रक्त के कारण उत्पन्न हुए २ रत्ती तथा प्रवाल (मूंगे) के सदृश लालवर्ण के स्फोट, रक्त से तथा पैत्तिक कारणों से होते हैं। ये विस्फोट सैकड़ों योगों से भी ठीक नहीं होते। साध्यासाध्यनिर्देशः—एक दोष से होने वाले स्फोट साध्य होते हैं और दो दोषों से होने वाले कृच्छ्रसाध्य एवं तीनों दोषों से होने वाले तथा बहुत उपद्रवों वाले स्फोट असाध्य होते हैं।

मधु०—रक्तजलक्षणमाह—रक्ता इत्यादि। रक्तसमुत्थाना इति लक्ष्यपदं, वेदितव्यास्तु रक्तेनेति लक्षणपदं, यथा अश्मरीहेतु तत्पूर्वमिति; अयमर्थः—रक्तसमुत्थानाश्च विस्फोटा भवन्ति ते च कथं विज्ञेया इत्यत उक्तं वेदितव्यास्तु रक्तेनेति; अथवा रक्तसमुत्थाना इति रक्तं समुत्थापयन्तीति निरुच्य रक्तच्छर्दनमभिमतमाचार्यस्य, वेदितव्यास्तु रक्तेनेति पदस्य कारणद्योतकस्याव्यवस्थानात् । घोरोऽत्यन्तदुःखदः । भूर्युपद्रव इति अत्र विसर्पोक्त एवोपद्रवो ज्ञेयः ॥१०-११॥

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायां विस्फोटनिदानं समाप्तम् ॥५३॥

(रक्तसमुत्थानेत्यादि—) रक्त है कारण जिनका यह लक्ष्यपद है और रक्त से जान लेने चाहिएं यह लक्षण पद है, जैसे अश्मरी का कारण उससे पूर्व होता है। इसका तात्पर्य यह है कि (जो) रक्त की हेतुता के कारण विस्फोट होते हैं, उनका ज्ञान कैसे हो? इस पर आचार्य ने कहा है कि रक्त से उनका ज्ञान करना चाहिए। अथवा आचार्य का यह मत है कि यहां पर 'रक्तं समुत्थापयन्ति' यह निरुक्ति कर रक्त का वमन होता है, यह तात्पर्य निकलता है क्योंकि 'वेदितव्यास्तु रक्तेन' (रक्त में जान लेने चाहिएं) इस पद से कारण द्योतक का व्यवस्थान नहीं होता। 'भूर्युपद्रवः' यहां विसर्पोक्त उपद्रव जानने चाहिएं।

———

अथ मसूरिकानिदानम्[1] ।

मसूरिकाया निदानपूर्विकां संप्राप्तिमाचष्टे—

कट्वम्ललवणक्षारविरुद्धाध्यशनाशनैः ।
दुष्टनिष्पावशाकाद्यैः प्रदुष्टपवनोदकैः ॥१॥
क्रूरग्रहेक्षणाच्चापि देशे दोषाः समुद्धताः ।
जनयन्ति शरीरेऽस्मिन् दुष्टरक्तेन सङ्गताः ॥२॥
मसूराकृतिसंस्थानाः पिडकाः स्युर्मसूरिकाः ।

तस्याः पूर्वरूपमवतारयति—

तासां पूर्वं ज्वरः कण्डूर्गात्रभङ्गोऽरतिर्भ्रमः ॥३॥
त्वचि शोथः सवैवर्ण्यो नेत्ररागश्च जायते ।

कड़वे, खट्टे, नमकीन, खारे, विरोधी (दूध मछली आदि) और भोजन के ऊपर विरुद्ध भोजन करने से; दुष्ट अन्न और मटरों के शाक आदि के सेवन से तथा जलवायु के दुष्ट होने से एवं क्रूर ग्रहों के दृष्टिपात से दोषवृद्धि को प्राप्त हो दुष्टरक्त से मिलकर इस शरीर में मसूर के दानों जैसी पिडकाओं को उपजा देते हैं। इन पिडकाओं को मसूरिका कहते हैं। मसूरिका के पूर्वरूप—मसूरिका की उत्पत्ति से पूर्व बुखार, खुजली, गात्रों में टूटन सी, बेचैनी, चक्करों का आना, त्वचा में सूजन, विवर्णता (वेरौनकी) तथा नेत्रों में लालिमा हो जाती है।

वक्तव्य—भाव यह है कि 'तासां पूर्वं ज्वरः' इत्यादि लक्षण मसूरिका की पूर्वरूपावस्था को बताते हैं, अतः ये ही मसूरिका के पूर्वरूप हैं। इस रोग का 'मसूरिका' यह नाम मसूर के दानों जैसी आकृति तथा वर्ण वाली पिडकाओं के होने से रक्खा है, क्योंकि रोगों के नामकरण की व्यवस्था आचार्यों ने वर्ण और आकृति आदि के अनुसार भी बताई है। तद्यथा—"व्यवस्थाकरणं तेषां यथा स्थूलेषु संग्रहः। रुजावर्णसमुत्थानस्थानसंस्थाननामभिः" इति (चरकः)। एवं मसूरिका, कच्छपिका, कोष्टुशीर्ष आदि रोगों के नाम भी इसी व्यवस्था के अनुसार जानने चाहिएं। साथ ही प्रकृत में 'मसूर' यह उपलक्षण है एवं मुद्ग आदि के समान भी ये होती हैं, किन्तु इनका वर्ण लाल ही होता है। एवं वर्ण में तो इनमें सर्वत्र मसूर की समता मिलती है किन्तु आकृति में कहीं कहीं।

मधु०—विस्फोटप्रभेदत्वात् प्रायेण तुल्यनिदानत्वाच्च मसूरिकानिदानम् 'तस्या निदानपूर्विकां संप्राप्तिमाह— कट्वम्लेत्यादि। विरुद्धाध्यशनाशनैरिति विरुद्धैरन्नैरध्यशनैश्च। 'विरुद्धाध्यशनेन तु' इति पाठो वा। दुष्टनिष्पावशाकाद्यैरिति दुष्टं व्यापन्नमन्नं, निष्पावः शिम्बिबीजम्, आद्यशब्दान्मध्वालुकादिग्रहणम्। प्रदुष्टपवनोदकैरिति विषकुसुमादिसंस्पर्शात् प्रदुष्टः पवनस्तथोदकं च तैः। क्रूरग्रहेक्षणाच्चेति शनैश्चरादयो देशक्षोभकराः क्रूरग्रहास्तेषामीक्षणात्। दुष्टरक्तेन सङ्गता इत्यनेन

१ नाम—मसूरिका, बड़ी माता, चेचक, स्माल पाक्स (Small pox).

रक्तस्य कट्वम्लादिभिर्हेतुभिर्विशेषेण कोपं दर्शयति । अत एवोक्तं तन्त्रान्तरे—"पित्तं शोणित-संसृष्टं यदा दूषयति त्वचम् । तदा करोति पिडकाः सर्वगात्रेषु देहिनाम् ॥ मसूरमुद्गमाषाणां तुल्याः कोलोपमा अपि । मसूरिकास्तु ता ज्ञेयाः पित्तरक्ताधिका बुधैः"—इति ॥१-३॥

यह रोग (मसूरिका) भी एक प्रकार से विस्फोट का प्रभेद होने के कारण तथा दोनों का निदान समान होने के कारण अब मसूरिका का निदान बताया जाता है। 'विरुद्धाध्यशनाशनैः' से विरुद्ध अध्यशन और अन्न का सेवन, यह भाव लिया जाता है। अथवा—यहां 'विरुद्धाध्यशनेन तु' यह पाठान्तर मानकर 'विरुद्ध अध्यशन से (यह रोग हो जाता है)' यह अर्थ निकलता है। दुष्टेत्यादि—दुष्ट शब्द से प्रकृत में व्यापन्न अन्न यह अर्थ लिया जाता है, और निष्पाव शिम्बी के बीजों को कहते हैं। आद्य शब्द से यहां मध्वालुक आदि लिए जाते हैं। 'प्रदुष्टपवनोदकैः' का भाव जहरीले फूल आदि के स्पर्श से जलवायु की दुष्टि हो जाती है, अतः उनसे यह रोग उपज आता है। क्रूरग्रहेक्षणात्—का भाव शनैश्चर आदि क्रूर ग्रहों का चतुर्थ, अष्टम वा द्वादश घर में आता है (शनैश्चर जब मनुष्य के चौथे, आठवें वा बाहरवें घर में आता है तो भी यह रोग हो जाता है। एवं अन्य राहु आदि क्रूर ग्रह भी जब मनुष्य की कुण्डली में विपरीत पड़े होते हैं तब भी यह रोग हो जाता है। इनकी विपरीतता तथा अनुकूलता का ज्ञान ज्योतिषशास्त्र द्वारा कहना चाहिए)। इनके दृष्टिपात से भी यह रोग हो जाता है; यह है। 'दुष्टरक्तेन सङ्गता' इत्यादि से कटु अम्ल आदि कारणों से आचार्य ने विशेष प्रकोप को दर्शाया है। इसी कारण अन्य तन्त्रों में भी कहा है कि—'शोणित से मिला हुआ पित्त जब त्वचा को दूषित करता है, तब मनुष्य के सारे शरीर में पिडकाएं उत्पन्न कर देता है। वे पिडकाएं मसूर, मूंग, माष और बदरीफल (बेर) के समान होती हैं। पित्त और रक्त की बहुलता वाली इन्हीं पिडकाओं को मसूरिका नाम से जानना चाहिए'।

वातजमसूरिकायाः स्वरूपमाह—

स्फोटाः श्यावारुणा रूक्षास्तीव्रवेदनयाऽन्विताः ॥४॥
कठिनाश्चिरपाकाश्च भवन्त्यनिलसंभवाः ।
सन्ध्यस्थिपर्वणां भेदः कासः कम्पोऽरतिः क्लमः ॥५॥
शोषस्ताल्वोष्ठजिह्वानां तृष्णा चारुचिसंयुता ।

वातज मसूरिका में स्फोट श्याववर्ण, अरुणवर्ण, रूक्ष, तीव्रपीड़ान्वित, कठिन तथा चिरपाकी होते हैं। और इनमें शारीरिक लक्षण सन्धियों का भेद, अस्थियों का भेद, पर्वों का भेद, खांसी, कम्पकम्पी, अरति (निर्वेद), क्लम, तालुशोष, ओष्ठशोष, जिह्वाशोष, तृष्णा और अरोचक ये होते हैं।

मधु०—वातजामाह—स्फोटा इत्यादि । चिरपाका इति विकारप्रभावात् ॥४-५॥
वातजामाहेत्यादि की भाषा सरल ही है।

पित्तजमसूरिकाया लक्षणमाह—

रक्ताः पीतसिताः स्फोटाः सदाहास्तीव्रवेदनाः ॥६॥
भवन्त्यचिरपाकाश्च पित्तकोपसमुद्भवाः ।
विड्भेदश्चाङ्गमर्दश्च दाहस्तृष्णाऽरुचिस्तथा ॥७॥
मुखपाकोऽक्षिरागश्च ज्वरस्तीव्रः सुदारुणः ।

पित्त के प्रकोप से होने वाले मसूरिका नामक रोग में स्फोट; लाल, पीले, श्वेत, दाहान्वित, तीव्र वेदनायुक्त और शीघ्रपाकी होते हैं। इसका भाव यह है कि पित्तकोप से होने वाली मसूरिका लाल, पीले तथा कृष्णवर्ण के स्फोटों से युक्त होती है, और इन (स्फोटों) में दाह तथा तीव्र पीड़ा होती है, एवं इनमें पाक भी शीघ्र होता है। ये स्थानिक (स्फोटों) के लक्षण हैं। इनमें शारीरिक लक्षण मल पतला, अङ्गमर्द, दाह, तृष्णा, अरुचि, मुखपाक, नेत्रलालिमा तथा चण्डवेग वाला एवं दुःखप्रद ज्वर, ये हैं, अर्थात् मसूरिका के शारीरिक लक्षणों में टट्टी पतली उतरती है और अङ्गमर्द, जलन, प्यास, अरुचि, मुख में पाक, आंखों में लालिमा, ज्वर तीव्र तथा दारुण होता है।

मधु०—पित्तजामाह—रक्ता इत्यादि । ज्वरस्तीव्रः सुदारुण इति तीव्रश्चण्डवेगः, सुदारुणो बहुदुःखेनातिदुःसहः ॥६-७॥

पित्तजामाहेत्यादि की भाषा सुगम है।

रक्तजमसूरिकां लक्षयति—

रक्तजायां भवन्त्येते विकाराः पित्तलक्षणाः ॥८॥

रक्तज मसूरिका में पित्त के उपर्युक्त लक्षण (जैसे लक्षण) होते हैं। अथवा रक्तज मसूरिका में पैत्तिक चिह्नों वाले विकार (लक्षण रूप में) होते हैं।

कफजमसूरिकायाः स्वरूपमाह—

कफप्रसेकः स्तैमित्यं शिरोरुग्गात्रगौरवम् ।
हृल्लासः सारुचिर्निद्रा तन्द्रालस्यसमन्विताः ॥९॥
श्वेताः स्निग्धा भृशं स्थूलाः कण्डूरा मन्दवेदनाः ।
मसूरिकाः कफोत्थाश्च चिरपाकाः प्रकीर्तिताः ॥१०॥

कफज मसूरिका में मुखद्वारा कफ निकलता है, अङ्ग गीले चर्म से आवृत से प्रतीत होते हैं, सिर में पीड़ा होती है, गात्रों में भारीपन प्रतीत होता है, जी मिचलाता है, अन्न में रुचि नहीं होती, नींद अधिक आती है, तन्द्रा होती है, और आलस्य होता है (ये लक्षण शारीरिक हैं। इसका भाव यह है कि लक्षण दो प्रकार के होते हैं—एक सर्व शारीरिक और दूसरे स्थानिक। उनमें से यहां 'कफप्रसेकः' इत्यादि लक्षण शारीरिक हैं, और वक्ष्यमाण श्वेत आदि लक्षण स्थानिक हैं)। स्थानिक लक्षणों का निर्देश—एवं इस रोग में स्फोट श्वेत, स्निग्ध, बहुत स्थूल, कण्डूान्वित, मन्दपीडा वाले और चिरपाकी होते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि कफप्रसेक, स्तिमितता, शिरोव्यथा, गात्रगुरुता, हृल्लास, अरुचि, निद्रा, तन्द्रा और आलस्य इन शारीरिक लक्षणों से युक्त तथा श्वेत, स्निग्ध, स्थूल, कण्डूर, मन्द वेदनान्वित तथा चिरपाकी मसूरिका कफोत्पन्न कही है।

मधु०—रक्तजामाह—रक्तजायामित्यादि। एते विकाराः पित्तलक्षणा इति पित्तजमसूरी-लक्षणत्वेन उक्ता 'रक्ताः पीताः सिताः स्फोटा' इत्यादयो ये ये विकारास्ते रक्तजायां भवन्ति।

अत्र कफजामनुक्त्वैव पित्तजाया अनन्तरं रक्तजाया उक्तिः पित्तलक्षणस्यातिदिष्टस्याव्यवहितत्वेन सुखग्रहणार्थं, रक्तरससमत्वाद्रक्तमलत्वाद्वा पित्तस्य पित्तजामभिधायास्याः कथनं, सर्वत्र कृतस्य समर्थनाय ॥८-१०॥

यहां पित्तज मसूरिका के बाद कफ से उत्पन्न होने वाली मसूरिका का निर्देश किये बिना रक्त से उत्पन्न होने वाली मसूरिका का निर्देश इसलिये किया है कि जिससे पूर्व प्रतिपादित पित्तज मसूरिका के लक्षण व्यवधान से रहित होकर यहां सुखपूर्वक जाने जा सकें [अन्यथा अर्थात् पैत्तिक लक्षणों के बाद श्लैष्मिक लक्षण और उनके बाद रक्तज (मसूरिका) लक्षण होने से, पैत्तिक तथा रक्तज लक्षणों में श्लैष्मिक लक्षणों का व्यवधान आ जाता है, जिससे 'पित्तज मसूरिका के लक्षणों के समान रक्तज मसूरिका के लक्षण होते हैं' इस वाक्य से पित्तज लक्षण सुखपूर्वक शीघ्र नहीं अवबुद्ध हो सकते]। किञ्च पित्तज मसूरिका के निर्देशानन्तर रक्तज मसूरिका अभिधान, पित्त के रक्तरस सदृश होने से वा पित्त रक्त का मल होने से किया है ।

त्रिदोषजमसूरिकां लक्षयति—

नीलाश्चिपिटविस्तीर्णा मध्ये निम्ना महारुजः ।
चिरपाकाः पूतिस्रावाः प्रभूताः सर्वदोषजाः ॥११॥

दुश्चिकित्स्यतामाह—

कण्ठरोधारुचिस्तम्भप्रलापारतिसंयुताः ।
दुश्चिकित्स्याः समुद्दिष्टाः पिडकाश्चर्मसंज्ञिताः ॥१२॥

त्रिदोष से होने वाली मसूरिकाएं (पिडकाएं) चाष पक्ष के समान वर्ण वाली, चिउड़ा के समान विस्तीर्ण, मध्य भाग से निम्न और पार्श्व भाग से उन्नत, बहुत पीड़ावाली, चिरकाल के अनन्तर पकने वाली, दुर्गन्धित (मुर्दे की सी गन्ध वाली), स्राव वाली तथा अधिक संख्या वाली होती हैं । (ये स्थानिक लक्षण हैं) गले में रुकावट, अरुचि, जकड़ाहट, प्रलाप (बकवास) और बेचैनी युक्त चर्मसंज्ञक पिडकाएं दुश्चिकित्स्य कही हैं ।

मधु०—सान्निपातिकलक्षणमाह—नीला इत्यादि । चिपिटविस्तीर्णा इति चिपिटश्चिउडा इति ख्यातः, तद्वद्विस्तृताः । चर्मसंज्ञिता इति 'चर्मदल' इति ख्यातः ॥११-१२॥

सान्निपातिकलक्षणमाहेत्यादि स्पष्टमेव ।

रोमान्तिकायाः स्वरूपमाह—

रोमकूपोन्नतिसमा रागिण्यः कफपित्तजाः ।
कासारोचकसंयुक्ता रोमान्त्यो ज्वरपूर्विकाः ॥१३॥

रोमकूपों की ऊंचाई के सदृश, लोहितवर्णयुक्त, कफपित्त से उत्पन्न कासान्वित एवं अरोचकवाली पिडकाएं रोमान्तिका संज्ञक होती हैं; और इनकी पूर्वरूपावस्था में ज्वर होता है ।

मधु०—मसूरिकायाः प्रकारं रोमान्तिकामाह—रोमकूपोन्नतिसमा इत्यादि । रागिण्य इति लोहिताः, ज्वरपूर्विका इति ज्वरपूर्वरूपाः ॥१३॥

'मसूरिकायाः' इत्यादि की भाषा सरल है।

त्वग्गतमसूरिकां लक्षयति—

तोयबुद्बुदसंकाशास्त्वग्गतास्तु मसूरिकाः।
स्वल्पदोषाः प्रजायन्ते भिन्नास्तोयं स्रवन्ति च ॥१४॥

त्वचागत मसूरिका पानी के बुलबुले के समान होती है, इनमें थोड़ा दोष होता है और फूटने पर इनमें से जलस्राव होता है।

रक्तगतमसूरिकां लक्षयति—

रक्तस्था लोहिताकाराः शीघ्रपाकास्तनुत्वचः।
साध्या नात्यर्थदुष्टाश्च भिन्ना रक्तं स्रवन्ति च ॥१५॥

रक्तगत पिडकाएं लालवर्ण की होती हैं, जल्दी २ पकती हैं, पतली त्वचा वाली होती हैं, अत्यर्थ दुष्ट होने पर असाध्य होती हैं, और फट जाने पर रक्त को स्रवित करती हैं।

मांसगतमसूरिकालक्षणमाह—

मांसस्थाः कठिनाः स्निग्धाश्चिरपाका घनत्वचः।
गात्रशूलतृषाकण्डूज्वरारतिसमन्विताः ॥१६॥

मांस में होने वाली मसूरिकाएं कठिन, चिकनी, चिरकाल बाद पकने वाली, तथा मोटी त्वचा वाली होती हैं। इनके होने पर गात्रशूल, प्यास, खुजली, ज्वर और अरति (ये शारीरिक लक्षण) होती (होते) हैं।

मेदोजमसूरिकां लक्षयति—

मेदोजा मण्डलाकारा मृदवः किंचिदुन्नताः।
घोरज्वरपरीताश्च स्थूलाः स्निग्धाः सवेदनाः ॥१७॥
संमोहारतिसंतापाः कश्चिदाभ्यो विनिस्तरेत्।

मेदोज मसूरिकाएं वर्तुलाकार, (गोलाकार) मृदु तथा कुछ ऊंची होती हैं। इनमें तीव्र ज्वर होता है, तथा ये स्थूल, स्निग्ध, वेदनान्वित, सम्मोह, बेचैनी एवं सन्ताप युक्त होती हैं। इन मसूरिका नामक पिडकाओं से कोई एक सौभाग्यशाली मनुष्य ही मुक्त होता है। अर्थात् ये मसूरिकाएं असाध्य एवं अतियत्नसाध्य हैं।

अस्थिमज्जगतयोः समानं स्वरूपमाह—

क्षुद्रा गात्रसमा रूक्षाश्चिपिटाः किंचिदुन्नताः ॥१८॥
मज्जोत्था भृशसंमोहवेदनारतिसंयुताः।

मज्जागत मसूरिका छोटे आकार वाली, वर्ण में शरीर के समान, रूखी चपटी तथा कुछ ऊंची, अत्यर्थ संमोह, वेदना और बेचैनी से युक्त होती हैं।

छिन्दन्ति मर्मधामानि प्राणानाशु हरन्ति हि ॥१९॥
भ्रमरेणेव विद्धानि कुर्वन्त्यस्थीनि सर्वतः।

अस्थिगत मसूरिका छोटे आकार वाली, शरीर के वर्ण के समान वर्ण वाली, रूखी, चपटी, तथा कुछ ऊंची, अत्यर्थ संमोह, पीडा और बेचैनी से युक्त होती है। और यह मसूरिका हृदयादि मर्म स्थानों का भेदन कर देती है, प्राणों को शीघ्र हर लेती है, एवं अस्थियों को भ्रमर से खाए हुए काष्ठ की तरह खोखला कर देती है।

वक्तव्य—'क्षुद्रा' इत्यादि से 'अरतिसंयुता' इत्यन्त लक्षण मज्जागत मसूरिका तथा अस्थिगत मसूरिका के सामान्य लक्षण हैं और 'छिन्दन्ति' इत्यादि से 'भ्रमरेणेव विद्धानि' इत्यादि तक के लक्षण केवल अस्थिगत मसूरिका के हैं। कई आचार्य इन सभी लक्षणों को दोनों के सामान्य लक्षण मानते हैं। यहां यद्यपि अस्थिगतत्व का साक्षात् निर्देश नहीं किया, किन्तु तो भी मज्जा का आधार होने से अस्थिगत मसूरिका का भी ग्रहण हो जाता है। किञ्च 'भ्रमरेणेव' इत्यादि लक्षण स्पष्टतया यह बतलाता है कि ये अस्थिगत मसूरिका के भी लक्षण हैं।

शुक्रगतमसूरिकालक्षणमाह—

पक्वाभाः पिडकाः स्निग्धाः सूक्ष्माश्चात्यर्थवेदनाः ॥२०॥
स्तैमित्यारतिसंमोहदाहोन्मादसमन्विताः ।
शुक्रजायां मसूर्यां तु लक्षणानि भवन्ति हि ॥२१॥

शुक्रगत मसूरिका में पिडकाएं पकी हुई सी कान्ति वाली, चिकनी, सूक्ष्म और बहुवेदनान्वित होती हैं। एवं इनमें शारीरिक लक्षण अङ्गों का गीले चर्म से आवृत सा प्रतीत होना, अरति, सम्मोह, जलन और उन्माद होता है। शुक्रगत मसूरिका में होने वाले लक्षण तो ऊपर बता दिये हैं, जो कि रोगी में दीखते हैं, परन्तु उस रोगी का बचना नहीं दीखता अर्थात् जब ये लक्षण हों तो समझना चाहिए कि अब मसूरिका अति गम्भीर धातुभूत शुक्र में चली गई है, अतः अब यह इसे (रोगी को) जीवित न छोड़ेगी। यह मसूरिका असाध्य है।

अस्थ्यादिगम्भीरधातुस्थानामसाध्यतां सर्वासु दोषानुबन्धिताञ्चाह—

निर्दिष्टं केवलं चिह्नं दृश्यते न तु जीवितम् ।
दोषमिश्रास्तु सप्तैता द्रष्टव्या दोषलक्षणैः ॥२२॥

उपर्युक्त सप्त धातुगत मसूरिकाएं दोष लक्षणों के अनुसार यथासम्भव दोष वाली जाननी चाहिएं, अर्थात् इनमें दोषज्ञान दोषों के लक्षणों को देखकर कर लेना चाहिए।

मसूरिकाणां साध्यत्वादिकमाह—

त्वग्गता रक्तजाश्चैव पित्तजाः श्लेष्मजास्तथा ।
श्लेष्मपित्तकृताश्चैव सुखसाध्या मसूरिकाः ॥२३॥

त्वक् (रस) धातुगत, रक्तज, पित्तज, श्लेष्मज और श्लेष्मपित्तज मसूरिकाएं साध्य होती हैं।

मधु०—रसादिसप्तधातुगतमसूरिकालिङ्गमाह—तोयबुद्बुदसंकाशा इत्यादि। अत्र दुष्टदूष्यप्रभावात्तोयबुद्बुदसंकाशादीनि दोषलक्षणानि च भवन्ति, दोषमन्तरेण दूष्यदुष्टेरभावात्; अत एव वक्ष्यति—'दोषमिश्रास्तु सप्तैता द्रष्टव्या दोषलक्षणैः' इति। त्वक्शब्देनात्र रसोऽभिधीयते, धातुगतप्रस्तावात्। त्वग्गताः साध्याः, अल्पदोषसंबन्धाद्रक्तजाया अपि साध्यत्वेनाभिधानात्। मांसस्थाः कृच्छ्रसाध्याः, अत्यवगाढदोषदुष्टेः। मेदोजायां कश्चिदाप्यो विनिस्तरेदित्यनेनात्यन्तकृच्छ्रसाध्यत्वं बोधयति, अस्थिमध्यस्थितत्वान्मज्ज्ञः। क्षुद्रा इत्यादिना अस्थिमज्जगतयोः समानं लिङ्गम्। मज्जोत्था इत्यत्र मज्जग्रहणादस्थ्नोऽपि ग्रहणम्, आधारत्वात्; अत एव वक्ष्यति—'भ्रमरेणेव विद्धानि कुर्वन्त्यस्थीनि सर्वतः' इति। मर्मधामानीति मर्मस्थानानि। पक्वाभा इत्यादिना शुक्रजाया लिङ्गम्। दृश्यते न तु जीवितमिति गम्भीरधातुगतदोषदुष्टेः शुक्रजाया असाध्यत्वम्। अस्य न्यायस्य समानतया अस्थिमज्जगतयोरप्यसाध्यत्वं बोद्धव्यम् ॥१४-२३॥

यहां पर दुष्ट दूष्य के प्रभाव से पिडकाएं पानी के बुलबुले के समान होना आदि लक्षणों वाली तथा दोषों के लक्षणों वाली होती हैं। इनमें दोषों के लक्षण अवश्य होते हैं, क्योंकि दोषों के बिना दूष्य की दुष्टि नहीं हो सकती। (अतः इनमें जलबुद्बुद संकाशादि दुष्ट दूष्य के लक्षण तथा दोषों के अपने लक्षण भी होते हैं) अतएव आगे कहा है कि—'ये सातों दोषों से मिश्रित हैं। इनमें दोषज्ञान दोषों के लक्षणों को देखकर कर लेना चाहिए'। धातुगत मसूरिकाओं के निर्देश का प्रकरण होने से यहां 'त्वक्' शब्द से रस नामक धातु का ग्रहण करना चाहिए। अल्प दोष का सम्बन्ध होने से रक्तजा मसूरिका भी साध्य होती है, यह निर्देश होने के कारण यह सिद्ध होता है कि त्वक्गत मसूरिका साध्य है। अत्यवगाढ़ दोषों की दुष्टि होने के कारण मांसगत मसूरिकाएं कृच्छ्रसाध्य होती हैं। धातुओं में गहरी दोषदुष्टि होने के कारण शुक्रजा असाध्य होती है। इस न्याय के समान होने के कारण अस्थिमज्जागत की भी असाध्यता जान लेनी चाहिए।

मसूरिकाणां कृच्छ्रसाध्यतामाह—

वातजा वातपित्तोत्थाः श्लेष्मवातकृताश्च याः।
कृच्छ्रसाध्यतमास्तस्माद् यत्नादेता उपाचरेत् ॥२४॥

वातज, वातपित्तज और श्लेष्मवातज मसूरिकाएं अति कठिनता से ठीक होती हैं। अतः इनकी चिकित्सा अधिक यत्न से करनी चाहिए [अन्यथा ये असाध्य हो जाती हैं, क्योंकि 'असाध्यो साध्यतां याति नत्वसाध्यस्तु साध्यताम्' (चरक) के अनुसार साध्य वा कृच्छ्रसाध्य रोग सावधानता के अभाव से असाध्य हो जाते हैं]।

मसूरिकाणां प्रत्याख्येयतालक्षणान्याह—

असाध्याः सन्निपातोत्थास्तासां वक्ष्यामि लक्षणम्।
प्रवालसदृशाः काश्चित् काश्चिज्जम्बूफलोपमाः ॥२५॥
लोहजालसमाः काश्चिदतसीफलसंनिभाः।
आसां बहुविधा वर्णा जायन्ते दोषभेदतः ॥२६॥

सन्निपात से होने वाली मसूरिकाएं असाध्य होती हैं। आगे सन्निपातज मसूरिकाओं के लक्षण कहे जाते हैं। तद्यथा—सन्निपातज मसूरिका रोग में कई पिडकाएं विद्रुम (मूंगे) के सदृश, कई जम्बूफल के सदृश, कई लोहगोलक के समान (कृष्णवर्ण) और कई अलसीफल के समान, एवं दोषभेदों के अनुसार बहुत प्रकार के वर्णों वाली होती हैं।

मधु०—वातजा इत्यादि। वातजादयः सन्निपातोत्थान्ता असाध्याः। एतासां संमूर्च्छन-विशेषजनितवक्ष्यमाणप्रवालादिवर्णयोगादसाध्यत्वं, तेनैतद्वर्णविरहे वातजायाश्चिकित्साविधिरप्युक्त उपपद्यत इति केचित्। अन्ये तु वातजादय एताः स्वरूपत एवासाध्याः, चिकित्सोक्तिस्तु वातजादीनां महात्ययनिषेधार्थं, लिङ्गान्तरसंभवार्थं च तासां वक्ष्यामि लक्षणमित्युक्तमित्याहुः। तासामिति असाध्यवातजादीनाम्। लोहजालसमा इति जालं जालकं गुडकमिति यावत्, तद्वत्कृष्णवर्णाः। अतसीफलसंनिभा इति उमाफलवर्णतुल्यवर्णाः। अनुक्तवर्णान्तरसंग्रहार्थमाह—आसां बहुविधा इत्यादि। दोषभेदत इति वातपित्तादिदोषविशेषात्, दुष्टिविशेषादित्यन्ये ॥२४-२६॥

इन पिडकाओं (मसूरिकाओं) की असाध्यता दोष दूष्यों की विशेष सम्मूर्च्छनावस्था से उत्पन्न वक्ष्यमाण प्रवालादि वर्ण के योग से निर्दिष्ट की गई है। इससे इस वर्ण के न होने पर वातजा मसूरिका की चिकित्सा विधि भी कह दी गई है, यह कई आचार्यों का मत है। अन्य कई आचार्य तो यह कहते हैं कि वातादिज मसूरिकाएं स्वरूप से ही असाध्य हैं। इनकी चिकित्सा का कथन तो महात्यय निषेध के लिये है, तथा और लिङ्गों की उत्पत्ति के लिए 'आगे उनके लक्षण कहे जाते हैं' यह कहा है।

मसूरिकाया आवस्थिकं रूपं तदसाध्यताञ्चाह—

कासो हिक्का प्रमेहश्च ज्वरस्तीव्रः सुदारुणः।
प्रलापश्चारतिर्मूर्च्छा तृष्णा दाहोऽतिघूर्णता ॥२७॥
मुखेन प्रस्रवेद्रक्तं तथा घ्राणेन चक्षुषा।
कण्ठे घुर्घुरकं कृत्वा श्वसित्यत्यर्थवेदनम् ॥२८॥
मसूरिकाभिभूतस्य यस्यैतानि भिषग्वरैः।
लक्षणानि च दृश्यन्ते न दद्यादत्र भेषजम् ॥२९॥

खांसी, हिचकी, प्रमेह, तीव्र ज्वर, प्रलाप, अरति, मूर्च्छा, तृष्णा, दाह, नेत्रकौटिल्य, मुख, नासिका तथा आंखों से रक्तस्राव और गले में घुरघुराहट के अनन्तर पीड़ान्वित श्वास की प्रवृत्ति जिस मसूरिका के रोगी में दीखे, वैद्य उसे दवाई न दे। क्योंकि यह असाध्य लक्षण हैं, अतः अन्यथा करने पर मानहानि होगी।

मधु०—सर्वमसूरिकाया आवस्थिकं लिङ्गमाह—कास इत्यादि। ज्वरस्तीव्रः सुदारुण इति अत्र सुदारुण इति परेण संबध्यते, तेन सुदारुणः प्रलापः। अतिघूर्णता जिह्मायनम्। तथा घ्राणेन चक्षुषेत्यत्र रक्तं स्रवेदिति संबध्यते। श्वसितीति श्वासो भवति ॥२७-२९॥

इसका अर्थ सरल है।

[illegible]—

मसूरिकाभिभूतो यो भृशं घ्राणेन निःश्वसेत् ।
स भृशं त्यजति प्राणान् तृष्णार्त्तो वायुदूषितः ॥३०॥

जो वायु दोष से प्रकुपित मसूरिकाओं से आक्रान्त मनुष्य बार बार नाक द्वारा श्वास लेता है तथा बार बार प्यासा होता है, वह मर जाता है।

मधु०—[illegible]—मसूरिकाभिभूत इत्यादि। [illegible] मुखव्यतिरेकेण घ्राणेनैव निःश्वसेत्, [illegible] ॥३०॥

इसका अर्थ सुगम ही है।

[illegible]—

मसूरिकान्ते शोथः स्यात् कूर्परे मणिबन्धके ।
तथांऽसफलके चापि दुश्चिकित्स्यः सुदारुणः ॥३१॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने मसूरिकानिदानं समाप्तम् ॥५४॥

मसूरिका रोग के अन्त में कूर्पर, मणिबन्धक (गट्टे) और अंसफलकों पर दारुण शोथ हो जाता है, जो कि दुश्चिकित्स्य होता है।

मधु०—मसूरिकाया उपद्रवमाह—मसूरिकान्ते इत्यादि। दुश्चिकित्स्य इति दुःशब्दोऽत्र निषेधे, तेनासाध्य इत्यर्थः ॥३१॥

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायां मसूरिकानिदानं समाप्तम् ॥५४॥

इसका अर्थ स्पष्ट है।

अथ क्षुद्ररोगनिदानम् ।

अजगल्लिकालक्षणमाह—

स्निग्धाः सवर्णा ग्रथिता नीरुजो मुद्गसंनिभाः ।
कफवातोत्थिता ज्ञेया बालानामजगल्लिकाः ॥१॥ [सु० २।१३]

स्निग्ध, शरीर के समान वर्ण वाली, ग्रन्थि के सदृश आकृति वाली, पीड़ा-रहित, मूंग के समान प्रमाण वाली, कफ पित्त से उत्पन्न होने वाली अजगल्लिकाएं, प्रायः बालकों का रोग जानना चाहिए।

वक्तव्य—भाव यह है कि अधिकतर बालकों में होने वाले कफपित्तज इस (अजगल्लिका) रोग में, यह (अजगल्लिका) स्निग्ध, देह के समान वर्ण वाली, ग्रथित, नीरुज एवं मुद्गसदृश होती है। यह रोग प्रायः बालकों को ही होता है, परन्तु कभी २ युवा आदिकों को भी हो जाता है। इसमें कफ और पित्त की जनकता होती है। स्निग्धता आदि इसके परिचायक चिह्न हैं।

मधु०—विसर्पादीनामक्षुद्रहेतुलक्षणानि [illegible] क्षुद्रहेतुलक्षणचिकित्सि-तानां क्षुद्ररोगाणां पारिशेष्यात् क्षुद्ररोगनिदानम्। ननु, यदि क्षुद्रहेतुलक्षणचिकित्सि-तत्वेन तर्हि अग्निरोहिणीकादीनां त्रिदोषजत्वेन [illegible]

तावत्, छत्रिणो गच्छन्तीतिवत्; किंवा अवान्तरभेदविरहः क्षुद्रत्वं, येनात्र वक्तव्यानामजगल्लिकादीनां न दोषदूष्यादिकृतभूरिसंख्याभेदेन व्रणज्वरादिवन्निर्देशः, किंतु प्रत्येकं स्तोकसंख्ययाऽभिधानं तेषाम् । अन्यस्त्वाह—क्षुद्रशब्दोऽल्पे रौद्रे च वर्तते, तेन यथायोग्यं सर्वत्र व्यवस्था दृश्यते; रौद्रे क्षुद्रशब्दो यथा—"क्षुद्रा मृगा यत्र शान्ताश्चेरुरन्यैः समं मृगैः" इति । क्षुद्राणां बालानां रोगाः क्षुद्ररोगा इति केचित् । एवमप्यजगल्लिकाहिपूतनादीनामेव परिग्रहो न त्वन्येषाम् । संक्षेपेण चतुश्चत्वारिंशद्विकारानत्र वक्तव्यान् क्रमेण दर्शयति—स्निग्धेत्यादि । भोजे तु मूषिकाकर्णमुष्ककोशफलार्शःप्रभृतयोऽधिकविकाराः पठ्यन्ते, ते च सुश्रुते विकारस्यानन्त्यादनुमता एव । बालानामिति प्रायोभावित्वादुक्तं, तेनाबालानामपि दृश्यमानाः संगच्छन्ते ॥१॥

अस्वल्पहेतु, अस्वल्पलक्षण और अस्वल्पचिकित्सा वाले विसर्पादि रोगों का निर्देश हो चुकने के कारण अब स्वल्पहेतु, स्वल्पलक्षण तथा स्वल्पचिकित्सा वाले क्षुद्र रोगों के अवशिष्ट रह जाने के कारण क्षुद्र रोगों का (निर्देशात्मक) क्षुद्ररोगनिदान नामक प्रकरण प्रारम्भ किया जाता है; अथवा क्षुद्र रोगों के अवशिष्ट रह जाने से अब उनका (क्षुद्र रोगों का) निदान वर्णित किया जाता है । अब यह प्रश्न उठता है कि यदि हेतु, लक्षण तथा चिकित्सा की स्वल्पता होने के कारण इन (अजगल्लिका प्रभृति वक्ष्यमाण रोगों) को क्षुद्र कहा जाता है, तो इनमें भी अग्निरोहिणी (प्लेग), वल्मीक प्रभृति रोग त्रिदोषज हैं, एवं उनमें हेतु, लक्षण तथा चिकित्सा की भी बहुलता है । तब इनकी गणना क्षुद्र रोगों में क्यों की गई है ? आचार्य इसका समाधान इस प्रकार करते हैं कि यहां 'क्षत्रिणो गच्छन्ति' की तरह 'बाहुल्येन व्यपदेशाः भवन्ति' के अनुसार निर्देश किया गया है । (जहां ७० प्रतिशत संख्या हो, वहां उस नाम से निर्देश किया जा सकता है । बीस व्यक्तियों का वर्ग जा रहा हो और उसमें यदि पन्द्रह छातों वाले और पाँच छातों के बिना हों तो कह दिया जाता है कि ये छत्रधारी जा रहे हैं) । इस प्रकार क्षुद्र रोगों में स्वल्पनिदानादि वाले रोग अधिक संख्या में हैं, और बहुत निदानादि वाले रोग स्वल्प संख्या में हैं, अतः इस (प्रकरण वा संघ) का नाम क्षुद्ररोग (निदान), यह रक्खा गया है इसी नियम के अनुसार इसमें आए हुए दो चार भयंकर हेत्वादि वाले रोग भी क्षुद्र नाम से पुकारे जाते हैं । अथवा अवान्तरभेद के न होने को ही क्षुद्रपन से ले लीजिये, जिससे कि यहां कहे जाने वाले अजगल्लिकादि रोगों की गणना ज्वर आदि की तरह नहीं होती । क्योंकि इनमें दोष दूष्यों के सम्मूर्छन विशेष का अभाव होने से वा दोष दूष्यों से व्रण आदिकों की तरह अधिक संख्या में भेद नहीं होते, किन्तु इनके भेद वा इनका अभिधान स्वल्प संख्या में है । अन्य कोई आचार्य इस मत से सहमत न होकर कहता है कि 'क्षुद्र' शब्द अल्प तथा रौद्र दोनों के लिए आता है । ऐसा होने पर सब स्थानों पर यथायुक्त व्यवस्था कर लेनी चाहिए । रौद्र के लिए क्षुद्र शब्द का प्रयोग 'क्षुद्र मृग (शेर आदि) शान्त होकर जहां पर अन्य हरिणों के साथ विचर रहे थे' इस वाक्य में है । यहीं पर कई आचार्य 'बालकों के रोग को क्षुद्र रोग कहते हैं' क्षुद्र रोग का यह अर्थ मानते हैं । उनके मत में भी इस अर्थ से अजगल्लिका आदि का ही ग्रहण होता है, दूसरों का नहीं । संक्षेप से चौतालीस विकारों को यहां पर दर्शाते हैं कि—स्निग्धेत्यादि । भोज ने तो मूषिकाकर्ण, मुष्ककोष, और फलार्श प्रभृति रोग इनमें अधिक लिखे हैं, और विकारों की अनन्तता होने के कारण सुश्रुत ने भी स्वीकार किया है (अतः उसने 'समासेन चतुश्चत्वारिंशत् क्षुद्ररोगा भवन्ति' [सु. नि. स्था. अ. १३] में 'समासेन' यह पद दिया है) ।

वक्तव्य—क्षुद्र रोग इस नाम को यदि पारिभाषिक नाम समझ लिया जावे तो किसी प्रकार की आपत्ति नहीं आती, अन्य सब समाधानों से यह समाधान उचित प्रतीत होता है। अब इसकी गणना पर विचार किया जाता है। सुश्रुत ने भी कहा है कि—'संक्षेप से चौतालीस क्षुद्र रोग होते हैं'। किन्तु श्री ब्रह्मदेव ने अड़तालीस क्षुद्र रोगों की गणना की है। उनमें चार अधिक रोग ये हैं, यथा—१ गर्दभिका, २ इरिवेल्लिका, ३ गन्धपिडका ४ तिलकालक। आचार्यप्रवर जेज्जट ने इन चारों का निर्देश नहीं किया। सुवीर नन्दी वराह आदि अन्य व्याख्याताओं ने भी इन चारों की अधिकता को निन्दनीय स्वीकार किया है। गयदासाचार्य तो समान तन्त्रों में पाठ न होने पर भी अन्य मान्य तन्त्रों में पाठ होने के कारण गर्दभिका प्रभृति को स्वीकार करता है, और पामादि चार रोगों का क्षुद्रपन होने पर भी वह उन्हें कुष्ठ रोग में स्वीकार करता है।

यवप्रख्यां लक्षयति—

यवाकारा सुकठिना ग्रथिता मांससंश्रिता।
पिडका कफवाताभ्यां यवप्रख्येति सोच्यते ॥२॥ [सु० २।१३]

यव के समान आकार वाली, कठिन, गठी हुई एवं मांसाश्रित कफ और पित्त से होने वाली पिडकाएं यवप्रख्या नाम से कहलाती हैं। भाव यह है कि यवप्रख्या कफवात से होती है, और यह यव के आकार वाली, कठिन, ग्रथित और मांस में आश्रित होती है।

मधु०—यवप्रख्यामाह—यवाकारेत्यादि। यवाकारेति यववन्मध्ये स्थूला ॥२॥

इसकी भाषा स्पष्ट है।

अन्त्रालजीलक्षणमाह—

घनामवक्त्रां पिडकामुन्नतां परिमण्डलाम्।
अन्त्रालजीमल्पपूयां तां विद्यात्कफवातजाम् ॥३॥ [सु० २।१३]

घन, अल्पमुखी, ऊँची, गोल और स्वल्पपूय वाली कफवातज पिडका अन्त्रालजी नामक होती है। इसे कहीं अन्धालजी भी कहा है।

मधु०—अन्त्रालजीमाह—घनामित्यादि। अन्त्रालजी स्नायुगता भोजवचनादवगन्तव्या। यदुक्तं—"श्लेष्मानिलौ श्रितौ स्नायुं पिडकां परिमण्डलाम्। दुष्टौ जनयतोऽवक्त्रामल्पपूयामकण्डुराम् ॥ आमोदुम्बरसंकाशां विद्यादन्त्रालजीं तु ताम्" इति ॥३॥

अन्त्रालजी को भोज के वचनानुसार स्नायुगत जानना चाहिए। जैसे उसने कहा भी है कि—कफ और वात स्नायु का आश्रय लेकर गोल पिडका उत्पन्न कर देते हैं, वह अल्पपूय वाली, कण्डूरहित, अल्पमुखी एवं कच्चे उदुम्बर फल के सदृश होती है। इस पिडका का नाम अन्त्रालजी जानना चाहिए।

विवृतां लक्षयति—

विवृतास्यां महादाहां पक्वोदुम्बरसंनिभाम्।
विवृतामिति तां विद्यात्पित्तोत्थां परिमण्डलाम् ॥४॥ [सु० २।१३]

खुले मुखवाली, अतिदाहयुक्त, पक्व उदुम्बर फल के समान, गोल एवं पित्त से होने वाली पिडका को विवृता नाम से जानना चाहिए। भाव यह है कि—

विवृता पिडका खुले मुख वाली, दाहयुक्त वर्ण में पके हुए गूलर फल के समान, एवं आकार में वर्तुल (गोलाकार) होती है। इसकी उत्पत्ति पित्त से होती है।

मधु०—विवृतामाह–विवृतास्यामित्यादि। पित्तेनाधिकपाकाद्विवृतमुखतायां विवृता संज्ञा॥४॥

इसका अर्थ सुगम है।

कच्छपिकायाः स्वरूपमाह—

ग्रथिताः पञ्च वा षड्वा दारुणाः कच्छपोपमाः।

कफानिलाभ्यां पिडका ज्ञेयाः कच्छपिका बुधैः॥५॥

जो कफ और वायु से पाँच छः दारुण पिडकाएं होती हैं, तथा जिनकी आकृति कछुए की तरह होती है, वे कच्छपिका कहलाती हैं। अर्थात् कच्छपिका नामक क्षुद्र रोग कफ और वात से पाँच छः दारुण पिडकाओं के रूप में होता है, और इसमें उन पिडकाओं की आकृति भी कछुए के सदृश होती है।

मधु०—कच्छपिकालक्षणमाह—ग्रथिता इत्यादि। दारुणाः कठिनाः। मध्योन्नतत्वेन पर्यन्ताल्पत्वेन च कच्छपिकासंज्ञा॥५॥

कच्छपिकालक्षणमाहेत्यादि सरल है।

वल्मीकस्य स्वरूपमवतारयति—

ग्रीवांसकक्षाकरपाददेशे
सन्धौ गले वा त्रिभिरेव दोषैः।
ग्रन्थिः स वल्मीकवदक्रियाणां
जातः क्रमेणैव गतः प्रवृद्धिम्॥६॥
मुखैरनेकैः स्रुतितोदवद्भि-
विसर्पवत् सर्पति चोन्नताग्रैः।
वल्मीकमाहुर्भिषजो विकारं
निष्प्रत्यनीकं चिरजं विशेषात्॥७॥

अहिताचारी मनुष्यों में वात आदि के सन्निपात से; ग्रीवा, अंस, कक्षा (बगलें), हाथों, पैरों, सन्धियों वा गलप्रदेश में वल्मीक (बम्मई) के समान एक गांठ सी हो जाती है, जो कि क्रम से बढ़ती जाती है। एवं वह स्राव तथा सुइयों की सी चुभान वाले उन्नताग्र अनेक मुखों द्वारा विसर्प की तरह फैल जाता है। इस विकार को वैद्य लोग वल्मीक नाम से पुकारते हैं। यह रोग असाध्य होता है, उस पर भी चिरकाल से उत्पन्न तो विशेषतः असाध्य होता है।

वक्तव्य—यद्यपि ग्रीवा आदि में भी सन्धियाँ होती हैं, परन्तु यहां सन्धियों का विशेष निर्देश ग्रीवा आदि में होने वाली सन्धियों से अतिरिक्त सन्धियों में भी रोगोत्पत्ति का परिचायक है। ग्रीवा आदिकों की सन्धियों में होने वाले का ग्रहण तो ग्रीवा आदि विशेष स्थानों के निर्देश से ही हो जाता है।

इस रोग में परिदाह और कण्डू ये दो लक्षण भी होते हैं। यथाह सुश्रुतः—
"पाणिपादतले सन्धौ ग्रीवायामूर्ध्वजत्रुणि। ग्रन्थिर्वल्मीकवद्यस्तु शनैः समुपचीयते॥
तोदक्लेदपरीदाहकण्डूमद्भिर्व्रणैर्वृतः। व्याधिर्वल्मीक इत्येष कफपित्तानिलोद्भवः"।
(सु. नि. स्था. अ. १३)।

मधु०—वल्मीकलक्षणमाह—ग्रीवांसेत्यादि। वल्मीकवदित्यनेन प्रचुरशिखरत्वेन समुच्छ्रितत्वं दूरावगाढमूलत्वं च ख्याप्यते। अत एव चिकित्सायामवगाढमूलशोधनार्थमग्निक्षाराभ्यां चिकित्सेदित्युक्तम् ॥६–७॥

'वल्मीक की तरह' यह कहने से; अधिक शिखा होने के कारण उन्नत, दूर तथा गहरी मूल का ज्ञान होता है। इसलिए उसकी (गहरी मूल की) चिकित्सा के लिए अग्नि और क्षार का प्रयोग बताया गया है।

इन्द्रविद्धां लक्षयति—

पद्मकर्णिकवन्मध्ये पिडकाभिः समाचिताम्।
इन्द्रविद्धां तु तां विद्याद्वातपित्तोत्थितां भिषक् ॥८॥ [सु० २।१३]

(अन्य पिडकाओं के) मध्य में पद्मकर्णिका (डोडी) की तरह स्थित, एवं अन्य पिडकाओं से घिरी हुई, पिडका इन्द्रविद्धा नामक होती है। इसकी उत्पत्ति वात और पित्त से होती है।

मधु०—इन्द्रविद्धामाह—पद्मकर्णिकवदित्यादि। पद्मकर्णिकवन्मध्ये इति पद्मवराटवत्॥८॥

इसकी भाषा सरल है।

गर्दभिकालक्षणमाह—

मण्डलं वृत्तमुत्सन्नं सरक्तं पिडकाचितम्।
रुजाकरीं गर्दभिकां तां विद्याद्वातपित्तजाम् ॥९॥

गोल तथा उभरे हुए मण्डल वाली, रक्तवर्ण, पिडकाओं से व्याप्त तथा पीड़ा देने वाली पिडका को गर्दभिका नाम से जानना चाहिए। यह (गर्दभिका नामक व्याधि) वात पित्त से होती है। भाव यह है कि गर्दभिका नामक रोग वात पित्त से होता है। तथा इसका मण्डल गोल, उन्नत, रक्तवर्ण और पिडकाओं से व्याप्त होता है। एवं यह रोग पीड़ाकारी होता है। यहां गयदासाचार्य इस प्रकार इसका पाठ मानता है कि—"मण्डलां वृत्तमुत्सन्नां सरक्तां पिडकाचिताम्। रुजाकरीं गर्दभिकां तां विद्यात्कफपित्तजाम्"।

मधु०—गर्दभिकामाह—मण्डलमित्यादि। गर्दभिका यद्यपि समानतन्त्रे न पठ्यते तथाऽपि सर्वत्र सुश्रुतेऽभिधीयते; अविगीतपाठेन व्यवस्थितैव ॥९॥

यद्यपि गर्दभिका नामक व्याधि का निर्देश समान शास्त्रों में नहीं मिलता, तथापि सुश्रुत में सब जगह (अर्थात् सुश्रुत के सभी प्रतिलिपियों में) मिल जाता है। इस प्रकार अविगीत पाठ होने से इसका यहां निर्देश किया है।

पाषाणगर्दभं लक्षयति—

वातश्लेष्मसमुद्भूतः श्वयथुर्हनुसन्धिजः ।
स्थिरो मन्दरुजः स्निग्धो ज्ञेयः पाषाणगर्दभः ॥१०॥

वात श्लेष्म दोषद्वय की दुष्टि के कारण हनु के मध्य भाग में होने वाली सूजन को, जो कि निश्चल, थोड़ी पीड़ा वाली और स्निग्ध होती है, पाषाणगर्दभ नामक विकार जानना चाहिए। तन्त्रान्तर में इसका लक्षण—"हनुसन्धौ समुद्भूतं शोफमल्परुजं स्थिरम् । पाषाणगर्दभं विद्याद्बलासपवनात्मकम्" यह है।

मधु०—पाषाणगर्दभलक्षणमाह—वातेत्यादि। स्थिरः कठिनः, पाषाणवत् काठिन्यात् पाषाणगर्दभः। लोके 'गलवट्ट' इति ख्यातः ॥१०॥

लोक में यह रोग 'गलवट्ट' नाम से प्रसिद्ध है।

पनसिकायाः लिङ्गमाह—

कर्णस्याभ्यन्तरे जातां पिडकामुग्रवेदनाम् ।
स्थिरां पनसिकां तां तु विद्याद्वातकफोत्थिताम् ॥११॥

कान के अन्दर पैदा हुई उग्र वेदनावाली स्थिर पिडका को पनसिका नाम से जानना चाहिए। यह पिडका वातकफ के द्वन्द्व से उत्पन्न होती है।

मधु०—पनसिकामाह—कर्णस्येत्यादि। एषा भोजे 'समन्ततः' इति वचनात् कर्णस्य वहिरपि भवतीति केचिद्व्याचक्षते। यदुक्तं—"कफवातौ प्रकुपितौ मांसमाश्रित्य कर्णयोः। समन्ततः परिस्तब्धां कुरुतः पिडकां स्थिराम् ॥ विषमां दाहसंयुक्तां विद्यात् पनसिकां तु ताम्"—इति। तत्तु न सम्यक्, समन्तत इत्यस्य कर्णाभ्यन्तर एवोपपन्नत्वात्। दृश्यते वाह्यरन्ध्रे शालूकाकारेयमिति केचित्। अस्यां वातकफजायां भोजे दाहपाठो विकृतिविषमसमवायादधिष्ठानभूतरक्तप्रभावाद्वाऽवगन्तव्यः ॥११॥

भोजकृत तन्त्र में पठित 'समन्ततः' इस वचन को लेकर कई आचार्य इस पिडका की कर्ण के भीतर तथा वाहर दोनों स्थानों में उत्पत्ति मानते हैं। जैसे कहा भी है कि—'कफ और वायु प्रकुपित होकर कानों में मांस का आश्रय करके चारों ओर जकड़ाहट युक्त निश्चल पिडका को उत्पन्न करते हैं, जो कि विषमता (अकारेण कृच्छ्रसाध्यत्वेन वा) तथा जलन युक्त होती है। इस पिडका का नाम पनसिका है'। इस पर आचार्य श्रीकण्ठ जी कहते हैं कि—'समन्ततः' का उपर्युक्त (अन्दर और वाहर) यह अर्थ नहीं है प्रत्युत चारों ओर से यहां पर कानों के वीच में ही चारों ओर यह होती है, यह अर्थ लिया जाता है। वाह्य छिद्र में यह शालूक के से आकार वाली दीखती है (अतः इसे शालूका नाम वाली है), यह कई आचार्य मानते हैं। वात कफ से होने वाली इस पिडका के लक्षणों में भोज ने जो दाह माना है, वह विकृतिविषमसमवाय से, अथवा अधिष्ठानभूत रक्त के प्रभाव से होता है।

वक्तव्य—इसका तात्पर्य यह है कि—पनसिका को वातकफज माना है, परन्तु भोज ने इसके लक्षण में दाह भी स्वीकार किया है। एवं वातकफात्मक होने से इसमें दाह सम्भव नहीं है। अतः या तो दाह का पाठ भोज ने प्रमादवशकिया है, अथवा इसमें

१ अयं रोग आंग्लभाषायां 'मम्प्स' (Mumps) नाम्ना प्रसिद्धः. २ अन्तःप्रपाकिणीम्.

पित्तात्मकता होती है, परन्तु उसका निर्देश प्रकृत में आचार्य ने प्रमादवश नहीं किया, यह मानना पड़ेगा। इसका उत्तर यह है कि नहीं, न तो यहां भोज ने प्रमादवश दाह का पाठ किया है, और न ही आचार्य ने प्रकृत में प्रमादवश पित्तात्मक नहीं माना। क्योंकि यह होती ही वातकफात्मक है। हां, भोजोक्त दाह इसमें विकृतिविषमसमवाय के कारण वा अधिष्ठानभूत रक्त के प्रभाव से होता है। आचार्य सुश्रुत इसकी उत्पत्ति कानों के अन्दर चारों ओर कर्ण के बाहर चारों ओर (अर्थात् कर्णपाली पर), तथा कर्णपीठ पर मानते हैं। तद्यथाह—'कर्णौ परिसमन्ताद्वा पृष्ठे वा पिडकोग्ररुक्। शालूकवत्पनसिकां तां विद्याच्छ्लेष्म-वातजाम्' ॥ यहां 'समन्तात्' ही 'चारों ओर' का ज्ञान हो जाने पर भी सर्वतो (समन्तात्) वाचक 'परि' उपसर्ग का सन्निवेश, तथा 'समन्ताद्वा' में वा शब्द का सन्निवेश, कान के अन्दर चारों ओर तथा कान के बाहर चारों ओर, यह अर्थ बताता है। कई आचार्य यहां तन्त्रान्तर में यह भाव न होने के कारण 'परि' उपसर्ग को पादपूर्ति के लिए मान कर श्रीकण्ठदत्तानुसारी होते हैं।

जालगर्दभं लक्षयति—

विसर्पवत्सर्पति यः शोथस्तनुरपाकवान्।
दाहज्वरकरः पित्तात्स ज्ञेयो जालगर्दभः ॥१२॥

जो शोथ (सूजन) पतला तथा अल्पपाकी वा अपाकी, दाहकारी और ज्वरकारी होता हुआ विसर्प की तरह सरकता (चलता) है, पित्त के कारण उत्पन्न होने वाले उस रोग को 'जालगर्दभ' इस नाम से जानना चाहिए। इसका तात्पर्य यह है कि—जो सूजन विसर्प की तरह चलती है, पतली तथा पाकरहित होती है, उसको जालगर्दभ कहते हैं। इसमें जलन तथा बुखार होता है, एवं इसकी उत्पत्ति में कारण पित्तदोष होता है।

मधु०—जालगर्दभलक्षणमाह—विसर्पवदित्यादि। अपाकवानिति ईषत्पाकवान्, पित्त-कृतत्वेन सर्वथा पाकाभावस्यायुक्तत्वादिति चक्रः, किंतु पाकरहित एवायमुपलभ्यते। पित्तादित्युद्भूत-पित्तात्, तेन भोजोक्तं पित्तोल्वणदोषत्रयजन्यत्वमस्याविरुद्धं भवति। स यदाह—"पित्तोत्कटास्त्रयो दोषा जनयन्ति त्वगाश्रिताः। श्यावं रक्तं तनुं शोथमपाकं बहुवेदनम् ॥ विसर्पिणं सदाहं च तृष्णाज्वरसमन्वितम्। विसर्पमाहुस्तं व्याधिमपरे जालगर्दभम्" इति। जतुकर्णस्त्वाह— "पित्ताधिकस्तत्र तीव्रदाहो रक्तपाको विसर्पज्वरकरो जालगर्दभः" इति। अयमग्निवात इति ख्यातो विकारः ॥१२॥

इसकी व्याख्या करते हुए आचार्य चक्र 'अपाकवान्' का अर्थ 'ईषत् पाकवान्' मानते हैं, क्योंकि यह रोग पित्त से होता है, और पैत्तिक होने से इसमें सर्वथा पाक का अभाव युक्तियुक्त नहीं दीखता। किन्तु (वस्तुतः) इसकी उपलब्धि पाक के बिना ही होती है। 'पित्तात्' से यहां 'उद्भूत पित्त' लेना चाहिए, और 'उद्भूत पित्त' से यह अर्थ लेने पर इसमें भोज के कथनानुसार पित्त की अधिकता तथा त्रिदोषजपन आ जाने से विरोध नहीं होता। भोज इसे पित्तोल्वण एवं त्रिदोषज मानता है, इस बात का प्रतिपादक उसका वचन भी है कि—'पित्तोल्वण तीन दोष त्वचा में आश्रित होकर श्यामवर्ण, रक्तवर्ण, पतली पाकरहित, बहुवेदनान्वित, विसर्पणशील, दाहवाली, तृष्णान्वित और

ज्वरयुक्त जिस व्याधि को उत्पन्न करते हैं, उसे वैद्य लोग विसर्प कहते हैं, किन्तु कई आचार्य जालगर्दभ नाम से पुकारते हैं'। यहां जतुकर्ण तो कहता है कि—'उनमें से जालगर्दभ; पित्तोल्बण, तीव्रदाहवाला, रक्तपाकी, विसर्पकारी और ज्वरोत्पादक होता है'। यह विकार अन्यत्र 'अग्निवात' नाम से प्रसिद्ध है।

इरिवेल्लिकां लक्षयति—

पिडकामुत्तमाङ्गस्थां वृत्तामुग्ररुजाज्वराम्।
सर्वात्मिकां सर्वलिङ्गां जानीयादिरिवेल्लिकाम् ॥१३॥

शिर में होने वाली, गोल, उग्रपीड़ान्वित, घोरज्वरयुक्त, त्रिदोषात्मक तथा त्रिदोष के लक्षणों वाली पिडका 'इरिवेल्लिका' इस नाम से जाननी चाहिए। इसका भाव यह है कि—इरिवेल्लिका नामक रोग सिर में पिडका के रूप में होता है, और वह पिडका गोल, उग्रपीडाकारी, उग्रज्वरकारी, त्रिदोषजन्य और त्रिदोष के लक्षणों से युक्त होती है।

कक्षास्वरूपमाह—

बाहुपार्श्वांसकक्षेषु कृष्णस्फोटां सवेदनाम्।
पित्तप्रकोपसंभूतां कक्षामित्यभिनिर्दिशेत् ॥१४॥ [सु० २।१३]

बाहु, पार्श्व (पसवाडे), अंस और कक्षा (काँख) इनमें होने वाली, कृष्णवर्ण के स्फोटों से युक्त, पीडान्वित तथा पित्तदोष के प्रकोप से उत्पन्न पिडका को 'कक्षा' नाम से कहना चाहिए। अर्थात्—कक्षा नामक पिडका पित्तदोष के प्रकोप से बाहु, पार्श्व, अंस और कक्षा में उत्पन्न होती है, एवं इसमें कृष्ण वर्ण के स्फोट तथा पीड़ा ये लक्षण होते हैं।

मधु०—इरिवेल्लिकालक्षणमाह—पिडकामित्यादि। सर्वात्मिकां सर्वलिङ्गामिति। सर्वात्मिकां सर्वदोषजाम्। सर्वात्मिकामित्यनेनैव सर्वलिङ्गत्वे सिद्धे पुनः सर्वलिङ्गामिति वचनं विकृतिविषमसमवायारब्धलिङ्गव्यतिरेकेण प्रत्येकदोषलिङ्गयुक्ततां ख्यापयति ॥१३-१४॥

सर्वात्मिका से सब दोषों से होने वाली, यह अर्थ लिया जाता है। जब सब दोषों से होने वाली कह दिया तो सब दोषों के लक्षणों वाली, यह कहना व्यर्थ है। इस पर आचार्य कहते हैं कि—विकृतिविषमसमवाय से आरब्ध होने के कारण लक्षण व्यतिरेक होने से हर एक दोष के लक्षणों की युक्तता बतलाने के लिये 'सर्वलिङ्गां' (सब दोषों के लक्षणों वाली) यह निर्देश, 'सर्वात्मिकां' (सब दोषों से होने वाली) कहने पर भी कर दिया है।

गन्धमालास्वरूपमाह—

एकामेतादृशीं दृष्ट्वा पिडकां स्फोटसंनिभाम्।
त्वग्गतां पित्तकोपेन गन्धमालां प्रचक्षते ॥१५॥

स्फोट के तुल्य तथा उक्त 'कक्षा' के से लक्षणों वाली पित्तदोष के प्रकोप से त्वचा में उत्पन्न अकेली पिडका को आचार्य 'गन्धमाला' नाम से कहते हैं।

मधु०—पनसिकामाह—एकामित्यादि । एकामेव स्थूलामिति कच्छपिकातो भेद-दर्शनार्थम् ॥१५॥

भाषा इसकी स्पष्ट एवं सुगम ही है ।

अग्निरोहिण्या लक्षणमाह—

कक्षभागेषु ये स्फोटा जायन्ते मांसदारणाः[1] ।
अन्तर्दाहज्वरकरा दीप्तपावकसंनिभाः ॥१६॥
सप्ताहाद्वा दशाहाद्वा पक्षाद्वा हन्ति[2] मानवम् ।
तामग्निरोहिणीं विद्यादसाध्यां सर्वदोषजाम् ॥१७॥ [सु० २।१३]

मांस को विदीर्ण करने वाले वा मांस को विदीर्ण कर उत्पन्न होने वाले, अन्तर्दाह तथा ज्वरकारी, एवं प्रज्वलित अग्नि के समान सन्तापक वा नाशक जो स्फोट कक्षा के भिन्न २ हिस्सों में उत्पन्न होते हैं, वे (यदि वाताधिक हों तो) सात दिन में, (यदि पित्ताधिक हों तो) दस दिन में वा (यदि श्लेष्माधिक हों तो) पन्द्रह दिन में मनुष्य को नष्ट कर देते हैं । इस असाध्य एवं सर्वदोषज बीमारी को अग्निरोहिणी नाम से जानना चाहिए ।

वक्तव्य—यहां सुश्रुत में 'हन्ति मानवम्' के स्थान पर 'घ्नन्ति मानवम्' यह पाठ मिलता है । वस्तुतः यही पाठ उपादेय है, क्योंकि प्रकृत में बहुवचन रूप में उक्त स्फोटों से तथा 'जायन्ते' इस बहुवचनान्त क्रिया के साथ ही इस क्रिया का भी सम्बन्ध है, अतः यह क्रिया भी बहुवचनान्त होनी चाहिए । एवं 'हन्' धातु का लट् के प्रथमपुरुषीय बहुवचन में 'घ्नन्ति' रूप बनता है । अतः यहां यही उपयुक्त है ।

मधु०—अग्निरोहिणीलक्षणमाह—कक्षेत्यादि । सप्ताहाद्वा दशाहाद्वेत्यभिधानमसाध्यत्वख्यापकमनुपक्रमाद्बोद्धव्यम् । उपक्रमात् पुनरियं साध्यैव, अत एवास्याश्चिकित्साभिधानं चरकेणाप्यग्निरोहिणीं प्रत्यभिहितं—"सन्ति ह्येवंविधा रोगाः साध्या दारुणसंमताः । ये हन्युरनुपक्रान्ता मिथ्यारम्भेण वा पुनः" (च. सू. स्था. अ. १८) इति । तन्त्रान्तरमपि—"पित्तरक्तोत्कटा दोषाः प्रदीप्ताङ्गारसंनिभान् । पक्षभागेषु कुर्वन्ति तीव्रदाहरुजाज्वरान् ॥ मांसावदारणान् स्फोटान् ये हन्युरनुपक्रमात् । पक्षाद्दशाहादर्वाग्वा सा ज्ञेया वहिरोहिणी"—इति । वातपित्तकफाधिक्याद्यथाक्रमं सप्ताहादिविकल्पः ॥१६–१७॥

सात दिन वा दस दिन (आदि) का निर्देश चिकित्सा के अभाव में असाध्यता दर्शाने के लिये है । चिकित्सा करने पर यह रोग साध्य ही है, इसी लिये तो महर्षि चरक ने अग्निरोहिणी की चिकित्सा का निर्देश किया है । तद्यथा—'कुछ एक ऐसे भी रोग हैं जो कि दारुण होते हुए भी चिकित्सा करने पर वा सम्यक् आरम्भ से साध्य हैं, और चिकित्सा न करने पर अथवा मिथ्यारम्भ से मनुष्य को मार देते हैं' (च. सू. स्था. अ. १८) । इसी

१ मांसदारणाः. २ घ्नन्ति.

भाव को बतलाने के लिये तन्त्रान्तर में भी कहा है कि—'पित्त और रक्त की उल्बणता वाले दोष (वातादि) जलते हुए अङ्गारों के समान, तीव्रदाह, पीड़ा तथा ज्वर को करने वाले, मांस को फाड़ने वाले स्फोटों को पक्ष (कक्ष) के भिन्न २ भागों में उत्पन्न कर देते हैं। जिनकी कि चिकित्सा न करने पर पन्द्रह दिन, दश दिन अथवा इससे थोड़े काल (सात दिन) में मृत्यु हो जाती है। इस रोग का नाम वह्निरोहिणी है। उपर्युक्त मूल श्लोक में सप्ताहादि का विकल्प यथाक्रम वात पित्त और कफ की अधिकता से जानना चाहिए।

चिप्पकुनखयोः स्वरूपमाह—

नखमांसमधिष्ठाय वायुः पित्तं च देहिनाम्।
कुर्वाते दाहपाकौ च तं व्याधिं चिप्पमादिशेत् ॥१८॥ [सु० २।१३]

वायु और पित्त मनुष्य के नख मांस (नखों के निचले मांस) को आश्रित करके दाह और पाक करते हैं। इस व्याधि को आचार्य चिप्प कहते हैं।

तदेवाल्पतरैर्दोषैः परुषं कुनखं वदेत् ॥१९॥

और यदि उपर्युक्त चिप्प नामक रोग ही बहुत थोड़े (मात्रा में) दोषों से हो तथा कठोर हो तो उसे वैद्यकवारिधि आचार्य 'कुनख' नामक रोग कहते हैं।

वक्तव्य—उपर्युक्त चिप्प के लक्षण में सुश्रुत ने पाठान्तर मान कर उसका दाह और पाक के साथ २ वेदना होना भी लक्षण माना है, जो कि उपयुक्त प्रतीत होता है। क्योंकि ये रोग वातपित्तात्मक होने से, इसमें वेदना रूप वातज लक्षण और दाह तथा पाक रूप पित्तज लक्षण होना ठीक है। यदि इसमें वेदना रूप वातज लक्षण न माना जावे तो अनुभव से विरोध होता है तथा इसकी उत्पत्ति में वायु की कारणता का ज्ञान नहीं होता। कारण कि लिङ्गदर्शनपूर्वक लिङ्गी का ज्ञान होता है, जैसे कि (अविच्छिन्नमूल) धूम के देखने से वह्नि का। किञ्च उक्त श्लोक में 'वायुः पित्तं च देहिनाम। कुर्वाते दाहपाकौ' यह पाठ पढ़ा है, जिसका अन्वय इस प्रकार है कि—"वायुः पित्तं च, देहिनाम्, (नखमांसमधिष्ठाय) दाहपाकौ, कुर्वाते"। एवं यहां 'वायुः पित्तञ्च कुर्वाते' यह नहीं बनता, क्योंकि वायु और पित्त दोनों कर्तृवाचक शब्द एकवचनान्त हैं। एवं इनमें कृ धातु की आत्मनेपदी क्रिया भी एकवचनान्त होनी चाहिए, और 'पित्तं च' वाला चकार सम्बन्ध संयोजन भली प्रकार कर सकता है। तद्यथा 'वायुः पित्तं च नखमांसमधिष्ठाय दाहपाकौ कुरुते' अर्थात् 'वायुः कुरुते' (वायु करता है) 'पित्तं च कुरुते' (और पित्त करता है)। इस प्रकार इस पाठ में इन दोषों के आने से सुश्रुतोक्त यह पाठ ठीक है कि—"नखमांसमधिष्ठाय पित्तं वातश्च वेदनाम्। करोति दाहपाकौ च तं व्याधिं चिप्पमादिशेत्"। अर्थात् 'पित्तं वातश्च, नखमांसमधिष्ठाय, वेदनाम्, दाहपाकौ च, करोति, तं व्याधिं, चिप्पम्,

१ चिप्परोग आङ्गलभाषायां ह्विट्लो (whitlow) इति नाम्ना प्रसिद्धः।

आदिशेत्' (पित्त और वायु नखवर्ती मांस का आश्रय लेकर वेदना, दाह और पाक करते हैं। इस व्याधि को चिप्प कहना चाहिए) परन्तु "नखमांस-मधिष्ठाय वायुः पित्तं च देहिनाम्। कुर्वाते दाहपाकौ च तं व्याधिं चिप्पमादिशेत्" इस पाठान्तर को मानने वाले विद्वान् कहते हैं कि इसमें कोई दोष नहीं है। क्योंकि यहां 'वेदना' का ग्रहण 'दाहपाकौ च' में पठित चकार से हो जाता है। एवं द्विवचनान्त 'कुर्वाते' क्रिया की समाधि भी अध्याहार आदि से हो जाती है। तद्यथा—'वायुः पित्तं च देहिनां नखमांसमधिष्ठाय (तदनु च सम्भूतौ तौ यथा-संभववेदनां) दाहपाकौ च कुर्वाते' अर्थात् वायु और पित्त मनुष्यों के नखमांस को आश्रित कर (और उसके बाद वे दोनों मिलकर यथासंभव वेदना) दाह और पाक को करते हैं। यहां कोष्ठों में स्थित पद अध्याहृत हैं। इसी चिप्परोग के सुश्रुत ने 'क्षतरोगाख्य' तथा 'उपनख' ये दो और नाम भी निर्दिष्ट किये हैं। तद्यथोक्तं सुश्रुतेन—"तदेव क्षतरोगाख्यं तथोपनखमित्यपि" (सु. नि. स्था. १३)। एवं तन्त्रान्तर में यह 'अंगुलिवेष्टक' इस नाम से भी प्रसिद्ध है। ऋषिप्रवर चरक इसे 'अक्षतनाम' नामक विकार मानते हैं। तद्यथा—"रोगोऽक्षतश्चर्मनखान्तरे स्यान्मांसास्रदोषी भृशदाहपाकः" (च. चि. स्था. अ. १२)। एवं इस रोग के चिप्प, क्षतरोग, उपनख, अंगुलिवेष्टक और अक्षत नाम से पाँच नाम हैं।

मधु०—चिप्पमाह—नखेत्यादि। तं व्याधिं चिप्पमिति चिप्पमङ्गुलीवेष्टकमिति ख्यातम्। चरके त्वक्षतनामायं विकारः। यदुक्तं—"रोगोऽक्षतश्चर्मनखान्तरे स्यान्मांसास्रदोषी भृशदाहपाकः" (च. चि. स्था. अ. १२) इति ॥१८–१९॥

कुनख के लक्षण में आचार्य सुश्रुत ने परुषता के साथ २ कृष्णता तथा रूक्षता ये दो और लक्षण भी पढ़े हैं। और वह इसका दूसरा नाम 'कुलीन' मानता है। जैसे उसने अपनी संहिता में लिखा भी है कि—'अभिघातात् प्रदुष्टो यो नखो रूक्षोऽसितः खरः। भवेत्तं कुनखं विद्यात्कुलीनमिति संज्ञितम्'। (सु. नि. अ. ११)।

अनुशयीं लक्षयति—

गम्भीरामल्पसंरम्भां सवर्णामुपरिस्थिताम्।
पादस्यानुशयीं तां तु विद्यादन्तःप्रपाकिनीम् ॥२०॥

गम्भीर (अन्तःप्रपाक के कारण), अल्पशोथ युक्त, त्वचा के समान रंग वाली, मस्तक में स्थित, (पाद के ऊपर हुई) भीतर ही भीतर पकने वाली व्याधि 'अनुशयी' कहलाती है।

मधु०—अनुशयीलक्षणमाह—गम्भीरामित्यादि। गम्भीरामित्यन्तःपाकेन। अल्प-संरम्भामित्यल्पशोथाम् ॥२०॥

इसकी भाषा सरल ही है।

विदारिकायाः स्वरूपमाह—

विदारीकन्दवद् वृत्ता कक्षावङ्क्षणसन्धिषु ।
विदारिका भवेद्रक्ता सर्वजा सर्वलक्षणा ॥२१॥ [सु० २।१३]

विदारीकन्द की तरह गोल तथा कक्षा, वंक्षण और सन्धियों में वा कक्षा और वंक्षण की सन्धियों में होने वाली रक्तवर्ण की, सभी दोषों से वा सन्निपात से उत्पन्न होने वाली, और सभी दोषों के लक्षणों वाली वा सन्निपात के लक्षणों वाली पिडका विदारिका नामक होती है अर्थात् इन लक्षणों वाली पिडका को विदारिका कहते हैं ।

वक्तव्य—'कक्षावंक्षणसन्धिषु' यह पद समासान्त एवं बहुवचनान्त है । एवं इसके अर्थ की सङ्गति कई विद्वान् कक्षा, वंक्षण और सन्धियों को भिन्न २ मान कर करते हैं । अर्थात् वे इस पद का अर्थ यह करते हैं कि कक्षा, वंक्षण तथा सन्धियों में उत्पन्न होने वाली । वे कहते हैं कि यदि 'कक्षा और वंक्षण की सन्धियों में होने वाली' यह अर्थ माना जावे तो कक्षाप्रदेश तथा वंक्षणप्रदेश के स्वयं सन्धिप्रदेश होने से पुनः सन्धि शब्द का प्रयोग निष्फल होता है । किञ्च कक्षा और वंक्षण इन दोनों का निर्देश होने से 'सन्धिषु' यह बहुवचनान्त पद यहां अनुपयुक्त होता है । अतः उक्त श्लोक में अर्थसंगति कक्षा, वंक्षण और सन्धियों को भिन्न २ मान कर करनी उचित है । इसमें उक्त दोष भी नहीं आते । इस पर दूसरे आचार्य कहते हैं कि यहां अर्थसङ्गति, कक्षा और वंक्षण की सन्धियों में होने वाली, यह मान कर करनी चाहिए । क्योंकि कक्षा और वंक्षण की सन्धियों के अतिरिक्त दूसरी सन्धियों में ये नहीं होती, यह अनुभव सिद्ध है । किञ्च चरक ने भी इसे कक्षा और वंक्षण की सन्धियों में होने वाली ही माना है । तद्यथा—"ज्वरान्विता वंक्षणकक्षसन्धौ वर्तिर्निरर्तिः कठिना मता या । विदारिका सा कफमारुताभ्याम्" (च. चि. अ. १२) । एवं अनुभव तथा आप्त-वाक्य वा समानतन्त्र वाक्य से यही सिद्ध होता है कि—'कक्षावंक्षणसन्धिषु' की 'कक्षा और वंक्षण की सन्धियों में होने वाली' यह अर्थ की सङ्गति ठीक है । इस अर्थसङ्गति में जो यह दोष दिया है कि वंक्षणप्रदेश और कक्षाप्रदेश के स्वयं सन्धि प्रदेश होने से पुनः सन्धिशब्द का निर्देश निष्फल होता है । इसका उत्तर यह है कि यहां सन्धि शब्द का निर्देश निष्फल नहीं है, प्रत्युत इस शब्द के उपादान से यह सिद्ध होता है कि यह पिडका केवल कक्षा और वंक्षण की सन्धि में ही होती है, कक्षा सन्धि तथा वंक्षण सन्धि से व्यतिरिक्त कक्षाप्रदेश वा वंक्षणप्रदेश में नहीं होती । इसका भाव यह है कि कक्षाप्रदेश तथा वंक्षण-प्रदेश व्यापक है, और उसमें कक्षासन्धि तथा वंक्षणसन्धि व्याप्य है, और

३ अयं रोग आंग्लभाषायां 'ब्यूबो' (Bubo) इति नाम्ना प्रसिद्धः.

यह रोग केवल कक्षासन्धि तथा वंक्षणसन्धि में होता है। अतः यहां सन्धि शब्द निर्देश किया है। अन्यथा इस रोग की उत्पत्ति कक्षा सन्धि तथा वंक्षण सन्धि से अवशिष्ट कक्षाप्रदेश तथा वंक्षणप्रदेश में भी प्रतिपादित हो जाती, जो कि अनुभव तथा समान तन्त्र से विरुद्ध है। एवं दूसरा जो यह दोष दिया है कि 'कक्षा और वंक्षण इन दोनों का निर्देश होने से 'सन्धिषु' यह बहुवचनान्त पद यहां अनुपयुक्त है, क्योंकि जब कक्षा और वंक्षण दो हैं तो इनकी सन्धियाँ भी दो ही होती हैं, अतः यहां द्विवचन होना चाहिए था न कि बहुवचन'। इसका उत्तर यह है कि कक्षा और वंक्षण में होने वाली सन्धियों के बहुत होने से यहां बहुवचन दिया है। यदि यह कहा जावे कि कक्षा और वंक्षण में एक २ सन्धि होती है, बहुत नहीं, अतः बहुवचन नहीं होना चाहिए। इसका उत्तर यह है कि यदि कक्षा और वंक्षण में एक २ सन्धि भी मान ली जावे तो भी दोष नहीं आता। क्योंकि कक्षा दो होती हैं, और वंक्षण भी दो होते हैं, एवं मिल कर ये चार हुए, चारों में एक २ सन्धि मानने पर भी सन्धियाँ चार होती हैं, और दो से अधिक वस्तुओं में बहुवचन आता है। इस प्रकार यहां एक २ सन्धि मानने पर भी बहुवचन प्रयोग विरुद्ध नहीं होता। एवं इसी मूलस्थ श्लोक में 'सर्वजा सर्वलक्षणा' यह पाठ पढ़ा है। इसकी अर्थसङ्गति में भी बहुत सा मत-भेद है। कई यहां उभयत्र नञ् मान कर असर्वजा असर्व लक्षण मानते हैं। दूसरे पहले में नञ् मानते हैं, और दूसरे में नहीं, एवं वे 'असर्वजा सर्वलक्षणा' यह मानते हैं। तीसरे पहली जगह नञ् नहीं मानते, परन्तु दूसरी जगह मानते हैं। एवं वे इसका अर्थ 'सर्वजा असर्वलक्षणा' यह स्वीकार करते हैं। एवं चौथे आचार्य यहां उभयत्र नञ् नहीं मानते, उनके मत में 'सर्वजा सर्वलक्षणा' यही ठीक है, और यही सिद्धान्त लक्षण है। पूर्वोक्त अर्थों वा पाठों के न मानने में अरुचि बीज क्या है? इसका उत्तर तथा विशद विवेचन मधुकोश की व्याख्या में किया जावेगा। किन्तु यहां केवल सिद्धान्त लक्षण पर ही किञ्चित् वक्तव्य है। सिद्धान्त लक्षण 'सर्वजा सर्वलक्षणा' में भी विविध आचार्यों के विविध भाव हैं जिनमें से यहां दो प्रवर आचार्यों के भाव दर्शाए जाते हैं। तद्यथा—एक आचार्य 'सर्वजा' का अर्थ 'सन्निपातजा' मानता है। वह कहता है कि यद्यपि यह सन्नि-पात से होती है, परं तथापि साध्य है। यहां इस बात की आशंका नहीं करनी चाहिए कि यदि यह सन्निपात से उत्पन्न होती है तो साध्य कैसे हो सकती है? क्योंकि सभी सन्निपातज रोग असाध्य नहीं होते। इसी प्रकार यह रोग भी सन्निपातज होने पर साध्य है। 'सन्निपात' से यहां तीनों दोषों के मिलाव से जो रूप बनता है, वह लिया जाता है; न कि तीनों संयोग होने पर भी पृथक्त्व प्रतीति वाला रूप। अन्यथा यहां विकृतिविषमसमवाय का अभाव होगा, और इसके अभाव

होने से विकृतिविषमसमवाय से होने वाले लक्षणों का भी अभाव होगा, जो कि यहां अनुभव से विरुद्ध है। साथ ही यदि ऐसा न स्वीकार किया जावे तो आगे कहा हुआ 'सर्वलक्षणा' रूप पद ठीक नहीं घटता। क्योंकि जब सभी लक्षण होने ही नहीं तो सर्वलक्षण कहने की कोई आवश्यकता न थी। कारण कि सर्वजा से ही 'सर्वलक्षणा' का बोध हो जाता है, किन्तु आचार्य ने इसका (सर्वलक्षणा का) उपादान किया है। अतः यह प्रतीत होता है कि 'सर्वजा' का अर्थ 'सन्निपातजा' है। एवं 'सर्वलक्षणा' का अर्थ भी 'दोषसमुदायलक्षणा' है, न कि प्रत्येक दोषलक्षणा। क्योंकि जिस प्रकार हरिद्रा और चूर्ण के लक्षण पृथक् २ और हैं, और इनके संयोगरूप समुदाय के लक्षण और (लोहितवर्णता) हैं इसी प्रकार प्रत्येक दोष के लक्षण और होते हैं, और उनके संयोगरूप समुदाय के लक्षण और होते हैं। एवं उपर्युक्त दोनों पदों का अर्थ 'सन्निपात' से होने वाली तथा सन्निपात के लक्षणों वाली यह है, न कि सभी दोषों से होने वाली तथा सभी दोषों के लक्षणों वाली। क्योंकि इस प्रकार मानने से (सभी दोषों से होने वाली, तथा सभी दोषों के लक्षणों वाली मानने से) यह व्याधि सात प्रकार की हो जाती है, जो कि इसका पाठ क्षुद्ररोग में होने के कारण अनुचित्त है। कारण कि क्षुद्ररोग में कोई भी ऐसी व्याधि नहीं है, जिसके कि इतने भेद दर्शाए गए हों। किञ्च यदि आचार्य को इसके सात प्रकार अभिप्रेत होते तो वह यहां 'दोषैः सप्तविधा तु सा' यह पाठ कर देते, जिससे कि सन्देह निवृत्ति हो जाती, परन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया। अतः प्रतीत होता है कि यह व्याधि केवल सन्निपात से उत्पन्न होती है, तथा सन्निपात के लक्षणों वाली होती है। अब इस पक्ष में यह शंका उपस्थित होती है कि यदि यह सन्निपातज है, तो तन्त्रान्तर में इसे वातकफान्विता क्यों पढ़ा है ? इसका उत्तर यह है कि 'वातकफान्विता' का भाव यह है कि वातकफ की अधिकता तथा पित्त की हीनता होने से इसकी उत्पत्ति होती है। वातकफ की अधिकता तथा पित्त की हीनता भी सन्निपात के १३ प्रकारों में से एक प्रकार की है, एवं यह रोग सन्निपात के उस प्रकार से पैदा होता है। गयदासाचार्य डल्हण प्रभृति दूसरे पक्ष के आचार्य इसकी व्याख्या इस प्रकार मानते हैं कि—सर्वजा का 'सर्वैर्वातादिभिः पृथक् रूपेण, द्वन्द्वरूपेण सन्निपातरूपेण च जायत इति सर्वजा' अर्थात् पृथक् २ रूप से, द्वन्द्वरूप तथा सन्निपातरूप दोषों से होने वाली, यह अर्थ है। और सर्वलक्षणा का 'सर्वेषां वातादिदोषाणां स्वरलक्षणैर्युता' अर्थात् वातादि सभी दोष अपने २ लक्षणों से युक्त (यह व्याधि होती है) यह अर्थ है। यहां पर सर्वजा से 'मिलित सर्वदोषैर्जायत (सन्निपतितैरित्यर्थः) इति सर्वजा' अर्थात् सभी दोषों के मेलरूप सन्निपात से होने वाली, यह अर्थ नहीं लिया जाता, क्योंकि इस अर्थ के स्वीकार करने से अवशिष्ट ६ भेदों का ग्रहण नहीं होता, जो कि आवश्यक हैं। साथ ही यदि

सर्वजा का 'सन्निपातैकजन्या' यह अर्थ लिया जावे तो आगे कहा हुआ 'सर्वलक्षणा' यह पद व्यर्थ जाता है, क्योंकि जो 'सन्निपातैकजा' होगी वह सन्निपातलक्षणा भी होगी। अन्यथा यह सन्निपातजा है, इसका ज्ञान नहीं होगा। क्योंकि लिङ्गज्ञान के बाद ही अप्रत्यक्ष लिङ्ग का ज्ञान होता है, जैसे वृक्ष को देखकर उसके बीज का। एवमेव यहां भी सन्निपात के लक्षणों को देखकर तो सर्वजा की सत्यता प्रतीत होती है। किञ्च सर्वजा का यदि अर्थ सन्निपातैकजन्य है तो सर्वलक्षणा का निर्देश व्यर्थ है, क्योंकि जब यह सन्निपात से होगी तो इसमें लक्षण भी सन्निपात के ही होंगे। आम्र के बीज से आम्र ही होता है। अतः यह सिद्ध होता है कि सर्वजा का अर्थ वातादिकों की व्यष्टि तथा समष्टि में होने वाली, यह है। यहां यह शंका भी निराधार है कि यदि यह वातादिकों की व्यष्टि तथा समष्टि से होती है, तो इसके ७ भेद बन जाते हैं, और सात भेद होने से इसमें महत्ता आ जाती है, क्षुद्रपन नहीं रहता। जब क्षुद्रपन नहीं रहता तो इसका क्षुद्ररोग में अभिधान व्यर्थ होता है। क्योंकि क्षुद्ररोगों का नाम व्यभिचार आने से भेदों के अभाव को ही लक्ष्य रख कर नहीं रक्खा गया। परन्तु यदि 'दुर्जन तुष्य' न्याय के अनुसार इन रोगों का यह अभिधान अवान्तर भेद के अभाव से ही रक्खा गया है, यह मान भी लिया जावे तो भी कोई दोष नहीं आता। क्योंकि आचार्य ने भी तो इसे स्फुट शब्दों में सप्तधा नहीं कहा, और न ही सातों प्रकारों के पृथक् २ लक्षणों का निर्देश किया है। किन्तु केवल उसने अपने कौशल से 'सर्वजा सर्वलक्षणा' यह कहकर सूक्ष्मबुद्धिग्रहणयोग्य सात प्रकार बता दिए हैं। इसका भाव यह है कि यह क्षुद्ररोग हैं, अतएव आचार्य ने इसके अवान्तरभेद होने पर भी 'दोषैः सप्तविधा तु सा' जैसे पदों की कल्पना करके उनका स्फुटज्ञान नहीं कराया, किन्तु 'सर्वजा सर्वलक्षणा' का सङ्केत कर सूक्ष्मबुद्धियों को उनका इङ्गितमात्र दे दिया है। एवं इसमें क्षुद्ररोगपन की हानि भी नहीं होती। इस मत में यह शंका नहीं करनी चाहिए कि जब 'सर्वजा' अर्थात् वात आदि पृथक्, द्वन्द्व और समस्तजन्या कह दिया तो 'सर्वलक्षणा' कहने की क्या आवश्यकता थी। क्योंकि जब वह सभी दोषों के अवान्तर भेदों से होगी तो उसमें उन २ के लक्षण स्वत एव आवेंगे। जैसे तन्तुओं का श्वेतपन वस्त्र में आता है। इसका उत्तर यह है कि ठीक है, 'सर्वजा' से सभी दोषों के लक्षणों का ग्रहण हो जाता है, परन्तु फिर भी 'सर्वलक्षणा' पद का अभिधान साभिप्राय है। तद्यथा—दोषों के लक्षण रोगों में दो प्रकार के होते हैं—एक—प्रकृतिसमसमवायजन्य और दूसरे—विकृतिविषमसमवायजन्य। इनमें प्रकृतिसमसमवायजन्य लक्षणों वाला रोग प्रायः साध्य होता है और विकृतिविषमसमवायजन्य लक्षणों वाला रोग साध्य नहीं होता। एवं यदि यहां 'सर्वलक्षणा' न कहकर केवल 'सर्वजा' यह पद ही होता तो इससे

वात आदि सात भेदों से होने वाली, इस अर्थ के साथ २ उनके (दोषों के) प्रकृतिसमसमवायजन्य तथा विकृतिविषमसमवायजन्य लक्षणों वाली (पिडका विदारिका कहलाती है), यह अर्थ भी आ जाता । इस प्रकार इसमें विकृतिविषम-समवायजन्य लक्षणों के भी होने से साध्यता नहीं आ सकती, क्योंकि रोगों में इस प्रकार के लक्षण असाध्यता के प्रतिपादक होते हैं वा यह कहें कि इस प्रकार के लक्षणों वाले रोग असाध्य होते हैं। इसे आचार्यों ने साध्य माना है, जब इसे साध्य कहा है तो इसमें विकृतिविषमसमवायजन्य असाध्यलक्षण नहीं होते। विकृतिविषमसमवायजन्य असाध्य लक्षण इसमें नहीं होते और प्रकृतिसम-समवायजन्य लक्षण इसमें होते हैं। यह अर्थ केवल 'सर्वजा' पद से नहीं निकल सकता, क्योंकि सामान्यप्रतिपादक होने से उससे दोनों प्रकार के लक्षणों का ज्ञान होता है, एक का नहीं। एवं इसमें 'सर्वलक्षणा' यह पद विकृतिविषमसमवाय-जन्य असाध्य लक्षणों के निरासार्थ दिया है । इस पद का अर्थ 'सर्वेषां दोषाणां स्वस्वलक्षणैः (प्रकृतिसमसमवायजन्यैः), ननु विकृतिविषम-समवायजन्यैः इत्यर्थः) उपेता इति सर्वलक्षणा' अर्थात् वातादि सभी दोषों के अपने २ लक्षणों से युक्त, यह है। (ननु—) 'सर्वलक्षण' शब्द का सब जगह यही अर्थ होता है वा इसी जगह। यदि सब जगह होता है तो 'सर्व-सम्पूर्णलक्षणः सन्निपातज्वरोऽसाध्यः'—(मा. नि. ज्व. नि.) में 'सर्वलक्षण' शब्द का अर्थ यह नहीं है। अत एव उसमें असाध्यपन है, एवं इस अर्थ का उससे विरोध आता है। और यदि यहीं पर इसका यह अर्थ है, अन्यत्र नहीं तो यह क्यों ? इसका उत्तर यह है कि 'सर्वलक्षण' शब्द का यह अर्थ सर्वत्र संगत नहीं होता। किन्तु इस अर्थ की सङ्गति ऐसे ही स्थलों पर होती है, जहां पर कि रोग की सभी दोषों से उत्पत्ति प्रतिपादक 'सर्वज' वा 'सर्वात्मक' आदि शब्दों के बाद इसका (सर्वलक्षण वा सर्वलिङ्ग अथवा सर्वचिह्न आदि शब्दों का) प्रयोग हो। जैसे कि इरिवेल्लिका के लक्षण में। एवं यहां तथा प्रकृत में इसका यही अर्थ है। 'सर्वसम्पूर्णलक्षणः' में इस प्रकार की बात नही है। अतः वहां इसका अर्थ प्रकृतिसमसमवायजन्य तथा विकृतिविपमसमवायजन्य सभी लक्षणों वाला, यह होता है।

मधु०—विदारीलक्षणमाह—विदारीत्यादि । विदारिका भवेद्रक्ता सर्वजा सर्वलक्षणे-त्यत्र केचिदसर्वजा, असर्वलक्षणेति उभयत्रापि नञः प्रयोगमिच्छन्ति, तेनासर्वजा इति सर्वदोषैः सन्निपतितैर्न भवति, असर्वलक्षणेति सन्निपातलक्षणरहितेत्यर्थः । तेन प्रत्येकदोषद्वन्द्वजत्वेन षड्विधा सन्निपातमात्रेण न भवतीति वाक्यार्थः । किंत्वयं पक्षो यद्यभिमतः स्यादाचार्यस्य, तदा व्यक्त्यर्थं 'षड्विधा ह्येकदोषजा' इति पदं कृतं स्यात् । किंच बहुप्रपञ्चत्वेन क्षुद्रत्वासङ्गतिश्च । अपरे 'असर्वजा सर्वलक्षणा' इति पठन्ति; तदपि न संगतं, सर्वदोषैर्न भवत्यथ सर्वदोषलक्षणा भवति हन्त तर्हि लिङ्गिनमन्तरेण लिङ्गप्रादुर्भावप्रसङ्गः । अन्ये तूत्तरपद एव नञः प्रयोगात् 'सर्वजाऽसर्वलक्षणा'

इति वदन्ति; तत्र यदि सर्वेषां लक्षणानि सर्वलक्षणानि तान्यविद्यमानानि यस्यामिति, तदा कथं लिङ्गमन्तरेण लिङ्गिनः परोक्षस्य परिच्छेदोदयः। अथ सर्वाणि च तानि लक्षणान्यविद्यमानानि यस्यामिति, सन्निपातजत्वेऽप्यसंपूर्णलक्षणेत्यर्थः। एतदपि न सङ्गतं, यद्ययं पक्षोऽभीष्टः स्यात्तदाऽसर्वलक्षणेति न वक्तव्यमत्र स्यात्, सर्वत्र न्यायस्यास्य समानत्वात्; हेत्वनुरूपकोपबलेन हि सर्वत्र सर्वाधोल्पलिङ्गसङ्गतिः। असंपूर्णलक्षणत्वेन दोषाणां हीनबलत्वं समवृद्धानामनारम्भकत्वं वा शक्यमेवास्मिन् पक्षे वक्तुं, किंतु तन्नाद्रियन्ते; ततश्चोभयत्रापि नञः प्रयोगं विना सर्वजा सर्वलक्षणेति पाठो युक्तः। सर्वजेत्यभिधायापि सर्वलक्षणेति वचनमिरिवेल्लिकायामिव प्रकृतिसमसमवायजन्यवातादिलक्षणदर्शनार्थं, तेन विकृतिविषमसमवायजन्यासाध्यत्वादिलक्षणानि न भवन्ति। अस्मिन्नपि पाठे सर्वजा सर्वैरेकादिप्रकारैर्वातादिभिर्जन्यते, एवं सर्वलक्षणेति वक्तुं पार्यते, किंतु क्षुद्ररोगत्वाद्दोषभेदेन गणना न युक्ता। चरके त्वियं कफमारुतजा पठ्यते। यदुक्तं—"ज्वरान्विता वङ्क्षणकक्षसन्धौ वर्तिर्निरर्तिः कठिना मता या। विदारिका सा कफमारुताभ्याम् ॥" (च. चि. स्था. अ. १२) इति। तेनात्राप्यल्पपित्तयुक्तकफवातजत्वेन सर्वजत्वं ज्ञेयम्। यथा—ज्वरयोगेनाल्पपित्तत्वम्। यदुक्तम्—"ऊष्मा पित्तादृते नास्ति ज्वरो नास्त्यूष्मणा विना ॥" (वा. चि. स्था. अ. १) इति। 'विदारीमिति तां विद्यात् सर्वजां सर्वलक्षणाम्' इति पाठान्तरे न कश्चिद्व्याख्यानप्रपञ्चः ॥२१॥

'विदारिका भवेद्रक्ता सर्वजा सर्वलक्षणा' यहां पर कई लोग उभयत्र नञ् का प्रयोग करके 'असर्वजा असर्वलक्षणा' ऐसा पढ़ते हैं। इसका तात्पर्य यह होता है कि—विदारिका सन्निपात से नहीं होती, तथा सन्निपात के लक्षणों से रहित होती है। इसका भाव यह है कि विदारिका पृथक् २ दोषों से तीन प्रकार की, तथा इनके द्वन्द्व से तीन प्रकार की, एवं छः प्रकार की होती है। केवल सन्निपात से ही नहीं होती। इस पर श्रीकण्ठदत्त जी कहते हैं कि—नहीं, यह ठीक नहीं है क्योंकि यदि यह पक्ष आचार्य को अभिप्रेत होता तो वह ('सर्वजा सर्वलक्षणा' के स्थान पर) "षड्विधा द्व्येकदोषजा" यह पद लिख देता। अथ च यदि आचार्य को यही पक्ष अभिमत होता तो (इस विदारिका के भेदों का) बहुत प्रपञ्च होने के कारण इस रोग की क्षुद्र रोग में सङ्गति वा क्षुद्र रोग में पाठ न करता (अतः यह सिद्ध होता है कि यह मत ठीक नहीं)। कई आचार्य प्रथम पद में नञ् का प्रयोग कर 'असर्वजा सर्वलक्षणा' यह पढ़ कर, यह मानते हैं कि यह व्याधि सब दोषों से तो नहीं होती, किन्तु इसमें सब दोषों के लक्षण होते हैं। इस पर आचार्य श्रीकण्ठ जी कहते हैं कि—यह भी संगत प्रतीत नहीं होता, क्योंकि यदि ऐसा मान लिया जावे कि यह व्याधि सब दोषों से होने के विना सब दोषों के लक्षणों से युक्त होती है, तो लिङ्गी के विना लिङ्ग के होने का प्रसङ्ग उपस्थित हो जाता है, जो कि असम्भव होने से हो नहीं सकता। अन्य आचार्य उत्तर पद में नञ् का प्रयोग मान 'सर्वजाऽसर्वलक्षणा' अर्थात् सर्वज होने पर भी जिसमें सब दोषों के लक्षण नहीं होते, यह स्वीकार करते हैं। परन्तु यह मत भी सङ्गत नहीं, क्योंकि लिङ्ग के विना परोक्ष लिङ्गी का परिच्छेदोदय (ज्ञान) कैसे हो सकता है? (अर्थात् जैसे धूम रूप लिङ्ग ज्ञान के विना परोक्ष अग्नि का ज्ञान नहीं हो सकता वैसे ही सभी दोषों के लक्षणों की उत्पत्ति के विना इसमें सभी दोषों का ज्ञान कैसे हो सकता है) अर्थात् नहीं हो सकता। अतः यह मत भी माननीय नहीं है। अथच 'असर्व-

लक्षणा' पद का अर्थ 'सर्वाणि च तानि लक्षणानि अविद्यमानानि यस्याम्' के अनुसार सभी लक्षणों की विद्यमानता से रहित, अर्थात् सन्निपातज होने पर असम्पूर्ण लक्षणों वाली, यह किया जावे तो भी सङ्गति नहीं हो सकती। कारण कि आचार्य को यदि यह पक्ष अभिमत होता तो वह यहां 'असर्वलक्षणा' यह पद न देते। क्योंकि सन्निपातज होने पर भी सम्पूर्ण लक्षणों का न होना रूप धर्म साधारण है (अतः 'असर्वलक्षणा' यह पद न कहने पर भी इस अर्थ का ज्ञान स्वतः हो जाता, पुनः आचार्य ने इसका निष्फल प्रयोग क्यों किया है)। कारण यह है कि हेतु के अनुसार कोप के बल से सब स्थानों पर सारे तथा आधे लक्षणों की सङ्गति (उत्पत्ति) होती है। असम्पूर्णलक्षणता से दोषों की हीनबलता अथवा समवृद्धों की अनारम्भकता ही इस पक्ष में कही जा सकती है। किन्तु आचार्य इसका भी आदर नहीं करते अर्थात् आचार्यों को यह भी अभिमत नहीं है। इसलिये दोनों स्थानों पर नञ् प्रयोग के विना 'सर्वजा सर्वलक्षणा' यह पाठ युक्तियुक्त है। यहां पर 'सर्वजा' यह पद कहने पर भी 'सर्वलक्षणा' इस पद का प्रयोग इरिवेल्लिका रोग में की तरह प्रकृतिसम-समवायजन्य वातादि लक्षणों के प्रदर्शनार्थ है। इससे यह सिद्ध होता है कि इसमें विकृति-विषमसमवायजन्य असाध्य लक्षण नहीं होते। यद्यपि 'सर्वजा सर्वलक्षणा' इस पाठ में भी 'सर्वजा' का अर्थ सभी एक आदि प्रकार वाले सभी वातादि दोषों से होने वाली (अर्थात् एक २ दोष से तीन, द्वन्द्व से तीन तथा सन्निपात से एक एवं दोषों के सप्तविध प्रकारों से होने वाली) हो सकता है, तथा 'सर्वलक्षणा' का अर्थ, सभी दोषों के अपने २ लक्षणों वाली हो सकता है। किन्तु क्षुद्र रोग होने से दोषभेद से गणनायुक्त नहीं है। चरक में तो यह व्याधि श्लेष्मवात से होने वाली मानी है। जैसे कहा भी है कि—वंक्षण और कक्षा की सन्धि में ज्वरयुक्त, कठिन एवं पीडारहित श्लेष्म और वात के कारण जो वत्ती सी निकलती है, वह विदारिका होती है। इससे यहां भी अल्प पित्तयुक्त कफ-वातज होने के कारण सर्वजत्व जानना चाहिये। जैसे ज्वर के संयोग से अल्प पित्त का। और कहा भी है कि—पित्त के विना गर्मी (ऊष्मा) नहीं हो सकती और गर्मी के विना ज्वर नहीं हो सकता। 'विदारीमिति तां विद्यात् सर्वजां सर्वलक्षणाम्' इस पाठान्तर के स्वीकार करने से व्याख्यान का कोई प्रपञ्च (विस्तार) नहीं आता। अर्थात् इस पाठान्तर में संहिता का अभाव होने से नञ् का विश्लेष न हो सकने के कारण व्याख्या विस्तृत नहीं होती।

शर्करार्बुदं लक्षयति—

प्राप्य मांससिरास्नायूः श्लेष्मा मेदस्तथाऽनिलः।
ग्रन्थिं करोत्यसौ भिन्नो मधुसर्पिर्वसानिभम् ॥२२॥ [सु० २।१३]
स्रवत्यास्रावमनिलस्तत्र वृद्धिं गतः पुनः।
मांसं संशोष्य ग्रथितां शर्करां जनयेत्ततः ॥२३॥ [सु० २।१३]
दुर्गन्धि क्लिन्नमत्यर्थं नानावर्णं ततः सिराः।
स्रवन्ति रक्तं सहसा तं विद्याच्छर्करार्बुदम् ॥२४॥ [सु० २।१३]

श्लेष्मा, मेद तथा वायु; मांस, शिराओं तथा स्नायुओं का आश्रय लेकर गांठ सी उत्पन्न कर देता है। तदनु वह गांठ विदीर्ण होकर मधु (मक्खी), घृत और वसा के समान स्राव को स्रवित करती है। इसके अनन्तर पूर्व प्रकुपित वायु पुनः वृद्धिरूप प्रकोप को पाकर मांस को सुखा गठी हुई शर्करा को उत्पन्न

कर देता है। इसे शर्करा कहते हैं। बाद में इसी शर्करा से सिराएं सहसा रक्त को स्रवित करने लग जाती हैं। तब दुर्गन्धियुक्त, अत्यन्त क्लेदान्वित तथा अनेक (घृत वसा मेदस् आदि के से) वर्णों वाला यह रोग शर्करार्बुद (नामक) जानना चाहिए।

वक्तव्य—यहां पर पूर्व शर्करा उत्पन्न होती है, तदनु वह शर्करार्बुद को उत्पन्न करती है, वा यह कहें कि शर्करार्बुद में परिणत हो जाती है, अथवा शर्करा रोग शर्करार्बुद रोग को उत्पन्न कर स्वयं नष्ट हो जाता है। इनका भाव एक सा ही है। इस प्रकार की व्यवस्था होती है। जैसे कहा भी है कि—"कश्चिद्धि रोगो रोगस्य हेतुर्भूत्वा प्रशाम्यति। न प्रशाम्यति चाप्यन्यो हेतुत्वं कुरुतेऽपि च" (मा. नि. पं. नि.)। एवं प्रायः शर्करा रोग हेतु बन कर अर्थात् शर्करार्बुद को उत्पन्न कर स्वयं प्रशान्त (लुप्त) हो जाता है। किन्तु जहां लुप्त नहीं होता और शर्करार्बुद को भी उपजा देता है, वहां 'न प्रशाम्यति' इत्यादि शास्त्रप्रतिपादनानुसार सङ्गति होती है। भिन्न प्रतीति होने पर भी यह एक ही रोग है। कई आचार्य यहां पर शर्करा तथा शर्करा से उत्पन्न शर्करार्बुद को पृथक् २ रोग मानते हैं, किन्तु दूसरे (गयदासप्रभृति) आचार्य इसे दो रोग मान कर दोनों का सम्मिलित एक ही रोग मानते हैं, तथा कहते हैं कि शर्करार्बुद शर्करा रोग की ही अवस्था विशेष है, अतः इसे पृथक् नहीं माना जाता। अन्यथा संख्यावृद्धि हो जाने से सुश्रुत में संख्यातिरेक, वदतोव्याघात वा स्वोक्तिविरोध आता है, जो कि नहीं आना चाहिए। और किसी समान तन्त्र में शर्करा की पृथक्ता से उक्ति भी नहीं दीखती। अतः ये दोनों एक ही रोग हैं, केवल अवस्था विशेष होने के कारण नाम भेद है। (ननु—) पहले अश्मरी अधिकार में अश्मरी से शर्करा की उत्पत्ति मानी है। वहां भी अश्मरी शर्करा में परिणत होती हैं। वहां इनके अश्मरी और शर्करा ये दो भिन्न नाम पढ़े हैं, तथा इनको भिन्न २ रोग भी माना है। अतः यहां भी वैसा ही मान लिया जावे तो क्या हानि है? इसका उत्तर यह है कि—ठीक है, वहां अश्मरी शर्करा में परिणत होती वा अश्मरी की ही अवस्था विशेष शर्करा है। परन्तु वहां संख्या की कोई बात नहीं अतः उसे पृथक् मान लिया है, किन्तु यहां इस अधिकार में आने वाले रोगों की संख्या नियत है, अतः शर्करार्बुद को पृथक् मानने से पूर्वोक्त संख्यातिरेक दोष आता है। साथ ही जैसे वहां अश्मरी से होने वाली शर्करा का नाम भिन्न है, वैसे यहां भी शर्करा से शर्करार्बुद यह नाम भेद है। अथवा वहां भी यहां की तरह केवल नामभेद तथा अवस्थाभेद ही है, पृथक्पन नहीं है। अन्यथा शर्कराश्मरी इस भेद से अश्मरी के पञ्चविध हो जाने से, चतुर्विध अश्मरी होती है, यह वाक्य असत्य सिद्ध हो जाता है। अत एव वहां (अश्मरी में) भी, शर्करा अश्मरी की अवस्थान्तर है, न कि अश्मरी से भिन्न। इसलिए कहा है कि "अश्मर्येव च शर्करा" (मा. नि. अश्म. नि.)।

एवं शर्करा यह नाम भेद भी अवस्था विशेष को लक्ष्य रख कर रक्खा गया है। इस प्रकार यहां भी वहीं न्याय है, कोई भेद नहीं। उक्त ग्रन्थ में 'प्राप्य' इत्यादि से 'जनयेत्ततः' तक शर्करा का लक्षण है और उसके बाद 'दुर्गन्धि' इत्यादि से 'शर्करार्बुदम्' तक शर्करार्बुद का लक्षण है।

मधु०—शर्करामाह—प्राप्येत्यादि। इयमेव शर्करार्बुदस्य हेतुः। अस्यां कफानिलौ दोषौ, मांससिरास्नायुमेदांसि दूष्याणि। अनिलस्तत्र वृद्धिं गत इति पूर्वमेव तावद्वृद्धोऽनिलो धातुक्षयेण वृद्धिमतिशयेन गतो मांसं विशोष्य काठिन्यात् शर्करातुल्यां शर्करां जनयति। अतः शर्करायास्तुल्यं शर्करार्बुदं भवति। दुर्गन्धि क्लिन्नमित्यादिना शर्करोत्पन्नं शर्करार्बुदलक्षणं, शर्करार्बुदं च शर्करावस्थैवेत्येक एवायं विकारः; तेन न संख्यातिरेकः। नानावर्णमिति घृतमेदोवसावर्णं रक्तम्। तत इति शर्करार्बुदादेव। भोजेऽपि पठ्यते—"तमेव भिन्नं दुर्गन्धं घृतमेदोनिभं सिराः। स्रवन्ति स्रावमनिशं तदा स्याच्छर्करार्बुदम्॥" इति। तमेवेति ग्रन्थिम्॥२२-२४॥

यही शर्करार्बुद का कारण है। इसमें कफ और वायु दोष होते हैं। मांस, शिरा, स्नायु तथा मेद ये दूष्य हैं। पहले ही बढ़ा हुआ वायु धातुक्षय से पुनः अतिशय से वृद्धि प्राप्त करके मांस को सुखा कर शर्करा की तरह कठिन शर्करा को उत्पन्न कर देता है। इसलिए शर्करार्बुद शर्करा के समान ही होता है। (तत इतीति—)शर्करार्बुद से सिराएं रक्त को स्रावित करती हैं। यही बात भोजकृत ग्रन्थ में भी आती है। तद्यथा—जब उसी ग्रन्थि के भिन्न होने पर शिराएं दुर्गन्धित घृत और मेद के समान स्राव को बहाती हैं, तब वह शर्करा शर्करार्बुद हो जाती है।

पाददार्याः स्वरूपमाह—

परिक्रमणशीलस्य वायुरत्यर्थरूक्षयोः।
पादयोः कुरुते दारीं पाददारीं तमादिशेत्॥२५॥ [सु० २।१३]

वायु जब चारों ओर घूमने वाले मनुष्य के अत्यन्त रूखे पाँवों में दरारें कर देता है, तब उस रोग को 'पाददारी' कहना चाहिए।

वक्तव्य—'ननु' विपादिका नामक कुष्ठ से इसका क्या भेद है? इसका उत्तर यह है कि—विपादिका कुष्ठ में पिडका होती है, और इसमें पैर फटते हैं। विपादिका कुष्ठ से इसका भेद दोष दूष्यों से महत्ता तथा स्वल्पता से भी है।

मधु०—पाददारीमाह—परिक्रमणशीलस्येत्यादि। परिक्रमणं पादविहरणं, दारी दारणमात्रं; विपादिकाकुष्ठं तु पिडका सविदारणेति भेदः॥२५॥

पाददारीमाहेत्यादि की भाषा सरल ही है।

कदरस्य लक्षणमाह—

शर्करोन्मथिते पादे क्षते वा कण्टकादिभिः।
ग्रन्थिः कोलवदुत्सन्नो जायते कदरं हि तत्॥२६॥ [वा० ६।३१]

पाँवों के शर्करा (रेत) से उन्मथित होने के कारण, वा कण्टकादिकों से क्षत होने के कारण, उनमें बदरीफल के समान गांठ उपज आती है, जो कि कदर रोग कहलाती है।

वक्तव्य—इसमें सुश्रुत ने कारणान्तर तथा लक्षणान्तर भी पढ़े हैं। तद्यथा—'शर्करोन्मथिते पादे क्षते वा कण्टकादिभिः। मेदोरक्तानुगैश्चैव दोषैर्वा जायते नृणाम्। सकीलकठिनो ग्रन्थिर्निम्नमध्योन्नतोऽपि वा। कोलमात्रः सरुक् स्रावी जायते कदरस्तु सः"।

मधु०—कदरमाह—शर्करोन्मथित इत्यादि। कदरं कोलाछीति ख्यातम्। कोलवदित्यस्य स्थाने कीलवदिति पाठान्तरम्। कदरं हस्तेऽपि भवति। तथाच भोजः—"हस्तयोः पादयोश्चापि गम्भीरानुगतं खरम्। मांसकीलं जनयतः कुपितौ कफमारुतौ॥ सशल्यमिव तं देशं मन्यते तेन पीडितः। शर्कराकदरं केचिन्मन्यन्ते वातकण्टकम्" इति। कोलवदिति बदरवत्॥२६॥

(कदरमिति—) कदर, यह रोग हाथों में भी होता है। तथा च भोजः-प्रकुपित वात और कफ हाथों पैरों में गम्भीर एवं परुष मांस कीलों को उत्पन्न कर देते हैं। उन कीलों से प्रपीडित मनुष्य उस प्रदेश को अन्तःस्थित शल्य प्रदेश की तरह मानता है। इस रोग को कई आचार्य शर्कराकदर तथा दूसरे वातकण्टक इस नाम वाला मानते हैं।

अलसस्य लक्षणमाह—

क्लिन्नाङ्गुल्यन्तरौ पादौ कण्डूदाहरुजान्वितौ।
दुष्टकर्दमसंस्पर्शादलसं तं विभावयेत्॥२७॥ [सु० २।१३]

दुष्ट कर्दम (मलयुक्त वा खराब कीचड़) के अनेक संवन्ध होने से अंगुलियों के मध्यभाग में क्लिन्नता से युक्त पाँव जब कण्डू, दाह और पीडान्वित हो जाते हैं, तो वह अलस कहलाता है। अर्थात् दुष्ट कर्दम के बार २ स्पर्श से क्लेद प्राप्त पादाङ्गुलिमध्यभाग जब कण्डू आदि लक्षणों से युक्त होता है, तब उसे अलस कहते हैं।

मधु०—अलसकलक्षणमाह—क्लिन्नेत्यादि। अयं कफरक्तजो विकारः 'पाकुया' इति ख्यातः। अत्र कण्डूः कफस्य, दाहरुजे रक्तस्य॥२७॥

यह विकार कफ और रक्त से होता है। इसे ग्राम भाषा में 'पाकुया' कहते हैं। यहां कण्डू कफ का, दाह और पीड़ा वायु के लक्षण हैं।

इन्द्रलुप्तस्य लक्षणमवतारयति—

रोमकूपानुगं पित्तं वातेन सह मूर्च्छितम्।
प्रच्यावयति रोमाणि ततः श्लेष्मा सशोणितः॥२८॥ [सु० २।१३]
रुणद्धि रोमकूपांस्तु ततोऽन्येषामसंभवः।
तदिन्द्रलुप्तं खालित्यं रुह्येति च विभाव्यते॥२९॥ [सु० २।१३]

वात के साथ मिला हुआ पित्त रोमकूपानुग हो रोमों को गिरा देता है। इसके अनन्तर रक्त के साथ मिला हुआ श्लेष्मा रोमकूपों को रोक देता है (बन्द कर देता है), जिससे कि अन्य रोमों का उपजना बन्द हो जाता है। इस रोग को इन्द्रलुप्त, खालित्य (गञ्जापन) और रुह्या (रुन्या) कहा जाता है।

मधु०—इन्द्रलुप्तस्य लक्षणमाह—रोमकूपेत्यादि । एतत्त्रिभिर्दोषैः सशोणितैः स्वभावान्नियतकालव्यापारैर्भवति । एतच्च स्त्रीणां न भवतीति विदेहवचनाद्व्याख्यानयन्ति । यदुक्तं—"अत्यन्तसुकुमाराङ्ग्यो रजो दुष्टं स्रवन्ति च । अव्यायामरता यस्मात्तस्मान्न खलितिः स्त्रियाः ॥" इति । अव्यायामाद्वातपित्तयोरकोपेन नातिरोमच्युतिः, रजःस्रावेण च स्रोतोऽवरोधाभावाच्च्युतानामपि रोम्णां पुनर्विरोहः; किंतु स्त्रीष्वपि खलितिदर्शनात् प्रायिकं विदेहवचनम् । खालित्यं रुह्येति च तस्य पर्यायकथनम् । तथाच भोजः—"तदिन्द्रलुप्तमित्याहुः खल्लीं रुह्यां च केचन" इति । कार्तिकस्त्वाह—"इन्द्रलुप्तं श्मश्रुणि भवति, खालित्यं शिरस्येव, रुह्या च सर्वदेहे ॥" इति । आगमस्त्वत्र नास्ति ॥२८–२९॥

इन्द्रलुप्त रोग रक्त सहित तीनों दोषों से स्वभाव से नियत समय पर और नियत व्यापारों से होता है । विदेह महाराज कहते हैं कि यह रोग स्त्रियों को नहीं होता । जैसे कहा भी है कि—"स्त्रियां अत्यन्त कोमल अङ्गों वाली होती हैं, मासिक धर्म के समय दुष्ट रज को छोड़ती हैं, और व्यायाम नहीं करतीं, अतः इन्हें खालित्य (गञ्ज) रोग नहीं होता" । व्यायाम न करने से वात और पित्त कुपित नहीं होते । इसलिए रोमच्युति नहीं होती । रजःस्राव के कारण स्रोत नहीं रुकते, जिससे गिरे हुए रोम भी फिर उत्पन्न हो जाते हैं । किन्तु स्त्रियों में भी गञ्जापन दीखता है, अतः विदेह का उपर्युक्त वचन प्रायिक समझना चाहिये । खालित्य और रुह्या इन्द्रलुप्त के पर्यायवाचक हैं । जैसे भोज ने भी कहा है कि—"उस रोग को 'इन्द्रलुप्त' कहते हैं, और कई आचार्य उसे खल्ली तथा रुह्या कहते हैं" । इस पर आचार्यप्रवर कार्तिक कहते हैं कि—"इन्द्रलुप्त रोग श्मश्रु में, खालित्य रोग सिर में और रुह्या रोग सारे शरीर में होता है" । परन्तु इसमें कोई शास्त्र का प्रमाण नहीं मिलता ।

दारुणकस्य स्वरूपमाह—

दारुणा कण्डुरा रूक्षा केशभूमिः प्रपाट्यते ।
कफमारुतकोपेन विद्याद्दारुणकं तु तम् ॥३०॥ [सु० २।१३]

जिस रोग में केशभूमि (सिर) कफ और वायु के प्रकोप से कठिन, कण्डूयुक्त और रूक्ष होकर फट जाती है, उसको 'दारुणक' नामक रोग जानना चाहिए ।

मधु०—दारुणलक्षणमाह—दारुणेत्यादि । दारुणेति कठिना । कफमारुतकोपादिति यद्यप्युक्तं तथापि पित्तरक्तानुबन्धोऽप्यत्र द्रष्टव्यः । तथाहि विदेहः—"यदत्र पटलाभासं सरुजस्कं शिरस्त्वचि । परुषं जायते जन्तोस्तस्य रूपं विशेषतः ॥ तोदैः समन्वितं वातात् सकण्डूगौरवं कफात् । सपिपासं सदाहार्तिरागं पित्तास्रजं तथा" इति । अत्र वचने सदाहरागं च पित्तात्, सार्तिं तु रक्तात्, अर्तिर्हि रक्तजाऽपि भवति । यदुक्तं—"रक्तं हि व्यम्लतां याति तच्चेन्नास्ति न चास्ति रुक्" इति । दारुणं रूक्षीति लोके ॥३०॥

यद्यपि इसमें कफ और वायु का प्रकोप बताया है, तो भी पित्त और रक्त का अनुबन्ध यहां पर जान लेना चाहिये । जैसे कि विदेह ने कहा भी है कि—"जो यहां पर पाटलवर्ण की सी कान्तिवाला, पीडान्वित, कठोर सा सिर की त्वचा में उत्पन्न होता है, विशेषतः (वातादि दोषों की विशेषता से) उसका रूप यह होता है । उसमें वायु से

तोद होता है, कफ से कण्डू तथा भारीपन होता है, एवं पित्त और रक्त से पिपासा, दाह, पीड़ा तथा राग होता है" । इस उपर्युक्त विदेह के वाक्य में दाह और राग पित्त से, तथा अर्ति रक्त से होती है । जैसे कहा भी है कि—"रक्त ही विशेषतः अम्लता को प्राप्त होता है, यदि वह न हो तो पीड़ा भी नहीं होती" । दारुण को लोग रूक्खी नाम से पुकारते हैं ।

वक्तव्य—उपर्युक्त विदेह के वचन में वातिक दारुणक में तोद, श्लैष्मिक दारुणक में कण्डू और गौरव एवं पित्तज और रक्तज दारुणक में पिपासा, दाह, अर्ति और राग होते हैं । इनमें से रक्त से अर्ति होती है, और राग, दाह तथा पिपासा पित्त से होती है । यद्यपि पिपासा रूप लक्षण वायु का भी होता है, क्योंकि वायु भी शोषण द्वारा जलवाही स्रोतों को दूषित (सुखा) कर पिपासा उत्पन्न कर देती है, परं तथापि यहां यह लक्षण पित्त के कारण होता है, पित्त भी प्यास लगाती है । इसमें प्रमाण भी है कि—"नाग्नेर्विना वर्षः पवनाद्वा तौ हि शोषणे हेतू" (च. चि. स्था. अ. २२) । किञ्च—जब यह लक्षण दोनों से उत्पन्न हो सकता है तो यह कैसे प्रतीत हो कि कहां किस दोष से हुआ है, इसका उत्तर यह है कि—वहां पर 'सहचरितासहचरितयोः सहचरितस्यैव ग्रहणम्' इस न्याय के अनुसार साथ वाले लक्षणों को देखकर अवधारणा कर ली जाती है । एवं प्रकृत में भी इसका पाठ दाह आदि पैत्तिक लक्षणों के साथ होने से यह पित्तज लक्षण है, ऐसा निश्चय हो जाता है । यहां पर यह भी नहीं कहना चाहिये कि यह पैत्तिक लक्षणों में से प्रारम्भिक रूप में रक्खा है, अतः इसका सम्बन्ध पूर्वस्थित दोष लक्षणों के साथ होता है । क्योंकि पूर्वस्थित लक्षण कफ के हैं, और कफ के लक्षणों में इसका सम्बन्ध नहीं हो सकता क्योंकि पिपासा कफ से नहीं होती, जैसे तृष्णा की सम्प्राप्ति विवरण में कहा भी है कि—"पित्तं सवातं कुपितं नराणां तालुप्रपन्नं जनयेत् पिपासाम्" (मा. नि. तृ. नि.), तथा "नाग्नेर्विना तर्षः पवनाद्वा" इत्यादि । और जो तृष्णा अधिकार में श्लैष्मिक तृष्णा बताई गई है, वहां भी वस्तुतः कारण अन्तराग्नि वा पित्त ही है, श्लेष्मा तो केवल मार्ग का अवरोधन करता है, जिससे कि पावकोष्मा नीचे जाकर जलवाही स्रोतों को सुखा देती है । जैसे कहा भी है कि—"वाष्पावरोधात् कफसंवृतेऽग्नौ तृष्णाः" (मा. नि. तृ. नि.) इत्यादि । एवं कफ के स्वतन्त्र तथा पिपासा न उपजा सकने के कारण प्रकृत तृष्णारूप लक्षण पित्त का ही है । और जो प्रकृत में 'सकण्डू गौरवं' पढ़ने के बाद 'कफात्' का पाठ होने से स्वतः एव नियमन हो जाने के कारण यह लक्षण श्लैष्मिक नहीं सिद्ध होता । हां, यदि यहां वातिक लक्षणों के स्थान पर श्लैष्मिक लक्षणों और श्लैष्मिक लक्षणों के स्थान पर वातिक लक्षणों का निर्देश होता तथा वातिक दोष लक्षणों के अन्त में वात का (वातात् का इत्यर्थः) निर्देश न होता तो भ्रम पड़ सकता था । किन्तु यहां ऐसा नहीं है, अतः यह निस्सन्देह यहां पर पैत्तिक लक्षण है ।

अरुंषिकायाः स्वरूपमाह—

अरूंषि बहुवक्त्राणि बहुक्लेदीनि मूर्ध्नि तु ।
कफासृक्क्रिमिकोपेन नृणां विद्यादरुंषिकाम् ॥३१॥ [सु० २।१३]

कफ, रक्त तथा क्रिमियों के प्रकोप से मनुष्यों के सिर में बहुत क्लेदयुक्त तथा बहुत मुखों वाली जो पिडका उत्पन्न होती है, उसे अरुंषिका कहते हैं ।

मधु०—अरुंषिकामाह—अरूंषीत्यादिना । अरूंषीति व्रणाः ॥३१॥

इसकी भाषा सरल है ।

पलितस्य लक्षणमाह—

क्रोधशोकश्रमकृतः शरीरोष्मा शिरोगतः ।
पित्तं च केशान् पचति पलितं तेन जायते ॥३२॥ [सु० २।१३]

क्रोध, शोक तथा श्रम के कारण उत्पन्न देहाग्नि और पित्त शिर में जाकर केशों को पका देता है। इससे पलित रोग हो जाता है।

मधु०—पलितमाह—क्रोधेत्यादि । शरीरोष्मेति देहाग्निः । पित्तं चेति पित्तमपि शिरोगतं पलितहेतुः । ननु, पित्तमेवाग्निः, तत्र तत्र पित्तस्य पाचकत्वेनाभिधानात्; यदुक्तवान् सुश्रुतः—"न पाकः पित्तादृते ।" (सु. सू. स्था. अ. १७) इति, तथा—"पित्ते तस्मिन् पाचकोऽग्निरिति संज्ञा ।" (सु. सू. स्था. अ. २१) इति, तथा स एव—"न खलु पित्तव्यतिरेकेणान्योऽग्निरुपलभ्यते, आग्नेये तु पित्ते दहनपचनदारणादिष्वभिवर्तमानेऽग्निवदुपचारः क्रियते अन्तरग्निरिति, क्षीणे ह्यग्निगुणे तत्समानद्रव्योपयोगादतिवृद्धे शीतक्रियोपयोगादागमाच्च पश्यामः न खलु पित्तव्यतिरेकेणान्योऽग्निः ॥" (सु. सू. स्था. अ. २१) इति; चरकाचार्योऽप्याह—"दर्शनं पक्तिरूष्मा च क्षुत्तृष्णा देहमार्दवम् । प्रभाप्रसादौ मेधा च पित्तकर्माविकारजम् ॥" (च. सू. स्था. अ. १८) इति; पाकस्यान्यथानुपपत्त्या चाग्नेरङ्गीकारः; किंच मन्देऽग्नौ पित्तकरमरीचादिद्रव्योपयोगादग्नेर्वृद्धिः, पित्तप्रतिकूलशीतमधुरादिद्रव्योपयोगाच्चोपशम उपलभ्यते; यदि हि पित्ताद्भिन्नोऽग्निः स्यात्तदा पित्तस्य वृद्धिह्रासानुविधानमस्यानुपपन्नं स्यात्, न हि तुहिनकरमण्डले हिमभाज्यऽहिमोपलम्भः, अतुहिनमण्डले अहिमभाजि भगवति भास्करेऽभिमतो हिमोपलम्भः, यद्यतो भिन्नं तत्ततो भेदेनोपलभ्यते, यथा सागराद्जगरः, न चैवं पित्तादग्निः, तत्कुतः पित्तादग्नेः पृथगुपादानमिति ? अत्र प्रत्यभिधीयते—न तावदन्तरग्निः पित्तादभिन्नः, भेदसाधकप्रमाणस्य भूयः सद्भावात्; तथाह्यभेदे 'समदोषः समाग्निश्च' (सु. सू. स्था. अ. १५) इत्यत्र, "समप्रकोपौ दोषाणां सर्वेषामग्निसंश्रयौ" इत्यत्र च दोषपदलब्धत्वादग्नेः पृथगुपादानमसङ्गतं; तीक्ष्णः पित्तेन चेति स्वात्मनि क्रियाविरोधादसङ्गतं; यत्पुनः "न खलु पित्तव्यतिरेकेणान्योऽग्निः" इत्याद्युक्तं तद्भेदमेव साधयति, उपचाराभिधानात्, न ह्यभेदे उपचारः संभवति । यदप्यग्नेः पित्तवृद्धिह्रासानुविधानमभिहितं तदप्रयोजकं, भेदेऽपि समानत्वेन तदुपपत्तेः । यथा कफवृद्धिह्रासकरसौम्याग्नेयद्रव्याभ्यां शुक्रस्य वृद्धिह्रासौ दृष्टौ, न च कफशुक्रयोरैक्यं; किंच घृतं पित्तशमनमग्नेश्च दीपनं, पित्तस्य संचयादौ नाग्नेर्वृद्धिः, पेयादिकं चाग्निकरं, न पित्तकृत्; ततश्च पित्ताद्विलक्षणोऽन्तरग्निः । स च द्रवतेजःसमुदायात्मकस्य पित्तस्य तेजोभागो न वहिरनलवद्भस्माङ्गाराकारः, समुदायतश्च समुदायी अन्य एव करचरणादिभ्य इव शरीरम्; अत्यन्तभेदेन चाग्रहणं, तस्य नित्यसंश्लेषणशालित्वात् । पित्तस्य तेजोंऽशः एव पाच(व)कः, तदाह भोजः—"दृढमुष्णोचितं ह्येतत् पित्तोष्मा पचतीति यत् । मूर्च्छितो रसवीर्याभ्यां समानव्यानसंहितः" इत्यारभ्य, "तस्मात् तेजोमयं पित्तं पित्तोष्मा यः स पक्तिमान् । स कायाग्निः स कायोष्मा स पक्ता स च जीवनः" इति । पित्तैकदेशत्वात्तेजसि पित्तोपचारमाश्रित्य सुश्रुतेनोक्तं—"न पाकः पित्तादृते" इति, तथा—"न खलु पित्तव्यतिरेकेणान्योऽग्निः" इति । एवमन्यदप्यग्नेरभेदसाधकं वचनं समाधेयम् । ननु, यदि तीक्ष्णः पित्तेनेत्युक्तं, तत् कथं पित्तेनैवाग्नेः प्रशमनमभिधीयते । यदुक्तं चरके—

"कटुजीर्णविदाह्यम्लक्षाराद्यैः पित्तमुल्बणम्। आप्लावयद्धन्त्यनलं जलं तप्तमिवानलम्" (च. चि. स्था. अ. १५) इति। उच्यते, यदा कटुकेन रूक्षोष्णेन पित्तं वृद्धं भवति, तदा तेजोभागरूपायाः पित्तस्यावस्थाया उल्बणत्वात्तीक्ष्णः पित्तेनेति सङ्गतं; यदाऽलवणेन स्निग्धोष्णेन कफानुगमनभाजा वृद्धं पित्तं तदा पित्तस्य द्रवावस्थाया उद्रिक्तत्वान्निर्वापणमग्नेरुक्तमिति। जतुकर्णेऽप्युक्तं-"कुपितेन वायुना दीपस्येवाग्नेर्निर्वापणं, पित्तेनोष्णजलवत्, कफेनाम्बुवत्" इति। ततश्च युक्तमग्नेः पृथगुपादानमिति।

(नन्वित्यादि—) अब यह शंका उत्पन्न होती है कि पित्त ही अग्नि है, क्योंकि उन २ स्थानों में पित्त का ही पाचक (अग्नि) पन से निर्देश किया गया है। जैसे सुश्रुत ने कहा है कि—पित्त के बग़ैर पाक नहीं होता तथा उसी पित्त में 'पाचक अग्नि' यह संज्ञा है (अर्थात् उसी पित्त का पाचक अग्नि, यह नाम है)। किञ्च, वही सुश्रुत पुनः कहता है कि—पित्त से अतिरिक्त (शरीर में) और कोई अग्नि नहीं मिलती। अग्नि गुण वाले पित्त में ही दहन, पाचन, दारण आदि के होने से अग्नि की तरह उपचार किया जाता है कि यह (पित्त ही) अन्तरग्नि है। तथा अपने गुण के क्षीण हो जाने पर उसी के समान (अग्निवर्धक पित्तसमान) द्रव्यों के उपयोग से, और अग्निगुण के बहुत बढ़ जाने पर शीत चिकित्सा के उपयोग से, एवं शास्त्र से हम देखते हैं कि (शरीर में) पित्त के अतिरिक्त दूसरी कोई अग्नि नहीं है। चरकाचार्य भी कहता है कि—दर्शन, पाक, ऊष्मा, बुभुक्षा, पिपासा, शरीरमार्दव, प्रभा, प्रसाद और मेधा ये पित्त के अविकारज कर्म हैं। किसी दूसरे प्रकार से पाक का सम्भव न होने के कारण पित्त को ही अग्नि माना है। किञ्च मन्दाग्नि में पित्तकारी आदि द्रव्यों के प्रयोग से अग्नि की वृद्धि, तथा पित्त के प्रतिकूल शीत मधुर आदि द्रव्यों के प्रयोग से अग्नि की शान्ति (नाश) दीखती है। (एवं) यदि अग्नि पित्त से भिन्न होती तो पित्तवर्धक पदार्थों से इसकी वृद्धि तथा पित्तशामक पदार्थों से इसका ह्रास नहीं होना चाहिए, क्योंकि शीतल चन्द्रमण्डल से अभिमत ऊष्मा की प्राप्ति और उष्ण (भगवान्) सूर्य से अभिमत शीतलता की प्राप्ति नहीं हो सकती। जो जिससे भिन्न होता है वह उससे भेद द्वारा मिलता है, जैसे कि सागर से अजगर। किन्तु इसी प्रकार पित्त से अग्नि भेदयुक्त नहीं उपलब्ध होती। (एवं जब कि अग्नि पित्त से भिन्न नहीं उपलब्ध होती) तो पित्त से अग्नि का पृथक् उपादान कैसे हो सकता है? (उत्तर—) इस शंका का समाधान इस प्रकार है कि—अन्तराग्नि पित्त से अभिन्न नहीं है, क्योंकि भेदसाधक प्रमाण बहुत से मिलते हैं। तद्यथा अभेद प्रतिपादन में 'समदोष तथा समाग्नि वाला' (सु. सू. स्था. अ. १५) यहां, और 'दोषों की समता ('शम' इति पाठान्तरे शमता वा प्रशम) तथा प्रकोप अग्नि के आश्रित हैं' यहां दोष पद से अग्नि की उपलब्धि (ज्ञान) हो जाने के कारण पुनः अग्नि का उपादान असङ्गत होता है, तथा 'पित्त से अग्नि तीक्ष्ण होती है' में स्वात्मनि क्रिया विरोध होने से असङ्गति होती है, और जो 'पित्त के अतिरिक्त शरीर में दूसरी अग्नि नहीं मिलती' इत्यादि कहा है, वह भी उपचार (साहचर्याख्यसम्बन्धेन प्रवृत्तिरुपचारः) का अभिधान होने से भेद को ही सिद्ध करता है क्योंकि अभेद में उपचार नहीं होता। जो पित्तकर और पित्तहर पदार्थ सेवन से अग्निवृद्धि और अग्निह्रासरूप अनुविधान कहा है, वह अप्रयोजक (अभेद समर्थक नहीं) है, क्योंकि भेद (पक्ष) में भी उसकी समान सङ्गति हो जाती है। तद्यथा—कफ की वृद्धि तथा

ह्रास को करने वाले सौम्य तथा आग्नेय द्रव्यों से शुक्र की भी वृद्धि तथा ह्रास दीखते हैं; किन्तु कफ और शुक्र एक नहीं हैं। किञ्च घृत पित्तशमक और अग्निदीपक है, तथा पित्त सञ्चय कर ऋतु में अग्नि की वृद्धि नहीं होती। एवं पेया आदि अग्निवर्धक है, पित्तवर्धक नहीं। इससे सिद्ध होता है कि अन्तराग्नि पित्त से भिन्न है, और वह अग्नि द्रव और तेज के समुदायात्मक पित्त का तेजोभाग है, न कि बाहर की अग्नि की तरह अङ्गारों के आकार में (हैं)। समुदाय से समुदायी दूसरा ही होता है, जैसे कि कर चरण आदि से शरीर। अत्यन्त भिन्न प्रतीति का अभाव उनके परस्पर नित्य संश्लेषण के कारण है। पित्त का तेजो अंश ही पाचक होता है। इसमें भोज का प्रमाण भी है कि—'निश्चय से यह ऊष्मा के लिए ठीक ही है कि जो यह रस और वीर्य से मूर्च्छित तथा समान और व्यान से संहित पित्तोष्मा पकाती है' से लेकर 'इसलिए पित्त तेजोमय है, और पित्तोष्मा पाचक है, इसी को कायाग्नि कहा जाता है, यही कायोष्मा है, यही पक्ता है, और यही जीवन है'। पित्त का एक देश होने के कारण अग्नि में उसका (पित्त का) सादृश्य लेकर सुश्रुत ने 'पित्त से बिना पाक नहीं होता' यह कहा है। तथा 'पित्त के बिना शरीर में कोई दूसरी अग्नि नहीं मिलती:' इत्यादि भी सादृश्य को लेकर ही कहा है। इसी प्रकार अन्य भी अभेद-साधक वचनों का समाधान कर लेना चाहिए। (ननु—) यदि पित्त से अग्नि तीक्ष्ण होती है, तो पुनः पित्त से ही अग्नि का प्रशम कैसे कहा जा सकता है? पित्त से अग्नि का प्रशम होता है। इस पर चरक ने कहा भी है कि—कटु, अजीर्ण, विदाहि, अम्ल और क्षार आदि से उत्कट पित्त अन्तराग्नि को बुझाने वाले तप्त जल की तरह आप्लावित करता हुआ नष्ट कर देता है। इसका उत्तर यह है कि 'जब पित्त कटुक, रूक्ष और उष्णभावों से बढ़ता है, तब तेजोभाग रूप पित्त की अवस्था के उत्कट होने से, यह अग्नि को तीक्ष्ण कर देता है अतः 'तीक्ष्णः पित्तेन' यह सङ्गत हो जाता है। एवं जब पित्त, कफानुगमनभागी अलवण स्निग्धोष्ण भाव से बढ़ता है, तब पित्त की द्रवावस्था बढ़ जाने के कारण यह अग्नि को शान्त कर देता है, अतः 'कटु' इत्यादि चरकोक्ति सङ्गत होती है। जतुकर्ण तन्त्र में भी कहा है कि—'कुपित वायु से अग्नि का प्रशम प्रदीप की तरह होता है, कुपितपित्त से अग्नि का प्रशम उष्ण जल की तरह होता है, और कुपित कफ से अग्नि का प्रशम जल की तरह होता है' (अर्थात् जिस प्रकार बाहर प्रकुपित वायु प्रदीप की अग्नि को बुझा देता है, उसी प्रकार अन्दर प्रकुपितवायुदोप जठराग्नि को प्रशान्त कर देता है; जिस प्रकार बाहर तप्त जल 'तेजः सोमात्मको भूत्वा इत्यर्थः' बाह्य अग्नि को बुझा देता है, उसी प्रकार अन्दर पित्त जठराग्नि को प्रशान्त कर देता है। एवं जिस प्रकार बाहर [सोमात्मक] जल अग्नि को शान्त कर देता है, उसी प्रकार अन्दर श्लेष्मा जठराग्नि को शान्त कर देता है)। इस प्रकार अग्नि का पृथगुपादान युक्त ही है।

वक्तव्य—ऊपर 'ननु' इत्यादि मधुकोप की भाषा करते हुए भावानुवाद की ओर ध्यान न देकर शब्दानुवाद की ओर ही ध्यान दिया गया है, जिससे कि मूल पाठ की संगति में सुगमता तथा मूलपाठवर्ती शब्दों की ज्ञेयता पाठकों को शीघ्र हो सके। शब्दानुवाद में यह आवश्यक होता है कि भाव ज्ञान में कुछ बाधा पड़े, क्योंकि शब्द विन्यास-शैली भिन्न २ भाषाओं में भिन्न २ होती है। दूसरा यह शास्त्रार्थ भी कुछ कठिन सा है, अतः उसका सुगम भाव नीचे दर्शाया जाता है। ऊपर श्लोक में पलित की उत्पत्ति बताते हुए आचार्य ने 'शरीरोष्मा' और 'पित्तं च' इन दो पदों का निर्देश किया है, जिनका कि अर्थ क्रमशः 'देहाग्नि' और 'पित्तनामक दोप' है। आचार्य ने इन दोनों से पलितनामक रोग

की उत्पत्ति मानी है। परन्तु अन्य स्थानों में ये दोनों एक ही रूप में दर्शाए हैं, किन्तु यहां इन्हें पृथक् २ स्वीकार किया है। अतः स्वभावतः यह ख्याल आता है कि क्या ये दोनों अभिन्न हैं, वा भिन्न ? इसी बात को पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष रख कर आचार्य निर्णीत करते हैं। (पूर्वपक्ष—) पित्त ही अग्नि है। पित्त से भिन्न कोई और अग्नि नहीं है, क्योंकि सर्वत्र पित्त को ही पाचकरूप में कहा गया है। जैसे सुश्रुत ने कहा है—'पाक पित्त के विना नहीं होता' (सु. सू. स्था. अ. १७)। तथाच अन्यत्र भी सुश्रुत ने पित्त को पाचक अग्नि बताया है। तद्यथा—'उसी पित्त में ही 'पाचक अग्नि' यह नाम दिया गया है, अर्थात् वही पित्त पाचक अग्नि है' (सु. सू. स्था. अ. २१)। किञ्च सुश्रुत ने ही यह भी कहा है कि—'पित्त से अतिरिक्त और कोई अग्नि नहीं मिलती, अतः तैजस पित्त में दहन, पाचन, दारण आदि क्रियाओं के होने से (उसमें) अग्नि की तरह उपचार किया जाता है। यह अन्तराग्नि है'। उपचार शब्द के तीन अर्थ होते हैं। एक—'सादृश्याख्यसम्बन्धेन प्रवृत्तिरुपचारः' अर्थात् जहां पर गुण और क्रियाओं की समानता देखकर शब्द का प्रयोग सादृश्य बताने के लिए किया जाता है, वा सादृश्य को लक्ष्य रख कर किया जाता है, उसे उपचार कहते हैं। यथा—गौर्वाहीकः। यहां गौ (बैल) गत जाड्यमान्द्यादि गुणों की वाहीकगत जाड्य मान्द्यादि गुणों के साथ समता होने से गौ (बैल) शब्द का प्रयोग वाहीक में किया गया है। इसी प्रयोग को उपचार कहते हैं। एवं प्रकृत में भी अग्निगत पाचन, दारण, दहन आदि गुणों की पित्तगत पाचन, दारण, दहनादि गुणों के साथ समता होने से अग्नि शब्द का प्रयोग पित्त में किया गया है। इसी प्रयोग को उपचार कहते हैं। परन्तु यहां वस्तुतः भेद ही है। उपचार शब्द का दूसरा अर्थ—'चिकित्सा' है अर्थात् अग्नि की तरह चिकित्सा की जाती है, अतः इसे अन्तराग्नि कहा जाता है। इसका तीसरा अर्थ—'निर्देश' है अर्थात् दहनादि गुणों के होने से पित्त को अग्नि की तरह निर्दिष्ट किया जाता है। यह अन्तराग्नि है। और हम देखते हैं कि अग्नि गुण के क्षीण होने पर उस (पित्त) के समान द्रव्य के उपयोग से उसकी क्षीणता नष्ट हो जाती है तथा अग्नि गुण के बहुत बढ़ जाने पर शीत क्रिया के करने से उसकी वृद्धि रुक कर शान्त हो जाती है। एवं शास्त्रों में भी यही[1] प्रमाण मिलते हैं। इसलिए यह सिद्ध होता है कि पित्त के अतिरिक्त और कोई अग्नि शरीर में नहीं है (सु. सू. स्था. अ. २१)। महर्षि चरक ने भी कहा है कि—दर्शन, पाचनशक्ति, ऊष्मा, भूख, प्यास, देह की मृदुता, प्रभा, प्रसाद और मेधा ये पित्त के अविकारज कर्म हैं' (च. सू. स्था. अ १८)। अग्नि के विना पाक का होना असम्भव है, इसलिए पित्त को अग्नि माना जाता है। क्योंकि पित्त का कर्म पाचन करना बताया गया है, और पाचन करने वाली वस्तु ही अग्नि होती है, अतः पित्त ही अग्नि है। किञ्च हम देखते हैं कि जब अग्नि मन्द हो जाती है तो पित्त को बढ़ाने वाले मिरच आदि द्रव्यों का प्रयोग किया जाता है, जिससे कि अग्नि बढ़ जाती है। जैसे उदाहरण रूप में प्रदत्त मिरच को ही लीजिए। इसके सेवन से अग्नि बढ़ती है तथा उसके साथ २ पित्त भी बढ़ता है। एवमेव जब अग्नि तीव्र हो जाती है तो पित्त के प्रतिकूल शीत तथा मधुर आदि द्रव्यों का प्रयोग किया जाता है, जिससे कि अग्नि शान्त हो जाती है। जैसे उदाहरण रूप में प्रदत्त शीत, मधुर द्रव्यों को ही लीजिए। इनके सेवन से अग्नि शान्त होती है तथा उसके साथ २ पित्त भी शान्त हो जाता है। इस प्रकार पित्तकर तथा पित्तहर द्रव्यों के उपयोग से दोनों की वृद्धि तथा हानि को देखकर यह प्रतीत होता

१ अभेद प्रतिपादक इत्यर्थः.

है कि पित्त और अग्नि एक है। क्योंकि यदि पित्त से भिन्न कोई अग्नि होती तो पित्त की वृद्धि से अग्नि की वृद्धि तथा पित्त के ह्रास से अग्नि का ह्रास न होता। देखने में यह आता है कि जिसमें जो वस्तु होती है उसी में से वह मिलती है, न कि किसी दूसरे में से। जैसे शीत गुण वाले चाँद से उष्णता की प्राप्ति कभी नहीं होती, तथा उष्णता को धारण करने वाले भगवान् सूर्य से ठंडक की प्राप्ति नहीं होती, अपितु चन्द्र से ही शीतता तथा सूर्य से ही उष्णता की प्राप्ति होती है। एवं जब कि दहन, पचनादि आग्नेय कर्म हमें पित्त में मिलते हैं, और आन्तराग्नि की उपलब्धि नहीं होती तो यही स्पष्ट होता है कि पित्त ही अग्नि है अर्थात् पित्त और अग्नि भिन्न २ नहीं, प्रत्युत एक है। क्योंकि यदि एक न होते, अर्थात् इनमें परस्पर भेद होता तो उस भेद की उपलब्धि होनी चाहिए थी, कारण कि जो जिससे भिन्न होता है, उसकी उपलब्धि भेद से होती है। जैसे सागर से अजगर भिन्न है, अतः अजगर की उपलब्धि सागर से भेद द्वारा (पृथक् रूप में) होती है। एवं यदि पित्त से अग्नि भिन्न होती तो इस (अग्नि) की उपलब्धि उस (पित्त) से भेद द्वारा (पृथक् रूप में) होती। परन्तु ऐसा नहीं होता। जब ऐसा नहीं होता तो प्रकृत मूल श्लोक में अग्नि को पित्त से भिन्न क्यों बताया गया है? (उत्तरपक्ष—) इसका उत्तर यह है कि अन्तराग्नि पित्त से अभिन्न नहीं है अर्थात् भिन्न है। क्योंकि भेद को बतलाने वाले प्रमाण बहुतायत से मिलते हैं। एवं प्रकृत में दोनों का पृथगुपादान बन सकता है। किञ्च प्रकृत में अग्नि और पित्त इन दोनों का पृथक् २ निर्देश भी इनकी परस्पर भिन्नता का ज्ञापक है। अन्यच्च पित्त और अग्नि का यदि परस्पर भेद न होता तो 'समदोष' और 'समाग्नि' इत्यादि पाठ न मिलता। क्योंकि यदि अभेद होता तो 'समदोषः' कह देना ही पर्याप्त था, 'समाग्निः' के कहने की कोई आवश्यकता न थी। क्योंकि ये दोनों परस्पर भिन्न हैं। इसलिए सुश्रुत को समदोष और समाग्नि यह पृथक् २ पाठ लिखना पड़ा। सुश्रुत का वाक्य है कि—'दोषों की समता तथा प्रकोप अग्नि के अश्रित हैं'। यहां पर दोषों की समता अग्नि के आश्रित मानी है, इसलिये दोष और अग्नि ये दोनों पद दिए हैं। यदि पित्त अग्नि से भिन्न न होता तो यह लिखने की आवश्यकता न पड़ती, क्योंकि भेद न होने पर दोप द्वारा ही अग्नि की प्राप्ति हो सकती थी। एवं अभेदवाद में इस पाठ की भी सङ्गति नहीं होती (क्योंकि इस प्रकार स्वात्मनि क्रियाविरोध आता है)। यहां तक ही समाप्ति नहीं होती, और देखिए कि अग्नि के भेद प्रदर्शन करते हुए तन्त्रकार लिखते हैं कि—'तीक्ष्णः पित्तेन' अर्थात् पित्त से अग्नि तीक्ष्ण होती है। यदि पित्त और अग्नि को एक मान लिया जावे तो यहां यह वाक्य अपने आपसे अपनी तीक्ष्णता को बतलाने के कारण स्वात्मनि क्रियाविरोध दोषात्मक हो जाने से असङ्गत है। अतः उक्त प्रमाणों से सिद्ध होता है कि पित्त और अग्नि भिन्न २ हैं। पूर्वपक्ष में जो अपनी (अभेद रूप) सिद्धि के लिए 'पित्त से अतिरिक्त अन्य अग्नि नहीं है' इत्यादि कहा है, इससे भी पित्त और अग्नि की अभिन्नता सिद्ध नहीं होती, अपितु इससे भिन्नता का ही ज्ञान होता है। क्योंकि यहां उपचार का अभिधान है, और उपचार अभेद में नहीं होता। किन्तु जहां भी होता है भेद में ही होता है। यथा—'अग्निर्माणवकः'। एवं प्रकृत में भी यह भेद प्रतिपादक है। और जो पित्त की वृद्धि से अग्नि की वृद्धि एवं पित्त के ह्रास से अग्नि का ह्रास यह अनुविधान भेद प्रदर्शन के लिये कहा है, वह भी अभेद को प्रकट करने वाला नहीं हो सकता, क्योंकि यह अनुविधान रूप हेतु भेदपक्ष में भी संगत हो जाता है। अतः व्यभिचारी तथा अभेद पक्ष में भी न होने के कारण अनैकान्तिक है। तद्यथा—कफ की वृद्धि करने वाले सौम्य

(दुग्ध, मूसली, असगन्ध आदि) द्रव्यों से (कफ के साथ) शुक्र की भी वृद्धि होती है। एवं कफ का ह्रास करने वाले (मिरचादि) आग्नेय द्रव्यों से (कफ के साथ २) शुक्र का भी ह्रास होता है। इस प्रकार यह अनुविधान पूर्वपक्ष में उक्त अनुविधान के समान ही है। किन्तु यहां कफ तथा शुक्र एक नहीं हैं। जब यहां ये दोनों एक द्रव्य नहीं हैं, तो वहां वे दोनों एक कैसे हो सकते हैं ? नियम समान प्रकारों के लिए समान ही होता है। एवं यह सिद्ध होता है कि जैसे यहां कफ और शुक्र के भिन्न होने पर भी एक ही द्रव्य दोनों की वृद्धि तथा एक ही द्रव्य दोनों का ह्रास करता है, उसी प्रकार वहां पर भी एक ही द्रव्य (अग्नि और पित्त) दोनों की वृद्धि तथा एक ही द्रव्य दोनों का ह्रास करता है। अतः अग्नि पित्त के समकालिक वृद्धि ह्रास से एकता न समझनी चाहिए। और भी घी पित्त की शान्ति करता है तथा अग्नि की वृद्धि करता है। एवं उपर्युक्त अनुविधान से यहां भेद है। यहां एक ही द्रव्य एक की वृद्धि तथा एक का ह्रास करता है। इसी प्रकार पित्त के सञ्चय काल में अग्नि की वृद्धि नहीं होती। पेया अग्नि को बढ़ाती है, किन्तु पित्त को नहीं बढ़ाती। यहां पर भी पूर्वपक्षोक्त अनुविधान का नियम नहीं घटता। इससे यह पूर्णतः सिद्ध होता है कि अग्नि पित्त से विलक्षण (भिन्न) है, और वह द्रव तथा तेजःसमुदायात्मक पित्त का तेजोभाग है, न कि बाहर की अग्नि की तरह भस्म तथा अङ्गारों के आकार वाली है। समुदाय से समुदायी भिन्न ही होता है। जैसे हाथों पैरों से शरीर। अर्थात् हाथों पैरों को शरीर नहीं कह सकते, अपितु हाथों पैरों के समुदाय से समुदित समुदायी को शरीर कहते हैं। इसी तरह प्रकृत में भी द्रव और तेज को पित्त नहीं कह सकते, किन्तु द्रव और तेज के समुदाय से समुदित समुदायी को पित्त कह सकते हैं। इस पाठ से यदि वह अग्नि पित्त का ही तेजोभाग है तो भी वह उससे पृथक् नहीं है, क्योंकि वह (अग्नि) उसका (पित्त का) एक भाग है, इसका खण्डन तथा पित्त और अग्नि भिन्न हैं, का मण्डन होता है। यदि कहा जावे कि इनका परस्पर अत्यन्त भेद ग्रहण न होने के कारण ये दोनों अभिन्न हैं तो भी ठीक नहीं, क्योंकि इनका अत्यन्त भेद से ग्रहण नित्य सश्लेष होने के कारण नहीं होता। पित्त का तेज अंश ही 'पाचक है । जैसे भोज ने भी कहा है कि 'रस और वीर्य से मूर्च्छित तथा समान और व्यान से संहित पित्तोष्मा जो पकाती है, वह ऊष्मा के लिए निश्चयपूर्वक ठीक है' यहां से लेकर 'इसलिए पित्त तेजोमय है और पित्तोष्मा पाचक है, इसी को कायाग्नि कहा जाता है, यही कायोष्मा है, यही पक्ता है और यही जीवन है' । 'पित्त के विना पाक नहीं होता' यह वाक्य तेज के पित्त का एक देश होने के कारण उपचार का आश्रय लेकर सुश्रुत ने कहा है । ऐसे ही 'पित्त से अतिरिक्त और कोई अग्नि नहीं' यह भी उपचार को लक्ष्य रख कर कहा है। इसी प्रकार अभेदसाधक अन्य वचनों का भी समाधान कर लेना चाहिए। अब एक यह प्रश्न उठता है कि जब 'पित्त से अग्नि तीक्ष्ण होती है' यह कहा है, तो फिर पित्त से ही अग्नि की शान्ति क्यों बताई है ? जैसे चरक ने कहा भी है कि 'कटु, अजीर्ण, विदाही, अम्ल, क्षार आदि से पित्त उल्वण होकर जठराग्नि को इस प्रकार मन्द कर देता है जैसे कि तप्त जल बाह्याग्नि को'। इसका उत्तर यह है कि जब कटु, रूखे तथा उष्ण गुण से पित्त बढ़ता है, तब तो तेजोभागरूप पित्त की अवस्था के उल्वण होने के कारण अग्नि तीक्ष्ण हो जाती है, और जब कफानुगामी अल्वण स्निग्धोष्ण गुण से पित्त बढ़ता है, तब पित्त की द्रवावस्था के वृद्ध होने के कारण अग्नि शान्त हो जाती है । इस प्रकार उक्त आशंका में सङ्गति होती है। अग्नि की शान्ति में जतुकर्ण ने भी कहा है कि—'दीपकाग्नि

को जैसे वायु, बाह्याग्नि को जैसे उष्ण जल तथा बाह्याग्नि को जैसे शीत जल शान्त कर देते हैं, उसी प्रकार जठराग्नि को क्रमशः वात, पित्त और कफ शान्त कर देते हैं। उपर्युक्त सम्पूर्ण विवेचन से यह सिद्ध होता है कि अग्नि और पित्त पृथक् २ हैं। अब दार्शनिक विचारों के अनुसार अग्नि और पित्त में भेद दर्शाया जाता है। तद्यथा—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द इन चार प्रमाणों से जो कुछ भी जाना जाता है, उसे पदार्थ कहा जा सकता है, वा इन चार प्रमाणों से जो कुछ भी जाना जाता है, वह पदार्थ में ही आ जाता है। वह पदार्थ पूर्व दो प्रकार का होता है। उनमें से प्रथम 'सत्' और द्वितीय 'असत्' कहलाता है। इन्हीं को तार्किकों ने अपनी परिभाषा में 'भाव' और 'अभाव' इन दो नामों से पुकारा है। इन दोनों में से प्रथम पदार्थ पुनः द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य और विशेष, इन छः भेदों में विभक्त हो जाता है, और दूसरा (अभाव) पदार्थ, प्रागभाव, ध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव; इन चार भेदों में विभक्त हो जाता है। यहां शक्ति और सादृश्य को पदार्थान्तर मानने की कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि ये दोनों क्रमशः अभाव (अन्योन्याभाव) और सामान्य में ही आ जाते हैं। भाव के छः भेदों में से पहला भेद 'द्रव्य' नामक है, जिसका कि लक्षण तार्किकरक्षा में—'गुणानामाश्रयो द्रव्यं कारणं समवायि च' (तार्किकरक्षा) यह और चरक में—'यत्राश्रिताः कर्मगुणाः कारणं समवायि यत्। तद् द्रव्यम्' (च. सू. स्था. अ. १) यह माना है। इसके भी पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन ये नौ (९) भेद हो जाते हैं, जिन्हें कि दार्शनिक लोग द्रव्य ही कहते हैं। जैसे चरक ने कहा भी है कि—'खादीन्यात्मा मनः कालो दिशश्च द्रव्यसंग्रहः' (च. सू. स्था. अ. १)। तार्किकरक्षा में भी—'पृथ्व्यप्तेजो मरुद्व्योमकालदिग्देहिनो मनः। द्रव्याणि नव' से यह स्पष्ट कहा है। इन नौ द्रव्यों में से पहले पांच द्रव्य पञ्चमहाभूत नाम से कहलाते हैं, पुनः ये पाँचों महाभूत, नित्य और अनित्य भेद से दो २ प्रकार के हो जाते हैं। इसके बाद अनित्य पाँचों महाभूत भी शरीर, इन्द्रिय और विषय, भेद से तीन २ प्रकार के हो जाते हैं। पृथ्वी, जल, वायु और आकाश इन चारों के विषय सामान्य होते हैं, परन्तु तैजस विषय पुनः चार प्रकार का हो जाता है। तद्यथाः—१ भौम (अग्नि आदि), २ दिव्य (विद्युत् आदि), ३ औदर्य और ४ आकरज (सुवर्ण आदि)। एवं तेज के विषय का तीसरा (औदर्य) भेद एक जठराग्नि, सात धात्वग्नि और पांच भूताग्नियों के भेद से तेरह प्रकार का हो जाता है। यद्यपि भूताग्नियां सभी भूतों में होती हैं, किन्तु यहां शरीर का विषय होने से और इसके भी भूतसङ्घातज होने से, इसमें भी भूताग्नियाँ होती हैं। एवं आहार द्रव्यों में भी पृथ्वी, जल और तेज के भी विषय रहते हैं (यद्यपि यहां वायु और आकाश के भी अंश होते हैं, किन्तु यहां प्रधानता से उपर्युक्तों का ही ग्रहण किया है)। एवं जब वह आहार खाया जाता है, तो सर्व प्रथम जठर में जाकर उसका जठराग्नि से पाक होता है। तब जठराग्नि के प्रभाव से उसके दो विभाग हो जाते हैं, जिनमें से प्रथम विभाग प्रसाद (रस) भाग होता है और द्वितीय किट्ट भाग। तब किट्ट भाग के भी दो विभाग हो जाते हैं, जिनमें से पहला तरल (मूत्र) भाग और दूसरा घन (पुरीष) भाग होता है। एवं आहार का जो प्रथम प्रसाद (रस) नामक भाग होता है, उसके पुनः रसाग्नि से पक्व होने पर तीन भाग बन जाते हैं, जिनमें से प्रथम सूक्ष्म भाग दूसरा स्थूल भाग और तीसरा किट्ट भाग होता है। इनमें से प्रथम सूक्ष्म भाग रस को पुष्ट करता है और दूसरा स्थूल भाग रक्त में परिणत हो जाता है एवं तीसरा किट्ट नामक भाग कफ में परिणत होता है। इसके बाद उपर्युक्त स्थूल भाग के रक्त में परिणत

हो जाने पर उस रक्त का रक्ताग्नि द्वारा पाक होता है, जिससे वह तीन विभागों में विभक्त हो जाता है, जिनमें से प्रथम सूक्ष्म भाग, दूसरा स्थूल भाग और तीसरा किट्ट भाग होता है। इनमें से प्रथम सूक्ष्म भाग रक्त को पुष्ट करता है, दूसरा स्थूल भाग मांस में परिणत हो जाता है, जो कि मांसाग्नि आदि धातु अग्नियों से क्रमशः पक्क होता हुआ भेद आदि धातुओं की उत्पत्ति शृङ्खला को बनाता है। एवं इसका तीसरा किट्ट नामक भेद पित्त में परिणत होता है अर्थात् इस किट्ट से पित्त बनता है, वा यह किट्ट ही पित्त है। यह है पित्त की उत्पत्ति शृङ्खला। यहां पित्त की उत्पत्ति में दृष्टि विन्यास करने से यह सिद्ध हो जाता है कि ये भूत सङ्घातज हैं, और जठराग्नि शुद्ध तेज है, एवं इनका परस्पर भेद स्वयं सिद्ध है। यद्यपि इसके (पित्त के) भूतसङ्घातज (भूतसङ्घातज होने पर भी इसमें जल और तेज का ही अंश अधिक है) होने पर इसमें तेज की भी अधिक वर्तमानता है, किन्तु तो भी यह जठराग्नि से भिन्न ही है, क्योंकि जठराग्नि पहले विद्यमान होती है, और इसकी उत्पत्ति बहुत देर बाद अर्थात् ग्यारह दिन बाद होती है। कारण कि भोजन करने पर उसका जठराग्नि द्वारा पाक होने के अनन्तर एक दिन बाद रस की उत्पत्ति होती है, तदनु रसाग्नि से इसका पाक होने पर पांच दिन में रक्त की उत्पत्ति होती है और उसके बाद रक्ताग्नि से रक्त का पाक होने पर पाँच दिन बाद सूक्ष्म भाग (रक्तपोषक) स्थूल भाग (मांस रूप) और किट्ट भाग जिससे कि पित्त बनता है, की उत्पत्ति होती है। एवं ग्यारह दिन बाद पित्त बनता है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि अग्नि और पित्त परस्पर वस्तुतः भिन्न हैं। इसी उपर्युक्त भाव को निषेध रूप से समझने के लिए सम्मुख लगे हुए चित्र को देखना चाहिए। जो विद्वान् पित्त को अग्नि कहते हैं, वे साध्यवसाना लक्षणा के अनुसार दोनों के साधर्म्य को लेकर कहते हैं, किन्तु इनमें साधर्म्य के साथ २ वैधर्म्य भी है, जो कि इनका परस्पर भेदक है और भेद 'वैधर्म्येण हि भेदसिद्धिः' के अनुसार होता भी वैधर्म्य से ही है। एवं इनमें वैधर्म्य होने से ये परस्पर भिन्न हैं। जैसे मुख को, आह्लादकादि साधर्म्यों को लेकर, चन्द्र कह दिया जाता है, किन्तु भिन्नस्थानस्थता आदि वैधर्म्यों से वह (चन्द्र) मुख से भिन्न ही होता है, उसी प्रकार अग्नि भी पित्त से भिन्न ही होती है।

मधु०—अग्निश्च पित्तगतत्वेन क्रोधकृतो भवत्येव, क्रोधेन पित्तकोपात्; शोकश्रमाभ्यां तु जनितवातेन शरीरोष्मणोऽपि विक्षेपणाच्छिरोगतत्वं, तेनानिलोऽपि लभ्यते, पित्तं च साक्षादुपात्तं, चकारेण श्लेष्माऽपि केशशुक्लताकरो गृह्यते। एतेन दोषत्रयसहितशरीरोष्मा पलितहेतुरिति वाक्यार्थश्चरकोक्तार्थेन सह संवादी भवति। यदाह—"तेजोऽनिलाद्यैः सह केशभूमिं दग्ध्वा तु कुर्यात् खलितिं नरस्य। किंचित्तु दग्ध्वा पलितानि कुर्याद्धरिप्रभत्वं च शिरोरुहाणाम्" (च. चि. स्था. अ. २) इति। एतच्चाकालजपलितव्यापकं लक्षणम्। कालजे तु क्रोधादिग्रहणं कारणान्तरोपलक्षणं, तेन वयःपरिणामकृतश्चोष्मा दोषत्रययुक्तः कालजपलितहेतुः। अन्यथा कालजपलितस्य संग्रहो न स्यात्। किंवा कालजं स्वाभाविकत्वादेव नोच्यते। अन्ये तु पित्तगतश्चेच्छरीरोष्मा तत् किमुभयोरुपादानेनेत्यभिधाय शरीरोष्मा पित्तं चेति कर्तृद्वयमाचक्षते; तेन नात्रैकस्मिन् विषये समुच्चयः, किं तर्हि विषयभेदात्। कर्तृद्वयं—तत्र शरीरोष्मा वैकृतं पलितं करोति, पित्तं च प्राकृतं पित्तप्रकृतेः पलितं करोति। यदुक्तं—"पित्तप्रकृतिरकालजवलीपलितयुक्तश्च भवति" इति। एवं स्वाभाविकजरापलितमपि पित्तेनैवास्य हेतोः वक्तुमशक्यत्वात्। न दोषप्रकृतत्वेन पलितस्यादोषजत्वप्रसङ्गः, ऊष्मणः पित्तधर्मत्वेन पित्तेऽन्तर्भावात् ॥३२॥

पदार्थः
१ भावः
२ अभावः
१ द्रव्यम् २ गुणः ३ कर्म ४ सामान्यम् ५ विशेषः ६ समवायः
१ प्रागभावः २ ध्वंसाभावः ३ अत्यन्ताभावः ४ अन्योन्याभावः
१ पृथ्वी
२ जलम्
३ तेजः
४ वायुः ५ आकाशम् ६ कालः ७ दिशा ८ आत्मा ९ मनः
१ नित्या २ अनित्या
१ नित्यम् २ अनित्यम्
१ नित्यम् २ अनित्यम्
१ शरीरम् २ इन्द्रियम् ३ विषयः
१ शरीरम् २ इन्द्रियम् ३ विषयः
१ शरीरम् २ इन्द्रियम् ३ विषयः
१ भौमः २ दिव्यः ३ औदर्यः ४ आकरजः
आहारः

औदर्यः
आहारः
धात्वग्निः
भूताग्निः
१ जठराग्निः
१रसाग्निः २रक्ताग्निः ३मांसाग्निः ४मेदोग्निः ५अस्थ्यग्निः ६मज्जाग्निः ७शुक्राग्निः
१पृथ्व्यग्निः. २जलाग्निः. ३तेजोग्निः. ४मरुदग्निः. ५व्योमाग्निः
जठरे
आहारस्य जठराग्निना पाकात्
२ किट्टम्
१ प्रसादः (रसः)
रसस्य रसाग्निना पाकात्
१तरलभागः (मूत्रादि)
२घनभागः (शकृत्)
१ सूक्ष्मभागः (रसपोषकः)
२ स्थूलभागः (रक्तम्)
३ किट्टम् (कफः)
रक्तस्य रक्ताग्निना पाकात्
१ सूक्ष्मभागः (रक्तपोषकः)
२ स्थूलभागः (मांसम्)
३ किट्टम्—इदमेव च किट्टं पित्ते विपरिणमते। एवमत्रान्तराग्निपित्तयोर्मिथो व्यतिरेकः सिध्यति, यतो हि पित्तं रक्तस्य मलम्, अन्तराग्निश्च शुद्धं तेजः।

क्रोध से पित्त प्रकुपित होता है (बढ़ता है) और अग्नि भी पित्तगत (तेजोभाग के रूप में) होने के कारण क्रोध से बढ़ता है। शोक और श्रम से वायु उत्पन्न होकर शरीर की ऊष्मा का विक्षेपण कर शिर में चला जाता है। इससे इस रोग में वायु का होना भी सिद्ध हो जाता है और पित्त का निर्देश तो इसमें स्पष्टरूप से किया है। 'एवं चकार से यहां श्लेष्मा भी केशों को सफेद करने वाला माना जाता है। एवं तीनों दोषों के साथ शरीर की ऊष्मा पलित का कारण है' यह वाक्यार्थ चरकोक्त अर्थ के साथ मिल जाता है। जैसे चरक ने कहा है कि 'वात आदि के साथ पित्त मनुष्य की केशभूमि को जला कर गञ्जापन पैदा कर देता है। परन्तु जब वह केशभूमि को थोड़ा जलाता है तो पलित रोग को उपजा देता है, तथा बालों को हरी प्रभा वाले कर देता है'। यह अकाल में होने वाले पलित का लक्षण है। कालज (वृद्धावस्थाज) पलित में तो क्रोध आदि का ग्रहण अन्य कारणों से उपलक्षणमात्र है, इससे अवस्था के परिणाम से उत्पन्न ऊष्मा तीनों दोषों से युक्त होकर कालज पलित का कारण होती है। अन्यथा कालज पलित का संग्रह ही नहीं हो सकता। अथवा कालज पलित स्वाभाविक होने के कारण नहीं कहा जाता। अन्य आचार्य तो यह कहते हैं कि यदि शरीर की ऊष्मा भी पित्तगत है, अर्थात् यदि शरीर की गर्मी का भी अन्तर्भाव पित्त में होता है, तो दोनों के उपादान की क्या आवश्यकता है? यह कहकर शरीर की ऊष्मा और पित्त इन दोनों को (दो) कर्ता मानते हैं। इससे यहां पर इन दोनों का समुच्चय (संगमन) एक ही विषय (अर्थात् अकालज पलितरूप एक ही विषय) परक नहीं है प्रत्युत दोनों कर्ताओं के विषय भिन्न २ हैं। एवं उनमें से शरीरोष्मारूप कर्ता वैकृत पलित को करता है और पित्तरूपकर्ता पित्तप्रकृति वाले मनुष्य में प्राकृतिक पलित को करता है। जैसे कहा भी है कि—'पित्तप्रकृति वाला मनुष्य अकाल में ही झुर्रियों तथा पलित से युक्त होता है'। एवं स्वाभाविक जरापलित (बुढ़ापे में होने वाला पलित) पित्त से ही होता है, क्योंकि पित्त को ही पलित में कारण रूप से कहा है। (ननु—) जो पलित ऊष्मा से होगा वह अदोषज होगा, क्योंकि ऊष्मा दोष नहीं है? इसका उत्तर यह है कि नहीं, वह भी दोषज ही है, क्योंकि ऊष्मा पित्त का धर्म है, अतः उसका अन्तर्भाव भी पित्त में ही होता है।

युवानपिडकानां लक्षणमाह—

शाल्मलीकण्टकप्रख्याः कफमारुतरक्तजाः।
युवानपिडका यूनां विज्ञेया मुखदूषिकाः॥३३॥ [सु० २।१३]

सेमल के कांटे की समानता वाली तथा कफ, वात और रक्त से उत्पन्न होने वाली पिडकाएं युवानपिडकाएं होती हैं, जो नवयुवकों के मुख को दूषित कर देती हैं।

वक्तव्य—ये पिडकाएं स्वभावतः मनुष्यों को युवावस्था के प्रारम्भ में होती हैं। किन्हीं २ को तो ये इतनी अधिक संख्या में होती हैं कि उनका सारा मुख भर जाता है, और पीड़ा भी होती है। इसको अपक्वावस्था में फोड़ने से पीड़ा और शोथ हो जाती [illegible] पक्वावस्था में फोड़ने से इनमें से श्वेत सा

१ [illegible] युनानी [illegible] न नाम्ना; आंग्लभाषायाञ्च 'ऐक्नी' (Acne) नाम्ना प्रसि[illegible]

कील निकलता है, तदनु वह पिडका एक दो दिन में शान्त हो जाती है, किन्तु किसी २ में उसका चिह्नमात्र गढ़े के रूप में रह जाता है। यदि इन्हें पकावस्था में भी न फोड़ा जावे तो इनके अन्दर का श्वेत मल सूख कर अतिघन हो जाता है तथा कृष्णता लेता हुआ काला हो जाता है, जिससे कि मुख पर भी सुई की नोक के बराबर वा कील की आकृति के समान, तिल के तुल्य काला निशान हो आता है। युवानपिडकाएं प्रायः १७ से २५ वर्ष तक होती हैं। जिनका विवाह छोटी अवस्था में ही हो गया हो तथा सहवास का समय पर्याप्त मिला हो, उन्हें ये पिडकाएँ प्रायः अत्यल्प मात्रा में होती हैं, वा नहीं भी होतीं। कई विद्वानों का यह विचार है कि जिस प्रकार रज की उत्पत्ति से यह समझा जाता है कि स्त्री गर्भ धर्म योग्य वा गर्भ धारण योग्य हो गई है, उसी प्रकार युवानपिडकाओं की उत्पत्ति से यह समझा जाता है कि मनुष्य गर्भस्थिति कराने योग्य हो गया है। ये इन पिडकाओं का शुक्र के साथ भी कोई सम्बन्ध मानते हैं।

मधु०—युवानपिडकालक्षणमाह—शाल्मलीत्यादि। युवानपिडका लोके 'वरण्डका' उच्यते, यूनामाननपिडका युवानपिडका, पृषोदरादित्वान्नकारलोपः; एषा च यूनामेव, मुख एव, स्वभावात् ॥३३॥

युवानपिडकाओं को लोक में 'वरण्डका' कहते हैं। जवानों के मुख की पिडका होने से इसे युवानपिडका कहते हैं। 'युवाननपिडका' इस शब्द में से नकार का लोप 'पृषोदर' आदि के अनुसार होता है। ये स्वभाव से ही युवाओं के मुख पर ही होती हैं।

पद्मिनीकण्टकं लक्षयति—

कण्टकैराचितं वृत्तं मण्डलं पाण्डुकण्डुरम्।
पद्मिनीकण्टकप्रख्यैस्तदाख्यं कफवातजम् ॥३४॥ [सु० २।१३]

पद्मिनीकण्टक कण्टकों के समान, कण्टकों से आवृत, पाण्डुवर्ण तथा कण्डूयुक्त, वर्तुल मण्डल (वाला यह रोग) पद्मिनीकण्टक[1] कहलाता है। इसकी उत्पत्ति कफ और वात से होती है।

मधु०—पद्मिनीकण्टकमाह—कण्टकैरित्यादि। तदाख्यमिति पद्मिनीकण्टकाख्यम् ॥३४॥

पद्मिनीकण्टकमाहेत्यादि सुगम है।

जतुमणेः स्वरूपमाह—

सममुत्सन्नमरुजं मण्डलं कफरक्तजम्।
सहजं लक्ष्म चैकेषां लक्ष्यो जतुमणिस्तु सः ॥३५॥

कफ और रक्त से उत्पन्न मसृण, उन्नत एवं उभरा हुआ मण्डल जतुमणि कहलाता है। कई आचार्य इसे शास्त्रोक्त शुभाशुभ लक्षणों वाला वा जन्मबलप्रवृत्त लक्षण मानते हैं।

१ पद्मिनीकण्टकरोग आंग्लभाषायां 'पेपीलोमा ऑफ दि स्किन' (Papilloma of the skin) इति नाम्ना प्रसिद्धः.

मधु०—जतुमणिमाह—सममित्यादि । समं मसृणम् । उत्सन्नमुद्गतम् । अयं 'जट्टुल' इति लोके प्रसिद्धः । कफरक्तजमिति प्राधान्येनोक्तं, तेन चरकोक्तं त्रिदोषजत्वमप्यस्योपपन्नं भवति । यदुक्तं तेन—"कृष्णः स्निग्धो जतुमणिर्ज्ञेयो वातोत्तरैस्त्रिभिः । अरुजं त्वपरैरुक्तं लक्ष्मेत्याहुर्भिषग्वराः" इति । सहजं लक्ष्म चैकेषामिति एकेषामाचार्याणां मतेन सहजं लक्ष्म लक्षणं स्त्रीपुंसयोरङ्गभेदेन शुभाशुभफलप्रदं भवति । सहजं शरीरेण सह जातं जन्मकालप्रवृत्तमित्यर्थः ॥३५॥

यह रोग लौकिक भाषा में 'जट्टुल' नाम से प्रसिद्ध है । इसकी कफ और रक्त से उत्पत्ति प्रधानता को लक्ष्य रख कर कही गई है, न कि नियमन रूप से । इससे चरकोक्त त्रिदोषजपन भी इसमें आ जाता है । जैसे इसकी त्रिदोषजता के विषय में चरक ने कहा भी है कि—'वातादिक तीनों दोषों से होने वाला कृष्ण और स्निग्ध यह रोग जतुमणि नामक जानना चाहिए । दूसरे आचार्यों ने इसका लक्षण नीरुजता कहा है' । (सहजमिति—) 'सहजं लक्ष्म चैकेषां' का अर्थ कई एक आचार्यों के मत से स्त्री और पुरुषों में अङ्गभेद के अनुसार उत्पन्न यह शुभ और अशुभ फल को देने वाला होता है । 'सहजं' का अर्थ शरीर के साथ उत्पन्न अर्थात् जन्मकालप्रवृत्त है ।

मषकस्य लक्षणमाह—

अवेदनं स्थिरं चैव यस्मिन् गात्रे प्रदृश्यते ।
माषवत्कृष्णमुत्सन्नमनिलान्मषकं तु तत् ॥३६॥ [सु० २।१३]

जिस गात्र में पीड़ा रहित तथा अचल माष के दाने की तरह वा माष के दाने बराबर जो कृष्ण उभार दीखता है, वह वायु दोष से उत्पन्न होने वाला मषकाख्य रोग होता है ।

मधु०—मषकलिङ्गमाह—अवेदनमित्यादि । स्थिरं कठिनमिति गयदासः; अचलमिति युक्तं, भोजे मृद्विति पाठात् । मषकमादिशेदिति माषशब्दात् "इवे प्रतिकृतौ" इति कन्, नैरुक्तेन च विधिना ह्रस्वत्वम् । अत्र चकारेण कफमेदसी समुच्चीयेते । तथाच भोजः—"वातेरिते त्वचि यदा दूष्येते कफमेदसी । श्लक्ष्णं मृदु सवर्णं च कुरुतो मषकं वदेत्" इति ॥३६॥

स्थिर शब्द का अर्थ गयदासाचार्य कठिन मानते हैं । किन्तु इसका अर्थ 'अचल' ठीक है । क्योंकि यदि इसका अर्थ कठिन माना जावे तो भोज में इसे (माषक को) मृदु कहने से इनका परस्पर विरोध आता है । यद्यपि स्थान भेद से दोनों लक्षणों की सङ्गति हो सकती है तथापि इस समाधान से यह प्रकार अच्छा है कि 'स्थिर' का अर्थ 'अचल' मान लिया जावे । मषक शब्द माष शब्द से 'इवे प्रतिकृतौ' द्वारा 'कन्' प्रत्यय होकर तथा निरुक्त की विधि से ह्रस्व होकर बनता है । यहां पर चकार से कफ और मेद का ग्रहण होता है और भोज ने भी कहा है कि—'वायु से प्रेरित कफ और मेद जब त्वचा में आकर दूषित हो जाते हैं तब श्लक्ष्ण, मृदु और माष के समान अङ्कुर सा कर देते हैं, जिसे कि मषक कहना चाहिए' ।

तिलकालकानां लक्षणमाह—

कृष्णानि तिलमात्राणि नीरुजानि समानि च ।
वातपित्तकफोच्छोषात्तान्विद्यात्तिलकालकान् ॥३७॥ [सु० २।१३]

वात पित्त द्वारा कफ के सूखने से तिल की सी आकृति तथा प्रमाण वाले, कृष्णवर्ण, पीड़ा रहित एवं अनुच्छ्रित जो चिह्न त्वचा पर हो जाते हैं, उन्हें तिल-कालक जानना चाहिए।

मधु०—तिलकालकलक्षणमाह—कृष्णानीत्यादि। 'वातपित्तकफोच्छोषात्' इति पाठे वातपित्ताभ्यां हेतुभ्यां कफस्योच्छोषः शोषणं तस्मात्। अन्ये चरकं दृष्ट्वा 'वातपित्तासृगुच्छोषात्' इति पठन्ति। तथाच चरकः—"यस्य पित्तं प्रकुपितं शोणितं प्राप्य शुष्यति। तिलका विप्लवा व्यङ्गा नीलिका चास्य जायते॥" (च. सू. स्था. अ. १८) इति; अस्मिन् वचने वातोऽप्यवगन्तव्यः, तेनापि शोषस्य क्रियमाणत्वात्। अन्येऽपि तन्त्रान्तरं दृष्ट्वा 'वातपित्तकफोत्सेकात्' इति पठन्ति। उत्सेकादित्युद्रेकात्। तथाहि तन्त्रान्तरं—"मारुतः पित्तमादाय कफरक्तसमाश्रितः। चिनोति तिलमात्राणि त्वचि ते तिलकालकाः" इति; किंत्वस्मिन्नपि तन्त्रे कफरक्तसमाश्रित इत्यनेन कफरक्तयोराश्रितवातेन पित्तसहितेनोच्छोषादेव तिलकालके कार्ष्ण्यस्य संभवोऽवगम्यते, ततश्च "वातपित्तकफोच्छोषात्" इति पाठो युज्यते। 'वातपित्तरसोद्रेकात्' इति पाठान्तरम्॥३७॥

'वातपित्तकफोच्छोषात्' इस पाठ में वात और पित्त द्वारा कफ के सूखने से, यह अर्थ होता है। अन्य आचार्य चरक को देख कर 'वातपित्तासृगुच्छोषात्' यह पाठ मानते हैं। जैसे चरक ने कहा भी है कि—'जिसका प्रकुपित पित्त रक्त को पाकर सूख जाता है, उसे तिलकालक, विप्लव, व्यङ्ग और नीलिका रोग हो जाते हैं'। इस चरक वचन में वात भी जान लेना चाहिए, क्योंकि शोषण उससे भी होता है। दूसरे आचार्य तन्त्रान्तर को देखकर 'वातपित्तकफोत्सेकात्' यह पाठ स्वीकार करते हैं। उत्सेक शब्द का अर्थ उद्रेक है। जैसे कि इस विषय पर तन्त्रान्तर कहता है कि—'कफ और रक्त से समाश्रित (युक्त) वायु पित्त को लेकर त्वचा पर तिल के समान चिह्न उपजा देता है और वे चिह्न तिलकालक कहलाते हैं'। इस तन्त्र में भी 'कफरक्तसमाश्रितः' इस पद से कफ और रक्त से आश्रित, एवं पित्त-युक्त वात द्वारा शोष होने से ही तिलकालक में कृष्णपन की उत्पत्ति जाननी चाहिए, और इसलिए 'वातपित्तकफोच्छोषात्' यह पाठ युक्त है। यहां पर ही 'वातपित्तरसोद्रेकात्' यह पाठान्तर भी है।

न्यच्छस्य स्वरूपमाह—

महद्वा यदि वाऽल्पं श्यावं वा यदि वाऽसितम्।
नीरुजं मण्डलं गात्रे न्यच्छमित्यभिधीयते॥३८॥

शरीर के किसी गात्र में होने वाला पीड़ा रहित मण्डल न्यच्छ कहलाता है। चाहे वह बड़ा हो वा छोटा, श्याववर्ण का हो वा कृष्णवर्ण का।

मधु०—न्यच्छलिङ्गमाह—महद्वेत्यादि। असितं कृष्णम्। 'नीरुजं मण्डलं' इत्यस्य स्थाने 'सहजं मण्डलं' इति केचित् पठन्ति, तेन जन्मकालप्रवृत्तं न्यच्छमिच्छन्ति, अत एव न्यच्छस्य पर्याये लाञ्छनमिति तैः पठ्यते। यथा—'न्यच्छं लाञ्छनमुच्यते'—इति लाञ्छनं लक्षणम्। अत्र भोजवचनात् पित्तरक्तान्वितो वायुः कारणम्। यदाह—"रक्तपित्तान्वितो वायुस्त्वक्प्रदेशाश्रितो यदा। जनयेन्मण्डलं कृष्णं श्यावं वा न्यच्छनादिशेत्" इति। अत्र श्यावत्वपक्षे गुरोतरदेश एव संभवेन बहुलत्वेन व्यङ्गाद्भेदोऽवगन्तव्यः॥३८॥

'नीरुजं मण्डलं' के स्थान पर कई आचार्य 'सहजं मण्डलं' यह पाठ स्वीकार करते हैं। इससे इस न्यच्छ को वे जन्मकाल से प्रवृत्त मानते हैं और इसी कारण वे न्यच्छ के पर्याय में लाञ्छन का पाठ पढ़ते हैं। जैसे 'न्यच्छं लाञ्छनमुच्यते'। लाञ्छन शब्द का अर्थ लक्षण है। यहां पर भोज के वचन से पित्त रक्त से युक्त वायु ही कारण है। जैसे भोज ने कहा भी है कि–'रक्त और पित्त से युक्त वायु त्वचा प्रदेश में आश्रित होकर काले वा श्याव वर्ण के मण्डल को उत्पन्न कर देता है। इस मण्डल को ही न्यच्छ कहना चाहिए'। यहां श्यावपन के पक्ष में श्यावता मुख से अन्य देश में ही होती है, तथा यह बहुत होती है, किन्तु व्यङ्ग इससे विपरीत होता है, अतः यह श्यावता का व्यङ्ग से भेद है।

व्यङ्गस्य लक्षणमाह—

क्रोधायासप्रकुपितो वायुः पित्तेन संयुतः।
मुखमागत्य सहसा मण्डलं विसृजत्यतः ॥३९॥ [सु० २।१३]
नीरुजं तनुकं श्यावं मुखे व्यङ्गं तमादिशेत्। [सु० २।१३]

क्रोध तथा परिश्रम से प्रकुपित वायु पित्त के साथ मिल कर एवं सहसा मुख पर आ मण्डल सा बना देता है, जो कि पीड़ा रहित, तनु तथा श्याववर्ण का होता है। उस मुख पर होने वाले रोग को व्यङ्ग कहना चाहिए।

वक्तव्य—(ननु—) जब व्यङ्ग का भी वर्ण श्याव होता है, तो श्याव वर्ण वाले न्यच्छ से इसका भेद किस प्रकार होगा? इसका उत्तर ऊपर न्यच्छ के मधुकोश के व्याख्यान में दे दिया है कि 'श्याव न्यच्छ' मुखेतर भाग में होता है, तथा बहुलता से होता है, किन्तु व्यङ्ग मुख पर और अल्पता से होता है। यहां 'बहुल' शब्द से स्थूल अर्थ भी हो सकता है, 'आधिक्य' अर्थ भी हो सकता है। एवं जहां श्याव न्यच्छ स्थूल होगा, वहां स्थूलता तथा मुखेतरभागाश्रितता व्यङ्ग से भेदक होगी, क्योंकि व्यङ्ग तनुता तथा मुखाश्रितता लिए होता है। एवं जहां श्याव न्यच्छ तनु (अल्प) होगा वहां बहुल शब्द का अर्थ आधिक्य मान कर अधिकता तथा मुखेतरभागाश्रितता व्यङ्ग से भेदक होगी, क्योंकि व्यङ्ग अल्पता तथा मुखाश्रितता लिए हुए होता है। अथवा यहां पर केवल मुखेतरभागाश्रितता ही भेदक है, क्योंकि यह भेद अव्यभिचारी है।

मधु०—व्यङ्गलिङ्गमाह—क्रोधायासेत्यादि। श्यावमिति शुक्लानुविद्धकृष्णवर्णम्। अस्य 'छ्यावक' इति 'मेछेता' इति च लोके ख्यातिः ॥३९॥—

'श्याव' शब्द का अर्थ सुफेदी लिए हुए कृष्ण वर्ण है। इसकी लोक में 'छ्यावक' तथा 'मेछेता' नाम से प्रसिद्धि है।

नीलिकायाः स्वरूपमाह—

कृष्णमेवंगुणं गात्रे मुखे वा नीलिकां विदुः ॥४०॥

उपर्युक्त व्यङ्ग के नीरुज आदि गुणों से युक्त गात्र अथवा मुख पर होने वाले कृष्ण मण्डल को नीलिका नामक रोग जानना चाहिए।

मधु०—नीलिकालक्षणमाह—कृष्णमेवंगुणमित्यादि । एवंगुणमिति नीरुजतनुकमण्डलधर्मं; व्यङ्गोक्तदोषोऽत्रापि बोद्धव्यः, संमूर्च्छनविशेषात्तु नीलित्वकारी । कृष्णान्यच्छादतिकृष्णत्वेन भिन्ना-नीलिका, व्यङ्गनीलिकयोस्तु व्यक्त एव भेदः-श्यावो व्यङ्गः, कृष्णा नीलिका; भोजे तु नीलिका गात्र एवोक्ता । यदुक्तं,–"मारुतः क्रोधहर्षाभ्यामूर्ध्वगो मुखमाश्रितः । पित्तेन सह संयुक्तः करोति वदनत्वचि ॥ नीरुजं तनुकं श्यावं व्यङ्गं तमिति निर्दिशेत् । कृष्णमेवंगुणं गात्रे नीलिकां तां विनिर्दिशेत्"—इति ॥४०॥

एवं गुण से यहां पर नीरुज और तनु धर्म वाला मण्डल, यह अर्थ लेना चाहिए। व्यङ्गोक्त दोष अर्थात् पित्तसंयुत वायु दोष यहां पर भी कारण रूप से जानना चाहिए। यहां वह दोष सम्मूर्च्छन विशेष से नीलेपन को करता है। नीलिका का कृष्ण न्यच्छ से भेद इसके अतिकृष्ण होने से है अर्थात् नीलिका अतिकृष्ण होती है और कृष्ण न्यच्छ अल्पकृष्ण होता है। व्यङ्ग और नीलिका का भेद तो स्फुट ही है, क्योंकि व्यङ्ग श्याववर्ण का होता है और नीलिका कृष्णवर्ण की होती है। भोज ने तो कहा है कि नीलिका गात्र में ही होती है। तद्यथा—'क्रोध तथा हर्ष से ऊर्ध्वगामी हुआ २ वायु पित्त से मिल कर मुख में आश्रित हो मुख की त्वचा में पीड़ा रहित, तनु, तथा श्यावचर्ण के मण्डल को उत्पन्न कर देता है, इस मण्डल को व्यङ्ग कहना चाहिए। इन्हीं व्यङ्गोक्त नीरुज आदि गुणों से युक्त गात्र में होने वाले कृष्ण मण्डल को नीलिका कहना चाहिए'।

परिवर्तिकायाः स्वरूपमवतारयति—

मर्दनात् पीडनाद्वाऽति तथैवाप्यभिघाततः ।
मेढ्रचर्म यदा वायुर्भजते सर्वतश्चरन् ॥४१॥ [सु० २।१३]
तदा वातोपसृष्टत्वात्तच्चर्म परिवर्तते ।
मणेरधस्तात् कोशश्च ग्रन्थिरूपेण लम्बते ॥४२॥ [सु० २।१३]
सरुजां वातसंभूतां तां विद्यात् परिवर्तिकाम् ।
सकण्डूः कठिना चापि सैव श्लेष्मसमुत्थिता ॥४३॥ [सु० २।१३]

अतिमर्दन (मसलना) अतिपीड़न (नप्पना) तथा अभिघात (चोट) के कारण जब सर्वदेहसंचारी वायु (व्यान) शिश्न के चर्म में आ जाता है, तो वातयुक्त होने से वह शिश्न का चर्म परिवर्तित (उलटा) हो जाता है, जिससे कि मणि के नीचे मांसकोश ग्रन्थि (गाँठ) के रूप में लटकने लगती है। वात से उत्पन्न और पीड़ा युक्त इस व्याधि को परिवर्तिका नाम से जानना चाहिए। वह परिवर्तिका ही यदि श्लेष्म दोष के कारण से हो तो कण्डू युक्त और कठिन होती है।

मधु०—मेढ्रगताभिघातजे रोगत्रये परिवर्तिकामाह—मर्दनादित्यादि । पीडनाद्वाऽतीत्यतिशब्दो मर्दनपीडनाभ्यां सह संबध्यते । अतियोगादेव ते वातं कोपयतः । सर्वतश्चरन्निति व्यानः, 'सर्वतश्चर:'[1] इति पाठे स एवार्थः । परिवर्तत इति सर्वतो विवर्तते । कोष इति चर्मकोषः । परिवर्तिकेति वृतधातोः "रोगाख्यायां ण्वुल् बहुलम्"—इति ण्वुल् (वृत-ण्वुल-आप्) । एवमत्र-

[1] "सर्वतश्चरः" इति गुल्योस्य पाठः.

पाटिकायां च बोद्धव्यम् । अस्यां वातजायामपि पित्तानुबन्धाद्दाहपाकौ भवतः, कफसंबन्धस्तु सकण्डूः कठिना चापीत्यादिनाभिहितः । भोजेऽप्युक्तं—"मणेरधो मेढ्रचर्म व्यानस्तु परिवर्तयेत् । सशूलतोददाहाद्यैर्विज्ञेया परिवर्तिका । श्लैष्मिकी कठिना स्निग्धा कण्डूमत्यल्पवेदना"—इति ॥४१–४३॥

'मर्दनात्पीडनाद्वाति' में स्थित अति शब्द मर्दन तथा पीड़न इन दोनों के साथ सम्बन्धित होता है, क्योंकि मर्दन और पीड़न अतियोग के कारण ही वायु को प्रकुपित करते हैं। 'सर्वतश्चरन्' का अर्थ व्यान वायु है (क्योंकि व्यान ही 'व्यानः सर्वशरीरगः' के अनुसार सारे शरीर में सञ्चरण करता है)। 'सर्वतश्चरः' इस पाठान्तर में भी अर्थ वही है। परिवर्तित हो जाता है अर्थात् चारों ओर से उलट जाता है। कोष से यहां चर्मकोष लिया जाता है। 'परिवर्तिका' इस शब्द में वर्तनार्थक परि पूर्वक वृतु धातु से 'रोगाख्यायां ण्वुल् बहुलम्' से ण्वुल् प्रत्यय होता है। इसी प्रकार अवपाटिका शब्द में भी जानना चाहिए। वात से उत्पन्न होने वाली होने पर भी इसमें पित्त के अनुबन्ध हो जाने पर दाह और पाक होते हैं और इसमें कफ का सम्बन्ध तो 'सकण्डू कठिना चापि' से कहा ही गया है। भोज तन्त्र में भी कहा है कि—'व्यान वायु मणि के नीचे लिङ्गेन्द्रिय के चर्म को परिवर्तित (उलटा) कर देता है। शूल, तोद और दाह आदि से युक्त इस रोग को परिवर्तिका नामक जानना चाहिए। श्लेष्म दोष प्रधान वाली यह परिवर्तिका कठिन, स्निग्ध, कण्डुन्वित तथा अल्प वेदना वाली होती है'।

अवपाटिकाया लक्षणमाह—

अल्पीयःखां यदा हर्षाद्बलाद्गच्छेत् स्त्रियं नरः ।
हस्ताभिघातादपि वा चर्मण्युद्वर्तिते बलात् ॥४४॥ [सु॰ २।१३]
यस्यावपाट्यते चर्म तां विद्यादवपाटिकाम् ।

जब मनुष्य स्वल्प योनिमुख वाली स्त्री के पास अधिक प्रहर्ष के कारण बल से जाता है (अर्थात् जब मनुष्य योनि के छोटे मुख वाली स्त्री के साथ अधिक प्रहर्ष के कारण बल से सम्भोग करता है या यह कहें कि सम्भोग करते समय अधिक प्रहर्षित शिश्न को जोर से प्रयुक्त करता है) तब; अथवा हस्ताभिघात के कारण जोर से चर्म के उलट जाने पर जिसका चर्म फट जाता है, उसे अवपाटिका जानना चाहिये।

मधु०—अवपाटिकामाह—अल्पीयःखामित्यादि । अल्पीयःखामित्यल्पतरं खं योनिमुखं यस्याः सा तथा, कन्या ह्यनार्तवा अल्पीयःखा भवति । अत्र हेत्वन्तरं हस्ताभिघातादपि वेति । उद्वर्तित इति ऊर्ध्वं वर्तिते । यस्यावपाट्यत इति स्वयमेव विदीर्यते । एषा च पृथक् दोषत्रयेणानुबध्यते । तथाच भोजः—"मर्दनादभिघाताद्वा कन्यायोनिप्रपीडनात् । लक्ष्यते यदि मेढ्रस्य चर्म दर्भैरिव क्षतम् ॥ ज्ञेयाऽवपाटिका सा तु पृथग्दोषैः समन्विता । वातात् सा परुषा रूक्षा शूलनिस्तोदकारिणी ॥ पित्तात् सदाहा रक्ताद्वा दाहतृष्णासमन्विता । श्लैष्मिकी कठिना स्निग्धा कण्डूमत्यल्पवेदना"—इति ॥४४॥—

'अल्पीयःखां' का अर्थ अल्पतर है योनि का मुख जिसका वह, तथा अनार्तवा कन्या भी स्वल्पयोनि मुख वाली होती है (अतः इसको भी यहां कारण में लिया जाता है। एवं

---

१ टेअर इन दि प्रेप्यूस (Tear in the Prepuce).

कि मूत्र स्रोत रुक जाता है। 'अवेदनं' के स्थान में कई आचार्य 'सवेदनं' यह पाठ पढ़ते हैं। यहां भोज के अभिप्राय को लेकर व्याख्या करते हैं कि—एक वार स्रोत के रुक जाने पर वेदनान्वित और दूसरी वार प्रकाश होने पर (मूत्रस्रोत के प्रकाश अर्थात् खुल जाने पर) मन्दधारान्वित मूत्र प्रवृत्त होता है, किन्तु मूत्र से मणि नहीं फटती (क्योंकि प्रकाश होने पर मूत्र निकलना आरम्भ हो जाता है। हाँ, यदि ऐसा न हो तो मणि फट भी जाती है, परन्तु वह रोगान्तर होता है जिसमें कि मणि फटती है)। मणि के न फटने में भोज ने कहा भी है कि—'लिङ्गेन्द्रिय के समाश्लिष्ट चर्म में जब वायु अधिक कुपित हो जाता है तब वह मूत्रद्वार को रोक देता है, पुनः शनैः प्रकाश होने लगता है। एवं जब प्रकाश होने (मुख खुलने) लगता है तो मनुष्य मूत्र को कठिनता से त्यागता है, किन्तु वातयुक्त शिश्नवाला मणिभाग विदीर्ण नहीं होता। इस सुदारुण व्याधि को निरुद्धप्रकाश जानना चाहिये'। सुश्रुत में तो निरुद्धप्रकाश होने से इसे निरुद्धप्रकश कहा है।

सन्निरुद्धगुदस्य लक्षणमवतारयति—

वेगसंधारणाद् वायुर्विहतो गुदसंश्रितः।
निरुणद्धि महास्रोतः सूक्ष्मद्वारं करोति च ॥४८॥ [सु० २।१३]
मार्गस्य सौक्ष्म्यात् कृच्छ्रेण पुरीषं तस्य गच्छति।
सन्निरुद्धगुदं व्याधिमेतं विद्यात् सुदारुणम् ॥४९॥ [सु० २।१३]

अधोवायु आदि के वेग को रोकने से रुका हुआ (अपान) वायु गुद में आश्रित होकर गुदा के छिद्र को रोक देता है, जिससे मलमार्ग छोटा हो जाता है। मलमार्ग के तङ्ग (छोटे) हो जाने से मनुष्य का मल बड़ी कठिनता से बाहर निकलता है। इस कठोर व्याधि को सन्निरुद्धगुद जानना चाहिए।

मधु०—मूत्रमार्गरोधकनिरुद्धप्रकाशानन्तरं पुरीषमार्गरोधकं सन्निरुद्धगुदमाह—वेगसंधारणादित्यादि। तस्येति गुदस्य। 'महत्स्रोत' इति पाठे तु महत्स्रोतो गुदविवरं, निरुद्धप्रकाशवदत्रापि चर्मसंकोचात् सन्निरुद्धगुदम् ॥४८-४९॥

आचार्य रक्षित मूत्रमार्ग को रोकने वाले निरुद्धप्रकश के बाद मलमार्ग को रोकने वाले सन्निरुद्धगुद रोग को कहते हैं कि—'वेगसन्धारणादित्यादि'। महास्रोत से गुदविवर का तात्पर्य है। निरुद्धप्रकाश की तरह यहां पर भी चर्म के सङ्कोच से सन्निरुद्धगुद रोग होता है।

अहिपूतनस्य स्वरूपमाह—

शकृन्मूत्रसमायुक्तेऽधौतेऽपाने शिशोर्भवेत्।
स्विन्ने वाऽस्नाप्यमाने वा कण्डू रक्तकफोद्भवा ॥५०॥ [सु० २।१३]
कण्डूयनात्ततः क्षिप्रं स्फोटाः स्रावश्च जायते।
एकीभूतं व्रणैर्घोरं तं विद्यादहिपूतनम् ॥५१॥ [सु० २।१३]

मल तथा मूत्र से युक्त बच्चे की गुदा को न धोने से, अथवा बच्चे की गुदा पर स्वेद आने से या बच्चे को स्नान न करवाने से, रक्त और कफ से होने वाली

१ अयं रोग आंग्लभाषायां 'स्ट्रिक्चर आफ दि रेक्टम' (Stricture of the Rectum) इति नाम्ना प्रसिद्धः.

का पोषण उत्तरोक्त 'सरुजं' तथा 'वातसम्भवं' ये पद करते हैं, अन्यथा उत्तरोक्त पदों का पूर्वोक्त पदों से पूर्वोक्तानुसार पौनरुक्त तथा विरोध दूर नहीं हो सकता। 'सरुजं वातसम्भवं' यह केवल वातिक निरुद्धप्रकश का निर्देश है। वात में पीड़ा के आवश्यक होने से 'सरुजं' को पूर्वोक्त 'अवेदनं' से विरोध नहीं है। एवं उत्तरोक्त दोनों पद केवल वातिक निरुद्धप्रकश को लक्षित करते हैं तथा पित्त कफज का ज्ञापन करते हैं। इसमें शास्त्र का वचन उपलब्ध नहीं होता केवल ज्ञापना द्वारा प्रतीति होती है। तथा अवपाटिका निरुद्धप्रकश में परिणत होती है, अतः निरुद्धप्रकश भी अवपाटिका की तरह पृथक् दोषत्रयजन्य हो सकता है। किन्तु सम्भवतः आचार्यों ने क्षुद्ररोग होने से इसके अन्य भेद नहीं कहे हैं, केवल इङ्गित द्वारा सब दर्शाया है। कई आचार्य उपर्युक्त दोष को ही लक्ष्य रख कर 'अवेदनं' के स्थान पर 'सवेदनं' यह पाठ पढ़ कर अर्थसङ्गति करते हैं। इस प्रकार पाठान्तर स्वीकृति से यद्यपि निरोध रूप दोष नहीं आता, परन्तु फिर भी 'वातसम्भवं' तथा 'सवेदनं' इन दोनों में पुनरुक्ति आती है। पूर्व 'अवेदनं' के स्थान पर 'सवेदनं' कर विरोध हटाया तो पुनरुक्ति आ गई। अतः इस प्रकार भी अर्थसंगति नहीं होती। इस पर तीसरे आचार्य 'अवेदनं' के स्थान पर 'सवेदनं' तथा 'सरुजं वातसम्भवम्' के स्थान पर 'दुरूढां चावपाटिकाम्' यह पाठान्तर मानते हैं। एवं दोनों दोष भी नहीं आते, इससे पित्तजत्व और श्लेष्मजत्व की कल्पना भी नहीं करनी पड़ती तथा अर्थसङ्गति भी हो जाती है।

मधु०—निरुद्धप्रकशमाह—वातोपसृष्ट इत्यादि। संश्रयत इति समग्रं श्रयते, अत्रैव नीयत इत्यर्थः। अवपाटिका त्वरूढा चर्मसंकोचान्निरुद्धप्रकशो भवतीति ब्रुवते, सन्निरुद्धगुदवत् स्वतन्त्रोऽपि भवतीति शक्यते वक्तुं; निरुद्धप्रकाश इत्यस्मिन्नर्थे निरुद्धप्रकशः, नैरुक्तेन च रूपसिद्धिः। मूत्रस्रोतः संकुचितचर्मपीडनेन मणेः स्वल्पद्वारत्वान्मूत्रस्रोतो रुणद्धि। अवेदनमित्यस्य स्थाने सवेदनमिति केचित्। अत्र भोजाभिप्रायेण व्याचक्षते एकदा निरुद्धे स्रोतसि सवेदनमन्यदा तु प्रकाशे मन्दधारं प्रवर्तते, मणिश्च नावदीर्यते मूत्रेणेति। तथाच भोजः—'मेढ्रान्ते चर्मणि यदा मारुतः कुपितो भृशम्। द्वारं रुणद्धि स शनैः प्रकाशश्च मुहुर्भवेत्॥ मूत्रं मूत्रयते कृच्छ्रात् प्रकाशस्तु यदा भवेत्। वातोपसृष्टमेढ्रस्तु मणिर्न च विदार्यते। निरुद्धं च प्रकाशं च व्याधिं विद्यात् सुदारुणम्'' इति। सुश्रुते तु निरुद्धप्रकाशत्वात् निरुद्धप्रकशः। मणिर्विव्रियते न चेति मणिर्विवृतो न भवति॥४५—४७॥

(अवपाटिकेति—) कई विद्वान् अरूढा अवपाटिका भी चर्म के संकोच से निरुद्धप्रकश बन जाती है, यह कहते हैं। 'अत्र सुश्रुते तु दुरूढा अवपाटिका निरूद्धप्रकशे विपरिणमत इत्युक्तं, नत्वरूढा'। तद्यथा—'निरुद्धप्रकशं विद्याद्दुरूढां चावपाटिकाम्' (सु. नि. स्था. अ. १३)। यह निरुद्धगुद की तरह स्वतन्त्र भी होता है, यह भी कहा जा सकता है। 'निरुद्धप्रकश' यह शब्द 'निरुद्धप्रकाश' शब्द के अर्थ में है। इसकी सिद्धि निरुक्त विधान से होती है। सङ्कुचित चर्म द्वारा मूत्र स्रोत के अवपीडित होने से मूत्रमार्ग मणि पर स्वल्प हो जाता है, जिससे

गुदभ्रंशलक्षणमाह— Prolapse rectum

प्रवाहणातीसाराभ्यां निर्गच्छति गुदं बहिः।
रूक्षदुर्बलदेहस्य गुदभ्रंशं तमादिशेत् ॥५४॥ [सु० २।१३]

(जिस रोग में) रूक्ष और दुर्बल शरीर वाले जिस मनुष्य की गुदा प्रवाहण और अतिसार के कारण बाहर निकल आती है, उसे गुदभ्रंश रोग कहना चाहिए।

मधु०—गुदभ्रंशलिङ्गमाह—प्रवाहणेत्यादि। प्रवाहणं प्रकर्षेण कुन्थनम्। 'वाह प्रयत्ने' इत्यस्य रूपम्। प्रवाहणेनातिवेगोदीरणेन वातकोपः, अतीसारेण तु धातुक्षयात; यदि वा प्रवाहणेनातीसारेण चाधोगतमारुतत्वेन गुदनिर्गमो रूक्षादिदेहस्य ॥५४॥

(प्रवाहण—अधिककुन्थना) प्रवाहण शब्द 'वाह प्रयत्ने' धातु का रूप है। अतिवेग से उदीर्ण करने से वायु का प्रकोप हो जाता है। अतिसार से तो धातुओं का क्षय होता है। अथवा रूक्ष तथा दुर्बल देह मनुष्य के प्रवाहण तथा अतिसार से वायु की गति नीचे हो जाने से गुदा बाहर निकल आती है।

शूकरदंष्ट्रकस्य स्वरूपमाह—

सदाहो रक्तपर्यन्तस्त्वक्पाकी तीव्रवेदनः।
कण्डूमान् ज्वरकारी च स स्याच्छूकरदंष्ट्रकः ॥५५॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने क्षुद्ररोगनिदानं समाप्तम् ॥५५॥

दाहयुक्त, लाल लाल किनारों वाला, त्वक्पाकी, तीव्रपीडान्वित, कण्डूवाला तथा ज्वरकारी रोग शूकरदंष्ट्र (वराहदंष्ट्र) है।

मधु०—वराहदंष्ट्रलिङ्गमाह–सदाह इत्यादि। अयं 'वराहदाढ' इति लोके प्रसिद्धः ॥५५॥

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायां क्षुद्ररोगनिदानं समाप्तम् ॥५५॥

वराहदंष्ट्रलिङ्गमाह इत्यादि सरल ही है।

अथ मुखरोगनिदानम्।

मुखरोगाणां सामान्येन निदानमाह—

आनूपपिशितक्षीरदधिमत्स्यातिसेवनात्।
मुखमध्ये गदान् कुर्युः क्रुद्धा दोषाः कफोत्तराः ॥१॥

आनूप (जलबहुल) देश में होने वाले जीवों के मांस का अत्यधिक (मात्रा में तथा संख्या में) सेवन करने से, दूध का अत्यधिक प्रयोग करने से, दधि (दही) का अत्यधिक भक्षण करने से और मछलियों का अत्यधिक उपयोग करने से कफ की प्रधानता वाले वात आदि दोष प्रकुपित होकर मुख में रोगों को उत्पन्न कर देते हैं।

वक्तव्य—मुखरोग की उत्पत्ति में कफ की प्रधानता होती है और अवशिष्ट दोष इसके साथ अप्रधान रूप में होते हैं। इसी लिए आचार्य ने मूल

खुजली हो जाती है। तदनु खुजलाने से शीघ्र ही स्फोट हो जाते हैं, जिससे कि स्राव होने लगता है। इस प्रकार के व्रणों के समूह को घोर अहिपूतन नाम रोग जानना चाहिए। 'स्विन्नस्यास्नाप्यमानस्य' इस पाठान्तर में 'स्विन्नस्य और 'अस्नाप्यमानस्य' ये दोनों विशेषण शिशु के होते हैं। एवं अर्थसङ्गति इस प्रकार होती है कि स्वेद से लथपथ तथा अस्नापित बच्चे की मल तथा मूत्र से युक्त गुदा को न धोने से रक्तकफात्मक खुजली हो जाती है। तदनु च खुजलाने से वहां शीघ्र ही फुन्सियां निकल आती हैं, जिससे कि स्राव बहने लगता है। इस प्रकार के व्रणों मिली हुई (युक्त) गुदा में यह रोग दारुण अहिपूतन नामक समझना चाहिए।

मधु०—अहिपूतनमाह—शकृन्मूत्रेत्यादि। अपान इति गुदे, स्विन्ने स्वेदवति, अस्नाप्यमाने अक्रियमाणक्षालने; स्वेदमलक्लेदादेव कण्डूर्भवतीत्यर्थः। एकीभूतमिति अपानं व्रणैः सहैकीभूतम्। अहिपूतनं च बालानामेव भवति, भोजे पुनरिदं दुष्टस्तन्यपानादपि भवतीति पठितम्। यदुक्तं—"दुष्टस्तन्यस्य पानेन मलस्याक्षालनेन च। कण्डूदाहरुजावद्भिः पिडकैश्च समाचिताः॥ संभवन्ति यथादोषं दारुणा ह्यहिपूतना" इति ॥५०-५१॥

यहां स्वेद तथा मल की क्लिन्नता से ही खुजली होती है। अहिपूतन रोग बालकों को होता है। भोजकृत तन्त्र में तो यह दुष्ट स्तन्य (दुग्ध) पान करने से भी होता है, यह कहा है। जैसे कहा भी है कि—'दुष्ट स्तन्य के पीने से और मल के न धोने से होने वाली कण्डू, दाह और पीड़ा वाली पिडकाओं से व्यावृत दोषानुसार दारुण अहिपूतना (अहिपूतना नामक पिडकाएं) होती हैं।

वृषणकच्छूं लक्षयति—

स्नानोत्सादनहीनस्य मलो वृषणसंस्थितः।
यदा प्रक्लिद्यते स्वेदात् कण्डूं जनयते तदा ॥५२॥ [सु० २।१३]
कण्डूयनात्ततः क्षिप्रं स्फोटः स्रावश्च जायते।
प्राहुर्वृषणकच्छूं तां श्लेष्मरक्तप्रकोपजाम् ॥५३॥ [सु० २।१३]

स्नान तथा उबटन के न करने से अण्डकोषों में स्थित हुआ मल जब स्वेद से क्लिन्न हो जाता है, तब खुजली उपजा देता है। तब खुजाने से स्फोट तथा स्राव होने लगता है, इसको कफ तथा रक्त के प्रकोप से होने वाला वृषण कण्डूरोग कहते हैं।

मधु०—अहिपूतनसमानहेतुलिङ्गतया गुदाश्रयं गुदभ्रंशमुल्लङ्घ्यानन्तरं वृषणकच्छूमाह—स्नानोत्सादनहीनस्येत्यादि। एषा च निदानविशेषात् प्रायो वृषणभावित्वाद्विशिष्टचिकित्सोपयोगित्वाच्च कुष्ठोक्तकच्छूतो भेदेन पठ्यते ॥५२-५३॥

अहिपूतना के समान हेतु तथा समान लक्षण होने के कारण गुदा के आश्रित गुदभ्रंश को छोड़ कर वृषण कण्डू को कहते हैं कि—'स्नानोत्सादनहीनस्य' इत्यादि और यह रोग निदान की विशेषता से होने के कारण, प्रायः वृषणों में होने के कारण और विशेष चिकित्सा के उपयोगी होने के कारण कुष्ठ में कहे हुए कण्डू से भिन्न पढ़ा है।

उक्त आनूप, पिशित, क्षीर, दधि आदि) वीर्यविपाक तथा प्रभावादि से भी कफ को अधिकता से प्रकुपित करते हैं। अतः एवमपि 'कफोत्तराः'पद की सङ्गति लग जाती है। (ननु—) यदि मुखरोगों में कफ की प्रधानता तथा वातादिकों की अप्रधानता होती है तो इनमें वातादि निर्देश क्यों होता है ? कारण कि निर्देश 'व्यपदेशस्तु भूयसा' (चरकः) के अनुसार प्रधान दोष का होना है। अतः प्रकृत में श्लेष्मा के प्रधान होने से इसी का सब रोगों में निर्देश समुचित है, न कि वात और पित्त का। इसका उत्तर यह है कि—आरम्भावस्था में कफ की अधिकता होने से इसकी प्रधानता होती है, किन्तु बाद वातादि की अधिकता हो जाने से उनकी प्रधानता तथा उनके नाम से व्यपदेश होता है। जैसे कि वातिक ओष्ठरोग वा पैत्तिक ओष्ठरोग। एवं जहां पूर्व भी कफ की प्रधानता तथा अनन्तर भी कफ की प्रधानता रहे वहां श्लैष्मिक से निर्देश होता है। यथा—श्लैष्मिक ओष्ठरोग। कई आचार्य 'कफोत्तराः' का अर्थ 'कफान्ताः' करते हैं, जिसका कि भाव 'कुपित कफान्त दोष' यह निकलता है। एवं जैसे वातादि दोष कहने से सब का सामान्य रूप से ग्रहण होता है, उसी प्रकार कफान्त वा कफोत्तर दोष कहने से सब का सामान्य रूप से ग्रहण होता है। एवं जब सब का सामान्य रूप से ग्रहण होता है तो वातादि का व्यपदेश भी हो सकता है, इसमें कोई दोष नहीं आता। मुखरोग पञ्चषष्टि होते हैं, जो कि ओष्ठ, दन्तमूल, दन्त, जिह्वा, तालु, कण्ठ और सर्वमुख, इन सात आयतनों में विभक्त होते हैं। उनमें से ओष्ठों में आठ, दन्त मूलों में पञ्चदश, दाँतों में आठ, जिह्वा में पाँच, तालु में नौ, कण्ठ में सतारह और सर्व भाग में तीन रोग होते हैं। जैसे सुश्रुत ने कहा भी है कि "मुखरोगाः पञ्चषष्टिः सप्तस्वायतनेषु। तत्रायतनानि-ओष्ठौ, दन्तमूलानि, दन्ताः, जिह्वा, तालुः, कण्ठः, सर्वाणि चेति। तत्राष्टावोष्ठयोः, पञ्चदश दन्तमूलेषु, अष्टौ दन्तेषु, पञ्च जिह्वायां, नव तालुनि, सप्तदश कण्ठे, त्रयः सर्वेष्वायतनेषु" (सु. नि. स्था. अ. १६)। एवं उपर्युक्त 'आनूपपिशित' इत्यादि श्लोक कथित निदान सभी मुखरोगों के लिये सामान्य रूप से है।

मधु०—रोगगणत्वसामान्यान्मुखरोगनिदानमुच्यते—आनूपेत्यादि। मुखरोगाश्च पञ्चषष्टिर्भवन्ति। यदाह भोजः-"दन्तेष्वष्टावोष्ठयोश्च मूलेषु दश पञ्च च। नव तालुनि जिह्वायां पञ्च सप्तदशामयाः। कण्ठे त्रयः सर्वसरा एकषष्टिश्चतुःपराः"—इति ॥१॥

रोगगणत्व की समानता होने से मुखरोग का निदान कहा जाता है कि—आनूपेत्यादि। मुखरोग पैंसठ होते हैं। जैसे भोज ने कहा भी है कि—'दाँतों में आठ, ओष्ठों में आठ, दन्तमूलों में पन्द्रह, तालु में नौ, जिह्वा में पाँच, गले में सतारह और सर्वसर तीन एवं सम्पूर्ण पैंसठ मुखरोग होते हैं'।

श्लोक में 'कफोत्तराः' यह शब्द दिया है। इस बात की विशेषता का प्रतिपादन प्रतिपादित आनूपपिशित प्रभृति भी करते हैं। क्योंकि इन सब से कफ का प्रकोप होता है। अब यहां शंका होती है कि—यदि उपर्युक्त कारण कफप्रकोपक ही हैं, तो इनसे कफ का ही प्रकोप होगा। जब ऐसा है तो वात आदि का प्रकोप तथा उनकी अनुगामिता नहीं बन सकती, क्योंकि कारणों में उनके प्रकोपक कारणों का निर्देश नहीं है। इसका उत्तर यह है कि—वात आदि का प्रकोप भी इनसे हो जाता है; क्योंकि 'द्रव्यमेकरसं नास्ति' के अनुसार कोई भी द्रव्य एक ही रस वाला नहीं होता। एवं उपर्युक्त द्रव्य भी एक रस वाले नहीं हैं। यद्यपि उनमें प्रधानता से मधुर आदि कफप्रकोपक रस हैं, किन्तु फिर भी अनुरसों द्वारा, उभय प्रकोपक रसों द्वारा, द्रव्यों के वीर्य द्वारा, द्रव्यों के विपाक द्वारा वा द्रव्यों के प्रभाव द्वारा पित्त और वात का भी कफ के अनन्तर इन्हीं उपर्युक्त कारणों से प्रकोप हो जाता है। द्रव्य रस आदि द्वारा दोषप्रकोपक होता है। इसमें सुश्रुत का प्रमाण भी है कि—"तद्द्रव्यमात्मनः किञ्चित्किञ्चिद्वीर्येण सेवितम्। किञ्चिद्रसविपाकाभ्यां दोषं हन्ति करोति वा" (सु. सू. अ. ४०)। उदाहरणार्थ दधि को लेने से प्रतीत होता है कि इसमें मधुरता, अम्लता, अत्यम्लता, कषायानुरसता, उष्णता और स्निग्धता ये भाव होते हैं। इसमें प्रधान रस मधुर और अम्ल होता है। ये दोनों ही 'मधुराम्ललवणाः कफम्' के अनुसार कफ प्रकोपक हैं। परन्तु इनमें से 'कटुकाम्लवणाः पित्तम्' के अनुसार अम्लरस पित्तप्रकोपक भी है। साथ ही जैसे उक्त स्निग्धता कफप्रकोपक हैं, वैसे ही उक्त उष्णता पित्तप्रकोपक भी है। एवं अत्यम्लता भी दोनों को प्रकुपित करती है। इस (दधि) में अनुरस कषाय है, और कषायता 'कटुतिक्तकषायाश्च कोपयन्ति समीरणम्' के अनुसार वातप्रकोपक है। एवं यह सिद्ध हुआ कि दधि—मधुर, अम्ल, अत्यम्ल और स्निग्ध इन चार भावों से कफ को; अम्ल, अत्यम्ल और उष्ण इन तीन भावों से पित्त को, तथा कषायता रूप एक भाव से वायु को प्रकुपित करती है। इस प्रकार यद्यपि दधि से तीनों दोष प्रकुपित होते हैं, परन्तु फिर भी चार भावों से प्रकुपित होने के कारण इसमें कफ की प्रधानता है। यह रस और गुणों द्वारा दधि में दोष की प्रधानता अप्रधानता का विवरण है। एवं आनूपपिशितादि में भी यथायथ अनुसन्धान कर रसों और गुणों की अधिकता तथा अल्पता देख, दोषों की प्रधानता तथा अप्रधानता जाननी चाहिए। इस प्रकार जानने से यही प्रतीत होगा कि इन सब में कफप्रकोपक भावों की अधिकता तथा वातप्रकोपक एवं पित्तप्रकोपक भावों की स्वल्पता है, जिस कारण मुखरोग में कफ की प्रधानता होती है। यह है रसके अनुसार कारण रूप में उक्त दधि आदि द्रव्यों में कफ की प्रधानता तथा वात आदि की अप्रधानता, जिससे कि उक्त पाठ में पठित 'कफोत्तराः' पद की सङ्गति होती है। एवं ये पदार्थ (ऊपर कारण रूप में

उक्त आनूप, पिशित, क्षीर, दधि आदि) वीर्यविपाक तथा प्रभावादि से भी कफ को अधिकता से प्रकुपित करते हैं। अतः एवमपि 'कफोत्तराः' पद की सङ्गति लग जाती है। (ननु—) यदि मुखरोगों में कफ की प्रधानता तथा वातादिकों की अप्रधानता होती है तो इनमें वातादि निर्देश क्यों होता है ? कारण कि निर्देश 'व्यपदेशस्तु भूयसा' (चरकः) के अनुसार प्रधान दोष का होना है। अतः प्रकृत में श्लेष्मा के प्रधान होने से इसी का सब रोगों में निर्देश समुचित है, न कि वात और पित्त का। इसका उत्तर यह है कि—आरम्भावस्था में कफ की अधिकता होने से इसकी प्रधानता होती है, किन्तु बाद वातादि की अधिकता हो जाने से उनकी प्रधानता तथा उनके नाम से व्यपदेश होता है। जैसे कि वातिक ओष्ठरोग वा पैत्तिक ओष्ठरोग। एवं जहां पूर्व भी कफ की प्रधानता तथा अनन्तर भी कफ की प्रधानता रहे वहां श्लैष्मिक से निर्देश होता है। यथा—श्लैष्मिक ओष्ठरोग। कई आचार्य 'कफोत्तराः' का अर्थ 'कफान्ताः' करते हैं, जिसका कि भाव 'कुपित कफान्त दोष' यह निकलता है। एवं जैसे वातादि दोष कहने से सब का सामान्य रूप से ग्रहण होता है, उसी प्रकार कफान्त वा कफोत्तर दोष कहने से सब का सामान्य रूप से ग्रहण होता है। एवं जब सब का सामान्य रूप से ग्रहण होता है तो वातादि का व्यपदेश भी हो सकता है, इसमें कोई दोष नहीं आता। मुखरोग पञ्चषष्टि होते हैं, जो कि ओष्ठ, दन्तमूल, दन्त, जिह्वा, तालु, कण्ठ और सर्वमुख, इन सात आयतनों में विभक्त होते हैं। उनमें से ओष्ठों में आठ, दन्त मूलों में पञ्चदश, दाँतों में आठ, जिह्वा में पाँच, तालु में नौ, कण्ठ में सतारह और सर्व भाग में तीन रोग होते हैं। जैसे सुश्रुत ने कहा भी है कि "मुखरोगाः पञ्चषष्टिः सप्तस्वायतनेषु। तत्रायतनानि–ओष्ठौ, दन्तमूलानि, दन्ताः, जिह्वा, तालुः, कण्ठः, सर्वाणि चेति। तत्राष्टावोष्ठयोः, पञ्चदश दन्तमूलेषु, अष्टौ दन्तेषु, पञ्च जिह्वायां, नव तालुनि, सप्तदश कण्ठे, त्रयः सर्वेष्वायतनेषु" (सु. नि. स्था. अ. १६)। एवं उपर्युक्त 'आनूपपिशित' इत्यादि श्लोक कथित निदान सभी मुखरोगों के लिये सामान्य रूप से है।

मधु०—रोगगणत्वसामान्यान्मुखरोगनिदानमुच्यते—आनूपेत्यादि। मुखरोगाश्च पञ्चषष्टिर्भवन्ति। यदाह भोजः–"दन्तेष्वष्टावोष्ठयोश्च मूलेषु दश पञ्च च। नव तालुनि जिह्वायां पञ्च सप्तदशाननाः। कण्ठे त्रयः सर्वसरा एकषष्टिश्चतुःपराः"–इति ॥१॥

रोगगणत्व की समानता होने से मुखरोग का निदान कहा जाता है कि—आनूपेत्यादि। मुखरोग पैंसठ होते हैं। जैसे भोज ने कहा भी है कि—'दाँतों में आठ, ओष्ठों में आठ, दन्तमूलों में पन्द्रह, तालु में नौ, जिह्वा में पाँच, गले में सतारह और सर्वसर रोग एवं सम्पूर्ण पैंसठ मुखरोग होते हैं'।

वातिकोष्ठरोगस्य स्वरूपमाह—

कर्कशौ परुषौ स्तब्धौ संप्राप्तानिलवेदनौ।
दाल्येते परिपाट्येते ओष्ठौ मारुतकोपतः ॥२॥

वायु के प्रकोप से उत्पन्न ओष्ठरोग में दोनों ओष्ठ कर्कश, रूक्ष, निश्चल और तोदादि वातिक पीडान्वित होते हुए विदीर्ण एवं फटी हुई त्वचा वाले हो जाते हैं अर्थात् दोनों ओष्ठों का कर्कश आदि होते हुए विदीर्ण आदि होना वातिक ओष्ठरोग में होता है।

वक्तव्य—'दाल्येते परिपाट्येते ओष्ठौ मारुतकोपतः' में स्थित 'ओष्ठौ' के स्थान पर सुश्रुत में 'ह्योष्ठौ' पाठ मिलता है। यह पाठ है भी युक्तियुक्त, अन्यथा व्याकरण की दृष्टि में 'पाट्येते ओष्ठौ' यह रूप नहीं बनता, क्योंकि 'पाट्येते+ओष्ठौ' में 'एचोऽयवायावः' (अष्टा. अ. ६ पा. ४ सू. ७८) से एकार को 'अय्' होकर 'पाट्येत्-अय्-ओष्ठौ' ऐसी स्थिति होती है। तदनु च "लोपः शाकल्यस्य" (अष्टा. अ. ८ पा. ३ सू. १९) से आचार्य शाकल्य के मत में यकार का लोप होता है। एवं 'पाट्येत ओष्ठौ' तथा 'पाट्येतयोष्ठौ ये रूप बनते हैं। यहां शाकल्य मत में (पाट्येत ओष्ठौ में) 'आद्गुणः' (अष्टा. अ. ६ पा. १ सू. ८७) से प्राप्त गुणरूप स्वरसन्धि, 'पूर्वत्रासिद्धम्' द्वारा लोपशास्त्र के असिद्ध होने से नहीं होती। एवं शाकल्य के मत में 'पाट्येत ओष्ठौ' यह रूप बनता है, और अन्य आचार्यों के मत में 'पाट्येतयोष्ठौ' यह रूप बनता है। 'पाट्येते ओष्ठौ' यह रूप किसी भी मत में न बनने के कारण 'अव्याकृत' है। अतः प्रकृत में या तो सुश्रुतोक्त 'परिपाट्येते ह्योष्ठौ' यह पाठ होना चाहिए, अथवा 'परिपाट्येत ओष्ठौ' यह, वा 'परिपाट्येतयोष्ठौ' यह पाठ होना चाहिए। यहां विवक्षानुसार सन्धि नहीं की गई अतः अव्याकृति (च्युतसंस्कृति) दोष नहीं आता, तथा "परिपाट्येते ओष्ठौ" यह पाठ भी ठीक सिद्ध हो जाता है, यह भी नहीं कहना चाहिए, क्योंकि इसमें संहिता नित्य होती है। जैसे कहा भी है कि—"संहितैक पदेनित्या नित्या धातूपसर्गयोः। नित्या समासे वाक्ये तु सा विवक्षामपेक्षते"। एवं प्रकृत में संहिता के नित्य होने पर भी न करने से (यहां) अव्याकृति दोष आता है। यहां द्वन्द्व के अनुरोध से ऐसा कहा गया है, यह कथन भी ठीक नहीं, क्योंकि द्वन्द्वानुरोध वहां लेना पड़ता है, जहां कि और कोई प्रकार काम में न आ सके। परन्तु यहां 'ह्योष्ठौ' करने से काम चल सकता है। साथ ही 'परिपाट्येत ओष्ठौ' वा 'परिपाट्येतयोष्ठौ' इस पाठ में छन्दोभङ्ग होता ही नहीं है। अतः यहां उपर्युक्त पाठों में से ही कोई पाठ होना चाहिए; अन्यथा च्युतसंस्कृति दोष रहेगा। विद्वान् इसका समाधान करते हैं कि यहां विवक्षानुसार सन्धि नहीं की गई।

मधु०—वातिकलक्षणमाह—कर्कशावित्यादि। दाल्येते इति विदार्येते। परिपाट्येते इति किंचिदवदीर्णत्वचौ भवत इत्यर्थः ॥२॥

वातिकलक्षणमाहेत्यादि की भाषा सरल ही है।

पैत्तिकोष्ठरोगस्य लक्षणमाह—

चीयेते पिडकाभिश्च सरुजाभिः समन्ततः।
सदाहपाकपिडकौ पीताभासौ च पित्ततः ॥३॥

पित्त से होने वाले ओष्ठरोग में दोनों ओष्ठ चारों ओर से पैत्तिक पीड़ा-युक्त पिडकाओं से व्याप्त, अथवा दाहयुक्त तथा पाकयुक्त पिडकाओं से व्याप्त, एवं पीताभास होते हैं।

वक्तव्य—पैत्तिक ओष्ठरोग का लक्षण सुश्रुत में इस प्रकार मिलता है कि—'आचितौ पिडकाभिस्तु सर्षपाकृतिभिर्भृशम्। सदाहपाकसंस्रावौ नीलौ पीतौ च पित्ततः' (सु. नि. स्था. अ. १६)।

मधु०—पैत्तिकलक्षणमाह—चीयेते इत्यादि। सरुजाभिरिति पित्तकृतरुजान्विताभिः। यद्येवं सदाहपाकपिडकाविति किमर्थमुच्यते? पूर्वेणैव गतार्थत्वात्। नैवं, पक्षान्तरप्रतीत्यर्थं पुनरुच्यते; अयमर्थः—कदाचित् पित्तरुजान्वितबहुपिडकाचितावोष्ठौ कदाचिद्दाहपाकान्वितपिडकाचितौ वा भवतः; अन्यस्त्वाह—अनतिभिन्नार्थत्वादव्यक्तशब्दार्थत्वाच्च दाहपाकातिशयदर्शनार्थं पिडकानुवादः ॥३॥

जब कि ऊपर 'पैत्तिक पीड़ायुक्त' यह पाठ आ चुका है तो 'सदाहपाकपिडकौ' यह पाठ किस लिये कहा गया है? क्योंकि इस अर्थ का ज्ञान तो पूर्वपठित पद से ही हो जाता है। इसका उत्तर यह कि—इसका पुनर्निर्देश पक्षान्तर प्रतीति के लिये है। इसका भाव यह है कि ओष्ठ कभी २ पैत्तिक पीड़ा (दाहादि) युक्त पिडकाओं से व्याप्त या कभी २ दाह पाकान्वित पिडकाओं से व्याप्त होते हैं। दूसरे इसका समाधान करते हैं कि—पिडकाओं का पुनर्निर्देश अनतिभिन्नार्थ होने से, तथा अव्यक्त शब्दार्थ होने से दाह पाक आदिकों का आधिक्य दिखाने के लिये किया है।

श्लैष्मिकोष्ठरोगं लक्षयति—

सवर्णाभिश्च चीयेते पिडकाभिरवेदनौ।
भवतस्तु कफादोष्ठौ पिच्छिलौ शीतलौ गुरू ॥४॥ [सु० २।१६]

कफ से उत्पन्न होने वाले ओष्ठरोग में दोनों ओष्ठ ओष्ठ के समान वर्ण वाली पिडकाओं से व्याप्त, अल्प वेदना वाले, पिच्छिल, शीतल तथा भारी हो जाते हैं अर्थात् स्वसमान वर्ण की पिडकाओं से व्याप्त आदि लक्षणों वाला ओष्ठगत रोग श्लैष्मिक समझना चाहिए।

मधु०—कफजमाह—सवर्णाभिरित्यादि। सवर्णाभिरिति ओष्ठसमानवर्णाभिः। अवेदनौ ईषद्वेदनौ ॥४॥

कफजमाहेत्यादि की भाषा सुगम ही है।

सान्निपातिकोष्ठरोगस्य लक्षणमाह—

सकृत्कृष्णौ सकृत्पीतौ सकृच्छ्वेतौ तथैव च।
सन्निपातेन विज्ञेयावनेकपिडकाचितौ ॥५॥ [सु० २।१६]

दोषों के सन्निपात से होने वाले ओष्ठरोग में ओष्ठ कभी २ कृष्णवर्ण, कभी २ पीतवर्ण तथा कभी २ श्वेतवर्ण के होते हैं । एवं वे वातादि दोषों की तोदादि अनेकविध पीड़ाओं से युक्त, वा वातादि दोषों के कृष्णपीतश्वेतादि अनेकविध वर्णों से युक्त पिडकाओं से व्याप्त होते हैं (यह रोग असाध्य है)।

मधु०—सान्निपातिकलक्षणमाह—सकृदित्यादि । सकृदिति कदाचिद्विकृतिवशादेवं भवति । अनेकपिडकाचिताविति वातादिवेदनान्वितबहुपिडकौ, अनेकवर्णपिडकाचितावित्यन्ये; अनेकाश्च वर्णा वातादीनां कृष्णपीतश्वेताः, अत्र पक्षे सकृत्कृष्णावित्यादिपिडकातोऽन्यत्र कल्पनीयम् ॥५॥

'अनेकपिडकाचितौ' अर्थात् वातादि की तोदादि पीड़ाओं वाली बहुत सी पिडकाओं से युक्त, (अनेक वर्ण की पिडकाओं से व्याप्त, इत्यन्ये) वातादिकों के कृष्ण, पीत, श्वेतादि अनेक वर्णों वाली पिडकाओं से व्याप्त । इस पक्ष में 'सकृत्कृष्णौ' आदि ग्रन्थोक्त पाठ पिडकाओं से भिन्न केवल ओष्ठ मात्र में ही जानना चाहिए। उपर्युक्त गद्य का भाव यह है कि—'अनेकपिडकाचितौ' का अर्थ वातादि की तोदादि पीड़ाओं वाली बहुत सी पिडकाओं से युक्त, यह है। किन्तु कई आचार्य इसका अर्थ, वातादिकों के कृष्ण, पीत, श्वेतादि अनेकविध वर्णों वाली पिडकाओं से व्याप्त, यह मानते हैं। इस मत में 'सकृत्कृष्णौ' इत्यादि उपर्युक्त मूल पाठ पिडकाओं से भिन्न प्रदेश में ही जानना चाहिए । अर्थात् ये 'सकृत्कृष्णौ' आदि पाठ पिडकावर्जित केवल ओष्ठ में ही जानना; तथा 'अनेक पिडकाचितौ' यह पाठ पिडकाओं में ही जानना समुचित है । अन्यथा अभिन्न विषय होने से एक अर्थ का पुनः प्रतिपादन होने के कारण पुनरुक्ति दोष आता है ।

रक्तजोष्ठरोगलक्षणमाह—

खर्जूरफलवर्णाभिः पिडकाभिर्निपीडितौ ।
रक्तोपसृष्टौ रुधिरं स्रवतः शोणितप्रभौ ॥६॥ [सु० २।१६]

शोणित के कारण उत्पन्न रोग से आक्रान्त ओष्ठ खजूर फल के से वर्णों वाली पिडकाओं से प्रपीडित, तथा रक्त द्वारा दूषित होने के कारण रक्तस्रावी होते हैं अर्थात् रक्तजोष्ठ रोग में ओष्ठ खजूर फल समान वर्ण की पिडकाओं से निपीडित तथा रक्तस्रावी होते हैं ।

मधु०—रक्तजमाह—खर्जूरेत्यादि । खर्जूरफलवर्णाभिरित्यनेन वर्णमात्रेणैव साधर्म्यं प्रतिपाद्यते, यदि तु सर्वात्मना साधर्म्यमभीष्टं स्यात्, तदा 'खर्जूरफलतुल्याभिः' इत्येवोच्येत । रक्तोपसृष्टाविति रक्तदूषितौ ॥६॥

'खर्जूरफलसवर्णाभिः' इस पाठ से वर्णमात्र में सधर्मता प्रतिपादित होती है, यदि सम्पूर्णता से सधर्मता अभिप्रेत होती तो इसके स्थान में 'खर्जूरफलतुल्याभिः' यह पाठ कहना चाहिए था ।

मांसजोष्ठरोगं लक्षयति—

गुरू स्थूलौ मांसदुष्टौ मांसपिण्डवदुद्गतौ ।
जन्तवश्चात्र मूर्च्छन्ति नरस्योभयतो मुखात् ॥७॥

मांसज ओष्ठरोग में ओष्ठ भारी, मोटे और मांस के पिण्ड की तरह उभरे हुए होते हैं, एवं इस रोग वाले मनुष्य की सृक्कणियों में क्रिमि उत्पन्न हो जाते हैं।

मधु०—मांसजमाह—गुरू स्थूलावित्यादि । जन्तवश्चात्र मूर्च्छन्तीति क्रिमयोऽप्यत्र उच्छ्रिता भवन्ति । उभयतो मुखादिति मुखविवरमपेक्ष्योभयभागयोः सृक्कणीप्रदेशयोरिति यावत् । मुखादिति ल्यब्लोपे पञ्चमी । 'उभयतो मुखा' इति पाठान्तरे उभयसृक्कणीभागो मुखमाश्रयो येषां ते तथा । द्विमुखा इत्यन्ये ॥७॥

जन्तवश्चेति—अर्थात् इस मांसज ओष्ठरोग में क्रिमि भी उत्पन्न हो जाते हैं। 'उभयतो मुखात्' अर्थात् मुख छिद्र के दोनों ओर सृक्कणी प्रदेशों में । 'उभयतो मुखाः' इस पाठान्तर में, उभय सृक्कणी भाग वाला मुख है आश्रय जिनका यह अर्थ होता है । कई आचार्य यहां 'द्विमुखाः' यह अभिप्राय लेते हैं ।

मेदोजोष्ठरोगस्य स्वरूपमाह—

सर्पिर्मण्डप्रतीकाशौ मेदसा कण्डुरौ गुरू ।
अच्छं स्फटिकसंकाशमास्रावं स्रवतो भृशम् ॥८॥
तयोर्व्रणो न संरोहेन्मृदुत्वं च न गच्छति ।

मेदोज ओष्ठ रोग में ओष्ठ घृत मण्ड के समान (वर्ण वाले), कण्डू (खुजली) युक्त, भारी और स्फटिक के समान निर्मलस्राव को अधिक स्रवित करने वाले होते हैं । एवं इस रोग से ग्रस्त मनुष्यों के ओष्ठज व्रण न तो रूढ़ ही होते हैं और न ही मृदुता को पाते हैं ।

मधु०—मेदोजमाह—सर्पिर्मण्डप्रतीकाशावित्यादि । सर्पिर्मण्डप्रतीकाशाविति सर्पिर्मण्डो घृतस्योपरितनः स्वच्छभागः, तत्प्रतीकाशौ तत्सदृशौ । तयोरिति तादृशयोः ॥८॥—

मेदोजमाहेत्यादि सरल है ।

अभिघातजोष्ठरोगं लक्षयति—

क्षतजाभौ विदीर्येते पाट्येते चाभिघाततः ॥९॥
ग्रथितौ च तथा स्यातामोष्ठौ कण्डूसमन्वितौ । [सु० २।१६]

अभिघातज ओष्ठ रोग में ओष्ठ रक्त की सी कान्ति वाले होते हैं, विदीर्ण हो जाते हैं, वा फट जाते हैं, ग्रन्थिल हो जाते हैं तथा कण्डू से अन्वित होते हैं। कई आचार्य इसका इस प्रकार व्याख्यान करते हैं कि इस रोग में ओष्ठ शोणित-सम रक्तवर्ण के होते हैं और चोट लगने से विदीर्ण हो जाते हैं अथवा फट जाते हैं। एवं उनमें गांठ सी बंध जाती है तथा कण्डू होने लगती है।

मधु०—अभिघातजमाह—क्षतजाभावित्यादिना । अत्र कफरक्तयोरप्यनुबन्धो बोद्धव्यः । यदुक्तं भोजे—"क्षतावभिहतौ वापि रक्तावोष्ठौ सवेदनौ । भवतः सपरिस्रावौ कफरक्तप्रदूषितौ"—इति । वायुरप्यत्राभिघाताल्लभ्यते, अयं चाभिघातजशोथावयोः फललक्षणकारणभेदेन तथा वातिकौष्ठप्रकोपादपि कफरक्तरूपहेतुभेदयोगाद्भिद्यते ॥९॥

इस रोग में कफ और रक्त का भी अनुबन्ध जानना चाहिए। जैसे भोजकृत तन्त्र में कहा भी है कि—'क्षत अथवा अभिहत हुए ओष्ठ लालवर्ण के, वेदनायुक्त, स्रावान्वित तथा कफ और रक्त से प्रदूषित होते हैं'। यहां अभिघात होने से वायु भी होता है। यह रोग अभिघातज शोथ से पूर्वप्रतिपादित लक्षण और कारण के भेद से भिन्न होता है अर्थात् इस रोग के अभिघातज रोग से लक्षण और कारण भिन्न होने से इनका परस्पर भेद है। एवं वातिक ओष्ठप्रकोप से भी यह कफ और रक्त रूप हेतु की भिन्नता होने के कारण भिन्न है; अर्थात् वातज ओष्ठप्रकोप में शुद्ध वात कारण होता है और यहां (अभिघातज में) कफ रक्त सहित वात कारण होता है, यह इनका परस्पर भेद है।

शीतादस्य[1] लक्षणमवतारयति—

शोणितं दन्तवेष्टेभ्यो यस्याकस्मात्प्रवर्तते।
दुर्गन्धीनि सकृष्णानि प्रक्लेदीनि मृदूनि च ॥१०॥ [सु० २।१६]
दन्तमांसानि शीर्यन्ते पचन्ति च परस्परम्।
शीतादो नाम स व्याधिः कफशोणितसंभवः ॥११॥

जिस मनुष्य के दन्तवेष्टों में से अकस्मात् रक्त बहने लगता है तथा जिसके दन्तवेष्ट दुर्गन्धियुक्त, कृष्णवर्ण, क्लेदान्वित और मृदु होते हैं; एवं जिसके दन्तवेष्ट गल जाते हैं और परस्पर पका देते हैं, उस मनुष्य में होने वाला कफ और रक्त के कारण उत्पन्न यह रोग शीताद नामक होता है।

मधु०—शीतादमाह—शोणितमित्यादि। दन्तवेष्टेभ्य इति दन्तबन्धनमांसेभ्यः। अकस्मादिति अभिघातादिनिमित्तं विना। 'शीर्यन्त' इत्यस्य स्थाने, 'पच्यन्त' इति गदाधरः, व्याचष्टे च—'स्वयं' इति शेषः। पचन्ति च परस्परमित्यन्योन्यं पचन्ति, पाकोष्मदूषितशोणितसंचरणेन ॥१०-११॥

शीतादमाहेत्यादि की भाषा स्पष्ट है।

दन्तपुप्पुटकस्य[2] स्वरूपमाह—

दन्तयोस्त्रिषु वा यस्य श्वयथुर्जायते महान्।
दन्तपुप्पुटको नाम स व्याधिः कफरक्तजः ॥१२॥ [सु० २।१६]

जिस मनुष्य के दो वा तीन दन्तों के मूलों में बड़ी भारी सूजन हो जाती है, उसे वह कफ और रक्त से होने वाली दन्तपुप्पुट नामक व्याधि जाननी चाहिए।

मधु०—दन्तपुप्पुटकमाह—दन्तयोरित्यादि। अयं च दन्तयोस्त्रिष्वित्यभिधानात् द्वित्रिदन्तनियतः, कफरक्तजत्वेऽपि शौषिराद्भिन्नोऽयं, रुजालालास्रावाभावात् ॥१२॥

दो वा तीन दन्तमूलों में होने के कारण तथा रुजा और लालास्राव का अभाव होने के कारण कफ रक्तज होने पर भी यह व्याधि शौषिर नामक वक्ष्यमाण व्याधि से भिन्न है।

---

१ शीताद—'स्पन्जी गम्स्' (Spongygums). २ दन्तपुप्पुटक 'गम् बॉइल्' (Gum boil).

दन्तवेष्टस्य लक्षणमाह—

स्रवन्ति पूयरुधिरं चला दन्ता भवन्ति च ।
दन्तवेष्टः स विज्ञेयो दुष्टशोणितसंभवः ॥१३॥ [सु० २।१६]

जिस दन्तमूलगत रोग में दन्तमूल पूय और रक्त को स्रवित करते हैं, तथा जिसमें दन्त हिलने लगते हैं, वह 'दन्तवेष्ट'[1] होता है, जो कि दुष्ट रक्त के कारण से होता है ।

मधु०—दन्तवेष्टमाह—स्रवन्तीत्यादि । स्रवन्ति पूयरुधिरमित्यत्र 'दन्तमूलानि' इति शेषः । चला दन्ता भवन्ति चेति चकारेण पचन्ति चेति द्रष्टव्यम् ॥१३॥

दन्तवेष्टमाहेत्यादि सरल ही है ।

शौषिरस्य स्वरूपमाह—

श्वयथुर्दन्तमूलेषु रुजावान् कफरक्तजः ।
लालास्रावी स विज्ञेयः शौषिरो नाम नामतः ॥१४॥ [सु० २।१६]

जिस रोग में दाँतों के मूलभाग में पीडान्वित सूजन हो, तथा मुख से लालास्राव हो, कफरक्तज वह शौषिर नाम से जानना चाहिए। अर्थात् शौषिर रोग में दन्तमूलों में शोथ तथा पीड़ा होती है और मुख से लालास्राव होता है, एवं कफ और रक्त उत्पादक कारण होते हैं ।

मधु०—शौषिरलिङ्गमाह—श्वयथुरित्यादि । नामत इति प्रसिद्धितः ॥१४॥

शौषिरलिङ्गमाहेत्यादि की भाषा सुगम है ।

महाशौषिरस्य लक्षणमाह—

दन्ताश्चलन्ति वेष्टेभ्यस्तालु चाप्यवदीर्यते ।
यस्मिन् स सर्वजो व्याधिर्महाशौषिरसंज्ञितः ॥१५॥ [सु० २।१६]

जिस रोग में दन्तवेष्टों से दाँत हिलने लगते हैं और तालु अवदीर्ण होती है, वह सभी दोषों से होने वाली महाशौषिर नामक व्याधि जाननी चाहिए।

वक्तव्य—सुश्रुत में इस श्लोक के मध्य में एक श्लोकार्ध और भी पढ़ा है, तद्यथा—'दन्ताश्चलन्ति वेष्टेभ्यस्तालु चाप्यवदीर्यते । दन्तमांसानि पच्यन्ते मुखं च परिपीड्यते ॥ यस्मिन्स सर्वजो व्याधिर्महाशौषिरसंज्ञकः' । यह रोग सर्वदोषज है, तथा सात दिन में मार देता है ।

मधु०—महाशौषिरलिङ्गमाह—दन्ता इत्यादि । तालु चाप्यवदीर्यत इत्यत्र चकारेण दन्ता ओष्ठौ चाप्यवदीर्यन्ते इति बोद्धव्यम् । सप्तरात्राच्चायं मारकः । यदाह भोजः—"स्वदाहो दन्तमूलेषु शोथः पित्तकफानिलात् । अतः कफं क्षपयति क्षीणे तस्मिंस्तु शोणितम् ॥ विवृद्धमनिशं दन्तान् ताल्वोष्ठमपि दारयेत् । महाशौषिर इत्येतत् सप्तरात्रान्निहन्त्यसून्"—इति । तस्मिन् शौषिरे एकमपि भवति स महाशौषिर इति गदाधरः ॥१५॥

---

१ दन्तवेष्ट—'पायोरिया' (Pyorrhoea).

'तालु चाप्यवदीर्यते' में पठित चकार से 'दन्त और ओष्ठ भी अवदीर्ण होते हैं' यह भी जानना चाहिए। यह रोग सात दिन में मार देता है। जैसे भोज ने कहा भी है कि—'दन्तमूलों में पित्त और कफ से होने वाला दाहान्वित'शोथ उत्पन्न होकर कफ का ह्रास कर देता है। उसके ह्रास (क्षीण) हो जाने पर बढ़ा हुआ रक्त दाँतों को, तालु को तथा ओष्ठों को विदीर्ण कर देता है। इस प्रकार की यह व्याधि महाशौषिर नाम वाली होती है, तथा यह सात दिन में प्राणों को नष्ट कर देती है'।

परिदरस्य लक्षणमाह—

दन्तमांसानि शीर्यन्ते यस्मिन् ष्ठीवति चाप्यसृक्।
पित्तासृक्कफजो व्याधिर्ज्ञेयः परिदरो हि सः ॥१६॥ [सु० २।१६]

जिस रोग में दन्तमांस विशीर्ण हो जाते हैं और मनुष्य रुधिर थूकता है, पित्त रक्त और कफ से होने वाली वह व्याधि परिदर होती है।

मधु०—परिदरमाह—दन्तमांसानीत्यादि। दन्तमांसस्य परिदारणात् परिदरसंज्ञा ॥१६॥

परिदरमाहेत्यादि स्पष्टमेव।

उपकुशं लक्षयति—

वेष्टेषु दाहः पाकश्च ताभ्यां दन्ताश्चलन्ति च।
यस्मिन् सोपकुशो नाम पित्तरक्तकृतो गदः ॥१७॥ [सु० २।१६]

जिस रोग में दन्तवेष्ट (मसूड़े) दाहयुक्त तथा पाकयुक्त हो जाते हैं, एवं जिसमें इन दाह पाकों द्वारा दाँत हिलने लगते हैं, वह कफ और पित्त दोष के कारण होने वाला रोग उपकुश कहलाता है।

मधु०—उपकुशलक्षणमाह—वेष्टेष्वित्यादि। ताभ्यामिति दाहपाकाभ्याम्। सोपकुश इति निर्देशोऽसिद्धत्वानित्यत्वादसाधुः, तेन स उपकुश इत्यर्थः ॥१७॥

उपकुशलक्षणमाहेत्यादि सुगम है।

वैदर्भस्य लक्षणमाह—

घृष्टेषु दन्तमांसेषु संरम्भो जायते महान्।
चला भवन्ति दन्ताश्च स वैदर्भोऽभिघातजः ॥१८॥ [सु० २।१६]

दन्तवेष्टों को घिसने से मसूड़ों पर भारी शोथ हो जाता है और दाँत हिलने लग जाते हैं, यह व्याधि वैदर्भ नामक है। इसकी उत्पत्ति अभिघात से होती है।

मधु०—वैदर्भलिङ्गमाह—घृष्टेष्वित्यादि। संरम्भ इति शोथः, वेदनापाकौ वा ॥१८॥

वैदर्भलिङ्गमाहेत्यादि सरल है।

खलिवर्धनं लक्षयति—

मारुतेनाधिको दन्तो जायते तीव्रवेदनः।
खलिवर्धनसंज्ञोऽसौ जाते रुक् च प्रशाम्यति ॥१९॥ [सु० २।१६]

---

१ वर्धनः युनानीवैद्यके 'असनान उल भायदा' नाम्ना, आङ्ग्लभाषायाञ्च 'एक्स्ट्रा टूथ' (Extra Tooth) इति नाम्ना प्रसिद्धः.

वायुप्रकोप के कारण तीव्र पीड़ा वाला एक दांत अधिक हो जाता है। जब वह पूर्णतः उत्पन्न हो जाता है तो पीड़ा शान्त हो जाती है। इस प्रकार का यह रोग खलिवर्धन नामक होता है।

मधु०—खलिवर्धनलिङ्गमाह—मारुतेनेत्यादि । जाते रुक् च प्रशाम्यतीति उत्थितेऽधिके दन्ते प्रभावाद्वेदनाया अभावः ॥१६॥

खलिवर्धनलिङ्गमाहेत्यादि स्पष्ट है।

करालस्य लिङ्गमाह—

शनैः शनैः प्रकुरुते वायुर्दन्तसमाश्रितः।
करालान्विकटान् दन्तान् करालो न स सिध्यति ॥२०॥

दाँतों में ठहरा हुआ वायु धीरे २ दाँतों को कराल एवं विकट कर देता है। यह कराल नामक रोग साध्य नहीं है।

मधु०—करालालक्षणमाह—शनैरित्यादि । करालान् विषमान्। करालस्तु सुश्रुतेऽनुक्तोऽधिकः संग्रहकारेण पठितः, तेन सुश्रुतोक्तपञ्चदशसंख्याहानिः ॥२०॥

कराल नामक रोग यद्यपि सुश्रुत में नहीं पढ़ा, परन्तु संग्रह ग्रन्थ होने से आचार्य माधव ने इसे तन्त्रान्तर से संग्रहीत किया है।

अधिमांसकस्य लक्षणमभिधत्ते—

हानव्ये पश्चिमे दन्ते महान् शोथो महारुजः।
लालास्रावी कफकृतो विज्ञेयः सोऽधिमांसकः। [सु० २।१६]

हनु रूप अन्तिम दाँत के मूल में दारुण पीड़ा वाला महाशोथ हो जाता है, जिसके कारण लालास्राव होता रहता है। यह कफज अधिमांसज नामक व्याधि है।

मधु०—अधिमांसकमाह—हानव्य इत्यादि । अधिमांसक इति संज्ञायां कन्। हानव्य इति हनुकुहरे। पश्चिम इत्यवसानजे, अन्तजे इति यावत् ॥

अधिमांसकमाहेत्यादि सुगम है।

दन्तनाडीनां स्वरूपमाह—

दन्तमूलगता नाड्यः पञ्च ज्ञेया यथेरिताः ॥२१॥ [सु० २।१६]

वात, पित्त, कफ, सन्निपात और आगन्तुज भेद से होने वाली दन्तमूलगत पूर्वप्रतिपादित पांच नाड़ियाँ जाननी चाहिएं।

मधु०—पञ्च दन्तनाडीराह—दन्तेत्यादि । नाड्यः पञ्च ज्ञेया यथेरिता इति नाडीनिदाने यथोक्ता वातपित्तकफसन्निपातागन्तुनिमित्तास्तथा दन्तमांसगता अपि नाड्यः । एताश्च नाडीव्रणसमानलक्षणा अपि शालाक्यसिद्धान्तेन संख्यापूरणाय चिकित्साभेदाच्च पुनरुक्ताः ॥२१॥

पञ्चेत्यादि की भाषा सुगम है।

---

१ दन्तनाडी—साइनस् इन् दि गम्स् (Sinus in the Gums)

दालनस्य लक्षणमाह—

दीर्यमाणेष्विव रुजा यस्य दन्तेषु जायते।
दालनो नाम स व्याधिः सदागतिनिमित्तजः ॥२२॥

जिस मनुष्य के दाँतों में फटने की सी पीड़ा होती है, उसे वातज दालन नामक व्याधि जाननी चाहिए।

वक्तव्य—भाव यह है कि दन्तगत रोग में जिस मनुष्य के दाँत फटते से प्रतीत होते हैं, उसे वह व्याधि दालन नामक समझनी चाहिए, जिसकी कि उत्पत्ति वायु दोष से होती है। इसका लक्षण सुश्रुत में इस प्रकार से मिलता है कि—'दाल्यन्ते बहुधा दन्ता यस्मिंस्तीव्ररुगन्विताः। दालनः स इति ज्ञेयः सदागतिनिमित्तजः' (सु. नि. स्था. अ. १६)। यह रोग असाध्य होता है।

मधु०—सदागतिनिमित्तज इति सदागतिर्वायुः, तस्मान्निमित्ताज्जात इति। सदागतिनिमित्तत इति वक्तव्ये सदागतिनिमित्तज इति यत्कृतं तद्बलवद्धेतुजन्यवातकृतत्वबोधनार्थमिति कार्तिकः, केवलवातजत्वख्यापनार्थमित्यन्ये ॥२२॥

सदागतिनिमित्तजेत्यादि की भाषा स्पष्ट है।

क्रिमिदन्तकस्य[1] लिङ्गमभिधत्ते—

कृष्णच्छिद्रश्चलः स्रावी ससंरम्भो महारुजः।
अनिमित्तरुजो वाताद्विज्ञेयः क्रिमिदन्तकः ॥२३॥ [सु० २।१६]

जो दाँत काले छिद्र वाला, हिलता हुआ, स्रावान्वित, शोथयुक्त और निमित्त के विना ही महारुजा वाला होने से पीडान्वित होता है, उसे क्रिमिदन्तक कहा जाता है।

मधु०—क्रिमिदन्तकमाह—कृष्णच्छिद्र इत्यादि। कृष्णच्छिद्र इति दुष्टरक्तजक्रिमिकृतशोथपाकद्वारेण कृष्णच्छिद्र इत्यर्थः। अन्ये 'कृष्णश्चित्र' इति पठन्ति, चित्र इति चित्रवान्, अर्शआदित्वादच्। स्रावीति दन्तमूलेषु स्रावो बोद्धव्यः, दन्तानां नीरसत्वेन स्रावाभावात्। अनिमित्तरुज इति अवघट्टनादिनिमित्तं विनैव महारुजत्वेन रुजावानिति कार्तिकः ॥२३॥

क्रिमिदन्तकमाहेत्यादि सरल ही है।

भञ्जनकस्य लक्षणमाह—

वक्त्रं वक्रं भवेद्यस्य दन्तभङ्गश्च जायते।
कफवातकृतो व्याधिः स भञ्जनकसंज्ञितः ॥२४॥ [सु० २।१६]

जिस मनुष्य का मुख टेढ़ा हो जावे तथा दाँत टूट जावें उसे उत्पन्न वह व्याधि भञ्जनक नाम वाली जाननी चाहिए। इसकी उत्पत्ति कफवात से होती है।

वक्तव्य—भाव यह है कि जिस रोग में दन्तभङ्गकारी दोष से मुख भी टेढ़ा हो जावे उस रोग को भञ्जनक कहते हैं, जो कि कफवात से होता है। यह असाध्य है।

---

१ अयं रोगो युनानीवैद्यके 'दीदान उल लशा' नाम्ना आङ्ग्लभाषायाञ्च 'करीज़ ऑफ टीथ' (Caries of teeth) इति नाम्ना प्रसिद्धः.

मधु०—भञ्जनकलक्षणमाह—वक्रमित्यादि । वक्रं वक्रमिति दन्तभञ्जकारिणा दोषेण वक्त्रस्यापि वक्रत्वम् ॥२४॥

भञ्जनकलक्षणमाहेत्यादि का अर्थ सुगम है ।

दन्तहर्षस्य स्वरूपमाह—

शीतरूक्षप्रवाताम्लस्पर्शानामसहा द्विजाः ।
पित्तमारुतकोपेन दन्तहर्षः स नामतः ॥२५॥

जिस रोग में पित्त और वायु के प्रकोप के कारण दाँत शीतस्पर्श, रूक्षस्पर्श, प्रवातस्पर्श और अम्लस्पर्श को सहन नहीं कर सकते, उसे दन्तहर्ष नामक रोग जानना चाहिये ।

वक्तव्य—सुश्रुत में दन्तहर्ष का लक्षण 'दशनाः शीतमुष्णञ्च सहन्ते स्पर्शनं न च। यस्य तं दन्तहर्षं तु व्याधिं विद्यात् समीरणात्' (सु. नि. स्था. अ. १६) यह है ।

मधु०—दन्तहर्षलक्षणमाह—शीतेत्यादि । 'शीतमुष्णं च दशनाः सहन्ते स्पर्शनं न च । यस्य तं दन्तहर्षं तु व्याधिं विद्यात् समीरणात्'—इति श्लोकान्तरं पठन्ति । तत्र दन्तहर्षस्य वातजत्वेऽप्युष्णासहत्वं व्याधिप्रभावात्, कफरक्तावृतत्वाद्वा बोद्धव्यम् ॥२५॥

जिस मनुष्य के दाँत शैत्य, उष्णता तथा स्पर्श को नहीं सहते उस मनुष्य को वात से होने वाली वह व्याधि दन्तहर्ष नामक जाननी चाहिए । कई आचार्य यहां इस श्लोकान्तर को पढ़ते हैं । यहां यद्यपि दन्तहर्ष वात से होने वाला स्वीकार किया है परन्तु फिर भी उष्णासहत्व व्याधि प्रभाव के कारण है, वा कफरक्त से आवृत वात के कारण है, ऐसा जानना चाहिए ।

दन्तशर्करां लक्षयति—

मलो दन्तगतो यस्तु पित्तमारुतशोषितः ।
शर्करेव खरस्पर्शा सा ज्ञेया दन्तशर्करा ॥२६॥

पित्त और वायु से शोषित जो दन्तमल शर्करा की तरह खरस्पर्श वाला हो जाता है, उसे दन्तशर्करा नाम से जानना चाहिए ।

वक्तव्य—भाव यह है कि दन्तधावन आदि के न करने से दाँतों पर एकत्रित मल को जब पित्त और वात सुखा देता है तो वह शर्करा की तरह खरस्पर्श वाला हो जाता है, इसी कारण उसे दन्तशर्करा कहते हैं । यहां वाग्भट कफवात को दन्तगत मलशोषक मानता है । जैसे उसने कहा भी है कि—'अधावनान्मलो दन्ते कफवातेन शोषितः । पूतिगन्धः स्थिरीभूतः शर्करा साप्युपेक्षिता' । शोषणधर्म वात और पित्त का होने से निदानोक्त 'पित्तमारुतशोषितः' यही भाव अर्थात् पित्त और मारुत से शोषित दन्तमल दन्तशर्करा कहलाता है,

१ अयं रोगो युनानीवैद्यके 'कर्स' इति नाम्ना, आंग्लभाषायां 'इरिटेशन इन दि टूथ' (Irritation in the tooth) नाम्ना प्रसिद्धः. २ अयं रोगो युनानीवैद्यके 'हजर' इति नाम्ना; आंग्लभाषायां 'टार्टर' (Tartar) इति नाम्ना प्रसिद्धः.

ठीक प्रतीत होता है। अतः वाग्भट में भावान्तर की अन्वेषणा ठीक है। सम्भवतः किसी वाग्भट की हस्तलिखित प्रति में 'कफवातेन' के स्थान पर 'कफो वातेन' ऐसा पाठ हो, तथा चकार यहां लुप्त निर्दिष्ट हो। इस प्रकार वात से शोषित दन्तगत मल तथा कफ (मुख से निकलने वाली बलगम) दन्तशर्करा कहलाता है। यद्यपि यह स्वीकार करने से इसमें शोषण केवल वायु द्वारा ही उक्त होता है और माधवनिदान में पित्त वात से; परन्तु फिर भी दोष नहीं है, क्योंकि प्रधानता से वायु ही शोषक है। शोषण में वायु की प्रधानता इस कारण है कि वायुप्रकोपक कटु, तिक्त, कषाय ये तीनों रस ही होते हैं और ये तीनों ही शोषक भी हैं। अतः वायु में शोषकता इन द्वारा पूर्णरूप से आती है, परन्तु पित्त को प्रकोपित कटुः, अम्ल और लवण ये तीन रस करते हैं और इनमें शोषक केवल कटु रस ही है। अतः पित्त में केवल इसी द्वारा शोषकता आती है, इसलिए यह वायु की अपेक्षा स्वल्प है। एवं शोषण में वायु की प्रधानता होने के कारण वाग्भट ने वायु का स्फुट ग्रहण किया है। किञ्च वहां वायु के निर्देश को उपलक्षण मानकर पित्त का समावेश भी हो जाता है। अथवा कार्यकारण विधानानुसार वात से अभिप्राय वातप्रकोपक रसों से है, एवं इन रसों द्वारा प्रकुपित दोष यहां शोषक है। इन रसों से वात और पित्त ही प्रकुपित होते हैं, अतः यहां वात पित्त दोनों शोषण में कारण रूप से आ जाते हैं। एवं माधव का वाग्भट से विरोध नहीं आता। सुश्रुत में इसका लक्षण इस प्रकार है कि 'शर्करेव स्थिरीभूतो मलो दन्तेषु यस्य वै। सा दन्तानां गुणघ्नी तु विज्ञेया दन्तशर्करा' (सु. नि. स्था. अ. १६)।

मधु०—दन्तशर्करालक्षणमाह—मल इत्यादि । 'शर्करेव खरस्पर्शा' इत्यस्य स्थाने 'सा दन्तानां गुणहरी' इति क्वचित् पठ्यते, दन्तानां गुणस्य शुक्लत्वदृढत्वादिकस्य हरणशीला ॥२६॥

दन्तशर्करालक्षणमाहेत्यादि की भाषा स्पष्ट है।

कपालिकायाः स्वरूपमवतारयति—

कपालेष्विव दीर्यत्सु दन्तानां सैव शर्करा।
कपालिकेति विज्ञेया सदा दन्तविनाशिनी ॥२७॥

मलयुक्त दन्त भागों के विदीर्ण होने पर वही शर्करा कपालिका नाम से जाननी चाहिए। यहां कपालिका सभी अवस्थाओं में दाँतों को नष्ट करने वाली होती है।

वक्तव्य—यहां कई आचार्य 'दलन्ति दन्तवल्कानि यदा शर्करया सह। ज्ञेया कपालिका सैव दशनानां विनाशिनी' यह पाठ मानते हैं। परन्तु अभिप्राय इसका भी उपर्युक्त ही है।

मधु०—कपालिकालक्षणमाह—कपालेष्वित्यादि। कपालेष्विवेति मलसहितदन्तावयवेषु काठिन्यात् कपालतुल्येषु; दन्तमल एव कठिने कपालप्राये दीर्यमाणे सैव शर्करा कपालिका।

सदेति बाल्यादौ । अत्रावकाशे हनुमोक्षः सुश्रुते दन्तदेशसामीप्याद्दन्तपीडनाच्च पठितः, स इह संग्रहकारेण मुख्यदन्तगतत्वाभावान्न पठितः, पठितस्तु हनुग्रहसंज्ञया वातव्याधौ भोजवचनात् । यदुक्तं–"वाताभिघाताज्जन्तोर्हि हनुसन्धिर्विमुच्यते । निरस्तजिह्वः कृच्छ्रेण भाषितं तत्र गच्छति ॥ सम्यक् तमनिलव्याधिं हनुमोक्षं विनिर्दिशेत्"–इति ॥२७॥

यहीं पर सुश्रुत ने दन्तप्रदेश की समीपता में होने के कारण तथा दन्तप्रपीडक होने के कारण हनुमोक्षक नामक रोग निर्देश किया है। मुख्यतः दन्तगत न होने के कारण संग्रहकार ने उसे यहां नहीं लिखा। परन्तु इसने हनुग्रह नाम से उसका निर्देश भोज के वचन को लक्ष्य रख कर वातव्याधि में कर दिया है। यदाह भोजः—'वायु दोष के कारण मनुष्यों की हनुसन्धि विमुक्त हो जाती है, जिससे कि निकली हुई जिह्वा वाले वे मनुष्य बड़ी कठिनता से बोल सकते हैं, किन्तु जब वायु का प्रकोप दूर हो जाता है तो वे भली प्रकार बोल सकते हैं। इस वातिक व्याधि को हनुमोक्ष कहना चाहिए'।

श्यावदन्तकस्य लक्षणमाह—

योऽसृङ्मिश्रेण पित्तेन दग्धो दन्तस्त्वशेषतः ।

श्यावतां नीलतां वापि गतः स श्यावदन्तकः ॥२८॥ [सु० २।१६]

जो दाँत रक्तमिलित पित्त से पूर्णतया दग्ध हो जाता है; अथवा श्याव वा नील हो जाता है, तो उसे श्यावदन्तक नामक रोग जानना चाहिए।

वक्तव्य—'श्यावदन्तक इति संज्ञायां कन् । असाध्योऽयं व्याधिः' इति आतङ्कदर्पणे पाठः।

दन्तविद्रधेः स्वरूपमाह —

दन्तमांसे मलैः सास्रैर्बाह्यान्तः श्वयथुर्गुरुः ।

सदाहरुक् स्रवेद्भिन्नः पूयास्रं दन्तविद्रधिः ॥२९॥ [वा० ६।२१]

दाँत के मांस में रक्तान्वित वात आदि दोषों से अन्दर और बाहर भारी शोथ हो जाता है, जिससे कि दाह और पीड़ा होने लगती है। तदनु च भिन्न होने पर वह शोथ पूय और रक्त को स्रवित करता है। इस रोग को दन्तविद्रधि जानना चाहिए। कई आचार्य इसका व्याख्यान इस प्रकार करते हैं कि दाँत के मांस में बाहर और भीतर रक्तान्वित दोषों द्वारा दारुण शोफ हो जाता है, जो कि फूट जाने पर दाह और पीड़ा के साथ २ पूययुक्त रक्त को स्रवित करता है। इसे दन्तविद्रधि नामक रोग जानना चाहिए।

वक्तव्य—उपर्युक्त श्यावदन्तक तथा दन्तविद्रधि इन दो रोगों की व्याख्या आचार्य श्रीकण्ठदत्त ने नहीं की प्रतीत होती है, कारण कि उसकी उपलब्धि का अभाव है। सुश्रुत ने दन्तविद्रधि को स्वीकार नहीं किया, उसने इसके स्थान पर हनुमोक्ष को आठवां दन्त रोग माना है, किन्तु माधवाचार्य ने हनुमोक्ष को यहां स्वीकार नहीं किया, उसके स्थान पर इसने दन्तविद्रधि को आठवां माना है। सुश्रुत ने दन्तविद्रधि को दन्तरोग न मान कर दन्तवेष्टगत रोग मान उन्हीं में

अन्तर्हित किया है। क्योंकि यह रोग होता भी दन्तमांस में ही है। परन्तु आचार्य श्रीकण्ठदत्त ने हनुमोक्ष को वातजनित होने से वातव्याधि में अन्तर्हित किया है। एवं कोई दोष नहीं आता। इति दन्तगता रोगाः।

वातादिदोषत्रयजजिह्वारोगाणां लक्षणान्यवतारयति—

जिह्वाऽनिलेन स्फुटिता प्रसुप्ता
भवेच्च शाकच्छदनप्रकाशा।

वायु दोष के कारण जिह्वा फटी हुई, सुप्त सी (रसस्यानवबोधादचेतनेत्यर्थः इति आ. द.) और शाक नामक वृक्ष विशेष के पत्रों की तरह (खरकण्टकों से आचित) होती है।

वक्तव्य—वातव्याध्युक्त वातकण्टक रोग से इसका भेद कारण, स्थान तथा लक्षणों द्वारा होता है। तद्यथा—पूर्वोक्त वातकण्टक विषमपदन्यास वा श्रम के कारण होता है। उसका स्थान गुल्फ प्रदेश है और उसमें लक्षण गुल्फ में पीड़ा है। एवं वह वातकण्टक कटु, तिक्त और कषाय पदार्थों के सेवन से प्रकुपित वायु द्वारा होता है। इसका स्थान (आश्रय) जिह्वा है और इसमें लक्षण स्फुटन, स्वाप तथा खरता है।

पित्तेन दह्यत्युपचीयते च
दीर्घैः सरक्तैरपि कण्टकैश्च।

पित्त दोष से पीड़ित जिह्वा दाह वाली तथा दीर्घ एवं रक्तवर्ण के कण्टकों से उपचित होती है।

कफेन गुर्वी बहुलाचिता च
मांसोच्छ्रयैः शाल्मलिकण्टकाभैः ॥३०॥ [सु० २।१६]

कफ के कारण जिह्वा भारी, मोटी तथा सेमल के कण्टकों के समान आकृति वाले मांसाङ्कुरों से आकीर्ण होती है।

मधु०—संप्रति जिह्वागतानाह—जिह्वाऽनिलेनेत्यादि। स्फुटितेति मनाग्विदीर्णा। प्रसुप्तेति सुप्तेव, रसस्यानवबोधात्। शाकच्छदनप्रकाशेति शाकतरुपत्रवत् कण्टकाचितेत्यर्थः; शाको मरुजद्रुमः। पैत्तिककण्टकलक्षणे दह्यतीति आत्मनेपदानित्यत्वात् साधु। अयं च रोगो जाडीति ख्यातः ॥३०॥

सम्प्रति जिह्वागतानाहेत्यादि की भाषा सुगम है।

अलासस्य[1] लक्षणमाह—

जिह्वातले यः श्वयथुः प्रगाढः
सोऽलाससंज्ञः कफरक्तमूर्तिः।
जिह्वां स तु स्तम्भयति प्रवृद्धो
मूले च जिह्वा भृशमेति पाकम् ॥३१॥ [सु० २।१६]

---

१ सब्लिन्वल ॲब्सेस् (Sublingual abscess).

कफ और रक्त से (प्रधानतः) उत्पन्न होने वाली जो दारुण सूजन जिह्वातल में होती है, वह अलास नाम से कहलाती है। जब वह अलास नामक सूजन बढ़ जाती है तो जिह्वा को स्तम्भित कर देती है, तथा इसमें जिह्वामूल खूब पक जाता है।

मधु०—अलासमाह—जिह्वेत्यादि। प्रगाढ इति प्रकर्षेण गाढो दारुण इत्यर्थः। तेन 'जिह्वागतेष्वलासस्तु' इत्यादिनाऽलासस्यासाध्यतोक्ता सूच्यते। कफरक्तमूर्तिरिति कफरक्ताभ्यां हेतुभ्यां लब्धमूर्तिः। कफरक्तज इत्यर्थः। जिह्वास्तम्भेन वायुरप्यत्र बोद्धव्यः, भृशपाकेन पित्तम्, अतस्त्रिदोषजो ज्ञेयः, अत एवास्यानुपक्रमेणासाध्यत्वं, कफरक्तयोस्तु प्राधान्येनाभिधानम्। 'अधोगतः' इति पाठान्तरे जिह्वाया अधोगतः ॥३१॥

'कफरक्तमूर्तिः' अर्थात् कफ और रक्त इन दो हेतुओं से प्राप्त आकृति वाला। जिह्वा के स्तब्ध हो जाने से यहां वायु भी जानना चाहिए, एवं भृशपाक से यहां पित्त की भी उपस्थिति जाननी चाहिए। इस प्रकार यह रोग त्रिदोषज है और इसी लिए अनुक्रम से यह असाध्य है। इसमें जो केवल कफ और रक्त का अभिधान किया है, वह प्रधानता से किया है। 'अधोगतः' इस पाठान्तर में जिह्वा के नीचे हुआ २ यह अर्थ ग्रहीत होता है।

उपजिह्विकायाः स्वरूपमाह—

जिह्वाग्ररूपः श्वयथुर्हि जिह्वा-
मुन्नम्य जातः कफरक्तमूलः।
लालाकरः कण्डुयुतः सचोषः
सा तूपजिह्वा पठिता भिषग्भिः ॥३२॥ [सु० २।१६]

जिह्वा को ऊपर की ओर उठा कर कफ और रक्त के कारण उत्पन्न हुआ २ जिह्वा के अग्रभाग के समान रूप वाला शोथ लालास्रावी, कण्डू से अन्वित और चोषयुक्त होता है। इसे वैद्यों ने उपजिह्वा नाम से निर्दिष्ट किया है। इति जिह्वागता रोगाः।

मधु०—उपजिह्विकामाह—जिह्वाग्ररूप इत्यादि। सचोष इति चोषः साक्षादग्निसंबन्धेनेवोपतापः, चोषश्चात्र रक्तयोनिना पित्तेन ॥३२॥

उपजिह्विकामाहेत्यादि सरल है।

कण्ठशुण्डीं लक्षयति—

श्लेष्मासृग्भ्यां तालुमूले प्रवृद्धो
दीर्घः शोथो ध्मातबस्तिप्रकाशः।
तृष्णाकासश्वासकृत्तं वदन्ति
व्याधिं वैद्याः कण्ठशुण्डीति नाम्ना ॥३३॥ [सु० २।१६]

१ एलॉगेटेड युवुला (Elongated Uvula).

श्लेष्मा और रक्त के प्रकोप के कारण तालु के मूलभाग में फूली हुई बस्ति के समान बढ़ा हुआ दीर्घ शोथ, जो कि पिपासा, कास और श्वास को उपजा देता है, वैद्यों द्वारा कण्ठशुण्डी नाम से कहलाता है।

मधु०—कण्ठशुण्डीमाह—श्लेष्मासृग्भ्यामित्यादि। ध्मातबस्तिप्रकाश इति वायुपूरितचर्मपुटतुल्यः ॥३३॥

कण्ठशुण्डीमाहेत्यादि की भाषा सुगम ही है।

तुण्डिकेर्याः स्वरूपमाह—

शोथः स्थूलस्तोददाहप्रपाकी
प्रागुक्ताभ्यां तुण्डिकेरी मता तु।

श्लेष्मा और रक्तप्रकोप के कारण उत्पन्न स्थूल शोथ, जो कि सुइयों की सी चुभान, जलन तथा पाक से युक्त होता है, तुण्डिकेरी नाम से कहलाता है।

मधु०—तुण्डिकेरीलक्षणमाह—शोथ इत्यादि। प्रागुक्ताभ्यामिति श्लेष्मासृग्भ्याम्। तुण्डिकेरी वनकार्पासीफलं, तत्तुल्यशोथतया तुण्डिकेरी। तोददाहाभ्यामिह वातपित्तानुबन्धो ज्ञेयः॥

तुण्डिकेरी वन कपास के फल को कहते हैं, उसके तुल्य शोथ होने से इस रोग का नाम तुण्डिकेरी है।

अध्रुषस्य लक्षणमाह—

मृदुः शोथो लोहितः शोणितोत्थो
ज्ञेयोऽध्रुषः सज्वरस्तीव्ररुक् च ॥३४॥ [सु० २।१६]

रक्त प्रकोप के कारण होने वाला रक्तवर्ण मृदु शोथ रक्तवर्ण का तथा ज्वर और तीव्र पीड़ाकारी होता है। इसे अध्रुष नाम से जानना चाहिए।

मधु०—अध्रुषलक्षणमाह—मृदुरित्यादि। शोणितोत्थ इति रक्तसमुत्थः ॥३४॥

अध्रुपलक्षणमाहेत्यादि स्पष्टमेव।

कच्छपस्य स्वरूपमाह—

कूर्मोन्नतोऽवेदनोऽशीघ्रजन्मा
रोगो ज्ञेयः कच्छपः श्लेष्मणा तु।

कूर्म (कछुवे) की तरह उठाव वाला, अल्पवेदना वाला और देर में होने वाला रोग कच्छप नाम से जानना चाहिए। इसकी उत्पत्ति कफ दोष से होती है।

मधु०—कच्छपलक्षणमाह—कूर्मोन्नत इत्यादि। अवेदन इत्यल्पवेदनः। अशीघ्रजन्मेति चिरजः ॥—

कच्छपलक्षणमाहेत्यादि सुगम है।

तात्वर्बुदं लक्षयति—

पद्माकारं तालुमध्ये तु शोथं
विद्याद्रक्तादर्बुदं प्रोक्तलिङ्गम् ॥३५॥ [सु० २।१६]

१ तात्वर्बुद-'पेलेटल कॅन्सर' (Palatal Cancer).

तालु के बीच रक्त के कारण पद्म की कर्णिका (कली) के समान उत्पन्न पूर्वोक्त रक्तार्बुद के समान लक्षणों वाला शोथ ताल्वर्बुद (रक्तार्बुद) नाम से जानना चाहिए।

मांससंघातस्य लिङ्गमाह—

दुष्टं मांसं नीरुजं तालुमध्ये
कफाच्छूनं मांससंघातमाहुः।

तालु के मध्य में कफ के कारण होने वाला पीड़ारहित एवं सूजा हुआ दुष्ट मांस 'मांससंघात' नामक रोग कहलाता है।

वक्तव्य—यहां कई आचार्य 'दुष्टं मांसं श्लेष्मणा नीरुजं वा ताल्वन्तस्थम्' यह पाठान्तर मानते हैं।

मधु०—ताल्वर्बुदमाह—पद्माकारमित्यादि। पद्माकारमिति पद्मकर्णिकाकारम्। तथाच भोजः—"उपर्येव भवेन्नद्धो यथा पद्मस्य कर्णिका। पार्श्वतश्चाङ्कुरैर्दीर्घैर्नासा चाप्यवसीदति॥ श्लेष्मरक्तसमुत्थानं तत्ताल्वर्बुदसंज्ञितम्"—इति। रक्तजत्वाल्लोहितम्। प्रोक्तलिङ्गमिति पूर्वोक्तरक्तार्बुदतुल्यलिङ्गमित्यर्थः॥३५॥—

'पद्माकारं' का अर्थ 'पद्मकर्णिकाकारं' है। जैसे भोज ने कहा भी है कि—'उपर्येवेत्यादि'।

तालुपुप्पुटस्य लक्षणमभिधत्ते—

नीरुक् स्थायी कोलमात्रः कफात् स्या-
न्मेदोयुक्तात् पुप्पुटस्तालुदेशे॥३६॥ [सु० २।१६]

तालु प्रदेश में मेदोयुक्त कफ के कारण होने वाला, पीड़ारहित, स्थायी और बदरीफल के समान प्रमाण वाला रोग तालुपुप्पुट कहलाता है।

तालुशोषस्य लक्षणमवतारयति—

शोषोऽत्यर्थं दीर्यते चापि तालुः
श्वासश्चोग्रस्तालुशोषोऽनिलाच्च।

तालुशोष नामक रोग वायु से होता है। इसमें शोष अधिक होती है, तालु फटता सा प्रतीत होता है और श्वास उग्ररूप से होता है।

वक्तव्य—इस तालुशोष रोग को यहां वायु से उत्पन्न माना है, किन्तु वाग्भट में इसे वातपित्त से स्वीकार किया है। तद्यथा—'वातपित्तज्वरायासैस्तालुशोषस्तदाह्वयः'।

तालुपाकस्य लक्षणमाह—

पित्तं कुर्यात् पाकमत्यर्थघोरं
तालुन्येवं तालुपाकं वदन्ति॥३७॥ [सु० २।१६]

प्रकुपित पित्त नामक दोष तालु प्रदेश में अत्यन्त घोर पाक कर देता है। इस रोग को वैद्य तालुपाक कहते हैं।

मधु०—पुप्पुटमाह—नीरुगित्यादि। पुप्पुटस्तालुदेशे इति तालुपुप्पुटः। तालुशब्दोऽत्र लुप्तनिर्दिष्टो द्रष्टव्यः। 'तालुशोषस्तु पित्तात्' इति केचित् पठन्ति, पित्तस्यापि शोषकत्वात्। केचित्तु वक्ष्यमाणं 'पित्तं कुर्यात्' इति पदमत्रापि संबध्य श्वासश्चोग्र इति चकारं भिन्नक्रमेण योजयित्वा विभक्तिविपरिणामं च कृत्वा पित्तं तालुशोषं कुर्यादिति व्याचक्षते। किंत्वयं भोजेऽपि वातादेव पठितः। यदुक्तं—"तालुशोषो भवेद्वातात्"—इत्यादि ॥३६–३७॥

'पुप्पुटस्तालुदेशे' में तालु शब्द आदि में लुप्त जानना चाहिए। पित्त के भी शोषक होने से कई आचार्य यहां 'तालुशोषस्तु पित्तात्' यह पाठ पढ़ते हैं। कई आचार्य आगे कहे जाने वाले 'पित्तं कुर्यात्' इस पद का यहां सम्बन्ध कर 'श्वासश्चोग्रः' में पठित चकार को भिन्नक्रम में जोड़ और विभक्ति का परिवर्तन कर 'पित्तं तालुशोषं कुर्यात्' (पित्त तालुशोष को करता है) इस प्रकार की व्याख्या करते हैं। किन्तु यह रोग भोजकृत तन्त्र में भी वातिक ही पढ़ा है। तद्यथा—'तालुशोष नामक रोग वायु से होता है'। (इति तालुगताः)।

रोहिण्याः संप्राप्तिमाह—

गलेऽनिलः पित्तकफौ च मूर्च्छितौ
प्रदूष्य मांसं च तथैव शोणितम्।
गलोपसंरोधकरैस्तथाऽङ्कुरै-
र्निहन्त्यसून् व्याधिरियं हि रोहिणी ॥३८॥ [सु० २।१६]

गले में वृद्ध वायु तथा विदग्ध पित्त और कफ, मांस तथा रक्त को प्रदूषित कर गले को रोकने वाले अङ्कुरों से प्राणों को हर लेता है। यह व्याधि रोहिणी नामक है।

वक्तव्य—इस पाठ में तो संख्या तथा वातपित्तकफसम्बन्धी क्रिया पद का अभाव है। अतः अन्य आचार्य 'गलेऽनिलः पित्तकफौ च मूर्च्छितौ पृथक्समस्ताश्च तथैव शोणितम्। प्रदूष्य मांसं गलरोधिनोऽङ्कुरान्सृजन्ति यान् साऽसुहरा तु रोहिणी ॥' यह पाठ मान कर सुश्रुत में एकदोषजत्व कहते हैं।

मधु०—कण्ठगतास्तु रोहिण्यादयः सप्तदशोच्यन्ते, तत्र पञ्चानां रोहिणीनां सामान्यसंप्राप्तिमाह—गलेऽनिल इत्यादि। सर्वरोहिण्यः सन्निपातजाः, उत्कर्षाद्वातजादिव्यपदेशः। अन्ये तु 'पृथक् समस्ताश्च तथैव शोणितम्' इति पठित्वा सुश्रुते एकदोषजत्वमप्याहुः। भोजेऽप्युक्तं—"वातपित्तकफा रक्तमेकशः सर्वशोऽपि वा। कण्ठं यदा निषेवन्ते"—इत्यादि। निहन्त्यसूनित्यनेन यद्यपि सामान्येनासाध्यत्वमुक्तं तथाऽपि सप्ताहादिना पृथग्दोषत्रयजानामनुक्रमेणासाध्यत्वं, एवम् रक्तजाया अपि, सन्निपातजायास्तु जन्मनैवासाध्यत्वम्। तदुक्तं भोजेन—"तालुः शुष्यति कण्ठश्च वातेनायाम्यते यदा। कण्ठेऽस्यान्नं प्रसज्येत सप्ताहात् स जहात्यसून् ॥ उष्यते चूष्यते पित्तात् धूप्यते परिदह्यते। अङ्गारैरिव जह्यात् स प्राणानाशु चतुर्दिनात्"—इति। "कफादन्तर्बहिः शोथः श्वासः कण्ठश्च बाध्यते। यस्य सोऽसून् त्यजेद्रोगी त्र्यहाद्रोहिणिपीडितः ॥ लक्षणं पित्तरोहिण्या तुल्यं शोणितजन्मनः। सर्वदोषकृता या तु सर्वलिङ्गसमन्विता। असाध्यां तां विजानीयाद्रोहिणीं सन्निपातजाम्। एषा सद्यो मारयति विप्र आद्याः क्रियां विना"—इति क्वचित्। भोजे 'अन्या सद्यो

मारयति' इति पाठः, तदा रक्तजायामप्यसाध्यत्वमायाति; किंत्वियं साध्यैव, यदुक्तं-"लेख्याश्चतस्रो रोहिण्यः" (सु. सू. अ. २५)-इति । तथा-"साध्यानां रोहिणीनां तु हितं शोणितमोक्षणम्"-(सु. चि. स्था. अ. २२) इत्यनेन रक्तजाया अपि चिकित्सोक्ता । किंच गलगतेष्वेकैव रोहिणी सन्निपातजा 'रोहिणी गले' इत्यनेनासाध्योक्ता । भोजे तु "तिस्र आद्या: क्रियां विना" इत्यभिधानं त्रिदोषजत्वेन प्राधान्यमभिप्रेत्य, खरनादेऽपि सन्निपातजाया एव सद्योमारकत्वमुक्तम् । यदाह-"सद्यस्त्रिदोषजा हन्ति त्र्यहाच्छ्लेष्मसमुद्भवा । पञ्चाहात् पित्तसंभूता सप्ताहात् पवनोत्थिता"-इति ॥३८॥

रोहिणियां सन्निपात से होती हैं । इनमें वातजादि का व्यपदेश उनकी उत्कृष्टता के कारण है । दूसरे आचार्य 'पृथक् समस्ताश्च तथैव शोणितं' यह पढ़कर सुश्रुत में एकदोषजत्व भी कहते हैं । भोज में भी कहा है कि-"वात, पित्त, कफ और रक्त, ये एकाकी रूप से तथा समष्टिरूप से जब गले में आ जाते हैं" इत्यादि । 'निहन्त्यसून्' इस पद से यद्यपि सामान्यतः असाध्यपन कहा है, परं तथापि सप्ताह आदि से पृथक् दोषत्रयज रोहिणियों का असाध्यपन है । इसी प्रकार रक्तजा रोहिणी का भी जानना चाहिए । सन्निपातजा रोहिणी का असाध्यपन तो जन्म से ही होता है । जैसे भोज ने कहा है कि-'जब वात के कारण (उत्पन्न रोहिणी में) तालु और गला सूख जाता है, तो उस रोगी के गले में अन्न रुक जाता है । इस (वातिक रोहिणी) रोग से ग्रस्त मनुष्य सात दिन में प्राणों को छोड़ देता है । पित्त के कारण (उत्पन्न रोहिणी में) मनुष्य ऊषित, चूषित एवं धूपित सा तथा अङ्गारों से जलता सा होता है । इस प्रकार का मनुष्य चार दिन में प्राण छोड़ देता है' । कफ के कारण (उत्पन्न रोहिणी में) गले के अन्दर तथा बाहर सूजन हो जाती है, श्वास उपज आता है और गला रुक जाता है । ये लक्षण जिसमें होते हैं वह रोहिणी पीड़ित रोगी तीन दिन में मर जाता है । रक्तजा रोहिणी के लक्षण पैत्तिक रोहिणी लक्षणों के समान होते हैं । जो रोहिणी सभी दोषों से उत्पन्न होती है, वह सर्वलिङ्गों (सभी दोषों के लक्षणों) वाली होती है । इस सन्निपातजा रोहिणी को असाध्य समझना चाहिए और यह रोहिणी शीघ्र ही मार देती है, किन्तु पूर्वप्रतिपादित तीन रोहिणियां चिकित्सा न करने पर असाध्य होकर मनुष्य को मार देती हैं, इति क्वचित् । भोजतन्त्र में 'अन्या सद्यो मारयति' यह पाठ हो तो रक्तजा में भी असाध्यपन आ जाता है । परन्तु यह है साध्य ही, जैसे कहा भी है कि—'चार रोहिणियां लेख्य लेखन क्रिया के योग्य हैं' । तथा—'साध्य रोहिणियों का (में) रक्तमोक्षण हितकर है' । इन दो प्रमाणों से रक्तजा रोहिणी की चिकित्सा भी कही गई है । किञ्च गलगतों में से एक सन्निपातजा रोहिणी ही 'रोहिणी गले' इससे असाध्य कही है । भोजतन्त्र में तो 'तिस्र आद्याः क्रियां विना' यह अभिधान त्रिदोषज होने से प्रधानता को लेकर कहा है । खरनाद तन्त्र में भी सन्निपातजा का ही शीघ्रमारकपन कहा है । तद्यथा—'त्रिदोषजा रोहिणी शीघ्र, श्लेष्मजा रोहिणी तीन दिन में, पित्तजा रोहिणी पांच दिन में और वातजा रोहिणी सात दिन में मार देती है' ।

वातजादिभेदेन रोहिण्याः स्वरूपमभिधत्ते—

जिह्वासमन्ताद् भृशवेदनास्तु
मांसाङ्कुराः कण्ठविरोधिनो ये ।

सा रोहिणी वातकृता प्रदिष्टा
वातात्मकोपद्रवगाढयुक्ता ॥३९॥ [सु० २।१६]

जो मांसाङ्कुर जिह्वा के चारों ओर होते हैं, वे अत्यन्त पीड़ाप्रद, कण्ठावरोधक और वातात्मक कम्पादि उपद्रवों की बलिष्ठता वाले होते हैं। यह वातजनित रोहिणी है। अथवा इसकी व्याख्या इस प्रकार भी हो सकती है कि—जो जिह्वा के चारों ओर, अत्यन्त पीड़ा वाले, कण्ठावरोधी तथा वातात्मक प्रगाढ उपद्रवयुक्त मांसाङ्कुर होते हैं, वे वातकृत रोहिणी कहलाते हैं।

वक्तव्य—यहां सुश्रुत में 'जिह्वां समन्तात् भृशवेदना ये मांसाङ्कुराः कण्ठनिरोधिनः स्युः। तां रोहिणीं वातकृतां वदन्ति वातात्मकोपद्रवगाढयुक्ताम्' यह पाठ मिलता है।

क्षिप्रोद्गमा क्षिप्रविदाहपाका
तीव्रज्वरा पित्तनिमित्तजा तु।

जो रोहिणी शीघ्र उत्पन्न होने वाली, शीघ्र विदाह वाली, शीघ्र पाक वाली और तीव्र ज्वरयुक्त होती है, वह पित्त से उत्पन्न होने वाली होती है।

स्रोतोविरोधिन्यचलोद्गता च
स्थिराङ्कुरा या कफसंभवा सा ॥४०॥ [सु० २।१६]

जो रोहिणी स्रोतों को रोकने वाली, अचल, उठी हुई और स्थिर अङ्कुरों वाली होती है, वह कफ से उत्पन्न होने वाली होती है।

गम्भीरपाकिन्यनिवार्यवीर्या
त्रिदोषलिङ्गा त्रितयोत्थिता च।

जो रोहिणी गम्भीर पाक वाली, अनिवार्य प्रभाव वाली तथा तीनों दोषों के लक्षणों से युक्त होती है, वह त्रिदोषज होती है।

स्फोटैश्चिता पित्तसमानलिङ्गा
साध्या प्रदिष्टा रुधिरात्मिका तु ॥४१॥ [सु० २।१६]

स्फोटों से व्याप्त तथा पित्त के लक्षणों के समान लक्षणों वाली रोहिणी रक्तात्मक एवं साध्य होती है।

मधु०—वातजादिभेदेन रोहिणीलक्षणमाह—जिह्वेत्यादि। जिह्वासमन्तादिति जिह्वायाः सर्वत इत्यर्थः। वातात्मकोपद्रवगाढयुक्तेति वातात्मका उपद्रवाः कम्पविनामस्तम्भादयस्तैरतिशयमनुगता। त्रिदोषजायामनिवार्यवीर्येति क्रिययाऽपि न निवार्यं वीर्यमस्याः, सद्योमारकत्वादित्यर्थः। त्रितयोत्थितेति दोषत्रयोत्थिता। पित्तलिङ्गातिदेशस्याव्यवहितत्वप्रतीत्यर्थं पित्तरोहिण्यनन्तरं रक्तजाया वक्तुमुचितायाः शेषेऽभिधानमितररोहिण्यपेक्षया सुखसाध्यत्वख्यापनार्थमिति केचित् ॥३६–४१॥

वातादिभेदेनेत्यादि सुगम है।

कण्ठशालूकस्य लक्षणमाह—

कोलास्थिमात्रः कफसंभवो यो
ग्रन्थिर्गले कण्टकशूकभूतः ।
खरः स्थिरः शस्त्रनिपातसाध्य-
स्तं कण्ठशालूकमिति ब्रुवन्ति ॥४२॥ [सु० २।१६]

बेर की गुठली के बराबर कफ से उत्पन्न होने वाली, कण्टक और शूक की तरह पीड़ाजनक, खर, अचल तथा शस्त्रसाध्य जो ग्रन्थि (गांठ) गले में उत्पन्न हो जाती है, उसे वैद्य लोग कण्ठशालूक कहते हैं।

मधु०—कण्ठशालूकलक्षणमाह—कोलेत्यादि । कण्टकशूकभूत इति कण्टवत् शूकवच्च वेदनाजनकः, भूतशब्द उपमानार्थे; किंवा कण्टकोपलक्षितः शूको जलशूकः, स इव भूतो जातः । कठिनगुडकतया शालूकसमत्वेन कण्ठशालूकम् । शालूकं जलोत्पलकन्दम् ॥४२॥

कण्ठशालूकलक्षणमाह—इत्यादि की भाषा सुगम है।

अधिजिह्विकां लक्षयति—

जिह्वाग्ररूपः श्वयथुः कफात्तु
जिह्वोपरिष्टादपि रक्तमिश्रात् ।
ज्ञेयोऽधिजिह्वः खलु रोग एष
विवर्जयेदागतपाकमेनम् ॥४३॥ [सु० २।१६]

जिह्वा के ऊपर जिह्वा के अग्रभाग के समान स्वरूप वाले तथा रक्तमिश्रित कफ से होने वाले शोथ को अधिजिह्व नामक रोग जानना चाहिए। जब यह (अधिजिह्विका रोग) पक जाता है तो इसको छोड़ देना चाहिए अर्थात् तब यह अचिकित्स्य हो जाता है।

मधु०—अधिजिह्विकामाह—जिह्वाग्ररूप इत्यादि । जिह्वोपरिष्टादित्यनेन जिह्वातलगतामुपजिह्वां व्यावर्तयति । अपि रक्तमिश्रादिति न केवलात् कफाद्भवति, किन्तु रक्तमिश्रादेव कफादित्यर्थः । अपिरवधारणे । आगतपाकत्वेन पित्तमप्यत्र द्रष्टव्यम् ॥४३॥

आगत पाकपन से यहां पित्त की उपस्थिति भी जाननी चाहिए।

वलयस्य लक्षणमाह—

बलास एवायतमुन्नतं च
शोथं करोत्यन्नगतिं निवार्य ।
तं सर्वथैवाप्रतिवार्यवीर्यं
विवर्जनीयं वलयं वदन्ति ॥४४॥ [सु० २।१६]

कफ ही अन्न के मार्ग को (अन्नवह स्रोत को) या अन्न के प्रवेश को रोक कर आयत तथा उन्नत शोथ कर देता है। विद्वान् मनुष्य इस अप्रतिवार्यवीर्य वाले त्याज्य रोग को वलय नाम से कहते हैं।

मधु०—वलयमाह—बलास एवेत्यादि । बलासः कफः । अन्नगतिमिति अन्नस्य गतिर्येन स्रोतसा सोऽन्नगतिरन्नवहमार्गः, अन्नस्य प्रवेशो वा । कफजोऽप्ययं प्रभावादसाध्यः ॥४४॥

वलयमाह इत्यादि की भाषा स्पष्ट ही है ।

बलाशस्य लक्षणमभिधत्ते—

गले तु शोथं कुरुतः प्रवृद्धौ
श्लेष्मानिलौ श्वासरुजोपपन्नम् ।
मर्मच्छिदं दुस्तरमेनमाहु-
र्बलाशसंज्ञं निपुणा विकारम् ॥४५॥ [सु० २।१६]

बढ़े हुए श्लेष्मा और वायु गले में श्वासयुक्त, पीडायुक्त, मर्म (हृदयादि) छेदक तथा दुःसाध्य शोथ को उपजा देते हैं। निपुण मनुष्य इस (शोथरूप) विकार को बलाश नाम से कहते हैं ।

मधु०—बलाशलिङ्गमाह—गल इत्यादि । मर्मच्छिदमिति प्राणायतनहृदयमर्मच्छिदम् ॥४५॥

बलाशलिङ्गमाह की भाषा स्पष्ट ही है ।

एकवृन्दस्य स्वरूपमाह—

वृत्तोन्नतोऽन्तःश्वयथुः सदाहः
सकण्डुरोऽपाक्यमृदुर्गुरुश्च ।
नाम्नैकवृन्दः परिकीर्तितोऽसौ
व्याधिर्बलाशक्षतजप्रसूतः ॥४६॥ [सु० २।१६]

गोल, ऊँचा, दाहयुक्त, कण्डून्वित, पाकरहित, कठिन, भारी और कफ रक्त से होने वाला गल मध्यगत शोथ एकवृन्द नामक रोग कहलाता है ।

मधु०—एकवृन्दमाह—वृत्तोन्नत इत्यादि । अन्तःश्वयथुरिति गलस्यान्तर्मध्ये । सदाह इति मन्ददाहः, सहशब्द ईषदर्थे । अपाक्यमृदुरिति अपाकी ईषत्पाकी, अमृदुरीषन्मृदुः; अन्ये 'अपाकमृदुः' इति पठन्ति, अपाकश्चासौ मृदुश्चेति अपाकमृदुः । बलाशक्षतजप्रसूत इति कफरक्तभव इत्यर्थः ॥४६॥

एकवृन्दमाह इत्यादि की भाषा सुगम है ।

वृन्दं लक्षयति—

समुन्नतं वृत्तममन्ददाहं
तीव्रज्वरं वृन्दमुदाहरन्ति ।
तच्चापि पित्तक्षतजप्रकोपा-
ज्ज्ञेयं सतोदं पवनात्मकं तु ॥४७॥ [सु० २।१६]

समुन्नत (भली प्रकार उठा हुआ), गोल, अधिक दाह वाला और तीव्र ज्वरान्वित रोग वृन्द नामक होता है। यह रोग भी पित्त तथा रक्त के प्रकोप से होता है, परन्तु जब इसमें तोद होता है तो इसे वातात्मक जानना चाहिए ।

मधु०—वृन्दमाह—समुन्नतमित्यादि । वृन्दमेव पवनानुविद्धं सतोदं स्यात् । ननु, सप्तदश कण्ठगता उक्ताः; उक्तं हि-'सप्तदशामयाः कण्ठे'—इति, वृन्देन सहाष्टादश स्युः ? उच्यते, एकवृन्दस्यावस्थाविशेष एव वृन्दः, तुल्यस्थानाकृतितो न संख्यातिरेकः; यद्यप्येकवृन्दः कफरक्तजः, वृन्दस्तु पित्तरक्तजः पठितः, तथा वृन्दस्यैव सतोदत्वेन वातात्मकत्वमुक्तं, तथाऽप्येकवृन्दस्यावस्थाविशेषत्वेन वृन्दः सङ्गृहीत एव; यथा कामलायां तद्भिन्नहेतुलक्षणस्यापि हलीमकस्य संग्रहः, यथा वातमदात्ययेन ध्वंसकविक्षेपकयोरत्यन्ताभेदेऽपि स एव स्यान्न पुनस्तेन संग्रहः. भोजेऽप्ययमेकवृन्दज एव पठितः यदाह—"श्लेष्मरक्तसमुत्थानमेकवृन्दं विभावयेत् । तुल्यस्थानाकृतिर्वृन्दो वृन्दजो रक्तपित्तज"—इति वृन्दज इत्येकवृन्दजः गदाधरस्तु कारणभेदाद्धर्मभेदाच्चोत्पन्नत्वेन चैककार्यकारणयोरभेदप्रसङ्गमभिधाय वृन्दशब्दं छन्दोनुरोधादादिलोपादेकवृन्द एव वर्णयति, तथा च सति समुन्नतमित्यादिना पित्तानुबन्धसहितबहुलरक्तकृतैकवृन्दस्य लक्षणमुच्यते, सतोदं पवनात्मकं चेत्यनेन च वातानुबन्धैकवृन्दलक्षणमिति व्याख्येयम् । परं तु वृन्दजो वृन्द इति भोजवचनेनासंगतमिदं व्याख्यानम् ॥४७॥

(ननु—) अब यहां यह शङ्का उपस्थित होती है कि शास्त्र में कण्ठगत रोग सतारह (१७) कहे हैं, जैसे कहा भी है कि—'गले में सतारह व्याधियाँ होती हैं' । जब ऐसा है तो वृन्द के साथ गणना करने से संख्या वृद्धि होकर अठारह (१८) व्याधियाँ बन जाती हैं ? इसका उत्तर यह है कि—यह वृन्द नामक रोग उपर्युक्त एकवृन्द की अवस्था विशेष ही है और इनका स्थान तथा इनकी आकृति भी तुल्य ही है । अतः इसे पृथक् रोग नहीं माना जाता प्रत्युत इसका अन्तर्भाव एकवृन्द में ही होता है । एवं संख्या वृद्धि नहीं होती । यद्यपि एकवृन्द नामक रोग कफ और रक्त से उत्पन्न होता है तथा वृन्द नामक रोग पित्त और रक्त से उत्पन्न होता है । किञ्च तोद होने से वृन्द वातात्मक होता है, अतः इनमें परस्पर भेद है । एवं भेद होने से पृथक् होनी चाहिए परं तथापि एकवृन्द की अवस्था विशेष होने से वृन्द (उसने) पृथक् नहीं गिना जाता, जैसे कि हलीमक कामला से हेतु और लक्षणों द्वारा भिन्न होने पर भी पृथक् नहीं गिना जाता । इसका कामला में ही संग्रह होता है । अपिच जैसे वातिक मदात्यय से ध्वंसक और विक्षेपक का अत्यन्त अभेद होने पर भी वही होता है न कि उससे संग्रह होता है । भोजकृत तन्त्र में भी यह एकवृन्दज ही माना है । तद्यथा—'श्लेष्मा और रक्त के कारण होने वाले रोग को एकवृन्द जानना चाहिए और रक्तपित्त के कारण एकवृन्द से होने वाला तथा एकवृन्द के तुल्य स्थान और तुल्य आकृति वाला रोग वृन्द होता है' । यहां पर आचार्य गदाधर तो एक ही कार्य और कारण वालों का अभेद होता है, यह कह कर कारण तथा धर्मभेद से उत्पन्न होने के कारण वृन्द शब्द में छन्दोनुरोध से एक शब्द को लुप्त मानकर इसे एकवृन्दाभिधायक शब्द ही मानता है । ऐसा होने पर 'समुन्नतं' इत्यादि से कथित यह लक्षण पित्तानुबन्ध सहित रक्त की बहुलता से होने वाले एकवृन्द का ही है । एवं 'सतोदं' इत्यादि से कथित लक्षण वातानुबन्धित एकवृन्द का है । परन्तु यह व्याख्यान भोज के वचन से विरुद्ध होने के कारण असङ्गत है ।

वक्तव्य—उपर्युक्त का भाव यह है कि—मुखरोगों की विभागगणना में पठित कण्ठगत रोग सतारह पढ़े हैं, परन्तु यदि इस वृन्द नामक रोग को भी जो कि गले में ही होता है, गिना जावे तो कण्ठगत रोगों की संख्या बढ़ कर अठारह हो जाती है । एवं संख्या-

वृद्धि दोष आता है। इसका उत्तर यह है कि—इसमें संख्यावृद्धि दोष नहीं आता, क्योंकि यह वृन्द नामक दोष एकवृन्द की अवस्था विशेष होने से उसी में गिन लिया जाता है। एवं पृथक् गणना का अभाव होता है और इसका अभाव होने से संख्यावृद्धि नहीं होती। अब पुनः यहां यह शङ्का उपस्थित होती है कि—जब वृन्द एकवृन्द की अवस्था विशेष है, व यह कहें कि वृन्द एकवृन्द से ही होता है, अथवा एकवृन्द ही वृन्द में परिणत होता है तो वृन्द में एकवृन्द के ही हेतु और लक्षण होने चाहिएं। परन्तु यहां ऐसा नहीं है, क्योंकि एकवृन्द कफरक्तज होता है और वृन्द पित्तरक्तज, तथाच जब वृन्द में तोद हो तो वह वातात्मक भी होता है। एवं इनमें हेतु और लक्षणों का भेद होने से ये परस्पर भिन्न २ हैं और जब भिन्न २ हैं तो संख्यावृद्धि दोष अनिवार्य सिद्ध होता है। इसका उत्तर यह है कि—यद्यपि उपर्युक्तानुसार एकवृन्द और वृन्द हेतु तथा लक्षणों द्वारा परस्पर भिन्न प्रतीत होते हैं, परन्तु फिर वृन्द का समावेश एकवृन्द में ही होता है, क्योंकि वृन्द एकवृन्द की अवस्था विशेष ही है। किञ्च जैसे हलीमक नामक रोग हेतु और लक्षणों के भेद द्वारा कामला नामक रोग से भिन्न प्रतीत होने पर भी उससे भिन्न नहीं स्वीकार किया जाता, उसी प्रकार प्रकृत वृन्द नामक रोग भी हेतु और लक्षणों के भेद द्वारा एकवृन्द नामक रोग से भिन्न प्रतीत होने पर भी भिन्न नहीं माना जाता। एवं भिन्न न मानने से संख्यावृद्धि दोष नहीं आता। अपिच ऊपर जो यह कहा गया है कि हेतु और लक्षणों के भेद होने से इनमें भिन्नता आवश्यक है, एवं पृथक् गणना भी आवश्यक है, इसका उत्तर यह है कि—जब किसी भी रोग की दूसरी अवस्था बनती है तो उसमें कुछ न कुछ विलक्षणता अवश्य आती है, अन्यथा अवस्था विशेष नहीं बन सकती। एवं वृन्द में भी हेतु और लक्षणों में विलक्षणता आवश्यक है, तभी तो यह एकवृन्द अवस्था विशेष बना सकता है। एवं उपर्युक्त दोष भी निराकृत हो जाता है। वृन्द एकवृन्द से होता है, इसमें भोज की भी सम्मति है। वह कहता है कि—एकवृन्द श्लेष्मा और रक्त से होता है, तथा स्थान और आकृति की समानता वाला वृन्द रक्त और पित्त से होता है। इस पर आचार्य गदाधर यह कहता है कि—जिनका कार्य और कारण एक होता है वे अभिन्न होते हैं, किन्तु एकवृन्द से प्रकृत वृन्द कार्य और कारण की भिन्नता होने से भिन्न है। एवं या तो इसे भिन्न स्वीकार किया जावे वा एकवृन्द शब्द के पूर्व पद 'एक' शब्द का द्वन्द्वानुरोध से लोप जान इसे पित्तरक्तज तथा वातात्मक एकवृन्द ही समझना चाहिए। इनमें से प्रथम अर्थात् भिन्न स्वीकार करने से संख्यावृद्धि होती है, अतः द्वितीय अर्थात् 'एक' शब्द को लुप्त जान इसे पित्तरक्तात्मक, तथा वातात्मक एकवृन्द ही समझना ठीक है। एवं प्रकृत में 'समुन्नतं' से 'ज्ञेयं' तक के पाठ में पित्तरक्तात्मक एकवृन्द का लक्षण है और 'सतोदं पवनात्मकं च' यह वातात्मक एकवृन्द का लक्षण है। उपर्युक्त आचार्य गदाधर का मन्तव्य आचार्य श्रीकण्ठदत्त को स्वीकार नहीं है। अतः वे कहते हैं कि—'वृन्द एकवृन्द से उत्पन्न होता है'। इस भोज वचन के साथ आचार्य गदाधर का मत न मिलने से इसका (गदाधर का) मत असङ्गत है।

शतघ्नीं लक्षयति—

वर्तिर्घना कण्ठनिरोधिनी या
चिताऽतिमात्रं पिशितप्ररोहैः।
अनेकरुक् प्राणहरी त्रिदोषा-
ज्ज्ञेया शतघ्नी च शतघ्निरूपा ॥४८॥ [सु० २।१६]

मांस के अंकुरों से भली प्रकार व्याप्त, गले को रोकने वाली (अन्नपान, भाषण आदि न करने देने वाली), अनेक प्रकार की पीड़ाओं (अर्थात् तोद आदि वातिक, दाह आदि पैत्तिक और कण्डू आदि श्लैष्मिक पीड़ाओं) से युक्त, प्राणनाशक तथा शतघ्नीरूप जो घनी वर्ति गले में उपज आती है, उसे शतघ्नी नाम से जानना चाहिए और यह त्रिदोष से होती है।

वक्तव्य—इस रोग का 'शतघ्नी' यह नाम शतघ्नी की तरह नाशनरूप कर्म को लक्ष्य रख कर रक्खा है। 'शतघ्नी' से आज कल कई विद्वान् 'तोप' लेते हैं। एवं जिस प्रकार तोप शीघ्र एवं अवश्यमारक होती है उसी प्रकार यह भी शीघ्र एवं अवश्यमारक है। अतः इसमें 'अनेकरुक्, प्राणहरी, त्रिदोषात् (जाता), एवं शतघ्नीरूपा' ये विशेषण दिए हैं। इतने विशेषणों के उपादान का अभिप्राय इसका मारकपन बतलाना ही है। प्राचीन डल्हणादि विद्वान् शतघ्नी नामक शस्त्र से लोहे के काटों से चिनी हुई बड़ी भारी लोहे की शिला लेते हैं। जैसे शतघ्नी की व्याख्या करते हुए तन्त्रान्तर में लिखा भी है कि—'अयःकण्टकसञ्छन्ना शतघ्नी महती शिला'। एवं इनके मत में इस रोग का नामकरण शतघ्नी की निर्माण विधि तथा प्राणहरणरूप कार्य को लक्ष्य रख कर किया है। तद्यथा—जैसे शतघ्नी वाली शिला अनेक लोहकण्टकों से चिनी (निचित) होती है, वैसे ही इस व्याधि वाली वर्ति भी अनेक मांसकण्टकों से चिनी होती है। एवं जैसे शतघ्नी नामक शस्त्र मारक होता है, उसी प्रकार यह (शतघ्नी) नामक रोग भी मारक होता है। इसी पर आचार्य भोज ने भी स्वलक्षण में इसे ऐसा (असाध्य) ही माना है। तद्यथा—'वातपित्तकफा दुष्टा मांसाङ्कुरसमाचिताम्। मध्यकण्टचयां वर्तिं जनयन्ति ह्युपेक्षिताः॥ शङ्कुनेव गले विद्धा शतघ्न्येषा न सिध्यति'। यहां सुश्रुत में 'अनेकरुक् प्राणहरी त्रिदोषाज्ज्ञेया शतघ्नी च शतघ्निरूपा' के स्थान पर 'नानारुजोच्छ्रायकरी त्रिदोषाज्ज्ञेया शतघ्नीव शतघ्न्यसाध्या' (सु. नि. स्था. अ. १६) यह पाठ मिलता है। इसकी भाषा इस प्रकार है कि—वात आदि दोषानुसार तोद आदि पीड़ाओं को करने वाली, त्रिदोष से उत्पन्न, असाध्य एवं शतघ्नी की सी आकृति एवं मारणशक्ति वाली यह व्याधि शतघ्नी नाम से जाननी चाहिए।

मधु०—शतघ्नीलक्षणमाह—वर्तिरित्यादि। अनेकरुगिति वातपित्तकफजतोददाहकण्ड्वादिवेदनान्वितेत्यर्थः। शतघ्निरूपेति अयःकण्टकाच्छन्ना महती शिला शतघ्नी तद्रूपा। प्राणहरीत्यसाध्या। भोजेऽप्युक्तं—"शङ्कुनेव गले विद्धा शतघ्न्येषा न सिध्यति"—इति ॥४८॥

(भोजेऽप्युक्तमिति—) भोज ने भी शतघ्नी की असाध्यता आदि के विषय में लिखा है कि शंकु (कीले) की तरह गले को बींधने वाली यह शतघ्नी नामक व्याधि साध्य नहीं होती अर्थात् असाध्य होती है।

गलायुस्वरूपमाह —

ग्रन्थिर्गले त्वामलकास्थिमात्रः
स्थिरोऽतिरुग्यः कफरक्तमूर्तिः ।
संलक्ष्यते सक्तमिवाशनं च
स शस्त्रसाध्यस्तु गलायुसंज्ञः ॥३९॥ [सु० २।१६]

कफ और रक्त के कारण होने वाली, आमले की गुठली के बराबर (प्रमाण वाली), गड़ी हुई सी (स्थिर), अत्यन्त पीड़ाकारक एवं कण्ठ में चिपटे हुए भोजन (भुक्तभोजन) की तरह लक्षित होने (दीखने) वाली जो ग्रन्थि गले में उत्पन्न होकर दीखती है, वह 'गलायु' संज्ञक व्याधि होती है, जो कि शस्त्र साध्य होती है अर्थात् जो कि शस्त्रचिकित्सा (शल्यचिकित्सा) करने पर ठीक होती है।

वक्तव्य—प्रकृत श्लोक में इसे अति पीड़ा वाला स्वीकार किया है और इसी कारण मूल में 'स्थिरोऽतिरुग्यः' यह पाठ दिया है। परन्तु सुश्रुत में इसके स्थान पर 'स्थिरोऽल्परुक् स्यात्' यह पाठान्तर मिलता है, जिसका कि अर्थ 'अल्प पीड़ा वाला' है। एवं इनमें विरोध आता है। इसका समाधान इस प्रकार है कि या तो निदान में 'अतिरुक्' यह पाठ भ्रम से छप गया है, वा यह वैकल्पिक विषय है (अर्थात् कहीं अधिक पीड़ा और कहीं अल्प पीड़ा होती है)। यदि यह कहा जावे कि सुश्रुत में भ्रम से 'अल्परुक्' यह पाठ छप गया होगा तो ठीक नहीं है, क्योंकि माधव ने यह लक्षण सुश्रुत का ही लिया है, अतः वहां भ्रम होना कठिन है। साथ ही सुश्रुतानुवादी वाग्भट ने भी इसे अल्प पीड़ा वाला ही स्वीकार किया है। तद्यथा—'मांसकीलो गले दोषैरेकोऽनेकोऽथवाऽल्परुक्। कृच्छ्रोच्छ्वासाभ्यवहृतिः पृथुमूलो गिलायुकः'॥ (वा. उ. स्था. अ. २१)। अथवा — जब इस रोग में कफ की अधिकता और रक्त की न्यूनता होगी तो पीड़ा अल्प होगी, तथा जब रक्त की अधिकता होगी और कफ की न्यूनता होगी तो पीड़ा अधिक होगी। एवं सुश्रुत आदि ने 'अल्परुक्' यह पाठ कफ की अधिकता तथा रक्त की न्यूनता (से दुष्टि) को लक्ष्य में रख कर पढ़ा है और माधव ने 'अतिरुक्' यह पाठ रक्त की अधिकता (से दुष्टि) तथा कफ की न्यूनता (से दुष्टि) को लक्ष्य में रख कर पढ़ा है। इस प्रकार दोनों पाठों की सङ्गति भिन्न २ रोगियों में भिन्न दोष की उत्कटता के अनुसार हो जाती है, जिससे उपर्युक्त दोष नहीं आता।

मधु०—गलायुलक्षणमाह—ग्रन्थिरित्यादि। कफरक्तमूर्तिरिति कफरक्तजः। सक्तमिवेति लग्नमिव, अशनं भुक्तम् ॥४६॥

गलायुलक्षणमाह इत्यादि की भाषा सुगम है।

गलविद्रधिं लक्षयति—

सर्वं गलं व्याप्य समुत्थितो यः
शोथो रुजः सन्ति च यत्र सर्वाः ।
स सर्वदोषैर्गलविद्रधिस्तु
तस्यैव तुल्यः खलुः सर्वजस्य ॥५०॥ [सु० २।१६]

जो सूजन सारे गले में (गले को व्याप्त कर) होती है तथा जिस (सूजन) में सभी (तोद आदि वातिक, दाह आदि पैत्तिक तथा कण्डू आदि श्लैष्मिक) पीड़ाएं होती हैं, वह (सूजन) तीनों दोषों से होने वाली गलविद्रधि कहलाती है और वह (गलविद्रधि) पूर्वोक्त सान्निपातिक विद्रधि के समान होती है।

मधु०—गलविद्रधिलिङ्गमाह—सर्वमित्यादि । तस्यैव तुल्यः खलु सर्वजस्येति प्रागुक्तस्य विद्रधेः सन्निपातजस्य तुल्य इत्यर्थः । स च स्थानप्रभावेण सन्निपातज एव, चिकित्साभेदार्थं च पुनः पठितः ॥५०॥

(स च इत्यादि—)और वह विद्रधि स्थान के प्रभाव से सन्निपातज ही होता है, परं यहां चिकित्सा में भेद बतलाने के लिए उसे पुनः पढ़ा है।

वक्तव्य—भाव यह है कि जब यह विद्रधि पूर्वोक्त विद्रधि के तुल्य ही है तो इसका पुनः पाठ क्यों किया ? इसका उत्तर यह है कि—यद्यपि यह विद्रधि पूर्वोक्त विद्रधि के समान ही है, परन्तु इसकी चिकित्सा उससे भिन्न है। एवं चिकित्सा भिन्न होने से ही इसका पुनः निर्देश किया है। इस प्रकार पूर्व विद्रधि से इसका भेद करने वाला भी चिकित्सा भेद ही है। इसी गलविद्रधि का लक्षण तन्त्रान्तर में इस प्रकार मिलता है कि 'प्राप्तसर्वगलः शीघ्रजन्मपाको महारुजः । पूतिपूयनिभस्रावी श्वयथुर्गलविद्रधिः' ।

गलौघस्य लक्षणमाह—

शोथो महानन्नजलावरोधी
तीव्रज्वरो वायुगतेर्निहन्ता ।
कफेन जातो रुधिरान्वितेन
गले गलौघः परिकीर्त्यते तु ॥५१॥ [सु० २।१६]

अन्न और जल के अन्तःप्रवेश को रोकने वाला, तीव्रज्वर से युक्त, उदानवायु की गति का अवरोधक, रक्तान्वित कफ से गले में होने वाला विशाल-शोथ गलौघ कहलाता है।

वक्तव्य—भाव यह है कि गलप्रदेश में रक्तमिश्रित कफ नामक दोष से जो विशाल शोथ होता है, वह 'गलौघ' नामक रोग होता है और इस (गलौघ) में अत्यधिक सूजन होने के कारण खाना पीना नहीं हो सकता, ज्वर तीव्र रूप में होता है तथा उदानवायु (उद्गार आदि रूप में) बाहर नहीं आ सकती। इस रोग में शोथ अन्दर और बाहर दोनों स्थानों पर होती है तथा यह स्वरभेद की तरह गले मार्ग में स्थित होता है। एवं इसमें उपर्युक्त ज्वर के साथ ही शिरःशोथ,

तन्द्रा और लालास्राव भी होता है। जैसे वाग्भट ने कहा भी है कि—'बाह्यान्तः श्वयथुर्घोरो गलमार्गार्गलोपमः । गलौघो मूर्धगुरुतातन्द्रालालाज्वरप्रदः' ॥ (वा.उ. स्था. अ. २१)।

मधु०—गलौघलक्षणमाह—शोथ इत्यादि । वायुगतेर्निहन्तेति अतिमहत्त्वादुदानवायुगतिरोधक इत्यर्थः ॥५१॥

गलौघलक्षणमाहेत्यादि की भाषा सुगम है।

स्वरघ्नं लक्षयति—

यस्ताम्यमानः श्वसिति प्रसक्तं
भिन्नस्वरः शुष्कविमुक्तकण्ठः ।
कफोपदिग्धेष्वनिलायनेषु
ज्ञेयः स रोगः श्वसनात् स्वरघ्नः ॥५२॥ [सु० २।१६]

आँखों के आगे अन्धकार सा देखता हुआ, वा मूर्च्छित होता हुआ, टूटे फूटे स्वर वाला तथा शुष्क (सूखे) एवं विमुक्त (भोजन अन्दर की ओर ले जाने में असमर्थ) गल वाला जो मनुष्य निरन्तर श्वास लेता है (निश्वास लेता है-इति डल्हणः), (उस मनुष्य में) कफ द्वारा वातिक स्थानों के रुक जाने के कारण होने वाला (उपर्युक्त लक्षणान्वित वह) रोग 'स्वरघ्न' नाम से जानना चाहिए और यह रोग वायु दोष से होता है।

वक्तव्य—इसका भाव यह है कि स्वरघ्न नामक रोग में (गलगत शोथ के कारण) मनुष्य अन्धकार सा देखता है, वा मूर्च्छित सा होता है, तथा उसका स्वर टूटा फूटा एवं वह शुष्क तथा भोजन को भीतर करने की शक्ति से रहित होता है। यह रोग वातिक स्थानों के कफ से आवृत हो जाने से होता है तथा इसमें वायु दोष की प्रधानता होती है।

मधु०—स्वरघ्नलक्षणमाह—य इत्यादि । ताम्यमान इति मूर्च्छां गच्छन्, अथवा तमः पश्यन् । श्वसिति प्रसक्तमिति निरन्तरं श्वसिति । शुष्कविमुक्तकण्ठ इति शुष्को नीरसो विमुक्तश्चास्वाधीनः कण्ठो यस्य स तथा । अस्वाधीनता च किमपि गिलितुमशक्यतया बोद्धव्या। अनिलायनेष्विति अनिलमार्गेषु कफरुद्धेषु सत्सु, वायुगतस्रोतसोर्द्वित्वेऽपि बहुवचनं प्रतानबहुत्वात्। श्वसनादिति वातात् ॥५२॥

स्वरघ्नलक्षणमाह इत्यादि की भाषा सुगम है।

मांसतानस्य लक्षणमाह—

प्रतानवान् यः श्वयथुः सुकष्टो
गलोपरोधं कुरुते क्रमेण ।
स मांसतानः कथितोऽवलम्बी
प्राणप्रणुत् सर्वकृतो विकारः ॥५३॥ [सु० २।१६]

विस्तार वाली, एवं अत्यन्त दुःख देने वाली जो सूजन क्रमशः गले को रोक लेती है, वह मांसतान नामक व्याधि कहलाती है, जो कि लटकती हुई, प्राणनाशक तथा सभी दोषों के प्रकोप से उत्पन्न होती है।

मधु०—मांसतानलिङ्गमाह—प्रतानवानित्यादि । प्रतानवानिति विस्तारवान् । सुकष्ट इति महादुःखप्रदायी, न तु कृच्छ्रसाध्यः, प्राणप्रणुदिति वचनात ; अथवा पाकतः कष्टसाध्यः, समस्तगलोपरोधे तु प्राणप्रणुत् । 'स मांसतानः कथितोऽवलम्बी'–इत्यस्य स्थाने 'स मांसतानेति बिभर्ति संज्ञाम्'–इति पाठान्तरे मांसतानेत्यत्रेतिशब्देन प्रातिपदिकार्थस्योक्तत्वाद्विभक्त्यभावः । 'बिभर्ति संज्ञाम्' इत्यस्य स्थाने 'निरुणद्धि चेष्टाम्'–इति कार्तिकः । अस्मिन् व्याख्याने स मांसतान इत्यस्यानन्तरं ख्यात इति द्रष्टव्यम् ॥५३॥

'सुकष्टः' से यहां 'महा दुःख देने वाला' यह अर्थ लेना चाहिये, न कि कृच्छ्रसाध्य । क्योंकि यदि 'कृच्छ्रसाध्य' यह अर्थ लिया जावे तो यह रोग 'प्राणप्रणुत्' (प्राणनाशक) नहीं बन सकता । अथवा 'सुकष्टः' का अर्थ 'पाक के कारण कष्ट साध्य' है और 'प्राणप्रणुत्' का अर्थ 'सम्पूर्ण गले के रुक जाने पर यह प्राणनाशक है' यह है । भाव यह है कि—पाक के कारण इसे कष्टसाध्य कहा है और सम्पूर्ण गले में शोथ होने के कारण इसे प्राणप्रणुत् (प्राणनाशक) कहा है । 'स मांसतानः कथितोऽवलम्बी' के स्थान पर 'स मांसतानेति बिभर्ति संज्ञाम्' इस पाठान्तर में पठित 'मांसतानेति' में स्थित 'इति' शब्द से प्रातिपदिक अर्थ के उक्त होने के कारण (मांसप्रतान में) विभक्ति नहीं दी । 'बिभर्ति संज्ञाम्' के स्थान पर आचार्य कार्तिक 'निरुणद्धि चेष्टाम्' यह पाठ मानते हैं । एवं इस व्याख्यान में 'स मांसतानः' के बाद 'ख्यातः' इसका अध्याहार कर लेना चाहिए । इस प्रकार इस व्याख्यान में 'वह मांसतान नाम से प्रसिद्ध है' यह अर्थ बनता है ।

विदार्याः स्वरूपमाह—

सदाहतोदं श्वयथुं सुताम्र-
मन्तर्गले पूतिविशीर्णमांसम् ।
पित्तेन विद्याद्वदने विदारीं
पार्श्वे विशेषात् स तु येन शेते ॥५४॥ [सु० ३१६]

गले के भीतरी भाग में, विशेषतः उस ओर जिस ओर कि मनुष्य सोता है, एक प्रकार की शोथ हो जाती है, जिसे कि विदारी कहा जाता है । यह शोथ पित्त दोष के प्रकोप से होता है तथा इस शोथ में दाह, तोद, लालिमा, पूतिमांसता (मांस का दुर्गन्धित होना) और विशीर्णमांसता होती है ।

वक्तव्य—भाव यह है कि मनुष्य जिस पार्श्व से सोता है विशेषतः (अधिकतर) उसी पार्श्व में गले के भीतर दाह, तोद, लालिमा, पूतिमांसता तथा विशीर्णमांसता (मांस का विदीर्ण होना) वाली एक प्रकार की सूजन हो जाती है । यह सूजन विदारी नाम से कहलाती है तथा पित्त के कारण होती है ।

मधु०—विदारीलक्षणमाह—सदाहतोदमित्यादि । वदन इति [illegible] । अन्त-
र्गले इत्यनेन वदनशब्दस्य [illegible] । पार्श्वे विशेषात् स तु येन शेते इति, स पुरुषो येन [illegible]

विशेषाद्बाहुल्येन शेते तस्मिन्नेव पार्श्वे विदारी भवतीत्यर्थः । विशेषग्रहणादन्यस्मिन् पार्श्वेऽपि संभवोऽस्याः । विदारीसंज्ञा च मांसविदारणेन । भोजेऽप्युक्तं—"पित्तेन जातो वदने विकारः पार्श्वे विशेषात् स तु येन शेते । स्नायुप्रतानप्रभवो विशेषाद्दाहप्रपाकप्रचुरो विदारी"—इति ॥५४॥

पार्श्वे विशेषात् स तु येन शेते—अर्थात् पुरुष जिस पार्श्व से अधिकतर सोता है, उसी पार्श्व में विदारी (अधिकतर) होती है । यहां 'विशेष' शब्द के ग्रहण करने से यह सिद्ध होता है कि यह विदारी जिस पार्श्व से मनुष्य सोता है उस पार्श्व की दूसरी ओर भी हो सकती है । इस रोग की 'विदारी' यह संज्ञा मांस को विदारण करने के कारण है । भोज ने भी कहा है कि—'मनुष्य जिस पार्श्व से विशेषतः सोता है, मुख के भीतर उसी पार्श्व में पित्त के कारण सूजन रूप विकार उत्पन्न हो जाता है, जिसे कि विदारी कहा जाता है । यह रोग स्नायुजाल में होता है तथा दाह और पाक की अधिकता वाला होता है' । इति कण्ठगताः ।

वातादिदोषभेदेन सर्वसरस्य लक्षणान्याह—

स्फोटैः सतोदैर्वदनं समन्ता-
द्यस्याचितं सर्वसरः स वातात् ।

(वातिक सर्वसर मुखरोग के लक्षण का निर्देश—) जिस मनुष्य का मुख (भीतर की ओर) चारों ओर से सुईयों की सी चुभान वाले स्फोटों (छालों) से व्याप्त होता है, उसे वह वातिक सर्वसर मुखरोग जानना चाहिए ।

रक्तैः सदाहैस्तनुभिः सपीतै-
र्यस्याचितं चापि स पित्तकोपात् ।

(पैत्तिक सर्वसर मुखरोग का लक्षण—) जिस मनुष्य का मुख (भीतर की ओर) चारों तरफ से लाल, दाहान्वित, सूक्ष्म और पीले स्फोटों से व्याप्त होता है, उसे पैत्तिक सर्वसर मुखरोग जानना चाहिए ।

अवेदनैः कण्डुयुतैः सवर्णै-
र्यस्याचितं चापि स वै कफेन ॥५५॥ [सु० २।१६]

(श्लैष्मिक सर्वसर मुखरोग का लक्षण—) जिस मनुष्य का मुख चारों ओर से पीड़ा रहित वा अल्प पीड़ा वाले, खुजलीयुक्त और मुख के समान वर्ण वाले स्फोटों से व्याप्त होता है, उसे श्लैष्मिक सर्वसर मुखरोग जानना चाहिए ।

मधु०—सर्वसरास्त्रयोऽभिधीयन्ते—स्फोटैरित्यादिना । मुखगतोष्ठादिसप्तस्थानव्यापकतया सर्वसरत्वं ज्ञेयम् । स्फोटैरिति वदनमिति चोत्तरत्र संबन्धनीयम् । आचितं व्याप्तम् । सर्वसरा मुखपाका उच्यन्ते । केचिद्विदेहोक्तरक्तजसर्वसरलक्षणं पठन्ति । यथा—"रक्तेन पित्तोदित एव चापि कैश्चित् प्रदिष्टो मुखपाकसंज्ञः"—इति । अयं च पैत्तिक एवान्तर्भूत इति नेह दर्शित इति ॥५५॥

मुख में होने वाले ओष्ठ आदि सात स्थानों में होने के कारण इन्हें सर्वसर कहा जाता है । (केचिदित्यादि—) कई आचार्य विदेहोक्त रक्त सर्वसर मुखरोग का भी लक्षण

पढ़ते हैं। तद्यथा—'रक्तेन पित्तोदितः' इत्यादि। यह रोग पैत्तिक सर्वसर में आ जाने के कारण यहां पृथक् नहीं दर्शाया गया।

मुखरोगाणां साध्यत्वासाध्यत्वमाह—

ओष्ठप्रकोपे वर्ज्याः स्युर्मांसरक्तत्रिदोषजाः।
दन्तमूलेषु वर्ज्यौ च त्रिलिङ्गगतिशौषिरौ ॥५६॥
दन्तेषु च न सिध्यन्ति श्यावदालनभञ्जनाः।
जिह्वारोगे बलाशस्तु ताल्व्येष्वर्बुदं तथा ॥५७॥
स्वरघ्नो वलयो वृन्दो बलाशश्च विदारिका।
गलौघो मांसतानश्च शतघ्नी रोहिणी गले ॥५८॥
असाध्याः कीर्तिता ह्येते रोगा नव दशैव तु।
तेषु चापि क्रियां वैद्यः प्रत्याख्याय समाचरेत् ॥५९॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने मुखरोगनिदानं समाप्तम् ॥५६॥

ओष्ठ में होने वाले रोगों में से मांसज, रक्तज और त्रिदोषज ये तीन रोग वर्जनीय (असाध्य) हैं। दन्तमूलों में होने वाले रोगों में से त्रिदोषज नाड़ी और त्रिदोषज महाशौषिर ये दो रोग वर्जनीय हैं। दाँतों में होने वाले रोगों में से श्याव-दन्तक, दालन और भञ्जनक ये तीन रोग वर्जनीय (असाध्य) होते हैं। जिह्वागत रोगों में से बलाश और तालुगत रोगों में से अर्बुद वर्जनीय है। एवं स्वरघ्न, वलय, वृन्द, बलाश, विदारिका, गलौघ, मांसतान, शतघ्नी और रोहिणी ये गलगत रोग वर्जनीय हैं। इस प्रकार ये उन्नीस रोग आचार्यों ने असाध्य कहे हैं। इनमें यदि (यापनार्थ चिकित्सा करनी भी हो तो वैद्य को चाहिए कि वह जवाब देकर (अर्थात् यह बच नहीं सकेगा यह वा 'अक्रियायां ध्रुवं मृत्युः क्रियायां संशयो भवेत्' (चरकः) यह कह कर) चिकित्सा करे (अन्यथा यश आदि की हानि होगी)।

मधु०—ओष्ठप्रकोपादिष्वसाध्यानाह—ओष्ठप्रकोपे इत्यादि । त्रिलिङ्गगतिशौषिरा-विति त्रिदोषजनाडी त्रिदोषजश्च महाशौषिरोऽसाध्यः । रोहिणी गले इति त्रिदोषजा रोहिणी ॥५६-५९॥

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायां मुखरोगनिदानं समाप्तम् ॥५६॥

ओष्ठप्रकोपादिष्वसाध्यानाहेत्यादि की भाषा सरल ही है।

अथ कर्णरोगनिदानम्।

कर्णशूलस्य संप्राप्तिपूर्वकं स्वरूपमाह—

समीरणः श्रोत्रगतोऽन्यथाचरन्
समन्ततः शूलमतीव कर्णयोः।
करोति दोषैश्च यथास्वमावृतः
स कर्णशूलः कथितो दुरासदः ॥१॥ [सु० २।५६]

अपने २ निदानों से प्रकुपित दोषों से आवृत प्रतिलोमचारी वायु श्रोत्र में जाकर कानों में चारों ओर तीव्र शूल कर देता है। इस रोग को कर्णशूल कहा जाता है। एवं यह कर्णशूल दुश्चिकित्स्य होता है।

वक्तव्य—प्रधानतः कर्णरोग अठाईस होते हैं। जैसे सुश्रुत ने कहा भी है कि—'कर्णशूलं प्रणादश्च बाधिर्यं क्ष्वेड एव च। कर्णस्रावः कर्णकण्डूः कर्णवर्चस्तथैव च॥ कृमिकर्णप्रतिनाहौ विद्रधि द्विविधस्तथा। कर्णपाकः पूतिकर्णस्तथैवार्शश्चतुर्विधम्॥ कर्णार्बुदं सप्तविधं शोफश्चापि चतुर्विधः। एते कर्णगता रोगाः अष्टाविंशतिरीरिताः॥' (सु. उ. तं. अ. २०)। इनमें से कष्टसाध्य होने के कारण कर्णशूल का सर्व प्रथम निर्देश किया है। कानों में विद्रधि दो प्रकार की होती है—एक दोषविद्रधि और दूसरी क्षतविद्रधि। एवं इसमें चार प्रकार की अर्थात् वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक और सान्निपातिक, अर्श (बवासीर) होती है। (ननु—) पूर्व अर्शोनिदान में इनके सम्प्राप्तिपूर्वक सामान्यस्वरूप निर्देश में कहा है कि—'दोषास्त्वङ्मांसमेदांसि सन्दूष्य विविधाकृतीन्। मांसाङ्कुरानपानादौ कुर्वन्त्यर्शांसि ताञ्जगुः॥" (मा. नि. अर्शो नि.)। अर्थात् वात आदि दोष त्वचा, मांस, रक्त और मेद को दूषित कर गुदा आदि में अनेक प्रकार की आकृति वाले मांस के अङ्कुरों को उत्पन्न करते हैं और वे अङ्कुर ही अर्श कहलाते हैं। एवं यहां गुदा में होने वाले मांसाङ्कुरों की अर्शसंज्ञा प्रदर्शित की है, न कि कर्ण में होने वाले अङ्कुरों की। यदि अर्श कान में भी होती तो आचार्य अर्शोनिदान में उसका संकेत अवश्य करते। परन्तु उन्होंने नहीं किया, अतः प्रतीत होता है कि यह कर्ण आदि में नहीं होती। किञ्च लोक में भी अर्श से गुदाङ्कुर ही ग्रहण किए जाते हैं, न कि श्रोत्रज अर्श। अतः उभयथा कर्णार्श असिद्ध होने से यहां क्यों कही गई है। इसका उत्तर यह है कि उक्त 'दोषाः' इत्यादि श्लोक में यद्यपि गुदज अङ्कुरों की ही स्पष्ट रूप से अर्श संज्ञा कही है, किन्तु तो भी उसमें (पद्य में) कानों में भी अर्श होती है, इसका भी निर्देश 'अपानादौ' में पठित आदि शब्द से कर दिया है। एवं यह सिद्ध होता है कि अर्श कर्ण आदि में भी होती है और इसलिए आचार्य ने यहां कर्णगत चतुर्विध अर्श को भी माना है। अर्शोनिदान में इनका विस्तारपूर्वक निर्देश इस कारण नहीं किया गया कि वहां प्रसङ्गानुसार गुदाङ्कुरों का अभिधान ही आवश्यक था। यहां अर्श चार प्रकार की मानी है और गुदा में छः प्रकार की कही है। तद्यथा—'पृथग्दोषैः समस्तैश्च शोणितात् सहजानि च। अर्शांसि षट् प्रकाराणि विद्याद्गुदवलित्रये॥' (मा. नि. अ. नि.)। एवं जब अर्श की सम्प्राप्ति एक सी ही है तो वहां छः प्रकार की और यहां चार प्रकार की क्यों होती है ? या तो वहां भी चार प्रकार की होनी चाहिए या यहां भी छः प्रकार की होनी चाहिए। इस पर कई आचार्य कहते हैं कि

वस्तुतः यहां भी छः प्रकार की ही अर्श होती है, परन्तु चार प्रकारों का निर्देश रक्तज को पित्तज में और सहज को यथादोषज में लेकर किया है। दूसरे आचार्य इस समाधान को न मानते हुए कहते हैं कि गुदा में छः प्रकार का होना और श्रोत्र में चार प्रकार का, इस व्याधि का स्वभाव ही है। इसी कारण पूर्वोक्त अर्शोनिदान में अर्श के सन्निकृष्ट निदान तथा भेदों के विवरण में 'अर्शांसि षट्प्रकाराणि विद्याद्गुदवलित्रये' यह कहकर गुदवलियों में होने वाली अर्श छः प्रकार की होती है, यह नियमन किया है। कायचिकित्सक तो अर्श को केवल गुदगत ही मानते हैं और नासा, कर्ण आदि में होने वाले अङ्कुरों को अधिमांस स्वीकार करते हैं। अत एव चरक ने कहा भी है कि—'केचित्तु भूयांसमेव देशमुपदिशन्त्यर्शसां शिश्नमपत्यपथं गलमुखनासाकर्णाक्षिवर्त्मानि त्वक् च। तदस्याधिमांसव्यपदेश एषः, गुदवलिजानान्त्वर्शांसीति संज्ञातन्त्रेऽस्मिन्' (च. चि. स्था. अ. १४)। एवं इनके मत में अधिमांस (कर्णगताधिमांस) चार प्रकार का होता है। यही प्रकार वक्ष्यमाण नासार्श में भी जानना चाहिए। कई आचार्य 'दुराचरः' के स्थान में 'दुरासदः' यह पाठान्तर स्वीकार करते हैं।

मधु०—मुखरोगे जिह्वाश्रयरोगोऽभिहितः, जिह्वा चेन्द्रियाधिष्ठानम्, अत इन्द्रियाधिष्ठानदुष्टिसाम्यात् कर्णरोगनिदानमुच्यते, कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नमदृष्टोपगृहीतं श्रोत्रमुच्यते, तत्र यद्यप्येकदेशगतो रोगस्तथाऽप्यवयवेऽपि समुदायोपचारतः कर्णव्यपदेशः। तत्र कर्णशूलं कष्टत्वात् प्रागाह—समीरण इत्यादि। अत्रानयैव संप्राप्त्याऽर्थतो निदानसंचयाद्याक्षिप्तं; यतो निदानात् संचयः, संचयात् प्रकोपः, प्रकोपात् प्रसरः, प्रसरात् स्थानसंश्रय, ततो व्यक्तिः, ततो भेद इति। कर्णशूलस्य च कष्टत्वं मूर्च्छाद्युपद्रवयोगात्। यदाह विदेहः-' मूर्च्छा दाहो ज्वरः कासो हृल्लासो वमथुस्तथा। उपद्रवाः कर्णशूले भवन्त्येते मरिष्यतः"-इति। अन्यथान्तरमिति प्रतिलोमं चरन्। दोषैरिति कफपित्तरक्तैः, रक्तोऽपि रुगाकर्तृत्वात् सामान्येन दोषव्यपदेशः। यथास्वमावृत इति स्वनिदानकुपितदोषैर्यथास्वीयमार्गावृतो न तु कोपितैर्वायुना; 'एकः प्रकुपितो दोषः सर्वानेव प्रकोपयेत्' इति न्यायात; यतः स्वतन्त्रकुपिता दोषाः संसर्गभाजो भवन्ति, परतन्त्रकुपितास्त्वनुबन्धरूपा भवन्ति; अथवा यथास्वमिति शूलविशेषणं, यथार्त्वमित्यर्थः। दुराचर इति दुःखेनान्तर्गत इति दुराचरः ॥१॥

मुखरोग में जिह्वाश्रय रोग कहा है और जिह्वा इन्द्रियाधिष्ठान (रसनेन्द्रियाधिष्ठान) है, अतः इन्द्रियाधिष्ठान की दुष्टि समता को लेकर अब कर्णरोग का निदान कहा जाता है। कर्णशष्कुली से युक्त अदृष्ट (आकाश) श्रोत्र कहलाता है। यद्यपि इसमें रोग एकदेशगत होता है, किन्तु फिर भी अवयव में समुदाय का उपचार कर कर्ण का निर्देश किया जाता है। इनमें से कष्टसाध्य होने के कारण 'समीरण' इत्यादि श्लोक से कर्णशूल को आचार्य सर्वप्रथम बताते हैं। इसी संप्राप्ति से ही यहां पर निदान, संचय आदि का ज्ञान करना चाहिए, क्योंकि निदान से संचय, संचय से प्रकोप, प्रकोप से प्रसर, प्रसर से स्थानसंश्रय, स्थानसंश्रय से व्यक्ति और व्यक्ति से भेद होता है। मूर्च्छा आदि उपद्रवों के साथ सम्बन्धित होने से कर्णशूल की कष्टसाध्यता होती है। जैसे विदेह ने कहा

अपने २ निदानों से प्रकुपित दोषों से आवृत प्रतिलोमचारी वायु श्रोत्र में जाकर कानों में चारों ओर तीव्र शूल कर देता है। इस रोग को कर्णशूल कहा जाता है। एवं यह कर्णशूल दुश्चिकित्स्य होता है।

वक्तव्य—प्रधानतः कर्णरोग अठाईस होते हैं। जैसे सुश्रुत ने कहा भी है कि—'कर्णशूलं प्रणादश्च बाधिर्यं क्ष्वेड एव च। कर्णस्रावः कर्णकण्डूः कर्णवर्चस्तथैव च॥ कृमिकर्णप्रतिनाहौ विद्रधि द्विविधस्तथा। कर्णपाकः पूतिकर्णस्तथैवार्शश्चतुर्विधम्॥ कर्णार्बुदं सप्तविधं शोफश्चापि चतुर्विधः। एते कर्णगता रोगाः अष्टाविंशतिरीरिताः॥' (सु. उ. तं. अ. २०)। इनमें से कष्टसाध्य होने के कारण कर्णशूल का सर्व प्रथम निर्देश किया है। कानों में विद्रधि दो प्रकार की होती है—एक दोषविद्रधि और दूसरी क्षतविद्रधि। एवं इसमें चार प्रकार की अर्थात् वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक और सान्निपातिक, अर्श (बवासीर) होती है। (ननु—) पूर्व अर्शोनिदान में इनके सम्प्राप्तिपूर्वक सामान्यस्वरूप निर्देश में कहा है कि—'दोषास्त्वङ्मांसमेदांसि सन्दूष्य विविधाकृतीन्। मांसाङ्कुरानपानादौ कुर्वन्त्यर्शांसि ताञ्जगुः॥" (मा. नि. अर्शो नि.)। अर्थात् वात आदि दोष त्वचा, मांस, रक्त और मेद को दूषित कर गुदा आदि में अनेक प्रकार की आकृति वाले मांस के अङ्कुरों को उत्पन्न करते हैं और वे अङ्कुर ही अर्श कहलाते हैं। एवं यहां गुदा में होने वाले मांसाङ्कुरों की अर्शसंज्ञा प्रदर्शित की है, न कि कर्ण में होने वाले अङ्कुरों की। यदि अर्श कान में भी होती तो आचार्य अर्शोनिदान में उसका संकेत अवश्य करते। परन्तु उन्होंने नहीं किया, अतः प्रतीत होता है कि यह कर्ण आदि में नहीं होती। किञ्च लोक में भी अर्श से गुदाङ्कुर ही ग्रहण किए जाते हैं, न कि श्रोत्रज अर्श। अतः उभयथा कर्णार्श असिद्ध होने से यहां क्यों कही गई है। इसका उत्तर यह है कि उक्त 'दोषाः' इत्यादि श्लोक में यद्यपि गुदज अङ्कुरों की ही स्पष्ट रूप से अर्श संज्ञा कही है, किन्तु तो भी उसमें (पद्य में) कानों में भी अर्श होती है, इसका भी निर्देश 'अपानादौ' में पठित आदि शब्द से कर दिया है। एवं यह सिद्ध होता है कि अर्श कर्ण आदि में भी होती है और इसलिए आचार्य ने यहां कर्णगत चतुर्विध अर्श को भी माना है। अर्शोनिदान में इनका विस्तारपूर्वक निर्देश इस कारण नहीं किया गया कि वहां प्रसङ्गानुसार गुदाङ्कुरों का अभिधान ही आवश्यक था। यहां अर्श चार प्रकार की मानी है और गुदा में छः प्रकार की कही है। तद्यथा—'पृथग्दोषैः समस्तैश्च शोणितात् सहजानि च। अर्शांसि षट् प्रकाराणि विद्याद्गुदवलित्रये॥' (मा. नि. अ. नि.)। एवं जब अर्श की सम्प्राप्ति एक सी ही है तो वहां छः प्रकार की और यहां चार प्रकार की क्यों होती है? या तो वहां भी चार प्रकार की होनी चाहिए या यहां भी छः प्रकार की होनी चाहिए। इस पर कई आचार्य कहते हैं कि

वस्तुतः यहां भी छः प्रकार की ही अर्श होती है, परन्तु चार प्रकारों का निर्देश रक्तज को पित्तज में और सहज को यथादोषज में लेकर किया है। दूसरे आचार्य इस समाधान को न मानते हुए कहते हैं कि गुदा में छः प्रकार का होना और श्रोत्र में चार प्रकार का, इस व्याधि का स्वभाव ही है। इसी कारण पूर्वोक्त अर्शोनिदान में अर्श के सन्निकृष्ट निदान तथा भेदों के विवरण में 'अर्शांसि षट्प्रकाराणि विद्याद्गुदवलित्रये' यह कहकर गुदवलियों में होने वाली अर्श छः प्रकार की होती है, यह नियमन किया है। कायचिकित्सक तो अर्श को केवल गुदगत ही मानते हैं और नासा, कर्ण आदि में होने वाले अङ्कुरों को अधिमांस स्वीकार करते हैं। अत एव चरक ने कहा भी है कि—'केचित्तु भूयांसमेव देशमुपदिशन्त्यर्शसां शिश्नमपत्यपथं गलमुखनासाकर्णाक्षिवर्त्मानि त्वक् च। तदस्याधिमांसव्यपदेश एषः, गुदवलिजानान्त्वर्शांसीति संज्ञातन्त्रेऽस्मिन्' (च. चि. स्था. अ. १४)। एवं इनके मत में अधिमांस (कर्णगताधिमांस) चार प्रकार का होता है। यही प्रकार वक्ष्यमाण नासार्श में भी जानना चाहिए। कई आचार्य 'दुराचरः' के स्थान में 'दुरासदः' यह पाठान्तर स्वीकार करते हैं।

मधु०—मुखरोगे जिह्वाश्रयरोगोऽभिहितः, जिह्वा चेन्द्रियाधिष्ठानम्, अत इन्द्रियाधिष्ठानदुष्टिसाम्यात् कर्णरोगनिदानमुच्यते, कर्णशष्कुल्यवच्छिन्ननभःप्रदेशोपगृहीतं श्रोत्रमुच्यते, तत्र यद्यप्येकदेशगतो रोगस्तथाऽप्यवयवेऽपि समुदायोपचारतः कर्णव्यपदेशः। तत्र कर्णशूलं कष्टत्वात् प्रागाह—समीरण इत्यादि। अत्रानयैव संप्राप्त्याऽर्थतो निदानसंचयाद्याक्षिप्तं; यतो निदानात् संचयः, संचयात् प्रकोपः, प्रकोपात् प्रसरः, प्रसरात् स्थानसंश्रयः, ततो व्यक्तिः, ततो भेद इति। कर्णशूलस्य च कष्टत्वं मूर्च्छाद्युपद्रवयोगात्। यदाह विदेहः—'मूर्च्छा दाहो ज्वरः कासो हृल्लासो वमथुस्तथा। उपद्रवाः कर्णशूले भवन्त्येते मरिष्यतः''-इति। अन्यथाचरन्निति प्रतिलोमं चरन्। दोषैरिति कफपित्तरक्तैः, रक्तोऽपि रुजाकर्तृत्वात् सामान्येन दोषव्यपदेशः। यथास्वमावृत इति स्वनिदानकुपितदोषैर्यथास्वीयलक्षणैरावृतो न तु कोपितैर्वायुना; 'एकः प्रकुपितो दोषः सर्वानेव प्रकोपयेत्' इति न्यायात; यतः स्वतन्त्रकुपिता दोषाः संसर्गभाजो भवन्ति, परतन्त्रकुपितास्त्वनुबन्धरूपा भवन्ति; अथवा यथास्वमिति शूलविशेषणं, यथास्वीयमित्यर्थः। दुराचर इति दुःखेनाचर्यत इति दुराचरः ॥१॥

मुखरोग में जिह्वाश्रय रोग कहा है और जिह्वा इन्द्रियाधिष्ठान (रसनेन्द्रियाधिष्ठान) है, अतः इन्द्रियाधिष्ठान की दुष्टि समता को लेकर अब कर्णरोग का निदान कहा जाता है। कर्णशष्कुली से युक्त आकाश (अवच्छिन्न) देश श्रोत्र कहलाता है। यद्यपि इसमें रोग एकदेशगत होता है, किन्तु फिर भी अवयव में समुदाय का उपचार कर कर्ण का निर्देश किया जाता है। उनमें से कष्टसाध्य होने के कारण 'समीरण' इत्यादि श्लोक से कर्णशूल को आचार्य सर्वप्रथम बताते हैं। इसी सम्प्राप्ति से ही यहां पर निदान, संचय आदि का ज्ञान करना चाहिए, क्योंकि निदान से संचय, संचय से प्रकोप, प्रकोप से प्रसर, प्रसर से स्थानसंश्रय, स्थानसंश्रय से व्यक्ति और व्यक्ति से भेद होता है। मूर्च्छा आदि उपद्रवों के साथ सम्बन्धित होने से कर्णशूल की कष्टसाध्यता होती है। जैसे विदेह ने कहा

भी है कि—'मूर्च्छा, जलन, ज्वर, खांसी, हृल्लास (जी मिचलाना) और वमन ये उपद्रव मरने वाले कर्णशूल के रोगी में होते हैं' । 'यथास्वमावृतः' से अपने २ लक्षणों वाले, एवं अपने २ निदानों से कुपित दोषों से आवृत (वायु) यह अर्थ लेना चाहिए, न कि प्रकुपित हुआ २ एक दोष सभी दोषों को प्रकुपित कर देता है। इस न्याय से वायु से कोपित दोषों से आवृत यह अर्थ लेना चाहिए, क्योंकि अपने २ स्वतन्त्र निदानों से कुपित दोष ही संसर्ग के भागी होते हैं, परतन्त्र कुपित दोष तो अनुबन्ध रूप होते हैं। अथवा 'यथास्वं' यह शूल का विशेषण जानना चाहिए।

कर्णनादस्य लक्षणमवतारयति—

कर्णस्रोतःस्थिते वाते शृणोति विविधान् स्वरान् ।
भेरीमृदङ्गशङ्खानां कर्णनादः स उच्यते ॥२॥

वायु के कर्णस्रोत में स्थित हो जाने पर मनुष्य भेरी (नगारा), मृदङ्ग और शङ्ख आदिकों के अनेकविध शब्दों को सुनता है । यह रोग कर्णनाद कहलाता है।

वक्तव्य—तन्त्रान्तर में इसी कर्णनाद का सम्प्राप्तिपूर्वक लक्षण इस प्रकार है कि—'यदा तु नाडीषु विमार्गमागतः स एव शब्दाभिवहासु तिष्ठति । शृणोति शब्दान्विविधान् तदा नरः प्रणादमेनं कथयन्ति चामयम्' ॥

मधु०—कर्णनादमाह—कर्णस्रोतःस्थित इत्यादि । यदा कर्णस्रोतसि विविधप्रकारेणावस्थितो वायुर्भवति तदा तस्य विविधाभिहननादुक्तविविधशब्दश्रवणं, भेरीमृदङ्गशङ्खानामित्युपलक्षणं, तेन भृङ्गारादिशब्दश्रवणं च भवति । यदुक्तं विदेहे,—"शिरोगतो यदा वायुः श्रोत्रयोः प्रतिपद्यते । तदा तु विविधान् शब्दान् समीरयति कर्णयोः ॥ भृङ्गारक्रौञ्चनादं वा मण्डूककाकयोस्तथा । तन्त्रीमृदङ्गशब्दं वा सामतूर्यस्वनं तथा ॥ गीताध्ययनवंशानां निर्घोषं क्ष्वेडनं तथा । अपामिव पतन्तीनां शकटस्येव गच्छतः ॥ श्वसतामिव सर्पाणां सदृशः श्रूयते स्वनः"—इति ॥२-३॥

जब कर्णस्रोत में वायु अनेक प्रकार से अवस्थित होता है तो मनुष्य अनेक प्रकार के ताड़नों से उत्पन्न अनेक प्रकार के शब्दों को सुनता है। यहां भेरी, मृदङ्ग और शङ्ख का विन्यास उपलक्षण मात्र है, एवं (इन्हें उपलक्षण मानने से) भौंरे आदिकों के शब्दों का श्रवण भी गृहीत होता है। जैसे विदेहकृत तन्त्र में कहा भी है कि—'सिर में गया हुआ वायु जब कानों में आ जाता है तो वह उनमें (कानों में) अनेक प्रकार के शब्दों को प्रेरित करता (सुनवाता) है। कभी मनुष्य भौंरे के शब्द को, कभी चकवे के शब्द को, कभी मण्डूक के रव को और कभी कौवे की आवाज को सुनता है । कभी २ वीणा तथा मृदङ्ग के शब्द को और कभी साम गायन तथा तौर्यत्रिक [तौर्यत्रिक उस गान का नाम है जिसमें कि गाना, बजाना, नाचना तथा नाचने के समय बाँधे हुए नूपुर (घुंगरू), मेखला (तड़ागी) आदिकों का आराव वा शिञ्जित (शब्द विशेष) होना एवं ताल लय आदि का यथाक्रम प्रदान होता है] के शब्द को वा सामवेद के गान सम्बन्धी तौर्यत्रिक को सुनता है, अथवा सामवेद के तूर्य (अत्युच्च) स्वर को सुनता है । एवं वह मनुष्य कभी गाने के से शब्द को, कभी पढ़ने के से शब्द को कभी बांसुरी वा कीचक (जिन बांसों के छिद्रों में वायु के स्वयमेव प्रविष्ट हो जाने के कारण आवाज निकलती है उन शब्द सहित बांसों को कीचक कहा जाता है) के से शब्द को, कभी गिरते हुए जल के से शब्द

को, कभी चलते हुए रथ के से शब्द को और कभी श्वास लेते हुए सर्पों के शब्द के समान शब्द को सुनता है'।

बाधिर्यस्य लक्षणमाह—

यदा शब्दवहं वायुः स्रोत आवृत्य तिष्ठति।
शुद्धः श्लेष्मान्वितो वाऽपि बाधिर्यं तेन जायते ॥३॥ [सु० २१।]

जब केवल वायु वा श्लेष्मान्वित वायु शब्दवह स्रोत को रोक लेता है तो उससे बधिरता हो जाती है। इस रोग को बाधिर्य कहते हैं।

वक्तव्य—यहां शब्दवह स्रोत से शब्दवाहिनी सिराएं ली जाती हैं। जैसे सुश्रुत ने कहा भी है कि—'स एव शब्दानुवहा यदा सिराः कफानुयातो व्यवसृत्य तिष्ठति। तदा नरस्याप्रतिकारसेविनो भवेत्तु बाधिर्यमसंशयं खलु ॥' (सु. उ. तं. अ. २०)।

कर्णक्ष्वेडं लक्षयति—

वायुः पित्तादिभिर्युक्तो वेणुघोषोपमं स्वनम्।
करोति कर्णयोः क्ष्वेडं कर्णक्ष्वेडः स उच्यते ॥४॥

जिस रोग में पित्तादिकों से युक्त वायु कानों में बांस के से शब्द को करता है, वह रोग कर्णक्ष्वेड कहलाता है।

वक्तव्य—इस रोग की उत्पत्ति श्रम, क्षय और रूक्ष भोजनादि से होती है। जैसे कहा भी है कि—'श्रमात् क्षयाद्रूक्षकषायभोजनात् समीरणः शब्दपथे प्रतिष्ठितः। विरिक्तशीर्षस्य च शीतसेविनः करोति हि क्ष्वेडमतीव कर्णयोः' ॥ कर्णनाद से इसका भेद यह है कि वह केवल वातारब्ध होता है, किन्तु यह पित्तकफान्वित वातारब्ध ही होता है। उस (कर्णनाद) में अनेकविध शब्द सुनाई देते हैं और इसमें केवल वेणु स्वर ही सुनाई देता है।

मधु०—कर्णक्ष्वेडमाह—वायुरित्यादि। क्ष्वेडमेव व्याकरोति—वेणुघोषोपमं स्वनमिति। ननु, कर्णनादात् कथमस्य भेदः? उच्यते, कर्णनादे केवलानिलजे नानाशब्दान् शृणोति, अत्र तु वेणुशब्दमेव नियमेन; तथाऽयं पित्तादिसंसृष्टवातजन्य इति। तथाह विदेहः—"मारुतः कफपित्ताभ्यां संसृष्टः शोणितेन च। कर्णक्ष्वेडं संजनयेत् क्ष्वेडनं वेणुघोषवत्"—इति ॥४॥

(ननु इति—) कर्णनाद से इस (कर्णक्ष्वेड) का भेद कैसे होगा? इस पर आचार्य कहते हैं कि—कर्णनाद केवल वातज होता है और इसमें मनुष्य अनेकविध शब्दों को सुनता है, परन्तु इसमें मनुष्य केवल वेणु शब्द को ही सुनता है तथा यह रोग पित्तादि युक्त वातज होता है। जैसे विदेह ने कहा भी है कि—'कफ, पित्त और रक्त से युक्त वायु कर्णक्ष्वेड नामक रोग को उत्पन्न कर देता है और इस रोग में वेणु के शब्द की तरह शब्द सुनाई देता है'।

कर्णसंस्रावस्य लक्षणमाह—

शिरोऽभिघातादथवा निमज्जतो
जले प्रपाकादथवाऽपि विद्रधेः।

स्रवेद्धि पूयं श्रवणोऽनिलार्दितः
स कर्णसंस्राव इति प्रकीर्तितः ॥५॥ [सु० २।१६]

सिर में चोट लगने के कारण, वा जल में गोते लगाने के कारण, अथवा कर्णविद्रधि के पक जाने के कारण वायुदोष से प्रपीडित (अर्थात् तोदादि वातिक पीड़ाओं वाला) कान पूय को स्रवित करता है। यह रोग 'कर्णस्राव' कहलाता है।

मधु०—कर्णस्रावमाह—शिरोऽभिघातादित्यादि । स्रवेद्धि पूयमित्युपलक्षणं, तेन रक्तजले च स्रवत इति मन्तव्यं, शिरोऽभिघातजलमज्जनमात्रेण पूयस्यासंभवात्; अथवा प्रपाकादिति सर्वत्र संबध्यते; तर्हि न पाकात् पृथक् स्राव उक्तः सर्वत्र पाकस्याविशिष्टत्वादिति कार्तिकः। ननु, पाकाद्विद्रधेः स्रावसंभवोऽस्तु, विद्रधौ तु वातेतरदोषस्यापि संभवात् कथमनिलार्दित इत्युक्तम्? उच्यते, अतिस्रावेणात्रानिलकोपादनिलार्दितत्वं बोद्धव्यम् ॥५॥

(स्रवेद्धीति—) उक्त श्लोक में 'स्रवेद्धि पूयं' यह कहा है जिसका कि अर्थ, पूय को स्रवित करता है, यह है। पूय को स्रवित करना यहां उपलक्षणमात्र है। एवं इसमें रक्त और जल का भी स्राव होता है यह मानना चाहिए, क्योंकि सिर में चोट लगने तथा जल में डुबकी आदि लगाने से पूय नहीं आ सकती (किन्तु चोट से रक्त, जलमज्जन से जल और विद्रधि प्रपाक से पूय आती है)। अथवा प्रपाक का सभी स्थानों में सम्बन्ध जोड़ना चाहिए (एवं यह अर्थ बनता है कि सिर में चोट लगने से प्रपाक होने पर, वा जल में डुबकी लगाने से प्रपाक होने पर वायुपीडित कर्ण पूय को स्रवित करता है)। इस प्रकार मानने से स्राव पाक से पृथक् नहीं कहा जाता, क्योंकि पाक का सम्बन्ध सर्वत्र स्वीकृत हो चुका है (यह आचार्य कार्तिक का मत है)। (ननु—) पाक के कारण विद्रधि से स्राव की उत्पत्ति यदि होती हो तो हो, किन्तु विद्रधि में वातेतर दोषों की भी सम्भावना (स्थिति) होने से इसे केवल वातार्दित क्यों कहा है? इसका उत्तर यह है कि अतिस्राव के कारण वायु का प्रकोप होने से यहां वायु से पीडितपन जानना चाहिए।

वक्तव्य—उपर्युक्त सन्दर्भ का भाव यह है कि—माना कि विद्रधि से स्राव पाक के कारण होता है, किन्तु उस (विद्रधि) में पित्त और कफ के भी होने से उसे अनिलार्दित क्यों कहा है? इस पर श्रीकण्ठदत्त जी कहते हैं कि—यहां अनिलार्दित इसलिए कहा है कि प्रकृत में स्राव के अत्यधिक होने से वायु का प्रकोप होता है, अर्थात् स्राव के अत्यधिक होने के कारण वायु का प्रकोप होने से यहां अनिलार्दित कहा है।

कर्णकण्डूमाह—

मारुतः कफसंयुक्तः कर्णकण्डूं करोति च।

कफ से मिला हुआ वायु कानों में खुजली उत्पन्न कर देता है, इस रोग को कर्णकण्डू कहा जाता है।

वक्तव्य—भाव यह है कि वायु नामक दोष कफ नामक दोष से मिलकर कान में खुजली उपजा देता है। इस कान में होने वाली खुजली रूप रोग का नाम कर्णकण्डू है। कई आचार्य इसमें वायु को कारण न मान कर केवल श्लेष्मा को ही कारण रूप में स्वीकार कर कहते हैं कि—कानों में संचित कफ (नामक दोष)

से कर्णस्रोत में अत्यन्त खुजली होती है। प्रमाणञ्च यथा—'कफेन कण्डूः प्रचितेन कर्णयोर्भृशं भवेत् स्रोतसि कर्णसंज्ञिते'–(सु. उ. तं. अ. २०)।

कर्णगूथस्य लक्षणमाह—

पित्तोष्मशोषितः श्लेष्मा कुरुते कर्णगूथकम् ॥६॥

पित्त (नामक दोष) की गर्मी से सुखाया हुआ (वा सूखा हुआ) कफ कर्णगूथक रोग को उत्पन्न कर देता है।

वक्तव्य—भाव यह है कि—जब कानों में होने वाला कफ पित्त की गर्मी से सूख जाता है तो (वह) घन होकर मैल के रूप में कर्णविवर की दीवारों पर इधर उधर लग जाता है। इसी लगे हुए मैल को कर्णगूथ कहा जाता है और जब यह साधारण मात्रा से बढ़ जाता है (अर्थात् अधिक उत्पन्न होने लगता है) तो कर्णगूथक रोग कहलाता है। सारांश यह कि पित्त से शोषित श्लेष्मा का मैल रूप में परिवर्तित होकर अधिक मात्रा में आना वा उत्पन्न होना कर्णगूथक रोग कहलाता है। यद्यपि श्लेष्मा का वर्ण श्वेत सा होता है, परन्तु इसमें ईषत् लालिमा वा भूरापन पित्तजन्य पाक के कारण होता है। कई आचार्य कहते हैं कि कानों में सञ्चित श्लेष्मा कानों में कर्णकण्डू रोग को उपजाता है, परन्तु जब वह पित्त के तेज से सूख जाता है तो कर्णगूथक नामक रोग को उपजाता है। जैसे कहा भी है कि—'कफेन कण्डूः प्रचितेन कर्णयोर्भृशं भवेत् स्रोतसि कर्णसंज्ञिते। विशोषिते श्लेष्मणि पित्ततेजसा नृणां भवेत् स्रोतसि कर्णगूथकः' ॥

कर्णप्रतिनाहं लक्षयति—

स कर्णगूथो द्रवतां गतो यदा
विलायितो घ्राणमुखं प्रपद्यते।
तदा स कर्णप्रतिनाहसंज्ञितो
भवेद्विकारः शिरसोऽर्धभेदकृत् ॥७॥ [सु० ०।१६]

पूर्वोक्त कर्णगूथ जब पिघल जाता है और विलीन होकर नासिका तथा मुख में आ जाता है तो (तब) अर्धावभेदक रोग (आधे सिर में पीड़ा) को करने वाला वह (कर्णगूथक नामक रोग ही) कर्णप्रतिनाह नामक रोग कहलाता है।

वक्तव्य—भाव यह है कि श्लेष्मा कानों में संचित होकर पूर्व कर्ण-कण्डू रोग को उपजाता है और तदनु पित्त की ऊष्मा से शुष्क होकर कर्णगूथक (रोग) बन जाता है। कर्णगूथकावस्था में आया हुआ वही श्लेष्मा जब पुनः पिघल कर विलीन हो मुख तथा नासिका में आ जाता है तो कर्णप्रतिनाह नामक रोग को उपजाता है, जिसमें आधे सिर में पीड़ा भी होने लगती है। कई आचार्य यहाँ अर्धशिर में पीड़ा न मान कर सारे शिर में पीड़ा मानते हैं। अतः वे 'शिरसोऽर्धभेदकृत्' के स्थान में 'शिरसोऽभितापनः' यह पाठान्तर

स्वीकार करते हैं। (ननु—) यदि कर्णगूथक और कर्णप्रतिनाह कर्णकण्डू की दूसरी अवस्थाएं ही हैं तो इन्हें पृथक् गिनने की वा पृथक् रोग मानने की क्या आवश्यकता है ? क्यों न इन्हें एकवृन्द और वृन्द की तरह एक ही मान लिया जावे ? इसका उत्तर यह है कि—जैसे कि अभिष्यन्द, अधिमन्थ और हताधिमन्थों के उत्तरोत्तर अवस्थाविशेष होने पर भी इनमें लक्षणविशेष होने से तथा धर्मान्तर के साथ योग होने से नामभेद, अधिक गणना और पृथक् २ रोग स्वीकृति है, उसी प्रकार प्रकृत में भी लक्षणविशेष तथा धर्मान्तर से योग होने के कारण नामभेद तथा अधिक गणना तथा पृथक् रोग स्वीकृति है। किञ्च यहां एक रोग से दूसरे रोगों की उत्पत्ति है, जैसे कर्णकण्डू से कर्णगूथक की और कर्णगूथक से कर्णप्रतिनाह की। एवं यहां पूर्व २ रोग उत्तर २ रोग के प्रति कारण है। तथा उत्तर उत्तर रोग को उत्पन्न कर यहां पूर्व २ रोग शान्त हो जाता है। रोगों से रोगान्तर की उत्पत्ति तथा उत्पादक रोग का शान्त होना शास्त्र सम्मत है। जैसे कहा भी है कि—'ते पूर्वं केवला रोगाः पश्चाद्धेत्वर्थकारिणः। कश्चिद्धि रोगो रोगस्य हेतुर्भूत्वा प्रशाम्यति ॥' (च. २।८)। एवं ये रोग पृथक् २ हैं और इनका उत्तरोत्तर कार्यकारणभाव सम्बन्ध है। तीसरी बात इनके पृथक् स्वीकार करने में यह भी है कि कभी २ ऐसा भी होता है कि पूर्व अवस्था अत्यल्प होने से अलक्षित रहती है और उत्तर अवस्था स्फुट हो जाती है, अर्थात् कभी २ कर्णकण्डू रोग अलक्षित रहता है और कण्डूगूथक स्फुट हो जाता है, वा कर्णकण्डू और कर्णगूथक दोनों अलक्षित रहते हैं और कर्णप्रतिनाह स्फुट हो जाता है, जिससे यह प्रतीत होता है कि कर्णगूथक वा कर्णप्रतिनाह स्वतन्त्रता से हुए हैं। इस प्रकार स्वतन्त्र होने पर अवस्थाविशेष न होकर पृथक् रोग ही कहलाते हैं। चौथी बात यह है कि इनमें दोष भेद भी है। तद्यथा—कर्णकण्डू में कफयुक्त वायु, कर्णगूथक में श्लेष्मा और पित्त तथा कर्णप्रतिनाह में वात, पित्त और कफ दोष होते हैं। इस प्रकार भी इनका पृथक् स्वीकार करना अवश्य सिद्ध होता है।

मधु०—कर्णप्रतिनाहमाह—स कर्णगूथो द्रवतामित्यादि। विलायित इति स्नेहस्वेदाभ्यां विलीनीकृतः सन्। घ्राणमुखमिति द्वन्द्वत्वादेकवद्भावः, तेन घ्राणं च मुखं च प्रतिपद्यत इत्यर्थः। अन्ये 'घ्राणमुखात्' इति पठन्ति, तदा घ्राणमुखान्नासासकाशात् प्रतिपद्यते गच्छतीत्यर्थः। अयं कफजो विकारः, अथवा कर्णगूथशोषे मारुतपित्तव्यापारात् त्रयाणामपि संवन्धोऽस्ति, तेन सन्निपातजोऽयं; तथाच विदेहः—"कफाद्वा मारुताद्वाऽपि सन्निपातेन वा पुनः"—इति। शिरसोऽर्धभेदकृदिति अर्धावभेदशिरोरोगकृत् ॥६-७॥

(घ्राणमुखमिति—) 'घ्राणमुखं' में द्वन्द्व समास होने से ('अहिनकुलं' की तरह) एकवद्भाव है, अतः इसका अर्थ घ्राण और मुख यह होता है। दूसरे आचार्य 'घ्राणमुखं' के स्थान में 'घ्राणमुखात्' यह पाठान्तर मानते हैं। इस पाठान्तर में यह अर्थ होता है कि (जब वह कर्णगूथ द्रवित होकर विलीन हो) नासिका के मुख से (अर्थात्

नासिका से) निकलता है। कर्णप्रतिनाह नामक विकार श्लेष्मज है, अथवा कर्णगूथ शोष में पित्त और वायु का भी व्यापार होने से यहां भी तीनों दोषों का सम्बन्ध है, जिससे कि यह रोग सन्निपातज सिद्ध होता है। इस पर विदेह ने भी कहा है कि—यह रोग कफ से, वायु से वा सन्निपात से होता है।

क्रिमिकर्णकस्य लक्षणमवतारयति—

यदा तु मूर्च्छन्त्यथवाऽपि जन्तवः
सृजन्त्यपत्यान्यथवाऽपि मक्षिकाः।
तद्व्यञ्जनत्वाच्छ्रवणो निरुच्यते
भिषग्भिराद्यैः क्रिमिकर्णको गदः ॥८॥ [सु० २।१६]

कानों में जब (मांस और शोणित के कोथ होने पर) क्रिमि उत्पन्न हो जाते हैं, अथवा मक्षिकाएं अपने बच्चों को कानों में छोड़ जाती हैं, तब वह कान विदेह आदि पूर्वाचार्यों से क्रिमिकर्णक रोग कहलाता है और उसमें क्रिमियों के लक्षण भी होते हैं।

वक्तव्य—भाव यह है कि जब कर्णवर्ती मांस में वा रक्त में कोथ उत्पन्न हो जावे तो उसमें क्रिमि उत्पन्न हो जाते हैं, जिनके कारण कानों में क्रिमियों के लक्षण भी उपज आते हैं। एवं उस कर्णगत रोग को, वा जब मक्षिकाएं कर्ण में प्रवेश कर अपने बच्चों को छोड़ जाती हैं, जिनके कारण कानों में क्रिमियों के लक्षण भी उपज आते हैं, उस कर्णगत रोग को विदेह प्रभृति पूर्वकालिक आचार्यों ने क्रिमिकर्णक कहा है।

मधु०—क्रिमिकर्णकमाह—यदेत्यादि। यदा तु मूर्च्छन्ति उच्छ्रिता भवन्ति। जन्तवः क्रिमयः क्रिमिमूर्च्छनं च मांसशोणितकोथे सति ज्ञेयं, तदन्तरेण क्रिमीणामसंभवात्। अपत्यानीति डिम्भकान्। तद्व्यञ्जनत्वादिति क्रिमिलक्षणत्वात्। श्रवणो निरुच्यत इति क्रिमिकर्णको गद इति आश्रयाश्रितयोरभेदोपचाराच्छ्रवणः क्रिमिकर्णको गदो भण्यते। श्रवणशब्दः पुंलिङ्गोऽप्यस्तीत्यस्मादेव निर्देशात् प्रतीयते। अयं विकारस्त्रिदोषजो मन्तव्यः। तथाच निमिः—"श्लेष्मपित्तजलोन्मिश्रे कोथे शोणितमांसजे। मूर्च्छन्ति जन्तवस्तत्र कृष्णास्ताम्राः सितारुणाः॥ भक्षयन्तश्च ते कर्णं कुर्वन्तो विविधा रुजः। क्रिमिकर्णं तु तं विद्यात् सन्निपातप्रकोपजम्" इति॥८॥

(अयमित्यादि—) यह क्रिमिकर्णक नाम वाला रोग त्रिदोषज मानना चाहिए, जैसा कि आचार्य निमि ने कहा भी है कि—'रक्त और मांस में होने वाले कोथ के साथ कफ, पित्त और जल के (क्लेद के) मिल जाने पर वहां कृष्णवर्ण के, ताम्रवर्ण के, श्वेतवर्ण के वा अरुणवर्ण के क्रिमि उत्पन्न हो जाते हैं, जो कि अनेक प्रकार की (वात, पित्त और कफ की तोद, दाह और कण्डू आदि) पीड़ाओं को करते हुए (वा अनेकप्रकार भेदन आदि अनेकविध पीड़ाओं को करते हुए) कान को खाते रहते हैं। इस रोग को क्रिमिकर्णक जानना चाहिए तथा यह रोग सन्निपातज है (वा इस सन्निपातज रोग को क्रिमिकर्णक नाम से जानना चाहिए)'।

कर्णप्रविष्टपतङ्गकीटादीनां लक्षणमाह—

पतङ्गाः शतपद्यश्च कर्णस्रोतः प्रविश्य हि ।
अरतिं व्याकुलत्वं च भृशं कुर्वन्ति वेदनाम् ॥९॥
कर्णो निस्तुद्यते तस्य तथा फरफरायते ।
कीटे चरति रुक् तीव्रा निष्पन्दे मन्दवेदना ॥१०॥

कीड़े, कनकोहले वा कानखजूरे कान के छिद्र में जाकर अतिव्याकुलता तथा अत्यन्त पीड़ा को कर देते हैं। कान में गया हुआ (पूर्वोक्त) कीड़ा जब उस (कान) में चलता है तो कान में फरफराहट तथा अत्यन्त पीड़ा होती है, किन्तु जब वह कीड़ा ठहर जाता है, तो वेदना मन्द पड़ जाती है।

मधु०—कर्णप्रविष्टपतङ्गकीटादिलिङ्गमाह—पतङ्गा इत्यादि। शतपद्य इति काण्डिकाः। निष्पन्द इति स्थिरे ॥९-१०॥

कर्णप्रविष्टपतङ्गकीटादिलिङ्गमाह इत्यादि की भाषा सुगम है।

कर्णविद्रधिं लक्षयति—

क्षताभिघातप्रभवस्तु विद्रधि-
र्भवेत्तथा दोषकृतोऽपरः पुनः ।
सरक्तपीतारुणमस्रमास्रवेत्
प्रतोदधूमायनदाहचोषवान् ॥११॥ [सु० २।१६]

क्षत तथा अभिघात के कारण होने वाला एक विद्रधि होता है और दोष के कारण होने वाला दूसरा विद्रधि होता है। वह विद्रधि लाल, पीले और अरुण स्राव वाला तथा प्रतोद (सुइयों की सी चुभान), धूमायन (धूमोद्गमन की तरह होने वाली वेदना विशेष) और चोष (चूसने की पीड़ा) वाला होता है।

वक्तव्य—ऊपर कर्ण रोगों की गणना में 'विद्रधिर्द्विविधस्तथा' (सु. उ. तं. अ. २०) से कर्णविद्रधि रोग दो प्रकार का बताया है। उसी दो प्रकार के विद्रधि का वर्णन आचार्य माधव ने 'क्षत' इत्यादि श्लोक से किया है। आचार्य ने वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक और सान्निपातिक इन चार प्रकार के विद्रधि को दोषज विद्रधि कहकर एकत्व में ही ले लिया है। एवं उसने क्षतज विद्रधि तथा अभिघातज विद्रधि को आगन्तुज में लिया है। इस प्रकार संक्षेपतः छः प्रकार की विद्रधियां माधव ने आगन्तुज और दोषज इन दो भेदों में ही अन्तर्हित कर दी है। पूर्वोक्त अर्धश्लोक में दो प्रकार की विद्रधियों का निर्देशमात्र है, किन्तु इस श्लोक के उत्तरार्ध में लक्षण है। अब इस पर विचार उपस्थित होता है कि यह लक्षण आगन्तुज विद्रधि का है, वा दोषज विद्रधि का, अथवा उभयज विद्रधि का। इस पर कई टीकाकार उत्तरार्धोक्त लक्षण को आगन्तुज विद्रधि का लक्षण मानते हैं और उसमें पठित 'अस्र' शब्द का अर्थ रुधिर करते हैं। एवं उनके मत में

इसकी व्याख्या इस प्रकार होती है कि—वह आगन्तुज विद्रधि लाल, पीले और अरुण वर्ण के रक्त को स्रवित करता है, तथा प्रतोद, धूमायन और चोषयुक्त होता है। एवं ये टीकाकार दोषज विद्रधि के लक्षण दोषानुसार अर्थात् यथादोष मानते हैं। इनका यह भी भाव है कि रक्त, पीत और अरुणवर्णता को देखकर यह ख्याल नहीं करना चाहिए कि दोषों के भी यही लक्षण होते हैं (अतः ये दोषज विद्रधि के लक्षण हैं), क्योंकि आगन्तुज भी 'आगन्तुरन्वेति निजं विकारं निजस्तथागन्तुमपि प्रवृद्धः' (चरकः) के अनुसार बाद में दोषज हो जाते हैं, एवं इनमें दोषों का सम्बन्ध बाद में होने के कारण लालिमा आदि लक्षण भी बाद में ही होते हैं, पहले तो केवल व्यथा ही होती है। दूसरे आचार्य इन लक्षणों को दोषज विद्रधि के लक्षण मान कर उत्तरार्ध को दोषज विद्रधि का स्वरूप मानते हैं। एवं ये 'अस्र' शब्द का अर्थ 'स्राव' करते हैं। इनके मत में इसकी व्याख्या इस प्रकार होती है कि वह दोषज विद्रधि लाल, पीले और अरुण वर्ण के स्राव को स्रवित करता है, तथा प्रतोद, धूमायन और चोषयुक्त होता है। एवं ये टीकाकार आगन्तुज विद्रधि के लक्षण पूर्व पीड़ा और तदनु दोष के सम्बन्धानुसार लक्षण स्वीकार करते हैं। किन्तु वस्तुतः यह उत्तरार्ध दोनों प्रकार की विद्रधियों का लक्षण है और इसी लिये आचार्य ने इनका पृथक् लक्षण निर्दिष्ट नहीं किया। एवं इसका अर्थ यही होता है कि वह आगन्तुज तथा दोषज विद्रधि रक्त, पीत और अरुण वर्ण के अस्र (आगन्तुज पक्ष में रुधिर और दोषज पक्ष में स्राव) को स्रवित करता है, तथा प्रतोद, धूमायन, दाह और चोष से युक्त होता है। (ननु—) यदि आगन्तुज और दोषज विद्रधि के लक्षण समान ही हैं, तो इनमें भेद क्या हुआ ? और यदि भेद नहीं है, तो इनको एक दूसरे से पृथक् क्यों माना गया ? इसका उत्तर यह है कि—इनमें यद्यपि लक्षण एक से प्रतीत होते हैं किन्तु फिर भी भेद है। तद्यथा पहला—आगन्तुज में पूर्व व्यथा होती है और तदनु दोषों का सम्बन्ध होकर दोषज लक्षण उपर्युक्तानुसार होते हैं और दोषज में पूर्व दोषों की विगुणता होती है, तदनु च उपर्युक्तानुसार लक्षण होते हैं। दूसरा—आगन्तुज पक्ष में 'अस्र' का अर्थ रुधिर और दोषज पक्ष में 'अस्र' का अर्थ स्राव लिया जाता है। तीसरा—इनमें निदान भेद है, अर्थात् आगन्तुज में क्षत और अभिघात कारण हैं तथा दोषज में वात, पित्त, कफ और सन्निपात कारण हैं। चौथा बात इनके भेद में यह भी है कि—इनकी सम्प्राप्ति भी भिन्न २ है। इस प्रकार से दोनों विद्रधियां परस्पर भिन्न हैं और भिन्न होने से दोनों ही प्रतिपादनीय हैं, अतः आचार्य ने दोनों का प्रतिपादन पृथक् पृथक् भी कर दिया है। कई टीकाकारों ने 'अन्नपानं, [illegible] आगन्तोः' इत्यादि को [illegible] मानते हैं, किन्तु जेज्जट, गयदास, श्रीकण्ठ आदि टीकाकारों को स्वीकार न होने के कारण यह सम्बद्ध नहीं लगता।

कर्णशोथार्बुदार्शसां लक्षणान्याह—

कर्णशोथार्बुदार्शांसि जानीयादुक्तलक्षणैः ॥१३॥

कर्णशोथ, कर्ण अर्बुद और कर्ण अर्श को पूर्वोक्त शोथ, अर्बुद और अर्श के लक्षणों से जानना चाहिए।

वक्तव्य—इसका भाव यह है कि पहले (शोथनिदान में) वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक और सान्निपातिक शोथ के लक्षण कह दिये गए हैं। अतः कानों में होने वाली वातादिज चतुर्विध शोथ भी उन्हीं लक्षणों से जाननी चाहिए। भेद केवल इतना होगा कि इसमें स्थानिक लक्षण इस स्थान के अनुसार होंगे और वहां स्थानिक लक्षण उस उस स्थान के अनुसार होंगे, किन्तु जो स्थानिक लक्षण उभयत्र हो सकते हैं वे उभयत्र भी होंगे। इसी प्रकार वातज, पित्तज, श्लेष्मज, रक्तज, मांसज, मेदोज और शालाक्योक्त सर्वात्मक अर्बुद के लक्षण उस उस स्थान में कह दिए गए हैं। अतः कानों में होने वाला वातादिज सप्तविध अर्बुद भी उन्हीं लक्षणों वाले होते हैं, अतः उन्हीं लक्षणों से जानने चाहिए। यहां भी भेद यही है कि इसमें स्थानिक लक्षण इस स्थान के अनुसार होंगे और अन्यत्र स्थानिक लक्षण अन्य स्थान के अनुसार होंगे, किन्तु जो स्थानिक लक्षण उभयत्र हो सकते हैं वे उभयत्र होंगे। एवं वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक और सान्निपातिक अर्श के लक्षण पूर्वोक्त अर्शोनिदान में कह दिए हैं। अतः कानों में होने वाली वातादिज चतुर्विध अर्श भी उन्हीं लक्षणों से जाननी चाहिए। पूर्वोक्त अर्श से इस अर्श में भेद केवल इतना होगा कि इसमें स्थानिक लक्षण इस स्थान के अनुसार होंगे और अर्शोधिकारोक्त अर्श में स्थानिक लक्षण उस स्थान (गुदा) के अनुसार होते हैं। परन्तु जो स्थानिक लक्षण यहां और वहां दोनों जगह हो सकते हैं, वे दोनों जगह ही होंगे। ऊपर शोथों में चतुर्थ शोथ सान्निपातिक मानी है, किन्तु यह मन्तव्य डल्हणानुसार है; श्रीकण्ठदत्त तो शोथ का चतुर्थ प्रकार रक्तज मानता है। एवं उपर्युक्त अर्श का चतुर्थ प्रकार भी डल्हणानुसार है। श्रीकण्ठदत्त यहां भी रक्तज अर्श को चतुर्थ प्रकार मानता है। इस प्रकार इसके मत में यहां सन्निपातज और आगन्तुज शोथ तथा सन्निपातज और सहज अर्श होती नहीं। श्रीकण्ठदत्त का यह मन्तव्य सुश्रुतविरुद्ध प्रतीत होता है, क्योंकि कर्ण की तरह उसने (सुश्रुत ने) नासा में भी अर्श और शोथ को चार चार प्रकार का माना है, और वहां उसने 'दोषैस्त्रिभिस्तैः पृथगेकशश्च ब्रूयात्तथार्शांसि तथैव शोफान्' से स्पष्टतः सन्निपातज अर्श तथा सन्निपातज शोथ को दर्शाया है। एवं जो प्रकार वहां का है वही प्रकार यहां का भी है, अतः यहां भी अर्श और शोथ का चतुर्थ प्रकार सन्निपातज ही होना चाहिए। यही भाव डल्हण ने स्वीकार कर कर्णगत अर्श तथा कर्णगत शोथ का चतुर्थ प्रकार सन्निपातज माना है। इस पर श्रीकण्ठ

मत पोषक कहते हैं कि सुश्रुतोक्त प्रकार नासागत में सम्भव है अतः श्रीकण्ठ ने भी नासागत में माना है, किन्तु कर्णगत में असम्भव होने से नहीं माना।

मधु०—इदानीं संख्यापूरणार्थं कर्णगतशोथार्बुदार्शसामतिदेशेन लक्षणमाह—कर्णशोथेत्यादि। कर्णशोथाश्चत्वारो वातपित्तकफरक्तजत्वेन, एवमर्शश्चतुर्विधं, सहजसन्निपातजार्शसोः सन्निपातागन्तुजशोथयोश्चात्रासंभूतिराधारप्रभावात्। अर्बुदं च सप्तविधं वातपित्तकफरक्तमांसमेदःसिरानिमित्तभेदात्; सिराजस्य वातजावरुद्धस्यात्र पृथग्गणनं शालाक्यसिद्धान्तसंवादादिति कार्तिकः। यथा सुश्रुत एव कर्णरोगानन्तरं—"दोषैस्त्रिभिस्तैः पृथगेकशश्च ब्रूयात्तथाऽर्शांसि तथैव शोथान्। शालाक्यसिद्धान्तमवेक्ष्य चापि सर्वात्मकं सप्तममर्बुदं तु—" (सु. उ. तं. अ. २२) इति नासारोगेऽभिधास्यति, तथेहापि युज्यते, तेन रक्तजस्य पित्तसमानलिङ्गत्वात् पित्तजेऽन्तर्भावः, तथाऽऽगन्तुजस्यापि रक्तपित्तलिङ्गत्वात् पित्तज एवान्तर्भावः, तेन शोथः सन्निपातजोऽत्रागणनीयः, एवं सहजरक्तजयोर्दोषज एवान्तर्भावात् सन्निपातजमर्शोऽपृथग्गणनीयम्, अर्बुदं च सन्निपातजं सप्तममिति, एवमेभिः सहाष्टाविंशतिः सुश्रुतोक्ताः कर्णरोगा भवन्ति ॥१३॥

(कर्णशोथ इत्यादि—) वातज, पित्तज, कफज और रक्तजपन से शोथ चार प्रकार की होती है; एवं अर्श भी वातज, पित्तज, कफज तथा रक्तजपन से चार प्रकार की होती है। सहज और सन्निपातज अर्श तथा सन्निपातज और आगन्तुज शोथ की उत्पत्ति यहां आधार के प्रभाव से नहीं होती। वातज, पित्तज, कफज, रक्तज, मांसज, मेदोज और सिरानिमित्तजपन से अर्बुद सात प्रकार का होता है। आचार्य कार्तिक का मन्तव्य है कि यद्यपि सिरानिमित्तज अर्बुद वातजार्बुद में अन्तर्हित हो जाता है, किन्तु फिर भी यहां इसका पृथक् निर्देश शालाक्य सिद्धान्त के अनुसार किया है। जैसे सुश्रुत ही कर्णरोग के निर्देशानन्तर 'तीन दोषों से तीन और सन्निपात से एक, एवं चार प्रकार की अर्श तथा सूजन (शोथ) होता है। एवं शालाक्यतन्त्र के सिद्धान्त को देखकर सर्वात्मक सातवां अर्बुद होता है' यह नासारोग में स्वयं कहेगा। यही प्रकार यहां भी संयुक्त होता है (अर्थात् अर्बुद के विषय में यही प्रकार यहां संयुक्त होता है न कि अर्श तथा शोथ के विषय में भी, क्योंकि इस श्लोक में सुश्रुत ने अर्श और शोथ का चतुर्थ प्रकार सन्निपातज माना है, जो कि श्रीकण्ठ ने यहां नहीं लिया, अतः सुश्रुतोक्त यह प्रकार केवल अर्बुद के विषय में ही लेना चाहिए, अन्यथा श्रीकण्ठ की मधुकोष व्याख्या में स्वोक्ति विरोध दोष आता है) इससे पित्त के समान लक्षण होने से रक्तज (शोथ) का पैत्तिक (शोथ) में अन्तर्भाव तथा रक्त और पित्त के समान लक्षण होने से आगन्तुज (शोथ) का भी पैत्तिक (शोथ) में ही अन्तर्भाव होता है, जिस कारण कि सन्निपातिक शोथ यहां नहीं गिननी चाहिए। एवं सहज और रक्तज अर्श का भी दोषज अर्श में अन्तर्भाव होने से सन्निपातज अर्श पृथक् नहीं गिननी चाहिए। सन्निपातज अर्बुद सातवां होता है, एवं इनके साथ सुश्रुतोक्त २८ कर्णरोग होते हैं।

वक्तव्य—उपर्युक्त 'तेन रक्तजस्य पित्तसमानलिङ्गत्वात्' इत्यादि से 'अर्बुदं च सन्निपातजं' तक मधुकोष व्याख्यान असम्बद्ध प्रतीत होता है। इसमें या तो मेरी बुद्धि काम नहीं करती, या श्रीकण्ठ जी इसके लेखन में सावधान न थे; अथवा प्रकाशक के द्वारा यह पाठ अन्यथा प्रकाशित हो गया है। कुछ भी हो, इन तीनों में से कहीं त्रुटि अवश्य है, क्योंकि संगति नहीं लगती। सुश्रुत 'दोषैस्त्रिभिस्तैः पृथगेकशश्च' इत्यादि के अनुसार शोथ चार प्रकार का होता है। पुनः 'तेन रक्तजस्य [illegible] पित्तजेऽन्तर्भावः' इत्यादि से

पित्त के समान लक्षण वाला होने से रक्तज (शोथ) का पैत्तिक (शोथ) में अन्तर्भाव होता है, इससे रक्तज शोथ कट गया और शेष पाँच रहे। एवं पाँचों में से भी 'तथाऽऽगन्तुजस्यापि रक्तपित्तलिङ्गत्वात् पित्तज एवान्तर्भावः' अर्थात् रक्त और पित्त के समान लक्षणों वाला होने से आगन्तुज (शोथ) का भी पैत्तिक (शोथ) में ही अन्तर्भाव होता है, इससे आगन्तुज शोथ भी कट गया और शेष चार शोथ रहे। अब इसके आगे मधुकोष का पाठ यह है कि—'तेन शोथः सन्निपातजोऽत्रागणनीयः'। अर्थात्—रक्तज और आगन्तुज शोथ का पैत्तिक शोथ में अन्तर्भाव होने के कारण (कट जाने से) सन्निपातज शोथ यहां नहीं गिनना चाहिए। अब यहां देखिए कि सन्निपातज शोथ के न गिनने में हेतु है रक्तज तथा आगन्तुज शोथ का पित्तज में अन्तर्भाव होकर कट जाना। एवं यह हेतु नहीं बन सकता क्योंकि कटा तो रक्तज और आगन्तुज शोथ है और गिना सन्निपातज न जावे यह नहीं बन सकता। जिसका नाश वा लोप वा अन्तर्भाव होता है, अभाव वा अगणना भी उसी की होती है। जैसे यदि ककार का नाश वा लोप अथवा गकार में अन्तर्भाव कर दिया जावे तो अभाव वा अगणना भी ककार की ही होगी, न कि खकार वा जकार की। एवं प्रकृत में भी जब रक्तज और आगन्तुज शोथ का पैत्तिक शोथ में अन्तर्भाव कर दिया है तो अगणना भी रक्तज और आगन्तुज शोथ की ही होगी, न कि सन्निपातज शोथ की। एवं रक्तज तथा आगन्तुज शोथ के अन्तर्भाव करने रूप हेतु से सन्निपातज शोथ की अगणना नहीं बन सकती। इसलिए यहां पर 'तेन शोथः सन्निपातजोऽत्रागणनीयः' में हेतुवाचक 'तेन' शब्द नहीं होना चाहिए और 'शोथः' शब्द के बाद संयोजक 'चकार' का समावेश होना चाहिए। जिससे यह वाक्य बनता है कि 'शोथश्च सन्निपातजोऽत्रागणनीयः'। परन्तु इस प्रकार का पाठ मानने से भी काम नहीं चलता, क्योंकि प्रथम तो यहां 'स्थानप्रभावात्' इस हेतु का अध्याहार करना पड़ेगा, अन्यथा 'शोथश्च सन्निपातजोऽत्रागणनीयः' यह वाक्य निर्हेतुक होने से सम्यक् तथा अर्थ ज्ञापक नहीं हो सकता। दूसरा यहां छः प्रकार की शोथ में से उपर्युक्तानुसार रक्तज और आगन्तुज का पित्तज में अन्तर्भाव करने से शेष चार प्रकार की (शोथ) रह जाती है और सन्निपातज शोथ की भी गणना न करने से तीन प्रकार की रह जाती है। एवं इससे यह सिद्ध होता है कि यहां वातिक, पैत्तिक और श्लैष्मिक यह तीन प्रकार की शोथ होती है, परन्तु यह सिद्धान्त सुश्रुत विरुद्ध होने से अमाननीय है, क्योंकि सुश्रुत में 'शोफश्चापि चतुर्विधः' से शोथ चार प्रकार का माना है। इस प्रकार यहां न तो 'तेन शोथः सन्निपातजोऽत्रागणनीयः' यह पाठ ठीक हो सकता है और न ही 'शोथश्च सन्निपातजोऽत्रागणनीयः' यह पाठ ठीक हो सकता है; क्योंकि इन दोनों पाठों में उपर्युक्त दोष आते हैं। तथा परिवर्तित 'शोथश्च सन्निपातजोऽत्रागणनीयः' अथ यदि 'तेन शोथः सन्निपातजोऽत्रागणनीयः' के स्थान पर 'तेन शोथः सन्निपातजोऽत्र गणनीयः' यह पाठ माना जावे तो उक्त हेतु भी संगत हो जाता है और सुश्रुत से विरोध भी नहीं आता, परन्तु इस प्रकार मानने से श्रीकण्ठ के व्याख्यान में स्वोक्ति विरोध दोष आता है, क्योंकि वह पहले 'कर्णशोथाश्चत्वारो वातपित्तकफरक्तजत्वेन' इस स्ववाक्य से रक्तज को स्वीकार कर चुका है, तथा 'सन्निपातागन्तुजशोथयोरसम्भूतिराधारप्रभावात' से सन्निपातज का खण्डन कर चुका है और अब सन्निपातज की गणना स्वीकार करने से तथा रक्तज को पित्तान्तर्गत मानने से ये दोनों वाक्य खण्डित होते हैं, जिससे कि वदतोव्याघात वा स्वोक्ति विरोध दोष आता है। उपर्युक्त का भाव यह है कि—'तेन शोथः सन्निपातजोऽत्रागणनीयः' में स्थित कारण प्रतिपादक 'तेन' शब्द असङ्गत होता है, क्योंकि रक्तज तथा आगन्तुज शोथ का पैत्तिक शोथ में अन्तर्भाव होना

सान्निपातिक शोथ के अभाव में कारण नहीं बन सकता, अतः यदि दोष की निवृत्ति के लिये हेतुप्रतिपादक 'तेन' शब्द को न मान कर तथा 'शोथ' शब्द के बाद चकार का समावेश कर 'शोथश्च सन्निपातजोऽत्रागणनीयः' यह पाठ माना जावे तो रक्तज, आगन्तुज तथा सन्निपातज इन तीनों शोथों के कट जाने से शेष वातज, पित्तज और श्लेष्मज ये तीन शोथें रह जाती हैं, परन्तु सुश्रुत ने कर्णगत चार शोथें निर्दिष्ट की हैं। एवं इस प्रकार का पाठ मानने से सुश्रुत के साथ विरोध आता है। अब पुनः यह बात आती है कि अच्छा, न 'तेन' शब्द को काटो और न ही शोथ के आगे चकार का प्रयोग कर 'शोथश्च सन्निपातजोऽत्रागणनीयः' यह पाठ मानो, किन्तु 'तेन शोथः सन्निपातजोऽत्र-अगणनीयः' पद 'अ' का लोप करदो। इससे 'तेन शोथः सन्निपातजोऽत्र गणनीयः' यह पाठ बनता है। एवं इस पाठ के बनने से हेतुता भी आ जाती है। चूंकि रक्तज और आगन्तुज का अन्तर्भाव पित्तज में हो जाता है अतः (चतुर्थ शोथ यहां) सन्निपातज जाननी चाहिए। किञ्च इस पाठ को स्वीकार करने से सुश्रुत के साथ विरोध भी नहीं आता। क्योंकि रक्तज और आगन्तुज को पित्तान्तर्गत मानने से तथा सन्निपातज को स्वतन्त्र स्वीकार करने से वातज, पित्तज, श्लेष्मज और सन्निपातज ये चार शोथें बन जाती हैं, जिससे कि सुश्रुतोक्त 'शोफश्चापि चतुर्विधः' से विरोध नहीं आता, प्रत्युत 'दोषैस्त्रिभिस्तैः पृथगेकशश्च' (सु. उ. तं. अ. २२) से एकवाक्यता बन जाती है। यद्यपि यह समाधान ठीक है, क्योंकि इन्हीं बातों को लक्ष्य में रखते हुए डल्हण ने रक्तज तथा आगन्तुज शोथ को पैत्तिक शोथ में लेकर शेष वातज, पित्तज, श्लेष्मज और सन्निपातज इन चार शोथों को स्वीकार किया है, परन्तु यहां यह समाधान वा 'तेन शोथः सन्निपातजोऽत्र गणनीयः' यह पाठ स्वीकार करना भी ठीक नहीं हो सकता, क्योंकि इस प्रकार को स्वीकार करने से श्रीकण्ठ को वातज, पित्तज, श्लेष्मज और सन्निपातज रूप चतुर्विध शोथ माननी पड़ती है। यदि यह मान ली जावे तो श्रीकण्ठ का अपना वचन अपने वचन से ही खण्डित होता है, क्योंकि पूर्व श्रीकण्ठदत्त जी 'कर्णशोथाश्चत्वारो वातपित्तकफरक्तजत्वेन' इस पाठ से रक्तज को स्वीकार तथा 'सन्निपातागन्तुजशोथयोश्चात्रासम्भूतिराधारप्रभावात्' इस पाठ से सन्निपातज को खण्डित कर चुके हैं और अब उन्हें रक्तज की अस्वीकृति तथा सन्निपात को स्वीकृति करनी पड़ती है, जो कि पूर्वकथित अपने मत से विरुद्ध होती है। एवं किसी भी प्रकार से उपर्युक्त व्याख्यान की सङ्गति नहीं होती, अतएव यहां यह व्याख्यान असङ्गत प्रतीत होता है। अब इसके आगे मधुकोष का यह पाठ है कि—'एवं सहजरक्तजयोर्दोषज एवान्तर्भावात् सन्निपातजमर्शोऽपृथग्गणनीयम्'। इसका अर्थ यह है कि पूर्वोक्तानुसार सहज अर्श तथा रक्तज अर्श का दोषज अर्श में ही अन्तर्भाव होने से सन्निपातज अर्श पृथक् नहीं गिननी चाहिए। यहां पूर्ववत् की तरह सङ्गति नहीं बनती। तथाहि—एक तो इस प्रकार के पाठ को स्वीकार करने से 'अर्शांसि षडाकाराणि' इस शास्त्र द्वारा प्रतिपादित छः अर्शों में से सहज और रक्तज का दोषज में अन्तर्भाव हो जाने पर शेष चार रह जाती हैं। एवं सन्निपातज के भी न गिनने से शेष वातिक, पैत्तिक और श्लैष्मिक ये तीन प्रकार की अर्श रह जाती है। इस प्रकार (तीन प्रकार की अर्श अवशिष्ट रहने से) सुश्रुतोक्त 'षडर्शांसि' [illegible] से विरोध आता है। दूसरी बात यह है कि 'सहज और रक्तज अर्श का दोषज में अन्तर्भाव होने से सन्निपातज अर्श की गणना नहीं करनी चाहिए' की सङ्गति नहीं होती क्योंकि 'सन्निपातज अर्श की गणना नहीं करनी चाहिए' के लिए 'सहज और रक्तज अर्श का दोषज में अन्तर्भाव होने से' यह हेतु दिया है, किन्तु नहीं बन सकता; कारण कि [illegible], दोषज का अन्तर्भाव होता है;

अगणना भी उसी की होती है, न कि किसी दूसरे की। एवं यहां अन्तर्भाव सहज और रक्तज अर्श का है, अतः अभाव भी इसी का होना चाहिए न कि सन्निपातज का। यदि यहां 'एवं सहजरक्तजयोर्दोषज एवान्तर्भावः सन्निपातजमर्शश्चागणनीयं' यह पाठ माना जावे तो शेष त्रिविध अर्श रहने से सुश्रुतोक्त 'तथैवार्शश्चतुर्विधम्' से विरोध आता है। और यदि 'एवं सहजरक्तजयोर्दोषज एवान्तर्भावात् सन्निपातजमर्शः पृथग् गणनीयम्' यह पाठ माना जावे तो यद्यपि उपर्युक्त दोष नहीं आते और हेतुता भी बन जाती है, परन्तु श्रीकण्ठदत्त की स्वोक्ति में विरोध आता है, क्योंकि हमने पूर्व 'कर्णशोथाश्चत्वारो वातपित्तकफरक्तजत्वेन, एवमर्शश्चतुर्विधम्' इस पाठ से रक्तज अर्श को स्वीकार किया है और 'सहजसन्निपातजार्शसो...रसम्भूतिराधारप्रभावात्' इस पाठ से सहज तथा सन्निपातज अर्श को खण्डित किया है। एवं यहां पर रक्तज को अस्वीकार तथा सन्निपातज को स्वीकार करने से स्वोक्ति विरोध दोष आता है। इस तरह इस व्याख्या की सङ्गति किसी तरह भी न होने से यह असम्बद्ध प्रतीत होती है। यदि 'तेन रक्तजस्य पित्तसमानलिङ्गत्वात् पित्तजेऽन्तर्भावः, तथाऽऽगन्तुजस्यापि रक्तपित्तलिङ्गत्वात पित्तज एवान्तर्भावः, तेन शोथः सन्निपातजोऽत्र गणनीयः, एवं सहजरक्तजयोर्दोषज एवान्तर्भावात सन्निपातजमर्शः पृथग् गणनीयम्' यह पाठ स्वीकार कर इस नासारोगपरक माना जावे तो उपर्युक्त दोष नहीं आते; क्योंकि नासारोग में श्रीकण्ठदत्त ने शोथ और अर्श को 'दोषैस्त्रिभिस्तैः पृथगेकशश्च' के अनुसार माना है। एवं पाठ परिवर्तन तथा इस व्याख्यान को नासारोगपरक मानने से यद्यपि उक्त दोष नहीं आते परन्तु पूर्वोक्त 'तथेहापि युज्यते' इस पाठ से विरोध आता है, क्योंकि यह (तथेहापि युज्यते) वाक्य इस व्याख्या को कर्णरोगविषयक बताता है। एवं इस व्याख्या की संगति यहां नहीं होती।

कर्णरोगाणां वातजादिभेदेन लक्षणान्याह—

नादोऽतिरुक् कर्णमलस्य शोषः
स्रावस्तनुश्चाश्रवणं च वातात्।

वायुदोष के कारण होने वाले कर्णरोग में नाद (शब्द), अत्यन्त पीड़ा, कर्णगूथ का सूखना, अल्पस्राव और सुनाई न देना ये लक्षण होते हैं।

वक्तव्य—भाव यह है कि जिस कर्णरोग में (कानों में) अव्यक्त शब्द सुनाई दे वा (कानों में) अव्यक्त शब्द हो, पीड़ा अधिक हो, कान की मैल सूख जावे, स्राव स्वल्प हो तथा सुनाई न देवे उसे वातिक कर्णरोग जानना चाहिए। अब यहां यह शङ्का उपस्थित होती है कि सुश्रुत में अट्ठाईस कर्णरोग माने हैं, जो कि माधव ने कर्णशूल से लेकर चतुर्विध अर्शान्त तक में बता दिए हैं। एवं अब इन वातादिज कर्णरोगों की भी गणना करने से सुश्रुत की उक्त संख्या में वृद्धि आ जाती है, जिससे कि उसकी 'एते कर्णगता रोगा अष्टाविंशतिरीरिताः' यह उक्ति खण्डित होती है। इसका उत्तर यह है कि विकार असंख्येय एवं बहुविध होते हैं। उनमें से जिसके अनुभव में जो विकार आए उसने उन्हीं का निर्देश अपने २ ग्रन्थ में किया है। कहीं २ जो विकार किसी आचार्य ने माना है उसी विकार को दूसरे आचार्य ने किसी दूसरे विकार में ले लिया है। यही न्याय यहां भी है। सुश्रुत ने अट्ठाईस कर्णरोग रुजा वर्ण

और समुत्थान आदि को लेकर माने हैं, किन्तु चरक ने दोषानुसार ही चार रोग स्वीकार किए हैं। बात एक ही है। चरक ने दोषानुसार स्वीकृत चार रोगों में सुश्रुतोक्त सभी रोगों का अन्तर्भाव कर लिया है और सुश्रुत ने चरकोक्त दोषानुसार चतुर्विध रोगों का विस्तार कर अट्ठाईस लिखे हैं। अन्तर कोई नहीं, अतः परस्पर विरोध नहीं है। किञ्च अपने तन्त्र में तन्त्रकार स्वतन्त्र होता है, अतः वह उसमें स्वमतानुसार विषय संस्थापित करता है। एवं सुश्रुत ने स्वतन्त्र में अपने स्वतन्त्र विचारानुसार अठाईस और चरक ने स्वतन्त्र में अपने स्वतन्त्र विचारानुसार चार कर्णरोग माने हैं। परन्तु यह ग्रन्थ संग्रहरूप होने से यहां दोनों का संग्रह किया है, अतः यहां वह दोष नहीं आता और न ही चरक वा सुश्रुत में वह दोष आता है, क्योंकि सुश्रुतोक्त अट्ठाईस विकार चरक ने तथा चरकोक्त चार विकार सुश्रुत ने पृथक् नहीं माने। अथ च यहां स्मृति द्वैध की तरह दोनों मत प्रमाणित हैं।

शोथः सरागो दरणं विदाहः
सपीतपूतिस्रवणं च पित्तात् ॥१४॥ [च० ६।२६]

पित्तदोष के कारण होने वाले कर्णरोग में सूजन, लालिमा, विदारण (फटना सा), जलन, तथा पीतवर्ण के दुर्गन्धित स्राव का स्रवण होता है।

वक्तव्य—भाव यह है कि—शोथ, रक्तवर्णता, फटना, दाह और पीत एवं दुर्गन्धित स्राव निस्सरण पैत्तिक कर्णरोग में होते हैं, अर्थात् शोथ आदि पित्तज कर्णरोग के लक्षण हैं।

वैश्रुत्यकण्डूस्थिरशोथशुक्ल-
स्निग्धस्रुतिः स्वल्परुजः कफाच्च।

कफ नामक दोष के कारण होने वाले कर्णरोग में शब्द ठीक सुनाई नहीं देता (अर्थात् उलटा सुनाई देता है), कानों में खुजली होती है, सूजन निश्चल (एक सी वा एकत्र) होती है, स्राव श्वेत तथा स्निग्ध होता है, एवं पीड़ा कम होती है। भाव यह है कि विश्रुतता आदि लक्षण जिस कर्णरोग में हों, वह कर्णरोग श्लैष्मिक कर्णरोग जानना चाहिए।

सर्वाणि रूपाणि च सन्निपातात्
स्रावश्च तत्राधिकदोषवर्णः ॥१५॥ [च० ६।२६]

सन्निपात के कारण होने वाले कर्णरोग में वातादिक सभी दोषों के लक्षण होते हैं, तथा इसमें स्राव दोष की अधिकतानुसार वर्ण वाला होता है।

वक्तव्य—भाव यह है कि जो कर्णरोग तीनों दोषों के कारण होता है, उसमें तीनों दोषों के लक्षण होते हैं और उस त्रिदोषज रोग अर्थात् सन्निपातज रोग में भी जिस दोष की अधिकता होती है, उसी दोष के वर्ण वाला स्राव

निकलता है। अर्थात् यदि सन्निपात में भी पित्त प्रधान होगा तो स्राव पीतवर्ण का, यदि कफ प्रधान होगा तो श्वेतवर्ण का और यदि वातप्रधान होगा तो अरुणवर्ण का होता है।

मधु०—इदानीं चरकोक्तं कर्णरोगचतुष्टयं वातपित्तकफसन्निपातजभेदादाह—नादोऽतिरुगित्यादि। अश्रवणमिति अशब्दश्रुतिः वैश्रुत्यमिति विरुद्धश्रवणम् ॥१४-१५॥

इदानीम् इत्यादि की भाषा सुगम है।

परिपाटकस्य लक्षणमाह—

सौकुमार्याच्चिरोत्सृष्टे सहसाऽतिप्रवर्धिते।
कर्णशोथो भवेत् पाल्यां सरुजः परिपोटवान्।
कृष्णारुणनिभः स्तब्धः स वातात् परिपोटकः ॥१६॥

कान की बहुत काल तक उपेक्षा करने के अनन्तर एकदम अधिक बढ़ा देने पर सुकुमारता के कारण कर्णपाली में सूजन हो जाती है, जिसमें कि पीड़ा, परिपोटन (त्वचा का जरा सा फटना), कृष्णवर्णता वा अरुणवर्णता तथा निश्चलता होती है। यह रोग वायु दोष के प्रकोप से होता है और इसे परिपोटक कहा जाता है।

वक्तव्य—सुकुमारता के कारण स्वयमेव बढ़ने के लिए छोड़े हुए कान के अपने आप न बढ़ने पर उपायों द्वारा एकदम बहुत बढ़ा देने से कर्णपाली में शोथ हो जाता है। जिसमें कि पीड़ा, परिपोटन, कृष्णता, अरुणता तथा स्तब्धता होती है। यह रोग वात के कारण होता है और इसका नाम परिपोटक है।

मधु०—कर्णावयवत्वात् कर्णपाल्यास्तद्विकारानाह—सौकुमार्यादित्यादि। सौकुमार्याद्धेतोश्चिरं वर्धनेन त्यक्ते सहसा च वर्धयितुमारब्धे कर्णे शोथः, परिपोटवान् मनाक्त्वगवदरणवानित्यर्थः ॥१६॥

कर्णावयवत्वात् इत्यादि की भाषा स्पष्ट ही है।

उत्पातस्य स्वरूपमाह—

गुर्वाभरणसंयोगात् ताडनाद्धर्षणादपि।
शोथः पाल्यां भवेच्छ्यावो दाहपाकरुजान्वितः ॥१७॥
रक्तो वा रक्तपित्ताभ्यामुत्पातः स गदो मतः।

भारी भूषण के पहनने से वा ताड़न से अथवा घर्षण से कर्णपाली में सूजन हो जाती है, जो कि श्याववर्ण, दाहयुक्त, पाकान्वित, पीड़ा वाली वा लालवर्ण की होती है। यह रोग रक्त और पित्त के कारण होता है तथा इसका नाम उत्पात है। भाव यह है कि कर्णपाली में भारी भूषणों के धारण आदि कारणों से श्याव आदि लक्षणों वाला शोथ हो जाता है, जिसमें कि रक्तपित्त की प्रधानता होती है। इसका नाम उत्पात है।

मधु०—उत्पातलक्षणमाह—गुर्वित्यादि श्यावत्वं व्याधिप्रभावात, पित्तरक्तयोः श्यावत्वाजनकत्वात, किंवा वातानुबन्धादत्र श्यावत्वम् ॥१७॥

उत्पातलक्षणमाह इत्यादि की भाषा सुगम है।

उन्मन्थकस्य निदानसंप्राप्तिपूर्वकं लक्षणमाह—

कर्णं बलाद्वर्धयतः पाल्यां वायुः प्रकुप्यति ॥१८॥
कफं संगृह्य कुरुते शोथं स्तब्धमवेदनम्।
उन्मन्थकः सकण्डूको विकारः कफवातजः ॥१९॥

बलपूर्वक कान को बढ़ाते हुए मनुष्य की कर्णपाली में वायु प्रकुपित होकर कफ को साथ ले निश्चल एवं पीड़ा रहित शोथ को उत्पन्न कर देती है। वात और कफ से होने वाला यह विकार उन्मन्थक नामक होता है, जिसमें कि खुजली होती है।

वक्तव्य—भाव यह है कि बलपूर्वक कान को बढ़ाने से मनुष्य की कर्णपाली में वायु प्रकुपित हो जाती है और तदनु वह प्रकुपित वायु कफ को साथ लेकर कर्णपाली में स्थिर एवं पीड़ा रहित सूजन कर देती है। इस कफ और वात के कारण होने वाले सूजन रूप विकार को उन्मन्थक कहा जाता है तथा इसमें लक्षणरूप से खुजली होती है।

संवर्ध्यमाने दुर्विद्धे कण्डूपाकरुजान्वितः।
शोथो भवति पाकश्च त्रिदोषो दुःखवर्धनः ॥२०॥

भली प्रकार बढ़ाए जा रहे हुए कान के दैवकृत छिद्र के स्थान को छोड़ कर विध जाने पर खुजली, पाक और पीड़ा वाला शोथ उत्पन्न हो जाता है। इसमें पाक त्रिदोषज होता है। इस रोग का नाम दुःखवर्धन है।

वक्तव्य—कई टीकाकार 'संवर्ध्यमाने' के स्थान पर 'संवर्धमाने' यह पाठान्तर मान कर इस प्रकार टीका करते हैं कि—दैवकृत छिद्र को छोड़कर विधे हुए वेधन के बढ़ जाने पर कर्णपाली में कण्डू, पाक और पीड़ा वाला शोथ उत्पन्न हो जाता है तथा यह शोथ त्रिदोषज होता है। इस रोग का नाम दुःखवर्धन है।

मधु०—उन्मन्थकमाह—कर्णमित्यादि। स्तब्धत्वं वातकृतं, कण्डूः कफात्, इति वातकफलिङ्गम् ॥१८-२०॥

उन्मन्थकमाह आदि की भाषा सुगम है।

परिलेहिनो लक्षणमाह—

कफासृक्कृमयः क्रुद्धाः सर्षपाभा विसर्पिणः।
कुर्वन्ति पाल्यां पिडकाः कण्डूदाहरुजान्विताः ॥२१॥
कफासृक्कृमिसंभूतः स विसर्पन्नितस्ततः।
लिह्यात् सशष्कुलीं पालीं परिलेहीति स स्मृतः ॥२२॥

[illegible]

सरसों के दानों के बराबर प्रमाण वाले, विसर्पणशील (इधर उधर फिरने वाले), कफ और रक्त के क्रिमि क्रुद्ध होकर कर्णपाली में खुजली, जलन और पीड़ा वाली पिडकाओं को उत्पन्न कर देते हैं। तदनु कफ और रक्त के क्रमियों से उत्पन्न हुआ २ तथा इधर उधर फैलता हुआ वह विकार कर्णशष्कुली-युक्त कर्णपाली को चाट लेता है (अर्थात्—जैसे चाटने से मांस के घिस जाने पर स्थान मांस रहित हो जाता है, उसी प्रकार कर्णपाली भी हो जाती है)। यह रोग परिलेही नाम से प्रसिद्ध है।

मधु०—परिलेहिनमाह—कफासृगित्यादि। स विसर्पन्निति स इति पिडकात्मको विकारः; 'विसर्पान्वितः' इति पाठान्तरे विसर्पेणान्वितः। लिहेदिति निर्मांसीं करोति, आच्छादयेद्वा ॥२१-२२॥

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायां कर्णरोगनिदानं समाप्तम् ॥५७॥

परिलेहिनमाह इत्यादि की भाषा सुगम है।

अथ नासारोगनिदानम्।

अपीनसस्य स्वरूपमाह—

आनह्यते यस्य विशुष्यते च
प्रक्लिद्यते धूप्यति चापि नासा।
न वेत्ति यो गन्धरसांश्च जन्तु-
र्जुष्टं व्यवस्येत्तमपीनसेन।
तं चानिलश्लेष्मभवं विकारं
ब्रूयात् प्रतिश्यायसमानलिङ्गम् ॥१॥ [च० ६।२६]

जिस मनुष्य की नासिका वात द्वारा वा पित्त द्वारा शोषित कफ से आबद्ध सी होती है तथा जिसकी नासिका शुष्क सी होती है एवं जिसकी नासिका क्लिन्न और धूपित सी होती है उसे तथा जो मनुष्य अच्छे वा बुरे गन्ध को और अच्छे वा बुरे रस को नहीं जान सकता, उसे अपीनस रोग से ग्रस्त जानना चाहिए। उस वातश्लेष्मोत्पन्न विकार को प्रतिश्याय के समान लक्षणों वाला कहना चाहिए।

वक्तव्य—इन्द्रियों के अधिष्ठानों में होने वाले विकारों का प्रसङ्ग होने से तथा शालाक्य तन्त्र का विवरण प्रसङ्ग होने से अब घ्राणेन्द्रिय की अधिष्ठानभूत नासा में होने वाले रोगों का विवरण आचार्य माधव करते हैं। उनमें से सर्व प्रथम अपीनस नामक रोग का निर्देश है, तदनु च अवशिष्ट नासागत रोगों का। नासागत रोग विदेह, सुश्रुतादि आचार्यों ने इकत्तीस स्वीकार किए हैं। जैसे सुश्रुत ने कहा भी है कि—'अपीनसः पूतिनस्यं (पूतिनासः) नासा पाकस्तथैव च। तथा शोणित-पित्तञ्च पूयशोणितमेव च। क्षवथुर्भ्रंशथुर्दीप्तो नासानाहः परिस्रवः ॥ नासाशोषेण

सहिता दशैकाश्चेरिता गदाः ॥ चत्वार्यर्शांसि चत्वारः शोफाः सप्तार्बुदानि च । प्रतिश्यायाश्च ये पञ्च वक्ष्यन्ते सचिकित्सिताः । एकत्रिंशन्मितास्ते तु नासारोगाः प्रकीर्तिताः' (सु. उ. तं. अ. २२) । यहां कई आचार्य सुश्रुतोक्त 'अपीनसः' इत्यादि श्लोक के स्थान में 'अपीनसः पूतिपाकौ पित्तासृक् पूयशोणितौ' पाठान्तर में यह अर्धश्लोक मान कर उक्त नासारोग प्रतिपादक साढ़े तीन (३॥) श्लोकों के स्थान पर तीन श्लोक ही मानते हैं । एवं उपर्युक्त श्लोकों का अर्थ यह है कि—१ अपीनस, २ पूतिनस्य, ३ नासापाक, ४ शोणितपित्त, ५ पूयशोणित, ६ छिका, ७ भ्रंशथु, ८ दीप्त ९ नासानाह और १० नासापरिस्राव ये विकार नासाशोष के साथ मिल ग्यारह की संख्या में होते हैं । एवं वात, पित्त, कफ और सन्निपात इन चारों से होने वाली चार प्रकार की अर्श तथा सूजन, एवं वातज, पित्तज, कफज, रक्तज, मांसज, मेदोज और सर्वात्मक यह सात प्रकार का अर्बुद तथा वातज, पित्तज, कफज, सन्निपातज और रक्तज यह पाँच प्रकार का प्रतिश्याय, (एवं) ये सभी मिल कर इकत्तीस नासारोग होते हैं । यहां यद्यपि रोगों के निर्देश से ही गणना आ जाती है, किन्तु फिर भी इसका स्पष्ट निर्देश इसलिए किया गया है कि जिससे भ्रान्ति न रहे और विदेहोक्त संख्या से अधिकता न आवे । 'न वेत्ति यो गन्धरसांश्च जन्तुः' में कई आचार्य गत्यर्थक रसधातु से सिद्ध रस शब्द को मान कर इसका अर्थ 'ज्ञान' करते हैं, क्योंकि गति शब्द का अर्थ ज्ञान, गमन और प्राप्ति होता है । अतएव यहां पर विवक्षानुसार रस का अर्थ 'ज्ञान' लिया जाता है । एवं इस प्रकार अर्थ होता है कि जो मनुष्य गन्ध के ज्ञान को नहीं जानता उसे पीनस रोग से ग्रस्त जानना चाहिए ।

मधु०—इन्द्रियाधिकरणविकाराधिकारान्नासारोगनिदानम् । तत्रादावपीनसमाह—आनह्यत इत्यादि । आनह्यत इवावनह्यते, वातशोषितकफेन । प्रक्लिद्यते आर्द्रीभवति । धूप्यतीति सन्तापमनुभवति, दिवादेराकृतिगणत्वात् धूप्यतीति रूपम् । गन्धरसानिति गन्धान् सुरभ्यसुरभीन्, आवृतत्वेन नासायाः; नासारोगारम्भकदोषेण रसनाया अपि दुष्टेः रसान् मधुरादींश्च नैति । तं चानिलश्लेष्मभवमिति वातकफजम् । ननु, अन्यत्र पित्तकफजोऽप्यपीनसः पठ्यते, तद्यथा—"मस्तुलुङ्गोपमितः श्लेष्मा यदा पित्ताद्विदह्यते । तदाऽस्य पिच्छिलं नासा बहुसिंहाणकं स्रवेत् ॥ सकण्डूदाहपाकं च तं तु विद्यादपीनसम्" इति, तत् कथं न विरोधः ? नैवं, [illegible] तथाभाव इति वार्तिकः । तन्त्रान्तरप्रत्ययात् [illegible] बोद्धव्य इत्यर्थः । [illegible] 'अनलश्लेष्मभवम्' इति पठित्वा श्लेष्मपित्तजमेवाह इत्याह । [illegible] [illegible] ॥१॥

'आनह्यते' का अर्थ नासा का मार्ग इस शोषित कफ से आबद्ध होना है । (ननु—) अब यहां पर शङ्का होती है कि इस स्थान पर इस विकार को वातकफज माना है, परन्तु अन्यत्र पर पित्तकफज तथा सन्निपातज माना गया है । जैसे कहा भी है कि—'मस्तुलुङ्ग की तरह आकृति वाला श्लेष्मा जब पित्त से विदग्ध हो जाता है तब

नासा रक्तवर्ण के पिच्छिल, एवं बहुत से सिंहाणक को स्रवित करता है । इस कण्डू, दाह तथा पाक वाले रोग को अपीनस जानना चाहिए' । एवं यहां विरोध क्यों नहीं है ? इस पर श्रीकण्ठ जी आचार्य कार्तिक का समाधानपरक मन्तव्य दिखाते हैं कि यहां विरोध नहीं है क्योंकि सम्प्राप्ति की विशेषता के कारण यह वैसा नहीं है। तन्त्रान्तर में प्रतिपादित होने के कारण यहां पित्त के साथ सम्बन्ध तथा लक्षण विशेष का होना जान लेना चाहिए। आचार्य गदाधर तो 'मस्तुलुङ्गोचितः' इत्यादि के साथ एकवाक्यता बनाने के लिए 'अनिलश्लेष्मभवं' के स्थान में 'अनलश्लेष्मभवं' यह पाठ स्वीकार कर इसे श्लेष्मपित्तज ही स्वीकार करता है। 'प्रतिश्यायसमानलिङ्गं' का अर्थ कफवातज प्रतिश्याय के समान लक्षणों वाला है।

पूतिनस्यं लक्षयति—

दोषैर्विदग्धैर्गलतालुमूले
संमूर्च्छितो यस्य समीरणस्तु ।
निरेति पूतिर्मुखनासिकाभ्यां
तं पूतिनस्यं प्रवदन्ति रोगम् ॥२॥ [सु० ६।२२]

जिसके गले और तालुमूल में स्थित वायु मूर्च्छित कफ, पित्त और रक्त द्वारा दूषित हुआ २ दुर्गन्धि वाला होकर मुख और नासिका से निकलता है, उसे विद्वान् वैद्य पूतिनस्य नामक रोग कहते हैं ।

वक्तव्य—भाव यह है कि पूतिनस्य नामक रोग में मूर्च्छित पित्त, कफ और रक्त द्वारा मूर्च्छित हुआ २ गलस्थ तथा तालुमूलस्थ वायु दुर्गन्धि युक्त होकर मुख तथा नासिका द्वारा निकलता है।

मधु०—पूतिनस्यमाह—दोषैरित्यादि । दोषैरिति पित्तकफरक्तैः, रक्तस्यापि दोषतुल्यरूपत्वाद्दोषत्वम् । विदग्धैरिति पित्तश्लेष्मणोः सरक्तयोरूष्मणा विरुद्धलवणाम्लरसपाकेन पूतिभावमापन्नैः । संमूर्च्छित इति उच्छ्रायं नीतः । निरेतीति समीरण एव, अन्यस्य कर्तृपदस्याभावात् । तं पूतिनस्यमिति नासिकाभवो नस्यः, पूतिर्नस्यो वायुर्यत्र तं पूतिनस्यम । इहैव विदेहः—"कफपित्तमसृङ्मिश्रं संचितं मूर्ध्नि देहिनाम् । विदग्धमूष्मणा गाढं रुजां कृत्वाऽक्षिशङ्खजाम् ॥ ततः प्रस्यन्दते घ्राणात् सरक्तं पूतिपीतकम् । पूतिनस्यं तु तं विद्याद् घ्राणकण्डूज्वरप्रदम्" इति ॥२॥

पूतिनस्य इत्यादि की भाषा सुगम है ।

नासापाकस्य लक्षणमवतारयति—

घ्राणाश्रितं पित्तमरूंषि कुर्याद्
यस्मिन् विकारे बलवांश्च पाकः ।
तं नासिकापाकमिति व्यवस्येद्
विक्लेदकोथावथवाऽपि यत्र ॥३॥ [सु० ६।२२]

जिस विकार में घ्राणाश्रित पित्त व्रण उत्पन्न कर देता है और जिसमें पाक बलवान् होता है, एवं जिसमें क्लिन्नता तथा कोथ होता है, उसे नासापाक नामक रोग कहना वा जानना चाहिए ।

मधु०—नासापाकमाह—घ्राणाश्रितमित्यादि । अर्हंपीति मणान् । यस्मिन् विकार इति यस्यां विकृतौ सत्याम् । व्यवस्येत जानीयात् विक्लेद आर्द्रता। कोथः पूतिभावः ॥३॥

नासापाकमाह इत्यादि की भाषा सरल है ।

पूयरक्तस्य लक्षणमाह—

दोषैर्विदग्धैरथवाऽपि जन्तो-
र्ललाटदेशेऽभिहतस्य तैस्तैः ।
नासा स्रवेत् पूयमसृग्विमिश्रं
तं पूयरक्तं प्रवदन्ति रोगम् ॥४॥ [सु० ६।२२]

उच्छ्रित वात आदि दोषों से अभिहत मनुष्य की अथवा प्रहार पीड़न आदि से अभिहत मनुष्य की नासिका रक्तमिश्रित पूय को स्रवित करती है। इस रोग को विद्वान् वैद्य पूयरक्त कहते हैं ।

वक्तव्य—पूयरक्त दो प्रकार का होता है—एक दोषज और दूसरा आगन्तुज । आचार्य माधव ने सुश्रुत से उद्धृत इस श्लोक में उक्त दोनों प्रकार का पूयरक्त बता दिया है । तद्यथा—'दोषैर्विदग्धैः' से दोषज पूयरक्त कहा है और 'ललाटदेशेऽभिहतस्य तैस्तैः' से आगन्तुज पूयरक्त कहा है ।

मधु०—दोषागन्तुजं पूयरक्तमाह—दोषैरित्यादि । विदग्धैरिति पित्तरक्ताधिक्याद्विदग्धैः परिणतिं प्राप्तैः, ललाटाभिघातेन वा पाकं प्राप्तैः तैस्तैरिति प्रहारपीडनादिभिः ॥४॥

दोषागन्तुजं पूयरक्तमाह इत्यादि की भाषा सरल है ।

दोषजस्य क्षवथोः स्वरूपमाह—

घ्राणाश्रिते मर्मणि संप्रदुष्टो
यस्यानिलो नासिकया निरेति ।
कफानुजातो बहुशोऽतिशब्द-
स्तं रोगमाहुः क्षवथुं विधिज्ञाः ॥५॥ [सु० ६।२२]

प्रायः कफ को आगे कर या प्रायः कफ के साथ में अत्यन्त शब्द करता हुआ, एवं घ्राणाश्रित मर्म में प्रदुष्ट वायु बड़े वेग से जिस मनुष्य की नासिका से निकलता है, उस मनुष्य में होने वाले इस रोग को विज्ञ वैद्य क्षवथु कहते हैं ।

मधु०—क्षवथुर्दोषजागन्तुभेदाद् द्विविधो भवति; तत्र दोषजं प्रागाह—घ्राणाश्रित इत्यादि । मर्मणीति शृङ्गाटके, 'कफानुजातो' इति पाठान्तरे कफानुगतः, 'बहुशोऽतिशब्दः सन्' इति शेषः ॥५॥

क्षवथु (छींक) दोष तथा आगन्तुज कारणों से दो प्रकार की होती है । इनमें से पहले आचार्य माधव दोषज को कहते हैं कि 'घ्राणाश्रिते' इत्यादि ।

आगन्तुक्षवथोः स्वरूपमाह—

तीक्ष्णोपयोगादतिजिघ्रतो वा
भावान् कटूनर्कनिरीक्षणाद्वा ।

सूत्रादिभिर्वा तरुणास्थिमर्म-
ण्युद्घाटितेऽन्यः क्षवथुर्निरेति ॥६॥ [सु० ६।२२]

राई आदि तीक्ष्ण द्रव्यों के उपयोग से (खाने से), कटु पदार्थों के अत्यधिक सूंघने से, सूर्य की ओर देखने से अथवा मूत्रादिक द्वारा तरुण अस्थि के मर्म को (शृङ्गाटक नामक मर्म को) छेड़ने से दूसरी (आगन्तुज) क्षवथु होती है।

मधु०—आगन्तुजमाह—तीक्ष्णोपयोगादित्यादि ।—तीक्ष्णोपयोगाद्राजिकादितीक्ष्ण-द्रव्यभक्षणात्। भावान् कटूनिति कटूनि द्रव्याणि। अभिजिघ्रतो भृशं जिघ्रतः। अर्कनिरीक्षणाद्वा कफविलयनकरात्। तरुणास्थिमर्मणीति तरुणास्थि नासावंशास्थि तदेव मर्म तस्मिन् फणा-मर्मणीत्यर्थः, अभिघातादिना मर्मव्यथाजनकत्वात्; अथवा तरुणास्थ्नि च मर्मणि च शृङ्गाटके, द्वन्द्वैकवद्भावनिर्देशात्। उद्घाटिते चालिते। अन्य आगन्तुजः ॥६॥

आगन्तुजमाह इत्यादि की भाषा सरल है।

भ्रंशथुं लक्षयति—

प्रभ्रश्यते नासिकया तु यस्य
सान्द्रो विदग्धो लवणः कफस्तु।
प्राक्संचितो मूर्धनि सूर्यतप्त-
स्तं भ्रंशथुं रोगमुदाहरन्ति ॥७॥ [सु० ६।२२]

पूर्व ही सिर में सञ्चित हुआ २ घन तथा विदग्ध एवं नमकीन श्लेष्मा सूर्य के तापसे सन्तप्त होकर जिस मनुष्य की नासिका द्वारा गिरता है, वैद्य उसे भ्रंशथु नामक रोग कहते हैं।

मधु०—भ्रंशथुमाह— प्रभ्रश्यत इत्यादि। प्रभ्रश्यते गलति। विदग्धो लवण इति स्वरूपाख्यानं; विदग्धत्वादेव कफस्य लवणत्वसिद्धेः। प्राक्संचित इत्यनेन संचयपूर्वकं कोपं दर्शयति, हेतुभूयस्त्वेन चयमन्तरेणापि कोपदर्शनात्। यदुक्तम्—"न केवलं चयं प्राप्य दोषाः कुप्यन्ति देहिनाम्। अन्यतोऽपि हि कुप्यन्ति हेतुबाहुल्यतो बलात्" इति ॥७॥

('प्राक्संचितः' इत्यादि—) 'प्राक्सञ्चितः' यह कहने से सञ्चयपूर्वक प्रकोप आता है। क्योंकि हेतुओं की अधिकता होने से सञ्चय के बिना भी प्रकोप हो जाता है (अतः यहां 'प्राक् सञ्चितः' का निर्देश किया है, जिससे कि सञ्चयपूर्वक प्रकोप सिद्ध हो)। जैसे कहा भी है कि—मनुष्यों में दोष केवल सञ्चित होकर ही नहीं प्रकुपित होते, प्रत्युत दूसरे कारणों से तथा हेतुओं की अधिकता से भी खूब प्रकुपित होते हैं।

दीप्तस्वरूपं निर्दिशति—

घ्राणे भृशं दाहसमन्विते तु
विनिःसरेद् धूम इवेह वायुः।
नासा प्रदीप्तेव च यस्य जन्तो-
र्व्याधिं तु तं दीप्तमुदाहरन्ति ॥८॥ [सु० ६।२२]

जिस मनुष्य की दाहयुक्त नासिका से धूम की तरह श्वास वायु निकलता है, तथा जिस मनुष्य की नासिका जलती हुई सी प्रतीत होती है उसे होने वाली इस व्याधि को योग्य वैद्य दीप्त नाम से कहते हैं ।

वक्तव्य—इसी दीप्त नामक रोग का लक्षण विदेहतन्त्र में इस प्रकार पढ़ा है । तद्यथा—'धूमायते यदा नासा चलन् कृष्यति दीप्यते । निश्वरेत्तम उच्छ्वासस्तं व्याधिं दीप्तमादिशेत्' ॥

मधु०—दीप्तमाह—घ्राणे भृशमित्यादि । प्रदीप्तेवेति प्रज्वलितेव ॥८॥

दीप्तमाह इत्यादि स्पष्ट ही है ।

प्रतीनाहस्वरूपमाह—

उच्छ्वासमार्गं तु कफः सवातो
रुन्ध्यात् प्रतीनाहमुदाहरेत्तम् ।

जिस रोग में वायु से युक्त कफ उच्छ्वास के मार्ग को रोक देता है, उसे नासाप्रतीनाह नामक रोग कहना चाहिए ।

वक्तव्य—इसी नासाप्रतिनाह का लक्षण तन्त्रान्तर में इस प्रकार दिया है कि—"कफावृतो वायुरुदानसंज्ञो यदा स्वमार्गे विगुणः स्थितः स्यात् । घ्राणं वृणोतीव तदा स रोगो नासाप्रतीनाह इति प्रदिष्टः" ।

मधु०—प्रतीनाहमाह—उच्छ्वासमार्गमित्यादि ॥—

प्रतीनाहमाह इत्यादि की भाषा स्वल्प एवं सुगम है ।

नासास्रावं लक्षयति—

घ्राणाद्घनः पीतसितस्तनुर्वा
दोषः स्रवेत् स्रावमुदाहरेत्तम् ॥९॥ [च० ६।२६]

जिस मनुष्य की नासिका से घन (अधिक) पीत. श्वेत, वा तनु (पतला वा स्वल्प) कफ स्राव स्रवित होता है. उसे नासास्राव नामक रोग जानना चाहिए ।

वक्तव्य—यहां 'घन' शब्द से 'अधिक' तथा 'तनु' शब्द से 'पतला' यह अर्थ लेना चाहिए । यदि 'घन' शब्द का अर्थ गाढ़ा तथा 'तनु' शब्द का अर्थ स्वल्प लिया जावेगा, तो तन्त्रान्तरों से इसकी एकवाक्यता नहीं बन सकती, क्योंकि उनमें इसे अधिक तथा पतला माना है । यह रोग विशेषतः रात्रि में होता है, क्योंकि रात्रि में कफ का प्रकोप अधिक होता है । जैसे सुश्रुत ने कहा भी है कि—'अजस्रमच्छं सलिलप्रकाशं यन्नासिका स्रवतीह नास्रा । रात्रौ विशेषेण हितं विकारं नासापरिस्रावमिति व्यवस्येत् ॥' (सु. उ. तं. अ. २२) । इसी पर विदेह ने भी कहा है कि—'स्रोतःस्थूलकफे श्लेष्मा नित्यः [illegible] कफात्मकः । विशेषात् स्रवते रात्रौ नासास्रावं तु तं विदुः' ॥

मधु०—नासास्रावमाह—घ्राणादित्यादि । दोष इति कफः ॥९॥

नासापरिस्रावमाह इत्यादि की भाषा सुगम है ।

नासाशोषस्य लक्षणमाह—

घ्राणाश्रिते स्रोतसि मारुतेन
गाढं प्रतप्ते परिशोषिते च ।
कृच्छ्राच्छ्वसेदूर्ध्वमधश्च जन्तु-
र्यस्मिन् स नासापरिशोष उक्तः ॥१०॥ [सु० ६।२२]

जिस रोग में वायु दोष से घ्राणाश्रित स्रोत के खूब संतप्त एवं शुष्क हो जाने पर मनुष्य बड़ी कठिनता से श्वास प्रश्वास लेता है, वह रोग नासापरिशोष कहलाता है।

वक्तव्य—भाव यह है कि नासा(परि)शोष नामक रोग में घ्राणाश्रित स्रोत वायु से संतप्त तथा सूख जाता है, जिससे कि मनुष्य श्वास प्रश्वास नहीं ले सकता। 'आश्रयग्रहणादाश्रयीग्रहणं' के अनुसार यहां घ्राणाश्रित स्रोत के ग्रहण से उसमें आश्रित श्लेष्मा का भी ग्रहण होता है, एवं यहां श्लेष्मा भी संतप्त एवं शुष्क होती है, जिससे कि श्वास प्रश्वास की गति में कठिनता होती है। अब यहां यह शङ्का होती है कि–इसमें घ्राणाश्रित स्रोत का संतप्त एवं शुष्क होना लिखा है और इसमें कारण वायु को माना है। यद्यपि शोषण वायु द्वारा भी हो सकता है, क्योंकि 'तौ हि शोषणे हेतू' के अनुसार वात और पित्त ही शोषक हैं, परन्तु सन्ताप पित्त के बिना नहीं हो सकता। अतः यहां पित्त का निर्देश भी करना चाहिए था। इसका उत्तर यह है कि—यहां वायु की तरह पित्त की भी कारणता है, अतः इसमें सन्ताप तथा शोषण पित्त द्वारा भी होते हैं। पित्त का यहां स्फुट निर्देश नहीं किया, उसमें यह हेतु है कि जैसे वर्षा को देखकर बादल का ज्ञान स्वत एव हो जाता है, वैसे ही प्रकृत में सन्ताप को देखकर सन्तापक पित्त का ज्ञान स्वयं हो जाता है। किञ्च—'कार्यकारणभावसम्बन्ध' के अनुसार कार्यरूप सन्ताप को कह देने से कारणरूप पित्त का ग्रहण अपने आप हो जाने से यहां उसका निर्देश नहीं किया। अथच गुण और गुणी का समवाय सम्बन्ध होने से प्रकृत में सन्तापरूप गुण के निर्देश गुणीरूप पित्त का ज्ञान स्वत एव हो जाता है, अतः यहां पित्त का स्फुट निर्देश नहीं किया। आचार्य सुश्रुत उक्त समाधान न करते हुए 'घ्राणाश्रिते श्लेष्मणि मारुतेन पित्तेन गाढं परिशोषिते च' (सु. उ. तं. अ. २२); यह पाठ स्वीकार करते हैं। इस प्रकार का पाठ स्वीकार करने से 'आधाराधेयभावसम्बन्धः' वा 'आश्रयाश्रयीभावसम्बन्ध' अथवा 'आश्रयग्रहणादाश्रयीग्रहणं' के अनुसार न तो श्लेष्मा का ग्रहण करना पड़ता है और न ही 'कार्यकारणविधानानुसार' वा 'द्रव्यगुणविधानानुसार' पित्त का ग्रहण करना पड़ता है, क्योंकि इस पाठ में उनका ग्रहण स्पष्ट है। इस रोग में कफ के साथ रक्त में भी शुष्कता आती है, जो कि स्रोत के सन्तप्त एवं

शुष्क होने से होती है। नासाशोष में वात की तरह पित्त की कारणता तथा स्रोत की तरह कफ और रक्त की शुष्कता को प्रतिपादित करने वाला विदेह मुनि का वाक्य भी है कि—'वातपित्तौ यदा घ्राणे कफरक्ते विशोषयेत् (?)। तदा-स्यादुच्छ्वसेन्नासा तस्य शुष्कं विधीयते ॥ भृशशुष्कावचूर्णेन नासाशोषं तु तं विदुः' ॥

मधु०—नासाशोषमाह—घ्राणाश्रिते स्रोतसीत्यादि। अत्र च वायुकृतस्रोतःशोषणेन तद्गतश्लेष्मशोषो बोद्धव्यः, प्रतप्त इत्यनेन पित्तमपि गम्यते, प्रतपनस्य पित्तमन्तरेणासंभवात्। तथाच कश्चित् पठति-"घ्राणाश्रिते श्लेष्मणि मारुतेन पित्तेन गाढं परिशोषिते च" इति। प्रतप्त इत्यस्य स्थाने 'प्रदीप्ते' इति पाठान्तरे स एवार्थः। कृच्छ्रादुच्छ्वसेदूर्ध्वमधश्च यस्मिन्निति कष्टेनोच्छ्वास-निःश्वासौ करोति यत्रेत्यर्थः ॥१०॥

यहां वायु द्वारा किए गए घ्राणस्रोतः शोष से उसमें होने वाली श्लेष्मा का शोष जानना चाहिए। 'प्रतप्त' इस पद से पित्त का भी (कारण रूप से) ज्ञान होता है, क्योंकि प्रतपन पित्त के विना असम्भव है। इसलिए कोई उक्त श्लोक के पूर्वार्ध में 'वायु तथा पित्त द्वारा घ्राणाश्रित श्लेष्मा के भली प्रकार सूखने पर' यह पाठ मानते हैं। 'प्रतप्त' के स्थान में 'प्रदीप्ते' यह पाठान्तर मानने पर भी अर्थ वही है।

आमपीनसस्य स्वरूपमाह—

शिरोगुरुत्वमरुचिर्नासास्रावस्तनुः स्वरः।
क्षामः ष्ठीवत्यथाभीक्ष्णमामपीनसलक्षणम् ॥११॥

सिर का भारी होना, अन्न में रुचि न होनी, नासा से पतले स्राव का बहना, आवाज का कम होना (अर्थात् बहुत तथा ऊँचा न बोला जाना) और हर समय नाक सिनकते रहना आमपीनस का लक्षण है।

वक्तव्य—भाव यह है कि—आमपीनस में सिर भारी, अन्न में अरुचि, नासा से पतला स्राव, स्वर में अस्पष्टता और सर्वदा नासिका द्वारा ष्ठीवन होता है। अर्थात् शिरोगौरव आदि लक्षणों से पीनस रोग की आम अवस्था जाननी चाहिए, क्योंकि ये इसकी आमावस्था के लक्षण हैं।

पक्वपीनसस्य लक्षणमवतारयति—

आमलिङ्गान्वितः श्लेष्मा घनः खेषु निमज्जति।
स्वरवर्णविशुद्धिश्च पक्वपीनसलक्षणम् ॥१२॥

शिरोगौरव आदि आम के लक्षणों से युक्त श्लेष्मा जब घन (गाढ़ा) होकर नासिका के छिद्रों में विलीन हो जाता है, तथा स्वर शुद्ध एवं वर्ण ठीक हो जाता है तो यह पक्व पीनस का लक्षण जानना चाहिए।

वक्तव्य—भाव यह है कि पक्वपीनस में आमलक्षणान्वित श्लेष्मा घन होकर स्रोतसों में लय हो जाता है, अतः स्वरध्वनि शुद्ध हो जाती है, एवं वर्ण-विशुद्धि ठीक हो जाती है।

मधु०—चिकित्साभेदार्थं पीनसस्यामपक्वलक्षणमाह—शिरोगुरुत्वमित्यादि । तनुरघनः । स्वरः क्षाम इति अविस्पष्टं वचनम् । क्षीवत्यथाभीक्ष्णमिति मुहुर्मुहुर्नासिकया श्लेष्माणं निरस्यतीत्यर्थः । आमरसान्वितेन दोषेण शिरोगुरुत्वादयः । 'आमलिङ्गान्वितः श्लेष्मा घनः खेषु निमज्जति' इत्यादि पक्वलक्षणम् । आमलिङ्गैः शिरोगुरुत्वादिभिरन्वितः श्लेष्मा निमज्जति लीनो भवति । अयमर्थः—श्लेष्मा तावल्लीनो भवति, आमलिङ्गान्यपि लीनानि भवन्ति, तथाच "तनुत्वमामलिङ्गानाम्" इति सुश्रुतः । 'न सज्जति' इति पाठान्तरे न सक्तो भवति, न तिष्ठतीति यावत् । तदामलिङ्गान्वितः स्तोकेनामलिङ्गेनान्वितः । घनः स्त्यानः । खेषु नासारन्ध्रेषु, 'स्थितः' इति शेषः, व्यत्ययपेक्षया बहुवचनम् । स्वरविशुद्धिः स्वरभेदाभावः, वर्णविशुद्धिः प्रकृतिसवर्णता ॥११-१२॥

चिकित्साभेदार्थमित्यादि की भाषा सुगम है ।

प्रतिश्यायस्य निदानं प्रदर्शयति—

संधारणाजीर्णरजोतिभाष्य-
क्रोधर्तुवैषम्यशिरोभितापैः ।
प्रजागरातिस्वपनाम्बुशीतै-
रवश्यया मैथुनबाष्पधूमैः ।
संस्त्यानदोषे शिरसि प्रवृद्धो
वायुः प्रतिश्यायमुदीरयेत्तु ॥१३॥ [च० ६।२६]

मल, मूत्र आदिकों के वेग को रोकने से, अजीर्ण से, धूलि के सेवन से, अत्यधिक बोलने से क्रोध करने से, ऋतुओं की विषमता से, शिरोभिताप से, जागने से, अधिक सोने से (अर्थात् दिन में सोने से), जल के अधिक उपयोग से, शीतता के सेवन से, ओस वा तुषार (बर्फ) के पात से, अधिक मैथुन करने से, आँसू गिराने से और धूम से घनीभूत (गाढ़ी हो गई) श्लेष्मा वाले सिर में बढ़ा हुआ वायु प्रतिश्याय को उत्पन्न कर देता है ।

प्रतिश्यायस्य संप्राप्तिं लक्षयति—

चयं गता मूर्धनि मारुतादयः
पृथक् समस्ताश्च तथैव शोणितम् ।
प्रकुप्यमाणा विविधैः प्रकोपणै-
स्ततः प्रतिश्यायकरा भवन्ति हि ॥१४॥

वातादि दोष व्यष्टि रूप से (एक एक करके) वा समष्टि रूप से (सभी मिल कर) सिर में सञ्चित होकर, एवं रक्त भी सिर में सञ्चित होकर क्रोध आदि अनेक प्रकार के प्रकोपणों से प्रकुपित होते हुए प्रतिश्याय नामक रोग को उपजाते हैं ।

वक्तव्य—कई टीकाकार इसकी व्याख्या दूसरे प्रकार से करते हैं । तद्यथा-अपने २ स्थानों में संचित हुए वातादि दोष तथा रक्त अनेक प्रकार के प्रकोपक निदानों से प्रकुपित हुए २ एक एक करके वा सभी मिलकर मनुष्यों के सिर

में आ प्रतिश्याय नामक रोग को उत्पन्न कर देते हैं। अब यहां प्रथम व्याख्यान पर यह शंका होती है कि सञ्चय का अर्थ अपने स्थान में वृद्धि होना है और वात, पित्त, कफ तथा रक्त का सिर में स्थान नहीं है, अतः सिर में वातादिकों का सञ्चय कैसे हो सकता है? इसका उत्तर यह है कि—'वायुर्यो वक्त्रसञ्चारी स प्राणो नाम देहधृक्' (सु. नि. स्था. अ. १) से सिर में वायु का स्थान कहा है। एवं पित्त के 'पित्तस्य यकृत्प्लीहानौ हृदयं दृष्टिस्त्वक् पूर्वोक्तञ्च' (सु. सू. स्था. अ. २१) में पठित त्वक् और दृष्टि से सिर में दो स्थान कहे हैं। श्लेष्म का सिर में स्थान है ही, शेष रहे रक्त का भी सिर में स्थान है, क्योंकि रक्तवाहिनियों के सर्वत्र होने से सिर में उसका स्थान है। इस प्रकार 'सिर में संचित दोष और रक्त' यह पाठ युक्त हो सकता है।

मधु०—प्रतिश्यायः पञ्चविधो भवति, वातपित्तकफसन्निपातरक्तजभेदात्, तस्य निदानं द्विविधम्, एकं सद्योजनकं तच्च बलवत्त्वेन चयं नापेक्षत एव; अपरं चयादिक्रमेण जनकं, चयादिक्रमोत्पन्नश्च दोषो गरीयान् सकलशरीरसम्भावनया बद्धमूलत्वात्। तत्र सद्योजनकनिदानपूर्विकां तस्य संप्राप्तिमाह—संधारणेत्यादि।—संधारणं पुरीषादिवेगधारणं, रजो धूलिः, शिरोऽभितापः शिरोऽभितप्यते येन स शिरोऽभितापो धूमादिः; रजोधूमादयश्च नासाप्रविष्टाः सन्तो हेतवः। अतिस्वप्नं दिवास्वप्नातिनिद्रार्थः। अवश्यया तुषारेण। संस्त्यानदोषे शिरसीति घनीभूतदोषे शिरसि। सुश्रुतेनापि सद्योजनकं निदानं पठितम्; तद्यथा—"नारीप्रसङ्गः शिरसोऽभितापो धूमो रजः शीतमतिप्रतापः। संधारणं मूत्रपुरीषयोश्च सद्यः प्रतिश्यायनिदानमुक्तम्॥" (सु. उ. तं. अ. २४) इति। चयादिक्रमेण जनकमपि दोषं दर्शयन्नाह—चयं गता इत्यादि। चयं गता इति सामर्थ्यात् स्वे स्वे स्थाने, "स्वस्थानवृद्धिर्दोषाणां चय इत्यभिधीयते" इति वचनात्। तथैव शोणितमिति चयं गतम्। ननु, यदि स्वस्थानस्थिता दोषास्तत् कथं मूर्ध्नि प्रतिश्यायं जनयन्ति? इत्याह—प्रकुप्यमाणा विविधैः प्रकोपणैरिति।—विविधैरिति बलवद्विग्रहदिवास्वप्नादिभिः। प्रकोपविशेषश्च प्रसरः। यदुक्तं—"प्रकुपितानां पर्युषितकिण्वोदकपिष्टसमवाय इवोद्रिक्तानां प्रसरो भवति॥" (सु. सू. स्था. अ. २१) इति। अत एव "चयप्रकोपप्रशमाः पित्तादीनां यथाक्रमम्"—इत्यत्र प्रकोपानन्तरमुक्तम्। एतेन प्रसरेण शिरःसंप्राप्ता दोषाः प्रतिश्यायकराः। अन्ये तु चयं गता मूर्धनीति यथाश्रुतमेव योजयन्ति, [illegible], [illegible] शिरसि चय इति। [illegible] प्रतिश्याय इति नाम [illegible] स प्रतिश्यायः। [illegible] प्रयोगः। [illegible]—"[illegible] शिरसः [illegible] [illegible] वा। [illegible] प्रतिश्याय [illegible]॥" ([illegible]) इति ॥१३-१८॥

वातज, पित्तज, कफज, सन्निपातज और रक्तज भेद से प्रतिश्याय पाँच प्रकार का होता है। इस पाँच प्रकार के प्रतिश्याय का निदान भी दो प्रकार का होता है। प्रथम सद्यो-जनक जो कि बलवान् होने से चय की अपेक्षा नहीं करता, दूसरा चय आदि के क्रम

से जनक। चय आदि क्रम से उत्पन्न दोष बलवान् होता है, क्योंकि सम्पूर्ण शरीर में होने के कारण बद्धमूल होता है। इन दोनों में से पूर्व उसकी सद्योजनक निदानपूर्विका सम्प्राप्ति को कहते हैं कि—'सन्धारण' इत्यादि। (सुश्रुतेनापीत्यादि—) सुश्रुत ने भी सद्योजनक निदान को पढ़ा है; तद्यथा—मैथुन, शिरोभिताप, धूम, धूलि, शीतता, अत्युष्णता, मूत्रवेगधारण और पुरीषवेगधारण प्रतिश्याय के सद्योत्पादक निदान हैं। चय आदि के क्रम से उत्पन्न करने वाले दोष को भी दिखलाते हुए कहते हैं कि—'चयं गता' इत्यादि। 'चयं गताः' का अर्थ अपनी २ शक्ति से अपने २ स्थान में बढ़ना है। इसमें प्रमाण भी है कि—'दोषों की अपने २ स्थान में वृद्धि होनी चय कहलाती है'। इसी प्रकार रक्त भी संचित होकर इत्यादि। (ननु—) यदि दोष अपने स्थान में स्थित होते हैं तो सिर में प्रतिश्याय की उत्पत्ति कैसे हो सकती है? इस पर कहते हैं कि—'प्रकुप्यमाणा विविधैः प्रकोपणैरिति' अर्थात् बलवानों से युद्ध करने और दिन में सोने आदि अनेक प्रकोपणों से प्रकुपित वे दोष सिर में प्रतिश्याय उत्पादक होते हैं। प्रकोप विशेष ही प्रसर होता है। जैसे कहा भी है कि—'अन्योन्यगुणानुप्रवेश से जैसे किण्व (सुराबीज) जल और चावलों की पीठी का उद्रेक होता है, उसी प्रकार दुष्टिकारक कारणों के इकट्ठे होने पर वात आदि का उद्रेक होता है'। इसलिए 'चयप्रकोपप्रशमाः पित्तादीनां यथाक्रमम्' केवल प्रकोप का ही उपादान किया है। (एवं) इस प्रसर से सिर में प्राप्त दोष प्रतिश्यायोत्पादक होते हैं। दूसरे आचार्य तो सिर में संचित होकर दोष प्रतिश्याय उपजाते हैं, इस प्रकार की योजना करते हैं। सिर में कैसे हो सकता है, इस पर श्रीकण्ठ जी कहते हैं कि (उदानेत्यादि—) अर्थात् उदान वायु की ऊर्ध्वगति होने से उसका सिर में होना भी बन सकता है। पित्त और रक्त के क्रमशः त्वचा और सिराओं में आश्रित होने से, तथा कफ से निसर्गतः सिर में 'चय' हो सकता है। 'ततः' शब्द में प्रकोपविशेष से होने वाले प्रसर के बाद का समय लिया जाता है। 'प्रतिश्याय' शब्द का अर्थ वायु की ओर कफ आदि का गमन जिस रोग में हो वह प्रतिश्याय है, यह है। यहां 'श्यैङ् गतौ' इस धातु का प्रयोग है। जैसे चरक ने कहा भी है कि—'नासिका के मूल में स्थित कफ, रक्त तथा पित्त वायु से पूर्ण सिर द्वारा वायु की ओर जाते हैं'। अर्थात् प्रतिश्याय को उपजाते हैं।

प्रतिश्यायस्य पूर्वरूपं निर्दिशति—

क्षवप्रवृत्तिः शिरसोऽतिपूर्णता
स्तम्भोऽङ्गमर्दः परिहृष्टरोमता[1]।
उपद्रवाश्चाप्यपरे पृथग्विधा
नृणां प्रतिश्यायपुरःसराः स्मृताः ॥१५॥ [सु० ६।२४]

छींकों का आना, कफ से सिर का परिपूर्ण होना (सिर का भारी होना), स्तब्धता होनी, अङ्गमर्द होना, रोमहर्ष होना और अन्य अनेक प्रकार के उपद्रवों (रोगों) का होना ये लक्षण मनुष्यों में प्रतिश्याय से पूर्व होते हैं। भाव यह कि छींकों का आना आदि प्रतिश्याय के पूर्वरूप हैं।

मधु०—तस्य पूर्वरूपमाह—क्षवप्रवृत्तिरित्यादि। उपद्रवाश्चाप्यपरे इति उपद्रवास्तत्कालभाविनो रोगाः, नतु पारिभाषिकाः पश्चात्कालभाविनः, ते च घ्राणधूमायनमन्यादयः। यदाह

१ शिरोगुरुत्वं क्षवथोः प्रवर्तनं तथाऽङ्गमर्दः परिहृष्टरोमता.

विदेहः—''पूर्वरूपाणि दृश्यन्ते प्रतिश्याये भविष्यति । घ्राणधूमायनं मन्थः क्षवथुस्तालुदारणम् ॥ कण्ठध्वंसो मुखस्रावः शिरसः पूरणं तथा'' इति । पुरःसरा इति पूर्वरूपाणि ॥१५॥

'उपद्रवाश्चाप्यपरे' में पठित उपद्रव शब्द से उसी समय में होने वाले रोग लिये जाते हैं, न कि 'रोगारम्भकदोषप्रकोपजन्योऽन्यो विकार उपद्रवः' में पठित पारिभाषिक पश्चात्काल-भावी रोग लिए जाते हैं। उसी समय होने वाले ये रोग नासिका से धूम सा निकलना तथा मन्थ आदि हैं। जैसे विदेह ने कहा भी है कि—'जब प्रतिश्याय होने वाला होता है तो उससे पूर्व नासिका से धूम सा निकलना, मन्थ, छिकाएं, तालुविदार, कण्ठध्वंस, मुखस्राव तथा शिरो गौरव ये लक्षण (पूर्वरूप के रूप में) होते हैं'।

वातिकप्रतिश्यायस्य लक्षणमाह—

आनद्धा पिहिता नासा तनुस्रावप्रसेकिनी ।
गलताल्वोष्ठशोषश्च निस्तोदः शङ्खयोस्तथा ॥१६॥ [सु० ६।२४]
क्षवप्रवृत्तिरत्यर्थं वक्त्रवैरस्यमेव च ।
भवेत् स्वरोपघातश्च प्रतिश्यायेऽनिलात्मके ॥१७॥ [सु० ६।२४]

वातात्मक प्रतिश्याय में नासिका फूली हुई सी, बन्द सी तथा पतले स्राव को बहाने वाली होती है। एवं इसमें (वातात्मक प्रतिश्याय में) गले का सूखना, तालु का सूखना, ओष्ठों का सूखना, शङ्ख देश में सुइयों की सी चुभान, छींकों का अत्यधिक आना, मुख के स्वाद में परिवर्तन और स्वरोपघात (स्वर नाश) ये लक्षण होते हैं।

वक्तव्य—भाव यह है कि प्रतिश्याय में नासिका का आनद्ध आदि होना तथा गलशोष आदि लक्षणों का होना वातात्मकता का परिचायक है, क्योंकि नासिका आनद्ध आदि होना वातात्मक प्रतिश्याय के लक्षण हैं। आतंकदर्पण-कार 'आनद्धा' के स्थान पर 'आध्माता' यह पाठ मान कर 'आध्माता पूरितेवास्ति यावत्' यह व्याख्यान करते हैं। अर्थ एक ही है, क्योंकि 'आनद्ध' शब्द का अर्थ 'आध्माता' ही लिया जाता है। जैसे डल्हण ने कहा भी है कि—'आनद्धा आध्माता पूरितेव'-(डल्हणः सु. उ. तं. अ. २४)। सुश्रुतसंहिता में 'क्षवप्रवृत्ति-रत्यर्थं वक्त्रवैरस्यमेव च'-यह पाठ नहीं है, परन्तु उपयुक्त होने से माधव ने यहां इसका समावेश किया है।

पैत्तिकप्रतिश्यायस्य लक्षणमाह—

उष्णः सपीतकः स्रावो घ्राणात् स्रवति पैत्तिके ।
कृशोऽतिपाण्डुः सन्तप्तो भवेत्तृष्णाभिपीडितः ॥१८॥ [सु० ६।२४]
सधूमं सहसा वह्निं वमतीव च मानवः ।

पित्तात्मक प्रतिश्याय में मनुष्य नासिका से गरम एवं पीले स्राव को बहाता है और वह मनुष्य स्वयं कृश (कमजोर या पतला), अति पाण्डुवर्ण,

[illegible]

संतप्त मन वाला एवं गर्मी से पीड़ित हुआ अकस्मात् (इस प्रकार का गर्म श्वास छोड़ता है) मानो धूमयुक्त अग्नि को (नासिका से) उलटता हो।

वक्तव्य—भाव यह है कि प्रतिश्याय में नासिका से उष्ण एवं ईषत् पीत स्राव को बहाना तथा कृशता, पाण्डुता, संतप्तता और उष्णाभिपीडनता होनी पित्तात्मकता की परिचायक हैं, क्योंकि उष्णस्रावता प्रभृति होना पित्तात्मक प्रतिश्याय के लक्षण हैं। अब यहां यह शङ्का होती है कि जो अर्थ 'संतप्तः' शब्द का है, वही अर्थ 'उष्णाभिपीडित' शब्द का है, अतः यहां इनमें से किसी एक का निर्देश करने से ही निर्वाह हो सकता था, पुनः इन दोनों का निर्देश क्यों किया ? इसका उत्तर यह है कि-यहां सन्ताप की अधिकता बताने के लिये दोनों शब्दों का प्रयोग किया है। दूसरे कहते हैं कि-नहीं, इन दोनों पदों के समावेश का यह अभिप्राय नहीं है, प्रत्युत यह अभिप्राय है कि प्रथम 'संतप्तः' पद से मानसिक ताप लिया जावे और दूसरे 'उष्णाभिपीडितः' पद से शारीरिक ताप लिया जावे। एवं यहां इन दोनों पदों का अर्थ क्रमशः 'संतप्त मन वाला' और 'गर्मी से पीड़ित' है। यहां यह आशंका भी नहीं करनी चाहिए कि शारीरिक पित्त दोष से मनस्ताप कैसे हो गया ? क्योंकि मानसिक दोषों तथा शारीरिक दोषों का परस्पर प्रकोप्य प्रकोपक भाव सम्बन्ध होने के कारण (शारीरिक दोष) पित्त से मानसिक दोष बढ़ जाता है, जिससे मन में सन्ताप हो जाता है। इस पर तीसरे आचार्य इन दोनों समाधानों को नहीं मानते। वे कहते हैं कि-दोनों पदों का अर्थ एक ही है, अतः दोनों का उपादान पुनरुक्तता दोष से ग्रस्त है। इसके समाधान में जो यह कहा है कि ताप की अत्यधिकता बताने के लिए दोनों शब्दों का प्रयोग किया है, ठीक नहीं; क्योंकि ताप की अधिकता को केवल संताप शब्द ही बता देता है, कारण कि 'ताप' से पूर्व 'सम्' उपसर्ग की स्थापना का फल यही है। अतः यहां 'उष्णाभिपीडितः' पद की आवश्यकता नहीं है। दूसरे आचार्यों ने जो यह कहा है कि 'सन्ताप' शब्द मनस्तापवाचक और 'उष्णाभिपीडितः' शब्द शरीर नाम वाचक है, यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि वातादि दोषों से पहले शारीरिक रोग होता है, तदनु मानसिक दोष की दुष्टि होने पर मनस्ताप आदि मानसिक विकार होते हैं। एवं यहां पूर्व शारीरिक ताप के बढ़ने पर ही मानसिक ताप होता है अतः 'सन्ताप' शब्द से मानसिक ताप के ग्रहण होने पर शारीरिक ताप का ग्रहण स्वत एव हो जाता है। दूसरा 'आगन्तुरन्वेति निजं विकारं निजस्तथाऽऽगन्तुमपि प्रवृद्धः' (चरक) के अनुसार प्रवृद्ध निज रोगों से आगन्तुज रोग होते हैं। एवं यहां पूर्व शारीरिक दोष(पित्त)जन्य पैत्तिक प्रतिश्याय में शारीरिक ताप के बढ़ने पर ही मानसिक ताप होता है। अतः 'संतप्त' शब्द से मनस्ताप का ग्रहण होने पर शरीर ताप का ग्रहण अपने आप ही हो जाता है। इसलिए यहां 'संतप्तः' और 'उष्णाभिपीडितः'

इन दो पदों के देने की कोई आवश्यकता नहीं है। इसी सिद्धान्त के अनुसार सुश्रुत में 'कृशोऽतिपाण्डुः सन्तप्तो भवेदुष्णाभिपीडितः' यह पाठ पढ़ा है।

श्लैष्मिकप्रतिश्यायस्य स्वरूपमाह—

घ्राणात् कफः कफकृते शीतः पाण्डुः स्रवेन्मुहुः।
शुक्लावभासः शुक्लाक्षो भवेद् गुरुशिरा नरः॥१९॥
कण्ठताल्वोष्ठशिरसां कण्डूभिरभिपीडितः।

कफ के कारण होने वाले प्रतिश्याय में नासिका से शीतल, पाण्डुवर्ण एवं मात्रा में अधिक कफ बहता है। इसमें मनुष्य श्वेत शरीर वाला, श्वेत नेत्रों वाला, भारी सिर वाला तथा गले, तालु, ओष्ठ और सिर में खुजली वाला होता है।

वक्तव्य—भाव यह है कि जिस प्रतिश्याय नामक रोग में उपर्युक्त लक्षण हों उसे श्लेष्मजन्य प्रतिश्याय जानना चाहिए। सुश्रुत में यहां इस प्रकार का पाठान्तर मिलता है—'कफः कफकृते घ्राणाच्छुक्लः शीतः स्रवेन्मुहुः। शुक्लावभासः शूनाक्षो भवेद्गुरुशिरोमुखः॥ शिरोगलोष्ठतालूनां कण्डूयनमतीव च॥' (सु. उ. तं. अ. २४)।

मधु०—वातादिप्रतिश्यायलिङ्गान्याह—आनद्धेत्यादि। आनद्धा विबद्धा। पिहिता सपिधानेव। निस्तोदः सूचिव्यधनव्यथा। शङ्खयोरिति भ्रूपुच्छान्तयोः। सपीतक इति ईषत् पीतः। पित्तप्रतिश्यायवान् मानवः कृशो भवति। अतिपाण्डुर्धूसरः। उष्णाभिपीडित इति उष्णगुणेनाभिपीडित इत्यर्थः॥१६-१९॥

वातादिप्रतिश्यायलिङ्गान्याह इत्यादि की भाषा सरल है।

सान्निपातिकप्रतिश्यायं लक्षयति—

भूत्वा भूत्वा प्रतिश्यायो यस्याकस्मान्निवर्तते॥२०॥
सम्पक्वो वाऽप्यपक्वो वा स सर्वप्रभवः स्मृतः। [सु० १२४]

जिस मनुष्य का प्रतिश्याय बार बार होकर अकस्मात् शान्त हो जाता है, उसका वह प्रतिश्याय, चाहे वह अपक्व हो या पक्व, सन्निपातज कहलाता है।

वक्तव्य—भाव यह है कि जिस मनुष्य में प्रतिश्याय बार बार होता है और चिकित्सा के बिना ही बार बार शान्त हो जाता है, उस मनुष्य का वह अपक्व या पक्व प्रतिश्याय सन्निपातज होता है। यहां चिकित्सा के बिना शान्ति कही है, जो कि अनुभवविरुद्ध है, क्योंकि रोगों की शान्ति तीन उपायों से होती है, जिन में से प्रथम उपाय शोधन, दूसरा शमन और तीसरा निदान परिवर्जन है। जैसे कहा भी है कि—'शोधनं शमनं चैव निदानस्य च वर्जनम्'। यद्यपि '[illegible] विरोधेऽस्ति कारणम्' [illegible] में ऐसा सिद्धान्त में कारण नहीं माना तो भी सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर इसमें भी कारणता झलकती है, क्योंकि कारणों के बिना कार्य नहीं हो सकते। यहां भी [illegible] कार्य कारण के बिना नहीं है [illegible]

१ सु० [illegible]

ने एकीयमतानुसार कहा है कि 'केचिदत्रापि मन्यन्ते हेतुं हेतोरवर्तनम्' (चरक) यहां यह नहीं समझना चाहिए कि एकीय मत होने से यह चरक को अभिमत नहीं है, क्योंकि 'परमतमप्रतिषिद्धमनुमतम्' के अनुसार यह मत चरक को स्वीकार है। एवं यहां बार २ अकस्मात् शान्ति कैसे हो सकती है? इसका उत्तर यह है कि—वस्तुतः यहां शान्ति नहीं होती, परन्तु दोषों के अबल होने पर कुछ शान्ति प्रतीत होती है; किन्तु पुनः कालादिकों द्वारा दोषों के बलिष्ठ होने पर प्रतिश्याय चमक उठता है। इस अन्तर्लीन प्रतिश्याय को ही अलक्षित होने के कारण शान्त कहा है, परन्तु वस्तुतः यह शान्त नहीं होता। अथवा इस व्याधि का स्वभाव ही है कि यह बार २ उत्पन्न और बार २ शान्त होती है। कई आचार्य 'अकस्मात्' पद को उत्पत्ति के साथ जोड़ते हैं। एवं इस प्रकार व्याख्या होती है कि, जिस मनुष्य का प्रतिश्याय अकस्मात् होकर हट जाता है, उसका वह प्रतिश्याय चाहे वह अपक्व हो वा पक्व, त्रिदोषज कहलाता है। यहां अकस्मात् प्रतिश्याय का बार २ होना भी दोष के भली प्रकार शान्त न होने से तथा कालादिकों से पुनः बल प्राप्त कर लेने से होता है। किसी प्रकार भी व्याख्या की जावे, भाव दोनों का एक ही है। इसमें सर्वथा प्रतिश्याय की शान्ति नहीं होती, क्योंकि विदेह ने इसे असाध्य माना है। कई आचार्य 'सर्वप्रभवः स्मृतः' से आगे सुश्रुतोक्त 'लिङ्गानि चैव सर्वेषां पीनसानां च सर्वजे' ये दो पाद अधिक पढ़ते हैं। इसका अर्थ यह है कि सर्वज प्रतिश्याय में वातादिजन्य सभी पीनसों के लक्षण होते हैं।

मधु०—सन्निपातजमाह—भूत्वेत्यादि। भूत्वा भूत्वेति वीप्सया पुनः पुनः संभवं दर्शयति। अन्यतमदोषस्य कालादिनाऽनवधारितेन बलहानेर्निवृत्तिः, अकस्मात् प्रवृत्तिरप्यसम्यङ्निवृत्तदोषस्य कालादिना बललाभात्। अत्र यद्यपि दोषत्रयलिङ्गानि नोक्तानि, तथाऽपि सर्वप्रभवत्वात् प्रत्येतव्यानि। असाध्यश्चायं दुष्टतां गतः सन् "नृणां दुष्टप्रतिश्यायस्त्वसाध्यः सर्वजः स्मृतः"—इति विदेहवचनात् ॥२०॥

अनिश्चित कालादि से किसी एक दोष के बल की हानि होने पर प्रतिश्याय की निवृत्ति होती है। इसी प्रकार अकस्मात् प्रवृत्ति भी दोष के भली प्रकार न निवृत्त होने वाले दोष के कालादि द्वारा बल प्राप्त कर लेने पर होती है। यहां यद्यपि तीनों दोषों के लक्षण नहीं कहे, परन्तु फिर भी सभी दोषों से इसकी उत्पत्ति होने के कारण इसमें उनके लक्षण भी जान लेने चाहिएँ। यह प्रतिश्याय जब दुष्ट हो जाता है तो असाध्य होता है। जैसे विदेह ने कहा भी है कि—'मनुष्यों में होने वाला सान्निपातिक दुष्ट प्रतिश्याय असाध्य कहा है'।

दुष्टप्रतिश्यायस्य स्वरूपमाह—

प्रक्लिद्यते पुनर्नासा पुनश्च परिशुष्यति ॥२१॥ [सु० ६।२४]
पुनरानह्यते वाऽपि पुनर्विव्रियते तथा।
निश्वासो वाऽतिदुर्गन्धो नरो गन्धान् न वेत्ति च ॥२२॥ [सु० ६।२४]
एवं दुष्टप्रतिश्यायं जानीयात् कृच्छ्रसाधनम्।

जिस प्रतिश्याय में नासिका कभी गीली हो जाती है और कभी सूख जाती है, कभी बन्द हो जाती है और कभी खुल जाती है, तथा जिस प्रतिश्याय में मनुष्य दुर्गन्धित श्वास को छोड़ता है और शुभ-अशुभ गन्धों को नहीं जानता उस प्रतिश्याय को दुष्ट प्रतिश्याय जानना चाहिये और यह कृच्छ्रसाध्य होता है।

वक्तव्य—भाव यह है कि जिसमें नासाक्लेद आदि लक्षण हों उसे कृच्छ्र-साध्य दुष्ट प्रतिश्याय जानना चाहिये। 'प्रक्लिद्यते' इत्यादि पाठ सुश्रुत का है, परन्तु अब उसमें कुछ पाठ इससे भिन्न मिलता है। तद्यथा-'प्रक्लिद्यति पुनर्नासा पुनश्च परिशुष्यति। मुहुरानह्यते चापि मुहुर्विव्रियते तथा ॥ निश्वासोच्छ्वासदौर्गन्ध्यं तथा गन्धान्न वेत्ति च। एवं दुष्टप्रतिश्यायं जानीयात् कृच्छ्रसाधनम्'-(सु. उ. तं. अ. २४)।

मधु०—एकदोषस्यापि दुरुपचाराद्दोषत्रयानुबन्धेन दुष्टतां गतस्य दोषत्रयसंबन्धसाम्येन सन्निपातजानन्तरं लिङ्गमाह—प्रक्लिद्यते पुनर्नासेत्यादि। आनह्यत इति पिधीयते। विव्रियत इति विगतावरणा भवतीत्यर्थः। क्लेदशोषपिधानविवरणानि नैककाले भिन्नदोषजानि बोद्धव्यानि, तेन विरोधो नोद्भावनीयः। एवमिति इत्थम्भूतलिङ्गं दुष्टप्रतिश्यायं परस्परविरुद्धोपक्रमदोषसंबन्धात् कृच्छ्रसाध्यं जानीयात्। अयं च पञ्चानामेवावस्थान्तरतयाऽनन्यत्वान्न षष्ठः। ननु, अवस्थान्तरत्वेऽप्यभिष्यन्दादधिमन्थ इव भिन्नो भविष्यति? न, तद्वद्वातादिशब्देनानिर्देशात् ॥२१-२२॥

एक दोष से उत्पन्न होने पर भी दुरुपचार के कारण दोषत्रय के अनुबन्ध से दुष्ट हुए प्रतिश्याय का लक्षण दोषत्रय के सम्बन्ध की समता को लेकर सन्निपातज के बाद कहते हैं कि-'प्रक्लिद्यते पुनर्नासा' इत्यादि। क्लेद (गीला होना), और शोष (सूखना), पिधान (बन्द होना) और विवरण (खुलना) ये एक ही समय में नहीं होते तथा भिन्न २ दोष से होते हैं, इससे इनके परस्पर विरोध की आशङ्का नहीं करनी चाहिये। 'एवं' अर्थात् इस प्रकार के लक्षणों वाले दुष्ट प्रतिश्याय को एक दूसरे से विरुद्ध उपक्रम वाले दोषों से सम्बन्धित होने के कारण कृच्छ्रसाध्य समझना चाहिये। यह पाँचों की ही अवस्था विशेष होने के कारण उनसे भिन्न न होने से छठा भेद नहीं है। (ननु-) अवस्थाविशेष होने पर भी जिस प्रकार अभिष्यन्दों से अवस्थाविशेष के रूप में होने वाले अधिमन्थों की तरह यह भी भिन्न होगा? इस पर कहते हैं कि-नहीं, इसमें अधिमन्थों की तरह वातज आदि का निर्देश न होने से यह उनकी तरह भिन्न नहीं है।

रक्तजप्रतिश्यायस्य लक्षणमाह—

रक्तजे तु प्रतिश्याये रक्तास्रावः प्रवर्तते ॥२३॥ [सु० [illegible]]
ताम्राक्षश्च भवेज्जन्तुरुरोघातप्रपीडितः।
दुर्गन्धोच्छ्वासवदनो गन्धानपि न वेत्ति सः ॥२४॥ [सु० [illegible]]

रक्तज प्रतिश्याय में रक्त का स्राव होता है, और इसमें मनुष्य ताम्र वर्ण के नेत्रों वाला, उरोघात से पीड़ित, दुर्गन्धित श्वास युक्त मुख वाला तथा गन्ध ज्ञान से असमर्थ होता है।

१ [illegible]

वक्तव्य—कई आचार्य वक्ष्यमाण 'मूर्च्छन्ति चात्र कृमयः श्वेताः स्निग्धास्तथाऽणवः। कृमिमूर्धविकारेण समानं चास्य लक्षणम्'–(सु. उ. तं. अ. २४) इस श्लोक को भी रक्तज प्रतिश्याय विषयक मानते हैं। उनके अनुगामी डल्हण ने भी इस श्लोक को रक्तज प्रतिश्याय विषयक स्वीकार किया है। तद्यथा–'अत्र रक्तजप्रतिश्याये कृमयः सूक्ष्माः कृमिमूर्धविकारेणेत्यादि। कृमिजस्य शिरोरोगस्य यल्लक्षणं तेन समानमस्य लक्षणमित्यर्थः'–(डल्हणः, सु. उ. तं. अ. २४) अर्थात्(अत्र) इस रक्तज प्रतिश्याय में इत्यादि।

मधु०—रक्तजलिङ्गमाह—रक्तज इत्यादि। उरोघातप्रपीडित इति उरोघातस्तन्त्रान्तरपठितलक्षणः, तेन प्रकर्षेण पीडितः। तद्यथा–"उरःक्षतमुरःस्तम्भः पूतिकर्णकफो रसः। सकासः सज्वरो ज्ञेय उरोघातः सपीनसः" इति। अत्र पित्तप्रतिश्यायलिङ्गान्यपि बोद्धव्यानि, तुल्यत्वात् पित्तरक्तयोः। तथाच क्वचित् पठ्यते–"पित्तप्रतिश्यायकृतैर्लिङ्गैश्चापि समन्वितः" ॥२३–२४॥

'उरोघातप्रपीडितः' में पठित उरोघात से तन्त्रान्तर में पठित इस नाम वाला रोग लेना चाहिये। उसका लक्षण तन्त्रान्तर में कहा भी है कि–'उरःक्षतमुरःस्तम्भः पूतिकर्णकफो रसः। सकासः सज्वरो ज्ञेय उरोघातः सपीनसः'–यहां (अर्थात् रक्तज प्रतिश्याय में) पित्तज प्रतिश्याय के लक्षण भी जानने चाहियें, क्योंकि रक्त और पित्त की परस्पर समानता होने से उनके लक्षणों में भी समानता होनी आवश्यक है (अतः पित्तप्रतिश्याय के लक्षण यहां जानने चाहिये)। इसी लिये कहीं यह भी श्लोकार्ध मिलता है कि 'और यह रक्तज प्रतिश्याय पित्त प्रतिश्याय में होने वाले लक्षणों से भी युक्त होता है'।

चरमे सर्व एवैते दुष्टप्रतिश्यायतामुपयान्तीत्याह—

सर्व एव प्रतिश्याया नरस्याप्रतिकारिणः।
दुष्टतां यान्ति कालेन तदाऽसाध्या भवन्ति हि ॥२५॥ [सु० ६।२४]
मूर्च्छन्ति चात्र क्रिमयः श्वेताः स्निग्धास्तथाऽणवः।
क्रिमितो यः शिरोरोगस्तुल्यं तेनास्य लक्षणम् ॥२६॥ [सु० ६।२४]

(इन प्रतिश्यायों की) चिकित्सा न करने वाले मनुष्य में होने वाले सभी प्रतिश्याय बिगड़ जाते हैं (अर्थात् दुष्ट प्रतिश्याय बन जाते हैं) और तदनु असाध्य हो जाते हैं और यहां (अर्थात्–जब सभी प्रतिश्याय चिकित्सा न करने पर दुष्ट प्रतिश्याय बन जाते हैं, तब इन सभी प्रतिश्यायों में) श्वेत वर्ण के स्निग्ध तथा सूक्ष्म कृमि उत्पन्न हो जाते हैं। उस समय इसका (कृमियुक्त प्रतिश्याय का) लक्षण क्रिमियों के कारण होने वाले शिरो रोग के समान होता है।

वक्तव्य—भाव यह है सभी प्रतिश्याय आलसी (अर्थात् जो आलस्यादिवश चिकित्सा नहीं करता उस) मनुष्य में दुष्ट हो जाते हैं; जिससे कि पुनः वह ठीक नहीं हो सकते; तथाच इन प्रतिश्यायों में श्वेत वर्ण के स्निग्ध और सूक्ष्म कृमि उत्पन्न हो जाते हैं, जिससे कि इसका (इनका, अर्थात् कृमियुक्त प्रतिश्यायों का) लक्षण (वक्ष्यमाण) क्रिमिज शिरो रोग के समान होता है। सुश्रुत

में 'मूर्च्छन्ति' इत्यादि श्लोक कुछ पाठान्तर के साथ रक्तज क्रिमिलक्षणों में पढ़ा है, तथा 'सर्व एव प्रतिश्याया नरस्याप्रतिकारिणः' इस पाठ की सङ्गति 'कालेन रोगजनना जायन्ते दुष्टपीनसाः' के साथ मिला कर 'सर्व एव प्रतिश्याया नरस्या-प्रतिकारिणः' को अन्य रोगों के उत्पादन की अवस्था बनाई है. अर्थात्–अप्रति-कारी मनुष्य के सभी प्रतिश्याय कुछ काल बाद अन्य रोगों को उत्पन्न करने वाले हो जाते हैं तथा स्वयं दुष्ट पीनस बन जाते हैं; या दुष्ट पीनसों में परिवर्तित हो जाते हैं, यह कहा है। तदनु च वहां सुश्रुत ने वक्ष्यमाण 'बाधिर्यमान्ध्यमघ्राणं घोरांश्च नयनामयान्। कासाग्निसादशोफांश्च वृद्धाः कुर्वन्ति पीनसाः' यह श्लोक प्रतिश्याय से होने वाले रोगों के प्रतिपादन के लिये पढ़ा है। इसके टीकाकार आचार्य डल्हण ने भी इसी प्रकार माना है।

मधु०—अप्रतिक्रियया कालान्तरेण सर्व एव दुष्टप्रतिश्याया भवन्ति, ते चासाध्या इत्याह—सर्व एवेत्यादि। मूर्च्छन्ति चात्र क्रिमय इति अत्रेति एषु, बहुवचनान्तात् त्रल्प्रत्ययविधिः; अन्ये तु प्रत्यासन्नत्वाद्रक्तज एव क्रिमिमूर्च्छनं वदन्ति। श्वेता इति कफाधिकत्वात् प्रतिश्यायस्य सर्वत्र कफजा एव श्वेतक्रिमयो भवन्ति। क्रिमिजो यः शिरोरोगस्तुल्यं तेनास्य लक्षणमिति क्रिमिज-शिरोरोगेणैव तुल्यं लिङ्गं, तच्च 'निस्तुद्यते यस्य शिरोऽतिमात्रम्' इत्यादिना वक्ष्यमाणम् ॥२४-२६॥

प्रतिकार न करने पर कुछ समय बाद सभी प्रतिश्याय दुष्ट (प्रतिश्याय) हो जाते हैं और वे असाध्य होते हैं, यही कहते हैं कि—सर्व एवेति। 'मूर्च्छन्ति चात्र क्रिमयः' में पठित 'अत्र' शब्द का अर्थ, इन प्रतिश्यायों में, यह है। यहां 'त्रल्' प्रत्यय का विधान बहुवचनान्त से है। दूसरे आचार्य निकट होने से रक्तज प्रतिश्याय में ही क्रिमियों का उत्पन्न होना मानते हैं। 'श्वेताः' यह कथन कफ की अधिकता के कारण है। सभी प्रतिश्यायों में कफज श्वेत कृमि ही होते हैं। 'क्रिमिजो यः शिरोरोगः' आदि का अर्थ, यह प्रतिश्याय 'निस्तुद्यते यस्य शिरोऽतिमात्रं' आदि से प्रतिपादित शिरोरोग के समान लक्षणों वाला होता है, यह है।

दुष्टप्रतिश्यायजानन्यविकारान् परिगणयति—

बाधिर्यमान्ध्यमघ्रत्वं घोरांश्च नयनामयान्।
शोथाग्निसादकासांश्च वृद्धाः कुर्वन्ति पीनसाः ॥२७॥ (सु० ...)

बधिरता (सुनाई न देना), अन्धता (दिखाई न देना), अघ्राणता (सूँघाई न देना या गंध न आना), दारुण नेत्र रोग, शोथ (सूजन) और अग्निसाद ये लक्षण या रोग दुष्ट प्रतिश्यायों से होते हैं, या दुष्ट प्रतिश्यायों से बधिरता आदि रोग या लक्षण होते हैं।

(घोरानित्यादि—) घोर नेत्ररोगों को करते हैं, इस पाठ से ही जब अंधापन प्राप्त हो जाता है, तो पुनः 'आन्ध्य' शब्द का ग्रहण इसकी उत्पत्ति में प्रतिश्यायों की विशेष कारणता बताने के लिये है । शेष सब स्पष्ट ही है ।

नासागतार्बुदादीनां नामानि निरूपयति—

अर्बुदं सप्तधा शोथाश्चत्वारोऽर्शश्चतुर्विधम् ।
चतुर्विधं रक्तपित्तमुक्तं घ्राणेऽपि तद्विदुः ॥२८॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने नासारोगनिदान समाप्तम् ॥५८॥

सात प्रकार का अर्बुद, चार प्रकार का शोथ, चार प्रकार की अर्श और चार प्रकार का रक्तपित्त नासिका में भी होता है ।

मधु०—सुश्रुते नासारोगा एकत्रिंशदुक्ताः, अत्राप्यपीनसमारभ्य प्रतिश्यायपर्यन्तेन पञ्चदशोक्ताः, शेषसंख्यापूरणायापरान् षोडश नासारोगानाह—अर्बुदं सप्तधेत्यादि । एकैकदोषरक्तमांसमेदःसंभवत्वेन षडर्बुदानि, शालाक्यसिद्धान्तेन सन्निपातजमधिकम्, एवं सप्त । तथाच विदेहः—"सर्वलिङ्गं रुजायुक्तमर्बुदं विद्धि सर्वजम्" इति । शोथाश्चत्वारो वातपित्तकफसन्निपातजभेदात्, एवमर्शोऽपि चतुर्विधं, रक्तपित्तं चतुर्विधमपि रक्तपित्तत्वसामान्यादेकत्वेन गणनीयं, तेन न संख्यातिरेकः । अर्बुदादीनां तत्र तत्रोक्तानामत्राभिधानं शालाक्योक्तसंख्यापूरणार्थमाश्रयप्रभावेणातिरिक्तलिङ्गादिख्यापनार्थं च ॥२८॥

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायां नासारोगनिदानं समाप्तम् ॥५८॥

सुश्रुत में नासारोग इकत्तीस कहे हैं, यहां भी अपीनस से लेकर प्रतिश्याय तक पन्द्रह रोग कहे हैं, बाकी संख्या को पूर्ण करने के लिये और सोलह नासारोगों को कहता है कि—'अर्बुदं सप्तधा' इत्यादि । एक एक दोष से (तीन); रक्त, मांस और मेद से होने वाले छः अर्बुद होते हैं और शालाक्य सिद्धान्त के अनुसार होने वाला एक, एवं ये सात अर्बुद होते हैं । विदेह ने भी कहा है कि—'सभी दोषों से होने वाला अर्बुद सभी दोषों के लक्षणों वाला और पीड़ा से युक्त जानना चाहिए' । वात, पित्त, कफ और सन्निपात के भेद से शोथ चार प्रकार का होता है । इसी प्रकार अर्श भी चार प्रकार की होती है । रक्तपित्त चार प्रकार का होने पर भी रक्तपित्तत्व की समानता को लेकर एक ही गिना जाता है, इससे संख्यावृद्धि नहीं होती । उस २ स्थान में कहे हुए अर्बुदों का पुनः यहां निर्देश करना शालाक्यतन्त्र प्रतिपादित संख्या को पूर्ण करने के लिए तथा आश्रय के प्रभाव से होने वाले लिङ्गान्तरों को बताने के लिए है ।

अथ नेत्ररोगनिदानम् ।

नेत्ररोगाणां निदानमवतारयति—

उष्णाभितप्तस्य जले प्रवेशाद्
दूरेक्षणात् स्वप्नविपर्ययाच्च ।

---

१ सुश्रुते—अयं पाठ इत्थं दृश्यते यथा—उष्णाभितप्तस्य जलप्रवेशाद्दूरेक्षणात् स्वप्नविपर्ययाच्च । प्रसक्तसंरोदनकोपशोकक्लेशाभिघातादतिमैथुनाच्च ॥ शुक्तारनालाम्लकुलत्थमाषनिषेवणाद्वेगविनिग्रहाच्च.

खेदाद्रजोधूमनिषेवणाच्च
    छर्दिर्विघाताद् वमनातियोगात् ॥१॥ [सु० १।१]
द्रवात्तथाऽन्नान्निशि सेविताच्च
    विण्मूत्रवातक्रमनिग्रहाच्च ।
प्रसक्तसंरोदनकोपशोका-
    च्छिरोऽभिघातादतिमद्यपानात् ॥२॥ [सु० १।१]
तथा ऋतूनां च विपर्ययेण
    क्लेशाभिघातादतिमैथुनाच्च ।
बाष्पग्रहात् सूक्ष्मनिरीक्षणाच्च
    नेत्रे विकाराञ्जनयन्ति दोषाः ॥३॥ [सु० १।१]

धूप (आतप) आदि से तप्त शरीर वाले मनुष्य के जल में प्रवेश करने से, दृष्टि को दूर तक फैंकने से अर्थात् दूरस्थ पदार्थों को देखने से, स्वप्न के विपर्यय अर्थात् दिन को सोने और रात्रि को जागने से, स्वेद (पसीना), धूलि और धूम के आंखों में पड़ने से अर्थात् इनमें कार्य आदि करने के कारण इनका नेत्रों के साथ बहुत काल तक सम्बन्ध होने से, वमन के समागत वेग को रोकने से, वमनों के अधिक आने से, रात्रि को द्रवपदार्थ तथा अन्न के अधिक सेवन से, मल मूत्र और अपानवायु के रोकने से, निरन्तर रोने से, निरन्तर क्रोध करने से, निरन्तर शोक करने से, सिर में चोट लगने से, अत्यन्त मद्य (शराब) पीने से, ऋतुचर्या के विपर्यास से, क्लेश (कामादिदुःखमिति आतङ्कदर्पणकारः, कायादिदुःखमिति श्रीकण्ठदत्तः) से, अधिक मैथुन करने से, आनन्द शोकादि के कारण नेत्रों में प्राप्त जल बिन्दुओं (बाष्पों) को रोकने से और सूक्ष्म पदार्थों को देखने से दोष प्रकुपित होकर नेत्र में (यथायोग्य) विकारों को उत्पन्न करते हैं ।

वक्तव्य—इसका भाव यह है कि—उपर्युक्त कारणों की समष्टि या व्यष्टि (कारणसमूह या एक २ कारण) से प्रकुपित दोष निदान, सम्प्राप्ति, कर्म-फलादि के अनुसार नेत्र के जिस भाग में जायेंगे, वहीं विकारों को उत्पन्न करेंगे । यथा—यदि दोष सर्वगत होंगे तो सुश्रुतोक्त 'सर्वाश्रयाः सप्तदश' (सु. उ. तं. अ. १) के अनुसार स्यन्द आदि सत्रह (१७) रोगों को करते हैं । ये सत्रह रोग सुश्रुत ने इस प्रकार बताए हैं कि—[illegible]

[illegible]

दृष्टिस्तथाऽम्लाध्युषिता सिराणामुत्पातहर्षावपि सर्वभागाः' (सु. उ. तं. अ. ६)। यदि दोष सन्धिगत होंगे तो 'नवसन्ध्याश्रयास्तेषु' (सु. उ. तं. अ. १) के अनुसार पूयालस आदि नौ रोगों को करते हैं। वे रोग सुश्रुत ने इस प्रकार निर्दिष्ट किये हैं। यथा—'पूयालसः सोपनाहः स्रावाः पर्वणिकाऽलजी। क्रिमिग्रन्थिश्च विज्ञेया रोगाः सन्धिगता नव' (सु. उ. तं. अ. २)। सन्धियां सुश्रुत ने छः कही हैं। तद्यथा—'पक्ष्मवर्त्मगतः सन्धिर्वर्त्मशुक्लगतोऽपरः। शुक्लकृष्णगतस्त्वन्यः कृष्णदृष्टिगतोऽपरः। ततः कनीनकगतः षष्ठश्चापाङ्गगः स्मृतः' (सु. उ. तं. अ. १)। यदि दोष वर्त्मगत होंगे तो 'वर्त्मजास्त्वेकविंशतिः' (सु. उ. तं. अ. १) के अनुसार उत्सङ्गिनी आदि २१ रोगों को उत्पन्न करते हैं। वे रोग नामतः सुश्रुत ने इस प्रकार कहे हैं। तद्यथा—'उत्सङ्गिन्यथ कुम्भीका पोथक्यो वर्त्मशर्करा। तथाऽर्शोवर्त्म शुष्कार्शस्तथैवाञ्जननामिका॥ बहलं वर्त्म यच्चापि व्याधिर्वर्त्मावबन्धकः। क्लिष्टकर्दमवर्त्माख्यौ श्याववर्त्म तथैव च॥ प्रक्लिन्नमपरिक्लिन्नं वर्त्म वातहतं तु यत्। अर्बुदं निमिषश्चापि शोणितार्शश्च यत् स्मृतम्॥ लगणो बिशनामा च पक्ष्मकोपस्तथैव च। एकविंशतिरित्येते विकारा वर्त्मसंश्रयाः॥ नामभिस्ते समुद्दिष्टाः, (सु. उ. तं. अ. ३)। अथच यदि दोष शुक्लभागगत होंगे तो 'शुक्लभागे दशैकश्च' (सु. उ. तं. अ. १) के अनुसार प्रस्तारि आदि ११ रोग होते हैं, जिनका कि निर्देश आचार्य सुश्रुत ने इस प्रकार किया है। यथा—'प्रस्तारिशुक्लक्षतजाधिमांसस्नाय्वर्मसंज्ञाः खलु पञ्च रोगाः। स्युः शुक्तिका चार्जुनपिष्टकौ च जालं सिराणां पिडकाश्च याः स्युः॥ रोगा बलासग्रथितेन सार्धमेकादशाक्ष्णोः खलु शुक्लभागे' (सु. उ. तं. अ. ४)। किञ्च यदि दोष कृष्णभागगत होंगे तो 'चत्वारः कृष्णभागजाः' (सु. उ. तं. अ. १) के अनुसार सुश्रुतोक्त—'यत् सव्रणं शुक्र(क्र) मथाव्रणं वा पाकात्ययश्चाप्यजका तथैव। चत्वार एतेऽभिहिता विकाराः कृष्णाश्रयाः, (सु. उ. तं. अ. ५) ये चार रोग होंगे। एवं यदि दोष दृष्टिगत होंगे तो 'दृष्टिजा द्वादशैव तु' (सु. उ. तं. अ. १) के अनुसार तिमिरादि १२ रोग होते हैं। इसी प्रकार वाह्यज कारणों से अनिमित्तक और सनिमित्तक ये दो नेत्र रोग होते हैं। ये दोनों ही आगन्तुज माने जाते हैं, परन्तु बाद में ये भी दोष से सम्बन्धित हो जाते हैं; क्योंकि आगन्तुज रोग बाद में दोषों से सम्बन्धित होकर शारीरिक रोग और शारीरिक रोग बाद में मन को मथित कर मानसिक रोग हो जाते हैं। यथोक्तं चरके—'आगन्तुरन्वेति निजं विकारं निजस्तथाऽऽगन्तुमपि प्रवृद्धः' (चरकः)। एवं नेत्ररोगोत्पादक निदानों से प्रकुपित होकर दोष संयोग की भिन्नता के अनुसार नेत्र के उपर्युक्त जिस २ भाग में जाते हैं, वहां पर भी संयोगभेद के अनुसार भिन्न २ सम्प्राप्ति, भिन्न २ पूर्वरूप करते हुए भिन्न २ रूप दर्शा भिन्न २ रोग उत्पन्न करते हैं, जिनकी कि संख्या संक्षेपतः सुश्रुत ने ७६ बताई है। जैसे कहा भी है कि—'षट्

सप्ततिर्विकाराणामेषा संग्रहकीर्तिता' (सु. उ. तं. अ. १) । यद्यपि सभी नेत्र-विकारों की सम्प्राप्ति भिन्न २ नहीं दर्शाई गई और न ही सभी नेत्रविकारों के पूर्वरूप भिन्न २ बताए हैं, तो भी इससे यह नहीं समझना चाहिए कि ये हैं ही नहीं; प्रत्युत हैं, परन्तु आचार्यों ने विस्तार भय से उनका विन्यास नहीं किया । अत-एव सुश्रुत ने सभी रोगों की संक्षिप्त 'सिरानुसारिभिर्दोषैर्विगुणैरूर्ध्वमागतैः । जायन्ते नेत्रभागेषु रोगाः परमदारुणाः ॥' (सु. उ. तं. अ. १) । यह संप्राप्ति बता कर भी 'सिराभिरभिसंप्राप्य विगुणोऽभ्यन्तरे भृशम्' इत्यादि विशिष्ट नयनरोगों की विशिष्ट सम्प्राप्ति दर्शाई है । ऊपर कहा गया है कि नेत्ररोग ७६ होते हैं, परन्तु माधव ने 'कुञ्चन' और 'पक्ष्मशात' ये दो नेत्र रोग और भी माने हैं एवं सुश्रुत से इसका विरोध आता है । इसका समाधान यह है कि—सुश्रुत संहिता-ग्रन्थ है, उसमें सुश्रुत ने स्वमतानुसार अभिमत रोग ही दिये हैं, दूसरे नहीं । सुश्रुत के नेत्ररोग ७६ ही हैं । उसने कुञ्चन प्रभृति रोगों को नहीं माना । परन्तु माधवनिदान संग्रहग्रन्थ है, इसमें माधव ने पृथक् २ तन्त्रों के उपर्युक्त रोग दिये हैं । इसी सिद्धान्त के अनुसार प्रकृत में भी आचार्य माधव ने तन्त्रान्तर से कुञ्च-नादि नेत्ररोग उद्धृत कर स्वग्रंथ में सुविन्यस्त किये हैं । क्योंकि नियमानुसार संग्रहग्रंथों में सभी तन्त्रों का मत संगृहीत होता है । एवं यहां संख्यावृद्धि, प्रतिज्ञा-हानि वा विरोध रूप दोष नहीं आता । (ननु—) यदि ऐसा ही है, तो सुश्रुत ने भी एक 'कुकूणक' नाम वाला नेत्ररोग माना है, जिसके कि उसने वात, पित्त, कफ और रक्त के भेद से ४ भेद माने हैं, एवं सभी रोगों की गणना करने (कुकूणक को भी मिला कर) से सप्तसप्तति (७७) रोग बनते हैं । इस प्रकार सुश्रुत में भी 'षट्सप्ततिर्विकाराणामेषा संग्रहकीर्तिता' से व्याघात विरोध रूप दोष आता है । (उत्तर—) इसका उत्तर यह है कि यहां व्याघात विरोध दोष नहीं है, क्योंकि ७६ रोग सर्वसामान्य, अर्थात् बाल, युवा और वृद्धों में होने वाले हैं और 'कुकूणक' केवल बालकों में ही होता है । इसी कारण इसको सर्वसामान्य नयन-रोगों की संख्या में सुश्रुत ने नहीं गिना । यही भाव उसने स्वतन्त्र में भी दिखाया है । तथा—'पक्ष्मवर्त्मनि [illegible] रोगा [illegible] । [illegible] कुकूणकोऽन्यः' (सु. उ. तं. अ. १९) । एवं यहां भी व्याघातविरोध रूप दोष नहीं आता ।

मधु०—[illegible] कुकूणकः [illegible] [illegible] [illegible]

[illegible]

भेदेन सुश्रुतेनैव विभक्ताः । यदाह—"नव सन्ध्याश्रयास्तेषु वर्त्मजास्त्वेकविंशतिः । शुक्लभागे दशैकश्च चत्वारः कृष्णभागजाः ॥ सर्वाश्रयाः सप्तदश दृष्टिजा द्वादशैव तु । द्वौ च बाह्याश्रयावन्यावनिमित्तनिमित्तजौ ॥ षट्सप्ततिर्नेत्ररोगाः संग्रहेण प्रकीर्तिताः ॥" (सु. उ. तं. अ. १) इति । नेत्रप्रमाणं च सुश्रुतेनैवोक्तम्—"विद्याद् द्व्यङ्गुलबाहुल्यं स्वाङ्गुष्ठोदरसंमितम् । द्व्यङ्गुलं सर्वतः सार्धं भिषङ्नयनबुद्बुदम् ॥" (सु. उ. तं. अ. १) इति । द्व्यङ्गुलबाहुल्यं विस्तारेण, अन्तः स्वाङ्गुष्ठोदरसंमितं, द्व्यङ्गुलं सर्वतः सार्धमायामेन । अन्ये द्व्यङ्गुलबाहुल्यमिति यदुक्तं तत्र द्व्यङ्गुलमाननियमं स्वाङ्गुष्ठोदरसंमितमित्यनेनाहुः । अयमर्थः—स्वेनाङ्गुष्ठोदरेण संमितं द्व्यङ्गुलबहुलं, द्व्यङ्गुलं सर्वतः सार्धमिति चायामविस्ताराभ्यां बोद्धव्यमिति । ननु, यद्यर्धतृतीयाङ्गुलायामं नेत्रं तर्हि "द्व्यङ्गुलायतं च नयनम्" (सु. सू. स्था. अ. ३५) इत्यातुरोपक्रमणीयोक्तं विरुध्यते ? नैवं, वर्त्ममण्डलं गृहीत्वा गणनयाऽर्धतृतीयाङ्गुलं, तद्विरहात् द्व्यङ्गुलायतमिति न विरोधः । नयनरोगहेतुमाह— उष्णाभितप्तस्येत्यादि । उष्णेनातपादिना सन्तप्तदेहस्य जलावगाहनात्, शीतावृतदेहस्योर्ध्वगतेनोष्मणा नयनतेजसोऽभिभवाच्चक्षूरोगोदयः । स्वेदाद्रजोधूमनिषेवणाच्चेति घर्मरजोधूमानां नयनसंबन्धानां हेतुत्वम् । छर्देर्विघाताद्वान्तिवेगविघातात् । वमनातियोगादतिवान्तेः । विण्मूत्रवातक्रमनिग्रहात् विण्मूत्रवातानां क्रमेण शनैः शनैर्निग्रहाद्वेगविधारणात् । प्रसक्तसंरोदनशोककोपादिति प्रसक्तं निरन्तरं कृतसंरोदनादेरित्यर्थः । ऋतुविपर्ययेण एकर्तुचर्याया अन्यर्तौ करणेन । क्लेशाभिघातात् क्लेशः कायादिदुःखं, तेनाभिसंबन्धात् । बाष्पनिग्रहादश्रुवेगधारणात् । यदुक्तं—"आनन्दजं वाऽप्यथ शोकजं वा नेत्रोदकं प्राप्तममुञ्चतो हि । शिरोगुरुत्वं नयनामयाश्च भवन्ति तीव्राः सह पीनसेन ॥" इति । नयनरोगसंप्राप्तिश्च सुश्रुते पठ्यते—"सिरानुसारिभिर्दोषैर्विगुणैरूर्ध्वमाश्रितैः । जायन्ते नेत्रभागेषु रोगाः परमदारुणाः ॥" (सु. उ. तं. अ. १) इति ॥१-३॥

मुख, कर्ण, नासा आदि इन्द्रियों में होने वाले विकारों में होने के कारण अब आचार्य माधव नेत्र रोगों का निर्देश करते हैं । ये नेत्र रोग वात, पित्त, कफ, सन्निपात और रक्त से होते हुए ७६ (षट्सप्तति) संख्यक होते हैं । जैसे सुश्रुत ने कहा भी है कि—वात पित्त और कफ के २० रोग होते हैं, किन्तु कफ के ३ (तीन) और रोग भी होते हैं। इसका भाव यह है कि वायु के दस (१०), पित्त के दस (१०) और कफ के तेरह (१३) रोग होते हैं। एवं तीनों दोषों के ३३ नेत्र रोग होते हैं । रक्त से सोलह (१६), सन्निपात से पच्चीस (२५) और बाह्यज दो (२) । एवं इन नयन रोगों की संख्या षट्सप्तति (७६) होती है । इसका संक्षिप्त भावार्थ यह है कि वायु के दस, पित्त के दस, कफ के तेरह, रक्त के सोलह, सन्निपात के पच्चीस और बाह्यज दो एवं षट्सप्तति (७६) नयनविकार होते हैं। ये षट्सप्तति नेत्रविकार सुश्रुत ने आश्रय भेद से विभक्त किए हैं । तद्यथा—'इन षट्सप्तति नेत्र विकारों में से नौ (९) नेत्र की सन्धियों में, इक्कीस (२१) नेत्र के वर्त्म भाग में, ग्यारह (११) नेत्र के शुक्ल भाग में, चार (४) नेत्र के कृष्ण भाग में, सतारह (१७) नेत्र के सर्वभाग में, बारह (१२) नेत्र के दृष्टि भाग में और अनिमित्तज तथा निमित्तज ये दो आगन्तुज होते हैं । एवं सङ्कलित ये नयनविकार संक्षेप से षट्सप्तति संख्या वाले होते हैं । नेत्र का प्रमाण सुश्रुत ने स्वयं ही कहा है कि—'वैद्य नेत्रगोलक को अपने अङ्गुष्ठोदर (अङ्गुष्ठ के मध्य भाग) के समान दो अङ्गुलों के प्रमाण वाला जाने, तथा

नेत्र के आयाम और विस्तार का प्रमाण ढाई (२॥) अङ्गुल जानें । इसका भाव यह है कि नेत्रगोलक मनुष्य के अपने २ अङ्गुष्ठोदर प्रमाण वाला दो अङ्गुलों के प्रमाण वाला होता है, तथा वह चारों ओर से वा लम्बाई चौड़ाई से स्वाङ्गुष्ठोदर सम्मित ढाई (२॥) अङ्गुल प्रमित होता है (यह प्रमाण स्वस्थ तथा नियमानुसारोत्पन्न मनुष्यविषयक है, अस्वस्थ और अनियमानुसारोत्पन्न मनुष्यविषयक नहीं है)। इसी के भाव को श्रीकण्ठदत्त जी स्वयं इस प्रकार कहते हैं कि (द्व्यङ्गुलबाहुल्यम् इत्यादि—) अर्थात् 'द्व्यङ्गुलबाहुल्यं' से विस्तार की ओर से द्व्यङ्गुलबहुलता लेनी और 'अङ्गुलं सर्वतः सार्धं' से आयाम की ओर से सार्धद्व्यङ्गुल प्रमितता लेनी । यहां दूसरे आचार्य–'द्व्यङ्गुलबाहुल्यं' का 'स्वाङ्गुष्ठोदरसम्मित' विशेषण मानते हैं । इसका भाव यह है कि कई आचार्य कहते हैं कि—नेत्र का प्रमाण अपने अङ्गुष्ठोदर के समान जो दो अङ्गुल हैं, उनके बराबर है और आयाम तथा विस्तार से सार्धद्व्यङ्गुल है; यही आचार्य श्रीकण्ठदत्त ने 'अयमर्थः' से कहा है । अब यहां यह शंका होती है कि-यदि नयन का आयाम सार्धद्व्यङ्गुल (२॥) प्रमित है तो इससे आतुरोपक्रमणीय अध्यायोक्त 'नयन द्व्यङ्गुल आयाम वाला होता है' यह पाठ विरुद्ध सिद्ध होता है ? इसका उत्तर यह है कि जो प्रकृत में सार्धद्व्यङ्गुल नेत्रप्रमाण कहा है, वह वर्त्ममण्डल को लेकर कहा है और जो आतुरोपक्रमणीय अध्याय (सु. सू. स्था. अ. ३५) में द्व्यङ्गुल नेत्रप्रमाण कहा है, वह वर्त्ममण्डल को छोड़ कर शेष भाग का (प्रमाण) कहा है । इस सन्दर्भगत शङ्का तथा समाधान का भाव यह है कि—यदि नेत्र की लम्बाई ढाई अङ्गुल है तो इस मन्तव्य से आतुरोपक्रमणीयोक्त 'नेत्र की लम्बाई दो अङ्गुल है' यह मन्तव्य विरुद्ध होता है, इससे स्वोक्ति विरोध दोष आता है । इसका उत्तर यह है कि-यहां स्वोक्ति विरोध दोष नहीं आता, क्योंकि यहां ढाई अङ्गुल की गणना वर्त्ममण्डल सहित है और वहां (आतुरोपक्रमणीय में) दो अङ्गुल की गणना वर्त्ममण्डल को छोड़ कर है, एवं स्वोक्ति विरोध दोष नहीं आता । 'बाष्पनिग्रहात्' का अर्थ श्रीकण्ठदत्त जी अश्रु के वेगों का धारण करना मानते हैं । जैसे कहा भी है कि—आनन्द के कारण अथवा शोक के कारण उत्पन्न होकर पक्ष्मों में प्राप्त हुए नयनजल को रोकने से पीनसरोग के साथ २ शिरोगुरुता (सिर भारी होना) और शोथ नेत्ररोग होते हैं । नेत्ररोग की सम्प्राप्ति सुश्रुत में इस प्रकार पढ़ी है कि—'कुपिताः [illegible] सिरानुसारी दोषों से नेत्र के भिन्न २ भागों में अत्यन्त दारुण (नेत्र) रोग होते हैं' । यहां कई आचार्य 'नेत्रभागेषु' के स्थान पर 'नेत्ररोगेषु' यह पाठ मानते हैं । इसका अर्थ '[illegible]' के अनुसार 'नेत्ररूप पंक्तियों में (अत्यन्त दारुण रोग होते हैं)' यह होता है । इस पाठान्तर के स्वीकार करने से सर्व नेत्राश्रित रोगों का भी ग्रहण हो जाता है, अन्यथा [illegible] आदि भागों में होने वाले नेत्ररोगों का ही ग्रहण होता है, न कि सर्व नेत्राश्रित रोगों का । [illegible] नेत्ररोगों की (सर्व) सामान्य सम्प्राप्ति है । [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

[illegible]

अथास्य संख्यामाह—

वातात् पित्तात् कफात् [illegible] ।
[illegible] ॥ ३ ॥

भेदेन सुश्रुतेनैव विभक्ताः । यदाह—"नव सन्ध्याश्रयास्तेषु वर्त्मजास्त्वेकविंशतिः । शुक्लभागे दशैकश्च चत्वारः कृष्णभागजाः ॥ सर्वाश्रयाः सप्तदश दृष्टिजा द्वादशैव तु । द्वौ च बाह्याश्रयावन्यावनिमित्तनिमित्तजौ ॥ षट्सप्ततिर्नेत्ररोगाः संग्रहेण प्रकीर्तिताः ॥" (सु. उ. तं. अ. १) इति । नेत्रप्रमाणं च सुश्रुतेनैवोक्तम्—"विद्याद् द्व्यङ्गुलबाहुल्यं स्वाङ्गुष्ठोदरसंमितम् । द्व्यङ्गुलं सर्वतः सार्धं भिषङ्नयनबुद्बुदम् ॥" (सु. उ. तं. अ. १) इति । द्व्यङ्गुलबाहुल्यं विस्तारेण, अन्तः स्वाङ्गुष्ठोदरसंमितं, द्व्यङ्गुलं सर्वतः सार्धमायामेन । अन्ये द्व्यङ्गुलबाहुल्यमिति यदुक्तं तत्र द्व्यङ्गुलमाननियमं स्वाङ्गुष्ठोदरसंमितमित्यनेनाहुः । अयमर्थः—स्वेनाङ्गुष्ठोदरेण संमितं द्व्यङ्गुलबहुलं, द्व्यङ्गुलं सर्वतः सार्धमिति चायामविस्ताराभ्यां बोद्धव्यमिति । ननु, यद्यर्धतृतीयाङ्गुलायामं नेत्रं तर्हि "द्व्यङ्गुलायतं च नयनम्" (सु. सू. स्था. अ. ३५) इत्यातुरोपक्रमणीयोक्तं विरुध्यते ? नैवं, वर्त्ममण्डलं गृहीत्वा गणनयाऽर्धतृतीयाङ्गुलं, तद्विरहात् द्व्यङ्गुलायतमिति न विरोधः । नयनरोगहेतुमाह — उष्णाभितप्तस्येत्यादि । उष्णेनातपादिना सन्तप्तदेहस्य जलावगाहनात्, शीतावृतदेहस्योर्ध्वगतेनोष्मणा नयनतेजसोऽभिभवाच्चक्षूरोगोदयः । स्वेदाद्रजोधूमनिषेवणाच्चेति घर्मरजोधूमानां नयनसंबन्धानां हेतुत्वम् । छर्दिविघाताद्वान्तिवेगविघातात् । वमनातियोगादतिवान्तेः । विण्मूत्रवातक्रमनिग्रहात् विण्मूत्रवातानां क्रमेण शनैः शनैर्निग्रहाद्वेगविधारणात् । प्रसक्तसंरोदनशोककोपादिति प्रसक्तं निरन्तरं कृतसंरोदनादेरित्यर्थः । ऋतुविपर्ययेण एकर्तुचर्यायां अन्यर्तौ करणेन । क्लेशाभिघातात् क्लेशः कायादिदुःखं, तेनाभिसंबन्धात् । बाष्पनिग्रहादश्रुवेगधारणात् । यदुक्तं—"आनन्दजं वाऽप्यथ शोकजं वा नेत्रोदकं प्राप्तममुञ्चतो हि । शिरोगुरुत्वं नयनामयाश्च भवन्ति तीव्राः सह पीनसेन ॥" इति । नयनरोगसंप्राप्तिश्च सुश्रुते पठ्यते—"सिरानुसारिभिर्दोषैर्विगुणैरूर्ध्वमाश्रितैः । जायन्ते नेत्रभागेषु रोगाः परमदारुणाः ॥" (सु. उ. तं. अ. १) इति ॥१-३॥

मुख, कर्ण, नासा आदि इन्द्रियों में होने वाले विकारों में होने के कारण अब आचार्य माधव नेत्र रोगों का निर्देश करते हैं। ये नेत्र रोग वात, पित्त, कफ, सन्निपात और रक्त से होते हुए ७६ (षट्सप्तति) संख्यक होते हैं। जैसे सुश्रुत ने कहा भी है कि—वात पित्त और कफ के ३० रोग होते हैं, किन्तु कफ के ३ (तीन) और रोग भी होते हैं। इसका भाव यह है कि वायु के दस (१०), पित्त के दस (१०) और कफ के तेरह (१३) रोग होते हैं। एवं तीनों दोषों के ३३ नेत्र रोग होते हैं। रक्त से सोलह (१६), सन्निपात से पच्चीस (२५) और बाह्यज दो (२)। एवं इन नयन रोगों की संख्या षट्सप्तति (७६) होती है। इसका संक्षिप्त भावार्थ यह है कि वायु के दस, पित्त के दस, कफ के तेरह, रक्त के सोलह, सन्निपात के पच्चीस और बाह्यज दो एवं षट्सप्तति (७६) नयनविकार होते हैं। ये षट्सप्तति नेत्रविकार सुश्रुत ने आश्रय भेद से विभक्त किए हैं। तद्यथा—'इन षट्सप्तति नेत्र विकारों में से नौ (९) नेत्र की सन्धियों में, इक्कीस (२१) नेत्र के वर्त्म भाग में, ग्यारह (११) नेत्र के शुक्ल भाग में, चार (४) नेत्र के कृष्ण भाग में, सतारह (१७) नेत्र के सर्वभाग में, बारह (१२) नेत्र के दृष्टि भाग में और अनिमित्तज तथा निमित्तज ये दो आगन्तुज होते हैं। एवं सङ्कलित ये नयनविकार संक्षेप से षट्सप्तति संख्या वाले होते हैं।' नेत्र का प्रमाण सुश्रुत ने स्वयं ही कहा है कि—'वैद्य नेत्रगोलक को अपने स्वाङ्गुष्ठोदर (अङ्गुष्ठ के मध्य भाग) के समान दो अङ्गुलों के प्रमाण वाला जानें, तथा

नेत्र के आयाम और विस्तार का प्रमाण ढाई (२॥) अङ्गुल जानें । इसका भाव यह है कि नेत्रगोलक मनुष्य के अपने २ अङ्गुष्ठोदर प्रमाण वाला दो अङ्गुलों के प्रमाण वाला होता है, तथा वह चारों ओर से वा लम्बाई चौड़ाई से स्वाङ्गुष्ठोदर सम्मित ढाई (२॥) अङ्गुल प्रमित होता है (यह प्रमाण स्वस्थ तथा नियमानुसारोत्पन्न मनुष्यविपयक है, अस्वस्थ और अनियमानुसारोत्पन्न मनुष्यविपयक नहीं है)। इसी के भाव को श्रीकण्ठदत्त जी स्वयं इस प्रकार कहते हैं कि (द्व्यङ्गुलवाहुल्यम् इत्यादि—) अर्थात् 'द्व्यङ्गुलवाहुल्यं' से विस्तार की ओर से द्व्यङ्गुलवहुलता लेनी और 'त्र्यङ्गुलं सर्वतः सार्धं' से आयाम की ओर से सार्धद्व्यङ्गुल प्रमितता लेनी। यहां दूसरे आचार्य–'द्व्यङ्गुलवाहुल्यं' का 'स्वाङ्गुष्ठोदरसम्मितं' विशेपण मानते हैं। इसका भाव यह है कि कई आचार्य कहते हैं कि—नेत्र का प्रमाण अपने अङ्गुष्ठोदर के समान जो दो अङ्गुल हैं, उनके बराबर है और आयाम तथा विस्तार से सार्धद्व्यङ्गुल है; यही आचार्य श्रीकण्ठदत्त ने 'अयमर्थः' से कहा है । अब यहां यह शंका होती है कि–यदि नयन का आयाम सार्धद्व्यङ्गुल (२॥) प्रमित है तो इससे आतुरोपक्रमणीय अध्यायोक्त 'नयन द्व्यङ्गुल आयाम वाला होता है' यह पाठ विरुद्ध सिद्ध होता है ? इसका उत्तर यह है कि जो प्रकृत में सार्धद्व्यङ्गुल नेत्रप्रमाण कहा है, वह वर्त्ममण्डल को लेकर कहा है और जो आतुरोपक्रमणीय अध्याय (सु. सू. स्था. अ. ३५) में द्व्यङ्गुल नेत्रप्रमाण कहा है, वह वर्त्ममण्डल को छोड़ कर शेष भाग का (प्रमाण) कहा है। इस सन्दर्भस्थ शङ्का तथा समाधान का भाव यह है कि—यदि नेत्र की लम्बाई ढाई अङ्गुल है तो इस मन्तव्य से आतुरोपक्रमणीयोक्त 'नेत्र की लम्बाई दो अङ्गुल है' यह मन्तव्य विरुद्ध होता है, इससे स्वोक्ति विरोध दोप आता है। इसका उत्तर यह है कि–यहां स्वोक्ति विरोध दोप नहीं आता, क्योंकि यहां ढाई अङ्गुल की गणना वर्त्ममण्डल सहित है और वहां (आतुरोपक्रमणीय में) दो अङ्गुल की गणना वर्त्ममण्डल को छोड़ कर है, एवं स्वोक्ति विरोध दोष नहीं आता। 'वाष्पनिग्रहात्' का अर्थ श्रीकण्ठदत्त जी अश्रु के वेगों का धारण करना मानते हैं । जैसे कहा भी है कि—आनन्द के कारण अथवा शोक के कारण उत्पन्न होकर पक्ष्मों में आए हुए नयनजल को रोकने से पीनसरोग के साथ २ शिरोगुरुता (सिर भारी होना) और तीव्र नेत्ररोग होते हैं। नेत्ररोग की सम्प्राप्ति सुश्रुत में इस प्रकार पढ़ी है कि—'ऊर्ध्वाश्रित प्रकुपित सिरानुसारी दोपों से नेत्र के भिन्न २ भागों में अत्यन्त दारुण (नेत्र) रोग होते हैं'। यहां कई आचार्य 'नेत्रभागेपु' के स्थान पर 'नेत्रराजिषु' यह पाठ मानते हैं । इसका अर्थ 'नेत्राण्येव राजयो नेत्रराजयः' के अनुसार 'नेत्ररूप पंक्तियों में (अत्यन्त दारुण रोग होते हैं)' यह होता है। इस पाठान्तर के स्वीकार करने से सर्व नेत्राश्रित रोगों का भी ग्रहण हो जाता है, अन्यथा सन्धि आदि भागों में होने वाले नेत्ररोगों का ही ग्रहण होता है, न कि सर्व नेत्राश्रित रोगों का। उपर्युक्त सम्प्राप्ति नेत्ररोगों की (सर्व) सामान्य सम्प्राप्ति है। अतएव विशिष्ट रोगों की विशिष्ट सम्प्राप्ति आचार्य सुश्रुत यथोचित स्थान पर स्वयं बताते हैं। तद्यथा–प्रथम पटलगत तिमिररोग के व्याख्यान में सुश्रुत ने कहा है कि 'सिराभिरभिसंप्राप्य विगुणोऽभ्यन्तरे भृशम्' इत्यादि।

अभिष्यन्दस्य भेदानाह—

वातात् पित्तात् कफाद्रक्तादभिष्यन्दश्चतुर्विधः ।
प्रायेण जायते घोरः सर्वनेत्रामयाकरः ॥४॥

प्रायः वात, पित्त, कफ और रक्त से सभी नयनरोगों को उत्पन्न करने वाला (वा उत्पत्ति स्थान) चार प्रकार का दारुण अभिष्यन्द होता है।

वक्तव्य—प्रकृत में 'प्रायेण' यह पद दिया है, जिसका कि सम्बन्ध दो स्थानों पर हो सकता है। तद्यथा—पहले 'प्रायेण वातात् पित्तात् कफात् (तथा) रक्तात् सर्वनयनामयाकरो घोरश्चतुर्विधोऽभिष्यन्दो जायते' यहां वातादिकों के साथ 'प्रायेण' का सम्बन्ध होता है, जिससे यह भाव निकलता है कि चतुर्विध अभिष्यन्द अधिकतर (वा प्रायःशब्दो विशेषार्थः [चरकः] के अनुसार विशेषतः) वातादिकों से होता है, परन्तु कभी २ आगन्तुज कारण (अभिघातादि) से भी हो जाता है। अब यहां यह शङ्का होती है कि यदि आगन्तुज अभिष्यन्द भी होता है, तो अभिष्यन्दों की संख्या पाँच होती है, तथा आगन्तुज अभिष्यन्द से अधिमन्थ रोग भी होगा, एवं वे भी पाँच होंगे। इस प्रकार सुश्रुतोक्त ७६ रोगों के स्थान पर ७८ नेत्ररोग बन जाते हैं। किञ्च यदि आगन्तुज अभिष्यन्द भी होता है तो उसका निर्देश सुश्रुत ने क्यों नहीं किया ? इसका उत्तर यह है कि—'व्यपदेशस्तु भूयसा' (चरकः) के अनुसार यहां अधिकतर होने वाले वातादिज चतुर्विध अभिष्यन्द का निर्देश किया है। न्यूनतम होने के कारण आगन्तुज अभिष्यन्द का निर्देश नहीं किया, अथवा आगन्तुज अभिष्यन्द का अन्तर्भाव सुश्रुत ने बाह्यज रोगों में स्वीकार किया है, एवं इसके पृथक् निर्देश की कोई आवश्यकता नहीं रहती। इससे संख्यावृद्धि भी नहीं होती। 'प्रायेण' पद का दूसरा सम्बन्ध 'वातात् पित्तात् कफात् (तथा) रक्तात् प्रायेण सर्वनयनामयाकरो घोरश्चतुर्विधोऽभिष्यन्दो जायते' इस प्रकार होता है। इससे यह भाव निकलता है कि वातादिकों से अधिकतर अभिष्यन्द ही होता है, अन्य रोग इनसे अत्यल्प गणना में होते हैं। इसी बात का पोषक यहां 'सर्वनेत्रामयाकरः' यह विशेषण पद दिया है। इसका भाव यह है कि वातादिकों से अधिकतर अभिष्यन्द ही होता है, तदनु अभिष्यन्द से अन्य सभी रोग होते हैं, परन्तु कहीं २ वातादिकों से सीधे भी अन्य रोग हो जाते हैं; तथा कहीं २ अभिष्यन्द से अन्य रोग नहीं भी होते। इसी बात की पुष्टि सुश्रुतोक्त 'प्रायेण सर्वे नयनामयास्ते भवन्त्यभिष्यन्दनिमित्तमूलाः' यह पद्य भी करता है। यहां भी 'प्रायेण' पद का अर्थ उपर्युक्त ही है। यहां 'निमित्तमूलाः' इन दोनों शब्दों के एकार्थवाची होने पर भी दोष नहीं है, क्योंकि इसका अर्थ—अभिष्यन्द रूप कारण ही है, मूल (कारण) जिनका वे सभी रोग इत्यादि (अभिष्यन्दरूपकारणमेव मूलं [कारणं] येषां ते सर्वे नयनामयाः इत्यादि) इस प्रकार है। अथवा इसका अर्थ 'अभिष्यन्दों के कारण (वातादि) ही हैं, कारण जिनके वे सभी नेत्ररोग इत्यादि (अभिष्यन्दानां कारणमूलानि (कारणानि) येषां ते सर्वे नयनामयाः इत्यादि)' इस प्रकार है।

इस अर्थ को स्वीकार करने से अभिष्यन्दज व्याधियों में भी दोषजन्यता (दोषों की कारणता) सिद्ध होती है, अन्यथा दोषजन्य नेत्रविकारों में दोषजन्यता (दोषों की कारणता) और अभिष्यन्दजन्य नेत्रविकारों में अभिष्यन्दजन्यता (अभिष्यन्दों की कारणता) ही होगी; अर्थात् दोषजन्य नयनविकारों में दोष और अभिष्यन्दजन्य नयनविकारों में अभिष्यन्द ही कारण होंगे।

मधु०—सामान्यपूर्वकत्वाद्विशेषस्य, तथा सर्वनयनरोगहेतुत्वाच्च, आदौ सर्वनयनगतमभिष्यन्दमाह—वातादित्यादि। घोर इति दुःसहवेदनः। सर्वनेत्रामयाकर इति सर्वेषां नेत्ररोगाणामधिमन्थादीनामाकर उत्पत्तिकरत्वादाकरः स्थानम्। अत एवाह सुश्रुतः—"प्रायेण सर्वे नयनामयास्ते भवन्त्यभिष्यन्दनिमित्तमूलाः॥" (सु. उ. तं. अ. १) इति॥४॥

सामान्यपूर्वकत्वाद्विशेषस्येत्यादि की भाषा स्पष्ट ही है।

वाताभिष्यन्दस्य लक्षणमाह—

निस्तोदनस्तम्भनरोमहर्ष-
संघर्षपारुष्यशिरोऽभितापाः।
विशुष्कभावः शिशिराश्रुता च
वाताभिपन्ने नयने भवन्ति॥५॥ [सु० ६।६]

वात से उत्पन्न अभिष्यन्द में सुइयों की सी चुभान, जड़ता, लोमहर्ष, संघर्ष (रड़कन), परुषता, शिरःपीड़ा, नेत्रमल का अभाव और अश्रुओं की शीतलता होती है।

वक्तव्य—उपर्युक्त 'विशुष्कभावः' इस पद के दो अर्थ होते हैं—एक 'नेत्रमल राहित्य' और दूसरा 'आस्रावराहित्य'। आचार्यों ने प्रायः प्रथम अर्थ को ही समुचित माना है और दूसरे अर्थ को इसलिए दूषित किया है कि पद्य में 'शिशिराश्रुता' यह पद पढ़ा है, एवं यदि 'विशुष्कभावः' का अर्थ 'आस्राव (अश्रु) राहित्य' माना जावे तो 'शिशिराश्रुता' नहीं हो सकती और यदि 'शिशिराश्रुता' हो तो 'आस्रावराहित्य' नहीं हो सकता; क्योंकि ये दोनों धर्म परस्पर विरुद्ध हैं और यदि विरुद्ध धर्मों का लक्षण में न्यास किया जावे तो वह लक्षण 'संकर' दोष से दुष्ट होता है। इसलिये (आचार्य) 'शुष्क' शब्द से 'नेत्रमल' लेकर 'विशुष्कभावः' का अर्थ 'नेत्रमलरहितत्व' मानते हैं। परन्तु यदि 'विशुष्कभावः' का अर्थ 'आस्रावरहितत्व' भी माना जावे तो भी कोई दोष नहीं आता, क्योंकि कहीं २ व्याधि में दो विरुद्ध धर्म भी देखे जाते हैं, जैसे 'वातरक्त' की पूर्वावस्था में कहीं २ स्वेद अत्यधिक आता है और कहीं २ बिल्कुल नहीं आता। जैसे कहा भी है कि—'स्वेदोऽत्यर्थं न वा' इत्यादि। एवं प्रकृत में भी कहीं २ (अर्थात् किसी २ रोगी में) आस्रावराहित्य और कहीं २ शिशिराश्रुता होगी। अर्थात् जिस रोगी में आस्रावराहित्य यह लक्षण होगा वहां

शिशिराश्रुता नहीं होगी और जहां शिशिराश्रुता होगी वहां आस्रावराहित्य नहीं होगा। एवं ये दोनों एकत्र नहीं होते, क्योंकि रोग के सभी लक्षण रोगी में नहीं आते; अन्यथा रोग में असाध्यता आवेगी और प्रकृत रोग साध्य है। एवं प्रकृत रोग में भी सामान्य विशेष न्याय से सर्वसम्पूर्णलक्षणता होने पर असाध्यता आती है। अतः यह मानना पड़ता है कि इस रोग में भी सभी लक्षण नहीं होते। जब सभी लक्षण एकत्र (साध्यरोगे) नहीं होते तो यह हो सकता है कि जहां आस्रावराहित्य हो वहां शिशिराश्रुता न होगी और जहां शिशिराश्रुता होगी वहां आस्रावराहित्य न होगा। एवं 'विशुष्कभावः' का दूसरा अर्थ भी संगत हो सकता है, तथा 'संकर' दोष भी नहीं आता। यदि यह शङ्का हो कि—जहां इस रोग के सम्पूर्ण लक्षण होते हों (रिष्ट में) वहां कैसे होगा, क्योंकि ये दोनों परस्पर विरुद्ध भाव हैं? इसका उत्तर यह है कि—वहां कालभेद से इन लक्षणों की उत्पत्ति होगी अर्थात् कभी स्रावराहित्य होगा और कभी शिशिराश्रुता होगी। इन दो अर्थों में से प्रथम अर्थ ही ठीक है। अतः आचार्यों ने प्रायः वैसी ही व्याख्या की है। कई आचार्यों ने तो 'विशुष्कभावः' में उपर्युक्त आपत्तियाँ देखकर वहां 'शुष्काल्पदूषिकहिमाश्रुता च' यह पाठान्तर माना है। यथाह डल्हणः-'विशुष्कभावः शिशिराश्रुता च' इत्यत्र 'शुष्काल्पदूषिकहिमाश्रुता च' इति केचित् पठन्ति।

मधु०—वाताभिष्यन्दरूपमाह—निस्तोदनेत्यादि। निस्तोदनं सूचीव्यधनवद्व्यथा, स्तम्भनं जडिमा, संघर्षः करकरिका, पारुष्यं रूक्षता, शिरोभितापः शिरोव्यथा। विशुष्कभावो दूषिकारहितत्वं, न त्वास्रावरहितत्वं, शिशिराश्रुतेत्युक्तेः ॥५॥

वाताभिष्यन्दरूपमाहेत्यादि सरल ही है।

पित्ताभिष्यन्दस्य स्वरूपमाह—

दाहप्रपाकौ शिशिराभिनन्दा
धूमायनं बाष्पसमुच्छ्रयश्च।
उष्णाश्रुता पीतकनेत्रता च
पित्ताभिपन्ने नयने भवन्ति ॥६॥ [सु० ६।६]

पित्त से उत्पन्न होने वाले अभिष्यन्द में दाह, प्रपाक, शीताभिलाषा, धूमोद्गमन, अश्रुबहुलता, उष्णबाष्पता और पीतनेत्रता (नेत्रों में पीलापन) होती है। यहां 'शीताभिलाषा' में शीत उपशय रूप है।

वक्तव्य—यहां 'बाष्पसमुच्छ्रयश्च' और 'उष्णाश्रुता' इन दोनों पदों का भाव 'बाष्पों का अधिक एवं उष्ण आना' है, यद्यपि यह भाव एक पद से भी प्रकट हो सकता था परन्तु दो पदों का समावेश छन्दोभङ्ग के भय से किया है; अथवा—एक पद के स्थान में दो पदों का न्यास यह बताता है कि कहीं २

वाष्पों की बहुलता एवं उष्णता दोनों होंगी और कहीं २ केवल उष्णाश्रुता तथा कहीं २ केवल वाष्पबहुलता ही होगी।

मधु०—पैत्तिकलक्षणमाह—दाहप्रपाकावित्यादि । प्रपाकः प्रकृष्टपाकः । शिशिराभिनन्दा शीतेच्छा । धूमायनं धूमस्योद्गमनम् । वाष्पसमुच्छ्रयो वाष्पवाहुल्यम् ॥६॥

पैत्तिकलक्षणमाहेत्यादि सुगम ही है।

कफाभिष्यन्दस्य लक्षणमाह—

उष्णाभिनन्दा गुरुताऽक्षिशोथः
कण्डूपदेहावतिशीतता च ।
स्रावो मुहुः पिच्छिल एव चापि
कफाभिपन्ने नयने भवन्ति ॥७॥ [सु० ६।६]

कफ के कारण होने वाले अभिष्यन्द रोग में उष्णता से सुख होता है तथा उसमें गौरव, (अक्षि) शोथ, खुजली, नेत्रमलबाहुल्य, (नेत्र) शैत्य और स्राव बार २ एवं पिच्छिल आता है।

मधु०—कफजलिङ्गमाह—उष्णाभिनन्देत्यादि । उपदेहः पिच्चटबाहुल्यम् । शीतता नेत्रस्य । पिच्छिल इति स्रावविशेषणम् । कफाभिपन्ने कफयुक्ते । नयने चक्षुषि । भवन्ति जायन्ते ॥७॥

कफजलिङ्गमाहेत्यादि सरल ही है।

रक्ताभिष्यन्दस्य लक्षणमाह—

ताम्राश्रुता लोहितनेत्रता च
नाड्यः समन्तादतिलोहिताश्च ।
पित्तस्य लिङ्गानि च यानि तानि
रक्ताभिपन्ने नयने भवन्ति ॥८॥ [सु० ६।६]

रक्त के (वातादि से दुष्ट रक्त के) कारण उत्पन्न होने वाले अभिष्यन्द नामक विकार में नयनस्राव ताम्रवर्ण का, नयन रक्तवर्ण के और नेत्र नाड़ियाँ चारों ओर से रक्तवर्ण की होती हैं, एवं इसमें पित्तजाभिष्यन्दोक्त लक्षण भी होते हैं। अर्थात् इसमें दाह, प्रपाक, शीताभिलाषा (शीतलता से सुख प्राप्ति), धूमायन आदि पित्ताभिष्यन्दोक्त लक्षण भी होते हैं।

मधु०—रक्ताभिष्यन्दलक्षणमाह—ताम्राश्रुतेत्यादि। पित्तस्य लिङ्गानीति पित्ताभिष्यन्दलिङ्गानि ॥८॥

रक्ताभिष्यन्दलक्षणमाहेत्यादि स्पष्टमेव।

अधिमन्थानामभिष्यन्दजत्वमाह—

वृद्धैरेतैरभिष्यन्दैर्नराणामक्रियावताम् ।
तावन्तस्त्वधिमन्थाः स्युर्नयने तीव्रवेदनाः ॥९॥ [सु० ६।६]

१ गुरुताऽक्षिशोफः. २ कण्डूपदेहौ सितताऽतिशैत्यम्. ३ राज्यः.

जो मनुष्य उत्पन्न हुए २ (अभिष्यन्द) रोगों की प्रमादादिवश चिकित्सा नहीं करते, उनके नेत्र में बढ़े हुए इन अभिष्यन्दों से वातादिक दोषों की निस्तोदनादि वेदनाओं से युक्त एवं अभिष्यन्दों की संख्या के समान संख्या वाले अधिमन्थ नामक (चार) विकार उत्पन्न होते हैं।

वक्तव्य—उपर्युक्त पद्य में 'तीव्रवेदना' यह पद सामान्यवाचक है, जिससे यह भाव निकलता है कि जिस अभिष्यन्द से जो अधिमन्थ होगा उसमें उसी अभिष्यन्द की वेदनाएं (लक्षण) भी आवेंगी, अर्थात् वातिक अभिष्यन्द से वातिक अधिमन्थ ही होता है और उसमें तीव्र वातिक निस्तोदादि सम्पूर्ण वेदनाएं आती हैं, एवं पैत्तिक अभिष्यन्द से पैत्तिक अधिमन्थ ही होता है, जो कि पित्ताभिष्यन्दोक्त पैत्तिक दाह प्रपाकादि लक्षणों की तीव्रता से युक्त होता है। एवमेव श्लैष्मिक अभिष्यन्द से श्लैष्मिक अधिमन्थ ही उत्पन्न होता है, जिसमें कि श्लैष्मिक अभिष्यन्दोक्त उष्णाभिनन्दन आदि श्लैष्मिक लक्षण वा श्लैष्मिक वेदनाएं तीव्ररूप में होती हैं। इसी प्रकार रक्ताभिष्यन्दज अधिमन्थ भी रक्ताधिमन्थ ही होता है और उसमें रक्ताभिष्यन्दोक्त ताम्राश्रुता आदि तथा दाहप्रपाकादि पैत्तिक अभिष्यन्द की वेदना भी तीव्ररूप में होती है। इस तरह 'तीव्रवेदना' शब्द का अर्थ, जिस वातादि अभिष्यन्द से जो वातादि अधिमन्थ होता है, उसमें उत्पादक वातादि अभिष्यन्द की निस्तोदनादि पीड़ाएं भी तीव्ररूप में होती हैं, यह है।

मधु०—अधिमन्थानामभिष्यन्दजत्वमाह—वृद्धैरित्यादि । तावन्त इति अभिष्यन्दैर्वातपित्तकफरक्तजैश्चत्वारोऽधिमन्थाः प्रत्येतव्याः । तीव्रवेदना इति सामान्यलक्षणम् । वेदनाशब्दश्चात्र व्यथामात्रवाची, तेन वातिकाभिष्यन्दाद्वातिक एवाधिमन्थस्तीव्रवातजनिततोदादिसकलवेदनः, एवं पित्तजकफजरक्तजाश्चाधिमन्थाः प्रत्येतव्याः ॥९॥

(तीव्रवेदनेति—) 'तीव्रवेदना' यह सामान्य लक्षण है और यहां वेदना शब्द केवल व्यथा का वाचक है। इससे यह सिद्ध होता है कि वातिक अभिष्यन्द से तीव्र वात से उत्पन्न तोदादि सम्पूर्ण पीड़ाओं वाला वातिक अधिमन्थ ही होता है। इसी प्रकार पैत्तिक, श्लैष्मिक और शोणित अधिमन्थ भी जानने (चाहिएं)।

अधिमन्थस्य सामान्यस्वरूपमाह—

उत्पाट्यत इवात्यर्थं नेत्रं निर्मथ्यते तथा।
शिरसोऽर्धं च तं विद्यादधिमन्थं स्वलक्षणैः ॥१०॥ [सु० ६।६]

(सामान्यतः) अधिमन्थ में नेत्र और आधा सिर अत्यन्त उत्पाटित सा तथा अत्यन्त निर्मथित सा होता है। (विशेषतः) अधिमन्थ को अपने २ लक्षणों से जानना चाहिए।

वक्तव्य—भाव यह है कि सभी अधिमन्थों में नेत्र और आधे सिर का उत्पाटित सा तथा निर्मथित सा होना सामान्य लक्षण है और निस्तोदन आदि वातिक, दाहप्रपाकादि पैत्तिक, उष्णाभिनन्दन आदि श्लैष्मिक तथा ताम्राश्रुता

आदि रक्तज लक्षणों का होना विशेष लक्षण है, एवं इन्हीं विशेष लक्षणों से विशेष २ अधिमन्थ को जानना चाहिए। अर्थात् उत्पाटनादि सामान्य वेदना-(लक्षणा)न्वित अधिमन्थ को निस्तोदनादि विशेष वेदनाओं (लक्षणों) से विशेषरूप में जानना चाहिए। तद्यथा—उत्पाटनादि सामान्य लक्षणान्वित एवं निस्तोदादि विशेष लक्षणान्वित अधिमन्थ को वातिकाधिमन्थ, उत्पाटनादि सामान्य लक्षणान्वित एवं दाह प्रपाकादि विशेष लक्षणान्वित अधिमन्थ को पैत्तिक अधिमन्थ, उत्पाटनादि सामान्य लक्षणान्वित एवं उष्णाभिनन्दन आदि विशेष लक्षणान्वित अधिमन्थ को श्लैष्मिक अधिमन्थ और उत्पाटनादि सामान्य लक्षणान्वित एवं ताम्राश्रुता आदि विशेष लक्षणान्वित अधिमन्थ को रक्तज अधिमन्थ जानना चाहिए। इस प्रकार इनका विशेष ज्ञान विशेष लक्षणों से ही होता है, अतएव आचार्य ने 'विद्यादधिमन्थं स्वलक्षणैः' कहा है।

मधु०—अस्यापरं सामान्यलक्षणमाह—उत्पाट्यत इत्यादि। शिरसोऽर्धमित्यत्र पूर्वक्रिये संवध्येते, तेन शिरसोऽर्धमुत्पाट्यते तथा निर्मथ्यते चेत्यर्थः। शिरसोऽर्धे च वेदना व्याधिप्रभावात्। स्वलक्षणैरिति यथोक्तवाताद्यभिष्यन्दलक्षणैः। स चाधिमन्थः स्यन्दात्मकः ॥१०॥

अस्यापरमित्यादि स्पष्ट ही है।

दोषभेदेन तस्य दृष्टिविघातकतायाः कालावधिमाह—

हन्याद्दृष्टिं[1] श्लैष्मिकः सप्तरात्रा-
दधीमन्थो रक्तजः पञ्चरात्रात्।
षड्रात्राद्वा[2] वातिको वै निहन्यात्
मिथ्याचारात् पैत्तिकः सद्य एव ॥११॥ [सु० ६।६]

मिथ्या आचरण (उस २ अधिमन्थ के प्रतिकूल आहार विहारादि सेवन) से श्लैष्मिक अधिमन्थ सात दिन में, रक्तज अधिमन्थ पांच दिन में, वातिक अधिमन्थ छः दिन में और पैत्तिक अधिमन्थ शीघ्र (तीन दिन में) ही दृष्टि को नष्ट कर देता है।

मधु०—यावता[3] कालेन मिथ्याचाराद्दृष्टिं हन्ति तमाह—हन्यादित्यादि। सद्य एवेति श्लेष्मणि सप्तरात्रस्योक्तत्वात् सद्यःशब्देनात्र त्रिरात्रमुक्तं, वैद्यके हि सद्यःशब्दस्य त्रिरात्रसप्तरात्रवाचित्वेन दृष्टत्वात्। कालावधिरत्र व्याधिस्वभावात् ॥११॥

(सद्य एवेतीति—) उपेक्षित श्लैष्मिक अधिमन्थज दृष्टिनाश में सात दिन की अवधि प्रतिपादित होने से पैत्तिक उपेक्षित अधिमन्थज दृष्टिनाश में 'सद्यः' शब्द से तीन दिन लिये जाते हैं, क्योंकि वैद्यक में 'सद्यः' शब्द से तीन दिन वा सात दिन लिये जाते हैं।

---

१ हन्याद्दृष्टिं सप्तरात्रात्कफोत्थोऽधीमन्थोऽसृक्सम्भवः पञ्चरात्रात्। षड्रात्राद्वै मारुतोत्थो निहन्यान्मिथ्याचारात् पैत्तिकः सद्य एव' ॥ इति सु० पाठान्तरम्. २ यत्षड्रात्राद्वातिको. ३ दोषभेदेन कालावधिमाह—हन्यादित्यादि.

वक्तव्य—भाव यह है कि उपेक्षित पैत्तिक अधिमन्थज दृष्टिनाश तीन दिन में होता है, क्योंकि 'सद्यः' शब्द का अर्थ वैद्यकतन्त्र में तीन दिन वा सात दिन होता है। यहां 'सद्यः' शब्द का अर्थ ७ दिन इसलिए नहीं लिया जाता कि यह अवधि उपेक्षित श्लैष्मिक अधिमन्थज दृष्टिनाश की है, अत एव प्रकृत में 'सद्यः' शब्द से तीन दिन लिए जाते हैं। इस पद्य के प्रतिपादन का फल यह है कि वात आदि अधिमन्थ सम्यगुपचार साध्य हैं, इनमें प्रमाद करने से दृष्टि नष्ट हो जाती है, अतः वैद्य और आतुर दोनों ही सावधान रहें, जिससे कि वे उक्त दिनों में ही इनका सम्यगुपचार कर दृष्टि को नष्ट न होने दें। यही इसके प्रतिपादन का फल है।

नेत्ररोगस्य सामत्वस्वरूपमाह—

उदीर्णवेदनं नेत्रं रागशोथसमन्वितम् ।
घर्षनिस्तोदशूलाश्रुयुक्तमामान्वितं विदुः ॥१२॥

अत्यन्त पीड़ान्वित, राग और शोथ से युक्त एवं घर्षण ('रड़कन' इति पञ्जापभाषायाम्), तोद, शूल और अश्रुओं से समन्वित नेत्र सामावस्था वाला होता है।

वक्तव्य—भाव यह है कि अल्प पीड़ा आदि साम नेत्ररोग के लक्षण हैं, इन्हीं से नेत्र की सामता का ज्ञान होता है। इनका निर्देश लङ्घन प्रलेप आदि के विधानार्थ तथा अञ्जन आदि के निषेधार्थ है। यथोक्तमन्यत्र—'स्वेदः प्रलेप स्तिक्तान्नमित्यादि'।

मधु०—लङ्घनप्रलेपादिविधानार्थमञ्जनादिनिषेधार्थं च, नेत्ररोगस्य सामत्वलक्षणमाह—उदीर्णवेदनमित्यादि। उदीर्णवेदनमुद्गतबहुवेदनम्। घर्षः करकरिका। लङ्घनादिविधानार्थमञ्जनादिनिषेधार्थं च तन्त्रान्तरम्,—"स्वेदः प्रलेपस्तिक्तान्नं धूमो दिनचतुष्टयम्। लङ्घनं चाक्षिरोगाणामामानां पाचनानि षट्॥ अञ्जनं सर्पिषः पानं कषायं गुरुभोजनम्। नेत्ररोगेषु सामेषु स्नानं चापि विवर्जयेत्"—इति ॥१२॥

(लङ्घनादिविधानार्थमिति—) लङ्घनादिक के विधानार्थ तथा अञ्जनादिक के प्रतिषेधार्थ तन्त्रान्तर का वाक्य भी है कि—'साम नेत्ररोगों में चार दिन तक स्वेद, प्रलेप, तिक्त अन्न और धूम्रपान का सेवन कराना चाहिए; एवं छः दिन तक (साम नेत्ररोगों में) लङ्घन और पाचन कराना चाहिए। अञ्जन (सुर्मा), घृतपान, कषायपान, गुरुभोजन, और स्नान साम नेत्ररोगों में त्याज्य है।

नेत्ररोगस्य निरामलिङ्गतां निरूपयति—

मन्दवेदनता कण्डूः संरम्भाश्रुप्रशान्तता ।
प्रशस्तवर्णता चाक्ष्णोः संपक्वं दोषमादिशेत् ॥१३॥

जब नेत्र रोग में पीड़ा मन्द, शोथ की शान्ति, अश्रुओं का विराम और नेत्रों का वर्ण ठीक हो जाता है, तब दोषों को पक्व अर्थात् निराम अवस्था में जानना चाहिए।

वक्तव्य—भाव यह है कि जब नयनविकारों में मन्द पीड़ा आदि लक्षण आ जाएं तो समझना चाहिए कि अब निरामता आ गई है। निरामपन का ज्ञान चिकित्सा में लाभ के लिए है।

मधु०—निरामलक्षणमाह—मन्देत्यादि। संरम्भाश्रुप्रशान्ततेति संरम्भः शोथस्तस्य, अश्रुणो नेत्रजलस्य च प्रशमः ॥१३॥

सशोथनेत्रपाकस्य लिङ्गमाह—

कण्डूपदेहाश्रुयुतः पक्वोदुम्बरसंनिभः।
संरम्भी पच्यते यस्तु नेत्रपाकः स शोथजः।

खुजली, नेत्रमल और नयनजल से युक्त तथा पक्व उदुम्बर के समान रक्तवर्ण एवं शोथान्वित होकर जो पकता है, वह शोथज नेत्रपाक होता है। इसका भाव यह है कि जिस नेत्रपाक में खुजली आदि लक्षण हों, वह नेत्रपाक रूप रोग सशोफनेत्रपाक कहलाता है और खुजली आदि उसके प्रत्यायक चिह्न हैं।

वक्तव्य—यहां इस पद्य में पूर्वार्ध के अनन्तर तथा उत्तरार्ध के पूर्व सुश्रुत ने एक और पद्य भी पढ़ा है। तद्यथा—'दाहसंहर्षताम्रत्वशोफनिस्तोदगौरवैः। जुष्टो मुहुः स्रवेच्चास्रमुष्णशीताम्बु पिच्छिलम् ॥' (सु. उ. तं. अ. ६)।

अशोथनेत्रपाकं लक्षयति—

शोथहीनानि लिङ्गानि नेत्रपाके त्वशोथजे ॥१४॥

अशोफज नेत्रपाक उक्त सशोफज नेत्रपाक के लक्षणों से रहित वा विपरीत लक्षणों वाला होता है।

वक्तव्य—इसका भाव यह है कि उक्त सशोफज नेत्रपाक के लक्षणों से रहित वा विपरीत लक्षणों वाला नेत्रपाक अशोफज नेत्रपाक कहलाता है अर्थात् अशोफज नेत्रपाक में सशोफज नेत्रपाकोक्त कण्डू आदि लक्षण नहीं होते।

मधु०—सशोथपाकलिङ्गमाह—कण्डूपदेहाश्रुयुत इत्यादि। पक्वोदुम्बरसंनिभ इति लोहितः। संरम्भीति शोथवान्; कार्तिकस्तु महारम्भवानित्याह; शोथस्त्वनुक्तोऽपि गम्यते, तत्प्रधानत्वात् पाकस्य, उत्तरत्र शोथहीनानीत्यस्याभिधानाच्च। अयं त्रिदोषजः, एवमशोथपाकश्च ॥१४॥

वाताधिमन्थात् हताधिमन्थोत्पत्तिमाह—

उपेक्षणादक्षि यदाऽधिमन्थो
वातात्मकः सादयति प्रसह्य।
रुजाभिरुग्राभिरसाध्य एष
हताधिमन्थः खलु नाम रोगः ॥१५॥

उपेक्षा करने से जब वाताधिमन्थ नामक रोग नेत्र को एकदम शुष्क कर देता है तो उग्र निस्तोद आदि पीड़ाओं से युक्त वह हताधिमन्थ नामक रोग कहलाता है।

वक्तव्य—उपर्युक्त का भाव यह है कि जब वातात्मक अधिमन्थ की उपेक्षा की जाती है तो वह हठात् नेत्र को शुष्क कर देता है और निस्तोदादि पीड़ाओं को उग्र रूप में करता हुआ स्वयं हताधिमन्थ नामक रोग बन जाता है, अर्थात् जब उपर्युक्त बातें हो जावें तो वातिक अधिमन्थ रोग हताधिमन्थ नामक रोग में परिणत हो जाता है। इसकी उत्पत्ति इस प्रकार होती है कि वाताधिमन्थ की उपेक्षा करने से पुनः अधिक रूप से प्रकुपित वायु आभ्यन्तरीय शिराओं में स्थिति कर दृष्टि को बाहर निकालता हुआ हताधिमन्थ नामक रोग को उत्पन्न करता है। इसी भाव को आचार्य सुश्रुत भी बताते हैं कि—'अन्तः सिराणां श्वसनः स्थितो दृष्टिं प्रतिक्षिपन्। हताधिमन्थं जनयेत्तमसाध्यं विदुर्बुधाः' (सु. उ. तं. अ. ६)।

मधु०—हताधिमन्थलक्षणमाह—उपेक्षणादित्यादि। अयं रोगो विदेहे दृष्ट्युत्क्षेप-लक्षण एकः, अन्यः सकलनयनशोषलक्षणः पठ्यते। तद्यथा,—"अन्तर्गतः सिराणां तु यदा तिष्ठति मारुतः। स तदा नयनं प्राप्य शीघ्रं दृष्टिं निरस्यति॥ तस्यां निरस्यमानायां निर्मन्थन्निव मारुतः। नयनं निर्वमत्याशु शूलतोदाधिमन्थनैः"—इति। इदं दृष्टिनिर्गमलक्षणम्। अत एवैत-स्मिन्नर्थे सुश्रुते केचित् पठन्ति,—"अन्तः सिराणां श्वसनः स्थितो दृष्टिं प्रतिक्षिपन्। हताधिमन्थं जनयेत्तमसाध्यं विदुर्बुधाः"—इति। विदेह एव सकलाक्षिशोषः पठ्यते,—"अथवा शोषयेदक्षि क्षीण-तेजोबलादयम्[1]। तत्पद्ममिव[2] संशुष्कमवसीदति लोचनम्॥ हताधिमन्थं तं विद्यादसाध्यं वातको-पतः"—इति। अतः शोषार्थे उपेक्षणादक्षीत्यादि श्लोकोऽवगन्तव्यः। सादयतीति शोषयति। रुजाभिरुग्राभिरिति रुजाभिस्तोदादिभिर्महतीभिरुपलक्षितः॥१५॥

यह रोग विदेहप्रणीत तन्त्र में दृष्ट्युत्क्षेप लक्षण वाला एक माना है और दूसरा सम्पूर्ण नेत्रशोष लक्षण वाला माना है। तद्यथा—'प्रकुपित वायु जब आभ्यन्तरिक सिराओं में जाकर स्थित हो जाता है, तब वह नेत्र में प्राप्त होकर शीघ्र ही दृष्टि को बाहर निकाल देता है, एवं उसके बाहर निकलते समय वा बाहर निकल जाने पर मथनी की तरह मथित करता हुआ वह वायु शूल, तोद और मंथन से नयन को शीघ्र बाहर कर देता है'। यह (उपर्युक्त) दृष्ट्युपक्षेपलक्षण हताधिमन्थ है। इसी लिये इसी अर्थ को लक्ष्य रखकर कई आचार्य सुश्रुत में पढ़ते हैं कि—वायु अन्तः सिराओं में स्थित होकर दृष्टि को बाहर निकालता हुआ हताधिमन्थ नामक रोग को उत्पन्न कर देता है, जिसे कि विद्वान् लोग असाध्य कहते हैं (वा जानते हैं)। विदेहकृत तन्त्र में ही सम्पूर्णाक्षिशोष रूप हताधिमन्थ (इस प्रकार) पठित है कि—'अथवा यही वायु क्षीण तेज वाले नेत्र को सुखा देता है और वह नेत्र पद्म की तरह संशुष्क होकर अवसन्न हो जाता है; वा संशुष्क पद्म की तरह अवसन्न (निःसत्त्व वा नष्ट) हो जाता है। वायु के प्रकोप से उत्पन्न इसी रोग को हताधिमन्थ कहते हैं और यह रोग असाध्य होता है'। 'क्षीणतेजोबलात्' का भाव यह है कि—दार्शनिकों तथा वैद्यविद्याविशारदों ने नेत्र को तैजस माना है, जैसे स्रावण अञ्जन का काल दर्शाते हुए चरक ने कहा है कि—'चक्षुस्तेजोमयं तस्य विशेषाच्छ्लेष्मतो भयम्' (च. सू. स्था. अ. ५)। एवं जब वाताधिमन्थ रोग में उपेक्षा की जाती है, तो प्रकुपित वायु

१ क्षीणतेजोबलानलं. २ उत्पन्नमिव.

और भी प्रकुपित एवं बढ़ जाता है और तेजोभाग क्षीण हो जाता है । उसके क्षीण हो जाने से पूर्वोक्त प्रकुपित एवं प्रवृद्ध वायु नयन को सुखा देती है, क्योंकि सुखाना धर्म वायु का ही है। अतएव भगवान् कृष्ण ने गीता में 'न शोषयति मारुतः' (भ. गी. अ. २) कहा है और भगवान् चरक ने वातिक नानात्मज विकारों में 'मुखशोषश्च'' (च. सू. स्था. अ. २०) पढ़ा है। एवं प्रकृत में 'उपेक्षणादक्षि'इत्यादि पद्य को सकलाक्षिशोष के विषय में जानना चाहिए।

वातपर्यायस्य स्वरूपमाह—

वारंवारं च पर्येति भ्रुवौ नेत्रे च मारुतः।
रुजश्च विविधास्तीव्राः स ज्ञेयो वातपर्ययः ॥१६॥

जिस (नेत्र रोग) में वायु बार २ बारी बारी से (क्रमशः) भौंहों, तथा नेत्रों में जाता है और वहां २ तीव्र अनेकविध पीड़ाएं हों, वह (रोग) वातपर्यय नामक रोग जानना चाहिए।

वक्तव्य—इसका भाव यह है कि जिस नयनरोग में प्रकुपित वायु पुनः क्रमशः भौंहों तथा नेत्रों में जाकर विविध तीव्र पीड़ाएं करता है, वह रोग वातपर्यय नाम वाला जानना चाहिए । 'वातपर्यय' इस अभिधानवाचक पद का अर्थ भी यही है कि—'भौंहों और नेत्रों में (दुष्ट) वायु का बारी २ से जाना (भ्रुवयोर्नेत्रयोश्च वातस्य पर्यायेण गमनम्)'। तन्त्रान्तर में भ्रू और नेत्र के साथ २ पक्ष्मद्वय में भी वायु का बारी २ से जाना स्वीकार किया है, अर्थात् उसमें यह माना है कि वायु कभी पक्ष्मयुगल में कभी भ्रूयुगल में और कभी नेत्रयुगल में बारी से सञ्चरण करता हुआ अनेक प्रकार की तीव्र पीड़ाएं करता है। यथोक्तमपि—'पक्ष्मद्वयाक्षिभ्रुवमाश्रितस्तु यत्रानिलः सञ्चरति प्रदुष्टः। पर्यायशश्चापि रुजः करोति तं वातपर्यायमुदाहरन्ति'। यहां पक्ष्मद्वयादि-निर्देश तथा पूर्वत्र भ्रूद्वयादि-निर्देश उपलक्षण मात्र है, अतः यह रोग एक सर्वनेत्रगत भी हो सकता है। एवं जहां यह रोग एक नेत्रगत होगा, वहां वायु उसी ओर के पक्ष्म, भ्रू तथा नयन में तीव्र पीड़ाएं करता हुआ पर्याय से फिरेगा और जहां रोग युगलनेत्रगत होगा, वहां वायु पक्ष्मद्वय, भ्रूद्वय तथा नयनद्वय में तीव्र पीड़ाएं करता हुआ पर्याय से फिरेगा। यह रोग साध्य है।

मधु०—वातपर्यायलिङ्गमाह—वारंवारमित्यादि । पर्यायेण क्रमेण कदाचिद्भ्रुवि, कदाचिल्लोचने, वायुस्तीव्रां रुजां करोतीति वातपर्यायार्थः ॥१६॥

वातपर्यायलिङ्गमाहेत्यादि सुगममेव।

शुष्काक्षिपाकस्य लक्षणमाह—

यत् कूणितं दारुणरूक्षवर्त्म
संदह्यते चाविलदर्शनं यत्।

१ अयमुपलक्षणेऽवगन्तव्यम्.

सुदारुणं यत् प्रतिबोधने च
शुष्काक्षिपाकोपहतं तदक्षि ॥१७॥ [सु० ६।१६]

जो नेत्र बन्द किया हुआ कठिन एवं रूक्ष वर्त्म वाला होता है, तथा जो नेत्र दाहान्वित एवं आकुल देखने वाला होता है और जो नेत्र खोलने में कठिन होता है (अर्थात् कठिनता से खुलता है) वह शुष्काक्षिपाक नामक रोग से उपहत (ग्रस्त) जानना चाहिए।

मधु०—शुष्काक्षिपाकमाह—यत्कूणितमित्यादि । कूणितमिति निमीलितम् । दारुणं कठिनं रूक्षं च वातशोषाद्वर्त्म यस्य तद्दारुणरूक्षवर्त्म । संदह्यते सदाहं भवति । आविलदर्शन-माकुलदर्शनम् । सुदारुणं कृच्छ्रोन्मीलनम् । प्रतिबोधने उन्मेषणे । सुदारुणं सुकठिनमिति गदाधरः । शुष्काक्षिपाकोपहतं तदक्षीति तच्छुष्केणाक्षिपाकेनोपहतमक्षीत्यर्थः । अयं रोगः सरक्तवातजन्यः । यदाह करालः—"कूणितं खरवर्माक्षि कृच्छ्रोन्मीलाविलेक्षणम् । सदाहं सासृजाद्वाताच्छुष्कपाकान्वितं वदेत्"—इति ॥१७॥

(यदाह कराल इति—) यह रोग रक्तान्वित वात से होता है। इस पर श्रीकण्ठदत्त जी आचार्य कराल का प्रमाण देते हैं कि—'जो नेत्र बन्द करने पर कठिन वर्त्म वाला, कठिनता से खुलने वाला, आकुल देखने वाला तथा दाहान्वित होता है, वह रक्तान्वित वात से उत्पन्न शुष्काक्षिपाक रोगयुक्त होता है'।

अन्यतोवातस्य स्वरूपमाह—

यस्यावटुः कर्णशिरोहनुस्थो
मन्यागतो वाऽप्यनिलोऽन्यतो वा।
कुर्याद्रुजं वै भ्रुवि लोचने च
तमन्यतोवातमुदाहरन्ति ॥१८॥ [सु० ६।६]

जिस मनुष्य के अवटु (घाटा, ग्रीवा का पश्चिम भाग), कर्ण, सिर, हनु, और मन्या (ग्रीवा के दोनों पार्श्वों में होने वाली दो सिराओं) में; अथवा पृष्ठ आदि अन्य स्थानों में स्थित वायु भ्रू और नेत्र में पीड़ा करता है, उस मनुष्य में स्थित इस रोग को अन्यतोवात कहते हैं।

वक्तव्य—वातपर्याय और अन्यतोवात में यह भेद है कि वहां वायु भ्रू पक्ष्म और नयन में पर्याय से स्थिति करता है और तीव्र पीड़ाएं करता है; परन्तु यहां वायु घाटा आदि अन्य स्थानों में स्थिति करता है और भ्रू आदि अन्य स्थानों में पीड़ा करता है। 'अन्यतोवात' यह नाम अन्वर्थक है। इसका अर्थ भी 'अन्यत्र (घाटा आदि में) स्थित वायु अन्यत्र भ्रू आदि में पीड़ाएं करता है, (अन्यतः स्थितो वायुरन्यतो वेदनां करोति-इति डल्हणः)' यह है।

मधु०—अन्यतोवातमाह—यस्येत्यादि । अवटुर्घाटा । मन्ये ग्रीवापार्श्वसिरे । अन्यतो वेति उक्तप्रदेशादितरत्र पृष्ठे, सप्तम्यर्थे तसिः । अन्यत्र वातस्य कारणस्यावस्थानम्, अन्यत्र लोचने

भ्रुवि च रुजां करोतीत्यन्यतोवातः। विदेहेऽप्युक्तम्—"मन्ययोरन्तरे वायुरुत्थितः पृष्ठतोऽपि वा। करोति भेदं निस्तोदं शङ्खे चाक्ष्णोर्भ्रुवोस्तथा। तमाहुरन्यतोवातं रोगं दृष्टिविदो जनाः"—इति ॥१८॥

(अन्यत्रेति—) कारणभूत वायु अन्यत्र स्थिति और अन्यत्र अर्थात् भ्रू और नयन में पीड़ा करता है, अतः यह रोग 'अन्यतोवात' है। विदेहतन्त्र में भी कहा है कि— 'जहां मन्याओं से अथवा पृष्ठ से उत्थित वायु शंख प्रदेशों, आंखों और भ्रुवों में भेदन की सी पीड़ा तथा निस्तोद करता है, उसे दृष्टिरोग को जानने वाले विद्वान् 'अन्यतोवात' नामक रोग कहते हैं।

अम्लाध्युषितं लक्षयति—

श्यावं लोहितपर्यन्तं सर्वं चाक्षि प्रपच्यते।
सदाहशोथं सास्रावमम्लाध्युषितमम्लतः ॥१९॥

जो नेत्र रोग श्याव और लोहित पर्यन्तों वाला होता है और जिसमें सारी आंख पक जाती है एवं जो दाह, शोथ तथा स्रावयुक्त होता है, उसे 'अम्लाध्युषित' रोग कहते हैं और यह रोग अम्ल पदार्थों के सेवन से होता है।

वक्तव्य—यहां 'अम्लाध्युषित' का अर्थ, कारण में कार्य के उपचार से 'पित्ताध्युषित' है। यहां अम्ल भोजन उपलक्षण मात्र है। एवं विदाहि, कटु, लवण पदार्थों के सेवन से भी 'अम्लाध्युषित' रोग होता है। परन्तु नाम सर्वत्र 'अम्लाध्युषित' ही रहता है, 'विदाह्यध्युषित' आदि नहीं होता; क्योंकि 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' के अनुसार प्रधान होने से 'अम्लाध्युषित' ही ठीक है। तन्त्रान्तर में इसका लक्षण इस प्रकार पढ़ा है कि—'अम्लेन भुक्तेन विदाहिना च (वा) सञ्छाद्यते सर्वत एव नेत्रम्। शोफान्वितं लोहितकैः सनीलैरेतादृगम्लाध्युषितं वदन्ति' ॥

मधु०—अम्लाध्युषितमाह—श्यावमित्यादि। श्यावमीषन्नीलम्। अम्लत इत्यम्लभोजनात्। अम्लाध्युषितमिति पित्ताध्युषितं, कारणे कार्योपचारात् ॥१९॥

(अम्लाध्युषितमितीति—) अम्लाध्युषित से पित्ताध्युषित यह भाव लेना चाहिए, क्योंकि यहां कार्य का उपचार कारण में कर अम्लाध्युषित यह संज्ञा बनी है।

वक्तव्य—उपर्युक्त का यह भाव है कि—अम्ल पदार्थों के सेवन से सीधा ही यह रोग नहीं हो सकता, प्रत्युत किसी न किसी दोष को प्रकुपित कर उस दोष द्वारा ही अम्ल पदार्थ इस रोग को करने की शक्ति रखते हैं। एवं अम्ल पदार्थों से पित्त दूषित होता है, अतः अम्लाध्यशन पित्त को दूषित करता है, तदनु च पित्त इस रोग को उपजाता है। इस प्रकार इस रोग का नाम पित्ताध्युषित होना समुचित था, जिसका कि अर्थ 'पित्तकर पदार्थों के खाने से होने वाला रोग' है। एवं कटु विदाहि लवणादिकों के सेवन से होने वाले इस रोग का भी ग्रहण स्वयं हो जाता है, क्योंकि ये भी पित्तकर पदार्थ हैं। परं 'अम्लाध्युषित' इस नाम से कटु आदि पदार्थों के सेवन से होने वाले इस रोग का ग्रहण नहीं होता, क्योंकि यहां 'अम्ल' इस विशेष रस का अभिधान है और विशेष अभिधान होने से 'विशेषस्तु पृथक्त्वकृत' के अनुसार यह अर्थ बनता है कि केवल अम्ल पदार्थों के सेवन से ही यह रोग होता है। इसी पर आचार्य श्रीकण्ठदत्त जी ने 'अम्लाध्युषितमिति' इत्यादि कहा है। 'कारणे कार्योपचारात्' यह हेतुवाचक पद है जो कि 'अम्लाध्युषित' से 'पित्ताध्युषित' यह भाव लेना चाहिए

का साधक है। इसका भाव यह है कि कार्य का कारण में उपचार कर अम्लाध्युषित यह संज्ञा रक्खी है। यहां कारण अम्लपदार्थ हैं और कार्य अम्लपदार्थों से प्रकुपित होने वाला पित्त दोष है, एवं रोगोत्पादन उपचार है। इस प्रकार पित्तरूप कार्य का अम्लपदार्थ रूप कारण में रोगोत्पादनरूप उपचार करके पित्ताध्युषित के स्थान में इस रोग की 'अम्लाध्युषित' यह संज्ञा रक्खी है। परन्तु अम्लाध्युषित का भाव 'पित्ताध्युषित' ही है। अर्थात् इन दोनों का अर्थ एक ही यहां ग्रहण किया जाता है, एवं 'अम्लाध्युषित' और 'पित्ताध्युषित' ये दोनों शब्द यहां (कारणे कार्योपचारात्) परस्पर पर्यायवाचक से बन जाते हैं। इस प्रकार जब यहां अम्लाध्युषित का भाव वा पर्यायवाचक पित्ताध्युषित है तो कटु विदाहि आदि पदार्थों के सेवन से होने वाले इस रोग का ग्रहण 'पित्ताध्युषित' इस नाम की तरह 'अम्लाध्युषित' इस नाम से भी हो जाता है। इस तरह अम्ल शब्द यहां सामान्य है, केवल उपलक्षण में दिया है। इसका 'अम्लपदार्थों के सेवन से ही यह रोग होता है' यह अर्थ नहीं है, प्रत्युत पित्तकर पदार्थों के सेवन से यह रोग होता है, यह अर्थ है। एवं कटु आदि के सेवन से होने वाले इस रोग का भी ग्रहण हो जाता है। कटु, विदाहि आदि पदार्थों के सेवन से भी यह रोग होता है। इसमें सुश्रुत का प्रमाण भी है। तद्यथा—'अम्लेन भुक्तेन विदाहिना वा' (सु. उ. तं. अ. ६) यहां 'वा' कथन से कटु लवणादिकों का ग्रहण होता है। एवं 'कारणे कार्योपचरात्' कह कर जो 'अम्लाध्युषित' का भाव (अर्थ) आचार्य ने 'पित्ताध्युषित' लिया है, वह उपर्युक्त अभिप्राय से लिया है।

सिरोत्पातस्य लक्षणमाह—

अवेदना वाऽपि सवेदना वा
यस्याक्षिराज्यो हि भवन्ति ताम्राः।
मुहुर्विरज्यन्ति च याः स तादृग्
व्याधिः सिरोत्पात इति प्रदिष्टः ॥२०॥ [सु० ६।६]

जिस मनुष्य की पीड़ान्वित वा अपीड़ान्वित नेत्र की सिराएं ताम्रवर्ण की हो जाती हैं, तथा पुनः २ अधिक रक्त वर्ण की होती जाती हैं, (उसे) इस प्रकार के लक्षणों वाली वह व्याधि 'सिरोत्पात' नामक जाननी चाहिए। अर्थात् जिस मनुष्य के नेत्र की सिराएं पीड़ान्वित वा अपीड़ान्वित होकर ताम्र वर्ण की हो जाती हैं और उसके अनन्तर पुनः और भी अधिक रक्तवर्ण की होती जाती हैं, उस मनुष्य का यह रोग सिरोत्पात नाम से प्रदिष्ट है।

मधु०—सिरोत्पातमाह—अवेदना वाऽपीत्यादि। अक्षिराज्य इति अक्षिसिराः। विरज्यन्तीति विरक्ता भवन्ति, विशेषरक्ता भवन्तीत्यर्थः। रक्तजोऽयम् ॥२०॥

सिरोत्पातमाहेत्यादि स्पष्टमेव।

सिराप्रहर्षं लक्षयति—

मोहात्सिरोत्पात उपेक्षितस्तु
जायेत रोगस्तु सिराप्रहर्षः।
ताम्राभमस्रं स्रवति प्रगाढं
तथा न शक्नोत्यभिवीक्षितुं च ॥२१॥ [सु० ६।६]

अज्ञानता से उपेक्षित 'सिरोत्पात' नामक रोग 'सिराप्रहर्ष' नामक रोग बन जाता है (अर्थात् 'सिरोत्पात' 'सिराप्रहर्ष' में परिणत हो जाता है) और अति गाढ़े ताम्र वर्ण के रक्त को स्रवित करता है। इसमें मनुष्य वा लोचन (पदार्थों को) देख भी नहीं सकता। ये सर्वनयनगत रोग हैं।

मधु०—सिराप्रहर्षमाह—मोहादित्यादि। **इति सर्वगताः** ॥२१॥

सिराप्रहर्षमाहेत्यादि सरल ही है।

सव्रणशुक्रस्य लक्षणमाह—

निमग्नरूपं तु भवेद्धि कृष्णे
सूच्येव विद्धं प्रतिभाति यद्वै।
स्रावं स्रवेदुष्णमतीव यच्च
तत् सव्रणं शुक्रमुदाहरन्ति ॥२२॥ [सु० ६।५]

जो शुक्र कृष्णभाग में निमग्न होने के कारण थोड़ा सा दीखता है और जो (शुक्र) सूचीविद्ध छिद्र की तरह (वर्तुल एवं सूचीवेध की सी पीड़ा वाला) प्रतीत होता है; एवं जो शुक्र अत्यधिक एवं उष्णस्रावत्यागी तथा अत्यधिक वेदनान्वित होता है, उसे (विद्वान् वैद्य) सव्रण शुक्र कहते हैं।

वक्तव्य—भाव यह है कि जो शुक्र कृष्ण भाग में मिला सा, सूचीकृत छिद्र की तरह प्रतीत होता हुआ, अधिक एवं उष्णस्रावी और पीड़ान्वित होता है, वह सव्रण शुक्र होता है।

मधु०—सन्धिवर्त्मशुक्लकृष्णदृष्टिगतेषु मध्ये प्राधान्याद्दृष्टिगतेषु वक्तुमुचितेषु स्वल्पवक्तव्यतया दृष्टिमण्डलप्रत्यासत्त्या कृष्णगतविकाराभिधानम्। तत्र सव्रणशुक्लक्षणमाह—निमग्नरूपमित्यादि। रूपग्रहणमाभासनिषेधार्थं, तेन निमग्नरूपमेव। यत् सूच्येवेत्युपमानं वर्तुलत्वख्यापनाय सूचीव्यधनवद्वेदनादर्शनाय च। स्रावं स्रवेदुष्णमिति स्रवेदुष्णमित्येतावतैव लब्धे स्रावे पुनः स्रावग्रहणं निरन्तरस्रावं लक्षयति। अतिशब्दस्तूष्णेन संवध्यत इति कार्तिकः। उष्णस्रावता रक्तात्मकत्वात्। शुक्रस्यात्र चात्यन्तरुग्बोद्धव्या, सव्रणत्वात्। यदाहाव्रणलक्षणे सुश्रुतः—"नातिरुगश्रुयुक्तम्" (सु. उ. तं. अ. ५)—इति। तत्र स्रवणं सक्षतं, क्षते तु रुजा युक्तैव, नयने तु सुकुमारे विशेषेणोदाहरन्ति विदेहप्रभृतयः। विदेहेऽप्युक्तं,—"रक्तराजीनिभं कृष्णे छिन्नाभं यच्च लक्ष्यते। सूच्यग्रेणेव तच्छुक्रमुष्णाश्रुस्रावि सव्रणम्"—इति ॥२२॥

सन्धिवर्त्मशुक्लकृष्णदृष्टिगतेष्वित्यादि सुसरल है।

असाध्यस्याप्यस्यावस्थाविशेषेण साध्यतामाह—

दृष्टेः समीपे न भवेत्तु यच्च
न चावगाढं न च संस्रवेद्धि।
अवेदनं वा न च युग्मशुक्रं
तत् सिद्धिमायाति कदाचिदेव ॥२३॥ [सु० ६।५]

जो सव्रणशुक्र नयनगत दृष्टिभाग के समीपवर्ती नहीं होता और जो सव्रण शुक्र गम्भीर मूल वाला एवं स्रावान्वित नहीं होता, तथा जो सव्रण शुक्र पीड़ान्वित एवं युग्म (द्वित्व) नहीं होता, वह कभी २ ठीक हो जाता है।

वक्तव्य—इसका भाव यह है कि दृष्टि के समीपवर्ती न होना आदि उपर्युक्त लक्षणों वाला सव्रण शुक्र कभी २ अर्थात् पूर्वजन्म में किए हुए अच्छे कर्मों के प्रभाव से, वा पूर्व जन्म में किए कुकर्मों के फल 'जिसके कारण उसे यह रोग हुआ है' की अवधि समाप्त हो जाने से ठीक हो जाता है, अन्यथा (पूर्वजन्म में किए हुए सुकर्मों के अभाव से, वा पूर्वजन्मकृत अधिक कुकर्म के प्रभाव से) दृष्टि के समीपवर्ती न होने आदि उपर्युक्त लक्षणों वाला सव्रण शुक्र भी सिद्ध नहीं होता। यही भाव 'कदाचिदेव' इस पद का है, क्योंकि 'कदाचिदेव' का यही अभिप्राय है कि इन लक्षणों वाला सव्रण शुक्र भी नियम से अवश्य साध्य नहीं है, प्रत्युत कभी २ ठीक हो जाता है। इसी श्लोक से यह भाव भी प्रकट होता है कि जो सव्रण शुक्र नयनगत दृष्टिभाग के समीपवर्ती होता है और जो सव्रण शुक्र गम्भीर मूल वाला एवं स्रावान्वित होता है, तथा जो सव्रण शुक्र पीड़ान्वित एवं युग्मरूप में होता है; वह कभी भी ठीक नहीं होता। इसी भाव को पद्य में इस प्रकार कहा जा सकता है कि 'दृष्टेः समीपे हि भवेत्तु यच्च तथाऽवगाढस्त्वथ स्रावयुक्तम्। सवेदनं द्वन्द्वयुतञ्च यत्तन्न सिद्धिमायाति कदाचिदेव'। किञ्च उपर्युक्त 'दृष्टेः' इत्यादि श्लोक से यह भाव भी प्रक[illegible] होता है कि अव्रण शुक्र इन लक्षणों वाला होने पर भी साध्य है। अर्थात् दृ[illegible] समीपवर्ती, अवगाढ, स्रावयुक्त, वेदनान्वित एवं युग्मरूप में स्थित भी अव्र[illegible] शुक्र साध्य होता है। यहां यह बात पृथक् है कि कोई कृच्छ्रसाध्य हो ज[illegible] (यथा—अवगाढशुक्र, जैसे कृच्छ्रसाध्य लक्षण में कहेंगे कि गम्भीरजात[illegible] त्यादि) परन्तु साध्यपन सब में होता है। इसी भाव को पद्य में इस प्रकार क[illegible] जा सकता है कि—'दृष्टेः समीपे हि भवेत्तु यच्च तथाऽवगाढस्त्वथ संस्रवेद्धि सवेदनं द्वन्द्वयुतञ्च यत्तद् व्रणेन हीनं खलु साध्यमेव'॥

मधु०—अस्यासाध्यतया निर्दिष्टस्यावस्थावशेन पाक्षिकीं सिद्धिमाह—दृष्टेः सम[illegible] इत्यादि। क्षतं हि स्वभावत एव संश्रयोपघातकरम्, अतो दृष्टिसमीपे न साध्यम, उक्तविपर्ययात्तु दृ[illegible] समीपेऽपि सुखसाध्यमव्रणम्। न चावगाढमेकत्वग्गतम्। विपर्ययात्त्ववगाढमप्यव्रणं सिध्यति। अ[illegible] एवाव्रणे वक्ष्यति—गम्भीरजातमिति। न च संस्रवेदिति न चात्यर्थं स्रवेत्, संशब्दस्यातिशयार्थ[illegible] त्वात्। अवेदनं मन्दवेदनं, रक्तस्य कफानुगमात्; वातानुगमादतिवेदनं तु न सिध्यति। युग्मं [illegible] क्षतशुक्रं कदाऽपि न सिध्यति ॥२३॥

अस्यासाध्यतयेत्यादि मधुकोष की भाषा सरल ही है।

अव्रणशुक्रस्य लक्षणमाह—

स्यन्दात्मकं कृष्णगतं सचोषं
शङ्खेन्दुकुन्दप्रतिमावभासम् ।
वैहायसाभ्रप्रतनुप्रकाश-
मथाव्रणं साध्यतमं वदन्ति ॥२४॥ [सु० ६।५]

अभिष्यन्द से होने वाला, नेत्र के कृष्णभाग में स्थित, चूसने की सी पीड़ा से युक्त और शङ्ख, चन्द्रमा तथा कुन्द नामक पुष्प के समान प्रतीत होने वाला एवं आकाश में स्थित पतले बादल के सदृश दीखने वाला शुक्र अव्रण शुक्र होता है। यह अव्रण शुक्र साध्यतम होता है (ऐसा आचार्य कहते हैं)।

मधु०—इदानीमव्रणशुक्रलक्षणमाह—स्यन्दात्मकमित्यादि । स्यन्दात्मकमभिष्यन्दनिमित्तकं, सर्वेषामक्षिरोगाणामभिष्यन्दनिमित्तत्वेऽपि चास्य नियमप्रतिपादनार्थमभिधानम्। वैहायसाभ्रप्रतनुप्रकाशमिति विहायसि स्थितं वैहायसं, 'तस्य निवासः' इत्यण्, विहायो नभः, आकाशस्थिताभ्रवत् प्रतनुप्रकाशमित्यर्थः। एतेनाच्छत्वं प्रतिपाद्यते । शुक्लत्वं तु शङ्खेन्दुकुन्दप्रतिमावभासमित्यनेनैव लब्धम्। वैहायसाभ्रग्रहणं सजलाभ्रव्यवच्छेदार्थं, तद्धि प्रायः पार्वतं भवतीति कार्तिकः। साध्यतमं सुखसाध्यम्। ननु, गम्भीरजातमित्यादिना कृच्छ्राभिधानेन तद्विपर्ययेण सुखसाध्यत्वावगतिः सेत्स्यति, तत किं साध्यतमाभिधानेन ? नैवम्, असत्यत्र साध्यतमाभिधाने उभयत्रापि कृच्छ्रत्वभ्रान्तिः स्यादतस्तदभिधानम् ॥२४॥

(ननु इति—) ननु 'गम्भीरजातं' इत्यादि वक्ष्यमाण श्लोक में कृच्छ्रसाध्याभिधान होने के कारण, उनसे विपरीत लक्षणों वाला अव्रणशुक्र सुखसाध्य होता है, यह बात स्वयं सिद्ध हो जायगी। पुनः यहां 'साध्यतम' इस निर्देश का क्या प्रयोजन है ? इस पर आचार्य कहते हैं कि—यहां यदि 'साध्यतम' का यह लक्षण दिया जाता तो उभयत्र (स्यन्दात्मकमित्यत्र गम्भीरजातमित्यत्र च) कृच्छ्रसाध्यता की भ्रान्ति हो जाती। वह भ्रान्ति न हो, इसलिए यहां 'असाध्यतम' का यह लक्षण दिया है।

वक्तव्य—इस शंका समाधान का भाव यह है कि उपर्युक्त 'स्यन्दात्मकम्' इत्यादि श्लोक असाध्यतम में दिया है, जिसका अर्थ 'उपर्युक्तलक्षणान्वित अव्रणशुक्र सुखसाध्य होता है' यह है। अब यहां पूर्वपक्षी शंका करता है कि—'गम्भीरजातम्' इत्यादि वक्ष्यमाण पद्य में कृच्छ्रसाध्य लक्षणों का निर्देश किया है, जिससे यह स्वयं ही सिद्ध होता है कि इनसे विपरीत लक्षणों वाला अव्रण शुक्र सुखसाध्य है, पुनः स्यन्दात्मक आदि लक्षणों के बताने की क्या आवश्यकता थी ? इस पर आचार्य उत्तर देते हैं कि—इन सुखसाध्य लक्षणों के प्रतिपादन की आवश्यकता थी, अन्यथा उभयत्र कृच्छ्रसाध्यता का भ्रम हो जाता। उसी भ्रम को दूर करने के लिए इन सुखसाध्य लक्षणों का प्रतिपादन किया है। 'ननु' इत्यादि सन्दर्भ की उपर्युक्त व्याख्या साध्यतम लक्षणों को लक्ष्य में रख कर की है, जैसा कि कई विद्वान् करते हैं। परन्तु कई विद्वान् केवल 'साध्यतम' इस पद को लक्ष्य में रख कर व्याख्या करते हैं। (ननु—) गम्भीरजातमित्यादि वक्ष्यमाण श्लोक में कृच्छ्रसाध्याभिधान होने के कारण उनसे विपरीत लक्षणों वाला अव्रण शुक्र सुख साध्य होता है, यह बात स्वयं सिद्ध हो जायगी। पुनः यहां 'साध्यतम' इस निर्देश की

क्या आवश्यकता है। इस पर आचार्य कहते हैं कि—यहां यदि 'साध्यतम' यह पद न दिया जाता तो उभयत्र (स्यन्दात्मकमित्यत्र गम्भीरजातमित्यत्र च) कृच्छ्रसाध्यता का भ्रम हो जाता। वह भ्रम न हो, इसलिए यहां 'साध्यतम' यह पद दिया है। तात्पर्य— उपर्युक्त शंका तथा उसके समाधान का अभिप्राय यह है कि—ऊपर कहे 'स्यन्दात्मकम्' इत्यादि श्लोक में 'असाध्यतम' यह पद दिया है, जिसका अर्थ 'उपर्युक्त लक्षणों वाला अव्रण शुक्र सुखसाध्य होता है' यह है। अब यहां शंका होती है कि—'गम्भीरजातम्' इत्यादि वक्ष्यमाण पद्य में कुछ साध्यता का निर्देश किया है; जिससे यह स्वयमेव सिद्ध होता है कि— इनसे विपरीत लक्षणों वाला अव्रण शुक्र सुखसाध्य है। पुनः 'स्यन्दात्मकम्' इत्यादि श्लोक में 'साध्यतमं वदन्ति' पद की क्या आवश्यकता थी? (उत्तर—) इसका उत्तर यह है कि यहां सुखसाध्यता प्रतिपादक 'साध्यतमं' पद की आवश्यकता थी, यदि यह पद न हो तो दोनों स्थानों में कृच्छ्रसाध्यता की भ्रान्ति हो जाती। उस भ्रान्ति को दूर करने के लिए 'स्यन्दात्मकं' श्लोक में 'साध्यतमं वदन्ति' यह पद पढ़ा है। अव्रणशुक्र का लक्षण तन्त्रान्तर में इस प्रकार पढ़ा है कि—'सितं यदा भात्यसितप्रदेशे स्यन्दात्मकं नातिरुगश्रुयुक्तम्। विहायसीवाच्छघनानुकारि[1] तदव्रणं साध्यतमं वदन्ति' (सु. उ. तं. अ. ५)।

अस्य अवस्थाविशेषेण कृच्छ्रसाध्यतामाह—

गम्भीरजातं बहुलं च शुक्रं
चिरोत्थितं चापि वदन्ति कृच्छ्रम्।

गम्भीरता वाले (अर्थात् दो वा तीन पटलों में आश्रित), घन (अर्थात् पतले बादल की समानता वाले सव्रण शुक्र से अधिक घन वा स्थूल) और पुराने अव्रण शुक्र को वैद्य लोग कृच्छ्रसाध्य कहते हैं।

विच्छिन्नमध्यं पिशितावृतं वा
चलं सिरासूक्ष्ममदृष्टिकृच्च।
द्वित्वग्गतं लोहितमन्ततश्च
चिरोत्थितं चापि विवर्जनीयम्॥२५॥ [सु० ६।५]

छिद्रान्वित मध्यभाग वाला, मांस से ढका हुआ (आच्छादित), इधर उधर चलने वाला, सिराओं से आच्छन्न होने के कारण सूक्ष्म, दृष्टिनाशक (रोधक), दो त्वचाओं में प्राप्त, रक्तवर्ण के किनारों वाला और चिरकाल से उत्पन्न अव्रण शुक्र असाध्य होता है।

वक्तव्य—सुश्रुत में 'गम्भीरजातमित्यादि' अर्ध श्लोक अव्रण शुक्र की कृच्छ्रसाध्यता के प्रतिपादन में दिया है और डल्हण ने भी इसे स्वीकार किया है। अतः उसने अवतरणिका के रूप में कहा है कि—'अस्यैवाव्रणस्य शुक्रस्यावस्थाभेदेन कृच्छ्रतां दर्शयन्नाह गम्भीरेत्यादि' (डल्हणः)। परन्तु सुश्रुत में 'विच्छिन्नमध्यम्' इत्यादि सम्पूर्ण श्लोक तथा वक्ष्यमाण 'उष्णाश्रुपातः' इत्यादि सम्पूर्ण श्लोक सव्रण शुक्र की असाध्यता में पढ़ा है और डल्हण ने भी इसे स्वीकार किया है।

१. अभ्रदलानुकारि.

तद्यदाह—'तस्यैव कदाचित्साध्यस्य लक्षणं प्रतिपाद्यासाध्यलक्षणं प्रतिपादयन्नाह-विच्छिन्नेत्यादि' (डल्हणः)। किन्तु 'उष्णाश्रुपातः' आदि सकल श्लोक को डल्हण द्विपटलाश्रित सव्रणशुक्र का लक्षण मानते हैं। जैसे कहा भी है कि—'इदानीं द्विपटलाश्रितस्य लक्षणं दर्शयन्नाह-उष्णेत्यादि' (डल्हणः)। परं आचार्य माधव ने 'गम्भीरजातम्' इत्यादि 'विच्छिन्नमध्यम्' इत्यादि तथा वक्ष्यमाण 'उष्णाश्रुपातः' इत्यादि श्लोक को अव्रणशुक्र विषयक माना है। कई आचार्यों ने इन लक्षणों को सव्रणशुक्र और अव्रणशुक्र विषयक माना है। कई आचार्य इन लक्षणों को सव्रण-शुक्र और अव्रणशुक्र के लिए साधारण मानते हैं। यह इनमें परस्पर मतभेद है।

मधु०—अव्रणस्यैवावस्थाभेदेन कृच्छ्रत्वमाह—गम्भीरजातमित्यादि । गम्भीरजातं द्वित्रित्वग्गतम् । बहुलं प्रतनुनोऽभ्राद्घनम् । अव्रणस्यैवावस्थाभेदेनासाध्यत्वमाह—विच्छिन्नमध्य-मित्यादि । विच्छिन्नमध्यं विदीर्णमांसत्वात् सच्छिद्रं, निम्नमिति यावत्; तद्विपर्ययं तु पिशिता-वृतमुन्नतमांसरूपतया । चलमित्यनवस्थितम् । सिरासूक्ष्ममिति सिरावृतत्वात् सूक्ष्मम्; अन्ये 'सिरा-सक्तम्' इति पठन्ति, व्याचक्षते च–सिरासक्तं यतस्ततश्चलं, सिराणां चलत्वात्; सिरा हि मत्स्यवत् परिवर्तमाना मुहुर्मुहुश्चलन्ति; अन्ये 'सिराशुक्लं' इति पाठान्तरं व्याचक्षते; सिराभिः शुक्लं, सिरा-शुक्लं सिराशुक्लत्वहेतुकं; न हि सिराभवनं शुक्लत्वे हेतुरिति गदाधरः । अदृष्टिकृदिति दर्शनाभाव-कारि, दृष्टेः समीपे न भवेदित्यस्य विपर्ययोऽयम् । द्वित्वग्गतं द्विपटलाश्रितम्, एतदपरलिङ्गसहित-मसाध्यं, न तु केवलं; द्वित्वग्गतस्य कृच्छ्रत्वाभिधानात् । लोहितमन्ततश्चेति मध्ये शुक्लमन्ते लोहितं, व्रणाकारेण ॥२५॥

अव्रणस्यैवावस्थाभेदेनेत्यादि की भाषा सरल ही है ।

शुक्रस्य असाध्यतालक्षणमाह—

उष्णाश्रुपातः पिडका च नेत्रे
यस्मिन् भवेन्मुद्गनिभं च शुक्रम् ।
तदप्यसाध्यं प्रवदन्ति केचि-
दन्यच्च यत् तित्तिरिपक्षतुल्यम् ॥२६॥ [सु० ६।५]

जिस शुक्रान्वित नेत्र में से उष्ण नयनजल बहता है और जिस शुक्रा-न्वित नेत्र में पिडकाएं होती हैं, तथा जिसमें शुक्ल (शुक्र) भाग मूंग की सी आकृति तथा प्रमिति वाला होता है, उस अव्रणशुक्र को विदेहादि विद्वान् असाध्य कहते हैं। किन्तु कई अन्य आचार्य, जो शुक्र तित्तिरि पक्ष के तुल्य वर्ण वाला होता है (कर्बुर वर्ण वाला होता है), उसे भी असाध्य कहते हैं।

मधु०—न केवलमेवंविधं परमसाध्यं किंत्वन्यादृशमपीत्यत आह—उष्णाश्रुपात इत्यादि । पिडका च नेत्र इत्यन्तं द्वित्वग्गतशुक्रे । तथाऽऽह विदेहः–"एकत्वग्गतमेवं स्याद्द्वित्व-ग्गतमिदं भवेत । चोषोष्णास्रावदाहास्तु तृष्णा च पिडकोद्गमः"–इति । मुद्गनिभं च शुक्लमित्या-कारेण, एतद्द्वित्वग्गतम् । तथाच विदेहः–"व्यक्तमुद्गफलाकारं शुक्लं द्वित्वग्गतं भवेत्"–इति । द्वित्रित्वग्गतस्याव्रणशुक्रस्य कृच्छ्रत्वे एतत् पिडकोद्गममुद्गफलाकारत्वेनैवासाध्यत्वं बोध्यम् ।

पुनः सव्रणशुक्रस्य विच्छिन्नमध्यमित्यादिकमसाध्यलक्षणं वर्णयन्ति । अत्र पक्षे द्वित्वग्गतमिति केवलमेवासाध्यलक्षणम्, एतन्न चावगाढमित्यस्य विपर्ययः । लोहितमन्ततः उष्णाश्रुपातः पिडका चेत्यादि द्वित्वग्गतशुक्रलक्षणमिति । किंत्वियमत्रासङ्गतिः—विच्छिन्नमध्यं सच्छिद्रं, तद्यदि सच्छिद्रत्वं सव्रणशुक्रस्याभ्युपगम्यते, तदा निमग्नरूपमित्यनेनैव सिद्धत्वात् पुनरुक्तं स्यात्, किंच सव्रणशुक्रानन्तरमस्य पाठो विफलः स्यात् । अन्ये तु सव्रणाव्रणशुक्रविषयं सामान्यमसाध्यलक्षणमेतदाहुः; यथायोग्यतया क्वचिल्लिङ्गान्तरयोगेन च व्यवस्थेति च वर्णयन्ति । असाध्यत्वं विदेहादन्येषां मतेनाह—केचिदित्यादि । तित्तिरिपक्षतुल्यमिति शबलम्, एतच्चानिषेधादनुमतम् ॥२६॥

'पिडका च नेत्रे' यहां तक जो लक्षण पढ़े हैं, वे दो पटलों में आश्रित शुक्र में होते हैं। इस पर विदेह का प्रमाण भी है कि—'पूर्वोक्त लक्षणों वाला शुक्र एकत्वग्गत होता है और दो त्वचाओं (पटलों) में होने वाले शुक्र में चोष (चूसने की सी पीड़ा), उष्णस्राव, दाह, पिपासा और पिडकोत्पत्ति होती है'। 'शुक्र का मुद्ग के सदृश होना' यहां सदृश से, आकार सादृश्य से अभिप्राय है। जैसे विदेह ने कहा भी है कि—'स्फुट और मूंग की आकृति वाला शुक्र दो पटलों में आश्रित होता है'। दो तीन पटलों में प्राप्त अव्रणशुक्र की कृच्छ्रसाध्यता प्रतिपादित होने के कारण यहां मुद्गफल सदृश पिडकान्वित द्वित्रिपटलगत अव्रणशुक्र असाध्य होता है, ऐसा जानना चाहिए। दूसरे आचार्य (डल्हण प्रभृति) 'विच्छिन्नमध्यं' इत्यादि असाध्य लक्षण सव्रणशुक्रपरक मानते हैं। इस पक्ष में 'दो पटलों में प्राप्त' यह लक्षण अकेला ही असाध्य लक्षण है (अर्थात् इस पक्ष में दो पटलों में प्राप्त होना ही असाध्य लक्षण है, इसके साथ यहां मुद्गफल सदृश पिडकाओं का सम्बन्ध नहीं है), क्योंकि यह लक्षण 'न चावगाढम्' का विपरीत लक्षण है । पर्यन्तों में लौहित्य, उष्णाश्रुपात और पिडका आदि का होना द्विपटलगत शुक्र का लक्षण है। किन्तु इस पक्ष में यह असंगति है कि 'विच्छिन्नमध्यं' का अर्थ 'सछिद्र' है। यदि सछिद्रपन सव्रणशुक्र का (में) लिया जावे तो यह भाव सव्रणशुक्र में पठित 'निमग्नरूपं' से भी आ जाता है; अतः पुनः 'विच्छिन्नमध्यं' कहने से पौनरुक्त्य दोष आता है । किञ्च—इसका पाठ सव्रणशुक्र के अनन्तर करना व्यर्थ होगा। अतः यह लक्षण अव्रणशुक्र के असाध्य लक्षण हैं। दूसरे आचार्य तो इन असाध्य लक्षणों को सव्रणशुक्र और अव्रणशुक्र के लिए सामान्य मानते हैं और कहते हैं कि—इनकी व्यवस्था, जहां ये हों वहीं असाध्यता समझनी चाहिए, यह है, अर्थात् ये दिये हुए लक्षण अव्रण शुक्र में हों तो अव्रणशुक्र को असाध्य और यदि सव्रणशुक्र में हों तो सव्रणशुक्र को असाध्य जानना चाहिए।

अक्षिपाकात्ययं लक्षयति—

श्वेतः समाक्रामति सर्वतो हि
दोषेण यस्यासितमण्डलं च ।
तमक्षिपाकात्ययमक्षिरोगं
सर्वात्मकं वर्जयितव्यमाहुः ॥२७॥

(शुक्लभागगत नयनरोग में) जिस मनुष्य का दोषोत्पन्न श्वेत (शुक्ल) कृष्णमण्डल को चारों ओर से आच्छादित कर देता है, उसे सर्वदोषज एवं वर्ज्य अक्षिपाकात्यय नामक नेत्ररोग कहते हैं। भाव यह है कि

जिस रोग में दोषज शुक्र सारे कृष्ण भाग को ढक लेता है, उस रोग का नाम अक्षिपाकात्यय है, तथा यह अक्षिपाकात्यय रोग सर्वदोषज एवं असाध्य होता है।

मधु०—इदानीमक्षिपाकात्ययमाह—श्वेत इत्यादि । दोषेण यः कृतः श्वेतः स समाक्रामति । सर्वात्मकं त्रिदोषजम्; अन्ये तु स्यन्दात्मकमिति पठित्वा अभिष्यन्दात्मकमाहुः । तदा सर्वेषामभिष्यन्दमूलत्वाद्विशेषार्थमभिधानम् ॥२७॥

इदानीमक्षिपाकात्ययमाहेत्यादि सरल ही है।

अजकाजातस्य लक्षणमाह—

अजापुरीषप्रतिमो रुजावान्
सलोहितो लोहितपिच्छिलास्रः[1]।
विगृह्य[2] कृष्णं प्रचयोऽभ्युपैति
तच्चा[3]जकाजातमिति व्यवस्येत् ॥२८॥ [सु० ६।५]

शुष्क अजापुरीष (मेंगनी) के समान आकृति वाला, पीड़ान्वित, कुछ रक्तवर्ण और रक्त एवं पिच्छिल स्राव वाला जो प्रचय (मेदस उपचयः) कृष्ण भाग को ग्रहण कर अर्थात् कृष्ण भाग में उत्पन्न होता है, उसे 'अजकाजात' नामक अक्षिरोग जानना चाहिए।

मधु०—अजकाजातमाह—अजापुरीषप्रतिम इत्यादि । अजापुरीषप्रतिमः शुष्काजपुरीषतुल्यः । सलोहित ईषल्लोहितः । विगृह्य कृष्णमिति स्वोच्छ्रायेण कृष्णदेशं महत्त्वाद्विच्छिद्य। प्रचय इति प्रकृष्टश्चय उद्गम इति यावत् । अजकाया मेदोवत् संश्रयस्तृतीयत्वग्गतत्वेन मेदसः प्रचयो बोद्धव्यः । तथाच विदेहः—"कृष्णेऽक्षणोर्यद्भवेच्छुक्लं छागलीविट्समप्रभम् । सान्द्रपिच्छिलरक्तास्रं त्रित्वग्गमजकेति सा"—इति ॥ इति कृष्णजाः ॥२८॥

यहां मेदस् प्रचय तृतीय पटलगत जानना चाहिए। जैसे विदेह ने कहा भी है कि—'आंखों के कृष्ण भाग में बकरी की मेंगनी के समान जो शुक्र हो, उसे अजका (जात) कहते हैं। एवं उसमें स्राव सान्द्र, पिच्छिल और रक्तवर्ण का होता है तथा यह रोग त्रिपटलाश्रित है'।

प्रथमपटलस्थदोषस्य लक्षणमाह—

प्रथमे पटले दोषा[4] यस्य दृष्ट्यां[5] व्यवस्थिताः।
अव्यक्तानि स रूपाणि कदाचिदथ पश्यति[6] ॥२९॥ [सु० ६।७]

दोष जिस मनुष्य की दृष्टि के प्रथम पटल में आश्रित हो जाते हैं, वह मनुष्य कभी २ अव्यक्त रूपों को देखने लगता है।

वक्तव्य—इसका भाव यह है कि कुपित दोष जिसकी नेत्रग शिराओं को प्राप्त कर दृष्टि के प्रथम पटल में ठहर जाते हैं, वह कभी २ जब कि दोषों की उत्कटता होती है, अव्यक्त रूपों को देखने लगता है। पर जब दोष उत्कट नहीं

१ पिच्छिलाश्रुः. २ विदार्य. ३ तं ४ दोषो. ५ दृष्टौ. ६ सर्वाण्येव प्रपश्यति.

होते तो वह मनुष्य अव्यक्त रूपों को नहीं देखता अर्थात् स्पष्टदर्शी होता है। अव्यक्त रूप से यहां वक्ष्यमाण रूप भ्रमण, अरुण वर्ण, समल रूप आदि वातिक अव्यक्त रूप, आदित्य खद्योत आदि तथा नील, कृष्ण आदि पैत्तिक अव्यक्तरूप, स्निग्ध, श्वेत आदि श्लैष्मिक अव्यक्त रूप, रक्ततम आदि रक्तज अव्यक्त रूप, और कर्बुर वर्ण वाले सान्निपातिक अव्यक्तरूप लिये जाते हैं। दूसरे, तीसरे वा चौथे पटल में दोषों के जाने पर भी उपर्युक्त प्रकार से ही व्याख्या की जाती है। इस श्लोक में कई आचार्य 'कदाचिदथ पश्यति' के स्थान पर 'सर्वाण्येव प्रपश्यति' यह पाठ स्वीकार करते हैं। वे इस प्रकार व्याख्या करते हैं कि—जिस मनुष्य की दृष्टि के प्रथम पटल में विगुण दोष ठहर जाते हैं, वह मनुष्य सभी रूपों को अव्यक्त रूप में देखता है।

मधु०—कृष्णाश्रितत्वाद्दृष्टिमण्डलस्य दृष्टिजा उच्यन्ते। दृष्टिप्रमाणं तु सुश्रुतेनोक्तम्,—"मसूरदलमात्रां तु पञ्चभूतप्रसादजाम्" (सु. उ. तं. अ. ७)–इति । अत्र मसूरदलमात्रामिति मसूरार्धदलमात्रां, तथाच निमिः,—"पञ्चभूतात्मिका दृष्टिर्मसूरार्धदलोन्मितिः"–इति । ननु, एवं तर्हि विरुध्यते, यदाह स एव पुनः–"नेत्रायामत्रिभागं च कृष्णमण्डलमुच्यते। कृष्णात् सप्तममिच्छन्ति दृष्टिं दृष्टिविदो जनाः" (सु. उ. तं. अ. १)–इति, अत्र कृष्णसप्तमभागत्वेन दृष्टेरुक्तत्वात्। उच्यते, कृष्णसप्तमभागत्वेनापि मसूरार्धदलप्रमाणा दृष्टिरित्येक एवार्थः। ननु, एवमातुरोपक्रमणीयोक्तं 'द्व्यङ्गुलायतं नयनं, नयनत्रिभागपरिमाणा तारका, नवमस्तारकांशो दृष्टिमण्डलम्' (सु. सू. स्था. अ. ३५)–इति विरुध्यते । उच्यते, तत्र मण्डलाभिधानेन मण्डलसहिताया दृष्टेरुक्तिः, अत्र तु मण्डलरहिताया इति; मतभेदाद्वा न विरोधः, तारकानवमांशो दृष्टिरिति शल्यमतं, तारकासप्तमांशो दृष्टिरिति शालाक्यसिद्धान्तेन । ननु, एवं तर्हि 'दृष्टिश्च रोमकूपाश्च न वर्धन्ते' (सु. शा. स्था. अ. ४)–इति शारीरोक्तं विरुध्यते, यतः कृष्णसप्तमभागत्वेन दृष्टेरुक्तत्वात् कृष्णवृद्ध्या तद्वृद्धेः संभवात्। नैवम्, अङ्गान्तरवन्न बहु वर्धत इत्यभिप्रायेणोक्तं दृष्टिर्न वर्धत इति ।

(दृष्टिप्रमाणमिति—) दृष्टि का प्रमाण सुश्रुत ने निर्दिष्ट किया है कि—'पृथिवी आदि पांच महाभूतों के प्रसाद (अंश) से होने वाली दृष्टि मसूरदल के समान प्रमाण वाली होती है'। यहां मसूरदलमात्र से मसूरार्धदलमात्र प्रमाण लेना चाहिए। जैसे निमि ने कहा भी है—'पञ्चभूतात्मक दृष्टि मसूरार्ध (आधे मसूर के) प्रमाण वाली होती है'। (ननु—) यदि उपर्युक्तानुसार दृष्टि का प्रमाण है तो विरोध आता है, क्योंकि वही पुनः कहते हैं कि 'नेत्र के आयाम का तीसरा भाग कृष्णमण्डल और कृष्णमण्डल का सप्तम भाग दृष्टि होती है, ऐसा दृष्टिज्ञ आचार्य मानते हैं'। एवं यहां कृष्णमण्डल का सातवां भाग दृष्टि होती है, यह उक्त होने से उपर्युक्त दोष आता है। इसका उत्तर यह है कि—कृष्णमण्डल का सप्तम भाग होने पर भी दृष्टि मसूरार्ध प्रमाण वाली ही बनती है (क्योंकि मसूरार्ध भी दृष्टि के सप्तम भाग के बराबर होता है), अतः इन दोनों प्रमाणों का अर्थ एक ही है। (ननु—) यदि ऐसा ही है तो आतुरोपक्रमणीयोक्त 'नेत्र दो अङ्गुल आयाम वाला होता है, नेत्र के तीसरे भाग के बराबर तारका होती है और तारका का नवमांश

(अर्थात् नवम भाग के समान प्रमाण वाला) दृष्टि मण्डल होता है' यह पाठ विरुद्ध होता है (अर्थात् 'कृष्णात् सप्तममिच्छन्ति' से 'नवमस्तारकांशो दृष्टिमण्डलम्' यह विरुद्ध होता है)। (उत्तर—) इसका उत्तर यह है कि वहां मण्डल कहने से मण्डल के सहित दृष्टि का प्रमाण कहा है, किन्तु यहां मण्डल से रहित दृष्टि का प्रमाण निर्दिष्ट किया है। अथवा 'मतभेद होने से यहां विरोध नहीं है, क्योंकि दृष्टि तारका की नवमांश होती है' यह शल्यशास्त्र का मत है और 'दृष्टि तारका की सप्तमांश होती है' यह शालाक्यशास्त्र का मत है। यदि दृष्टि कृष्णभाग के सप्तम अंश के समान प्रमाण वाली होती है तो सुश्रुतोक्त 'दृष्टि और रोमकूप कभी नहीं बढ़ते' यह पाठ विरुद्ध होता है, क्योंकि इसमें दृष्टि का बढ़ना नहीं माना और वहां दृष्टि को कृष्णभाग के सप्तम अंश के समान प्रमाण वाली माना है। एवं जब कृष्णभाग बढ़ेगा तो दृष्टि का बढ़ना भी आवश्यक है, अन्यथा (कृष्णभाग के बढ़ने से और दृष्टि के न बढ़ने से) दृष्टि कृष्णभाग की सप्तमांश नहीं रह सकती और यदि बढ़ती है तो सुश्रुत शारीरोक्त 'दृष्टि और रोमकूप भी नहीं बढ़ते' से विरोध आता है। इसी बात को श्रीकण्ठदत्त जी कहते हैं कि (ननु—) इत्यादि। इसका अर्थ यह है कि—यदि ऐसा ही है (यदि दृष्टि कृष्णभाग के सप्तम अंश के समान प्रमाण वाली है) तो 'दृष्टि और रोमकूप कभी नहीं बढ़ते' यह सुश्रुतोक्त पाठ विरुद्ध होता है, क्योंकि दृष्टि कृष्णभाग का सप्तमांश होने से कृष्णभाग की वृद्धि होने पर उसकी भी वृद्धि होती है। इसका समाधान इस प्रकार है कि—नहीं, दूसरे अङ्गों की तरह दृष्टि बहुत नहीं बढ़ती। इस अभिप्राय को लेकर वहां कहा है कि—'दृष्टि और रोमकूप नहीं बढ़ते'।

वक्तव्य—उपर्युक्त सङ्घर्ष का संक्षिप्त भाव यह है कि—'मसूरदलमात्रां तु पञ्चभूतप्रसादजाम्' में सुश्रुत ने दृष्टि का प्रमाण मसूर के दल के समान कहा है, किन्तु यहां अर्ध शब्द लुप्त समझना चाहिए, अन्यथा निमि के—'पञ्चभूतात्मिका दृष्टिर्मसूरार्धदलोन्मितिः' इस पाठ से विरोध आता है। अतएव दृष्टि का प्रमाण मसूरार्ध के समान समझना चाहिए। अब यहां यह शङ्का होती है कि—यदि दृष्टि उपर्युक्तानुसार मसूर के आधे दल के बराबर होती है तो 'नेत्रायामत्रिभागं तु कृष्णमण्डलमुच्यते। कृष्णात् सप्तममिच्छन्ति दृष्टिं दृष्टिविशारदाः' से विरोध आता है, क्योंकि इसमें दृष्टि कृष्णभाग से सप्तमांश मानी है और वहां मसूरार्ध दलप्रमित मानी है। इसका उत्तर यह है कि—यहां विरोध नहीं आता क्योंकि कृष्णभाग का सप्तम अंश भी मसूरार्ध प्रमित होता है, एवं जब कृष्णभाग का सप्तम अंश मसूरार्धदल प्रमित होता है तो दोनों की एकवाक्यता होने से विरोध नहीं आता; कारण कि उभयत्र दृष्टि समान ही सिद्ध होती है। इस पर पुनः यह शङ्का उठती है कि—यदि दृष्टि कृष्णभाग का सप्तम अंश है तो इससे 'द्व्यङ्गुलायतनं नयनं, नयनत्रिभागपरिमाणा तारका, नवमस्तारकांशो दृष्टिमण्डलम्' यह विरुद्ध सिद्ध होता है, क्योंकि यहां दृष्टि को तारका (कृष्ण मण्डल) का नवम भाग माना है और वहां सप्तम भाग। इसका उत्तर यह है कि—जहां दृष्टि को तारका का सप्तम अंश माना है, वहां मण्डल भी सम्मिलित है और जहां दृष्टि को तारका का नवम अंश माना है वहां मण्डल सम्मिलित नहीं है। एवं यदि वहां जहां कि दृष्टि को कृष्णभाग का सप्तम अंश माना है, मण्डल का समावेश वा गणना न की जावे तो विरोध नहीं होता। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि यहां विरोध नहीं है, परन्तु भेद की प्रतीति मण्डलगणना के कारण है। अथवा इसका समाधान इस प्रकार भी है कि—तारका का नवम अंश दृष्टि होती है, यह शल्यशास्त्र का मत है और तारका का सप्तम अंश दृष्टि होती है, यह शालाक्य-

शास्त्र का मत है। अब पुनः यह शङ्का उपस्थित होती है कि—यदि दृष्टि कृष्णमण्डल के सप्तम भाग के समान प्रमाण वाली होती है तो कृष्णमण्डल के बढ़ने से दृष्टि भी बढ़ेगी, अन्यथा कृष्णमण्डल के बढ़ जाने पर दृष्टि के न बढ़ने से वह सप्तम अंश नहीं रह सकती और यदि कृष्णमण्डल के साथ २ दृष्टि भी बढ़ती है तो सुश्रुतोक्त 'दृष्टिश्च रोमकूपाश्च न वर्धन्ते' इस पाठ से विरोध आता है, क्योंकि इसमें दृष्टि का बढ़ना निषिद्ध माना है। इसका उत्तर यह है कि—नहीं, यहां विरोध नहीं है। कारण कि 'दृष्टिश्च रोमकूपाश्च न वर्धन्ते' इसका भाव यह है कि—दृष्टि और रोमकूप बढ़ते तो अवश्य हैं, किन्तु दूसरे अङ्गों की तरह अधिक नहीं बढ़ते। एवं जब 'दृष्टिश्च'इत्यादि का यह भाव है तो विरोध नहीं हो सकता।

मधु०—दृष्टयां च चत्वारि पटलानि। रसरक्ताश्रयं बाह्यं, द्वितीयं मांससंश्रयं, तृतीयं मेदःसंश्रयं, चतुर्थं कालकास्थिसंस्थितम्। तथा च सुश्रुतः—"तेजोजलाश्रितं बाह्यं तेष्वन्यत् पिशिताश्रितम्। मेदस्तृतीयं पटलमाश्रितं त्वस्थि चापरम्। पञ्चमांश-समं दृष्टेस्तेषां बाहुल्यमिष्यते" (सु. उ. तं. अ. १)–इति। अत्र तेजःशब्देन रक्तं, जल-शब्देन च रसो व्याख्यातः। तेषु पटलेषु बाह्यादिभेदेनाधिष्ठानविशेषप्रभावाद्दोषाणां लिङ्गविशेष-माह—प्रथमे पटल इत्यादि। प्रथमे पटले सर्वाभ्यन्तरे पटले कालकास्थिसंश्रये; न तु बाह्ये, तत्र प्रथमं दोषलिङ्गानुपलब्धेः; यदि तु कुष्ठादिवद्बाह्यं प्रथमं प्रदूष्याभ्यन्तरे दोषानुप्रवेशः स्यात्तदा प्रागेव रोगस्तत्रोपलभ्येत, न चैवं दृश्यते। तथाच विदेहः,—"दृष्टेरन्तरमाद्यं तु पटलं सम-भिद्रुताः" इत्यारभ्य "एकैकमनुपद्यन्ते पर्यायात् पटलान्तरम्"–इति। प्रथमे पटल इत्या-दिग्रन्थात् पूर्वं केचित् "सिराभिरभिसंप्राप्य विगुणोऽभ्यन्तरे भृशम्" (सु. उ. तं. अ. ७)–इति श्लोकार्धं संप्राप्तिरूपं पठन्ति सुश्रुते, तच्च "सिरानुसारिभिर्दोषैः (सु. उ. तं. अ. १)"–इत्यनेनैव गतार्थमित्यनार्षं टीकाकारैर्व्याख्यातम्। रूपाणीति रूपवन्ति द्रव्याणि। कदाचिदथ पश्यतीत्यनेनात्राधिष्ठानविशेषाद्दोषस्याल्पबलता उक्ता भवति। अव्यक्तरूपाण्यपि वक्ष्यमाणभ्रम-रारुणवर्णादियुक्तानि वातेन, पित्तेनादित्यखद्योतादिपीतनीलवर्णानि, कफेन सितवर्णानि, रक्तेन रक्तवर्णानि, सन्निपातेन चित्रवर्णानि, एवं द्वितीयतृतीयचतुर्थपटलेष्वपि व्याख्येयम्॥२६॥

दृष्टि में चार पटल होते हैं, जिनमें से प्रथम बाह्य रसरक्ताश्रय, दूसरा मांसाश्रय, तीसरा मेद आश्रय और चौथा कालकास्थिसंश्रय होता है। जैसे सुश्रुत ने कहा भी है कि—'तेजो जला-श्रितं बाह्यं तेष्वन्यत् पिशिताश्रितम्। मेदस्तृतीयं पटलमाश्रितं त्वस्थि चापरम्। पञ्चमांशसमं दृष्टेस्तेषां बाहु-ल्यमिष्यते' अर्थात् रक्त और रस के आश्रय में होने वाला एक बाह्य पटल, दूसरा मांस में आश्रित, तीसरा मेद में आश्रित और चौथा (कालक) अस्थि में आश्रित होता है। इन पटलों की मोटाई दृष्टि के पञ्चम भाग के समान होती है। यहां पर 'तेज' शब्द से रक्त और जल शब्द से रस लिया गया है। उन पटलों में बाह्य आदि के भेद से अधिष्ठान विशेष के प्रभावानुसार दोषों के लिङ्ग विशेष को कहते हैं कि (प्रथमे पटल इत्यादि—) प्रथमे पटले अर्थात् सब से आभ्यन्तरिक कालकास्थिसंश्रित पटल में, न कि बाह्य पटल में, क्योंकि दोषों के लक्षण पहले प्रथम पटल में नहीं मिलते और यदि कुष्ठ आदि की तरह बाह्य पटल को प्रथम प्रदूषित कर आभ्यन्तर में दोषों का प्रवेश होता तो वहां रोग की उपलब्धि पूर्व ही होती, परन्तु वहां पूर्व ही रोग की उपलब्धि नहीं होती। जैसे विदेह ने भी—'दृष्टि के भीतर की ओर होने वाले प्रथम पटल की ओर गए हुए' से आरम्भ होकर 'क्रमशः एक २ पटल

में पहुँचते हैं' इस तक के पाठ में कहा है। सुश्रुत में 'प्रथमे पटले' इत्यादि ग्रन्थ से पूर्व कई 'सिराभिरभिसम्प्राप्य विगुणोऽभ्यन्तरे भृशम्' इस श्लोकार्ध को सम्प्राप्ति के रूप में पढ़ते हैं। यह पाठ 'सिरानुसारिभिर्दोषैः' इस पाठ से ही गतार्थ (ज्ञात) हो जाने से अनार्ष है। अतः टीकाकारों ने इसकी व्याख्या नहीं की। 'कदाचिदथ पश्यति' से यहां अधिष्ठान की विशेषता से दोष की स्वल्पबलता सिद्ध होती है। 'अव्यक्तरूपाण्यपि' से वायु द्वारा होने वाले वक्ष्यमाण भ्रमर, अरुण वर्णादि से युक्त, पित्त द्वारा होने वाले आदित्य, खद्योत आदि पीत (पीले) और नीले वर्ण वाले, कफ द्वारा होने वाले श्वेतवर्ण, रक्त द्वारा होने वाले रक्तवर्ण तथा सन्निपात द्वारा होने वाले कर्बुरवर्ण आदि लेने चाहिएं। यही व्याख्या दूसरे, तीसरे और चौथे पटल में भी करनी चाहिए।

द्वितीयपटलस्थदोषस्य लक्षणान्याह—

दृष्टिर्भृशं विह्वलति द्वितीयं पटलं गते।
मक्षिकामशकांश्चापि जालकानि च पश्यति ॥३०॥ [सु० ६।७]
मण्डलानि पताकांश्च मरीचीन् कुण्डलानि च।
परिप्लवांश्च विविधान् वर्षमभ्रं तमांसि च ॥३१॥ [सु० ६।७]
दूरस्थानि च रूपाणि मन्यते स समीपतः।
समीपस्थानि दूरे च दृष्टेर्गोचरविभ्रमात् ॥३२॥ [सु० ६।७]
यत्नवानपि चात्यर्थं सूचीपाशं न पश्यति।

दोष के मेदःश्रित दूसरे पटल में जाने से दृष्टि बार २ विह्वल हो जाती है और मक्षिकाओं, मशकों (मच्छरों), जालों, मण्डलों, ध्वजाओं, किरणों, कुण्डलों, अनेक प्रकार के परिप्लवों (मण्डूक आदि वा नक्षत्र आदि की गतियों), वृष्टियों, मेघों और अन्धकारों को देखती है। एवं इस रोग से ग्रस्त मनुष्य दृष्टि विभ्रम के कारण दूर स्थित रूपों को समीप और समीप स्थित रूपों को दूर पड़े देखता है तथा यत्नपूर्वक देखने पर भी सूचिकाछिद्र को नहीं देख सकता।

मधु०—द्वितीयपटलगतस्य लिङ्गमाह— दृष्टिर्भृशं विह्वलतीत्यादि। विह्वलति पुनः पुनरसम्यग्रूपं गृह्णाति, तथाऽविद्यमानान् मक्षिकादीन् पश्यति; अथवा मक्षिकेत्यादिना विह्वलत्वमेव व्याक्रियते। जालकानि जालान्येव। मरीचीनिति रश्मीन्। परिप्लवानिति मण्डूकादीनां परि सर्वतः प्लवान् गतीः। विविधानिति ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्गतश्लेष्मादिदोषवर्णेन नानाविधान्, अन्ये परिप्लवान् विविधानिति नानावर्णान् जलप्लवानित्याचक्षते। गोचरविभ्रमादिति विषयभ्रान्तेः। सूचीपाशं न पश्यतीति सतोऽपि सूक्ष्मस्यानुपलम्भः; सूचीपाशं सूचीरन्ध्रं, पाशं वा गुणम् ॥३०–३२॥

द्वितीयपटलगतस्य लिङ्गमाह की भाषा सुगम है।

तृतीयपटलगतदोष(काचसंज्ञ)स्य लक्षणमाह—

ऊर्ध्वं पश्यति नाधस्तात्तृतीयं पटलं गते ॥३३॥ [सु० ६।७]
महान्त्यपि च रूपाणि छादितानीव चाम्बरैः।

कर्णनासाक्षिहीनानि विकृतानीव पश्यति ॥३४॥ [सु० ६।७]
यथादोषं च रज्येत दृष्टिर्दोषे बलीयसि।

दोष के मांससंश्रित तीसरे पटल में जाने से मनुष्य ऊपर (की ओर स्थित पदार्थों को) देखता है और नीचे की (ओर स्थित पदार्थों को) नहीं देखता। बड़े २ रूप वाले पदार्थों को भी मेघों से आच्छादित सा देखता है। एवं उस मनुष्य को अन्य मनुष्य कर्ण, नासिका और आंखों से रहित तथा विकृत दीखते हैं। इस रोग में दृष्टि उस २ दोष की प्रबलता के अनुसार उस उस दोष के राग (वर्ण) वाली होती है।

मधु०—तृतीयपटलगतस्य लिङ्गमाह—ऊर्ध्वं पश्यतीत्यादि । ऊर्ध्वं दर्शनाभिधानादधोदर्शनस्य निषेधसिद्धौ तदभिधानं स्वरूपानुवादार्थम् । ननु, पार्श्वयोरीषद्दर्शनार्थं किमित्येतन्न भवति ? उच्यते, ऊर्ध्वाधोगतत्वेनैव पार्श्वस्य परिग्रहादिति कार्तिकः । यदेतद्रूपं पश्यति तत् कीदृशमित्यत आह—महान्त्यपीत्यादि । छादितानीव चाम्बरैरिति आवृतानीव वस्त्रैः । 'अम्बरे' इति पाठान्तरे आकाशे छादितानि केनापि । विकृतानीवेति छिन्नकरपादादीनि । अत्र रागप्राप्तिमाह—यथादोषं च रज्येत दृष्टिर्दोषे बलीयसीति, अस्यार्थः—यथायथं दोषवर्णैररुणपीतसितादिभिर्युज्यते दृष्टिः, रागश्चात्र वर्णमात्रवचनः । अत एव वक्ष्यति—'कफात् सितः शोणितजः सरक्त' इति । दोषे बलीयसीति रक्तमांसमेदःसहाये बलवति दोषे, अन्यथा तु तृतीयेऽपि रागो न भवतीति व्यभिचारः सूच्यत इति गदाधरः । ननु, तृतीये कथं रागवर्णनं, बाह्यपटलेनावृते दर्शनासंभवात् ? न चाश्मरीवर्णाभिधानवदायुर्वेदप्रामाण्यार्थं भविष्यतीति, अश्मर्या उत्तरकालमाकृष्टौ तथा प्रतीतेः, इह तु न तादृक् । उच्यते, तृतीयपटलगतस्य दोषस्य तथास्वभावाद्बाह्ये रागोपलब्धिः, तृतीयपटलादारभ्य रागोदयः । यदाह विदेहः—"यथास्वं रज्यते दृष्टिर्दोषैस्त्रिपटलस्थितैः । चतुर्थपटलप्राप्तैर्मण्डलं रज्यते तु तैः"—इति ॥३३—३४॥

(अत्र रागप्राप्तिमाह इत्यादि—) 'यथादोषं च रज्येत दृष्टिर्दोषे बलीयसि' का अर्थ यह है कि दृष्टि दोषानुसार अरुण, पीत और श्वेत आदि वर्णों वाली हो जाती है। यहां 'राग' शब्द वर्णमात्र का वाचक है, इसी लिए आचार्य आगे कहेंगे कि 'कफ से श्वेत, रक्त से रक्त' इत्यादि। 'दोषे बलीयसि' का रक्त, मांस और मेद की सहायता वाले दोष के बलवान् होने पर राग होता है, यह अर्थ है; अन्यथा तृतीय में भी राग नहीं होता। इस प्रकार का व्यभिचार ('दोषे बलीयसि' से) सूचित होता है (यह गदाधर का मत है)। अब यहां शङ्का होती है कि—तृतीय पटल में राग का वर्णन कैसे हो सकता है, क्योंकि वह तो दीखता नहीं ? और नहीं अश्मरी के वर्णनिर्देश की तरह इसका वर्णनिर्देश आयुर्वेद की प्रामाणिकता के लिए कहा है, यह कहना चाहिए; क्योंकि अश्मरी में निर्दिष्ट वर्ण बाद में उसके (अश्मरी के) निकालने पर दीखता है, परन्तु यहां वैसा भी नहीं हो सकता। इसका उत्तर यह है कि—दोष के तृतीय पटल में जाने से स्वभावतः बाह्य पटल पर राग की उपलब्धि होती है और राग (वर्ण) की उत्पत्ति भी तीसरे पटल से ही प्रारम्भ होती है। जैसे विदेह ने कहा भी है कि—'दृष्टि तृतीय पटल में स्थित दोषों से दोषानुसार वर्णवाली होती है और (दोषों के) चतुर्थ पटल में प्राप्त होने पर उनसे मण्डल राग वाला हो जाता है'।

अधःपार्श्वादिदृष्टिप्रदेशस्थदोषभेदेन लक्षणान्याह—

अधःस्थिते समीपस्थं दूरस्थं चोपरिस्थिते ॥३५॥ [सु० ६।७]
पार्श्वस्थिते तथा दोषे पार्श्वस्थं नैव पश्यति ।
समन्ततः स्थिते दोषे संकुलानीव[1] पश्यति ॥३६॥ [सु० ६।७]
दृष्टिमध्यस्थिते दोषे महद्ध्रस्वं च पश्यति ।
द्विधा स्थिते द्विधा पश्येद्बहुधा चानवस्थिते ॥३७॥ [सु० ६।७]
दोषे दृष्ट्याश्रिते तिर्यक् स एकं मन्यते द्विधा ।

जब दोष दृष्टिमण्डल के अधोभाग में स्थित होता है तो मनुष्य समीपवर्ती पदार्थों को, जब दृष्टिमण्डल के ऊर्ध्व भाग में स्थित होता है तो मनुष्य दूरवर्ती पदार्थों को और जब दोष दृष्टिमण्डल के पार्श्वभाग में स्थित होता है तो वह मनुष्य पार्श्ववर्ती पदार्थों को नहीं देखता। दोष के चारों ओर बिखरे वा स्थित होने पर मनुष्य सब पदार्थों को सङ्कुल सा देखता है। जब दोष दृष्टि के मध्य भाग में स्थित होता है तो मनुष्य बड़े २ पदार्थों को भी छोटा, जब दोष दृष्टि के दो स्थानों पर स्थित होता है तो मनुष्य एक २ पदार्थ को दो दो, जब दोष दृष्टि में चञ्चलरूप से स्थित होता है तो मनुष्य एक २ पदार्थ को बहुत बहुत (अर्थात् एक पदार्थ को अनेक आकृतियों में) और जब दोष दृष्टि में तिरछा स्थित होता है तो मनुष्य एक वस्तु को ही दो हिस्सों में विभक्त देखता है।

वक्तव्य—इसका भाव यह है कि दोष दृष्टि में जिस प्रकार से स्थिति करेगा उसी प्रकार के उसमें लक्षण होंगे। यदि दोष दृष्टिमण्डल के निचले भाग में स्थित होगा तो मनुष्य समीपस्थ, यदि दोष दृष्टि के ऊपर के भाग में स्थित होगा तो दूरस्थ और यदि दोष दृष्टि के पार्श्वों में से किसी ओर स्थित होगा तो पार्श्वस्थ पदार्थों को नहीं देखता। एवं जब दोष दृष्टि के चारों ओर बिखर कर स्थित होता है तो मनुष्य सब वस्तुओं को सङ्कुलित, जब दोष दृष्टिमण्डल के मध्य भाग में स्थित होता है तो मनुष्य सब वस्तुओं को ह्रस्व (छोटा), जब दोष दृष्टिमण्डल के दो भागों में होता है तो मनुष्य एक वस्तु को भी दो वस्तुओं की आकृति में, जब दोष दृष्टिमण्डल में चञ्चलरूप से स्थित होता है तो एक वस्तु बहुत सी होकर और जब दोष दृष्टिमण्डल में तिरछा स्थित होता है तो मनुष्य एक ही वस्तु को द्विधाभूत देखता है। सुश्रुत में कुछ पाठान्तर मिलता है। वह इसे इस प्रकार पढ़ता है कि—'अधःस्थिते समीपस्थं दूरस्थं चोपरिस्थिते। पार्श्वस्थिते तथा दोषे पार्श्वस्थानि न पश्यति ॥ समन्ततः स्थिते दोषे सङ्कुलानीव पश्यति। दृष्टिमध्यगते दोषे स एकं मन्यते द्विधा। द्विधा स्थिते त्रिधा पश्येद्बहुधा चानवस्थिते ॥' (सु. उ. तं. अ. ८)।

[1] सङ्कुलानि च.

मधु०—अधुनाध ऊर्ध्वमेवं यथाप्रदेशं दृष्टौ दोषावस्थाने यथा न पश्यति यादृग्वा पश्यति तथा दर्शयितुमाह—अधःस्थित इत्यादि। समीपस्थं दूरस्थं चेति नैव पश्यतीति संबन्धः। समन्तत इति सर्वतः। संकुलानीवेति अन्यान्यरूपेणैव मिश्राणि। अनवस्थित इति अनियततावस्थान इत्यर्थः ॥ ३५-३७॥

अधुनाध ऊर्ध्वमेवम् इत्यादि पाठ की भाषा सुगम है।

चतुर्थपटलगतदोषस्य (लिङ्गनाशस्य) लक्षणमाह—

तिमिराख्यः स वै दोषश्चतुर्थं पटलं गतः ॥३८॥ [सु० ६।७]
रुणद्धि सर्वतो दृष्टिं लिङ्गनाशमतः परम्।
अस्मिन्नपि तमोभूते नातिरूढे महागदे ॥३९॥ [सु० ६।७]
चन्द्रादित्यौ सनक्षत्रावन्तरीक्षे च विद्युतः।
निर्मलानि च तेजांसि भ्राजिष्णून्यथ पश्यति ॥४०॥ [सु० ६।७]

तिमिरसंज्ञक वह रोग चतुर्थ (रस रक्ताश्रित) पटल में गया हुआ दृष्टि को चारों ओर से रोक लेता है, जिससे कि बाद में लिङ्ग (दृष्टि वा दर्शनशक्ति) का नाश हो जाता है। इस (चतुर्थ पटलगत दोष) के भी अन्धकार के समान हो जाने से तथा इस महाव्याधि के अतिप्रबल न होने पर मनुष्य आकाश में चन्द्र, सूर्य, नक्षत्र, बिजली तथा अन्य निर्मल एवं दीप्त तेजों को देखता है।

वक्तव्य—दोष शब्द से यहां रोग लिया जाता है, क्योंकि दोष शब्द से रोग का भी ग्रहण होता है। जैसे चरक ने कहा भी है कि—दोषा ह्यपीति। डल्हण ने 'तिमिराख्यः स वै दोषः' इस पद को ऊपर कहे 'द्विधा स्थिते त्रिधा पश्येद्बहुधा चानवस्थिते' के बाद कहकर उसी से सम्बन्धित माना है और 'चतुर्थं पटलं गतः' को इसी के साथ सम्बन्धित किया है। यहां चतुर्थपटल से तेजोजलाश्रित बाह्य पटल लेना चाहिए। भाव यह है कि 'प्रथमे पटले दोषः' इत्यादि श्लोक में कथित प्रथम पटल से यहां दृष्टि के अन्दर की ओर से आरम्भ होने वाला प्रथम पटल लेना चाहिए, न कि बाहर की ओर से आरम्भ होने वाला प्रथम पटल; जिसे कि 'रसरक्ताश्रितं बाह्यं' इत्यादि से बाह्य कहा है, क्योंकि यदि यहां प्रथम पटल से रस रक्ताश्रित बाह्यपटल लिया जावे तो उसमें दोष के स्थित होने पर 'प्रथमे पटले दोषः' इत्यादि से उक्त अव्यक्त रूपों के दर्शन आदि लक्षण नहीं मिलते, प्रत्युत इसमें दोष के पूर्णरूप से स्थित होने पर 'चतुर्थं पटलं गतः' इत्यादि से कथित सर्वतो दृष्टि रोध, तदनु च चक्षुरिन्द्रियनाश रूप लक्षण होते हैं; तथा दोष के अपूर्ण रूप से स्थित होने पर चन्द्रादि दीप्यमान वस्तुओं के दर्शन रूप लक्षण होते हैं। अतः यह सिद्ध होता है कि यहां ('प्रथमे पटले दोषः' में) प्रथम पटल से कालास्थिसंश्रित आभ्यन्तरिक पटल लिया जाता है। दूसरी बात ('प्रथमे पटले' इत्यादि

१ भ्राजिष्णूनि च, भ्राजिष्णुनीव. २ दोषा ह्यपि रोगशब्दं इत्यादि (च. वि. अ. ६).

श्लोक से उक्त प्रथम पटल से रसरक्ताश्रित बाह्यपटल लिए जाने पर) यह भी है कि इस प्रकार स्वीकार करने से रोग का प्रारम्भ होना बाह्यपटल से सिद्ध होता है; परन्तु यह अनुभव तथा शास्त्र से विरुद्ध है। जैसे विदेह ने कहा भी है कि— 'यथा दोषाः प्रकुपिताः प्राप्य रूपवहे सिरे। दृष्टेरन्तरमाद्यन्तु पटलं समभिद्रुताः॥ एकैकमनुपद्यन्ते पर्यायात् पटलान्तरम्।' इस प्रकार जब यह सिद्ध होता है कि दोष पहले आभ्यन्तरिक कालास्थिसंश्रित पटल में वा यों कहें कि आभ्यन्तर की ओर गिनने से आने वाले प्रथम पटल में आकर अपने लक्षण दिखलाते हुए बाहर की ओर क्रमशः दूसरे दूसरे पटल में आते हैं तो यहाँ प्रथम पटल से आभ्यन्तरिक कालास्थिसंश्रित पटल लेना चाहिए। एवं 'दृष्टिर्भृशं विह्वलति द्वितीयं पटलं गते' इत्यादि में प्रोक्त द्वितीय पटल से भी आभ्यन्तर की ओर से गिनने पर आने वाले दूसरे पटल अर्थात् मेदःसंश्रित को ही लेना चाहिए; न कि 'तेजोजलाश्रितं बाह्यं तेष्वन्यत्पिशिताश्रितम्' से प्रतिपादित मांसाश्रित पटल को, क्योंकि दोषों का एक पटल से दूसरे पटल में आना अन्दर की ओर से (बाहर की तरफ) और क्रमशः होता है। इसी तरह 'ऊर्ध्वं पश्यति नाधस्तात् तृतीयं पटलं गते' आदि में विहित तृतीय पटल से अन्दर की ओर से बाहर की ओर गिनने से आने वाले मांसाश्रित पटल का ग्रहण करना चाहिए, न कि 'मेदस्तृतीयं पटलम्' (सु. उ. तं. अ. १) से निर्दिष्ट मेदःसंश्रित पटल का, क्योंकि दोष भीतरी कालकास्थिसंश्रित पटल से आरम्भ होकर क्रमशः पटलों में से होते हुए तथा अपने २ लक्षण उपजाते हुए बाहर को आते हैं। अतः उस क्रम से तृतीय पटल मांसाश्रित ही आता है, जिससे यहां यही लिया जाता है। इसी प्रकार प्रकृत 'चतुर्थं पटलं गतः' आदि में संदिष्ट चतुर्थ पटल से अन्दर की ओर से गणना करने पर आने वाला रसरक्ताश्रित बाह्य पटल लेना चाहिए क्योंकि दोष क्रमशः अन्दर की ओर से ही बाहर के पटल में आता है। अतएव यहां पर 'त्वस्थि चापरं' से प्रोक्त कालकास्थिसंश्रित आभ्यन्तर पटल न लेकर रसरक्ताश्रित बाह्य पटल लिया जाता है। यही मत प्रायः सभी टीकाकारों को अभिमत है किन्तु आचार्य वाचस्पति मिश्र टीका करते हुए 'दृष्टिर्भृशं विह्वलति द्वितीयं पटलं गते' की टीका में लिखते हैं कि—'द्वितीयं पटलं मांसरक्ताश्रयम्'। इससे प्रतीत होता है कि इनके मत में द्वितीय पटल से 'तेजोजलाश्रितं बाह्यं तेष्वन्यत् पिशिताश्रितम्' इत्यादि से प्रोक्त मांसाश्रित पटल लिया जाता है, एवं (इसी व्याख्या के अनुसार) तृतीय पटल से मेदःसंश्रित और चतुर्थ पटल से अस्थिसंश्रित पटल लिया जाता है। परन्तु यह मन्तव्य अन्य टीकाकारों से विरुद्ध होने के कारण अमाननीय है। अन्य टीकाकारों ने वाचस्पतिमिश्रप्रतिपादित मत को इसलिए नहीं माना कि विदेहोक्त 'यथा दोषाः' से यह सिद्ध है कि दोष सब से पूर्व आभ्यन्तरिक कालकास्थिसंश्रित पटल से आरम्भ होकर क्रमशः बाहर की ओर आते हैं। अतः यहां (प्रकृत में) पटलों का प्रथम द्वितीय आदि से

निर्देश भीतर की ओर से ही ठीक है। किञ्च उत्तरोत्तर दोष के प्रबल होने से लक्षण की भी प्रबलता बताई है, जो कि उपर्युक्तानुसार ठीक जँचती है। यदि वाचस्पति मिश्र के मन्तव्यानुसार द्वितीय पटल से मांसरक्ताश्रित (वा. नि.) अर्थात् मांसाश्रित पटल ले लें तो इसमें भी रक्त का सम्बन्ध होने से राग होना चाहिए और राग होने पर इसकी भी 'काच' संज्ञा होनी चाहिए। तथा 'तृतीयं पटलं गते' से मेदः संश्रित लेने से उसमें राग नहीं होना चाहिये और न ही उस अवस्था में उसकी काच संज्ञा होनी चाहिए। एवमेव 'चतुर्थं पटलं गतः' से कालकास्थिसंश्रितपटल गत, यह अर्थ लेने से इसकी भी काच संज्ञा न होने से इसे नीलिकाकाच नहीं कहना चाहिए, परन्तु ऐसा नहीं होता, अतः यहां भीतर की ओर से पटलों का ग्रहण ही ठीक है। यहां इस प्रकार की शङ्का उपस्थित होती है कि—सुश्रुत ने प्रथम तो पटलों का निर्देश 'तेजोजलाश्रितं बाह्यं' के अनुसार किया है और प्रकृत में अन्यथा किया है, अतः इसमें विरोध आता है। किञ्च सुश्रुत और विदेह में भी विरोध आता है, क्योंकि सुश्रुत ने 'तेजोजलाश्रितम्' इत्यादि से बाह्य पटल को प्रथम और विदेह ने 'यथा दोषाः' इत्यादि से आभ्यन्तरिक पटल को प्रथम पटल माना है। इसका उत्तर यह है कि—सुश्रुत ने पहले 'तेजोजलाश्रितं' इत्यादि से जो क्रम रक्खा है वह नेत्र के बाहरी भाग से है, क्योंकि वह हीं पहले दीखता है और जो सुश्रुत ने यहां क्रम रक्खा है वह नेत्र के आभ्यन्तरिक भाग से है; क्योंकि वह ही पहले दोष से ग्रस्त होता है। किञ्च यहां रोग की उत्तरोत्तर वृद्धि दिखाने के कारण अन्दर की ओर से क्रम आरम्भ किया है, अतः विरोध नहीं है। एवं विदेह से भी विरोध नहीं आता क्योंकि विदेह ने भी जिस पटल में दोष पहले जाता है उसे प्रथम माना है परन्तु सुश्रुत ने बाह्य पटल के प्रथम दीखने से उसे प्रथम माना है।

मधु०—चतुर्थपटलगतमाह—तिमिराख्य इत्यादि। आन्ध्योत्पादकतया तिमिरसाधर्म्यात्तिमिराख्यः; दोषो रोगः, "दोषा अपि रोगाख्यां लभन्ते" इत्यागमात्; स एव रोगः सर्वतो दृष्टिरोधाल्लिङ्गनाश उच्यते; लिङ्ग्यते ज्ञायतेऽनेनेति लिङ्गमिन्द्रियं दर्शनशक्तिः, तन्नाशोऽस्मिन्निति लिङ्गनाशः। लिङ्गनाशमतः परं 'वदन्ति' इति शेषः। अस्मिन्नपि तमोभूत इति भूतशब्दः सादृश्ये, रूपस्यानुपलम्भादन्धकारसदृशे। नातिरूढे नातिवृद्धे, अतश्चन्द्रादित्यादीनि भास्वन्ति वस्तूनि पश्यति। अन्तरीक्षे चेत्यस्योपादानं भूमेस्तमोमयत्वात्, तत्र च तमोऽभिभवात्तादृशस्य चक्षुषो दर्शनाशक्तेः॥३८–४०॥

चतुर्थपटलगतमाह इत्यादि की भाषा सरल है।

लिङ्गनाशस्य नामान्तरमाह—

स एव लिङ्गनाशस्तु नीलिका काचसंज्ञितः।

जो दोष तृतीय पटल में (मांसाश्रित में) आकर राग को पा 'काच' नाम से कहलाता है, वही दोष उपेक्षा करने से जब चौथे (रसरक्ताश्रित) पटल में

आ जाता है तो लिङ्गनाश नाम से वा नीलिका नाम से कहलाता है। अथवा वह लिङ्गनाश ही तो (सलिङ्गनाश एव तु) नीलिका काचसंज्ञक होता है (नीलिका काचसंज्ञितः भवतीति शेषः)।

वक्तव्य—दूसरे अर्थ में नीलिकाकाच यह एक ही नाम समझना चाहिए, क्योंकि यदि नीलिका और काच पृथक् २ माने जावेंगे तो तृतीय पटलगत रागी तिमिर भी काच नामक होता है, जिससे कि यहां उसका भी ग्रहण होने से दोष आता है। यह दोष नीलिकाकाच (दोनों को अपृथक्) मानने से नहीं आता, क्योंकि तृतीय पटलगत काच केवल काच वा तिमिरकाच कहलाता है और यह (चतुर्थ पटलगत) काच 'नीलिकाकाच' कहलाता है। एवं इनका परस्पर भेद हो जाता है। भाव यह है कि जब तिमिरारम्भक दोष पटलों में जाकर रोग उपजाता है तो उस रोग को तिमिर कहते हैं। वह तिमिर भी जब रागयुक्त हो जाता है तो काच कहलाता है। वह काच भी जब लिङ्गनाशक हो जाता है तो नीलिका-काच कहलाता है। एवं यह सिद्ध होता है कि जब तिमिरारम्भक दोष बढ़ता हुआ तृतीय पटल में आ जाता है तो उस मांसाश्रित तृतीय पटल में मांसस्थ रक्त का सम्बन्ध होने से राग आ जाता है जिससे उस तिमिर की काच संज्ञा हो जाती है, परन्तु जब इसकी भी उपेक्षा करने से दोष बढ़कर चतुर्थ पटल में आ लिङ्गनाश कर देते हैं तो उस काच की नीलिकाकाच संज्ञा हो जाती है। इस प्रकार यह सारांश निकलता है कि काच दो प्रकार का होता है—एक काच वा तिमिर काच और दूसरा नीलिकाकाच। इनमें से प्रथम दोष के तृतीय (मांसाश्रित) पटलगत होने पर और दूसरा चतुर्थ (रसरक्ताश्रित) पटलगत होने पर होता है, इनसे पहले पटलों में आश्रित दोष से उत्पन्न तिमिरों में रक्त के दूरस्थ होने के कारण राग नहीं आता, जिससे कि इनमें काच संज्ञा भी नहीं आती। अभिप्राय यह है कि तिमिर संज्ञा तो सर्वत्र (किसी भी पटल में दोष के जाने से) होती है, किन्तु काच संज्ञा केवल तृतीय और चतुर्थ पटल में (तिमिर के रागी होने से) आती है, इस पर भी नीलिकाकाच तथा लिङ्गनाश यह संज्ञा केवल चतुर्थ पटल में (तिमिर वा तदुद्भव काच में नेत्रेन्द्रिय के नष्ट होने पर) होती है।

अब यहां यह शङ्का उत्पन्न होती है कि—चारों पटलों में होने वाला तिमिर वातादि भेद से छः प्रकार का होता है। जिस प्रकार यह छः प्रकार का होता है उसी प्रकार काच (तिमिरकाच) भी वर्णानुसार छः प्रकार का होता है। किञ्च नीलिका काच (लिङ्गनाश) भी मण्डल राग भेद से छः प्रकार का होता है, एवं संमिश्रित ये १८ भेद बनते हैं। इन्हें पित्त विदग्ध दृष्टि आदि छः रोगों के साथ मिलाने से सभी नेत्र रोग २४ बनते हैं, एवं सम्पूर्ण गणना षट्सप्तति (६७) से बढ़ जाती है। इसका उत्तर यह है कि—यहां संख्यावृद्धि नहीं होती क्योंकि काच और नीलिकाकाच तिमिर से भिन्न नहीं हैं। इसी लिए तो आचार्य ने

'तिमिराख्यः स वै दोषः' में स्थित 'स वै' शब्द दिये हैं। एवं यह सिद्ध होता है कि तिमिरकाच और नीलिकाकाच परस्पर भिन्न नहीं किन्तु उत्तरोत्तर अवस्था विशेष हैं। इसी का विशेष विवेचन आगे यथास्थान होता जायगा।

मधु०—तस्यैव लिङ्गनाशस्य संज्ञान्तरमाह—स एव लिङ्गनाशस्त्वित्यादि। यस्तृतीयपटलस्थितः काचसंज्ञितो दोषः स एवोपेक्षया चतुर्थे पटले पुनर्लिङ्गनाशो नीलिका च। तुशब्दः पुनरर्थे। कुतः पुनरयमृजुरेव ग्रन्थो न लगति—नीलिकाकाचाभ्यां पर्यायाभ्यां संज्ञितो नीलिकाकाचसंज्ञित इति; नैवं, तन्त्रान्तरे तृतीयपटलस्थिते दोषे काचाभिधानात्। यदाह निमिः,—"काच इत्येष विज्ञेयो याप्यस्त्रिपटलोत्थितः। चतुर्थपटलप्राप्तो लिङ्गनाशः स उच्यते॥ प्रत्याख्येयश्च कफजो व्याधिः साध्यस्तु तद्विदा"—इति।

उसी लिङ्गनाश की दूसरी संज्ञा को कहते हैं कि—'स एव लिङ्गनाशस्त्वित्यादि' जो काचसंज्ञक दोष तीसरे पटल में स्थित होता है, उपेक्षा करने से वही पुनः चतुर्थ पटल में आकर लिङ्गनाश और नीलिका कहलाता है। यहां पर दिया हुआ 'तु' शब्द पुनः के अर्थ में है। अब यहां उट्टङ्कना होती है कि—यह ग्रन्थ इस प्रकार सीधी तरह से क्यों नहीं लगता कि (वही लिङ्गनाश तो) नीलिका तथा काच इन पर्यायों वाला होता है। इसका उत्तर यह है कि—नहीं, इसका यह अर्थ नहीं हो सकता, क्योंकि तन्त्रान्तर में दोष के तीसरे पटल में स्थित होने पर काच संज्ञा कही है। जैसे निमि ने कहा भी है कि—'यह त्रिपटलोत्थित रोग काच जानना चाहिए जो कि याप्य होता है और वह काच ही चतुर्थ पटल में प्राप्त होकर लिङ्गनाश कहलाता है। यह जब कफज हो तो प्रत्याख्येय होता है और जब तृतीय पटलगत काच कफज हो तो साध्य होता है'।

वक्तव्य—इस गद्यांश का भाव यह है कि—ऊपर 'स एव' इत्यादि का जो अर्थ किया है वह कुछ एक पदों का अध्याहार कर और कुछ एक पदों को अन्वयानुसार संयुक्त कर तथा कुछ एक पदों का अभीष्टानुसार अर्थ करके किया है। यदि ऐसा न करके इसका सीधा ही अर्थ (वही लिङ्गनाश तो) नीलिका और काच इन पर्यायों वाला होता है, यह अर्थ किया जावे तो क्या हानि है? इसका उत्तर यह है कि—नहीं, इस प्रकार नहीं हो सकता। कारण कि यदि नीलिका और काच ये लिङ्गनाश के पर्याय स्वीकार कर लिए जावेंगे तो काच के तन्त्रान्तरोक्तानुसार तृतीय पटल में भी होने से लिङ्गनाश और नीलिका की वहां भी प्रसक्ति होगी जो कि नहीं होनी चाहिए, क्योंकि अनुभव से तृतीय पटल में होने वाले काच में लिङ्गनाश नहीं होता। तृतीय पटल में भी काच होता है, इस विषय पर आचार्य निमि जी कहते हैं कि—'यह त्रिपटलोत्थित काचसंज्ञक व्याधि याप्य जाननी चाहिए और जब यह व्याधि चतुर्थ पटल में प्राप्त होती है तो यह लिङ्गनाश कहलाती है। चतुर्थपटलगत यह व्याधि (लिङ्गनाश नामक) जब कफ की प्रधानता वाली होती है तो प्रत्याख्येय होती है और तृतीयपटलगत वह व्याधि (काच नामक) जब कफ की प्रधानता वाली होती है तो साध्य होती है'।

मधु०—अत्रापि तत्प्रत्ययात्तृतीयपटलस्थस्य काचसंज्ञा, चतुर्थपटलप्राप्तस्य प्रत्याख्येयत्वं प्रत्येतव्यम्। यत्पुनर्लिङ्गनाशोपादानं तत्सकलपर्यायज्ञानार्थम्। गदाधरस्तु 'नीलिकाविशेषिता काचसंज्ञा नीलिकाकाचसंज्ञा' इत्याह; एतेन तृतीयपटलस्थदोषे काचसंज्ञा, चतुर्थे तु सा नीलिकया विशिष्यते इति फलति। एकजातीयतया त्रिचतुःपटलयोरपि रोगाणां

षट्त्वमेव, नतु द्वादशत्वं; तेन न संख्यातिरेकः । इदमिदानीं चिन्त्यते—तृतीयपटलस्थे दोषे काचसंज्ञा तिमिरसंज्ञा च, तर्हि कथं न षट्संख्याहानिः ? काचात्तिमिरस्य भिन्नत्वात्, उक्तं च 'षड् लिङ्गनाशाः' इति; अथ मन्यसे, तिमिरात् काचो न भिद्यते, तस्यावस्थान्तरत्वादिति; न, तद्विपरीतसाधकत्वाद्धेतोः; यतोऽभिष्यन्दसिरोत्पाताभ्यामधिमन्थसिराहर्षयोरवस्थान्तरत्वेऽपि भिन्नत्वं प्रतीयते । उच्यते-भवत्येवं, यद्यवस्थान्तरत्वेऽपि विशिष्टनामप्राप्तिस्तयोरिवास्य प्रथमनामपरित्यागात् स्यात्; न चैवं, 'तिमिराख्यः स वै दोषः' इत्यभिधानात्, तथाच 'तिमिरे रागिणी'— इति वचनात्; तस्मान्नास्यावस्थान्तरे पूर्वनामपरित्यागः, ततस्तिमिरात् काचस्यावस्थान्तरत्वेऽप्यनन्यत्वं साधु, यथा-सत्यपि यौवनत्वे यज्ञदत्तस्य न स्वाभिधेयहानिः, अतो न संख्यातिरेकप्रसंग इति ॥—

(अत्रापीत्यादि—) यहां पर (उपर्युक्त आचार्य निमि प्रतिपादित 'काच इत्येष' इत्यादि श्लोक में) भी तत् प्रत्यय से तृतीय पटलस्थ रागप्राप्त तिमिर की ही काच संज्ञा है। चतुर्थ पटल में प्राप्त तिमिर वा काच की अथवा नीलिकाकाच की प्रत्याख्येयता जाननी चाहिए। यहां पर जो लिङ्गनाश का उपादान (ग्रहण वा निर्देश) किया है, वह सभी पर्यायों के ज्ञानार्थ (वा सभी पर्यायों के जतलाने के लिए) है। यहां गदाधर तो यह कहता है कि—नीलिका से विशेषित जो काचसंज्ञा हो उसे नीलिकाकाच संज्ञा कहते हैं (भाव यह है कि—'स एव लिङ्गनाशस्तु नीलिकाकाचसंज्ञितः' का अर्थ गदाधर यह कहता है कि नीलिका रूप विशेषण से युक्त जो काचसंज्ञा होती है उसे नीलिकाकाच संज्ञा कहते हैं, एवं यहां मध्यमपदलोपी समास से सम्पूर्ण अर्थ उक्त श्लोक का यह होता है कि 'वही लिङ्गनाश तो नीलिकाकाच कहलाता है')। इससे यह सिद्ध होता है कि दोष के तीसरे पटल में स्थित होने पर रागी तिमिर की काचसंज्ञा और दोष के चौथे पटल में स्थित होने से वह काच 'नीलिका' रूप विशेषण से युक्त होता है, यह निष्कर्ष गदाधर के मन्तव्य का है। (एकजातीयतयेति—) एक जैसे होने के कारण तीसरे और चौथे पटल में काच के होने पर भी (वातिकादि भेद से तिमिर) रोग छः ही हैं, बारह नहीं। इससे संख्यातिरेक नहीं होता। अब यहां पर यह विचार किया जाता है कि दोष के तीसरे पटल में स्थित होने से काचसंज्ञा भी होती है और तिमिरसंज्ञा भी साथ ही काच से तिमिर भिन्न भी होता है। जैसे कहा भी है कि—'छः प्रकार के लिङ्गनाश होते हैं' अर्थात् लिङ्गनाश नामक रोग छः प्रकार का होता है। जब कि ऐसा है तो षट्संख्याहानि क्यों नहीं होती ? यहां यदि यह कहा जावे कि तिमिर की अवस्था विशेष होने से काच उससे भिन्न नहीं होता तो इससे विपरीत सिद्धान्त को सिद्ध करने वाले हेतुओं के होने से, यह भी ठीक नहीं है; क्योंकि अभिष्यन्द और सिरोत्पात से होने वाले अधिमन्थ और सिराप्रहर्ष उनकी अवस्थाविशेष होने पर भी उनसे (अभिष्यन्द और सिरोत्पात से) भिन्न हैं। इसका उत्तर यह है कि—ठीक है (वहां ऐसा होता है; किन्तु यहां वैसा इसलिए नहीं होता कि यहां उनकी तरह प्रथम नाम का त्याग तथा दूसरे नाम का ग्रहण नहीं होता)। यदि यहां भी उनकी तरह प्रथम नाम का त्याग और द्वितीय नाम का ग्रहण होता तो भेद होता। परन्तु यहां ऐसा नहीं होता, अतएव तो 'तिमिराख्यः स वै रोगः' (में 'स' शब्द) का निर्देश किया है। तथाच 'तिमिरे रागिणि' यह वचन भी अभेदप्रतिपादक है। इसलिए यह सिद्ध होता है कि तिमिर की अवस्था विशेष होने पर भी प्रथम नाम का परित्याग नहीं होता और प्रथम नाम का परित्याग न होने से काच, तिमिर की अवस्था

विशेष होने पर उससे (तिमिर से) भिन्न नहीं है, जैसे कि जवानी की अवस्था में आने पर भी यज्ञदत्त के प्रथम अवस्था में स्थापित नाम की हानि नहीं होती, एवमेव प्रकृत में भी तिमिर के काचावस्था में आने पर तिमिर की भी हानि नहीं होती, अतः संख्यातिरेक का प्रसङ्ग भी नहीं आता।

वक्तव्य—इसका संक्षिप्त भाव यह है कि सुश्रुत ने 'षड्लिङ्गनाशाः' इत्यादि कहा है, परन्तु जब दोष तीसरे पटल में जाते हैं तो उस समय पहले तिमिर होता है जो कि वातादि क्रम से छः प्रकार का कहा है, तदनु च उसके (तिमिर के) रागयुक्त होने पर काच नामक रोग होता है जो कि वातादि के भेदानुसार छः प्रकार का होता है, एवं इन दोनों के सम्मिलित १२ रोग होने से सुश्रुतोक्त उपर्युक्त संख्या की हानि होती है। यदि यहां यह कहा जावे कि हानि नहीं होती, क्योंकि काच तिमिर की अवस्था विशेष है और अवस्था विशेष होने से परस्पर भेद नहीं हो सकता और भेद न होने से संख्या नहीं बढ़ सकती और संख्या न बढ़ने से सुश्रुत की उक्ति में संख्यातिरेक दोष नहीं आ सकता तो इस पर कहा जाता है कि—जैसे अधिमन्थ और सिराप्रहर्ष क्रमशः अभिष्यन्द और सिरोत्पात की अवस्था विशेष होने पर भी वे (अधिमन्थ और सिराप्रहर्ष) उनसे (अभिष्यन्द और सिरोत्पात से) भिन्न हैं; वैसे ही अवस्था विशेष होने पर भी काच तिमिर से भिन्न हैं और भिन्न होने पर संख्यावृद्धि होती है और संख्यावृद्धि होने पर सुश्रुत की उक्ति में संख्यातिरेक दोष आता है। इसका उत्तर यह है कि—यहां संख्यातिरेक दोष नहीं आता क्योंकि यद्यपि यह (काच) भी अभिष्यन्द की अवस्था विशेष अधिमन्थ की तरह तिमिर की अवस्था विशेष है, किन्तु वहां की तरह यह प्रथम नाम का त्याग तथा दूसरे नाम का ग्रहण नहीं करता; अतः अवस्था विशेष होने पर भी काच तिमिर से भिन्न नहीं है। इसी लिए कहा भी है कि—'तिमिराख्यः स वै रोगः' और 'तिमिरे रागिणि'। एवं यह सिद्ध होता है कि यहां अवस्थान्तर होने पर भी भेद नहीं है, जिससे कि संख्यातिरेक नहीं होता (संख्यावृद्धि नहीं होती)।

वातादिदोषविशेषवशेन रूपविशेषदर्शनमाह—

वातेन चापि रूपाणि भ्रमन्तीव च पश्यति ॥४१॥ [सु० ६।७]
आविलान्यरुणाभानि व्याविद्धानीव मानवः ।

अब उन पटलों में क्रमशः वातादिक दोषों से उत्पन्न तिमिर के लक्षणों को दिखलाते हुए आचार्य माधव कहते हैं कि—वातेन इत्यादि। वातिक तिमिर के लक्षण का निर्देश—तिमिर रोगी वात की अधिकता से, वा वाततिमिर रोगी रूपों को घूमता हुआ सा देखता है, मलयुक्त देखता है, ईषत्रक्त देखता है और वक्र देखता है।

वक्तव्य—अब यह है कि जो तिमिर वात के कारण होता है वा वात की अधिकता वाला होता है, उस (तिमिर) से ग्रस्त रोगी सब (रूप वाले) पदार्थों को घूमता हुआ, मलयुक्त (मलिन), कुछ लाल और टेढ़ा देखता है, अर्थात् उसे सभी पदार्थ भ्रमणशील (घूमते हुए), मलिन, कुछ लालिमा वाले और टेढ़े दीखते हैं।

पित्तेनादित्यखद्योतशक्रचापतडिद्गुणान् ॥४२॥ [सु० ६।७]
नृत्यतश्चैव शिखिनः सर्वं नीलं च पश्यति।

पैत्तिक तिमिर के लक्षण का निर्देश—पित्त के कारण तिमिररोगी सूर्य के, खद्योत (टिटहने) के, इन्द्रधनुष के और बिजली के रूपों को और नाचते हुए मोरों को तथा सर्वत्र नीलवर्ण को देखता है।

वक्तव्य—कई टीकाकार इसकी टीका इस प्रकार करते हैं कि पैत्तिक तिमिररोगी सूर्य को, खद्योत को, इन्द्रधनुष को, विद्युल्लता को, नाचते हुए मोरों को तथा सर्वत्र नीलवर्ण को देखता है। यहां इन्होंने 'तडिद्गुणान्' में विद्युल्लतावाचक 'तडिद्गुण' शब्द मान इसे ('तडिद्गुणान्' को) द्वितीया का बहुवचन माना है। इस पद्य का भाव यह है कि जब रोगी पैत्तिक तिमिर से; वा पित्त की अधिकता वाले तिमिर से ग्रस्त होता है तो वह प्रकाशमान सूर्य, ज्योतिरिङ्गण (टिटहना), इन्द्रधनुष तथा बिजली के रूपों को वा विद्युल्लता को देखता है। इन प्रकाशमान पदार्थों से इतर (अप्रकाशमान) पदार्थों को वह नाचते हुए मयूर के समान नाचते हुए से देखता है। यदि दोष इससे भी बढ़ जावे तो वह प्रकाशवान् पदार्थों से भिन्न सभी पदार्थों को नीलवर्ण का देखता है। सारांश यह है कि पैत्तिक तिमिर में मनुष्य सूर्य आदि प्रकाश वाले वा तैजस पदार्थों को तो कुछ स्पष्ट सा देखता है किन्तु उनसे भिन्न पदार्थों को नाचते हुए मोरों की तरह देखता है। यदि दोष इससे भी बढ़ जाता है तो वह सूर्यादि तैजस वस्तुओं से भिन्न सभी वस्तुओं को नीलवर्ण की देखता है। अथवा इस पद्य से यह भी भाव निकलता है कि इस रोग में मनुष्य सूर्य आदिकों को (प्रकाशवान् वा तैजस होने से) तो देख लेता है किन्तु यदि किसी दूसरी ओर दृष्टि फैलावे तो उसके आगे अंधेरा सा आ जाता है जिसकी आकृति नाचते हुए मयूर की सी होती है (अर्थात् मयूरपिच्छ की तरह कर्बुर होती है) और कभी जब कि दोष बढ़ जावे वा उपर्युक्त अवस्था के अनन्तर वह सब कुछ नीला देखता है। कई आचार्य यहां 'शिखिबर्हविचित्राणि नीलकृष्णानि पश्यति' यह पाठान्तर मानकर व्याख्या करते हैं कि मयूरपुच्छ की तरह विचित्र नीलकृष्ण वर्णों को, अथवा मयूरपिच्छ की तरह विचित्र (कर्बुर) वर्ण को; वा नीलवर्ण को; अथवा कृष्णवर्ण को देखता है। कुछ भी हो दोनों तरह शब्दों और उनके अर्थों में हेरफेर है, परन्तु भाव एक सा ही है। अब यहां यह शंका होती है कि सूर्य आदि तो तैजस होने से दीखते हैं किन्तु खद्योत का शरीर पार्थिव होने से कैसे दीखता है ? इस पर कहा जाता है कि खद्योत वस्तुतः नहीं दीखते परन्तु आंखों के आगे एक प्रकाश की झलक ही इस प्रकार दीखती है जैसे कि खद्योत (समूह उड़ रहा) होता है। इस उत्तर पर सन्तुष्ट न होकर दूसरे समाधान करने वाले कहते हैं कि नहीं, जब खद्योत उड़ते

हैं तो उसे वस्तुतः दीखते हैं, क्योंकि उड़ने पर उनके पक्षों में से तैजस पदार्थ (प्रकाश वा फ़ासफोरस) की झलक आती है, जिसे कि वह देखता है। उसे देखकर ही वह, यह खद्योत है, ऐसा अनुमान करता है। वास्तव में उसे उसका शरीर नहीं दीखता प्रत्युत उसका प्रकाश दीखता है और प्रकाश तैजस होने से दीख सकता है। सूर्य आदि यहां उपलक्षणमात्र हैं, अतः अन्य तैजस वा प्रकाशवान् पदार्थ भी इसमें दीखते हैं।

कफेन पश्येद्रूपाणि स्निग्धानि च सितानि च ॥४३॥ [सु० ६।७]
(पश्येदसूक्ष्माण्यत्यर्थं व्यभ्रमेवाभ्रसंप्लवम् ।)
सलिलप्लावितानीव परिजाड्यानि मानवः ।

श्लैष्मिक तिमिर के लक्षण का निर्देश—कफ की अधिकता के कारण तिमिररोगी स्निग्ध एवं श्वेत रूपों को देखता है तथा वह अधिकतर असूक्ष्म अर्थात् स्थूल पदार्थों को और बादलों के न होने पर भी उन (बादलों) के चारों ओर भ्रमण को देखता है। एवं इस रोग में वह मनुष्य जल से भीगने के कारण शुक्ल और स्तिमित से रूपों को देखता है।

वक्तव्य—उपर्युक्त का भावार्थ यह है कि श्लैष्मिकतिमिर का रोगी स्निग्ध (चिकने) और श्वेत रूपों को देखता है (तथा प्रायः स्थूल पदार्थों को और निर्मल आकाश को भी मेघाच्छन्न सा देखता है) एवं जल से भीगे हुए की तरह स्तिमित और श्वेत रूप देखता है। यहां 'पश्येद्' इत्यादि दो पाद श्रीकण्ठ ने प्रक्षिप्त माने हैं अतः उसने इनकी टीका भी नहीं की। परन्तु आतङ्कदर्पणकार ने प्रक्षिप्त नहीं माने और उसने इनकी टीका भी लिखी है। कई आचार्य 'कफेन पश्येद्रूपाणि स्निग्धानि च सितानि च' के बाद और कोष्ठान्तर्गत 'पश्येदसूक्ष्माण्यत्यर्थं' से पूर्व 'गौरचामरगौराणि श्वेताभ्रप्रमितानि च' ये दो पाद और भी पढ़ते हैं, वाचस्पति मिश्र ने भी इसे मान टीकित किया है। सुश्रुत में भी यह पाठ मिलता है और डल्हण ने इस पर स्वीकृति की मुद्रा भी लगाई है।

पश्येद्रक्तेन रक्तानि तमांसि विविधानि च ॥४४॥ [सु० ६।७]
स सितान्यपि कृष्णानि पीतान्यपि च मानवः ।

रक्तज तिमिर में मनुष्य सब पदार्थों को रक्त देखता है तथा अनेक प्रकार के अन्धकारों को देखता है एवं वह श्वेत द्रव्यों को भी कृष्ण और पीतवर्ण के देखता है।

वक्तव्य—भाव यह है कि रक्त के कारण उत्पन्न तिमिर में मनुष्य सब पदार्थों को रक्तवर्ण का तथा विविध अन्धकारों को देखता है। एवं उसे श्वेतवर्ण के पदार्थ भी कृष्णवर्ण के तथा पीतवर्ण के दीखते हैं। यहां सुश्रुत ने इसका

लक्षण इस प्रकार माना है कि—'तथा रक्तेन रक्तानि तमांसि विविधानि च। हरितश्यावकृष्णानि धूमधूम्राणि चेक्षते' ॥

सन्निपातेन चित्राणि विप्लुतानीव[1] पश्यति ॥४५॥ [सु० ६।७]
बहुधा च[2] द्विधा चापि[3] सर्वाण्येव समन्ततः।
हीनाधिकाङ्गान्यपि तु[4] ज्योतींष्यपि च भूयसा[5] ॥४६॥ [सु० ६।७]

सान्निपातिक तिमिर में मनुष्य अनेक प्रकार के (कर्बुर) तथा विपरीत (वा सब ओर से अवकीर्ण) से रूपों को देखता है। एवं वही मनुष्य पूर्वोक्त सन्निपात के कारण सब प्रकार के द्रव्यों को अनेकविध वा द्विविध देखता है और प्रायः सन्निपात का तिमिररोगी मनुष्यों को हीनाङ्ग वा अधिक अङ्ग वाले देखता है तथा नक्षत्रों को भी देखता है।

वक्तव्य—इसका भाव यह है कि सन्निपातजतिमिर का रोगी कर्बुर तथा विपरीत रूपों को देखता है। एवं वह सब प्रकार के द्रव्यों को अनेक प्रकार के वा द्विविध प्रकार के देखता है और मनुष्यों को हीनाङ्ग वा अधिकाङ्ग वाले देखता है तथा नक्षत्रों को भी देखता है। 'विप्लुतानि च पश्यति' का अर्थ श्रीकण्ठदत्त ने 'विपरीतानि' अर्थात् 'विपरीत देखता है' यह किया है, किन्तु डल्हण ने 'सर्वतोऽवकीर्णानि' अर्थात् 'चारों ओर अवकीर्ण देखता है' यह किया है। सन्निपातजतिमिर के लक्षण को बताने वाले पाठ की व्याख्या श्रीकण्ठ ने इस भाव को लक्ष्य रख कर की है कि इसमें मनुष्य विचित्र तथा विपरीत रूपों को देखता है। वे विपरीत रूप कैसे होते हैं, यह बताने के लिये श्रीकण्ठ ने 'बहुधा' इत्यादि पाठ स्वीकार किया है। तद्यथा—विपरीत अर्थात् चारों ओर सभी रूपों को बहुत रूपों में वा दो रूपों में देखता है, अथवा सभी को हीन अङ्गों वाला वा अधिक अङ्गों वाला देखता है। एवं उसे इस रोग में तारे (नक्षत्र) भी दीखते हैं। परन्तु आचार्य गदाधर इसकी व्याख्या करते हुए कहते हैं कि इस रोग में मनुष्य विचित्र अर्थात् अनेक वर्ण के द्रव्यों को तथा विपरीत द्रव्यों को अर्थात् एक ही द्रव्य को बहुत प्रकार का वा दो प्रकार का देखता है। ये लक्षण सभी पटलों के लिये सामान्य हैं, किन्तु जब दोष तीसरे पटल में जाता है तो वहां मनुष्य हीन वा अधिक अङ्गों वाले भी दीखते हैं। डल्हण इनसे मतभेद रखता है। वह कहता है कि सन्निपात से सभी द्रव्य अनेक वर्णों वाले, चारों ओर बिखरे हुए, बहुलता को प्राप्त वा द्वित्व को प्राप्त हुए हुए दीखते हैं। तथा इस रोग में मनुष्य सब को हीनाङ्ग वा अधिकाङ्ग वाला देखता है, एवं उसे तारक भी दीखते हैं। ये (हीनाङ्गत्वादि) लक्षण सन्निपात के प्रभाव से सभी पटलों में होते हैं, न कि केवल तीसरे पटल में दोष के जाने से। वस्तुतः यही व्याख्यान ठीक है

१ विप्लुतानि च. २ वा. ३ वाऽपि. ४ ०न्यथवा. ५ पश्यति. मानवः.

क्योंकि तृतीय पटल में दोष के जाने से तो ये रूप होते हैं यह पूर्व ही बता दिया है, पुनः यहां बताने की कोई आवश्यकता नहीं थी। ये लक्षण तो सभी पटलों में सन्निपात के कारण होने वाले दोष के लिए साधारण हैं। अतः यह विशेषता नहीं आ सकती, अन्यथा 'बहुधा' आदि के सर्वत्र न होने से लक्षण पूर्णतः लक्ष्यव्यापी न होने के कारण दुष्ट सिद्ध होता है। अतः यह मानना पड़ता है कि 'बहुधा' इत्यादि से उक्त लक्षण भी सान्निपातिक तिमिर में, चाहे वह किसी भी पटल में क्यों न हो, होते हैं। यदि कहें कि तृतीय पटल में तो ये लक्षण पूर्व भी होते हैं अतः उसमें इनके होने से सन्निपातज्ञान नहीं होगा? अथच उसमें ये लक्षण पूर्व ही उक्त हैं फिर कहने से पुनरुक्ति आती है? तो इसका उत्तर यह है कि नहीं, उसमें सन्निपात के और लक्षण सन्निपात के ज्ञापक होंगे तथा इन (बहुधेत्यादि) लक्षणों की वहां पर और भी दृढ़ता एवं अधिकता जावेगी। एवं उपर्युक्त दोनों दोष नहीं आ सकते।

मधु०—दोषविशेषेण रूपविशेषदर्शनमाह—वातेनेत्यादि। अविशेषेण यदुक्तमेतद्वाते तत् सर्वपटलेषु संबध्यते, तुल्यत्वान्न्यायस्य। व्याविद्धानीव कुटिलानीव। खद्योतो ज्योतिरिङ्गणः, शक्रचाप इन्द्रधनुः, गुणान् रूपाणि, आदित्यादीनां रूपाणीत्यर्थः। शिखिनो मयूरान्। सलिलप्लावितानीव परिजाड्यानीति सलिलप्लवनेनैव स्तिमितानीत्यर्थः। सितानीति श्वेतानि। ननु, रक्तेन कथं सितानीत्युच्यन्ते? श्लेष्मणा सितरूपस्य दर्शितत्वात्। नैवं, सितान्यपि कृष्णानि पीतानि पश्यतीति व्याख्यानाददोषः; स इति मानवः। रक्तेन कृष्णपीतदर्शनं पित्तसधर्मकत्वाद्रक्तस्य। चित्राणीति नानावर्णानि। विप्लुतानीवेति विपरीतानि। विपरीतत्वमेव विवृणोति—बहुधेत्यादि। अयमर्थः—सन्निपातेन पूर्वप्रकारेण बहुविधानि द्विविधानि वा सर्वाणि द्रव्याणि पश्यति, तृतीयपटले हीनाधिकाङ्गान्यपीति गदाधरः ॥४१–४६॥

(ननु इति—) रक्त से श्वेत वर्ण कैसे दीख सकते हैं? क्योंकि श्वेतरूप तो श्लेष्मा में दीखने बताए हैं। इसका उत्तर यह है कि श्वेत पदार्थ वा रूप भी कृष्ण वा पीतवर्ण के देखता है, इस प्रकार की व्याख्या करने से कोई दोष नहीं होता।

वक्तव्य—उपर्युक्त शङ्का समाधान का भाव यह है कि रक्तज तिमिर के लक्षण में 'स सितान्यपि कृष्णानि पीतान्यपि च मानवः' यह कहा है, जिसका कि अर्थ वह मनुष्य पदार्थों को श्वेत, कृष्ण तथा पीत देखता है, यह है। एवं यहां यह शङ्का होती है कि पदार्थों का श्वेत दिखाई देना तो 'कफेन पश्येद्रूपाणि स्निग्धानि च सितानि च' से कफ में कहा है और वस्तुतः उचित भी वही है, परन्तु फिर उसका रक्त के लक्षणों में निर्देश क्यों किया? जो कि यहां असम्भव होने से हो भी नहीं सकता। इसका उत्तर यह है कि ठीक है, श्वेत रूपों (वा पदार्थों) का दिखाई देना कफकृत तिमिर में होता है, रक्तकृत में नहीं होता और जो यह 'स सितान्यपि' से रक्तकृत तिमिर में भी श्वेत रूपों का दीखना स्फुट होता है, वह भ्रमकृत व्याख्यान से है। यदि इसका व्याख्यान ठीक प्रकार किया जावे तो रक्तज तिमिर में श्वेत पदार्थों का दीखना नहीं बन सकता। इसका ठीक व्याख्यान यह है कि रक्तज तिमिर में वह तिमिर रोगी श्वेत रूप वाले पदार्थों को भी कृष्ण रूप वाले वा पीत रूप वाले देखता है। एवं उपर्युक्त दोष नहीं आता।

परिम्लायिसंज्ञकतिमिरस्य लक्षणमाह—

पित्तं कुर्यात् परिम्लायि मूर्च्छितं पित्ततेजसा।
पीता दिशस्तु खद्योतान् भास्करं चापि पश्यति ॥४७॥ [सु० ६।७]
विकीर्यमाणान् खद्योतैर्वृक्षांस्तेजोभिरेव वा।

पित्त के तेज से मूर्च्छित पित्त परिम्लायितिमिर को उत्पन्न कर देता है। (जब वह परिम्लायितिमिर राग वाला हो जाता है तो) उसमें मनुष्य दिशाओं को पीतवर्ण का और उड़ते हुए जुगनुओं को तथा (उदित) सूर्य को देखता है। एवं वह मनुष्य वृक्षों को खद्योतों से विकीर्ण (आच्छन्न) वा तेज से विकीर्ण देखता है।

वक्तव्य—वात, पित्त, कफ, रक्त और सन्निपात इन पांचों से होने वाले पांच तिमिर होते हैं और इन पांच तिमिरों की उत्तरावस्थाओं में काच तथा लिङ्गनाश संज्ञा होती है, और काच छः प्रकार का कहा है। एवं उसकी छठी संख्या पूर्ण करने के लिये आचार्यों ने एक परिम्लायितिमिर भी माना है। 'पित्तं कुर्यात्' इत्यादि दो पादों से उसी की उत्पत्ति कही है और 'पीता' इत्यादि श्लोक से उसी तिमिर के रागी होने पर तिमिर रोगी में जैसे लक्षण होते हैं, कहे हैं। यह परिम्लायि भी जब तक अरागी रहता है तब तक तिमिर कहलाता है, परन्तु जब रागी हो जाता है तो काच कहलाता है। 'पित्तं कुर्यात्' इत्यादि का भावार्थ यह है कि पित्त के तेज रक्त से संयुक्त पित्त परिम्लायि नामक तिमिर को उपजाता है और जब वह तिमिर रागी हो जाता है तो उसमें मनुष्य दिशाओं को पीला देखना आदि लक्षणों को देखता है। कई आचार्य 'पित्ततेजसा' के 'पित्त के तेज अर्थात् रक्त से संयुक्त' यह अर्थ करने की अपेक्षा 'पित्ततेजसा' के स्थान पर 'रक्ततेजसा' यह शीघ्र अर्थ परिचायक तथा लाघवयुक्त पाठान्तर मान कर सीधा ही रक्त के तेज से संयुक्त यह अर्थ मानते हैं। आचार्य डल्हण ने भी इसमें इस प्रकार का पाठान्तर माना है कि—'पित्तं कुर्यात्परिम्लायि मूर्च्छितं रक्ततेजसा। पीता दिशस्तथोद्यन्तमादित्यमिव पश्यति ॥ विकीर्यमाणान् खद्योतैर्वृक्षांस्तेजोभिरेव च।" यहां पर आचार्य डल्हण ने 'रक्ततेजसा' का अर्थ रक्त के तेज अर्थात् प्रसाद भाग से संयुक्त पित्त परिम्लायितिमिर को करता है, यह होता है। भाव यह है कि जब जठर में स्थित अन्न जठराग्नि द्वारा पकता है तो उसके दो भाग बनते हैं—एक प्रसाद भाग, और दूसरा किट्ट भाग। रसाग्नि से पकने पर प्रसाद (रस) भाग सूक्ष्म, स्थूल और किट्ट भेद से तीन प्रकार का हो जाता है। इनमें से तीसरा किट्ट भाग तो कफ में परिणत हो जाता है और शेष दो भाग प्रसाद कहलाते हैं, जिनमें से प्रथम सूक्ष्म भाग रसपोषक होता है तथा दूसरा स्थूल भाग अर्थात् रक्त रक्ताग्नि से पाक होने पर मांस के तीन भागों को उपजाता है। एवं उपर्युक्त रक्त के तेज अर्थात् प्रसाद भाग से संयुक्त में प्रसाद शब्द से रस के रसा

से पाक होने पर उत्पन्न सूक्ष्मात्मक और स्थूलात्मक रूप प्रसाद लिया जाता है। यही डल्हण का 'रक्ततेजसा प्रसादेन' कथन का भाव है। कई आचार्य तो 'भक्ततेजसा' इस पाठान्तर के साथ एकवाक्यता मिलाने के लिए 'रक्ततेजसा' का अर्थ रक्तार्थ तेज अर्थात् प्रसाद (रस) से संयुक्त, यह करते हैं। एवं इसका अर्थ यह होता है कि रक्त के लिए प्रसाद (रस) रूप तेज से मिश्रित पित्त परिम्लायितिमिर को उपजाता है।

मधु०—पित्तेनापरं परिम्लायिसंज्ञकं तिमिरमाह—पित्तं कुर्यादित्यादि । परिम्लायीति परिम्लायि तिमिरम्; एतच्च रक्तमूर्च्छितपित्तकृतं पीतं नीलं बोद्धव्यम्। यदाह सात्यकिः-"एवमेव तु विज्ञेया नीलाः पित्तसमुत्थिताः। रक्ताः पित्तोत्थिताः पीताः"-इति । अत्र वचने काचा इति विशेष्यत्वेन बोद्धव्यम्। मूर्च्छितं पित्ततेजसेति पित्तस्य तेजो रक्तं, प्रसादरूपत्वात्; तेन मिश्रितम्। अन्ये तु 'रक्ततेजसा' इति पठन्ति, रक्तस्य तेजो बलं रक्ततेजः; केचित् 'भक्ततेजसा' इति पठन्ति, भक्तस्य अन्नस्य तेजसा प्रसादेन रसेनेत्यर्थः; रक्तनेजसेत्यत्रापि रक्तार्थं तेजो रक्ततेज इति रस एवाभिधातुं शक्यते, पित्ततेजसेत्यत्रापि पित्तार्थं तेजः पित्ततेजः, पित्तशब्देन समानत्वेन तत्प्रसादत्वेन च रक्तमभिधाय पूर्व एवार्थः कर्तुं शक्यते। तथाच विदेहः,-"पित्तं रक्तप्रसादेन मूर्च्छयित्वा च मारुतम्"—इत्यारभ्य "एष याप्यः स्मृतः काचो म्लायीनाम्ना शरीरिणाम्"-इति । इदं त्वन्यत्र रक्तपित्ताभ्यां पठ्यते। यदुक्तं-"विदधाति परिम्लायि पित्तं रक्तेन संगतम्। तेन पीता दिशः पश्येदुद्यन्तमिव भास्करम्"-इति, अत्रापि यदि रक्तशब्देन रक्तार्थं यत्तद्रक्तमिति कुसृष्टया रसोऽभिधीयते, तदा पूर्वेण सह समानार्थमेवैतद्वचनं स्यादिति । परिम्लायिरोगे तिमिरवतः पुंसो रागग्रहणे लिङ्गमाह—पीता दिश इत्यादि । विकीर्यमाणानिति आच्छाद्यमानान् । याप्यश्चायं, तथाहि सात्यकिः,—"तृतीयं पटलं प्राप्तं तिमिरं रागि जायते। अरागि तिमिरं साध्यमाद्यं पटलमाश्रितम्॥ कृच्छ्रं द्वितीये रागि स्यात्तृतीये याप्यमुच्यते"-इति ॥४७॥

पित्त से होने वाले दूसरे परिम्लायि नामक तिमिर को कहते हैं कि—पित्तं कुर्यादित्यादि। परिम्लायि अर्थात् परिम्लायितिमिर। यह परिम्लायि तिमिर रक्तयुक्त पित्त से उत्पन्न पीला और नीला जानना चाहिए। जैसे सात्यकि ने कहा भी है कि—'एवमेव तु विज्ञेया नीलाः पित्तसमुत्थिताः। रक्ताः पित्तोत्थिताः पीताः'। सात्यकि के इस वचन में काचों को विशेष्यपन से जानना चाहिए। 'मूर्च्छितं पित्ततेजसा' में पित्त का तेज रक्त है, क्योंकि वही प्रसाद रूप है; एवं उससे मिश्रित। दूसरे आचार्य यहां 'रक्ततेजसा' यह पाठान्तर मानते हैं, जिससे इसका अर्थ रक्त का तेज अर्थात् बल ही रक्ततेज है, एवं उससे मिश्रित पित्त परिम्लायि रोग को उपजाता है। कई आचार्य यहां 'भक्ततेजसा' यह पाठान्तर मानते हैं, जिसका अर्थ भक्त अर्थात् अन्न के तेज अर्थात् प्रसाद (रस) से, (युक्त पित्त परिम्लायि रोग को उपजाता है) यह है। 'रक्ततेजसा' इस पाठान्तर में भी रक्त के लिए जो तेज है, वह रक्त तेज होता है, एवं रक्त तेज से भी रस ही कहना चाहिए। इसी प्रकार 'पित्ततेजसा' में भी पित्त के लिए जो तेज है, वह पित्ततेज होता है। एवं सामान्यरूप से पित्त शब्द द्वारा उसका प्रसाद होने से रक्त को कह कर पहला अर्थ ही करना चाहिए। इसका भाव यह है कि 'पित्ततेजसा' के स्थान पर 'रक्ततेजसा' और 'भक्ततेजसा' ये दो और पाठान्तर मिलते हैं, जिनमें से पहले 'रक्ततेजसा' का अर्थ रक्त के तेज अर्थात् प्रसाद से

(न कि किट्ट से) मिश्रित पित्त परिम्लायि रोग को उपजाता है, यह है; किन्तु 'भक्ततेजसा' का अर्थ भक्त अर्थात् अन्न के तेज अर्थात् प्रसाद (रस भाग) से मिश्रित पित्त परिम्लायि रोग को उपजाता है, यह है। एवं इसके साथ एकवाक्यता करने के लिये कई आचार्य 'रक्ततेजसा' का अर्थ रक्त के लिए (रक्त की उत्पत्ति के लिए) जो तेज अर्थात् प्रसाद (रस रूप) होता है, वह रक्ततेज है, यह अर्थ करते हैं। एवं इस अर्थ और उस अर्थ में कोई भेद नहीं है, क्योंकि (भक्त) अन्न का प्रसाद (तेज) भाग भी रस होता है, कारण कि अन्न के ही जठर में जठराग्नि द्वारा पाक होने पर रस रूप तेज उत्पन्न होता है और दूसरे (रक्ततेजसा) में रक्त की उत्पत्ति के लिए (कारणरूप) जो तेज होता है, वह भी रस होता है। कारण कि 'रसाद्रक्तं' (सुश्रुतः) के अनुसार रसीय स्थूल भाग के रसाग्नि द्वारा पाक होने पर ही सूक्ष्म (रसपोषक) स्थूल (रक्तरूप) और किट्ट (पित्तोत्पादक वा पित्त-रूप) ये तीन भाग होते हैं, जिनमें से दूसरे स्थूल भाग को रक्त कहा जाता है। इस प्रकार इन दोनों पाठान्तरों की एकवाक्यता होती है। अब प्रकृतस्थ तीसरे 'पित्ततेजसा' इस पाठान्तर की भी उनके साथ एकवाक्यता करने के लिए इसका अर्थ इस प्रकार करना पड़ता है कि पूर्व पित्त शब्द को सामान्य मान कर वा सामान्यतः पित्त शब्द से पित्त का प्रसाद होने के कारण रक्त लेकर पूर्ववत् रक्त के लिए जो तेज अर्थात् प्रसाद (रस) भाग है, उससे मिश्रित पित्त परिम्लायि रोग को उपजाता है। इसी 'पित्ततेजसा' को और भी स्फुट इस प्रकार किया जाता है कि सामान्यतः पित्त शब्द से (पित्त का प्रसाद होने से) रक्त लेकर पुनः रक्त के लिए जो तेज (रसरूप प्रसाद) है उससे मिश्रित। यहां भी पित्त से रक्त लेकर और 'पित्ततेजसा' से रक्त के लिए जो रसरूपी तेज है, उससे; यह लेकर उक्त पाठान्तरों से एकवाक्यता बनती है। (तथाच विदेहः—इत्यादि) आचार्य विदेह ने भी 'पित्तं रक्तप्रसादेन मूर्च्छयित्वा च मारुतम्' से 'एष याप्यः स्मृतः काचो म्लायीनाम्ना शरीरिणाम' तक के पाठ में यही कहा है। यही परिम्लायि दूसरे तन्त्र में रक्त और पित्त के कारण उत्पन्न होने वाला माना है। जैसे कहा भी है कि—'रक्त से मिला हुआ पित्त परिम्लायि नामक रोग को उपजा देता है, जिससे कि मनुष्य दिशाओं को पीला एवं सूर्य को उदित होता हुआ सा देखता है'। यहां पर भी यदि रक्त शब्द से रक्त के लिए (रक्तार्थं) जो वस्तु हो (यत्-भवेत्) वह रक्त है (तद्रक्तं), इस निर्वचन वा व्युत्पत्ति से रस लिया जावे तो यह वचन पूर्वोक्त पाठान्तरों (पित्ततेजसा, रक्ततेजसा और भक्त-तेजसा) के साथ समानार्थक हो जाता है। परिम्लायि रोग में तिमिर के रोगी के रागग्रहण करने पर जो लक्षण होते हैं अब आचार्य श्रीकण्ठ जी उन्हें कहते हैं कि 'पीता दिश' इत्यादि। विकीर्यमाणों अर्थात् अच्छाद्यमानों को। यह व्याधि याप्य होती है, जैसे सात्यकि ने कहा भी है कि—तृतीय पटल में प्राप्त तिमिर राग वाला हो जाता है। पहले पटल में आश्रित अरागि तिमिर साध्य होता है, दूसरे पटल में तिमिर कृच्छ्रसाध्य होता है और तृतीय पटल में (रागी तिमिर) याप्य होता है।

वक्तव्य—सात्यकि के इस पद्य का व्याख्यान इस प्रकार भी हो सकता है कि—तीसरे पटल में प्राप्त तिमिर रागी हो जाता है। प्रथम पटल में अरागी तिमिर साध्य होता है; और दूसरे पटल में रागी तिमिर कृच्छ्रसाध्य होता है, एवं तीसरे पटल में रागी तिमिर याप्य होता है। भाव यह है कि इस व्याख्यान में प्रथम पटल में अरागी, द्वितीय में रागी और तृतीय में रागी तिमिर क्रमशः साध्य, कृच्छ्रसाध्य और होते हैं। परन्तु उस व्याख्यान में प्रथम पटल में अरागी, द्वितीय पटल में भी अरागी

तृतीय पटल में रागी तिमिर क्रमशः साध्य, कृच्छ्रसाध्य और याप्य होता है। इन दोनों व्याख्यानों में से प्रथम अर्थात् द्वितीय पटल में भी अरागी तिमिर को कृच्छ्रसाध्य मानने वाला व्याख्यान ठीक है, क्योंकि और आचार्यों ने भी द्वितीय पटलगत अरागी तिमिर को कष्टसाध्य माना है। तद्यथाह डल्हणः—'सर्वाण्येव तिमिराणि प्रथमद्वितीयपटलगतानि साध्यानि (यहां प्रथम पटलगत सुसाध्य और द्वितीय पटलगत कष्टसाध्य समझना चाहिए। सुश्रुत ने तो सामान्यतः दोनों को साध्य कहा है क्योंकि साध्य के सुसाध्य और कष्टसाध्य ये दोनों भेद ही हैं); तृतीयपटलगतानि रागप्राप्त्या काचाख्यानि भवन्ति, तदा याप्यानि'। सात्यकि के उपर्युक्त पाठ को देखकर यह भाव भी निकलता है कि तिमिर जब तृतीय पटलगत होता है तभी उसमें राग आता है, इससे पूर्व नहीं, और उस समय इस तिमिर की संज्ञा काच हो जाती है, परन्तु जब तक तृतीय पटल में भी तिमिर रागी नहीं होता तब तक वह वहां भी तिमिर ही कहलाता है। कई यहां यह भाव भी निकालते हैं कि सभी तिमिर प्रथम और द्वितीय पटल में भी रागी हो जाते हैं, परन्तु तब भी वे तिमिर ही कहलाते हैं, काच नहीं। किन्तु जब तृतीयपटलगत तिमिर रागी होता है तो वह काच कहलाता है। एवं प्रथम द्वितीयगत अरागी तिमिर क्रमशः सुसाध्य और कष्टसाध्य होता है किन्तु तृतीय पटलगत रागी तिमिर याप्य होता है। प्रथम द्वितीय पटल में भी तिमिर रागी होता है। इसको बतलाने वाला 'अरागि तिमिरं साध्यमाद्यपटलमाश्रितम्' में स्थित 'अरागि' शब्द है, क्योंकि यदि प्रथम पटल में भी तिमिर का अरागी होना असम्भव होता तो इस (अरागि) विशेषण की आवश्यकता न थी। इसका खण्डन करते हुए दूसरे विद्वान् कहते हैं कि यहां पर अरागि का यह भाव नहीं प्रत्युत यहां तो इसका अभिप्राय यह है कि, चूँकि तीसरे पटल में स्थित तिमिर राग वाला होता है, अतः प्रथम पटल में आश्रित तिमिर अरागी एवं साध्य होता है। एवं अरागि शब्द यहां अवधारणात्मक है न कि तिमिर का विशेषण। अतः इस शब्द को विशेषण बनाकर यह सिद्ध नहीं होता कि दोष के प्रथम और द्वितीय पटलगत होने पर भी राग हो जाता है। अतएव सात्यकि ने—'तृतीयं पटलं प्राप्तं तिमिरं रागि जायते' यह स्पष्ट कहा है। किञ्च यदि कथञ्चित् कुछ काल के लिए यह मान भी लिया जावे कि प्रथम और द्वितीय पटलगत तिमिर भी रागी हो जाता है तो इनका साध्यासाध्य विभाग नहीं बन सकता, क्योंकि सात्यकि ने प्रथमपटलगत (रागरहित) तिमिर को सुसाध्य और द्वितीयपटलगत (रागरहित) तिमिर को कष्टसाध्य एवं तृतीय पटलगत रागी तिमिर को याप्य माना है। यदि प्रथम पटलगत तिमिर भी रागी माना जावे तो वह कौन (साध्य होगा वा कष्टसाध्य आदि) होगा? यदि सुसाध्य माना जावे तो हो नहीं सकता क्योंकि सुसाध्य तो प्रथमपटलगत अरागि तिमिर माना है और यह उससे कुछ दृढ़ है, अतः इसे कष्टसाध्य मानना पड़ेगा। एवं द्वितीयपटलगत अरागि तिमिर जब कष्टसाध्य है तो उसमें यदि राग हो सकता है, तब वह कौन सा होगा? यदि कष्टसाध्य माना जावे तो हो नहीं सकता क्योंकि कष्टसाध्य तो द्वितीयपटलगत अरागितिमिर माना है; और यह उससे कुछ दृढ़ (प्रबल) है, अतः इसे याप्य मानना पड़ेगा। एवं जब द्वितीय पटलगत रागि तिमिर भी याप्य हुआ और तृतीय पटलगत रागितिमिर भी याप्य हुआ तो तृतीय पटलगत की प्रबलता कैसे ज्ञात होगी? तथाच यदि यह भी स्वीकार कर लिया जावे कि द्वितीयपटलगत रागितिमिर याप्य होता है, तो तृतीयपटलगत अरागितिमिर क्या होगा? याप्य वह हो नहीं सकता, क्योंकि याप्य अवस्था उसके उत्तरकालभावी रागी तिमिर की है; और न ही कष्टसाध्य बन सकता है क्योंकि यह अवस्था उसके पूर्ववर्ती

द्वितीय पटलगत अरागितिमिर की है और यह उससे दारुण होता है। एवं प्रथम और द्वितीय पटलगत तिमिर में राग मानने से साध्यासाध्य विभाग नहीं बन सकता। किन्तु यदि प्रथम और द्वितीय पटलगत तिमिर की रागप्राप्ति न मानी जावे तो साध्यादि विभाग सात्यकि के उक्त वचनानुसार ठीक है, क्योंकि उसने प्रथम पटलगत को सुसाध्य, द्वितीय पटलगत को कष्टसाध्य और तृतीय पटलगत रागी तिमिर को याप्य माना है। इससे यह भी ध्वनित होता है कि तृतीय पटलगत अरागी तिमिर तीसरे दर्जे का (अधम) कष्टसाध्य है। वह प्रथम दर्जे का कष्टसाध्य इसलिए नहीं हो सकता कि वह दर्जा द्वितीय पटलगत तिमिर का है और यह उससे प्रबल है। एवं वह याप्य इस कारण नहीं हो सकता कि याप्यपन तृतीय पटलगत रागी तिमिर में है, जो कि इससे प्रबल है। एवं यह सिद्ध होता है कि प्रथम और दूसरे पटल में तिमिर रागी होता ही नहीं क्योंकि उस समय रक्त के दूरस्थ होने से उसका (रक्त का) सम्बन्ध नहीं होता। जैसे डल्हण ने कहा भी है कि—'प्रथमद्वितीयपटलयोः शोणिताभावाद्रागाभावः'। तृतीय पटल में राग होता है, इस पर सुश्रुत ने कहा है कि—'यथादोषं च रज्येत दृष्टिर्दोषे बलीयसि'। यहां रक्त के समीप होने से राग होता है। परिम्लायि रोग क्षयी और अक्षयी भेद से दो प्रकार का होता है, इसलिए सुश्रुत ने कहा है कि—'दोषक्षयात्कदाचित् स्यात्स्वयं तत्र च दर्शनम्'। पुनः यह परिम्लायि रोग अवस्थाभेद से तीन प्रकार का होता है। प्रथम—जब परिम्लायिरोग अरागी होता है तो वह परिम्लायितिमिर कहलाता है। द्वितीय—जब परिम्लायिरोग रागी हो जाता है तो वह परिम्लायिकाच कहलाता है। तृतीय—जब परिम्लायिरोग कुछ दर्शननाशक होता है तो वह परिम्लायिलिङ्गनाश कहलाता है।

तिमिरस्य रागविशेषेण षड्विधत्वमाह—

वक्ष्यामि षड्विधं रागैर्लिङ्गनाशमतः परम् ॥४८॥ [सु० ६।७]

वक्ष्यमाण अरुण आदि रागों के अनुसार छः प्रकार के तिमिर को कहता हूं और तदनन्तर छः प्रकार के लिङ्गनाश को भी कहूंगा।

वक्तव्य—भाव यह है कि पूर्व सभी पटलों में होने वाले तिमिर को वात आदि भेदानुसार छः प्रकार का कहा गया है, परन्तु वही तिमिर जब तृतीय पटल में स्थित होकर राग को पा लेता है तो काच कहलाता है और जब वही तिमिर चतुर्थ पटल में स्थित होकर राग या नेत्रेन्द्रिय की शक्ति से रहित हो जाता है तो लिङ्गनाश कहलाता है। अभिप्राय यह कि दोष के तृतीय और चतुर्थ पटल में जाने पर दो दो अवस्थाएं होती हैं। तृतीय पटल में पहली अवस्था तिमिर और दूसरी तिमिरकाच, एवं चतुर्थ पटल में पहली अवस्था तिमिर और दूसरी लिङ्गनाश वा नीलिकाकाच होती है। इनमें से दोनों तिमिरों की प्रथमावस्था के लक्षण प्रथम और द्वितीय पटलगत तिमिर के साथ वात आदि के भेदानुसार कहे जा चुके हैं। परन्तु अब दोनों की द्वितीय अवस्था को बताते हैं कि जब तृतीय पटलगत तिमिर रागावस्था को प्राप्त हो जाता है, तो उसमें रागावस्था दोषानुसार छः प्रकार की होती है, एवं रागी तिमिर वा तिमिरकाच अथवा काच भी दोषवर्णानुसार छः प्रकार का होता है। इसी छः प्रकार के तिमिरकाच को आचार्य कहेंगे। इसके कहने के बाद चतुर्थ पटलगत दोष की दूसरी

अवस्था जो कि रागप्राप्ति के अनन्तर नष्टेन्द्रियशक्ति वाली होती है, जिसका कि नाम नीलिका वा नीलिकाकाच, अथवा लिङ्गनाश है, को भी मण्डलराग-भेदानुसार छः प्रकार का कहा जायगा।

मधु०—वातादिभेदेन षड्विधं तिमिरमभिधाय रागैः षड्विधमाह—वक्ष्यामि षड्विधं रागैरित्यादि। सर्वानुगां तिमिरसंज्ञां विहाय लिङ्गनाशसंज्ञया कीर्तनं रागप्रकर्षप्राप्तेः ॥४८॥

वातादिभेदेन इत्यादि की भाषा सुगम है।

तिमिरस्य वातिकादिरागान्निर्दिशति—

रागोऽरुणो मारुतजः प्रदिष्टो
म्लायी च नीलश्च तथैव पित्तात्।
कफात् सितः शोणितजः सरक्तः
समस्तदोषप्रभवो विचित्रः ॥४९॥ [सु० ६।७]

अरुणवर्ण वायु से, म्लायी और नील पित्त से, श्वेत कफ से, रक्तवर्ण रक्त से और विचित्रवर्ण सन्निपात से होता है।

वक्तव्य—भाव यह है कि तृतीय पटलगत तिमिर में अरुणवर्ण वायु के कारण, पीतनील और नीलवर्ण पित्त के कारण, श्वेतवर्ण कफ के कारण, रक्तवर्ण रक्त के कारण और विचित्रवर्ण सन्निपात के कारण होता है। एवं इन छः वर्णों से काच छः प्रकार का होता है।

मधु०—वातादिरागोद्देशमाह—रागोऽरुण इत्यादि। म्लायी च नीलश्च तथैव पित्तादिति म्लायी पीतनीलो वर्णः। ननु, शेषे परिम्लायि पठितं तत् कथमधुना वातरागानन्तरं तस्योक्तिः? नैवं, रागकाले वायुरप्यत्रांशेन व्याप्रियते इति प्रतिपादनार्थमिति कार्तिकः। पैत्तिकरूपद्वयस्यैकत्राभिधानेन लाघवं स्यादिति युक्तं, यत्तु प्रागेव न कृतं तदेकविकारशङ्कानिरासार्थम् ॥४९॥

(ननु इत्यादि—) परिम्लायि नामक तिमिर रोग पहले सब के अन्त में कहा है, परन्तु अब काचों के निर्देश में इसे वातिकवर्ण के बाद ही क्यों पढ़ा है? इस पर आचार्य कार्तिक कहते हैं कि राग की अवस्था में अंश रूप से वायु भी इसमें रहती है अतः अब इसे यहां कहा गया है। अथवा दोनों पैत्तिक रूपों के एक स्थान पर निर्देश करने से लाघव होता है अतः यहां इसका पित्त के नीलवर्ण के साथ निर्देश किया है। पूर्वत्र (तिमिर रोग में) इसका निर्देश पित्त के साथ इसलिए नहीं किया कि दोनों में एक रोग की शङ्का न हो।

वक्तव्य—भाव यह है कि म्लायी का वात के अनन्तर निर्देश उसमें वातज अंश के भी होने के कारण किया है, तथा म्लायि और नील दोनों पैत्तिकवर्ण हैं, इनके एकत्र निर्देश से लाघव भी है, अतः यहां इसका निर्देश किया है। तिमिर में म्लायीतिमिर का पैत्तिकतिमिर के साथ निर्देश इसलिए नहीं किया कि कहीं पाठक भ्रम में पड़ कर दोनों को एक न समझने लगें।

वातजरागस्य विशिष्टलक्षणमाह—

अरुणं मण्डलं दृष्ट्यां स्थूलकाचारुणप्रभम् ।

दृष्टि में अरुणमण्डल (अरुणवर्ण के) स्थूल काच की अरुणप्रभा के समान अरुणप्रभा वाला होता है ।

वक्तव्य—कई आचार्य यहां "रक्तजं मण्डलं दृष्टौ स्थूलकाचानलप्रभम्" यह पाठान्तर मानते हैं । इसका अर्थ दृष्टि में रक्त के प्रसाद वा तेज से उत्पन्न मण्डल स्थूल काच के समान मोटा और अग्नि के समस्तवर्ण वाला होता है, यह है । अन्य आचार्य यहां "रक्तजं मण्डलं दृष्टौ स्थूलकाचारुणप्रभम्" यह पाठान्तर मानते हैं ।

मधु०—उद्देशक्रमेण वातिकरागस्यैव विशिष्टलक्षणमाह—अरुणं मण्डलमित्यादि । अरुणं मण्डलं कीदृशं भवतीत्यत आह—स्थूलकाचारुणप्रभमिति ।—स्थूलकाचस्येव अरुणा प्रभा यस्य तत्तथा; एतेन बाहुल्यमरुणत्वं च प्रतिपाद्यते । काचोऽत्रारुणो विवक्षितः ॥

उद्देशक्रमेण इत्यादि की भाषा स्पष्ट है ।

परिम्लायिनो विशिष्टस्वरूपमाह—

परिम्लायिनि रोगे स्यान्म्लायि नीलं च मण्डलम् ॥५०॥
दोषक्षयात् स्वयं तत्र कदाचित् स्यात्तु दर्शनम् ।

परिम्लायि रोग में मण्डल म्लायि (पीतनीलवर्ण का) और नीलवर्ण का होता है; तथा कभी कभी दोष के क्षीण हो जाने पर इसमें अपने आप दीखने लगता है ।

वक्तव्य—कई इसकी व्याख्या करते हुए म्लायि शब्द से केवल पीत लेते हैं और नील शब्द से नील, एवं इस प्रकार अर्थ करते हैं कि परिम्लायि रोग में मण्डल पीत नील होता है । दूसरे आचार्य यहां "म्लाय्यानीलं च मण्डलम्" यह पाठान्तर मान कर कहते हैं कि परिम्लायि रोग में मण्डल म्लायि (पीत नीलवर्ण) तथा ईषत् नील (आनील) होता है । इन दोनों अर्थों से पहला अर्थ ही ठीक है, क्योंकि दूसरे अर्थ में म्लायि शब्द का केवल पीत अर्थ नहीं हो सकता, प्रत्युत म्लायि शब्द का अर्थ पीत और नील के मिश्रण से होने वाला वर्ण है । अतः म्लायि शब्द से केवल पीत लेकर व्याख्या करनी ठीक नहीं । एवं दूसरे अर्थ में 'आनीलं' यह पाठान्तर मानकर 'ईषत् नील' यह अर्थ मानना ठीक नहीं, क्योंकि ईषत् नीलता तो म्लायिवर्ण में ही होती है, अतः म्लायि कहने से ही उसका ग्रहण हो सकता है, पुनः 'आनीलं' कहने की कोई आवश्यकता नहीं रहती । एवं 'नीलं' यह पाठान्तर मान कर 'नील' अर्थ करने से इसमें ईषत् नीलता (स्वतन्त्ररूप से) भी आ जाती है और पूर्णनीलता भी । (ननु—) जहां परिम्लायि में पूर्णनीलता होगी वहां पैत्तिकतिमिर से इसका भेद कैसे होगा ? इसका उत्तर यह है कि वहां अन्य लक्षण तथा सम्प्राप्ति भेदक है । अथवा

वहां केवल नीलता वा नीलकृष्णता होती है किन्तु यहां केवल नीलता में भी पीतता मिश्रित होती है। अथवा परिम्लायि में कारण भेद भी है क्योंकि उत्पत्ति रसमिश्रित पित्त से वा रक्तमिश्रित पित्त से होती है और वहां पित्त से होती है। म्लायि शब्द से केवल पीत अर्थ तथा नील शब्द से केवल अर्थ लेने वाले आचार्य कहते हैं कि पीत वर्ण रस मूर्च्छित पित्त से तथा नील रक्त मूर्च्छित पित्त से होता है। भाव यह कि जो परिम्लायि रसमूर्च्छितपि होगा वह म्लायि अर्थात् पीतवर्ण का होगा और जो रक्तमूर्च्छितपित्त से होग नीलवर्ण का होगा। 'दोषक्षयात्' इत्यादि का अर्थ—पूर्वजन्म कृत कुक क्षय से; अथवा पित्त से मिलकर इस रोग को उपजाने वाले रस के क्षय से इस में कभी २ दिखाई देने लगता है, यह है। यह रोग याप्य है।

मधु०—परिम्लायिनो विशिष्टलिङ्गमाह—परिम्लायिनीत्यादि । अत्र गदा 'रक्तजं मण्डलं दृष्ट्यां स्थूलकाचानलप्रभम्'-इति पठित्वा एतदपि परिम्लायिलक्षणमाह, च-बाहुल्येन स्थूलकाचस्येव वर्णतोऽनलस्येव प्रभा यस्य तत्तथेति, अनलप्रभत्वेन पीतं म भवति, पीतं चेषन्नीलं बोद्धव्यं, 'म्लायि नीलं च मण्डलम्'-इत्यभिधानात्, तथा न्मण्डलमानीलं कांस्याभं पीतमेव च-' इत्युक्तम्, आनीलमीषन्नीलमित्यर्थः। म्लायीति म्ला कार्तिकः। दोषक्षयादिति कर्मक्षयात्, सत्यपि दोषरूपत्वे दर्शनसद्भावात्। ननु, किं तर्हि रूपं तादृशमेवावतिष्ठते उत क्षीणं वा ? तत्र न तावदाद्यः पक्षः, दोषाणां कृतकार्याणां त दर्शनस्यासंगतत्वात्; अथ द्वितीयस्तदा दोषस्यैव क्षयादित्यापतितं; किमिति कर्मक्षयादिति स्व यते ? नैवं, विना दोषप्रतीकारं दर्शनोदयाद्विकारस्वभावादिति कार्तिकः। अन्ये तु कालवश तादिदोषस्यैव क्षयात् कदाचिद्दर्शनं स्यादित्याहुः, यतः कालादिजमपि विशेषं क्वचिल्लक्ष पठत्येव, दोषशब्देन च कर्मणोऽभिधानमप्रसिद्धं; किंवा दोषक्षये एव कदाचित् कर्मक्षयो हे ष्यतां, कर्मणश्च कदाचित् क्षयो वैचित्र्यात्। अथात्रैव कुत एवम् ? उच्यते, अस्यैवंविधकर्मजन्म दिति। गदाधरपाठे रक्तजमित्यत्र रक्तमित्युपलक्षणं, तेन रक्तपित्तजम् ॥५०॥—

परिम्लायि के विशेष लक्षणों को कहते हैं कि—'परिम्लायिनि' इत्यादि। यह आचार्य गदाधर तो 'रक्तजं मण्डलं दृष्ट्यां स्थूलकाचानलप्रभम्' इस पाठ को भी स्वी कर इसे भी परिम्लायि का लक्षण कहता है और व्याख्या करता है कि मुटाई में स्थूल के समान और वर्ण में अग्नि के समान है प्रभा (दूर से ही दीख पड़ने वाली कान्ति जिसकी उस प्रकार का (अरुणमण्डल दृष्टि में होता है)। यहां पीले वर्ण का म अग्नि से उत्पन्न होने के कारण होता है; और पीले से ईषत् नीलवर्ण का जानना चा क्योंकि 'म्लायि नीलं च मण्डलम्' यह कथन भी है, तथा 'पित्त से ईषत् नील, वा कां के समान आभा वाला; अथवा पीतवर्ण का होता है' यह भी कहा है। दोषक्षयादिति दोषक्षय से यहां कर्मक्षय लेना चाहिए। क्योंकि यहां दोषरूप (रसमूर्च्छित पित्त) होने पर भी दीखने लग जाता है। अब यहां यह शंका होती है कि क्या दोष का रूप व वैसा ही रहता है वा क्षीण ? इसमें यदि पहला पक्ष (वैसा ही रहता है) स्वीकार लिया जावे तो ठीक नहीं बन सकता, क्योंकि जब दोष अपना कार्य कर चुकते हैं तो उन

वैसा ही रहने पर दीखना असङ्गत है (कारण कि निमित्तकारण के कार्य कर चुकने के अनन्तर भी उसकी उपस्थिति में पुनः वह कार्य होता रहने से उस कार्य का नाश नहीं हो सकता)। यदि दूसरा पक्ष अर्थात् कार्य कर चुकने के अनन्तर दोष क्षीण हो जाता है, यह स्वीकार कर लिया जावे तब तो दोष की क्षीणता स्वयमेव आ जाती है, अतः यहां 'कर्मक्षय से दीखता है' यह क्यों माना जाता है ? इस पर कार्तिक कहता है कि विकार का स्वभाव होने से दोष का प्रतिकार करने के विना ही दीखना आरम्भ हो जाता है (जिससे कर्मक्षय का अनुमान लगाया जाता है)। दूसरे आचार्य तो कालवश वातादि दोष की ही क्षीणता से कभी २ दर्शन होने लगता है, यह कहते हैं। इसमें कारण यह है कि कालादि से उत्पन्न विशेषता भी कहीं लक्षणपन से पढ़ी ही जाती है और यदि दोष से कर्म लिया जावे तो वह (दोष शब्द से कर्म का अभिधान) अप्रसिद्ध है। अथवा दोषों की क्षीणता में ही कर्मक्षीणता मान लेनी चाहिए, कर्म का कभी २ क्षय होना विचित्रता से होता है। (ननु—) यहीं पर कर्मक्षय क्यों होता है अन्यत्र क्यों नहीं होता ? इसका उत्तर यह है कि यह व्याधि होती ही इसी प्रकार के कर्म से है, अतः उसके क्षीण हो जाने पर कभी २ दीखने लगता है।

वक्तव्य—दोषक्षयादिति कर्मक्षयात्—इत्यादि का स्फुट भाव यह है कि—दोष के क्षय से वहां कभी कभी स्वयं दिखाई देने लगता है, में स्थित 'दोष क्षय से' यहां इस रोग को उत्पन्न करने वाले विप्रकृष्ट निदानरूप कर्मों का क्षय लेना चाहिए; न कि सन्निकृष्ट निदान रूप रसमिश्रित पित्त का। कारण कि इसमें सन्निकृष्ट निदानरूप रसमिश्रित पित्त (रूप) दोष के होने पर भी दिखाई देने लगता है। यदि यहां रसमूर्च्छित पित्तरूप दोष के क्षय से कभी २ दिखाई पड़ने लगता तो उसकी स्थिति में न दीखना चाहिए था, परन्तु यहां ऐसा नहीं है, अतः यहां दोष शब्द से इस रोग को उत्पन्न करने वाले विप्रकृष्ट निदानरूप कर्म लिए जाते हैं। अब यहां पर यह शंका उत्पन्न होती है कि कर्म रूप दोष के क्षीण होने पर रसमूर्च्छित पित्त रूप दोष जैसे था वैसे ही रहता है, आहोस्वित् क्षीण हो जाता है ? इसमें यदि प्रथम पक्ष अर्थात् जैसे था वैसे ही रहता है, स्वीकार कर लिया जावे तो रोग को उत्पन्न कर चुकने वाले दोष के वैसे ही रहने से असङ्गत होने के कारण दीखना नहीं बन सकता; जैसे कार्योत्पादक निमित्त कारण की स्थिति में कार्य का अभाव नहीं दीख सकता वैसे ही रोगोत्पादक दोषों की स्थिति में रोग का नाश नहीं हो सकता। अभिप्राय यह है कि जैसे घट को उत्पन्न करने वाले कुलाल, दण्ड, चक्र, चीवर आदि (निमित्त कारण) के सन्नद्ध होने पर घट का अभाव नहीं हो सकता वैसे ही रोग को उत्पन्न करने वाले वात कफादि (निमित्त कारण) के सन्नद्ध होने पर रोग का नाश नहीं हो सकता। एवमेव प्रकृत में भी परिम्लायि तिमिर को उपजा देने पर भी यथापूर्व स्थित रससंयुक्त पित्त के सन्नद्ध (स्थित) होने पर अदर्शन रूप रोगलक्षण का (अर्थात् अदर्शन का) अभाव न हो सकने के कारण असङ्गत है। अथ यदि दूसरा पक्ष अर्थात् कर्मरूप दोष के क्षीण हो जाने पर रसमिश्रित पित्तरूप दोष भी क्षीण हो जाता है लिया जावे, तो दोष की क्षीणता स्वयं सिद्ध हो गई। एवं जैसे यहां (दर्शन के अभाव में) विप्रकृष्ट निदान रूप कर्म के होने से सन्निकृष्ट निदान रूप रसमिलित पित्तदोष बढ़कर परिम्लायि रोग के अदर्शन रूप लक्षण को उपजाता है, वैसे ही यहां (दर्शन के भाव में, अर्थात् दर्शन में) विप्रकृष्ट निदानरूप कर्म के क्षीण होने से सन्निकृष्ट निदानरूप रसमिलित पित्तदोष क्षीण होकर परिम्लायि रोग के अदर्शन रूप लक्षण को नष्ट करता है। इस प्रकार जैसे उत्पत्ति में (परिम्लायि में अदर्शन की उत्पत्ति में) कर्म को विप्रकृष्ट निदान

मान कर वा अप्रधान मान कर रससंयुक्त पित्त (की प्रबलता वा वृद्धि) को सन्निकृष्ट निदान वा प्रधान माना है, वैसे ही विनाश में (परिम्लायि में अदर्शन के विनाश में) कर्म (के अभाव वा क्षय) को विप्रकृष्ट निदान मान कर वा अप्रधान मान कर रससंयुक्त पित्त (की हीनता वा क्षय) को सन्निकृष्ट निदान वा प्रधान मानना चाहिए। इस तरह यहां रसमिलित पित्त (दोष) की क्षीणता (सन्निकृष्ट निदान) के सिद्ध होने पर कर्म की क्षीणता (विप्रकृष्ट निदान) के (प्रधान) मानने की क्या आवश्यकता है ? इसके उत्तर में आचार्य कार्तिक जी कहते हैं कि नहीं, दोष का प्रतिकार किये विना विकार के स्वभाव से दर्शन (उदय) होने के कारण यहां यही समझा जाता है कि दोषों की स्थिति होने पर भी कर्मक्षय के कारण परिम्लायि में कभी कभी दर्शन होने लगता है। अभिप्राय यह है कि इस रोग में दोषों का प्रतिकार न करने पर भी जो कभी २ दर्शन का उदय होता है, वह दोष की उपस्थिति होने पर भी कर्मक्षय से जानना चाहिए अर्थात् इस व्याधि का यह स्वभाव है कि इसमें दोषों की सत्ता में भी कर्मक्षयानुसार दर्शन का उदय हो जाता है। यदि यह आशङ्का हो कि इस प्रकार मानने से 'कारण की उपस्थिति पर कार्य का नाश नहीं होता' से विरोध आता है तो यह भी दोष नहीं आता क्योंकि कार्योत्पत्ति के अनन्तर निमित्त कारण के स्थित होने पर भी कार्य का नाश हो जाता है, पुनः चाहे उस निमित्त कारण द्वारा तज्जातीय कार्य उत्पन्न क्यों न हो जावे। उदाहरण जैसे कुलालादि से घट के निर्मित हो जाने पर वह घट कुलालादि की उपस्थिति में भी असमवायि कारण के नाश से वा समवायि कारण के नष्ट करने की चेष्टा से असमवायि कारण के नष्ट हो जाने पर नष्ट हो जाता है, पुनः चाहे कुलालादि द्वारा तज्जातीय घट क्यों न बन जावे। एवमेव प्रकृत में रसमिश्रित पित्तदोष रूप निमित्त कारण के रोगोत्पादनानन्तर उपस्थित होने पर भी कर्मरूप समवायि कारण के क्षय होने से सम्प्राप्तिरूप असमवायिकारण नष्ट हो जाता है जिससे कि म्लायितिमिर में अदर्शनरूप कार्य भी नष्ट हो जाता है, बाद में चाहे पुनः निमित्तकारण समवायि और असमवायि द्वारा तज्जातीय परिम्लायि में अदर्शन उपजा देवे; और यदि उपजा देवे तो पुनः वह रोग हो जाता है। यह है कार्तिक का भाव, जिसे लेकर आचार्य ने 'नैवं विना दोषप्रतिकारं दर्शनोदयाद्विकारस्वभावादिति कार्तिकः' यह पङ्क्ति कही है। अपर विद्वान् उपर्युक्त शङ्का को लक्ष्य कर इस प्रकार का मन्तव्य स्वीकार करते हैं कि परिम्लायि क्षयी और अक्षयी भेद से दो प्रकार का होता है, इनमें कारणों का अनुविधान भी इन्हीं के अनुसार होता है, एवं क्षयी का यह अनुविधान है कि इसमें तदुत्पादक कर्म क्षीण हो जाने पर दर्शन का उदय हो जाता है। यह इस रोग की प्रकृति है और इस रोग की उत्पत्ति भी इसी विधान के अनुसार ही होती है। एवं इसकी सम्प्राप्ति भी एतदनुकूल ही होती है, जिससे कि 'तत्र न तावदाद्यः, दोषाणां कृतकार्याणां तथात्वे दर्शनस्यासम्भवत्वात्' यह शङ्का इसमें आती ही नहीं। इस मत का तथा उपर्युक्त कार्तिक के मत का भाव एक सा ही है। दूसरे आचार्य तो 'दोषक्षयात्' से कालादिवश रसमूर्च्छित पित्त के ही क्षय से कभी २ दर्शन का उदय होता है, यह स्वीकार करते हैं। क्योंकि कहीं २ कालादिज विशेषता भी लक्षण रूप से पढ़ी जाती है, अतः यहां कभी २ दर्शन का उदय होना रूप लक्षण कालादिज की विशेषता है। दूसरा दोष शब्द से कर्म का निर्देश, अप्रसिद्ध होने के कारण, करना भी ठीक नहीं है। अतः यहां दोष क्षय से एतदुत्पादक दोष का क्षय ही लेना चाहिए। अथवा दोषों की क्षीणता में कर्म की क्षीणता को कारण रूप से मानना चाहिए, जिससे यह सिद्ध होता है कि कर्मक्षय से दोषक्षय होता है और तदनु दर्शन का उदय होता है। यहां

कर्म का कभी २ क्षीण होना विचित्रता से (ईश्वरीय विधानानुसार) होता है। अब यहां यह शङ्का होती है कि विचित्रता से इसी रोग में कर्मक्षय क्यों होता है ? अन्यत्र क्यों नहीं होता, जिससे कि अन्यत्र भी रोग के लक्षण कभी शान्त हो जाया करें ? इसका उत्तर यह है कि यह रोग होता ही इसी प्रकार के कर्म से है, जिससे कि यहां कर्मक्षय होने पर दर्शनोदय हो जाता है। अन्यत्र रोग इस प्रकार के कर्म से नहीं होते, जिससे उनकी इस प्रकार की क्षीणता भी नहीं होती; जिससे कि उन रोगों के लक्षण भी इस प्रकार शान्त नहीं होते।

वातिकादिरागाणां लक्षणान्याह—

अरुणं मण्डलं वातात् चञ्चलं परुषं तथा ॥५१॥ [सु० ६।७]

वात के कारण होने वाले लिङ्गनाश में मण्डल अरुणवर्ण का, चञ्चल एवं कठोर (खरस्पर्श वाला) होता है।

वक्तव्य—पीछे यह प्रतिज्ञा की थी कि—'वक्ष्यामि षड्विधं रोगैर्लिङ्गनाशमतः परम्' अर्थात् वक्ष्यमाण अरुण आदि वर्णों के अनुसार छः प्रकार के तिमिर को कहता हूं; और तदनन्तर छः प्रकार के लिङ्गनाश को भी कहूंगा। एवं उस प्रतिज्ञानुसार काच संज्ञा को प्राप्त तिमिर के अरुण आदि रागानुसार छः प्रकार बता कर आचार्य ने 'इसके बाद छः प्रकार के लिङ्गनाश को कहूंगा' इस अवशिष्ट प्रतिज्ञा का पालन करने के लिए मण्डलराग भेद से 'अरुणं मण्डलं' इत्यादि द्वारा छः प्रकार के लिङ्गनाश को कहना आरम्भ किया है। यहां पर श्रीकण्ठदत्त, वाचस्पति मिश्र आदि टीकाकारों ने 'अरुणं' इत्यादि लक्षणों को, पूर्वोक्त तृतीय पटलगत तिमिर के काच में परिवर्तित होने पर उसके रागानुसार 'रागोऽरुणः' इत्यादि से कहे छः भेदों के विवरण के लिए माना है, जैसे श्रीकण्ठ जी आगे कहेंगे भी कि 'रागोऽरुणो मारुतज इत्यादि सूत्रं पूर्वोक्तं विवृणोति अरुणं मण्डलं वातादित्यादि'। परन्तु इस प्रकार मानने से इसके बाद छः प्रकार के लिङ्गनाश को कहूंगा, यह प्रतिज्ञा पूर्ण नहीं होती। भाव यह है कि यदि अरुणमित्यादि लक्षणों को भी तृतीयपटलगत रागी तिमिर (अर्थात्) तिमिर काच के प्रोक्त 'रागोऽरुणो मारुतजः प्रदिष्टः' के विवरणपरक स्वीकार किया जावे तो चतुर्थ पटलगत तिमिर के लिङ्गनाश में परिणत होने पर उसमें होने वाले वातादि लक्षणों का निर्देश रह जाता है। यहां यह भी नहीं कहा जा सकता कि लिङ्गनाश में न तो वातादिज लक्षण होते हैं और न वह छः प्रकार का होता है; क्योंकि आगे आचार्य स्वयमेव 'षड्लिङ्गनाशाः' इत्यादि सूत्र में उनकी षड्विधता का सङ्केत करेंगे। एवं उनकी षड्विधता सिद्ध होने से उनकी वातादिजता भी स्वयं सिद्ध होती है, अन्यथा षड्विधता बन ही नहीं सकती। यहां यह भी नहीं कहा जा सकता कि यदि इसकी षड्विधता वा वातादिजता होती है तो हो, परन्तु यहां उसके बतलाने की आवश्यकता न होने से (उसका) विवरण नहीं किया गया और ये ('अरुणं मण्डलम्' इत्यादि) लक्षण तिमिर काच

(तृतीय पटलगत रागी तिमिर) के हैं, क्योंकि यदि बतलाने की आवश्यकता न होती तो आचार्य पहले 'वक्ष्यमाण अरुण आदि वर्णों के अनुसार छः प्रकार के तिमिर, अर्थात् तृतीय पटलगत तिमिर को कहता हूं और तदनन्तर छः प्रकार के लिङ्गनाश को भी कहूंगा' यह प्रतिज्ञा न करते । परन्तु उन्होंने यह प्रतिज्ञा की है, अतः प्रतीत होता है कि उन्होंने अपनी प्रतिज्ञानुसार तृतीय पटलगत तिमिर (काच) के 'रागोऽरुणः' इत्यादि से रागानुसार छः प्रकार बताकर "अरुणमण्डलं" इत्यादि से मण्डलराग भेदानुसार चतुर्थ पटलगत दृष्टिरोधक तिमिर (लिङ्गनाश वा नीलिकाकाच) के छः भेद बताए हैं। एवं 'अरुणं मण्डलं' इत्यादि लक्षण, मण्डलगत राग भेदानुसार लिङ्गनाश के कहे हैं; न कि रागानुसार कहे 'रागोऽरुणः' के विवरणात्मक तृतीय पटलगत काच के वा मण्डलगत रागभेदानुसार तृतीय पटलगत काच के । अथच यदि 'अरुणं मण्डलं' इत्यादि लक्षणों को उभयात्मक, अर्थात् तृतीय पटलगत रागी तिमिर के "रागोऽरुणो मारुतजः प्रदिष्टः' इत्यादि रागभेद से कहे छः प्रकारों के विवरणात्मक लक्षण; वा तृतीय पटलगत रागी तिमिर के मण्डलगत राग भेदानुसार षड्विधात्मक लक्षण तथा चतुर्थपटलगत दृष्टिरोधक तिमिर (लिङ्गनाश) के मण्डलगत रागभेदानुसार षड्विधात्मक लक्षण मान लिए जावें तो पूर्वोक्त 'रागोऽरुणः' इत्यादि लक्षण भी उभयात्मक (काचात्मक तथा लिङ्गनाशात्मक) मानने पड़ेंगे, क्योंकि ये लक्षण 'रागोऽरुणः' इत्यादि का विवरणभूत होने (मानने) से ये लक्षण उसी के हो सकते हैं, जिसके कि वे हों। अथ यदि इसमें इष्टापत्ति मानी जावे तो आचार्य का 'वक्ष्यामि षड्विधं रागैर्लिङ्गनाशमतः परम्' में प्रदत्त 'अतः परं' यह पद व्यर्थ जाता है; क्योंकि इससे यह प्रकट होता है कि पहले रागभेदानुसार तृतीय पटलगत काच (तिमिर) के लक्षण बतलाकर (उसके) बाद छः प्रकार के लिङ्गनाश को बतलाऊंगा। एवं इनके लक्षणों के प्रतिपादन में क्रम आ जाता है, किन्तु उपर्युक्तानुसार दोनों को ('रागोऽरुणः' इत्यादि तथा 'अरुणं मण्डलं' इत्यादि को) उभयात्मक (काचात्मक तथा लिङ्गनाशात्मक) स्वीकार करने से क्रम नहीं बनता। अतएव यह मानना पड़ता है कि 'अरुणं मण्डलं' इत्यादि लक्षण मण्डलगत रागभेदानुसार लिङ्गनाश के हैं न कि मण्डलगत रागभेदानुसार वा 'रागोऽरुणो मारुतजः' इत्यादि के विवरणानुसार काच के। इस प्रकार सारतः यह सिद्ध होता है कि 'वातेन चापि रूपाणि' इत्यादि से केवल (दोषानुसार षड्विध) तिमिर (चतुःपटलगत अरागी तिमिर) के और 'रागोऽरुणः' इत्यादि से रागी (रागानुसार षड्विध) तिमिर (तृतीयपटलगत रागी तिमिर) के तथा 'अरुणं मण्डलं' इत्यादि से सर्वतो दृष्टिरोधक (मण्डलगत

रागानुसार षड्विध) तिमिर (चतुर्थपटलगत लिङ्गनाशात्मक तिमिर) के लक्षण कहे हैं। यही डल्हण प्रभृति सुश्रुत की टीका करने वाले आचार्यों का भी मत है। इस प्रकार मानने से भी षड्त्व (संख्या) का अतिक्रमण नहीं होता क्योंकि ये सब तिमिर की ही अवस्थाएं हैं। इस पर पहले पर्याप्त विवेचन किया जा चुका है, अतः वहीं से देख लेना चाहिए।

पित्तान्मण्डलमानीलं कांस्याभं पीतमेव च।

पित्त के कारण होने वाले लिङ्गनाश में मण्डल ईषत् नील वा कांस्य के वर्ण की प्रभा के समान पीतता लिए हुए पाण्डु अथवा पीले वर्ण का होता है।

श्लेष्मणा बहुलं पीतं शङ्खकुन्देन्दुपाण्डुरम् ॥५२॥ [सु० ६।७]
चलत्पद्मपलाशस्थः शुक्लो विन्दुरिवाम्भसः।
मृज्यमाने च नयने मण्डलं तद्विसर्पति ॥५३॥ [सु० ६।७]

लिङ्गनाश में कफ के कारण मण्डल मोटा, पीला, शङ्ख, कुन्दपुष्प तथा चन्द्रमा के समान पाण्डु और हिलते हुए पद्मपत्र पर स्थित जलकण की तरह श्वेत होता है। एवं वह मण्डल, आँख को मलने से, फैल जाता है।

वक्तव्य—यहां कई आचार्य 'चलत्पद्मपलाशस्थः' इत्यादि पादद्वय के अन्त में तथा 'प्रमृज्यमाने च नयने' के आदि में 'सङ्कुचत्यातपेऽत्यर्थं छायायां विस्तृतो भवेत्' यह पद्यार्थ भी मानते हैं। एवं अर्थ इस प्रकार होता है कि लिङ्गनाश में मण्डल कफ के कारण स्थूल, पीला, शङ्ख, कुन्द तथा चन्द्रमा के समान पाण्डु और हिलते हुए पद्मपत्र पर स्थित जलकण की तरह श्वेत होता है, एवं वह मंडल धूप में अत्यन्त सङ्कुचित तथा छाया में विस्तृत होता है; और आँख के मलने पर (भी) फैल जाता है।

प्रवालपद्मपत्राभं मण्डलं शोणितात्मकम्।

लिङ्गनाश में शोणितात्मक मण्डल प्रवाल (मूँगे) वा पद्मपत्र के समान (रक्तवर्ण) होता है। भाव यह है कि रक्त की प्रबलता होने से लिङ्गनाश में मण्डल प्रवाल वा पद्मपत्र के समान लाल रङ्ग का होता है।

दृष्टिरागो भवेच्चित्रो लिङ्गनाशे त्रिदोषजे।

त्रिदोषज लिङ्गनाश में दृष्टिमण्डल चित्र (कर्बुर) वर्ण का होता है, अर्थात् त्रिदोषज लिङ्गनाश में तीनों दोषों के वर्ण होने के कारण दृष्टिमण्डल कर्बुर वर्ण का होता है।

यथास्वं दोषलिङ्गानि सर्वेष्वेव भवन्ति हि ॥५४॥ [सु० ६।७]

उपर्युक्त सभी लिङ्गनाशों में अपने अपने दोष के अनुसार पूर्वोक्त वातादि तिमिरों के रूपभ्रमणादि लक्षण भी अवश्य होते हैं।

वक्तव्य—इसका भाव यह है कि पहले वातादि क्रम से मण्डलगत राग भेदानुसार लिङ्गनाश कहा जा चुका है। इन पूर्वोक्त लिङ्गनाशों में अपने अपने दोष के अनुसार अपने २ दोष के अन्य लक्षण भी होते हैं। अब यहां शङ्का होती है कि लिङ्गनाश भी छः प्रकार का होता है, किन्तु ऊपर उसके पांच प्रकार ही बताए हैं, अतः छठा प्रकार कौन सा है ? इस पर कई आचार्य कहते हैं कि यहां पर कुछ दीख पड़ने वाली अवस्था को प्राप्त परिम्लायि रोग ही छठा लिङ्गनाश है। एवं छः लिङ्गनाश पूर्ण होते हैं।

मधु०—रागोऽरुणो मारुतज इत्यादिसूत्रं पूर्वोक्तं विवृणोति–अरुणं मण्डलं वातादित्यादि। पित्तान्मण्डलमानीलमिति आनीलमीषन्नीलं पीतमेव, तेन रक्तसंबन्धे सति कांस्याभम्। पीतमेव चेति रससंबन्धे पीतमेव, कांस्याभमापाण्डुपीतमित्यर्थः। केचिदत्र कफजे पठन्ति,–'संकुचत्यातपेऽत्यर्थं छायायां विस्तृतो भवेत्'–इति। शोणितजे प्रवालेत्यादौ प्रवालं स्वनामख्यातं तदाभं, पद्मपत्राभं च रक्तपद्मपुष्पदलाभम्। त्रिदोषजे चित्र इत्यत्र यथास्वं वातादिवर्णविभेदेन चित्रत्वं बोद्धव्यं, यथास्वमित्यस्य वक्ष्यमाणस्यात्रापि संबन्धात्; तेनायमर्थः–यथायथं वातादीनां वर्णभेदेन चित्रवर्णो भवति, उद्देशोक्तवर्णचित्रत्वे साक्षादेतादृशविवरणाभाव इति विशेषः। यथास्वं दोषलिङ्गानीत्यस्याभिधानं न्यायसिद्धस्यैवार्थस्य द्योतनार्थम्। दोषलिङ्गानि वातादीनां क्रमेणारुणादिलिङ्गान्युक्तेषु ज्ञातव्यानि ॥५१–५४॥

'रागोऽरुणो मारुतजः' इत्यादि पूर्वोक्त सूत्र को आचार्य माधव अब पुनः 'अरुणं मण्डलं' इत्यादि से विवृत करते हैं। 'पित्तान्मण्डलमानीलम्' अर्थात् पित्त के कारण मण्डल कुछ नील और अधिक पीत होता है। 'पीतमेव च' जो कहा है इसमें पीतता रस के साथ सम्बन्ध होने के कारण है। शेष सब स्पष्ट ही है।

वक्तव्य—मधुकोश के इस पाठ की अर्थ सङ्गति लगाते समय पाठकों को यह ध्यान रखना चाहिए कि मधुकोशकार श्रीकण्ठदत्त ने 'अरुणं मण्डलं' इत्यादि पाठ को रागों द्वारा छः प्रकार के तिमिर को प्रतिपादन करने वाले 'रागोऽरुणो मारुतजः प्रदिष्टः'—इत्यादि के विवरण में माना है, अतः ये लक्षण भी तृतीय पटलगत रागी तिमिरपरक सिद्ध होते हैं, इसी लिए इसकी व्याख्या भी (श्रीकण्ठ ने) उसी के अनुसार की है। इस कारण पाठक भी उसी को लक्ष्य में रखकर इसकी (मधुकोश की) भाषा वा इसके (मधुकोश के) अभिप्राय को समझने की चेष्टा करें, अन्यथा अर्थ सङ्गति न लगेगी। मैंने 'अरुणं मण्डलं' इत्यादि की भाषा में 'अरुणं मण्डलं' इत्यादि का जो अर्थ किया है, वह डल्हण आदिकों का अनुयायी होकर किया है। परन्तु पाठकों को अपने अपने स्थान पर सुसङ्गत होने से दोनों मानने चाहिएं।

उक्तवक्ष्यमाणविकारयोः संख्यामाह—

षड् लिङ्गनाशाः षडिमे च रोगा
दृष्ट्याश्रयाः षट् च षडेव वाच्याः[१]।

पूर्वोक्त छः लिङ्गनाश और ये वक्ष्यमाण पित्तविदग्धदृष्टि आदि छः रोग मिल कर बारह होते हैं, जो कि दृष्टि के आश्रय होते हैं।

---

१ च स्युः.

वक्तव्य—भाव यह है कि पूर्वोक्त छः लिङ्गनाश और वक्ष्यमाण छः पित्त-विदग्धदृष्टि आदि एवं मिल कर बारह रोग दृष्टि में होते हैं। वक्ष्यमाण पित्त-विदग्धदृष्टि आदि रोगों का निर्देश करते हुए ऋषिवर सुश्रुत कहते हैं कि—"तथा नरः पित्तविदग्धदृष्टिः कफेन चान्यस्त्वथ धूमदर्शी। यो ह्रस्वजाड्यो नकुलान्धता च गम्भीरसंज्ञा च तथैव दृष्टिः" (सु. अ. तं. अ. ७)।

मधु०—अतःपरमुक्तवक्ष्यमाणविकारयोः संख्याभिधानार्थमाह—षडित्यादि। षड् लिङ्गनाशा इत्युक्तानुवादोऽयम्। षडिमे च रोगा इति पित्तविदग्धदृष्ट्यादयो वक्ष्यमाणाः। ननु, उक्तानुवादो युक्तः, वक्ष्यमाणानां पुनः किमर्थं संख्योक्तिः ? नैवं, पित्तकफविदग्धदृष्ट्यवस्थान्तराभ्यां दिवान्धरात्र्यन्धाभ्यां संख्याधिक्यनिरासार्थम्, अत एव षडेवेत्यवधारणं कृतं, षट् च षडेवेति मिलित्वा द्वादश, अमुं च ग्रन्थं केचिदत्र संग्रहे न पठन्त्येव॥—

इसके बाद कहे हुए तथा कहे जाने वाले विकारों की संख्या बतलाने के लिए आचार्य कहते हैं कि—षडित्यादि। 'षड्लिङ्गनाशाः' यह कथन उक्त अर्थ का अनुवाद है। 'षडिमे च रोगाः' से कहे जाने वाले पित्तविदग्धदृष्टि आदि छः रोग लेने चाहिएं। अब शंका होती है कि लिङ्गनाशों का उक्तानुवाद तो ठीक है, किन्तु वक्ष्यमाण पित्तविदग्धदृष्टि आदि की संख्या किस लिए प्रदर्शित की है ? इसका उत्तर यह है कि पित्तविदग्धदृष्टि और कफविदग्धदृष्टि की अवस्था विशेष दिवान्ध तथा नक्तान्ध को पृथक् गिनकर संख्यावृद्धि न हो, इसलिए यहां पूर्व ही यह निश्चित कर दिया है कि वक्ष्यमाण पित्तविदग्धदृष्टि आदि रोग छः ही होते हैं, अधिक नहीं। एवं ये छः और पूर्वोक्त छः मिल कर बारह रोग बनते हैं। इस ग्रन्थ को कई एक आचार्य इस संग्रह ग्रन्थ में नहीं पढ़ते।

पित्तविदग्धदृष्टेः स्वरूपमाह—

पित्तेन दुष्टेन सदा तु दृष्टिः[1]।
पीता भवेद्यस्य नरस्य किंचित्[2]॥५५॥ [सु० ६।७]
पीतानि रूपाणि च तेन पश्येत्
स वै नरः पित्तविदग्धदृष्टिः[3]।

जिस मनुष्य की दृष्टि दुष्ट पित्त के कारण सदैव कुछ पीली रहती है, जिसकी वजह से वह मनुष्य पीले वर्ण के रूपों को देखता है, उसे पित्तविदग्धदृष्टि जानना चाहिए।

वक्तव्य—भाव यह है कि जिस मानव की दृष्टि दुष्टपित्त के कारण कुछ पीली हो जाती है, और जो इस रोग के कारण सब रूपों को पीतवर्ण का देखता है, वह मनुष्य पित्तविदग्धदृष्टि जानना चाहिए। यह रोग प्रथम और द्वितीय पटलगत है, क्योंकि तृतीय पटलगत इस रोग की आकृति इससे विशेष होती है जिसे कि अभी आगे आचार्य माधव "प्राप्ते तृतीयं पटलन्तु दोषे" इत्यादि से कहेंगे।

१ गतेन दृष्टिं. २ दृष्टिः. ३ पीतानि रूपाणि च मन्यते यः स मानवः पित्तविदग्धदृष्टिः.

प्राप्ते तृतीयं पटलं तु दोषे
दिवा न पश्येन्निशि चेक्षते सः ॥५६॥ [सु० ६।७]
रात्रौ च शीतानुगृहीतदृष्टिः
पित्ताल्पभावादपि तानि पश्येत् ।

जब उपर्युक्त पित्तविदग्धदृष्टिकारक दोष मांसाश्रित तृतीय पटल में आ जाता है तो वही उपर्युक्त पित्तविदग्धदृष्टि मनुष्य दिन में (रूपों को) नहीं देख सकता और रात में देख सकता है, क्योंकि दिन में सूर्य के प्रताप से पित्त अधिक होता है जिससे देखने में बाधा पड़ती है किन्तु रात्रि में शीतता से अनुगृहीत दृष्टि वाला वह मनुष्य (शीतता के कारण) पित्त के अल्प हो जाने से देखने लगता है।

वक्तव्य—भाव यह है कि जब पित्तविदग्धदृष्टि रोग को उत्पन्न करने वाला दुष्ट (प्रवृद्ध) पित्त कालकास्थि आश्रित प्रथम पटल में तथा तदनु मेदःसमाश्रित द्वितीय पटल में जा पित्तविदग्धदृष्टि रोग को उत्पन्न कर देता है, तो उसके बाद क्रमशः चलता हुआ वहीं दोष मांसाश्रित तृतीय पटल में जाकर दिवान्ध दृष्टि नामक रोग को उत्पन्न कर देता है जिसमें कि वही मनुष्य दिन के समय सूर्य की ऊष्मा के कारण पित्त के बढ़े होने से नहीं देख सकता और रात्रि के समय शीत की अधिकता के कारण पित्त के ह्रसित होने से देख सकता है। (ननु-जब पित्तविदग्धदृष्टि तथा दिवान्धदृष्टि में परस्पर नामभेद, लक्षणभेद और स्थान भेद है तो इसे भी (दिवान्धदृष्टिरोग को) उससे (पित्तविदग्धदृष्टि से) पृथक् क्यों नहीं माना जाता ? और यदि इसे उसकी अवस्थान्तर मान कर पृथक् नहीं किया जाता तो भी ठीक नहीं; क्योंकि अभिष्यन्द से अधिमन्थ, सिरोत्पात से सिराप्रहर्ष और वाताधिमन्थ से हताधिमन्थ, अवस्था विशेष होने पर भी भिन्न हैं अतः उनकी तरह यहां भी भेद मान कर इसे पृथक् गिनना चाहिए। इसका उत्तर यह है कि नहीं, इसे पृथक् नहीं गिना जाता क्योंकि इसमें पित्तविदग्धदृष्टि के पीतदर्शन आदि लक्षणों के साथ २ दिवान्धता होती है, एवं यह दिवान्धता केवल दोष के बढ़कर तीसरे पटल में जाने से होती है, इसमें दोष भी वही है और दृष्टिरूप स्थान भी वही है, केवल पटल में, तथा दोष के बल में भेद है। इस भेद को लक्ष्य में रख कर भिन्नता वा पृथक्ता नहीं ली जाती, अन्यथा प्रथम पटलगत से द्वितीय पटलगत पित्तविदग्धदृष्टि का भी परस्पर भेद वा पृथक्त्व मानना पड़ेगा। किञ्च दिवान्ध को पित्तविदग्धदृष्टि से पृथक् स्वीकार करने पर नक्तान्ध को भी कफविदग्धदृष्टि से पृथक् मानना पड़ेगा और इसमें भी प्रथम तथा द्वितीय पटल भेद एवं दोष के बल भेद को देख इनकी भी पृथक्ता माननी पड़ेगी, और पुनः इनमें तर तम के अनुसार भेद मानने पड़ेंगे जिससे व्यर्थ गौरव होगा। अतः सूत्र-

१ वीक्षते च. २ स.

रूप से अपृथक्ता ही ठीक है। अथच पित्तविदग्धदृष्टि से दिवान्ध की पृथक्ता मूल आचार्य को भी अभिमत नहीं, इसी लिए तो उसने उसे पृथक् नहीं गिना। इस पर भी यदि इसे पृथक् ही माना जावे तो आचार्य की "षडिमे च रोगा दृष्ट्याश्रयाः" यह प्रतिज्ञा भङ्ग होती है, अतएव दिवान्धदृष्टि को पृथक् न मान कर पित्तविदग्धदृष्टि की अवस्था विशेष ही माननी चाहिए। ऊपर कहा गया है कि दिवान्धदृष्टि में पित्तविदग्धदृष्टि के पीतदर्शन आदि लक्षण भी होते हैं, किन्तु जब उसमें दीखता ही नहीं तो पीतदर्शन कहां से होगा ? इसका उत्तर यह है कि ठीक है, दिन में पित्त की अत्यधिकता होने के कारण उसे नहीं दीखता, किन्तु रात्रि को शीत की प्रबलता होने से पित्त के क्षीण हो जाने पर तो दीखने लगता है। उस समय भी उसे स्पष्ट (यथायथ) नहीं दीखता प्रत्युत पित्तविदग्धदृष्टि के लक्षण पीतदर्शन को लिए हुए ही दीखता है, अर्थात् तब भी सभी पदार्थ पीत ही दीखते हैं। यही समाधान वक्ष्यमाण नक्तान्ध्य में भी जानना चाहिए। यह रोग साध्य है।

मधु०—पित्तविदग्धदृष्टिलिङ्गमाह—पित्तेनेत्यादि । दृष्टिः पीता भवेदिति प्रथमद्वितीययोः पटलयोरिति गम्यते, यतः परतः 'प्राप्ते तृतीयं पटलं'—इत्यभिधास्यति । ननु, यद्येवं कथं तिमिरादस्याः पार्थक्यम् ? उच्यते—तृतीयपटलप्राप्तिमन्तरेण वर्णासद्भावात् । एतच्च सति वर्णे पटलान्तरगतदोषलिङ्गाभावात् प्रत्येतव्यम्। अस्मिन्नेव व्यवस्थाने तादृक्स्वरूपो दोषः कथमन्यविकारं करोतीति नाशङ्कनीयं, तज्जनककर्मणो भिन्नत्वेन सामग्रीभेदात् । अयं दिवान्धः, दिवा न पश्येदिति वचनात्। तानीति रूपाणि। दोषे पित्ते ॥५५–५६॥

दृष्टि पीली हो जाती है, यह लक्षण प्रथम और द्वितीय पटल में जानना चाहिए क्योंकि अनन्तर 'प्राप्ते तृतीयं पटलं' यह कहा जावेगा। भाव यह है कि दृष्टि का पीत होना प्रथम और द्वितीय पटल में समुचित है, क्योंकि तृतीय पटल में तो 'प्राप्ते तृतीयं' इत्यादि से अन्य लक्षण कहे जावेंगे। (ननु—) अगर ऐसा ही है तो तिमिर से इसकी पृथक्ता कैसे होगी ? इसका उत्तर यह है कि इसमें (दोष के) तीसरे पटल में गए विना (ही) वर्ण का (अ[1])सद्भाव होता है (और वहां ऐसा नहीं होता) तथा इसे (पृथक्त्व को) वर्ण के होने पर पटलान्तरगत दोषलक्षणों के अभाव से जानना चाहिए। यहां पर यह आशङ्का नहीं करनी चाहिए कि इसी व्यवस्था में उसी प्रकार का दोष दूसरे विकार को कैसे उपजा सकता है, क्योंकि उसको उत्पन्न करने वाले कर्म के भिन्न होने के कारण सामग्रीभेद होने से यह हो सकता है।

वक्तव्य—उपर्युक्त शङ्कासमाधान का विवेचन करने से पूर्व इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि मधुकोशोक्त 'उच्यते तृतीयपटलप्राप्तिमन्तरेण वर्णासद्भावात्' में 'वर्णासद्भावात्' के स्थान पर 'वर्णसद्भावात्' यह पाठ मानना चाहिए, अन्यथा अर्थ की सङ्गति नहीं हो सकती, क्योंकि 'वर्णासद्भावात्' मानने से इसका अर्थ, इसमें (पित्तविदग्धदृष्टिरोग में) दोष के तीसरे पटल में गए बिना ही वर्ण का असद्भाव (अभाव) होने से (तिमिर से इसका) पृथक्त्व है, यह बनता है। एवं इसमें हेतु सङ्गत नहीं होता, क्योंकि तिमिर में

१ यह अकार लुप्त समझना चाहिए, अन्यथा अर्थ सङ्गति नहीं होगी.

भी दोष के तीसरे पटल में गए बिना वर्ण का असद्भाव (अभाव) होता है, प्रत्यु पित्तविदग्धदृष्टि में तो 'पित्तेन दुष्टेन सदा तु दृष्टिः पीता भवेत्' से तृतीय पटल के बिना वर्ण का होना माना है, किन्तु तिमिर में तृतीय पटलगत दोष के बिना वर्ण का होना न माना, अतः यह सिद्ध होता है कि 'वर्णासद्भावात्' में अकार की आवश्यकता नहीं है प्रतीत होता है कि यहां 'वर्णसद्भावात्' के स्थान पर 'वर्णासद्भावात्' यह पाठ प्रमादवश आ गया है। यदि यहां यह कहा जावे कि उच्यते—इत्यादि हेतु (साधक) वाचक वाक्य तिमिर परक है, पित्तविदग्धदृष्टिरोगपरक नहीं, तो हो नहीं सकता क्योंकि हेतु (साधक) प्रकृत वा साध्यपरक होता है। एवं यहां प्रकृत पित्तविदग्धदृष्टि है; और साध्य तिमिर से पित्त विदग्धदृष्टि का पृथक्त्व है। इसलिए इस साधक वाक्य को भी पित्तविदग्धदृष्टिपरक मानना चाहिए और इस प्रकार मानने से यहां 'असद्भावात्' न होकर 'सद्भावात्' होना चाहिए किञ्च यदि इसे तिमिरपरक मान भी लिया जावे तो 'एतच्च सति वर्णे पटलान्तरगतदोषाङ्ग भावात् प्रत्येतव्यम्' इस वाक्य की संगति नहीं होती। कारण कि इसका अर्थ, और य पार्थक्य वर्ण के होने पर तथा पटलान्तरगत दोष लिङ्गों के न होने से जानना चाहिए, यह है एवं यहां 'वर्ण के होने पर' यह पद पित्तविदग्धदृष्टिपरक है। कई पाठ परिवर्तन की अपेक्षा इ (इन दोनों वाक्यों को) तिमिरपरक ही मानते हैं, इस प्रकार भी अर्थ सङ्गति हो जाती है। अ नीचे इस शङ्का समाधान को क्रमशः पाठ परिवर्तन तथा अपरिवर्तन के अनुसार विशद किय जाता है। यदि पित्तविदग्धदृष्टिरोग तिमिर की तरह प्रथमादि पटलों में होता है तो इ (पित्तविदग्धदृष्टि को) उससे (तिमिर से) पृथक् कैसे किया जावेगा? इसका उत्तर यह है कि दोष के तृतीय पटल में गए बिना वर्ण की उत्पत्ति होने से यह (पि. वि. दृ.) उससे (तिमिर से) पृथक् है और यह पृथक्त्व वर्ण के होने पर पटलान्तरगत दोषलक्षणों के अभाव से जानना चाहिए। यह व्याख्यान 'उच्यते' इत्यादि को पित्तविदग्धदृष्टिपरक मानने से है जिसे कि कई विद्वान् मानते हैं। 'उच्यते' इत्यादि को तिमिरपरक मानने से यह व्याख्या होती है कि यदि पित्तविदग्धदृष्टिरोग तिमिर की तरह प्रथमादि पटलों में होता है, तो इसका (पित्तविदग्धदृष्टि का) उससे (तिमिर से) पृथक्त्व कैसे होगा? इसका उत्तर यह है कि दोष के तृतीय पटल में गए बिना वर्ण की उत्पत्ति न होने से वह (तिमिर) इस (पि. वि. दृ.) से पृथक् है और यह पृथक्त्व वर्ण के होने पर पटलान्तरगत दोष लक्षणों के अभाव से जानना चाहिए (इत्यपरे)। तिमिर से पित्तविदग्धदृष्टि की पृथक्ता निम्नलिखित कारणों से जाननी चाहिए। प्रथम—तिमिर वातादि छः प्रकारों द्वारा होता है और यह पित्त विदग्धदृष्टि ऐसा नहीं है। दूसरा—उसके पित्तज लक्षणों में आदित्य खद्योत आदि दीखते हैं, तथा सभी पदार्थ नील वर्ण के (सुश्रुतानुसार कृष्णनीलवर्ण के) दीखते हैं और इसमें आदित्य खद्योत आदि (ही) नहीं दीखते; तथा सभी पदार्थ पीतवर्ण के दीखते हैं। तीसरा—उसमें राग तृतीय पटल में होता है और इसमें प्रथम द्वितीय में भी (पीतवर्ण) होता है। चौथा—उसके तृतीय पटलगत होने से बड़े बड़े रूप भी वस्त्राच्छन्न दीखते हैं; तथा मनुष्य विकृत दीखते हैं, एक वस्तु दो दो आदि दीखती है और (उसमें) वर्ण दोषानुसार होता है, किन्तु इसके तृतीय पटलगत होने से दिन में दीखता ही नहीं, रात्रि को सभी पदार्थ पीतवर्ण के किन्तु ठीक २ दीखते हैं, इसमें वर्ण पीत होता है। पांचवां—तृतीय पटल में उसकी काच संज्ञा होती है, इसकी नहीं होती। एवं अन्य भेदक हेतु भी हैं, किन्तु वे विस्तार के भय से नहीं दर्शाए जाते, विद्वान् स्वयं समझ लें। अब यहां यह शङ्का होती है कि यहां तिमिर के ही प्रथम पटलादि स्थान में तिमिर जैसा ही (पित्त) दोष अन्य (तिमिर से भिन्न) रोग को

कैसे उपजा देता है ? इसका उत्तर यह है कि उसका (तिमिर से भिन्न पित्तविदग्धदृष्टिरूप रोग का) जनक कारणरूप कर्म उससे (तिमिर से) भिन्न होने से सामग्री भेद हो जाने के कारण स्थान और दोष की एकता होने पर भी पित्तविदग्धदृष्टि रोग उत्पन्न हो जाता है अर्थात् उत्पादकरूप कर्म के भिन्न २ होने से सामग्रीभेद हो जाता है, जिससे स्थान और दोष की समता होने पर भी भिन्न रोग उत्पन्न हो जाता है। एवं वक्ष्यमाण कफविदग्धदृष्टि रोग में भी उपर्युक्त समाधान करना चाहिए।

श्लेष्मविदग्धदृष्टेः स्वरूपमाह—

तथा नरः श्लेष्मविदग्धदृष्टि-
स्तान्येव शुक्लानि तु मन्यते सः ॥५७॥ [सु० ६।७]

उसी प्रकार श्लेष्मविदग्धदृष्टि मनुष्य उन्हीं रूपों को श्वेत रूप में देखता है।

वक्तव्य—यहां पर तथा शब्द से 'पित्तेन दुष्टेन सदा तु दृष्टिः पीता भवेद्यस्य नरस्य किञ्चित्' की तरह 'कफेन दुष्टेन सदा तु दृष्टिः सिता भवेद्यस्य नरस्य किञ्चित्' यह भाव लेना चाहिए। एवं इसका भाव यह निकलता है कि जिस मनुष्य की दृष्टि दुष्ट (प्रवृद्धत्वेन दुष्ट) कफ के कारण सदैव कुछ श्वेत सी रहती है, जिसकी वजह से वह मनुष्य सभी रूपों को श्वेत वर्ण के देखता है, उसे श्लेष्मविदग्धदृष्टि रोग ग्रस्त जानना चाहिए। इसी भाव को पद्य में इस प्रकार भी प्रकट किया जा सकता है कि—'कफेन दुष्टेन सदा तु दृष्टिः सिता भवेद्यस्य नरस्य किञ्चित्। श्वेतानि रूपाणि च तेन पश्येत् स वै नरः श्लेष्मविदग्धदृष्टिः'। ये लक्षण भी दोष के प्रथम और द्वितीय पटल में ही होते हैं क्योंकि तृतीय पटल में वक्ष्यमाण नक्तान्धदृष्टि रोग होता है।

त्रिषु स्थितोऽल्पः पटलेषु दोषो
नक्तान्ध्यमापादयति प्रसह्य।
दिवा स सूर्यानुगृहीतदृष्टिः
पश्येत्तु रूपाणि कफाल्पभावात् ॥५८॥ [सु० ६।७]

तीन पटलों में स्थित अल्पदोष हठात् नक्तान्ध्य रोग को उपजा देता है। इससे ग्रस्त मनुष्य दिन में सूर्यानुगृहीत दृष्टि होने के कारण कफ के स्वल्प हो जाने पर उन रूपों को (जो कि रात में नहीं दीखते) देखने लगता है (इस रोग का नाम नक्तान्ध्य है और यह रोग साध्य है)।

वक्तव्य—यह रोग दिवान्ध से बिलकुल उल्टा है। उसमें दिन को नहीं दीखता और रात्रि को दीखता है, किन्तु इसमें रात्रि को नहीं दीखता और दिन को दीखता है। उसमें दोष पित्त है और इसमें कफ। अब यह बात आती है कि उसमें 'प्राप्ते तृतीयं पटलन्तु दोषे' यह पाठ है जिससे कि सिद्ध होता है कि वह रोग दोष के तीसरे पटल में जाने पर होता है, किन्तु यहां 'त्रिषु स्थितोऽल्पः पटलेषु दोषः' यह पाठ है, जिससे सिद्ध होता है कि यह रोग दोष के तीनों पटलों में स्थित होने पर होता है। एवं वहां वह केवल दोष के तृ.

पटल में होने पर होता है और यहां यह दोष के तीनों पटलों में हो पर होता है, यह निर्णय कई विद्वानों को अभिप्रेत है। किन्तु दूसरे विद्वा कहते हैं कि नहीं, यहां इन दोनों की समता है । एवं जो वहां या कहा है कि 'प्राप्ते तृतीयं पटलं तु दोषे' अर्थात् दोष के तीसरे पटल में प्राप्त होने पर आदि, यह भी इसी बात को बताता है कि दोष जब प्रथम और द्वितीय पटल में से तीसरे पटल में चला जाता है तो दिवान्धरोग उत्पन्न होता है। इससे यह सिद्ध नहीं होता कि दोष जब तीसरे पटल में जाता है तो वह प्रथम और द्वितीय पटल में रहता ही नहीं, प्रत्युत तब भी वह प्रथम और द्वितीय पटल में रहता है, क्योंकि तृतीय पटल में तो वह बढ़ कर गया है, न कि प्रथम और द्वितीय पटल को छोड़कर। कारण कि रोग प्रथमग्रस्त स्थान को तभी छोड़ता है जब कि उसकी शान्ति होती है, अन्यथा वह उस स्थान के साथ २ अन्य स्थान को भी घेरता है। यही विधान यहां भी है। एवं दिवान्ध की भी तीनों पटलों में स्थिति सिद्ध होने से यहां दोनों की समता है। यदि यह कहा जावे कि दोष के तीसरे पटल में जाने पर ही दिवान्ध होता है, इसमें प्रथम और द्वितीय पटल विशेष अभिमत नहीं; क्योंकि वे दोष के तीसरे पटल में गए बिना इस रोग को नहीं उपजा सकते। एवं यदि दिवान्ध और नक्तान्ध में यहां समता है तो नक्तान्ध्य को भी इसी प्रकार का (अर्थात् दोष के तृतीय पटल में जाने पर इस रोग का उत्पन्न होना) मानना चाहिए, तो इसका उत्तर यह है कि ठीक है। यदि इसी विधान के सम होने से समता हो सकती है, तो यह विधान भी समान ही है, क्योंकि नक्तान्ध्य भी दोष के तीसरे पटल में जाने पर ही होता है, पहले नहीं। एवं इसमें भी तीसरे पटल की प्रधानता और प्रथम तथा द्वितीय पटल की अप्रधानता है। उपर्युक्त का भाव यह है कि चाहे 'त्रिपु' मानों वा 'तृतीय' मानो भावार्थ एक ही है। एवं यहां इन दोनों की समता है। श्लेष्मविदग्धदृष्टि तथा नक्तान्ध्य परस्पर भिन्न नहीं हैं; किन्तु नक्तान्ध्य श्लेष्मविदग्धदृष्टि की एक अवस्थाविशेष होने से एक ही हैं। यहां पर पित्तविदग्धदृष्टि में लिखा हुआ सकल विवरण देख लेना चाहिए, क्योंकि यह भी उसी की तरह है। दिवान्ध की मधुकोष भाषा तथा वक्तव्य में प्रतिपादित तिमिर और पित्तविदग्धदृष्टि के परस्पर भेद की तरह यहां भी (अर्थात् श्लेष्मविदग्धदृष्टि तथा तिमिर में भी) भेद जानना चाहिए। ध्यान देने योग्य बात यही है कि वहां दोष पित्त था और यहां कफ है, वहां पित्त के लक्षणों से भेदात्मक तुलना की थी और यहां कफ के लक्षणों से करनी चाहिए।

मधु०—श्लेष्मविदग्धदृष्टिलिङ्गमाह—तथा नर: श्लेष्मविदग्धदृष्टिरित्यादि । एतां च प्रथमद्वितीयपटलाश्रितः श्लेष्मा जनयति; परतः 'त्रिपु' इत्युक्तेः । तानीति रूपाणि । त्रिपु स्थितोऽ-

ल्प इत्यनेन दिवादर्शनं प्रत्यानुकूल्यं ख्याप्यते, यदि ह्यनल्पदोषः स्यात्तद दिवाऽपि दर्शनं न भवेदेव । दोषोऽत्र कफः, तस्यैव प्रक्रान्तत्वात्; अयं नक्तान्धः ॥५७-५८॥

'त्रिषु स्थितोऽल्पः' इत्यादि श्लोक से दिन में दीखने से प्रतिकूलता बताई है। यदि यहां पर दोष अनल्प हो तो दिन में भी दर्शन नहीं हो सकता। दोष यहां पर कफ है।

वक्तव्य—भाव यह है कि 'त्रिषु स्थितोऽल्पः' इत्यादि श्लोक से प्रतिपादित नक्तान्ध्य-रोग दिवान्ध से प्रतिकूल है, क्योंकि उसमें दिन को नहीं दीखता और इसमें रात्रि को नहीं दीखता। इसमें कहा है कि—'तीन पटलों में स्थित अल्पदोष' इत्यादि। यहां अल्पता इस कारण से कही है कि अनल्पता होने से दिन को भी नहीं दीख सकता। एवं अल्पदोषता के कारण ही दिन को दीखता है।

धूमदर्शिनो लक्षणमाह—

शोकज्वरायासशिरोऽभितापै-
रभ्याहता यस्य नरस्य दृष्टिः।
धूम्रांस्तथा पश्यति सर्वभावान्
स धूमदर्शीति नरः प्रदिष्टः ॥५९॥ [सु० ६।७]

जिस मनुष्य की दृष्टि शोक, ज्वर, परिश्रम और शिरोव्यथा से उपहत हो जाती है, वह (मनुष्य) सभी पदार्थों को धूम्रयुक्त देखता है। यही मनुष्य धूम्रदर्शी नाम से कहा है।

वक्तव्य—भाव यह है कि जिस मनुष्य में रोग के उपर्युक्त लक्षण दीखें उसे धूम्रदर्शी कहना चाहिए। यह रोग पैत्तिक है, एवं साध्य है।

मधु०—धूम(म्र)दर्शिनो लिङ्गमाह—शोकज्वरायासेत्यादि । शोकादिभिः कारणैः कुपितेन पित्तेनाभ्याहता उपहता दृष्टिरिति प्रत्येतव्यम्, अस्य सुश्रुते रोगसंग्रहे पैत्तिकगणेऽभिधानात्। अयं च रोगो बाह्यपटलस्थेन दोषेण जन्यते इति गदाधरः, तृतीयपटलाश्रितदोषेणेति कार्तिकः। दिवा धूम्रान् पश्यति, न तु नक्तं; तदा पित्तस्य क्षीणत्वादिति व्याख्यानयन्ति ॥५९॥

(इस रोग में) दृष्टि शोकादिक कारणों द्वारा कुपित पित्त से उपहत जाननी चाहिए, क्योंकि इस विकार को सुश्रुत ने रोगसंग्रह में पैत्तिकगण में कहा है। यहां गदाधर कहता है कि यह रोग बाह्य पटल में स्थित दोष से उत्पन्न होता है, किन्तु कार्तिक कहता है कि यह तृतीय पटलस्थ दोष से उपजता है। दिन में धूम्रयुक्त पदार्थों को देखता है, न कि रात्रि में; क्योंकि तब पित्त क्षीण होता है।

वक्तव्य—भाव यह है कि यह रोग सुश्रुत में पैत्तिक रोगों में निर्दिष्ट होने के कारण शोक आदि द्वारा पित्त के प्रकोप से होता है। यह रोग प्रथम पटल में होता है, यह गदाधर मानता है; और तीसरे पटल में होता है, यह कार्तिक मानता है। पित्त की वृद्धि रात्रि की अपेक्षा दिन में अधिक होती है, अतः पैत्तिक होने से यह रोग भी दिन में ही अपना प्रभाव दिखाता है, रात्रि को नहीं, अर्थात् दिन में सब पदार्थ धूम्र के समान दीखते हैं, रात्रि को नहीं।

ह्रस्वजाड्यस्य स्वरूपमवतारयति—

यो ह्रस्वजाड्यो दिवसेषु कृच्छ्रा-
द्ध्रस्वानि रूपाणि च तेन पश्येत्।

जो (ह्रस्वजाड्य) मनुष्य ह्रस्वजाड्यता के कारण दिन में सभी रूपों को खूब देखने पर भी छोटा देखता है, वह ह्रस्वजाड्य कहलाता है।

वक्तव्य—यहां सुश्रुत में "स ह्रस्वजाड्यो(जात्यो) दिवसेषु कृच्छ्राद्ध्रस्वानि रूपाणि च येन पश्येत्" इस प्रकार का पाठ मिलता है, जिसका अर्थ यह होता है कि जिस विकार के कारण मनुष्य दिन में बड़ी कठिनता से (सभी) रूपों को छोटा देखता है, वह (विकार) ह्रस्वजाड्य (जात्य) कहलाता है। यहां डल्हण जी कहते हैं कि यहां "दिन में देखता है" यह वचन होने से सिद्ध होता है कि रात्रि में नहीं देखता। कई आचार्य तो यहां "रात्रौ च शीतानुगृहीतदृष्टिः पित्ताल्पभावादपि तानि पश्येत्" यह पाठ भी मानते हैं, किन्तु यह पाठ नक्तान्ध्य उत्पादक होने से यहां असङ्गत है। विदेह ने भी कहा है कि—"नक्तमन्धास्तु चत्वारो ये पुरस्तात् प्रकीर्तिताः। तेषामसाध्यो नकुलो ह्रस्वजाड्यस्तथैव च"। यह रोग पित्त से उत्पन्न होने तथा चारों पटलों में आश्रित होने के कारण असाध्य है।

मधु०—ह्रस्वजाड्यलक्षणमाह—यो ह्रस्वजाड्य इत्यादि। तेन ह्रस्वजाड्येन ह्रस्वानि रूपाणि दिवा यः पश्येत् स ह्रस्वजाड्य इति योजना। अत्र दोषो दृष्टिमध्यगतः। यदुक्तं-"दृष्टिमध्यगते दोषे महद्ध्रस्वं च पश्यति"-इति। अयं पैत्तिकः॥—

(अत्रेति—) यहां (ह्रस्वजाड्य में) दोष दृष्टि के मध्य में स्थित जानना चाहिए। जैसे कहा भी है कि—'दोष के दृष्टिमध्यस्थ होने पर बड़े पदार्थ भी छोटे दीखते हैं'। यह रोग पैत्तिक है।

नकुलान्ध्यस्य रूपं दर्शयति—

विद्योतते यस्य नरस्य दृष्टि-
र्दोषाभिपन्ना नकुलस्य यद्वत् ॥६०॥ [सु० ६।७]
चित्राणि रूपाणि दिवा स पश्येत्
स वै विकारो नकुलान्ध्यसंज्ञः।

जिस मनुष्य की (सर्व) दोषव्याप्त दृष्टि नकुल की दृष्टि के से वर्ण वाली होती है, वह (मनुष्य) दिन में विचित्र (सर्व दोषवर्ण) रूपों को देखता है। (इन लक्षणों वाले) इस रोग का नाम नकुलान्ध्य है।

मधु०—नकुलान्ध्यसंज्ञमाह—विद्योतते यस्येत्यादि। नकुलस्य यद्वद्यथा दृष्टिर्विद्योतते वर्णेन प्रतिभासते तथाऽस्येत्यर्थः। अतः सर्वदृष्टिमण्डलगतो रागः सर्वदोषवर्णश्च, दोषाभिपन्नेत्यत्र दोषशब्दस्याविशेषितत्वादभिशब्दस्याभिव्याप्त्यर्थस्य प्रयोगात्। एतौ ह्रस्वजाड्यनकुलान्ध्यौ चतुःपटलस्थितदोषजन्यौ सरागौ न साध्यौ। तथाच विदेहः—"नक्तमन्धास्तु चत्वारो ये पुरस्तात् प्रकीर्तिताः। तेषामसाध्यो नकुलो ह्रस्वजाड्यस्तथैव च॥ विशेषेण भवेयातां(?)द्वौ चतुःपटलाश्रितौ। तौ च संप्राप्तरागत्वादसाध्यौ परिकीर्तितौ"-इति। एतौ च रात्र्यन्धौ प्रत्येतव्यौ,

दिवा ह्रस्वचित्ररूपदर्शनाभिधानेन रात्रावदर्शनप्रतीतेः । विदेहेन तु नक्तान्धत्रित्वेऽपि चत्वार इत्युक्तं, नक्तान्धबाहुल्येन दिवान्धेऽपि तत्प्रयोगात्; छत्रिणो गच्छन्तीतिवत् ॥६०॥—

(एताविति—) यह ह्रस्वजाड्य और नकुलान्ध्य चौथे पटल में स्थित दोष से उत्पन्न होने से तथा रागी होने से साध्य नहीं होते । जैसे विदेह ने कहा भी है कि—'मैंने पहले जो चार रात्र्यन्ध कहे हैं, उनमें से नकुलान्ध्य तथा ह्रस्वजाड्य असाध्य होता है। विशेषतः वे दोनों दो और चार पटलों के आश्रय में होते हैं, और वे दोनों प्राप्तराग वाले होने से असाध्य कहे हैं' । (विदेहेनेति—) जिन रोगों में रात्रि को नहीं दीखता वे तीन हैं, किन्तु विदेह ने चार प्रदर्शित किये हैं। यहां चौथा 'छत्रिणो गच्छन्ति' इस न्याय से दिवान्ध लेना चाहिए और उसी में चौथे नक्तान्ध्य का प्रयोग है ।

गम्भीरिकायाः स्वरूपमवतारयति—

दृष्टिर्विरूपा श्वसनोपसृष्टा
संकोचमभ्यन्तरतस्तु याति ॥६१॥ [सु० ६।७]
रुजावगाढा च तमक्षिरोगं
गम्भीरिकेति प्रवदन्ति तज्ज्ञाः ।

वायु से उपद्रुत विकृतदृष्टि अन्दर की ओर सङ्कुचित हो (घुस) जाती है, और इसमें पीड़ा भी अवगाढ़ (गम्भीर वा अधिक) होती है । इसी नेत्ररोग को विद्वान् लोग गम्भीरिका नाम से कहते हैं ।

वक्तव्य—भाव यह है कि जिस नेत्ररोग में दृष्टि वायु के कारण विकृत होकर भीतर की ओर घुस जाती है, तथा जिसमें पीड़ा गहरी होती है, उसे विद्वान् वैद्य गम्भीरिका कहते हैं ।

मधु०—गम्भीरिकालक्षणमाह—दृष्टिरित्यादि । विरूपा विकृता । श्वसनोपसृष्टा वातोपगता, संकोचमभ्यन्तरतस्तु यातीति अन्तः संकोचमेति निमज्जतीत्यर्थः, 'संकुच्यतेऽभ्यन्तरतश्च याति' इति पाठान्तरेऽप्ययमेवार्थः, इयमविशेषोक्तिः । सकलपटलगतवातजन्या असाध्या, सुश्रुते गम्भीरिका तथेति निर्देशात् ॥६१॥—

'सङ्कुच्यतेऽभ्यन्तरतश्च याति' इस पाठान्तर में भी अर्थ वही है। सुश्रुत में 'गम्भीरिका तथा' यह निर्देश होने से सकलपटलगत वात से उत्पन्न यह व्याधि असाध्य है।

सनिमित्तलिङ्गनाशस्य लक्षणमाह—

बाह्यौ पुनर्द्वाविह संप्रदिष्टौ
निमित्ततश्चाप्यनिमित्ततश्च ॥६२॥ [सु० ६।७]
निमित्ततस्तत्र शिरोऽभितापा-
ज्ज्ञेयस्त्वभिष्यन्दनिदर्शनः सः ।

अनिमित्तलिंगनाशस्य लक्षणमाह—

सुरर्षिगन्धर्वमहोरगाणां
संदर्शनेनापि च भास्करस्य ॥६३॥ [सु० ६।७]

हन्येत दृष्टिर्मनुजस्य यस्य
स लिङ्गनाशस्त्वनिमित्तसंज्ञः।
तत्राक्षि विस्पष्टमिवावभाति
वैदूर्यवर्णा विमला च दृष्टिः ॥६४॥ [सु० ६।७]

यहां निमित्त (कारण) तथा अनिमित्त (अकारण) से होने वाले बाह्य दो रोग और भी कहे हैं, जिनमें से नैमित्तिक बाह्यरोग शिरोभिताप के कारण होता है, तथा इसमें अभिष्यन्द ('रक्ताभिष्यन्द' इति गदाधरः; 'सन्निपाताभिष्यन्द' इति कार्तिकः) के से लक्षण होते हैं। एवं दूसरा अनैमित्तिक नाम वाला बाह्य नेत्र-रोग वह होता है, जिसमें कि मनुष्य की दृष्टि देवता, ऋषि, गन्धर्व, नाग और सूर्य के संदर्शन से नष्ट हो जाती है। इसमें नेत्र साफ सुथरा दीखता है और दृष्टि विमल (तिमिर वा काचादि मलरहित) एवं वैदूर्यमणि के समान वर्ण वाली दीखती है।

वक्तव्य—आश्रय भेद से रोगों का वर्णन करते हुए सुश्रुत ने कहा है कि–"बाह्यजौ द्वौ समाख्यातौ रोगौ परमदारुणौ"। ये दो रोग भी दृष्टिनाशकारी होते हैं, अतः दृष्टिनाशक रोगप्रसङ्गानुसार इन दो रोगों का भी वर्णन इन्हीं के साथ किया गया है। यहां यह शङ्का नहीं करनी चाहिए कि सुश्रुत ने "दृष्टिजा द्वादशैव तु" से दृष्टि-गत बारह रोग ही माने हैं, यदि ये भी दृष्टिगत ही ले लिए जावें, तो दृष्टिगत रोग चौदह (१४) हो जावेंगे। (उत्तर—) क्योंकि ये दोनों नेत्ररोग वस्तुतः सर्वनेत्रभाग-गत हैं, किन्तु सर्वनेत्रभागगत होने पर भी इनसे दृष्टि नष्ट होती है, अतः दृष्टि-नाशक धर्म को लेकर उनका भी उल्लेख इन्हीं के साथ कर दिया है। बाह्यौ पुनर्द्वा-वित्यादि पादद्वय से हेतुभेदद्वारा बाह्यज की द्विविधता बताई है अर्थात् नेत्ररोगों में निमित्त तथा अनिमित्त से होने वाले दो रोग बाह्य कहे हैं, से बाह्यजों में निमित्तजत्व और अनिमित्तजत्व हेतुरूप में बताया है। इनमें से पूर्व निमित्तज का लक्षण आचार्य ने 'निमित्ततस्तत्र शिरोभितापाद्' इत्यादि पादद्वय से कहा है। तदनु च अनिमित्तज में सम्भाव्य कारणता तथा उसका (अनिमित्तज का) लक्षण आचार्य ने "सुरर्षिगन्धर्वमहोरगाणाम्" इत्यादि सार्ध (१॥) श्लोक से वर्णित किया है। अब यहां यह शङ्का होती है कि जब अनैमित्तिक बाह्यज नेत्ररोग में भी सुर आदिकों का सन्दर्शन कारण रूप से माना है तो पुनः इसे अनैमित्तिक बाह्यज नेत्ररोग क्यों कहा जाता है ? इसका उत्तर यह है कि यहां निमित्त शब्द से लौकिक जनक कारण लिये जाते हैं। एवं सुर आदिकों का सन्दर्शन लौकिक जनक कारण न होने से, इनसे होने वाला बाह्यज नेत्ररोग अनैमित्तिक बाह्यनेत्ररोग कहलाता है। अथवा इसमें किसी विशेष सुर आदि का दर्शन नहीं होता जिससे निमित्त की अवधारणा नहीं होती, एवं अवधारणा न होने से इसे अनैमित्तिक कहा जाता है। अथवा अनिमित्तज शब्द से यहां आगन्तुज अर्थ लिया जाता है

और आगन्तुज का कारण दो प्रकार का होता है—एक दैविक, दूसरा भौतिक। अतएव सुश्रुत ने 'सुरर्षिगन्धर्वमहोरगाणाम्' आदि सार्ध श्लोक से दैविक आगन्तुज (अनैमित्तिक) बाह्य नेत्ररोग का लक्षण, तथा 'विदीर्यते सीदति' इत्यादि पादद्वय से भौतिक (अभिघातज) आगन्तुज बाह्यनेत्ररोग का लक्षण निर्दिष्ट किया है। माधवनिदान के टीकाकार वाचस्पति मिश्र आदिकों ने 'बाह्यौ पुनर्द्वौ' इत्यादि श्लोक के बाद तथा 'सुरर्षिगन्धर्व' इत्यादि श्लोक के पहले अभिघातज (भौतिक आगन्तुज) बाह्यनेत्ररोगलक्षणपरक 'विदीर्यते सीदति हीयते वा नृणामभिघातहता तु दृष्टिः' यह पाठ भी स्वीकार किया है। यहां यह पाठ पढ़ने से यह भी प्रतीत होता है कि उसने इसे नैमित्तिक का ही भेद माना है, किन्तु सुश्रुत में इसका पाठ अनैमित्तिक के अन्त में पठित होने से यह अनैमित्तिक का भौतिक आगन्तुज रूपभेद है। इसका अर्थ यह है कि मनुष्यों की लगुड़ आदि अभिघात के कारण हतदृष्टि विदीर्ण, अवसन्न वा म्लान तथा हीन (नष्ट) हो जाती है। यह रोग भी बाह्यनिमित्तज होने से सन्निपातान्तर्गत ही है। श्रीकण्ठदत्त ने सनिमित्तज और अनिमित्तज दोनों को ही आगन्तुज माना है और उन्होंने बाह्य शब्द का आगन्तुज अर्थ लिया है। एवं सनिमित्तज आगन्तुज निश्चित शिरोभिताप से होता है, और अनिमित्तज आगन्तुक अनिश्चित सुरादिकों के दर्शन से होता है। यह मन्तव्य युक्तियुक्त प्रतीत होता है।

मधु०—तदेवं शारीरान् द्वादश दृष्टिगतविकारानभिधाय सनिमित्तानिमित्तभेदादागन्तू बाह्यजौ नयनविकारौ (लिङ्गनाशौ) दर्शयन्नाह—बाह्यौ पुनर्द्वाविहेत्यादि। संप्रदिष्टौ कथितावौपद्रविकाध्याये 'तथा बाह्यौ पुनर्द्वौ' (सु. उ. तं. अ. १.)-इत्यादिना। बहिर्भवौ बाह्यौ, आगन्तू इत्यर्थः। तत्र सनिमित्तं दर्शयन्नाह—निमित्ततस्तत्रेत्यादि। शिरोऽभितापादिति शिरो अभि सर्वतस्तप्यते येन विषकुसुमगन्धवाहिपवनस्पर्शादिना स शिरोऽभितापस्तस्मात्, तेन समस्तंशिरस उपतापान्नयनगतरुधिराधिककोपो दृष्टेरपि शक्तेर्व्याघातः। अभिष्यन्दनिदर्शन इति रक्ताभिष्यन्दलिङ्ग इति गदाधरः, सुश्रुते रोगसंग्रहे सर्वजगणे द्वयोरप्येतयोः पाठात्; सन्निपातजाभिष्यन्दलक्षण इति कार्तिकः। अनिमित्तमाह—सुरर्षिगन्धर्वेत्यादि। अनुपलभ्यमानविशिष्टसुरादिदर्शननिमित्तमाहुः। संदर्शनेन सम्यग्दर्शनेन, हन्येत हन्तुं संभाव्येत, न त्ववश्यं हन्येतेत्यभिप्रायः। (दृष्टिरिति दर्शनमुपलब्धिरित्यर्थः, न तु दृष्टिमण्डलम्, अस्यादृष्टिगतविकारत्वात्। लिङ्गनाशप्रयोगश्चात्र रूपग्रहणाभावसामान्यान्न तु रूढ्या, तस्य चतुर्थपटलस्थतिमिर एव रूढत्वात्।) तच्चेदं दर्शनं किमभिष्यन्दवत् सकलगोलकोपघातकं तिमिरत्वाद्दृष्टिमात्रोपघातकं वेति शङ्कानिरासार्थमाह—तत्राक्षीत्यादि। विस्पष्टमिवेति पूर्वावस्थातो विशेषेण प्रसन्नमिव गोलकावच्छिन्नं चक्षुरवभासते। दृष्टिरपि वैडूर्यवर्णा श्यावा दृष्टिः प्रकृतिवर्णेत्यर्थः। विमलेति विगतकाचादिमला। अयं तात्पर्यार्थः—पूर्वावस्थातः शक्तिमात्रमुपहन्यते, यतो देवादयो ह्यवयवमदूषयन्त एव शक्तिमात्रमुपघ्नन्ति। यदुक्तं चरके,—"देवादयोऽष्टौ हि महानुभावा न दूषयन्तः पुरुषस्य देहम्। विशन्त्यदृश्यास्तरसा यथैव छायातपौ दर्पणसूर्यकान्तौ" (च. चि. स्था. अ. ६)-इति। (९

च बाह्यजौ दृष्ट्याधानविरूपणीयतया दृष्टिगतावेव, अत एव तदधिकारनिर्दिष्टौ, शारीराभिप्राये द्वादशविधत्वमुक्तं, तेन न संख्यातिरेकः,) द्वावप्येतावसाध्यौ ॥६२-६४॥ (इति दृष्टिगताः ॥)

इस प्रकार शारीरिक बारह दृष्टिगत रोगों को कहकर अब सनिमित्तज और अनि मित्तज इन आगन्तुक दो बाह्यज नेत्ररोगों (लिङ्गनाशों) को दर्शाता हुआ कहता है कि 'बाह्यौ पुनर्द्वाविह संप्रदिष्टौ' अर्थात् 'तथा बाह्यौ पुनर्द्वौ' से औपद्रविक अध्याय में प्रतिपादित 'बहिर्भवौ' का अर्थ बाह्यज अर्थात् आगन्तुज है। उनमें से सनिमित्तबाह्यज नयनरोग को बताता हुआ कहता है कि 'निमित्ततस्तत्र शिरोऽभितापात्' का, विषैले पुष्प की गन्ध को वहन करने वाली वायु के स्पर्श से जो सम्पूर्ण सिर दुःखित होता है उसे शिरोभिताप कहते हैं उस शिरोऽभिताप से, यह अर्थ होता है। इसलिए सम्पूर्ण सिर के उपताप से नयनगत रक्त का अधिक प्रकोप और दृष्टि की शक्ति का भी व्याघात (नाश) होता है । 'अभिष्यन्दनिद र्शनः' से गदाधर, रक्ताभिष्यन्द के से लक्षणों वाला, यह अर्थ लेता है, किन्तु सुश्रुतप्रतिपा दित रोग संग्रह में इन दोनों का पाठ सर्वगतरोगगण में होने के कारण कार्तिक 'अभिष्यन्द लक्षणः' से सन्निपातज अभिष्यन्द के से लक्षणों वाला, यह अर्थ लेता है। अब अनिमित्तक को कहते हैं कि—सुरर्षिगन्धर्वेत्यादि। किसी विशेष देवता के दर्शन का न होना ही इसमें निमित्त है, अथवा किसी विशेष देवता के दर्शन बिना होने वाला (यह रोग अनिमित्तज कहलाता है), ऐसा कई आचार्य कहते हैं। (लिङ्गनाशेत्यादि—) इसमें लिङ्गनाश शब्द का प्रयोग रूपग्रहण न होने की समता को लेकर किया है न कि रूढ़ि के अनुसार क्योंकि रूढ़ि से उसका (लिङ्गनाश का) प्रयोग चतुर्थ पटल में होने वाले तिमिर में ही प्रसिद्ध है और यहां यह दर्शन (चक्षु) क्या अभिष्यन्द की तरह सम्पूर्ण गोलक को नष्ट करने वाला है, वा तिमिर होने से केवल दृष्टि को ही नष्ट करने वाला है ? इस शंका का निवारण करने के लिए कहते हैं कि—तत्राक्षीत्यादि। यहां 'विस्पष्टमिवावभाति' का अर्थ पहले से भी अधिक साफ गोलक से युक्त चक्षु प्रतीत होती है, यह है। दृष्टि भी यहां वैडूर्यवर्ण अर्थात् प्रकृतवर्ण की होती है। विमल—काचादि मल रहित। तात्पर्यार्थ यह है कि पूर्वावस्था से इसमें केवल दृष्टि ही नष्ट होती है क्योंकि देव आदि अवयवों को दूषित न करते हुए ही केवल शक्तिमात्र को नष्ट करते हैं। जैसे चरक में कहा भी है कि—यह निश्चित है कि महानुभाव देवतादि आठों ग्रह पुरुष के शरीर को दूषित न करते हुए शीघ्र अदृश्यावस्था में ही उसमें प्रविष्ट हो जाते हैं, जैसे कि दर्पण और सूर्यकान्तमणि को दूषित न करती हुई छाया और धूप (क्रमशः) उनमें प्रविष्ट हो जाती है। भाव यह कि जैसे छाया दर्पण (शीशे) में और आतप सूर्यकान्तमणि में उन्हें हानि न पहुंचाती हुई शीघ्र ही अदृश्यावस्था से प्रविष्ट हो जाती है, वैसे देवादि आठों ग्रह मनुष्य के शरीर को हानि न पहुंचाते हुए उसमें शीघ्र अदृश्यावस्था से ही प्रविष्ट हो जाते हैं। ये बाह्यज दोनों रोग दृष्टि को नष्ट करने के कारण दृष्टिगत ही हैं और इसी लिए आचार्य ने इनका निर्देश दृष्टिगत रोगाधिकार में ही किया है और जो दृष्टिगत रोगों की द्वादश संख्या कही है, वह शारीरिक दृष्टिगत रोगों को लक्ष्य रख कर कही है (और ये दोनों आगन्तुज हैं)। अतः इनको मिला कर संख्या के बढ़ जाने पर भी संख्यातिरेक दोष नहीं आता। ये दोनों (निमित्तज और अनिमित्तज) रोग ही असाध्य हैं।

प्रस्तार्यर्मस्वरूपमाह—

प्रस्तार्यर्म तनु स्तीर्णं श्यावं रक्तनिभं सिते।

नेत्र के श्वेत भाग में होने वाला प्रस्तार्यर्म (प्रस्तारि अर्म) विरल .(सूक्ष्म), विस्तीर्ण (प्रसरयुक्त), श्याव (सुफेदी लिए हुए काला) और रक्त की सी प्रभा वाला होता है।

वक्तव्य—भाव यह है कि नेत्र के श्वेत भाग में होने वाला जो अर्म पतला, विस्तृत, श्याव एवं रक्तप्रभ होता है, उसे प्रस्तारि अर्म कहा जाता है। इसका लक्षण विदेह ने यह माना है कि—'समन्ताद्विस्तृतः श्यावो रक्तो वा मांससञ्चयः। सन्निपातेन दोषाणां प्रस्तार्यर्म तदुच्यते'। सुश्रुत ने इसे इस प्रकार से लक्षित किया है। तद्यथा—'प्रस्तारि प्रथितमिहार्म शुक्लभागे विस्तीर्णं तनु रुधिरप्रभञ्च' (सु. उ. तं. अ. ४)। यह रोग त्रिदोषज, साध्य एवं छेद्य है।

मधु०—अथ मण्डलगतनिदानाभिधानपारिशेष्याद् दृष्टिगतानन्तरं शुक्लमण्डलवर्त्म-पक्ष्ममण्डलगतानां निदानाभिधानावसरप्राप्तौ वर्त्मादिमण्डलप्रतियोगितया शुक्लमण्डलस्यान्तर्गतत्वात् सौकुमार्येणान्तरं कृत्वा च निदानोद्देशारम्भः। तत्र प्रस्तारिशब्दाभिधानस्यार्मणो लक्षणमाह—प्रस्तारीत्यादि। प्रस्तारीति लक्ष्यं, शेषं लक्षणम्। तनु अवहलम्। स्तीर्णं विततम् (श्यावमीषन्नीलम्। रक्तनिभं रक्तवर्णम्। अत्र श्यावरक्तयोर्विरोधात् समुच्चयाभावेन विकल्पः। अत एवाह निमिः,—"समन्ताद्विस्तृतः श्यावो रक्तो वा मांससंचयः। सन्निपातेन दोषाणां प्रस्तार्यर्मतदुच्यते"—इति। गदाधरेणेषन्नीललोहितवर्णसमुच्चय एव दर्शितः। सिते शुक्लभागे) ॥—

अब मण्डलगत रोगों के निदान का निर्देश अभी अवशिष्ट होने से दृष्टिगत रोगों के प्रतिपादनानन्तर शुक्लमण्डल, वर्त्ममण्डल और पक्ष्ममण्डल में होने वाले रोगों के निर्देश का अवसर प्राप्त होने पर (आने पर) वर्त्मादि मण्डल की प्रतियोगिता के कारण अन्तर्गत होने से सुकुमारता को लक्ष्य रख कर प्रथम शुक्लमण्डलगत रोगों के निदान का प्रारम्भ किया है। भाव यह है कि मण्डलगत रोगों के निदान का निर्देश अभी बाकी है, इस लिए नेत्रदृष्टिगत रोगों के कह चुकने पर अब शुक्ल, वर्त्म और पक्ष्मगत मण्डलों के निर्देश का अवसर आया है। अतः वर्त्म आदि मण्डलों की प्रतियोगिता के कारण शुक्लमण्डल के भीतर की ओर होने से, तथा सुकुमारता के कारण, उसे प्रथम मान (पहले) उसी के निदान का निर्देश आरम्भ किया है। उनमें से प्रस्तारि नामक अर्म का लक्षण कहते हैं कि—प्रस्तारीत्यादि। इसमें 'प्रस्तारि' पद लक्ष्य रूप में है और शेष पद लक्षण रूप में हैं। (अत्रेति—) इस लक्षण में श्याव और रक्त इन दो लक्षणों का न्यास कियाहै। इन दोनों में विरोध है, जिससे ये दोनों एक ही समय में एकत्र नहीं हो सकते। अतः विकल्प समझना चाहिए, अर्थात् कहीं कहीं (निदानादि अनुसार) रक्तता होगी और कहीं कहीं (निदानादि के अनुसार) श्यावता होगी। इसी लिए[1] निमि ने कहा है कि—'चारों ओर विस्तृत (फैला हुआ) श्याव वा रक्त वर्ण का मांस संचय (मांस का प्रचय, मांस का पिण्ड वा अर्म) दोषों के सन्निपात से होता है और यह प्रस्तारि अर्म कहलाता है'। गदाधर ने थोड़ी सी नीलिमा लिए हुए रक्त वर्ण के मांसप्रचय का होना (रूप लक्षण) दर्शाया है। सित अर्थात् श्वेत भाग में।

---

१ डल्हण ने वक्ष्यमाण पद्य को विदेह का वाक्य बताया है.

शुक्लार्मस्वरूपमाह—

सश्वेतं मृदु शुक्लार्म शुक्ले तद्वर्धते चिरात् ॥६५॥

नेत्र के शुक्लभाग में जो मांसप्रचय (कुछ) श्वेतता लिए हुए तथा कोमलता लिए हुए (उत्पन्न) होता है, वह शुक्लार्म कहलाता है । एवं उसकी वृद्धि बहुत देर बाद होती है ।

वक्तव्य—भाव यह है कि नेत्र के श्वेत भाग में होने वाला वह रोग शुक्लार्म नामक होता है, जिसमें कि मांसनिचय (कुछ) श्वेत, कोमल एवं चिरवृद्धिशील होता है । इसका लक्षण तन्त्रान्तर ने इस प्रकार कहा है कि—'शुक्लाख्यं मृदु कथयन्ति शुक्लभागे सश्वेतं सममिह (सममभि) वर्धते चिरेण' । यह रोग कफज एवं छेदन साध्य है ।

मधु०—शुक्लार्मलक्षणमाह—सश्वेतमित्यादि । सश्वेतं किंचिच्छ्वेतम् । मृदु कोमलम् । परतो वक्ष्यमाणं मांसमिति पदं सिंहावलोकनन्यायेन संबन्धनीयम् । सशब्दस्याधिकस्योपादानं सम्यक् श्वेतत्वप्रतिपादनार्थमिति कार्तिकः । शुक्ले शुक्लमण्डले । चिरात् चिरकालेन तद्वर्धते, कफजत्वात् ॥६५॥

बाद में कहे जाने वाले 'यन्मांसं' पद का सम्बन्ध सिंहावलोकन न्याय के अनुसार 'सश्वेतं' इत्यादि पद्य में भी कर लेना चाहिए । आचार्य कार्तिक कहता है कि यहां 'स' शब्द का अधिक कहना सम्यक् श्वेतता बतलाने के लिए है । यह कफज होने के कारण (मन्दगति होने से) देर बाद बढ़ता है ।

रक्तार्मलक्षणं दर्शयति—

पद्माभं मृदु रक्तार्म यन्मांसं चीयते सिते ।

नेत्र के श्वेत भाग में (पद्मपत्र के समान) रक्तवर्ण का एवं कोमल जो मांस (अर्म) उपचित होता है, वह रक्तार्म कहलाता है ।

वक्तव्य—भाव यह है कि रक्तार्म में मांसोपचय पद्मपत्राभ एवं कोमल होता है । इसी रक्तार्म को लोहितार्म भी कहा जाता है । जैसे तन्त्रान्तर में कहा भी है कि—'यन्मांसं प्रचयमुपैति शुक्लभागे पद्माभं तदुपदिशन्ति लोहितार्म' । इसे शोणितार्म भी कहते हैं । यह रोग रक्तज एवं छेदन साध्य है ।

मधु०—रक्तार्मलक्षणमाह—पद्माभमित्यादि । पद्माभमरुणपद्मपत्रनिभम् । मृदु कोमलं, सिते शुक्लमण्डले । चीयते वृद्धिमुपैति, एतद्रक्तजम् ॥—

रक्तार्मलक्षणमाह इत्यादि की भाषा सुगम है ।

अधिमांसार्मस्वरूपमाह—

पृथु मृद्वधिमांसार्म बहलं च यकृन्निभम् ।

अधिमांसार्म विस्तीर्ण, कोमल, स्थूल और यकृदाभ होता है । भाव यह है कि विस्तीर्णता, कोमलता, स्थूलता और यकृदाभता ये लक्षण अधिमांसार्म में होते हैं । यह सन्निपातज एवं छेदन साध्य है ।

मधु०—अधिमांसार्मलक्षणमाह—पृथ्वित्यादि । पृथु विततं, विस्तीर्णमित्यर्थः । बहलं स्थूलम् । लोहितत्वेन यकृन्निभं, श्याववर्णसंबन्धोऽप्यत्र ज्ञेयः, यथाऽऽह सुश्रुतः—"विस्तीर्णं मृदु बहलं यकृत्प्रकाशं श्यावं वा तदधिकमांसजार्म विद्यात्"–इति । अत्र श्यावं वेति वाशब्दः समुच्चये, तेन श्यावं लोहितं चेत्यर्थः । एतच्च त्रिदोषजं, सुश्रुते त्रिदोषजप्रकरणे पठितत्वात् ॥—

यकृन्निभम् अर्थात् लोहितपन से यकृत् के समान, यहां पर श्याववर्ण का सम्बन्ध भी जानना चाहिए। जैसे सुश्रुत ने कहा भी है कि—'विस्तीर्ण, कोमल, स्थूल, यकृदाभ और श्याववर्ण के अर्म को अधिमांसार्म जानना चाहिए' । यहां पर 'श्यावं वा' में स्थित 'वा' शब्द समुच्चय में है, इससे 'श्याव' और 'लोहित' यह अर्थ लेना चाहिये । सुश्रुत में त्रिदोषज प्रकरण में पठित होने से यह रोग त्रिदोषज है ।

स्नाय्वर्मस्वरूपमाह—

स्थिरं प्रस्तारि मांसाढ्यं शुष्कं स्नाय्वर्म पञ्चमम् ॥६६॥

कठिन, मांसबहुल, स्रावरहित एवं प्रस्तारि अर्म से होने वाला अर्म स्नाय्वर्म कहलाता है और यह अर्म पांचवां है ।

वक्तव्य—स्नाय्वर्म का लक्षण तन्त्रान्तर में इस प्रकार से है कि—'शुक्ले यत् पिशितमुपैति वृद्धिमेतत् स्नाय्वर्मेत्यभिपठितं खरं प्रपाण्डु' ।

मधु०—स्नाय्वर्मलक्षणमाह—स्थिरमित्यादि । स्थिरं कठिनम् । मांसाढ्यं बहुमांसम् । शुष्कमविस्रावि । इदं च प्रस्तार्यर्मोद्भवम् । तथा च निमिः—"प्रस्तारिणोऽर्मणः स्रावं निरुणद्धि यदाऽनिलः । विना स्रावं विशुष्कं तत्स्नाय्वर्मेति प्रकीर्तितम्"–इति । इदं तु सन्निपातजमपि साध्यम् ॥६६॥

यह अर्म प्रस्तारि अर्म से उत्पन्न होता है। जैसे निमि ने कहा भी है कि—'जब वायु प्रस्तारि अर्म के स्राव को रोक देता है तो स्रावविहीन एवं शुष्क वह अर्म स्नायु अर्म कहलाता है ।

शुक्तिकायाः स्वरूपमवतारयति—

श्यावाः स्युः पिशितनिभाश्च बिन्दवो ये
शुक्त्याभाः सितनियताः स शुक्तिसंज्ञः ।

नेत्र के श्वेत भाग में मांस के समान श्याववर्ण के सीपियों जैसे जो बिन्दु होते हैं, वे शुक्तिसंज्ञक कहलाते हैं ।

मधु०—शुक्तिकालक्षणमाह—श्यावा इत्यादि । श्यावाः पाण्डुश्यामाः, पिशितनिभा इति नियमेन भणिताः, (तेन पिशितस्येव नियमेन भा दीप्तिर्येषां ते तथा, सा च प्रभा श्यावेति समभिव्याहारेण श्याववर्णैव; नत्वत्र मांसस्योपमानत्वं पिशितनिभशब्दोऽभिधत्ते वक्ष्यमाणार्जुने रुधिरोपमशब्दवत्, मांसात्मकत्वादेव शुक्तिकायाः ।) सितनियता इति सिते शुक्लमण्डले नियताः; शुक्त्याभा जलशुक्तिनिभाः, वर्णसाम्यात; अत एव शुक्तिसंज्ञः, अयं पित्तजः । अत्र वाग्भटः,–"पित्तं कुर्यात् सिते बिन्दूनसितश्यावपीतकान् । मलाक्ता-

दर्शतुल्यं वा सर्वं शुक्लं सदाहरुक् ॥ रोगोऽयं शुक्तिकासंज्ञः सशकृद्भेदतृड्ज्वरः" (वा. उ. तं. श्र. १)–इति ॥—

(इससे पिशित की तरह है भा अर्थात् दीप्ति जिनकी वे, और वह प्रभा समभिव्याहार से श्याववर्ण की ही जाननी चाहिए न कि पिशितनिभ शब्द यहां मांस के उपमान को कहता है, क्योंकि वैसी शुक्तिकाएं वक्ष्यमाण अर्जुननामक रोग में होती हैं) यहां 'शुक्त्याभाः' से वर्ण से शुक्ति के समान, यह अर्थ लेना चाहिए। इसी कारण इस रोग का नाम भी शुक्ति (संज्ञ) है। यह रोग पित्तज है। यहां आचार्य वाग्भट कहता है कि पित्त नामक दोष नेत्र के श्वेत भाग में श्वेत, श्याव वा पीले बिन्दुओं को उत्पन्न कर देता है। मलिन दर्पण के समान अथवा सम्पूर्ण श्वेत, दाह और पीड़ा वाला, अतिसार, पिपासा तथा ज्वर से युक्त यह रोग शुक्तिसंज्ञक ही है, अर्थात् शुक्तिसंज्ञक रोग में श्वेत बिन्दु आदि स्थानिक लक्षण तथा अतिसार आदि शारीरिक लक्षण होते हैं।

अर्जुनस्य स्वरूपमाह—

एको यः शशरुधिरोपमश्च बिन्दुः
शुक्लस्थो भवति तमर्जुनं वदन्ति ॥६७॥ [सु० ६।४]

शशकीय रक्त के समान जो अकेला बिन्दु नेत्र के श्वेत भाग में स्थित होता है, उसे विद्वान् वैद्य अर्जुन कहते हैं।

मधु०—अर्जुनलक्षणमाह—एक इत्यादि । एक एव सन् यः शशरुधिरवल्लोहितो बिन्दुरूपश्च विकारस्तमर्जुनं वदन्तीत्यर्थः। उक्तं च कल्याणविनिश्चये,–"शक्रगोपनिभं शुक्लेऽर्जुनं रक्तप्रकोपतः"–इति। एतेन बिन्दुरूपत्वे नियमो नास्तीति ज्ञेयम्। अत एव रविगुप्ते,–"कृष्णभागे सितं बिन्दुं शुक्लं विद्यात् कफात्मकम्। रक्तं च शुक्लभागस्थमर्जुनं शोणितोद्भवम्"–इति ॥६७॥

एक ही होता हुआ जो शशक के रक्त की तरह रक्त और बिन्दु के रूप में होता है, उसे अर्जुन कहते हैं। कल्याणविनिश्चय में कहा भी है कि—'रक्त के प्रकोप से नेत्र के शुक्ल भाग में इन्द्रगोप (बीचकबहुटी) की तरह जो विकार होता है, वह अर्जुन कहलाता है'। इससे यह सिद्ध होता है कि अर्जुन के बिन्दुरूप होने में कोई नियम नहीं है। इसी लिए रविगुप्त में 'कृष्ण भाग में श्वेत बिन्दु को कफात्मक शुक्ल जानना चाहिए और शुक्ल भाग में स्थित रक्त (बिन्दु) को शोणितात्मक अर्जुन जानना चाहिए' यह कहा है।

पिष्टकस्य लक्षणमाह—

श्लेष्ममारुतकोपेन शुक्ले पिष्टं समुन्नतम्।
पिष्टवत् पिष्टकं विद्धि मलाक्तादर्शसंनिभम् ॥६८॥

नेत्र के शुक्ल भाग में कफ और वायु के प्रकोप द्वारा अपने (पीठी के) लेप से लिप्त पीठी के पिण्ड की तरह उभरे हुए एवं मलिन दर्पण की तरह प्रतीत होते हुए रोग को पिष्टक जानना चाहिये।

वक्तव्य—सुश्रुत ने इसे मलिन दर्पण की तरह नहीं माना और न उसने इसे श्लेष्मवातज माना है, प्रत्युत उसने तो इसे केवल श्लेष्मज ही माना है। जैसे उसने श्लेष्मजगण में कहा भी है कि—'क्रिमिग्रन्थिपरिक्लिन्नवर्त्मशुक्लार्मपिष्टकाः'।

अतएव सुश्रुत ने इसे पिष्टशुक्ल तथा सलिलवत् शुक्ल माना है, क्योंकि वायु के अभाव से इसमें मलिनता नहीं होती। सुश्रुत ने इसका लक्षण यह किया है कि—"उत्सन्नः सलिलनिभोऽथ पिष्टशुक्लो बिन्दुर्यो भवति स पिष्टकः सुवृत्तः"। कई कहते हैं कि इसे सुश्रुत ने सलिल के समान इसलिए माना है कि उस (सलिल) में श्यावता भासती है; और उसी प्रकार की श्यावता इसमें भी होती है। एवं उसके मत में भी यह कुछ श्यावता लिए हुए शुक्ल सिद्ध होता है; तथा श्यावता होने से वात का सम्बन्ध भी सिद्ध होता है, किन्तु सुश्रुत ने इसका स्पष्ट निर्देश अप्रधान होने के कारण नहीं किया। इस प्रकार इन दोनों में विरोध नहीं आता।

मधु०—पिष्टकलक्षणमाह—श्लेष्ममारुतकोपेनेत्यादि। पिष्टमिति लक्षणपदम्। पिष्टवदिति आलेपनपिष्टतुल्यं श्वेतत्वेन। पुनः पिष्टकमिति लक्ष्यपदम्। समुन्नतमुच्छूनम्। मलाक्तादर्शसंनिभमिति धूल्यादिम्रक्षितदर्पणतुल्यम्। अयं कफवातजः, अतः कफेनाच्छतया, वातेन किंचिच्छ्यावतया मलाक्तदर्पणनिभत्वमस्येत्यर्थः ॥६८॥

पिष्टकलक्षणमाह इत्यादि की भाषा सुगम है।

सिराजालस्य लक्षणमवतारयति—

जालाभः कठिनसिरो महान् सरक्तः
संतानः स्मृत इह जालसंज्ञितस्तु।

नेत्र के श्वेत भाग में होने वाला (सिरा)जालसंज्ञक रोग जाल के समान आभा वाला, कठिन सिराओं से युक्त, महत्ता से अन्वित, कुछ लालिमा वाला और आच्छन्न किए हुए होता है।

वक्तव्य—भाव यह है कि नेत्र के शुक्लभाग में जाल की सी आभा वाला, कठिन सिराओं से युक्त, महान्, लालिमा लिए हुए, एवं आच्छन्न किए हुए जो बिन्दु होता है, वह सिराजालनाम से प्रसिद्ध है।

मधु०—सिराजाललक्षणमाह—जालाभ इत्यादि। अनुलोमविलोमसिरानिचयरचितनिरन्तरविवरगवाक्षीभावात् जालस्येव आभा आकृतिर्यस्य स तथा। कठिनसिर इत्यनेन सिराणामेव संतानोऽयं विकार इति दर्शयति। सरक्त ईषल्लोहितः। संतनोति आच्छादयतीति संतानः, बहुलवचनात् कर्तरि घञ्। अत्र बिन्दुशब्दोऽनुवर्तनीयः, स सर्वत्र विशेष्यः। जालसंज्ञित इत्यत्र 'सिरापूर्व' इति शेषः, तेन सिराजालसंज्ञित इत्यर्थः। अयं च रक्तजः ॥—

सिराजाललक्षणमाह—इत्यादि की भाषा स्पष्ट ही है।

सिराजपिडकायाः स्वरूपमाह—

शुक्लस्थाः सितपिडकाः सिरावृता या-
स्ता ब्रूयादसितसमीपजाः सिराजाः।

नयनीय कृष्णभाग के समीपवर्ती शुक्लभाग में जो सिराओं से आच्छन्न (आवृत) श्वेतवर्ण की पिडकाएं होती हैं, उन्हें सिराजपिडका कहना चाहिए।

वक्तव्य—ये पिडकाएं सन्निपातज, साध्य एवं छेद्य होती हैं।

मधु०—सिराजपिडकालक्षणमाह—शुक्लस्था इत्यादि । सितपिडका इति सितवर्णाः पिडकाः । सिरावृताः सिराव्याप्ताः । असितसमीपजा इति कृष्णभागाभ्यर्णशुक्लजाः । सिरापरिवृतत्वात्सिराजाः, नतु साक्षात्सिराजाता इति गदाधरः । अयं च त्रिदोषजः, त्रिदोषजसाध्यप्रकरणे सुश्रुतेन पठितत्वात् ॥—

सिराजपिडकालक्षणमाह—इत्यादि की भाषा सरल है।

बलासग्रथितस्य स्वरूपमभिधत्ते—

कांस्याभोऽमृदुरथ वारिबिन्दुकल्पो
विज्ञेयो नयनसिते बलाससंज्ञः ॥६९॥ [सु० ६।४]

कांसी के समान आभा (कान्ति) वाला, कठिन और जलबिन्दु के समान (उभरा हुआ), बलास संज्ञक रोग नेत्र के श्वेतभाग में होता है (यह जानना चाहिए)।

वक्तव्य—अमृदुता तथा अरुजता ये दोनों ही कफ के कारण होती हैं, अतएव इसके साथ नाम का अन्वय कर दोष के नाम पर ही इस रोग का 'बलास' यह नाम रक्खा गया है। इसी लिए विदेह ने भी कहा है कि—"मारुतोत्पीडितः श्लेष्मा शुक्लभागे व्यवस्थितः। जलबिन्दुरिवोच्छूनो मृदुः कफसमुद्भवः"। माधवनिदान में उक्त पाठ के स्थान पर सुश्रुत में निम्न पाठान्तर मिलते हैं। तद्यथा—'कांस्याभो भवति सितेम्बुबिन्दुतुल्यः स ज्ञेयोऽमृदुररुजो बलासकाख्यः'। "कांस्याभो भवति सिरावृतः सिते यो बिन्दुर्वा स तु निरुजो बलासकाख्यः" इति च। यह रोग श्लेष्मज, साध्य एवं अशस्त्रकृत्य है।

मधु०—बलासग्रथितलक्षणमाह—कांस्याभ इत्यादि । कांस्यस्येवाभा दीप्तिर्यस्य स तथा सित इत्यर्थः, वारिबिन्दुरिवोच्छूनत्वात् । अमृदुः कठिनः, कफानिलजत्वात् । तथा च विदेहः,—"मारुतोत्पीडितः श्लेष्मा शुक्लभागे व्यवस्थितः। जलबिन्दुरिवोच्छूनो ह्यमृदुः कफसंभवः॥ बलासग्रथितं नाम तं शोथं वृत्तमादिशेत्"—इति । ('कोषाभ' इति कश्चित् पठति, कोषो मांसकुड्मलं तदाभस्तदाकारः, एतावताऽत्यर्थमुच्छूनत्वं प्रतिपाद्यते, वारिबिन्दुकल्प इति चेषदुच्छूनताऽपि, नयनसिते शुक्लभागे इत्यर्थः । बलाससंज्ञ इत्यत्र ग्रथितशब्दलोपः, तेन बलासग्रथित इति संज्ञा । अत्र सिरोत्पातसिराहर्षौ वाग्भटेन पठितौ । तथा हि,—"रक्तराजीनिभं शुक्ले उष्यतेऽपि सवेदनम् । अशोथाश्रूपदेहं च सिरोत्पातः सशोणितम्॥ उपेक्षितः सिरोत्पातो राजीस्ता एव वर्धयन् । कुर्यात् सास्रं सिराहर्षं तेनाक्ष्युद्वीक्षणाक्षमम्" (वा. उ. तं. अ. १०)—इति) ॥६८॥

यह रोग कफ और वात से होने के कारण अमृदु अर्थात् कठिन होता है। जैसे विदेह ने कहा भी है कि—'नेत्र के श्वेत भाग में वायु से उत्पीड़ित श्लेष्मा जब जलबिन्दु की तरह उभरा हुआ एवं कठिन हो जाता है तो उपर्युक्त कफज विकार बलासग्रन्थि नामक होता है, तथा (इसमें होने वाले) इसे शोथवृत्त (गोल) कहना चाहिए'। (अत्रेति—)

यहीं वाग्भट ने सिरोत्पात तथा सिराप्रहर्ष को भी पढ़ा है। तथाहि—'नेत्र के शुक्लभाग में होने वाला सिरोत्पात नामक रोग रक्त की रेखाओं के समान, वेदनान्वित, ऊष्मा वाला, शोथरहित, अश्रु तथा नेत्रमल वाला होता है। इस रोग की उत्पत्ति रक्त के कारण होती है। यही सिरोत्पात उपेक्षित हुआ हुआ उन रक्त की रेखाओं को बढ़ाता हुआ अश्रुयुक्त सिराप्रहर्ष रोग को उपजा देता है, जिससे कि नेत्र देख नहीं सकता'।

पूयालसस्य लक्षणमाह—

पक्वः शोथः सन्धिजो यः सतोदः
स्रवेत् पूयं पूति पूयालसाख्यः।

नेत्र की (कनीनिका) सन्धि में होने वाला तोदान्वित जो पक्वशोथ दुर्गन्धित पूय को बहाता (स्रवित करता) है, वह पूयालस नामक रोग होता है।

वक्तव्य—सन्धिगत रोग नौ होते हैं। तद्यथा—१ पूयालस, २ उपनाह, ३ पूयस्राव, ४ पैत्तिकस्राव, ५ श्लैष्मिकस्राव, ६ रक्तजस्राव, ७ पर्वणिका, ८ अलजी, ९ क्रिमिग्रन्थि। इनमें से प्रथम पूयालस का लक्षण (आचार्य ने) 'पक्वः' इत्यादि से कहा है। यह रोग सन्निपातज, साध्य, कनीनिका सन्धिगत एवं व्यध्य है।

मधु०—अथ मण्डलगतनिदानाभिधानपारिशेष्याद्वर्त्ममण्डलगतनिदानाभिधाने प्राप्ते कनीनिकासन्ध्यादीनां वर्त्ममण्डलाभियोगितयाऽन्तर्गतत्वेनान्तरङ्गत्वात् सन्धिगतनिदानोद्देशारम्भः। ते च सन्धयः षट्। यदाह सुश्रुतः,—"पक्ष्मवर्त्मगतः सन्धिर्वर्त्मशुक्लगतोऽपरः। शुक्लकृष्णगतस्त्वन्यः कृष्णदृष्टिगतस्तथा॥ कनीनिकागतो ज्ञेयः षष्ठश्चापाङ्गगः स्मृतः" (सु. उ. तं. अ. १)—इति। नासासमीपनेत्रान्तः कनीनिका; चक्षुःपुच्छस्याधो नेत्रान्तोऽपाङ्गः। तत्र पूयालसलक्षणमाह—पक्व इत्यादि। सन्धिज इति कनीनिकासन्धिजः। यदाह विदेहः,—"शोथक्लेदसमाविष्टं तोदभेदसमाकुलम्। पूयालसं तु तं विद्यात् सन्धौ कानीनिके नृणाम्"—इति। अयं त्रिदोषजः सुश्रुतेन साध्यत्रिदोषजप्रकरणे पठितत्वात्॥—

(तत्रेत्यादि—) वे सन्धियां छः होती हैं। जैसे सुश्रुत ने कहा भी है कि—१ 'पक्ष्म और वर्त्म में होने वाली सन्धि, २ वर्त्म और नेत्र के शुक्ल भाग में होने वाली सन्धि, ३ शुक्ल और कृष्ण भाग में होने वाली सन्धि, ४ कृष्ण और दृष्टि भाग में होने वाली सन्धि, ५ कनीनिकाओं में होने वाली सन्धि, और ६ अपाङ्गों में होने वाली'। नासिका के समीपवर्ती नेत्र के अन्तिम भाग को कनीनिका कहते हैं; और चक्षुपुच्छ के नीचे वाले नेत्र के अन्तिम भाग को अपाङ्ग कहते हैं। सन्धिज अर्थात् कनीनिका सन्धि में होने वाला। जैसे विदेह ने कहा भी है कि—'शोथ और क्लेद से युक्त तथा तोद और भेद से समन्वित मनुष्यों की कनीनिका सन्धि में होने वाले इस रोग को पूयालस नाम से जानना चाहिए'।

कफोपनाहस्य स्वरूपं दर्शयति—

ग्रन्थिर्नाल्पो दृष्टिसन्धावपाकी
कण्डूप्रायो नीरुजस्तूपनाहः॥७०॥ [सु० ६।२]

कृष्णमण्डल और दृष्टिमण्डल की सन्धि में होने वाली, पाकरहित, कण्डू-बहुल तथा अल्पपीड़ान्वित महान् ग्रन्थि (श्लेष्म) उपनाह संज्ञक होती है।

वक्तव्य—भाव यह कि श्लेष्मोपनाह रोग में पाकरहित, बहुत कण्डू वाली और नीरुज महान् ग्रन्थि होती है। यह रोग कफज, दृष्टिमण्डलसन्धिज, साध्य एवं भेद्य है।

मधु०—श्लेष्मोपनाहलक्षणमाह—ग्रन्थिरित्यादि। नाल्प इति महान्। अपाक ईषत्पाकः; अत एव सुश्रुतेऽल्पस्रावः पठितः। दृष्टिसन्धाविति कृष्णदृष्टिमण्डलयोः सन्धावित्यर्थः। कण्डूप्रायः कफप्रावल्यात्। नीरुजोऽल्परुज इत्यर्थः। तथाच विदेहः,—"वायुः श्लेष्माणमादाय दृष्टिसन्धौ व्यवस्थितः। अरुणं कठिनं ग्रन्थिं जनयेदल्पवेदनम्॥ श्लेष्मोपनाहं तं विद्यात्, स्रावान् वक्ष्याम्यतः परम्"–इति। वातश्लेष्मजन्यत्वेऽपि श्लेष्मप्राबल्यात् श्लेष्मोपनाहव्यपदेशः। आश्रयप्रभावादरुणत्वमत्र॥७०॥

'नीरुजः' से यहां 'अल्परुजः' यह अर्थ लेना चाहिए। जैसे विदेह ने कहा भी है कि—'श्लेष्मा को लेकर दृष्टि सन्धि में अवस्थित वायु अरुण, कठिन एवं अल्प पीड़ा वाली ग्रन्थि को उत्पन्न कर देता है। इसे श्लेष्मोपनाह जानना चाहिए। अब इसके अनन्तर पूयस्रावादि चार स्रावों को कहता हूं'। यह रोग वातश्लेष्मज होने पर भी इसमें श्लेष्मा की प्रबलता होने से, श्लेष्मोपनाह शब्द का व्यपदेश किया है। यहां अरुणता आश्रय के प्रभाव से है।

नेत्रस्रावाणां संप्राप्तिं तद्भेदांश्च दर्शयति—

गत्वा सन्धीनश्रुमार्गेण दोषाः
कुर्युः स्रावान् लक्षणैः स्वैरुपेतान्।
तं हि स्रावं नेत्रनाडीति चैके
तस्या लिङ्गं कीर्तयिष्ये चतुर्धा॥७१॥ [सु० ६।२]

वातादि दोष अश्रुवाहिनी धमनियों द्वारा सन्धियों में जाकर अपने अपने (दोष के अनुसार) लक्षणों वाले स्रावों को उत्पन्न कर देते हैं। उसी स्राव (चतुष्टय) को कई आचार्य नेत्रनाडी नाम से कहते हैं। अब मैं उस (नेत्रनाडी) का लक्षण (दोषादि के अनुसार) चार प्रकार से कहूंगा।

वक्तव्य—कई आचार्य विदेह के साथ एकवाक्यता मिलाने के लिए यहां अश्रुमार्ग से सिराओं का ग्रहण करते हैं। जैसे विदेह ने कहा भी है कि—'अश्रुस्रावः सिरा गत्वा नेत्रसन्धिषु तिष्ठति। ततः कनीनकं गत्वा चाश्रु कृत्वा कनीनके॥ ततः स्रवत्यास्रावं यथादोषमवेदनम्'। अर्थात् अश्रुस्राव सहित दोष सिराओं में से जाकर नेत्र की सन्धियों में ठहर जाता है, तदनु च कनीनिका में जा वहां अश्रु उत्पन्न कर दोषानुसार वेदनारहित स्राव को बहाने लगता है।

मधु०—चतुर्णां स्रावाणां संप्राप्तिमाह—गत्वा सन्धीनित्यादि। सन्धीनिति बहुवचननिर्देशात्सर्वनेत्रान्तर्गताश्चत्वारः सन्धयो गृह्यन्ते। अश्रुमार्गेणेति अश्रुवाहिन्यौ धमन्यौ अश्रुमार्गः

'द्वे चाश्रुवाहिन्यौ' (सु. शा. स्था. अ. ६)–इति सुश्रुतः, अश्रुवहधमनीभ्यामित्यर्थः । ननु, यद्यश्रुवहधमनीभ्यां गत्वा दोषाः स्रावानापादयन्ति, तत्कथं 'सिरानुसारिभिर्दोषैः' इत्याद्युक्ता संप्राप्तिर्न व्याहन्यते, सिराधमन्योरन्यत्वात् । उच्यते—सामान्यविशेषत्वात् संप्राप्त्यभिधानद्वयस्य; पूर्वा संप्राप्तिः सामान्यम्, इतरा च विशेष इति न विरोधः । अथवा "सिराधमनीस्रोतसामविभागः" (सु. शा. स्था. अ. ६) इति परकीयमतेन सिराधमन्योरैक्यादविरोधः । अस्मिन्नर्थे संप्राप्त्युक्त एवार्थो निष्पन्नीक्रियते । नेत्रनाडीति चैक इति वदन्तीति शेषः, अनिषेधादनुमतमिदम् (दोषाः संनिपातश्लेष्मरक्तपित्तात्मकाः । लक्षणैर्दोषलक्षणैः । उपेतान् परीतानिति । गदाधरेण 'लक्षणैः' इत्यस्य स्थाने 'सर्वतः' इति पठितं, दोषाः परीतान् स्वलक्षणैरित्यर्थविशेषादधिगन्तव्यम् । चतुर्धेति सान्निपातिककफजरक्तजपित्तजत्वभेदात्; वातजस्तु स्रावो नास्त्येव, व्याधिस्वभावात्; पित्तजगलगण्डवत्) ॥७१॥

सन्धि शब्द का बहुवचनान्त निर्देश करने से सारे नेत्र में होने वाली चारों सन्धियों का ग्रहण होता है । अश्रुमार्ग से अर्थात् दोनों अश्रुवाहिनी धमनियों रूप अश्रुमार्ग द्वारा । अश्रुवाहिनियां दो होती हैं । इसमें सुश्रुत का प्रमाण भी है कि—'द्वे चाश्रुवाहिन्यौ' । यदि दोष अश्रुवह धमनियों द्वारा जाकर स्रावों को उत्पन्न कर देते हैं, तो 'सिरानुसारिभिर्दोषैः' इत्यादि द्वारा कथित सम्प्राप्ति खण्डित क्यों नहीं होती ? क्योंकि सिरा और धमनियां भिन्न भिन्न हैं । इसका उत्तर यह है कि 'इन दोनों सम्प्राप्तियों का निर्देश सामान्य तथा विशेष के अनुसार है; इनमें से पहली सम्प्राप्ति सामान्य है और दूसरी विशेष, अतः विरोध नहीं आता । अथवा 'सिरा, धमनी तथा स्रोत एक ही होते हैं' । इस एकीय मत के अनुसार सिरा और धमनियों की एकता होने से विरोध नहीं आता । 'गत्वा सन्धीन्' इत्यादि श्लोक के अर्थ में से पूर्वप्रतिपादित 'सिरानुसारिभिः' का अर्थ निष्पन्न हो जाता है । 'चतुर्धा' शब्द से सान्निपातिक कफज, रक्तज और पित्तज स्राव लिया जाता है । व्याधि के स्वभाव से पित्तज गलगण्ड की तरह वातज स्राव नहीं होता ।

पूयास्रावस्य स्वरूपमाह—

पाकात् सन्धौ संस्रवेद्यस्तु पूयं
पूयास्रावोऽसौ गदः सर्वजस्तु ।

जो स्राव पाक के कारण सन्धि से पूय को बहाता है, वह स्राव पूयस्राव नामक रोग होता है, जिसकी कि उत्पत्ति तीनों दोषों से होती है । अथवा—जो स्राव सन्धि में पाक होने के कारण पूय को स्रवित करता है वह पूयस्राव कहलाता है, जिसकी उत्पत्ति त्रिदोष से होती है । यह भी कनीनिका सन्धि में होता है, तथा यह असाध्य है ।

मधु०—चतुर्विधस्रावमध्ये पूयास्रावलक्षणमाह—पाकादित्यादि । सर्वजस्त्रिदोषज इत्यर्थः । अस्य प्रत्याख्येयत्वादग्रेऽभिधानं, यद्यप्यन्येऽपि स्रावा असाध्यत्वेनोक्तास्तथाऽपि याप्या बोद्धव्याः । 'पाकः' इति पाठे पाकः संस्रवेत् पाकवान् शोथः स्रवेदित्यर्थः, उपचारात्; पाकस्य क्रियामात्रत्वात् ॥—

चतुर्विधस्रावमध्ये—इत्यादि की भाषा सुगम ही है ।

श्लेष्मस्रावस्य लक्षणमभिधत्ते—

श्वेतं सान्द्रं पिच्छिलं यः स्रवेत्तु
श्लेष्मस्रावोऽसौ विकारो मतस्तु।

जो विकार श्वेत, घन एवं पिच्छिल स्राव को बहाता है, वह श्लेष्मस्राव होता है।

वक्तव्य—भाव यह है कि श्वेतस्रावादि लक्षण श्लेष्मस्राव के हैं। यह भी असाध्य है।

मधु०—श्लेष्मस्रावलक्षणमाह—श्वेतमित्यादि। सान्द्रं घनम् ॥७२॥

श्लेष्मस्रावलक्षणमाह—इत्यादि की भाषा सरल है।

रक्तस्रावस्य स्वरूपमवतारयति—

रक्तस्रावः शोणितोत्थो विकारः
स्रवेद् दुष्टं तत्र रक्तं प्रभूतम्।

दुष्ट रक्त के कारण उत्पन्न होने वाले रक्तस्राव नामक विकार में दुष्ट एवं अत्यधिक रक्त बहता (स्रवित होता) है।

वक्तव्य—भाव यह है कि रक्तस्राव में दुष्ट तथा अधिक रक्त स्रवित होता है और दुष्ट एवं अधिक रक्तस्रवण ही रक्तस्राव का लक्षण है। यहां सुश्रुत में इस प्रकार का पाठान्तर मिलता है—'रक्तस्रावः शोणितोत्थः सरक्तमुष्णं नाल्पं संस्रवेन्नातिसान्द्रम्'। यह भी असाध्य है।

मधु०—रक्तस्रावलक्षणमाह—रक्तस्राव इत्यादि। रक्तकृतः स्रावो रक्तस्रावः (रक्तस्राव इत्यनेनैव स्रवेदित्यस्य लब्धत्वात्तदुक्तिनिरन्तरस्रावप्रतिपादनार्थमिति कार्तिकः। न चैतत् प्रभूतमित्यनेन गतार्थम्, अनिरन्तरतयाऽपि प्रभूतस्रावसंभवात्)। रक्तस्राव इत्यनेनैव रक्तजत्वे सिद्धे शोणितजो विकार इति यदुच्यते तदत्यन्तकुपितरक्तजत्वप्रतिपादनार्थम्। कार्तिकस्त्वाह—पित्तलिङ्गपरिग्रहार्थं, पित्तेन सह तुल्यत्वाद्रक्तस्य। तथाच क्वचित् पाठः 'रक्तस्रावः पित्तलिङ्गैरुपेतः' इति ॥—

रक्तस्रावलक्षणमाह—इत्यादि की भाषा सुगम है।

पित्तस्रावं लक्षयति—

हरिद्राभं पीतमुष्णं जलाभं
पित्तात्स्रावः संस्रवेत् सन्धिमध्यात् ॥७३॥

पैत्तिकस्राव कनीनिका सन्धि में से, हरिद्रा के समान पीतलोहित वर्ण वाले वा पीतवर्ण वाले, उष्ण एवं जल की तरह निर्मल स्राव को बहाता है।

वक्तव्य—सुश्रुत में इस प्रकार का पाठान्तर मिलता है। यथा—'पीताभासं नीलमुष्णं जलाभं पित्तात्स्रावः संस्रवेत् सन्धिमध्यात्'। यह भी असाध्य है।

मधु०—जलस्रावपर्यायस्य पित्तस्रावस्य लक्षणमाह—हरिद्राभमित्यादि। हरिद्राभं पीतलोहितं बोद्धव्यं, परतः पीतमित्यस्योक्तेः (जलाभमिति जलवत् स्वच्छम्। उष्णमिति सर्व-

नैव संबध्यते। केचित् 'पीतं' इत्यस्य स्थाने 'नीलं' इति पठन्ति। यत्तु 'जलाभं' इत्यस्य स्थाने 'जलं वा' इति तदसंगतं, सुश्रुतेनोद्देशावसरे जलस्रावनामतयाऽस्योद्देशात्, तद्धि नाम जलवदास्रावोऽस्येति योगतः समावेशितम्। यदा तु 'जलं वा' इति पाठः स्यात्तदा कदाचिज्जलाभता स्यादिति न सर्वत्र योगव्याप्तिरिति) सन्धिमध्यादित्यविशेषोक्तेः सर्वसन्धिमध्यादिति बोद्धव्यम्। ननु, वातजस्रावः कुतो नोक्तः, वातेन स्रावाभावादिति चेत्; नैवं, वाताभिष्यन्दे शिशिराश्रुतेत्युक्तेर्वातजोऽपि स्रावो दर्शितः। उच्यते, विशिष्टेऽक्षिप्रदेशे केवलवायोः स्रावजनकत्वं संबन्धितव्यमभिधानात्। विदेहेऽपि चत्वार एवोक्ताः,-"सन्निपातात् कफाद्रक्तात् पित्तात् स्रावोऽक्षिसन्धिषु"-इति ॥७३॥

जलस्रावपर्यायस्य पित्तस्रावस्य लक्षणमाह—आदि की भाषा सुगम है।

पर्वणीलक्षणमाह—

ताम्रा तन्वी दाहशूलोपपन्ना
रक्ताज्ज्ञेया पर्वणी वृत्तशोथा।
जाता सन्धौ कृष्णशुक्ले-

रक्त के कारण कृष्ण और शुक्ल की सन्धि में होने वाली ताम्रवर्ण की, आकृति में छोटी, दाहयुक्त, शूलान्वित, वर्तुल एवं शोथ वाली वा गोल शोथ वाली (पिडका विशेष) पर्वणी नामक जाननी चाहिए। यह रोग भी असाध्य है।

मधु०—तदेवमसाध्यानां चतुर्णां स्रावाणां लक्षणमभिधाय पर्वणीलक्षणमाह—ताम्रेत्यारभ्य कृष्णशुक्ल इत्यन्तेन। इयं रक्तजा कफानिलजा च, रक्तजत्वमत्र सुश्रुते दर्शितमाधिक्येन॥—

तदेवेत्यादि की भाषा सुगम है।

अलजीस्वरूपमाह—

ऽलजी स्यात्
तस्मिन्नेव ख्यापिता पूर्वलिङ्गैः ॥७४॥

उसी शुक्ल और कृष्ण भाग की सन्धि में होने वाली, पूर्वोक्त (पर्वणी के) लक्षणों से प्रसिद्ध (अर्थात् उसके से लक्षणों वाली) पिडकाविशेष अलजी कहलाती है। अर्थात् अलजी पर्वणी के से स्थान तथा लक्षणों वाली होती है।

मधु०—अलजीलक्षणमाह—अलजी स्यादित्यादि। तस्मिन्नेवेति शुक्लकृष्णसन्धौ, पूर्वलिङ्गैः पर्वणीलक्षणैरुपेतेत्यर्थः। ननु, एवं सति स्थानलक्षणयोरभेदेनानयोरभेदः स्यादिति चेत्; नैवं, तनुत्वस्थूलत्वाभ्यां पर्वणिकालज्योर्भेदात्। तथाच विदेहः,-"शुक्लकृष्णान्तसन्धौ तु चीयन्तेऽसृक्कफानिलाः। पर्वणीपिडका तैस्तु जायते त्वङ्कुरोपमा॥ ताम्रा सदाहचोषोष्णपीतकाश्रुसमाकुला। कफपित्ते तु संमूर्च्छ्य सह रक्तेन मारुतः॥ शुक्लकृष्णान्तसन्धौ तु जनयेद्गोस्तनाकृतिम्। पिडकामलजीं तां तु विद्धि तोदाश्रुसंकुलाम्"-इति। कार्तिकस्त्वभेदानुपपत्तिं शङ्कमानः पूर्वलिङ्गैरित्यन्यथा व्याचष्टे—पूर्वोक्तायाः प्रमेहपिडकाया अलज्या लिङ्गैरित्यर्थः। इयं त्रिदोषजा असाध्या च ॥७४॥

यदि इन दोनों के स्थान और लक्षण अभिन्न हैं, तो इनमें भी अभेद होगा ? इसका उत्तर यह है कि पर्वणिका और अलजी का भेद सूक्ष्मता और स्थूलता के अनुसार है, अर्थात पर्वणिका सूक्ष्म और अलजी स्थूल होती है। जैसे विदेह ने कहा भी है कि—शुक्ल और कृष्ण भाग की सन्धि में रक्त, कफ और वायु इकट्ठे हो जाते हैं, तदनु उनसे अङ्कुर के समान पर्वणी नामक पिडका उत्पन्न हो जाती है, जो कि ताम्रवर्ण की तथा दाह, चोष, ऊष्मा, और पीतकाश्रुता से आकुल होती है। रक्त के साथ मिलित वायु कफ और पित्त को मूर्च्छित कर कृष्ण और शुक्ल भाग की सन्धि में द्राक्षा के समान आकृति वाली पिडका को उपजा देता है। इस तोद और अश्रुओं से व्याप्त पिडका को अलजी नाम से जानना चाहिए। यह त्रिदोषज एवं असाध्य है।

क्रिमिग्रन्थिस्वरूपमवतारयति—

क्रिमिग्रन्थिर्वर्त्मनः पक्ष्मणश्च
कण्डूं कुर्युः क्रिमयः सन्धिजाताः।
नानारूपा वर्त्मशुक्लान्तसन्धौ
चरन्त्यन्तर्लोचनं दूषयन्तः ॥७५॥ [सु० ६।२]

क्रिमिग्रन्थि नामक रोग वर्त्म तथा शुक्ल भाग की सन्धि में होता है और उसी क्रिमिग्रन्थि में उत्पन्न हुए अनेक प्रकार के कृमि वर्त्म और पक्ष्म की सन्धि में प्राप्त होकर खुजली कर देते हैं, तदनु च अन्दर से लोचन को दूषित करते हुए भक्षण करते रहते हैं।

मधु०—क्रिमिग्रन्थिलक्षणमाह—क्रिमिग्रन्थिरित्यादि। (प्रथमं वर्त्मशुक्लयोः सन्धौ भूत्वा क्रमेण वर्त्मनः पक्ष्मणश्च सन्धिजाताः संभावितं प्राप्ताः क्रिमयो यत्र कण्डूं कुर्युः स क्रिमिग्रन्थिः। स चायं क्रिमिग्रन्थिर्वर्त्मशुक्लयोः सन्धौ भवति, तथैव भूत्वा अन्तर्लोचनं नयनस्याभ्यन्तरं चरन्ति भक्षयन्ति, दूषयन्तः सन्त इत्यर्थः। अत्रैव विदेहः,–"वर्त्मशुक्लस्य सन्धौ तु ग्रन्थिः पित्तकफात्मकः। ऊष्मणा पच्यते गाढं तत्र मूर्च्छन्ति जन्तवः ॥ सुसूक्ष्मजातचरणा वर्त्मपक्ष्मसमाश्रयाः। ततस्ते पूयसंसृष्टाः पतन्ति क्रिमयस्तथा ॥ लक्षणैर्विविधैर्युक्ताः सन्निपातसमुत्थिताः। क्रिमिग्रन्थिं तु तं विद्याद्देहिनां नेत्रदूषणम्"–इति। कार्तिकस्त्वन्यथा पठित्वा व्याचष्टे—) वर्त्मनः पक्ष्मणश्चापि कण्डूं कुर्युरित्यभिधानात् क्रिमिग्रन्थिः पक्ष्मवर्त्मसन्धौ भवतीति गम्यते, कथमन्यथाऽन्यत्रावस्थितैः क्रिमिभिरन्यत्र कण्डूर्जन्यते इति। एतच्च न सम्यक्, वर्त्मशुक्लान्तःसन्धाविति विरोधप्रसंगात् ॥७५॥

क्रिमिग्रन्थिलक्षणमाह इत्यादि की भाषा सुगम है। (इति सन्धिगताः ॥)

उत्सङ्गपिडकायाः स्वरूपमाह—

अभ्यन्तरमुखी ताम्रा बाह्यतो वर्त्मनश्च या।
सोत्सङ्गोत्सङ्गपिडका सर्वजा स्थूलकण्डुरा ॥७६॥

जो पिडका वर्त्म के बाहर की ओर स्थित सी प्रतीत होती है तथा जो अन्दर की ओर मुख वाली, ताम्रवर्ण की, मुटाई लिए हुए एवं कण्डूयुक्त होती है, वह तीनों दोषों से होने वाली उत्सङ्गपिडका कहलाती है।

वक्तव्य—वर्त्मगतरोग एकविंशति (२१) होते हैं। इनकी विशेष सम्प्राप्ति सुश्रुत ने इस प्रकार कही है—'पृथक् दोषाः समस्ता वा यदा वर्त्मव्यपाश्रयाः। सिरा व्याप्यावतिष्ठन्ते वर्त्मस्वधिकमूर्च्छिताः॥ विवर्ध्य मांसं रक्तं च तदा वर्त्मव्यपाश्रयान्। विकाराञ्जनयन्त्याशु नामतस्तान्निबोधत'। यह उत्सङ्गिनी पिडका सन्निपातज, साध्य एवं लेख्य है। सुश्रुत में पाठान्तर भी है कि—'अभ्यन्तरमुखी वाह्योत्सङ्गेऽधोवर्त्मनश्च या। विज्ञेयोत्सङ्गिनी नाम तद्रूपपिडका चिता'।

मधु०—अथ सन्धिगतरोगाभिधानानन्तरं पारिशेष्याद्वर्त्मशुक्लान्तःसन्धावित्यत्र वर्त्मनिर्देशेन तद्गतरोगनिदानारम्भः। नयनगोलकावरकं निमेषोन्मेषाश्रयं पटलद्वयं वर्त्म उच्यते। सुश्रुते प्रथमोद्दिष्टत्वेनोत्सङ्गपिडकालक्षणमाह—अभ्यन्तरमुखीत्यादि। वर्त्मन एवाभ्यन्तरे मुखं यस्याः सा तथा (ननु, कथं वाह्यत इति? उच्यते, वास्तूत्सेधेन वहिरप्युन्नततया दर्शनाद्वाह्यत्वं, न तु वाह्यमुखत्वेन)। वाह्यत इति सप्तम्यर्थे तसिल्, एवं वर्त्मन इत्यत्रापि। इयं विदेहसंवादादधरवर्त्मान्तर्जाता बोध्या। ताम्रा ताम्रवर्णा। सोत्सङ्गा सा उत्सङ्गा उत्सङ्गिनी, अर्शआदित्वादच्। उत्सङ्गपिडकेति उत्सङ्गे क्रोडे वह्वयः पिडका यस्याः सा। (अन्ये तु सोत्सङ्गा क्रोडीकृतपूया। उत्सङ्गपिडकेति नामेदम्। तत्रापि कुक्कुटाण्डरसपूयता चकाराद्बोद्धव्या) स्थूलकण्डुरेति स्थूला चासौ कण्डुरा चेति कर्मधारयः, कण्डुरा कण्डुमती, दोषाणां कफप्रावल्यात्। चकारेणात्र विदेहोक्तकाठिन्यादि संगृहीतम्। तथाच विदेहः,—"वर्त्मोत्सङ्गेऽधरे जन्तोः सन्निपातात् प्रजायते। अभ्यन्तरमुखी स्थूला वाह्यतश्चापि दृश्यते। पिडका पिडकाभिश्च चिताऽन्याभिः समन्ततः। उत्सङ्गपिडका नाम कठिना मन्दवेदना॥ सा प्रभिन्ना स्रवेत् स्रावं कुक्कुटाण्डरसोपमम्"—इति। सर्वजेति सन्निपातभवा॥७६॥

अर्थेत्यादि की भाषा सरल ही है।

कुम्भीकायाः स्वरूपमाह—

वर्त्मान्ते पिडका ध्माता भिद्यन्ते च स्रवन्ति च।
कुम्भीकावीजप्रतिमाः कुम्भीकाः सन्निपातजाः॥७७॥

नेत्र के वर्त्मान्त प्रदेश में भिन्न होने पर पुनः २ भर जाने वाली पिडकाएं फट जाती हैं और स्राव बहाती हैं। वे पिडकाएं अनार के दाने बराबर होती हैं। इनका नाम कुम्भीका होता है तथा इनकी उत्पत्ति सन्निपात से होती है।

वक्तव्य—सुश्रुत ने इसके लक्षण में इस प्रकार का पाठान्तर माना है। यथा—'कुम्भीकवीजप्रतिमाः पिडका यास्तु वर्त्मजाः। आध्मापयन्ति भिन्ना याः कुम्भीकपिडकास्तु ताः'। यह त्रिदोषज, लेख्य एवं साध्य है।

मधु०—कुम्भीकालक्षणमाह—वर्मान्त इत्यादि। पिडका इति वहुवचननिर्देशाद्वह्व्यः, भिद्यन्ते विदीर्यन्ते तथा स्रवन्ति च। ध्माता इति भिद्यमानाः स्वयमेव पूर्णोदरा भवन्तीति ध्माताः। कुम्भीकावीजप्रतिमा इति कुम्भीका कच्छदेशोद्भवा दाडिमफलाकारफला लता, तद्बीजेन प्रतिमा यासां ता इत्यर्थः; अन्ये 'कुम्भीकवीजसदृशा' इति पठन्ति, तत्र कुम्भीकः कुम्भाण्डलता, तद्वी-

जमपि दाडिमफलवीजाकारं; तत्सदृशाः पिडका उच्यन्ते । कुम्भीशब्दात् 'इवे प्रतिकृतौ' इति कन् । एषा त्रिदोषजा असाध्या च ॥७७॥

कुम्भीकालक्षणमाह इत्यादि की भाषा सरल है ।

पोथकीनां स्वरूपमवतारयति—

स्राविण्यः कण्डुरा गुर्व्यो रक्तसर्षपसंनिभाः ।
रुजावत्यश्च पिडकाः पोथक्य इति कीर्तिताः ॥७८॥

स्राव वाली, कण्डूयुक्त, गौरवान्वित्त, रक्तसर्षप के समान और पीड़ा वाली पिडकाएं पोथकी नाम से प्रसिद्ध हैं ।

वक्तव्य—ये पिडकाए कफज, साध्य एवं लेख्य हैं ।

मधु०—पोथकीनां लक्षणमाह—स्राविण्य इत्यादि । स्राविण्यो वहुस्रावाः । गुर्व्य इति गौरवयुताः । रुजावत्य इति रक्तसंवन्धात् कफजा अपि वेदनान्विताः ॥७८॥

पोथकीनां इत्यादि की भाषा सरल है ।

वर्त्मशर्करायाः स्वरूपमाह—

पिडका या खरा स्थूला सूक्ष्माभिरभिसंवृता ।
वर्त्मस्था शर्करा नाम स रोगो वर्त्मदूषकः ॥७९॥

नेत्र के वर्त्म भाग में होने वाली खरस्पर्श, स्थूल एवं छोटी छोटी पिडकाओं से व्यावृत जो पिडका होती है, वह वर्त्मशर्करा नाम से कहलाती है, तथा वर्त्म को दूषित करने वाली होती है ।

वक्तव्य—सुश्रुत में इसका पाठान्तर 'पिडकाभिः सुसूक्ष्माभिर्घनाभिरभिसंवृता । पिडका या खरा स्थूला सा ज्ञेया वर्त्मशर्करा ॥' यह मिलता है । वर्त्मशर्करा सन्निपातजा, साध्या एवं लेख्या है ।

मधु०—वर्त्मशर्करालक्षणमाह—पिडका येत्यादि । खरा खरस्पर्शा । सूक्ष्माभिरभिसंवृतेति सूक्ष्माभिः प्रकरणात्पिडकाभिर्वेष्टिता । अत्रैव विदेहः,—"सुसूक्ष्मपिडकाकीर्णा या स्थूला पिडका खरा । जायते सन्निपातात्तु वर्त्मशर्करिकेति सा"—इति ॥७९॥

(अत्रैवेति—) यहीं पर विदेह ने भी कहा है कि छोटी छोटी पिडकाओं से आकीर्ण जो खरस्पर्श वाली स्थूलपिडका होती है, वह वर्त्मशर्करा कहलाती है, तथा उसकी उत्पत्ति सन्निपात से होती है । शेष सरल है ।

अर्शोवर्त्मस्वरूपमाह—

एर्वारुवीजप्रतिमाः पिडका मन्दवेदनाः ।
श्लक्ष्णाः खराश्च वर्त्मस्थास्तदर्शोवर्त्म कीर्त्यते ॥८०॥

नेत्र के वर्त्म भाग में ग्रीष्मकर्कटी (ककड़ी) वीज के समान आकृति वाली, मन्द पीड़ा वाली, कोमल वा खरस्पर्श वाली जो पिडका होती है, वह अर्शोवर्त्म नाम से प्रसिद्ध है ।

वक्तव्य—श्लक्ष्ण और खर का परस्पर विरोध होने से कई आचार्य 'श्लक्ष्णाः' के स्थान पर 'सूक्ष्माः' यह पाठान्तर मानते हैं। एवं इसका सम्बन्ध 'एर्वारुबीजप्रतिमाः' के साथ लगाना चाहिए। यह रोग त्रिदोषज, साध्य एवं छेद्य है।

मधु०—अर्शोवर्त्मलक्षणमाह—एर्वारुबीजेत्यादि । एर्वारुः ग्रीष्मकर्कटी । श्लक्ष्णा अकर्कशा । वर्त्मस्था इत्यविशेषिताभिधानादन्तर्बहिश्च वर्त्मनो भवतीति गम्यते । इयं सन्निपातजा । तथाच निमिः,-"नीरुजा कठिना वर्त्मपक्ष्मान्तर्बाह्यतोऽपि वा । पिडका सन्निपातेन तदर्शोवर्त्म निर्दिशेत्"-इति ॥८०॥

अर्शोवर्त्मलक्षणमाह इत्यादि की भाषा सरल है।

शुष्कार्शसः स्वरूपमाह—

दीर्घाङ्कुरः खरः स्तब्धो दारुणोऽभ्यन्तरोद्भवः ।
व्याधिरेषोऽभिविख्यातः[1] शुष्कार्शो नाम नामतः ॥८१॥ [सु० ६।३]

लम्बे लम्बे अङ्कुरों वाली, कर्कश, कठिन, अतिकष्टप्रद और वर्त्म के अन्दर की ओर होने वाली यह व्याधि शुष्कार्श के नाम से विख्यात है।

वक्तव्य—यह व्याधि त्रिदोषज, साध्य एवं छेद्य है।

मधु०—शुष्कार्शोलक्षणमाह—दीर्घाङ्कुर इत्यादि । खरः कर्कशः । स्तब्धः कठिनः, शुष्कत्वात् । दारुणः बहुदुःखदत्वात् । अभ्यन्तरोद्भव इति वर्त्माभ्यन्तरस्थितः । अभिविख्यातः कथितः । नामतः प्रसिद्धितः । सन्निपातजमिदम् । अत्र विदेहः-"वर्त्माभ्यन्तर्गतं त्वर्शः शुष्कं स्थूलं च दारुणम् । जायते सन्निपातेन तच्छुष्कार्शः प्रकीर्तितम्"-इति ॥८१॥

यह व्याधि त्रिदोषज है। यहां विदेह ने भी कहा है कि—'वर्त्म के अन्दर की ओर उत्पन्न हुआ २ अर्श (अङ्कुर) शुष्क, स्थूल एवं दारुण होता है। इसकी उत्पत्ति सन्निपात से होती है और यह शुष्कार्श नाम से प्रसिद्ध है'।

अञ्जननामिकायाः स्वरूपमाह—

दाहतोदवती ताम्रा पिडका वर्त्मसंभवा ।
मृद्वी मन्दरुजा सूक्ष्मा ज्ञेया साऽञ्जननामिका ॥८२॥ [सु० ६।३]

नेत्र के वर्त्म भाग में होने वाली, दाहयुक्त, तोदान्वित, ताम्रवर्ण और मन्दपीड़ा वाली, कोमल एवं सूक्ष्म पिडका अञ्जननामिका होती है।

वक्तव्य—यह पिडका रक्तजा, साध्या एवं भेद्या है।

मधु०—अञ्जननामिकालक्षणमाह—दाहतोदवतीत्यादि । इयं रक्तजा ॥८२॥

अञ्जननामिकालक्षणमाह इत्यादि की भाषा सुगम है।

बहुलवर्त्मस्वरूपमभिधत्ते—

वर्त्मोपचीयते यस्य पिडकाभिः समन्ततः ।
सवर्णाभिः स्थिराभिश्च[2] विद्याद्बहुलवर्त्म[3] तत् ॥८३॥ [सु० ६।३]

१ व्याधिरेव समाख्यातः. २ समाभिश्च. ३ ०बहलवर्त्म.

जिस मनुष्य का वर्त्मभाग चारों ओर से त्वचा के समान वर्ण वाली ए
स्थिर पिडकाओं से उपचित (व्याप्त) हो जाता है, उसे बहुलवर्त्म जानना चाहिए

वक्तव्य—यह रोग सन्निपातज, साध्य एवं लेख्य है।

मधु०—बहुलवर्त्मलक्षणमाह—वर्त्मोपचीयत इत्यादि। सवर्णाभिस्त्वक्समानवर्णाभिः एतत् सन्निपातादेव ॥८३॥

बहुलवर्त्मलक्षणमाह इत्यादि की भाषा सुगम है।

वर्त्मबन्धकस्य स्वरूपमाह—

कण्डूमताऽल्पतोदेन वर्त्मशोथेन यो नरः।
न स संछादयेदक्षि यत्रासौ वर्त्मबन्धकः ॥८४॥

जिस नेत्रगत (वर्त्म) रोग में मनुष्य कण्डू (खुजली) वाले, अल्पतोद युक्त वर्त्मशोथ से नेत्र को बन्द नहीं कर सकता, वह रोग वर्त्मबन्धक कहलाता है।

वक्तव्य—यह रोग सन्निपातज, साध्य एवं लेख्य है।

मधु०—वर्त्मबन्धकलक्षणमाह—कण्डूमतेत्यादि । वर्त्मशोथेनोपलक्षितो नरः स चक्षुर्न संछादयेत् सम्यक् छादयितुं न शक्नुयादित्यर्थः। एष सन्निपातजः ॥८४॥

वर्त्मबन्धकेत्यादि की भाषा सरल है।

क्लिष्टवर्त्मस्वरूपमाह—

मृद्वल्पवेदनं ताम्रं यद्वर्त्म सममेव च।
अकस्माच्च भवेद्रक्तं क्लिष्टवर्त्मेति तद्विदुः ॥८५॥ [सु० ३।३]

कोमल, अल्पवेदना वाला, ताम्रवर्ण का जो वर्त्मयुगल एक ही समय में अकस्मात् रक्त हो जाता है, उसे विद्वान् क्लिष्टवर्त्म कहते हैं।

वक्तव्य—कहीं २ पर सुश्रुत में 'अकस्माच्च स्रवेद्रक्तम्' यह पाठ भी मिलता है, इसे पञ्जिकाकार नहीं मानता। 'अकस्माच्च भवेद्रक्तम्' अर्थात् (उद्भूत) कारण के बिना ही दोनों नेत्र रक्तवर्ण के हो जाते हैं। जैसे विदेह ने भी कहा है कि—"श्लेष्मदुष्टेन रक्तेन क्लिष्टमांसमिवोभयम्। बन्धुजीवनिभं वर्त्म क्लिष्टवर्त्म तदुच्यते"। यह रोग रक्तज, साध्य एवं लेख्य है।

मधु०—क्लिष्टवर्त्मलक्षणमाह—मृद्वल्पवेदनमित्यादि । रक्तजत्वेऽप्यस्याल्पवेदनत्वम् बाधककफदूषितत्वाद्रक्तस्य। (वर्त्मेति विदेहदर्शनाद्वर्त्मद्वयं ग्राह्यम्, अत एव समं युगपदेवेत्यर्थः। अकस्मादित्यहेतोरनियमेनैवेत्यर्थः। ताम्रमित्यनेनोपात्तेऽपि लौहित्ये रक्तमित्युपादानं हेत्वनियमप्रयुक्तं कादाचित्कं लौहित्यमिति द्योतयति। अत्रैव विदेहः,—"श्लेष्मदुष्टेन रक्तेन क्लिष्टं मांसमिवोभयम्। बन्धुजीवनिभं वर्त्म क्लिष्टवर्त्म तदुच्यते"—इति । अन्ये सममनुच्छूनं यावदित्याचक्षते। अत्र पक्षे क्लिष्टत्वं वेदनातियोगादवगन्तव्यम् ॥८५॥

क्लिष्टवर्त्मलक्षणमाह इत्यादि की भाषा सुगम है।

---

१ न समं छादयेदक्षि भवेद्बन्धः स वर्त्मनः. २ क्लिष्टवर्त्म तदादिशेत.

वर्त्मकर्दमस्य लक्षणमाह—

क्लिष्टं पुनः पित्तयुतं शोणितं विदहेद्यदा।
ततः क्लिन्नत्वमापन्नमुच्यते वर्त्मकर्दमः ॥८६॥ [सु० ३।१३]

क्लिष्टवर्त्म को जब पित्तान्वित रक्त दूषित कर देता है, तब आर्द्रपन को प्राप्त हुआ हुआ वह क्लिष्टवर्त्म वर्त्मकर्दम नाम से कहा जाता है।

वक्तव्य—'क्लिन्नत्वमापन्नं' के स्थान पर कई 'कृष्णत्वमापन्नं' यह पाठ मानते हैं, किन्तु यह दूषित होने से माननीय नहीं है। यह रोग कफ, पित्त और रक्त से होने के कारण सन्निपातज है। यह साध्य और लेख्य है।

मधु०—वर्त्मकर्दमलक्षणमाह—क्लिष्टं पुनरित्यादि। (क्लिष्टमिति प्रागुक्तस्य कर्तृत्वेनायमर्थः—क्लिष्टं क्लिष्टवर्त्मैव यदा पित्तलाभ्यासादधिकपित्तं सच्छोणितं विदहेद्विरुद्धदाहेन संयोजयेत्तदा क्लिष्टत्वमापादयति, संक्लेदत्वमापन्नं वर्त्म वर्त्मकर्दम उच्यत इति योज्यम्।) 'ततः कृष्णत्वमापन्नं' इत्यन्ये पठन्ति। तत्र कृष्णत्वं शोणितविदाहेनैव। एवं च सति कृष्णत्वेन कर्दमसंज्ञासमावेशोऽपि घटत इति। कार्तिकस्त्वन्यथा व्याचष्टे—शोणितमिति कर्तृपदं, तेन शोणितं पित्तयुक्तं कर्तृभूतं, यदा पूर्वोक्तं क्लिष्टमेव विदहेदित्यादि सर्वमपरं समानं पूर्वेण। अस्य तु सुश्रुते यत् सान्निपातिकत्वमुक्तं तत् कफपित्तरक्तारब्धत्वात्, वातकरणत्वस्याश्रुतेः ॥८६॥

वर्त्मकर्दमलक्षणमाह इत्यादि की भाषा सुगम है।

श्याववर्त्मस्वरूपमाह—

यद्वर्त्म बाह्यतोऽन्तश्च श्यावं शूनं सवेदनम्।
तदाहुः श्याववर्त्मेति वर्त्मरोगविशारदाः ॥८७॥

जो वर्त्म बाहर और भीतर से श्याववर्ण का, शूलयुक्त, एवं वेदना वाला होता है, उसे वर्त्मरोगविशारद वैद्य श्याववर्त्म कहते हैं।

वक्तव्य—शूल और वेदना में अधिक भेद न होने के कारण कई आचार्य यहां पर केवल वेदना से ही उक्त अर्थ लेकर 'शूलं' के स्थान पर 'शूनं' यह पाठान्तर मानते हैं, जो कि उपयुक्त प्रतीत होता है। एवं इसका अर्थ इस प्रकार होता है कि—'जो वर्त्म बाहर और भीतर से श्याववर्ण का, शोथयुक्त एवं वेदना वाला होता है, उसे वर्त्मरोगविशारद वैद्य श्याववर्त्म कहते हैं'। इसी पद्य के उत्तरार्ध में अन्य प्रकार के पाठान्तर भी मिलते हैं। यथा—"दाहकण्डूपरिक्लेदिश्याववर्त्मेति तन्मतम्" "सकण्डूपापरिक्लेदं श्याववर्त्मेति तन्मतम्"। प्रतीत होता है कि श्रीकण्ठ ने 'सवेदनं' की जगह पर 'च जायते' यह पाठान्तर माना है। अतएव उसने कहा है कि—"अत्रैव शूलं च जायते इत्यस्यान्ते 'सवेदनं सकण्डु च ह्यल्पक्लेदि त्रिदोषजम्'–इत्यपि केचित् पठन्ति"। यह रोग सन्निपातज, साध्य एवं लेख्य है।

मधु०—श्याववर्त्मलक्षणमाह—यद्वर्त्म बाह्यत इत्यादि। बहिरन्तश्च श्यावत्वं वातकृतम्। अत्रैव शूलं च जायत इत्यस्यान्ते 'सवेदनं सकण्डु च ह्यल्पक्लेदि त्रिदोषजम्'—इत्यपि केचित् पठन्ति तदप्युपपन्नं; कफात् कण्डूः, अल्पक्लेदि पित्तात्, सवेदनं वातात। अत्रैव विदेहः,–

"दुष्टः श्लेष्मा मरुत् पित्तं वर्त्मनोश्चीयते यदा । अग्निदग्धनिभं श्यावं श्याववर्त्मेति तद्विदुः"–इति । अत्र वाताधिकत्वं बोद्धव्यम् ॥८७॥

यहां 'शूलं च जायते' के बाद 'सवेदनं सकण्डु च ह्यल्पक्लेदि त्रिदोषजम्'-यह पाठान्तर भी कई मानते हैं। यह पाठान्तर भी ठीक है, क्योंकि इसमें कण्डू कफ से, अल्पक्लेद पित्त से और वेदना वात से होती है। यदाह विदेहः—'दुष्ट कफ, दुष्ट वायु, और दुष्ट पित्त जब वर्त्म में बढ़ जाते हैं तो वर्त्म को अग्नि से जले हुए की तरह श्याव कर देते हैं। इस रोग को श्याववर्त्म जानना चाहिए'।

प्रक्लिन्नवर्त्मस्वरूपमाह—

अरुजं बाह्यतः शूनं वर्त्म यस्य नरस्य हि ।
प्रक्लिन्नवर्त्म तद्विद्यात् क्लिन्नमत्यर्थमन्ततः ॥८८॥

जिस मनुष्य का वर्त्म अल्पपीड़ा वाला, बाहर से शोथयुक्त और भीतर से अत्यन्त आर्द्र होता है, उसे प्रक्लिन्नवर्त्म जानना चाहिए।

वक्तव्य—यह रोग कफज, साध्य एवं अशस्त्रकृत्य है।

मधु०—प्रक्लिन्नवर्त्मलक्षणमाह—अरुजमित्यादि । अरुजमल्परुजम् । बाह्यतः शूनमिति बहिः शोथयुक्तम् । क्लिन्नमत्यर्थमन्तत इति अन्तत उपान्ते क्लेदवत् । गदाधरस्तु क्लिन्नमन्तरिति विवृणोति । एतच्च चक्षुष्येण पिल्लाख्यया पठितम् । तथा हि,–"भृशं प्रक्लिद्यते वर्त्म कण्डूमन्मन्दवेदनम् । विद्यात् प्रक्लिन्नवर्त्मेति तत् पिल्लं सन्निपातजम्"–इति । यद्येवं कथं विदेहेऽक्लिन्नवर्त्म पिल्लाख्यया निर्दिश्यते । यथा,–प्रक्षालितेऽथवा मृष्टे आनह्येत पुनः पुनः । अपरिक्लिन्नवर्त्मेति तत्पिल्लमिति निर्दिशेत्"–इति, किंच सुश्रुते प्रक्लिन्नवर्त्म श्लेष्मसंग्रहे पठितं, पिल्लं च सन्निपातजगणे; तत्कथं प्रक्लिन्नवर्त्म पिल्लमिति संगतम् ? उच्यते–अक्लिन्नवर्त्मैव पिल्लं, तस्य सन्निपातजत्वात्; न तु प्रक्लिन्नवर्त्म, तस्य कफात्मकत्वात्; यदि तु प्रक्लिन्नवर्त्मैव कफोल्बणसन्निपातजं पिल्लत्वेनाभ्युपगम्यते, एतत् ख्यापनाय च तस्य कफजसर्वगणयोर्निवेशः कृत इति स्वीक्रियते; तदा सन्निपातजगणे पित्ते(पिल्ले)नाक्लिन्नवर्त्म न परिगृहीतं स्यात्; ततस्तदपरिग्रहे षट्सप्ततिरित्योपसंहारो नेत्ररोगाणां न घटते, पञ्चसप्ततेरभिधानात्, पिल्लस्य प्रक्लिन्नवर्त्मस्वरूपत्वेनापृथक्त्वात् । ननु, एवं तर्हि कथं 'विद्यात् प्रक्लिन्नवर्त्मेति तत् पिल्लं सन्निपातजम्'–इति समर्थयितव्यम् ? उच्यते, (अस्यायमर्थः प्रत्येतव्यः—यदा तदेव प्रक्लिन्नवर्त्म श्लेष्मात्मकमेव सद्वातपित्ताभ्यां विशेषकाभ्यामुपनिबध्यते तदा सन्निपातजं सदपरिक्लिन्नवर्त्मार्थान्तरमासादयत् पिल्लमित्यभिधीयते, तथा चोभयोरप्यविरोधः, उभाभ्यामेवापरिक्लिन्नवर्त्मन एव पिल्लाख्यत्ववर्णनादिति । अयं च वाग्भटे कफोत्क्लिष्टाख्यतया निरुद्धः,) किंच यदि प्रक्लिन्नवर्त्म पिल्लं तत्पृथक्त्वेन चाक्लिन्नवर्त्म अभविष्यत्, तदास्यौपद्रविके सुश्रुतो दोषात्मकत्वेन साध्यादिभेदेन चाभिधानमकरिष्यत्, न च कृतं, तस्मादक्लिन्नवर्त्मनोऽवस्थान्तरमिति ॥८८॥

(एतच्चेत्यादि—) यह प्रक्लिन्नवर्त्म नामक रोग आचार्य चक्षुष्य ने पिल्ल नाम से पढ़ा है। तद्यथा—'जिस मनुष्य का कण्डू वाला तथा मन्दवेदना से युक्त वर्त्म आर्द्र हो जाता है, उसे प्रक्लिन्नवर्त्म जानना चाहिए और उसी को पिल्ल भी कहते हैं। इसकी उत्पत्ति सन्निपात से होती है'। यदि प्रक्लिन्नवर्त्म ही पिल्ल होता है तो विदेहकृत तन्त्र में

क्लिन्नवर्त्म नामक रोग को पिल्ल क्यों कहा जाता है ? यथा—'धोने अथवा पोंछने (मार्जन रने) पर भी जो बार २ फूल जाता है, वह अपरिक्लिन्न (अक्लिन्न) वर्त्म नामक रोग ोता है, और उसे पिल्ल नाम से भी कहना चाहिए'। किञ्च सुश्रुत में प्रक्लिन्नवर्त्म श्लैष्मिक ण में पढ़ा है और पिल्ल सन्निपातज गण में होता है। इसलिए प्रक्लिन्नवर्त्म नामक रोग ल्ल है, यह संगति कैसे हो सकती है ? इसका उत्तर यह है कि सन्निपातज होने से अक्लिन्न- र्त्म ही पिल्ल है, न कि प्रक्लिन्नवर्त्म, क्योंकि यह कफात्मक है। यदि प्रक्लिन्नवर्त्म नामक रोग ी ही कफोल्बण सन्निपातज मान कर पिल्लपन से ले लिया जाता है, तथा इसी बात ो (अर्थात् यह कफोल्बण सन्निपातज है इस बात को) प्रख्यापन करने के लिए उसका प्रक्लिन्नवर्त्म का) श्लैष्मिक गण तथा सन्निपातज गण में निवेश किया है, यह स्वीकार किया जाता है, तो सन्निपातज गण में पिल्ल से अक्लिन्नवर्त्म गृहीत नहीं होगा; और इसके गृहीत न होने से नेत्र रोगों का षट्सप्तति रूप उपसंहार नहीं बनता, क्योंकि अक्लिन्नवर्त्म क न आने से तथा प्रक्लिन्नवर्त्म के उभयत्र (कफजगण में तथा सर्वजगण में) माने जाने े पञ्चसप्तति संख्या रह जाती है; और न ही पिल्ल और प्रक्लिन्नवर्त्म भिन्न हो सकते हैं, क्योंकि पिल्ल प्रक्लिन्नवर्त्म के स्वरूप में ही माना गया है (अतः यह सिद्ध होता है कि पिल्ल से अक्लिन्नवर्त्म लेना चाहिए)। (ननु—) यदि पिल्ल से प्रक्लिन्नवर्त्म का ग्रहण न कर अक्लिन्नवर्त्म ही लिया जाता है, तो 'विद्यात् प्रक्लिन्नवर्त्मेति तत् पिल्लं सन्निपातजम्' का समर्थन कैसे होगा ? इसका उत्तर यह है कि (तब इसका अर्थ इस प्रकार करना चाहिए कि जब वही प्रक्लिन्नवर्त्म श्लेष्मात्मक होता हुआ वात और पित्त से सम्बन्धित हो जाता है, तो वह सन्निपातज होकर अक्लिन्नवर्त्म के साथ अर्थान्तर (अक्लिन्नवर्त्म के दूसरे नाम) को प्राप्त करता हुआ पिल्ल नाम से कहा जाता है। इस प्रकार दोनों में विरोध नहीं आता, क्योंकि इस प्रकार मानने से दोनों के ही मत में अपरिक्लिन्नवर्त्म ही पिल्ल नाम से वर्णित होता है। यही रोग वाग्भट में कफोत्क्लिन्न नाम से लिया गया है)। किञ्च यदि प्रक्लिन्नवर्त्म पिल्ल होता और अक्लिन्नवर्त्म उससे पृथक् होता तो औपद्रविका- ध्याय में सुश्रुत इसका दोषात्मकता से तथा साध्यादि भेद से निर्देश करता, परन्तु उसने नहीं किया है, अतः यह सिद्ध होता है कि यह (पिल्ल) अक्लिन्नवर्त्म रोग की अवस्थान्तर (दूसरी अवस्था) है।

वक्तव्य—इसका संक्षिप्त भाव यह है कि चक्षुष्य ने प्रक्लिन्नवर्त्म को पिल्ल माना है तथा पिल्ल को सन्निपातज माना है किन्तु विदेह ने अक्लिन्नवर्त्म को पिल्ल माना है। यहां दोनों के मत परस्पर विरोधी बनते हैं, इस पर सिद्धान्त यह है कि अक्लिन्नवर्त्म ही पिल्ल है, किन्तु चक्षुष्य के मत का खण्डन न हो इसलिए उसके वाक्य का यह अर्थ किया जाता है कि श्लेष्मात्मक प्रक्लिन्नवर्त्म ही जब वात और पित्त से सम्बन्धित होकर अक्लिन्नवर्त्म में परि- णत हो जाता है, तो उसे (प्रक्लिन्नवर्त्म को) ही अक्लिन्नवर्त्म तथा पिल्ल कहा जाता है। एवं दोनों के मत परस्पर विरुद्ध नहीं होते, प्रत्युत उनकी एकवाक्यता बन जाती है। इसी बात को श्रीकण्ठदत्त ने उपर्युक्त सन्दर्भ में कहा है। यदि उस सारे विषय को विशद रूप से बताना पड़े तो इस प्रकार बताया जा सकता है, कि चक्षुष्य ने प्रक्लिन्नवर्त्म को पिल्ल माना है और इस विषय में उसका 'भृशं प्रक्लिद्यते' इत्यादि वाक्य भी है। अब यहां यह शंका होती है कि यदि प्रक्लिन्नवर्त्म ही पिल्ल है तो विदेह ने 'प्रक्षालितेऽथवा' इत्यादि से अक्लिन्न- वर्त्म को पिल्ल क्यों माना है ? पिल्ल को दोनों ने सन्निपातज माना है। यदि चक्षुष्य के मता- नुसार प्रक्लिन्नवर्त्म ही पिल्ल है तो सुश्रुत ने प्रक्लिन्नवर्त्म का श्लैष्मिक गण में पाठ क्यों किया

है ? इसका उत्तर यही है कि सुश्रुत में प्रक्लिन्नवर्त्म श्लैष्मिक स्वीकृत होने से तथा विदेह से पिल्ल का पर्याय स्वीकृत न होने से यह (प्रक्लिन्नवर्त्म) पिल्ल नहीं है, अपितु अक्लिन्नवर्त्म ही पिल्ल है। अगर प्रक्लिन्नवर्त्म को ही कफोल्बण सन्निपातज मान लिया जावे, तथा कफजगण में 'परिक्लिन्नवर्त्मशुक्लार्मपिष्टकाः' आदि के अनुसार प्रोक्त परिक्लिन्नवर्त्म से एवं सन्निपातज गणः में 'अक्लिन्नवर्त्मकुम्भीका' इत्यादि के अनुसार कथित अक्लिन्नवर्त्म से प्रक्लिन्नवर्त्म ही लिया जावे तो सन्निपातज गण में पिल्ल शब्द से अक्लिन्नवर्त्म का ग्रहण न होने से नेत्र रोगों की ७६ संख्या न रह कर ७५ रह जाती है और न ही ७६ वां रोग पिल्ल को माना जा सकता है, क्योंकि पिल्ल को तो प्रक्लिन्नवर्त्म का स्वरूप मान चुके हैं। अतएव यही ठीक है कि अक्लिन्नवर्त्म को पिल्ल माना जावे। यदि कहा जावे कि एवं चक्षुष्य की 'विद्यात् प्रक्लिन्नवर्त्मेति' आदि उक्ति सङ्गत नहीं हो सकती तो उसका उत्तर यह है कि इसकी उक्ति का यह भाव है कि जब प्रक्लिन्नवर्त्म वात पित्त से सम्बन्धित हो जाता है तो वह अक्लिन्नवर्त्म में परिणत हो जाता है एवं पिल्ल भी कहलाता है। यदि यह शङ्का हो कि फिर उसने प्रक्लिन्नवर्त्म की जगह अक्लिन्नवर्त्म ही क्यों नहीं पढ़ा ? तो इसका उत्तर यह है कि प्रक्लिन्नवर्त्म अक्लिन्नवर्त्म में परिणत हो जाता है, यह बतलाने के लिए उसने स्वपद्य में प्रक्लिन्नवर्त्म पढ़ा है। अच्छा, जब प्रक्लिन्नवर्त्म अक्लिन्नवर्त्म में परिणत हो जाता है तो वह प्रक्लिन्नवर्त्म नहीं रहता, तब उसमें प्रक्लिन्नवर्त्म का निर्देश कैसे हो सकता है ? इसका उत्तर यह है कि 'विप्र परिव्राजक न्याय' से अक्लिन्नवर्त्म को प्रक्लिन्नवर्त्म के नाम से कहकर उसने उसका पिल्ल नाम रक्खा है, वस्तुतः यह नाम अक्लिन्नवर्त्म का ही है। इस प्रकार दोनों के मतों की सङ्गति हो जाती है। यह विशद सार है। डल्हण आदि सुश्रुत के टीकाकार भी अक्लिन्नवर्त्म को ही पिल्लनाम से स्वीकार करते हैं और उन्होंने विदेहवाक्य को ही अपनाया है।

अक्लिन्नवर्त्मनो लक्षणमवतारयति—

यस्य धौतान्यधौतानि संबध्यन्ते पुनः पुनः।
वर्त्मान्यपरिपक्वानि विद्यादक्लिन्नवर्त्म तत् ॥८९॥ [सु० ३।३]

जिस मनुष्य के अपक्ववर्त्म बार बार धोने पर भी पुनः २ जुड़ जाते हैं, उसे वह अक्लिन्नवर्त्म नामक रोग जानना चाहिए। अर्थात् जिस रोग में वर्त्म बार बार धोने पर भी जुड़ जाते हैं, वह (रोग) अक्लिन्नवर्त्म है।

वक्तव्य—यह रोग त्रिदोषज, साध्य एवं अशस्त्रकृत्य है।

मधु०—अपरिक्लिन्नवर्त्मनो लक्षणमाह—यस्य धौतानीत्यादि। एतद्वाग्भटे पिल्लाख्यम्। संबध्यन्ते अन्योन्यं लग्नानि भवन्तीत्यर्थः। तदिदं संबद्धत्वं किं पूयसंपर्कादेव, तथा च प्रक्लिन्नत्वमेव स्यात्तदर्थमाह—अपरिपक्वानीति। एतदेव पिल्लाख्यम्। अन्यत्र क्वचिच्च पिल्लाख्यमन्यथा पठितं,-"पित्तश्लेष्मप्रकोपेण वर्त्मान्तः परिपाट्यते। ताम्रं निर्लोम तत्रापि विशिष्टं पिल्ललक्षणम्"-इति। एतदनादृतं, टीकाकृद्भिरव्याख्यातत्वात्। वाग्भटेन कुकूणकादीनामष्टादशानां पिल्लाख्या कृता। वर्त्मानीति बहुवचनं नेत्रद्वये वर्त्मचतुष्टयत्वेन संगच्छते, तेन नेत्रद्वयगत एवायं व्याधिरिति कार्तिकः ॥८९॥

अपरिक्लिन्नवर्त्मनः—इत्यादि की भाषा सुगम है, केवल यहां जरा सी लेखनीय बात है, जो कि लिख दी जाती है कि कहीं दूसरे तन्त्रों में पिल्ल नामक रोग दूसरी तरह पढ़ा जाता है। तद्यथा—"पित्त और श्लेष्म के प्रकोप से वर्त्मों के अन्तिम प्रदेश फट जाते हैं,

और तब वह वर्त्म ताम्रवर्ण का एवं रोम रहित हो जाता है, ये पिल्लसंख्यक रोग के विशिष्ट (विशेष) लक्षण हैं"। यह पाठ टीकाकारों से व्याख्यात न होने के कारण अनादरणीय है।

वातहतवर्त्मनः स्वरूपमाह—

विमुक्तसन्धि निश्चेष्टं वर्त्म यस्य न मील्यते।
एतद्वातहतं वर्त्म जानीयादक्षिचिन्तकः ॥९०॥ [सु० ६।३]

जिस मनुष्य का वर्त्म, वर्त्मशुक्लगत सन्धि के स्थानभ्रष्ट होने के कारण निश्चेष्ट हुआ हुआ निमेषोन्मेष (बन्द करने तथा खोलने से) रहित हो जाता है, उसके वर्त्म को नेत्ररोगचिकित्सक वैद्य, वातहतवर्त्म नाम से जानें।

वक्तव्य—इसी पद्य के चौथे पाद के स्थान पर कई विद्वान् "सरुजं यदि वाऽरुजम्" यह पाठ मानते हैं। इसकी व्याख्या इस प्रकार होती है कि 'जिस मनुष्य का वर्त्म सन्धि के स्थानप्रच्युत होने के कारण निश्चेष्ट होकर निमेषोन्मेष रहित हो जाता है, उस मनुष्य के उस वर्त्म को वातहतवर्त्म के नाम से जानना चाहिए, चाहे वह बहुत पीड़ा वाला हो वा अल्प पीड़ा वाला'। वस्तुतः इसमें पीड़ा का होना आवश्यक है, क्योंकि "यच्च वातहतं वर्त्म न ते सिध्यन्ति वातजाः" (सु. उ. तं. अ. १) के अनुसार यह वातज सिद्ध है और वातज में पीड़ा होती है। माधव ने पीड़ा का निर्देश नहीं किया किन्तु वहां भी जाननी चाहिए। उसने इसका निर्देश इसलिए नहीं किया कि वात में पीड़ा स्वतः सिद्ध है, दूसरा जब रोग होगा तो उसमें रुजा तो होगी ही, एवं यहां भी वातिक रुजा अवश्य होगी। एवं स्वतः सिद्ध होने से उसने यहां रुजा निर्देश नहीं किया। यह रोग वातज एवं असाध्य है।

मधु०—वातहतवर्त्मलक्षणमाह—विमुक्तसन्धीत्यादि। विमुक्तो विश्लिष्टो वर्त्मशुक्लगतः सन्धिर्यस्मात् तत्तथा, स्थानच्युतसन्धि। निश्चेष्टं निमेषोन्मेषरहितम्। सन्धिविश्लेषादेव तदाश्रयाणां निमेषोन्मेषकारिणीनां सिराणामपि विश्लेषेण निमेषोन्मेषरहितत्वमित्यभिप्रायः। अत एवोक्तं न मील्यते न संकुचतीत्यर्थः। 'निमील्यत' इति पाठान्तरं, तत्र निमीलितमेव तिष्ठतीत्यर्थः। इदं युक्तं, दृष्टत्वात्। एतन्न साध्यं, सुश्रुतेऽसाध्यप्रकरणे पठितत्वादिति ॥९०॥

वर्त्मशुक्लगत सन्धि के विश्लिष्ट हो जाने से उसकी आश्रयभूत निमेषोन्मेष करने वाली सिराओं का भी विश्लेष हो जाने से निमेषोन्मेष नहीं हो सकता। शेष सरल है।

वर्त्मार्बुदस्य लक्षणमाह—

वर्त्मान्तरस्थं विषमं ग्रन्थिभूतमवेदनम्।
आचक्षीतार्बुदमिति सरक्तमविलम्बितम् ॥९१॥ [सु० ६।३]

वर्त्म के भीतर की ओर होने वाले अवर्तुल वा कष्टप्रद, ग्रन्थि (गांठ) की सी आकृति वाले, अल्प पीड़ा से युक्त, कुछ रक्तवर्ण के एवं शीघ्र उत्पन्न होने वाले रोग को अर्बुद कहना चाहिए।

---

१ विद्येयमर्बुदं पुंसाम्.

वक्तव्य—यहां पर आतङ्कदर्पणकार अविलम्बि का अर्थ 'स्रस्त' करते हैं। कई यहां पर 'अवलम्बि च' यह पाठ तथा कई 'अवलम्बितम्' यह पाठ मानते हैं। यह रोग सन्निपातज, साध्य एवं छेद्य है।

मधु०—अर्बुदलक्षणमाह—वर्त्मान्तरस्थमित्यादि।–वर्त्मनोऽभ्यन्तरस्थं, वाह्येऽप्युन्नतत्वदर्शनाद्विषमम्। ग्रन्थिभूतं ग्रन्थिरूपेण स्थितम्। अवेदनमिति ईषदर्थे नञ्, तेन ग्रन्थिरिवाल्पवेदनमित्यर्थः, वेदना च वातानुवन्धेनैव। सरक्तमिति किंचिद्रक्तं, पित्तानुवन्धात्। अविलम्बितं शीघ्रजन्मेत्यर्थः। केचिदत्र क्रियाविशेषणं ब्रुवते, तेनायमर्थः—अविलम्बितं शीघ्रमाचचीतार्वुदमिति; किं त्वेतन्न सङ्गतम्, अस्य व्याख्यानस्य निष्प्रयोजनत्वात्। अन्ये तु 'अवलम्बितम्' इति पठन्ति। एतत् सन्निपातजम् (अपाकि च, तच्च कफेन) ॥६१॥

अर्बुदलक्षणमाह इत्यादि की भाषा सुगम है।

निमेषस्य स्वरूपमाह—

निमेषिणीः सिरा वायुः प्रविष्टः सन्धिसंश्रयाः।
प्रचालयति वर्त्मानि निमेषं नाम तद्विदुः ॥९२॥ [सु० ६।३]

प्रकुपित व्यान वायु वर्त्मशुक्ल की सन्धि में होने वाली निमेषिणी सिराओं में प्रविष्ट होकर वर्त्मों को अधिक चलाता है (अर्थात् निमेषोन्मेष अधिक कराता है) इसी रोग को निमेष नामक रोग जानना चाहिए।

वक्तव्य—यहां पर सुश्रुत में डल्हण ने यह पाठान्तर माना है कि 'निमेषिणीः सिरा वायुः प्रविष्टो वर्त्मसंश्रयाः। चालयत्यतिवर्त्मानि निमेषः स गदो मतः'। यहां भी 'वर्त्मसंश्रया' से 'वर्त्मसन्धिसंश्रयाः' यही भाव लिया जाता है। यहां यह नहीं समझना चाहिए कि दोष के सन्धि में कुपित होने से, तथा वहीं क्रिया होने से यह रोग सन्धिगत स्वीकृत होना चाहिए, क्योंकि अन्यत्र स्थित दोष भी अन्यत्र रोग को उत्पन्न कर देते हैं, तथा यहां पर क्रिया का फल (प्रचलन रूप) भी वर्त्मों में ही होता है एवं आचार्यों ने भी इसे वर्त्मगत रोग माना है। यदाह चक्षुष्यः—'उन्मेषणीः सिरा वायुः' इत्यादि। यह रोग वातज एवं असाध्य है।

मधु०—निमेषलक्षणमाह—निमेषिणीरित्यादि। निमेषिणीः निमेषकारिकाः सिराः। सन्धिसंश्रया इति वर्त्मशुक्लगता इत्यर्थः। अयमसाध्यो वातजः। चक्षुष्येण चोन्मेषणीः सिरा इत्युक्तं; यदाह;–"उन्मेषणीः सिरा वायुः प्रविश्य चावतिष्ठते। अत्यर्थं चालयेद्वर्त्म निमेषः स न सिध्यति"–इति ॥६२॥

निमेपलक्षणमाह इत्यादि स्पष्ट है।

शोणितार्शसः स्वरूपमाह—

यः स्थितो वर्त्ममध्ये तु लोहितो मृदुरङ्कुरः।
तद्रक्तजं शोणितार्शश्छिन्नं छिन्नं प्रवर्धते ॥९३॥

वर्त्म के बीच में लाल रङ्ग का जो मृदु अङ्कुर (स्थित) होता है, वह रक्त से उत्पन्न होने वाला शोणितार्श कहलाता है, जो कि काटने पर पुनः २ बढ़ जाता है।

वक्तव्य—सुश्रुत में शोणितार्श का लक्षण इस प्रकार मिलता है कि—'छिन्नाः छिन्ना विवर्धन्ते वर्त्मस्थामृदवोऽङ्कुराः। दाहकण्डूरुजोपेतास्तेऽर्शःशोणितसम्भवः'। यह रोग रक्तज एवं असाध्य है।

मधु०—शोणितार्शोलक्षणमाह—यः स्थित इत्यादि। अङ्कुराकारो मांसोच्छ्रयोऽङ्कुरः। एतदसाध्यं, तथा च विदेहः,–"वायुः शोणितमादाय सिराणां प्रमुखे स्थितः। जनयत्यङ्कुरं ताम्रं वर्त्मनि च्छिन्नरोहणम्॥ तच्छोणितार्शोऽसाध्यं स्याद्रक्तस्राव्यथ नीरुजम्"–इति ॥९३॥

यह रोग असाध्य है। जैसे विदेह ने कहा भी है कि—'वायु रक्त को साथ लेकर और सिराओं के मुख में आकर काटने पर पुनः २ बढ़ जाने वाले ताम्रवर्ण के अङ्कुर (मांसाङ्कुर) को उत्पन्न कर देता है। यह अङ्कुर शोणितार्श कहलाता है, एवं यह असाध्य होता है। इनसे स्राव नहीं निकलता और इनमें पीड़ा भी नहीं होती।

लगणस्य लक्षणं दर्शयति—

अपाकी कठिनः स्थूलो ग्रन्थिर्वर्त्मभवोऽरुजः।
लगणो नाम स व्याधिर्लिङ्गतः परिकीर्तितः ॥९४॥

वर्त्म में होने वाली पाकरहित, कठिन, स्थूल एवं पीड़ारहित ग्रन्थि लगण नामक व्याधि होती है और वह पूर्वोक्त लक्षणों से प्रसिद्ध है।

वक्तव्य—यहां इस प्रकार का पाठान्तर मिलता है कि—'अपाकः ०। सकण्डूः पिच्छिलः कोलप्रमाणो लगणस्तु सः'। यह रोग कफज, साध्य एवं भेद्य है।

मधु०—लगणलक्षणमाह—अपाकीत्यादि। अपाकित्वादिकं श्लेष्मारब्धत्वादेव। तथा च सात्यकिः,–"वर्त्मोपरिष्टाद्यो ग्रन्थिः कठिनो न विपच्यते। नीरुजो लगणो नाम रोगः श्लेष्मसमुद्भवः"–इति ॥९४॥

यह श्लेष्मा से होती है। इसमें सात्यकि ने भी कहा है कि—'वर्त्म के उपरिभाग में कफ के कारण होने वाली ग्रन्थि, जो कि कठिन, पाकरहित एवं नीरुज होती है, वह लगण रोग नाम से कहलाती है'।

विसवर्त्मनो लक्षणमाह—

त्रयो दोषा बहिःशोथं कुर्युश्छिद्राणि वर्त्मनोः।
प्रस्रवन्त्यन्तरुदकं विसवद्विसवर्त्म तत् ॥९५॥

वातादि तीनों दोष वर्त्मों के बाहर की ओर से प्रतीत होने वाली सूजन को तथा बिस के छिद्रों के से छिद्रों को कर देते हैं। तदनु वे छिद्र अन्दर की ओर जल को स्रवण करते हैं, जिससे यह रोग बिसवर्त्म नाम से कहलाता है।

वक्तव्य—भाव यह है कि यह शोथ तथा ये छिद्र वस्तुतः भीतर की ओर ही होते हैं, किन्तु शोथ उभरी हुई होने के कारण बाहर की ओर से दीखने लगती है। इसी का लक्षण आचार्य डल्हण सुश्रुत में इस प्रकार स्वीकार करते हैं कि—'शूनं यद्वर्त्म बहुभिः सूक्ष्मैश्छिद्रैः समन्वितम्। बिसमन्तर्जलं बिसवर्त्मेति

तन्मतम्'। यह रोग सर्वदोषज, साध्य एवं भेद्य है। जैसे सुश्रुत ने भेद्य रोगों के निर्देश में कहा भी है कि—'श्लेष्मोपनाहलगणौ च बिसं च भेद्याः'।

मधु०—विसवर्त्मलक्षणमाह—त्रयो दोषा इत्यादि। बहिःशोथमिति बहिरुच्छूनत्वं यथा भवति तथा वर्त्मनोश्छिद्राणि दोषास्त्रयः कुर्युरित्यर्थः। तानि छिद्राणि अन्तर्मुखान्येव, यदाह—प्रस्रवन्त्यन्तरुदकमिति। छिद्राणीति बहुवचननिर्देशाद्बहुमुखानि, अत्रापि दोषाः कुर्युरिति संबन्धः। अत एव बिसवन्मृणालवत्, तच्चानेकच्छिद्रयुक्तं भवति तद्वत्। अत्रैव चन्द्रिकाकारः सुश्रुते पठति—"शूनं यद्वर्त्म बहुभिः श्लक्ष्णैश्छिद्रैः समन्वितम्। वर्त्मान्तरे बिसमिव बिसवर्त्मेति तत् स्मृतम्"—इति। सात्यकिरप्याह,—"बिसस्योपाचितस्येव बहुमांससिरामुखम्। बिसवर्त्मेति जानीयाद्दुश्चिकित्स्यं त्रिदोषजम्"—इति ॥९५॥

इसी स्थान पर चन्द्रिकाकार सुश्रुत में इस प्रकार पाठ स्वीकार करता है कि 'शूनं यद्वर्त्म बहुभिः श्लक्ष्णैश्छिद्रैः समन्वितम्' इत्यादि। इसकी भाषा सरल है। यहां पर सात्यकि भी कहता है कि—'प्रवृद्ध बिस की तरह बहुत से मांसस्थ सिराओं के मुखों वाला रोग बिसवर्त्म नाम से जानना चाहिए। यह रोग त्रिदोषज एवं दुश्चिकित्स्य होता है'।

कुञ्चनस्य स्वरूपमाह—

वाताद्या वर्त्मसंकोचं जनयन्ति मला यदा।
तदा द्रष्टुं न शक्नोति कुञ्चनं नाम तद्विदुः ॥९६॥

वातादि दोष जब वर्त्मों को सङ्कुचित कर देते हैं तब मनुष्य देख नहीं सकता। इस रोग को कुञ्चन नाम से जानना चाहिए। यह त्रिदोषज है।

मधु०—कुञ्चनलक्षणमाह—वाताद्या इत्यादि। मला इत्यस्याभिधानं दुष्टत्वप्रतिपादनार्थं, यतो मलिनीकरणान्मला इत्युच्यन्ते। कुञ्चनं च कस्यापि तन्त्रस्य माधवकरेण लिखितं न सौश्रुतं, तेन सुश्रुतोक्तषट्सप्ततिसंख्या न हीयते, एवं वक्ष्यमाणेऽपि पक्ष्मशाते बोद्धव्यम् ॥९६॥

माधवकर ने यह कुञ्चन रोग किसी अन्य शास्त्र से लेकर लिखा है। सुश्रुत में यह नहीं है। अतः सुश्रुतोक्त षट्सप्तति (७६) संख्या हीन नहीं होती। इसी प्रकार वक्ष्यमाण पक्ष्मशात में भी जानना चाहिए।

पक्ष्मकोपं लक्षयति—

प्रचालितानि वातेन पक्ष्माण्यक्षि विशन्ति हि।
घृष्यन्त्यक्षि मुहुस्तानि संरम्भं जनयन्ति च ॥९७॥
असिते सितभागे च मूलकोषात् पतन्त्यपि।
पक्ष्मकोपः स विज्ञेयो व्याधिः परमदारुणः ॥९८॥

वात से उल्टे किये हुए पक्ष्म नेत्र में प्रविष्ट हो जाते हैं। तदनु च वे नेत्र के कृष्ण वा श्वेत भाग में घर्षण करते हैं, जिससे (उनके द्वारा) शोथ उत्पन्न हो जाती है तथा कभी २ वे पक्ष्म अपने आधारस्थान से गिर भी जाते हैं। इस रोग को पक्ष्मकोप नाम से जानना चाहिए, एवं यह रोग परम दारुण है।

वक्तव्य—इसका भाव यह है कि वायु के प्रकोप से अक्षिपक्ष्म अन्दर की ओर झुक जाते हैं और जब निमेषोन्मेष किया जाता है तो वे नेत्र के कृष्ण

और श्वेत भाग में घर्षण करते हैं जिससे नेत्र में सूजन हो जाती है। कभी ये अक्षि-पक्ष्म पक्ष्मकोष से गिर भी पड़ते हैं। इस भयानक व्याधि को पक्ष्मकोप के नाम से जानना चाहिए। यहां डल्हण ने सुश्रुत में इस प्रकार का पाठ माना है कि— 'दोषाः पक्ष्माशयगतास्तीक्ष्णाग्राणि खराणि च। निर्वर्तयन्ति पक्ष्माणि तैर्घृष्टं चाक्षि दूयते॥ उद्धृतैरुद्धृतैः[1] शान्तिः पक्ष्मभिश्चोपजायते। वातातपानलद्वेषी पक्ष्मकोपः स उच्यते'। इस पक्ष्मकोप का दूसरा नाम 'उपपक्ष्ममाला' है। लोक में यह रोग 'परिवालः' 'परवाल' वा 'पड़वाल' नाम से प्रसिद्ध है। ये रोग त्रिदोषज एवं याप्य हैं।

मधु०—पक्ष्मकोपलक्षणमाह—प्रचालितानीत्यादि। प्रचालितानि प्रकर्षेण चालितानि, प्रतीपीकृतानीत्यर्थः। पक्ष्माणि वर्त्मरोमाणि वातचालितानि सन्ति नेत्रं प्रविशन्ति अन्तर्मुखानि वर्त्मन इत्यर्थः। तान्यसिते कृष्णमण्डले, सितभागे शुक्लमण्डले वा, अक्षि घृष्णन्ति घर्षयन्तीत्यर्थः। अत एव संरम्भं शोथं जनयन्ति। मूलकोषात् पक्ष्मकोशात्, पतन्त्यपीति 'पक्ष्माणि' इति शेषः, अपिशब्दान्न पतन्ति च। त्रिदोषजश्चायं, प्रचालने वातमात्रकारणत्वमुक्तं; तथा च चन्द्रिकाकारः पाठान्तरं पठति,—"पक्ष्माशयगता दोषास्तीक्ष्णाग्राणि खराणि च। निर्वर्तयन्ति पक्ष्माणि तैर्घृष्टं चाक्षि दूयते॥ उद्धृतैरुद्धृतैः शान्तिः पक्ष्मभिश्चोपजायते"—इति। अत्र पक्ष्माशयो वर्त्म। विदेहोऽप्याह—"यस्य वातसंबन्धेन दोषाः प्रकुपितास्त्रयः"—इत्यादिनेति। कल्याणविनिश्चये उपपक्ष्म पठ्यते,—"पक्ष्मोपरोधो वातेन कोठोऽन्तर्मुखरोमवान्। रोमैरन्तर्मुखैरन्यैरुपपक्ष्म मलैस्त्रिभिः"—इति। उपपक्ष्मणि यादृशी पूर्वसिद्धा तादृश्यपराऽन्तर्मुखी पक्ष्मपङ्क्तिरिति भेदः, अस्य पक्ष्मोपरोधविशेषत्वात् समानचिकित्स्यत्वाच्च पृथगिहानभिधानम्॥६७-६८॥

कल्याणविनिश्चय नामक ग्रन्थ में एक उपपक्ष्म नामक रोग भी पढ़ा जाता है। यथोक्तमपि—"पक्ष्मोपरोधो वातेन" इत्यादि। इसकी भाषा सरल है। उपपक्ष्म रोग में पूर्वसिद्ध पक्ष्मपंक्ति के समान एक और अन्तर्मुखी पक्ष्मपंक्ति भी होती है। यह पक्ष्मोपरोध विशेष होने से और समान चिकित्सा वाली होने से यहां पृथक् नहीं कही गई।

पक्ष्मशातस्य लक्षणमवतारयति—

वर्त्मपक्ष्माशयगतं पित्तं रोमाणि शातयेत्।
कण्डूं दाहं च कुरुते पक्ष्मशातं तमादिशेत्॥६९॥

नेत्रगतशुक्लादिस्थानप्रभेदेन नेत्ररोगाणां सङ्ख्यामाह—

(नव सन्ध्याश्रयास्तेषु वर्त्मजास्त्वेकविंशतिः।
शुक्लभागे दशैकश्च चत्वारः कृष्णभागजाः॥१॥ [सु० ६।१]
सर्वाश्रयाः सप्तदश दृष्टिजा द्वादशैव तु।
बाह्यजौ द्वौ समाख्यातौ रोगौ परमदारुणौ॥
भूय एतत् प्रवक्ष्यामि संख्यारूपचिकित्सितैः॥२॥) [सु० ६।१]

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने नेत्ररोगनिदानं समाप्तम्॥५९॥

---

१ उत्पाटितैः पुनः.

पित्त वर्त्म में होने वाले पक्ष्मों के कोष में जाकर रोमों को गिराता है, तथा खुजली एवं जलन को करता है। इस रोग को पक्ष्मशात नाम से कहना चाहिए उन ७६ नेत्र रोगों में से पूयालस, उपनाह, पूयस्राव, पैत्तिकस्राव, श्लेष्मजस्राव, रक्तजस्राव, पर्वणिका, अलजी और क्रिमिग्रन्थि ये नौ रोग सन्धियों में होते हैं। उत्सङ्गिनी, कुम्भीका, पोथकी, वर्त्मशर्करा, अर्शोवर्त्म, शुष्कार्श, अञ्जननामिका, बह(हु)लवर्त्म, वर्त्मावन्धक, क्लिष्टवर्त्म, वर्त्मकर्दम, श्याववर्त्म, प्रक्लिन्नवर्त्म, अपरिक्लिन्नवर्त्म, वातहतवर्त्म, वर्त्मार्बुद, निमिष, शोणितार्श, लगण, बिसवर्त्म और पक्ष्मकोप ये इक्कीस रोग वर्त्मभाग में होते हैं। प्रस्तारि-अर्म, शुक्लार्म, क्षतज (रक्त)अर्म, अधिमांसार्म, स्नाय्वर्म, शुक्तिका, अर्जुन, पिष्टक, सिराजाल, सिराजपिडका और बलासग्रन्थि ये ग्यारह रोग नेत्र के श्वेतभाग में होते हैं। सव्रणशुक्र, अव्रणशुक्र, पाकात्यय और अजकाजात ये चार रोग नेत्र के कृष्ण भाग में होते हैं। वातिकाभिष्यन्द, पैत्तिकाभिष्यन्द, श्लैष्मिकाभिष्यन्द, रक्तजाभिष्यन्द, वातिकाधिमन्थ, पैत्तिकाधिमन्थ, श्लैष्मिकाधिमन्थ, रक्तजाधिमन्थ, सशोफपाक, अशोफपाक, हताधिमन्थ, वातपर्याय, शुष्काक्षिपाक, अन्यतोवात, अम्लाध्युषितदृष्टि, सिरोत्पात और सिराप्रहर्ष ये सतारह रोग नेत्र के सर्व भाग में होते हैं। वातिक लिङ्गनाश, पैत्तिक लिङ्गनाश (तिमिर), श्लैष्मिक लिङ्गनाश, रक्तजलिङ्गनाश, त्रिदोषजलिङ्गनाश, परिम्लायि लिङ्गनाश (तिमिर), पित्तविदग्ध दृष्टि, श्लेष्मविदग्धदृष्टि, धूमदर्शी, ह्रस्वजाड्य, नकुलान्ध्य और गम्भीरिका ये बारह रोग नेत्र के दृष्टि भाग में होते हैं। एवं सनिमित्तज (आगन्तुक) नेत्ररोग और अनिमित्तज (आगन्तुक) नेत्ररोग ये दो रोग बाह्यज होते हैं।

वक्तव्य—इस प्रकार सङ्कलित सभी नेत्ररोग (सुश्रुत के मत में) ७६ होते हैं किन्तु माधव ने कुञ्चन और पक्ष्मशात ये रोग अधिक माने हैं। जो ये ऊपर रोग गणना की है, यह सारी स्थानभेद से है। ये सभी रोग वातज, पित्तज, कफज, रक्तज, सन्निपातज और आगन्तुजत्व भेद से छः प्रकार के होते हैं। इनमें से १ हताधिमन्थ, २ निमिष, ३ दृष्टिगम्भीरिका, ४ वातहतवर्त्म, ५ वातिककाच, ६ अन्यतोवात, ७ शुष्काक्षिपाक, ८ वाताधिमन्थ, ९ वाताभिष्यन्द और १० वातविपर्यय ये दस रोग वातिक हैं। १ ह्रस्वजाड्य, २ पैत्तिक (जल) स्राव, ३ परिम्लायिकाच, ४ नीलिकाकाच, ५ पित्ताभिष्यन्द, ६ पित्ताधिमन्थ, ७ अम्लाध्युषित, ८ शुक्तिका, ९ पित्तविदग्धदृष्टि और १० धूमदर्शी ये दस रोग पैत्तिक होते हैं। १ श्लैष्मिकस्राव, २ श्लैष्मिककाच, ३ श्लैष्मिक अभिष्यन्द, ४ श्लैष्मिक अधिमन्थ, ५ बलासग्रन्थि, ६ श्लेष्मविदग्धदृष्टि, ७ पोथकी, ८ लगण, ९ क्रिमिग्रन्थि, १० परिक्लिन्नवर्त्म, ११ शुक्लार्म, १२ पिष्टक और १३ श्लेष्मोपनाह ये तेरह रोग श्लैष्मिक हैं। १ रक्तजस्राव, २ अजकाजात, ३ शोणितार्श, ४ सव्रणशुक्र, ५ रक्तजकाच, ६ रक्ताधिमन्थ, ७ रक्ताभिष्यन्द, ८ क्लिष्टवर्त्म, ९ सिराहर्ष, १० सिरो-

त्पात, ११ सिराजाल, १२ अञ्जननामिका, १३ अर्जुन, १४ पर्वणी, १५ अव्रणशुक्र और १६ शोणितार्म,ये सोलह रोग रक्तज होते हैं। १ पूयस्राव, २ नकुलान्ध्य, ३ अक्षिपाकात्यय, ४ अलजी, ५ सन्निपातजकाच, ६ पक्ष्मकोप, ७ वर्त्मावबन्ध, ८ सिराजपिडिका, ९ प्रस्तारी अर्म, १० अधिमांसार्म, ११ स्नाय्वर्म, १२ उत्सङ्गिनी, १३ पूयालस, १४ अर्बुद, १५ श्यावर्त्म, १६ कर्दमवर्त्म, १७ अर्शोवर्त्म, १८ शुष्कार्श, १९ वर्त्मशर्करा, २० सशोफपाक, २१ अशोफपाक, २२ बहुलवर्त्म, २३ अक्लिन्नवर्त्म, २४ कुम्भीका और २५ बिसवर्त्म ये पच्चीस रोग सन्निपातज हैं। एवं १ सनिमित्तज और २ अनिमित्तज ये अन्य दो रोग बाह्यज हैं, जो कि दृष्टि में होते हैं। इस प्रकार वातादि भेद से भी यही ७६ रोग होते हैं। पुनः ये असाध्य, याप्य और साध्य भेद से तीन प्रकार के हो जाते हैं। इनमें से (वातिकों में से) १ हताधिमन्थ, २ निमिष, ३ दृष्टिगम्भीरिका (और) ४ वातहतवर्त्म ये चार असाध्य हैं। पैत्तिकों में से १ ह्रस्वजाड्य (और) २ पैत्तिकजलस्राव ये दो असाध्य हैं। श्लैष्मिकों में से १ कफजस्राव यह एक असाध्य है। रक्तजों में से १ रक्तजस्राव, २ अजकाजात, ३ शोणितार्श (और) ४ सव्रणशुक्र (ये चार असाध्य हैं। सन्निपातजों में से) १ पूयास्राव, २ नकुलान्ध्य, ३ अक्षिपाकात्यय (और) ४ अलजी (ये चार असाध्य हैं। एवं बाह्यजों में से) १ सनिमित्तक और अनिमित्तक ये सतारह (दोनों ही) रोग असाध्य हैं। १ पक्ष्मकोप, २ वातिककाच, ३ पैत्तिककाच, ४ श्लैष्मिककाच, ५ रक्तजकाच, ६ सन्निपातजकाच और ७ परिम्लायिकाच ये सात रोग याप्य होते हैं; किन्तु अन्तिम छः दर्शनावस्था में ही याप्य हैं, अन्यथा असाध्य हैं। इस प्रकार इन १७ असाध्यों और सात याप्यों से अवशिष्ट ५२ रोग साध्य हैं। इन रोगों का इस प्रकार कण्ठस्थ करना कठिन होता है। अतः इसी क्रम को कण्ठस्थ करने के लिए इन्हें पद्यों में उद्धृत किया जाता है। इनके स्थानानुसार पद्य नेत्ररोग की प्रारम्भिक भाषा में दे दिए हैं। अतः वे वहीं से देख लेने और कण्ठस्थ कर लेने चाहिए। यहां वातादि के अनुसार तथा असाध्यादि के अनुसार पद्य उद्धृत किए जाते हैं। यथा—"हताधिमन्थो निमिषो दृष्टिर्गम्भीरिका च या। यच्च वातहतं वर्त्म न ते सिध्यन्ति वातजाः॥ याप्योऽथ तन्मयः काचः साध्याः स्युः सान्यमारुताः। शुष्काक्षिपाकाधीमन्थस्यन्दमारुतपर्ययः"—इति; ये वातिक दस रोग हैं। इनमें पहले चार असाध्य, पाचवां याप्य और शेष पाँच साध्य हैं। "असाध्यो ह्रस्वजाड्यो यो जलस्रावश्च पैत्तिकः। परिम्लायी च नीलश्च याप्यः काचोऽथ तन्मयः॥ अभिष्यन्दोऽधिमन्थोऽम्लाध्युषितं शुक्तिका च या। दृष्टिपित्तविदग्धा च धूमदर्शी च सिध्यति"—इति; ये पैत्तिक दस रोग हैं। इनमें से पहले दो असाध्य, तीसरा और चौथा याप्य एवं शेष छः साध्य हैं। "असाध्यः कफजः स्रावो याप्यः काचश्च तन्मयः। अभिष्यन्दोऽधिमन्थश्च बलासग्रथितश्च यत्॥ दृष्टिः श्लेष्मविदग्धा च

पोथक्यो लगणश्च यः। क्रिमिग्रन्थिपरिक्लिन्नवर्त्मशुक्लार्मपिष्टकाः ॥ श्लेष्मोपनाहः साध्यस्तु कथितः श्लेष्मजेषुतु" ॥ ये श्लैष्मिक तेरह रोग हैं। इनमें पहला रोग असाध्य, दूसरा याप्य और शेष ग्यारह साध्य हैं। "रक्तस्रावोऽजकाजातं शोणितार्शोव्रणान्वितम्। शुक्रं न साध्यं काचश्च याप्यस्तज्जः प्रकीर्तितः ॥ मन्थस्यन्दौ क्लिष्टवर्त्म हर्षोत्पातौ तथैव च। सिराजाताञ्जनाख्या च सिराजालं च यत् स्मृतम् ॥ पर्वण्यथाव्रणं शुक्रं शोणितार्मार्जुनश्च यः। एते साध्या विकारेषु रक्तजेषु भवन्ति हि ॥" ये रक्तज सोलह रोग हैं। इनमें से पहले चार असाध्य, पांचवां याप्य और शेष ग्यारह साध्य हैं। "पूयास्रावो नाकुलान्ध्यमक्षिपाकात्ययोऽलजी। असाध्याः सर्वजा याप्यः काचः कोपश्च पक्ष्मणः ॥ वर्त्मावबन्धो यो व्याधिः सिरासु पिडिका च या। प्रस्तार्यर्माधिमांसार्मस्नाय्वर्मोत्सङ्गिनी च या ॥ पूयालसश्चार्बुदं च श्यावकर्दमवर्त्मनी। तथाऽर्शोवर्त्म शुष्कार्शः शर्करावर्त्म यच्च वै ॥ सशोफश्चाप्यशोफश्च पाको बहलवर्त्म च। अक्लिन्नवर्त्म कुम्भीका बिसवर्त्म च सिध्यति ॥" ये पचीस रोग त्रिदोषज हैं। इनमें से पहले चार असाध्य, पाँचवां याप्य और शेष उन्नीस साध्य हैं। "सन्निमित्तोऽनिमित्तश्च द्वावसाध्यौ तु बाह्यजौ"। ये दो बाह्यज रोग हैं; और दोनों ही असाध्य हैं। ऊपर सभी रोगों के असाध्य आदि के अनुसार तीन भेद कर यह कहा जा चुका है कि १७ रोग असाध्य, ७ रोग याप्य और ५२ रोग साध्य हैं। इन साध्य बावन रोगों के पुनः छेद्य, लेख्य, भेद्य, व्यध्य और अशस्त्रकृत्य इन भेदों से पाँच विभाग किए जाते हैं, जिनमें ग्यारह छेद्य, नौ लेख्य, पाँच भेद्य, पन्द्रह व्यध्य और बारह अशस्त्रकृत्य होते हैं। जैसे कहा भी है कि—"छेद्यास्तेषु दशैकश्च नव लेख्याः प्रकीर्तिताः। भेद्याः पञ्च विकाराः स्युर्व्यध्याः पञ्चदशैव तु ॥ द्वादशाशस्त्रकृत्याश्च"। अब उनका यथायथ निर्देश किया जाता है। ग्यारह छेद्य रोगों का निर्देश—'अर्शोन्वितं भवति वर्त्म तु यत्तथाऽर्शः शुष्कं तथाऽर्बुदमथो पिडकाः सिराजाः। जालं सिराजमपि पञ्चविधं तथार्म छेद्या भवन्ति सह पर्वणिकामयेन"। नौ लेख्य रोगों का निर्देश—"उत्सङ्गिनी बहुलकर्दमवर्त्मनी च श्यावं च यच्च पठितं त्विहबद्धवर्त्म। क्लिष्टं च पोथकियुतं खलु यच्चवर्त्म कुम्भीकिनी च सह शर्करया च लेख्याः"। पाँच भेद्य विकारों का निर्देश—"श्लेष्मोपनाहलगणौ च बिसं च भेद्या ग्रन्थिश्च यः कृमिकृतोऽञ्जननामिका च"। पन्द्रह व्यध्य विकारों का निर्देश—आदौ सिरा निगदितास्तु ययोः प्रयोगे पाकौ च यौ नयनयोः पवनोऽन्यतश्च। पूयालसानिलविपर्ययमन्थसंज्ञाः स्यन्दास्तु यान्त्युपशमं हि सिराव्यधेन"। बारह अशस्त्रकृत्य रोगों का निर्देश—"शुष्काक्षिपाककफपित्तविदग्धदृष्टिष्वम्लाख्यशुक्रसहितार्जुनपिष्टकेषु। अक्लिन्नवर्त्महुतभुग्ध्वजदर्शिशुक्तिप्रक्लिन्नवर्त्मसु तथैव बलाससंज्ञे ॥ आगन्तुनाऽऽमययुगेन च दूषितायां दृष्टौ न शस्त्रपतनं प्रवदन्ति तज्ज्ञाः ॥" इनमें आगन्तुज दो व्याधियां जो कि असाध्यों में आती हैं, भी गिनी जाती हैं, एवं उनको गिन कर अशस्त्रकृत्यों की संख्या १४ बन जाती है।

मधु०—पक्ष्मशातलक्षणमाह—वर्त्मेत्यादि । पक्ष्माशयोऽत्र पक्ष्ममूलं, शातयेदुन्मूलयेदित्यर्थः । अयं च कफपैत्तिकः, कण्डूदाहवत्त्वात् । अत्र कृच्छ्रोन्मीलनं वाग्भटः पठति—"रोगान् कुर्युश्चलस्तत्र प्राप्य वर्त्माश्रयाः सिराः । सुप्तोत्थितस्य कुरुते वर्त्मस्तम्भं सवेदनम् ॥ पांशुपूर्णाभनेत्रत्वं कृच्छ्रोन्मीलनमश्रु च । विमर्दनात् स्याच्च शमः कृच्छ्रोन्मीलं वदन्ति तम्" (वा. उ. स्था. अ. ८)–इति । अस्य चकारेण संग्रहः । पक्ष्मणां वर्त्माश्रयत्वादयमपि वर्त्मरोग एव । इति वर्त्मगता एकविंशतिर्व्याधयः समाप्ताः ॥६६॥ **इति वर्त्मगताः ।**

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायां नेत्ररोगनिदानं समाप्तम् ॥५९॥

पक्ष्मशातलक्षणमाह इत्यादि की भाषा सरल है ।

अथ शिरोरोगनिदानम् ।

शिरोरोगभेदानाह—

शिरोरोगास्तु जायन्ते वातपित्तकफैस्त्रिभिः ।
सन्निपातेन रक्तेन क्षयेण क्रिमिभिस्तथा ॥
सूर्यावर्तानन्तवातार्धावभेदकशङ्खकैः ॥१॥

(मनुष्यों को) वायु, पित्त और कफ इन तीनों से (पृथक् पृथक् रूप में), सन्निपात से, रक्त से, धातुक्षय से, क्रिमियों से, तथा सूर्यावर्त, अनन्तवात, अर्धावभेदक एवं शङ्खक (ये) शिरोरोग (अर्थात् सिर में पीडाकर) होते हैं ।

वक्तव्य—भाव यह है कि शिरोरोग वातादिकों से होते हैं। शिरोरोग शब्द का अर्थ शिर में पीड़ा होनी है, एवं सूर्यावर्त आदि भी इसमें आ जाते हैं। यदि शिरोरोग शब्द का अर्थ सामान्यतः सिर में होने वाली व्याधियों (का निदान) यह लिया जाय तो इसमें दो दोष आते हैं एक तो यह कि सूर्यावर्त आदिकों से शिरोरोग क्या होगा ? क्योंकि वह तो स्वयं ही रोग हैं, सूर्यावर्त से सूर्यावर्त भी नहीं हो सकता अन्यथा स्वात्मनिक्रियाविरोध आता है। एवं यहां रोग से पीड़ा ही लेनी चाहिए। दूसरा दोष इसमें यह आता है कि यदि शिरोरोग से शिर में होने वाले रोग लिए जावेंगे तो इनमें पलित आदि रोगों का भी सन्निवेश होना चाहिए; क्योंकि वे भी सिर में ही होते हैं। 'त्रिभिः' शब्द यहां पृथगर्थ का द्योतक है, किन्तु कई आचार्य कहते हैं कि यहां 'त्रिभिः' से प्रकृतिसमसमवायज सन्निपात लिया जाता है और 'सन्निपातेन' से विकृति विषमसमवायज सन्निपात। एवं प्रकृतिसमसमवायज सन्निपात से तथा विकृति विषम समवायज सन्निपात से भी शिरःपीड़ा होती है, यह सिद्ध होता है। इसमें यह आशङ्का नहीं करनी चाहिए कि प्रकृतिसमसमवायज सन्निपात स्वीकार

---

१ शिरोभिताप, शिरोरोग; शिरःपीडा; शिरोवेदना. अ० सुदाअ. ८० हेडेक (Headache).

करने से रोगसंख्या में वृद्धि हो जायगी, क्योंकि सन्निपातजत्व को लेकर दोनों को एक ही मान लिया जाता है, अतः संख्यावृद्धि भी नहीं होती। 'शिरोरोगास्तु जायन्ते' के स्थान पर कई आचार्य 'शिरोरोगा मनुष्याणाम्' यह पाठान्तर मानते हैं। किन्तु सुश्रुत के पाठ में डल्हण ने यहां 'शिरो रुजति मर्त्यानाम्' यह पाठान्तर माना है। सुश्रुत में 'सूर्यावर्तः' इत्यादि पादद्वय के अनन्तर "एकादशप्रकारस्य लक्षणं संप्रवक्ष्यते" यह पाठ भी मिलता है जिसका अर्थ है 'उक्त ग्यारह प्रकार के शिरो रोगों के लक्षण कहे जाते हैं'। वस्तुतः ग्यारह ही शिरो रोग हैं। तद्यथा—वातादि से ३, सन्निपात से एक १, रक्तक्षय और क्रिमियों से ३, एवं सूर्यावर्त आदि ४, इस प्रकार ये ग्यारह रोग हैं। यही ब्रह्मदेव आदि का मत है। विदेह ने भी अपने तन्त्र में ग्यारह शिरोरोग ही माने हैं। किन्तु दूसरे आचार्यों ने यहां शिरोरोग दस माने हैं। वे कहते हैं कि अनन्तवात यहां नहीं गिना जाता क्योंकि इसे सर्वगतनेत्ररोगों में 'अन्यतोवात' शब्द से कहा जा चुका है। इसी लिए वे आचार्य सुश्रुत में 'सूर्यावर्तानन्तवातार्धावभेदकशङ्खकैः। एकादशप्रकारस्य लक्षणं संप्रवक्ष्यते' के स्थान पर 'सूर्यावर्तावभेदाभ्यां शङ्खकेन तथैव च। दशप्रकारस्याप्यस्य लक्षणं संप्रवक्ष्यते' यह पाठान्तर मानते हैं। किन्तु यह मत सङ्गत प्रतीत नहीं होता, क्योंकि अन्यतोवात वातिक रोग है। जैसे सुश्रुत ने वातिकगण में कहा भी है कि—"याप्योऽथ तन्मयः काचः साध्याः स्युः सान्यमारुतः" और अनन्तवात त्रिदोषज है। जैसे सुश्रुत ने कहा भी है कि—"अनन्तवातं तमुदाहरन्ति दोषत्रयोत्थं शिरसो विकारम्"। अन्यतोवात में (वायु) दोष अवटु आदि नियत स्थानों में तथा अन्य स्थानों पर भी स्थित होकर रोग को उपजाता है किन्तु अनन्तवात में (तीनों) दोष उन २ स्थानों में ही स्थित होते हैं। साथ ही ब्रह्मदेव आदि विद्वान् तथा विदेहादि आचार्य भी इन्हें पृथक् २ मानते हैं, अतः यही ठीक है। विदेह ने यहां सूर्यावर्तविपर्यय नामक रोग को भी लिया है। उसने उसका लक्षण यह किया है कि—"तत्र वातानुगं पित्तं चितं शिरसि तिष्ठति। मध्याह्ने तेजसाऽर्कस्य तद्विवृद्धं शिरोरुजम् ॥ करोति पैत्तिकीं घोरां संशाम्यति दिनक्षये। अस्तं गते प्रभाहीने सूर्ये वायुर्विवर्धते ॥ पित्तं शान्तिमवाप्नोति ततः शाम्यति वेदना। एष पित्तानिलकृतः सूर्यावर्तविपर्ययः"। कई सुश्रुताध्यायी भी सूर्यावर्त विपर्यय को इस प्रकार मानते हैं कि—"वातात् पित्तात् पुरोजाता रुजाऽपैत्यपराह्णतः। सूर्यावर्तः स तु प्रोक्तो विपरीते विपर्ययः"। यद्यपि माधव ने इसका निर्देश नहीं किया तो भी चातुर्थिकविपर्यय की तरह अकथित होने पर भी मानना आवश्यक है।

मधु०—अथ कर्णनासानेत्राणामधिष्ठानत्वेन शिरसो नयनरोगानन्तरं शिरोरोगनिदानारम्भः। शिरोरोगाश्चैकादश, तत्र कारणभेदेन शिरोरोगभेदं दर्शयन्नाह—शिरोरोगास्त्वित्यादि। वातपित्तकफैरित्युक्ते गम्यत एव त्रिभिरिति, तत्कथं तदुक्तिः ? उच्यते—सर्वेषां शिरोरोगाणां

सन्निपातजत्वख्यापनार्थं, वातादिभेदश्चोत्कर्षात्; तदुक्तं शालाक्ये,—"सर्व एव शिरोरोगाः सन्निपातसमुत्थिताः । औत्कट्याद्दोषलिङ्गैस्ते कीर्तितास्तद्विदा दश"—इति । त्रिभिः सन्निपातेनेति पदद्वयेन प्रकृतिविकृतिसमवेतसन्निपातद्वयमाहुरन्ये । अत्र पक्षे सन्निपातजत्वादेकत्वगणनया न संख्यातिरेकः; त्रिभिरिति पदं पृथक्त्वद्योतनार्थमिति गदाधरः । क्षयेणेति असृग्वसादीनां क्षयेण; क्षयजोऽयं धातुक्षयजनितवातकोपेन सहसाकृतवातजन्यत्वेनाचयपूर्वकः, वातजस्तु संचयप्रकोपजनित इति भेदः; अत एवानुपशयोऽप्यस्य संस्वेदनादिना शुक्रक्षयकृदेवोपन्यस्तः । शिरोरोगशब्देन शिरोगतशूलरूपा रुजाऽभिधीयते, तेन सूर्यावर्तानन्तवातार्धावभेदकशङ्खकैरित्यभिधानमुपपद्यते, अन्यथा तेषामेव शिरोरोगत्वात्तैः शिरोरोगा जायन्त इत्यसंगतं स्यात् ॥१॥

अब कर्ण, नासा और नेत्र का अधिष्ठान होने के कारण नयन रोगों के बाद शिरोरोग का निदान प्रारम्भ किया है। शिरोरोग ग्यारह होते हैं । उनमें से कारणभेदानुसार शिरोरोगों के भेद दिखाते हुए कहते हैं कि—शिरोरोगास्त्वित्यादि। जब वात,पित्त और कफ का निर्देश कर दिया गया है तो पुनः 'त्रिभिः' यह पद देने की क्या आवश्यकता है ? इसका उत्तर यह है कि यहां 'त्रिभिः' की उक्ति शिरोरोगों में त्रिदोषजपन की ख्यापना के लिए हैं, जो यहां वातादि का निर्देश किया है, वह त्रिदोष में उस दोष की उत्कृष्टता को लेकर किया है। जैसे शालाक्य में कहा है कि—सभी शिरोरोग सन्निपात से होते हैं किन्तु विद्वानों ने दोषों की उत्कटता को देखकर उन दश रोगों में दोषानुसार नाम दिया है। दूसरे आचार्य 'त्रिभिः' और 'सन्निपातेन' इन दोनों का उपादान, प्रकृतिसमसमवाय और विकृतिविषमसमवाय को बताने के लिए किया है, यह मानते हैं। इस पक्ष में सन्निपातजत्व सामान्य को लेकर दोनों को पृथक् २ न मान एक ही माना जाता है, एवं संख्यातिरेक दोष नहीं आता। यहां पर गदाधर 'त्रिभिः' शब्द को पृथक्त्वप्रतिपादक मानता है। (शिरोरोगशब्देनेति—) शिरोरोग शब्द से यहां पर शिर में होने वाली रुजा अभिप्रेत है। एवं सूर्यावर्त, अनन्तवात, अर्धावभेदक और शङ्खक से यह वाक्य ठीक बन जाता है, अन्यथा उन्हीं के शिरोरोग होने से इनसे शिरोरोग होते हैं, यह कथन असङ्गत होता है।

वक्तव्य—'सर्व एव शिरोरोगाः सन्निपातसमुत्थिताः । औत्कट्याद्दोषलिङ्गैस्ते कीर्तितास्तद्विदा दश' में यह बताया है कि शिरोरोग के जानने वालों ने दश शिरोरोगों को, सन्निपातज होने पर भी, दोष की उत्कटता से एकदोषज कहा है। एवं यहां शिरोरोगों का दश की संख्या में मानना अनन्तवात को न मानने से ही होता है, अन्यथा नहीं, क्योंकि अन्यथा ग्यारह शिरोरोग होते हैं, न कि दश।

वातजशिरोरोगस्य स्वरूपमाह—

यस्यानिमित्तं शिरसो रुजश्च
भवन्ति तीव्रा निशि चातिमात्रम्।
बन्धोपतापैः प्रशमश्च यत्र
शिरोऽभितापः स समीरणेन ॥२॥ [सु० ६।२५]

जिस मनुष्य के सिर में अकारण तीव्र पीड़ाएं होने लगती हैं और विशेषतः रात्रि में और भी अधिक होती हैं तथा (इस प्रकार की) जो पीड़ाएं बन्धन एवं उपताप (सेकादि) से शान्त हो जाती हैं, उस मनुष्य में होने वाला यह शिरोरोग वातिक शिरोरोग कहलाता है।

वक्तव्य—भाव यह है कि वायु के विषमगति वाला होने से कारणज्ञा के बिना ही जिसके सिर में, विशेषतः रात को, तीव्र पीड़ाएं होने लगती हैं औ जिन पीड़ाओं में बन्धन तथा उपताप उपशय होता है, उसे होने वाला शिरोरो वात से उत्पन्न हुआ जानना चाहिए। सारांश यह है कि यह रोग वायु होता है। इसमें रात्रि, शीतप्रधान एवं वातवर्धक होने से अनुपशय रूप में है औ उपताप तथा बन्धन उष्णप्रधान एवं वातशमक होने से उपशय रूप से है।

मधु०—वातिकशिरोरोगलक्षणमाह-यस्यानिमित्तमित्यादि। अनिमित्तमतर्कितनिमित वायोर्विषमक्रियत्वात्; तेन निमित्तानुषङ्गिणा कालादिनेत्यर्थः। निशि चातिमात्रमिति रात्रौ शीते वायोराधिक्यान्महती रुजा भवति, शीतयोनित्वाद्वायोः। बन्धोपतापैरिति बन्धो बन्धनं वस्त्रादिभिः उपतापः स्वेदादिभिः, व्यक्त्यपेक्षया बहुवचनं, एतेनोपशयो दर्शितः। शिरोऽभितापः शिरोरुजा॥२॥

वातिकशिरोरोगलक्षणमाह इत्यादि की भाषा सरल है।

पैत्तिकशिरोरोगस्य लक्षणमाह—

यस्योष्णमङ्गारचितं यथैव
भवेच्छिरो धूप्यति चाक्षिनासम्।
शीतेन रात्रौ च भवेच्छमश्च
शिरोऽभितापः स तु पित्तकोपात्॥३॥ [सु० ६।२५]

जिस मनुष्य का सिर जलते हुए अङ्गारों से व्याप्त की तरह गरम होता है एवं जिसकी नासिका धूमपूर्ण सी होती है और रात्रि में शीतता के कारण जिसमें व्यथा की शान्ति होती है, वह पैत्तिक शिरोरोग होता है।

वक्तव्य—सिर का अङ्गारों के समान जलता सा होना, नासिका का धूमपूर्ण सा होना और रात्रि में शीत के कारण वेदना की शान्ति हो जानी, ये लक्षण पैत्तिक शिरोरोग में होते हैं। यहां 'रात्रौ च भवेच्छमश्च' इसी से काम चल जाते पर जो 'शीतेन' यह पद दिया है, इससे यह ज्ञापित होता है कि यदि रात्रि में गर्मी हो तो व्यथा शान्त नहीं होती और यदि दिन में भी शीतता हो जावे तो पीड़ा शान्त हो जाती है। कई टीकाकार 'शीतेन' और 'रात्रौ' को पृथक् पृथक् हेतु मानते हैं। एवं यह अर्थ होता है कि ठण्डक से वा ठण्डे पदार्थों के सेवन से, तथा रात्रि के समय वेदना शान्त हो जाती है। इनके विचारानुसार रात्रि और शीत दोनों ही उपशय रूप हैं और पूर्वव्याख्यानुसार रात्रि में भी शीतता स्पष्ट उपशय है और दिन में भी शीतता, तथा शीत पदार्थों का सेवन अस्पष्ट उपशय है। दूसरी व्याख्या में यह उक्त होता है कि रात्रि में अवश्य शान्ति होती है, परन्तु यह सर्वव्यापक नहीं होता क्योंकि जिस रात्रि में गर्मी होती है, उसमें शान्ति नहीं दीखती। अतः पहली व्याख्या ही समीचीन है। इसके मानने से उष्णता अनुपशय और शीतता उपशय सिद्ध होती है। इस पद्य के दूसरे पाद में निम्न पाठान्तर भी मिलते हैं। यथा—'दह्येत धूप्येत शिरोक्षिनासम्'। 'भवेच्छिरो धूमवती

च नासा' । 'भवेच्छमश्च' के स्थान पर सुश्रुत में डल्हण ने 'भवेद्विशेषः' यह पाठान्तर माना है । 'विशेष' शब्द से यहां उपशम लिया जाता है । यहां पीड़ा मन्द होती है । यह भाव वातिक शिरोरोग के लक्षण में पठित 'भवन्ति तीव्राः' से निकलता है, क्योंकि वात में तीव्र कहने से पित्त में मध्य और कफ में मन्द पीड़ाओं का होना स्वतः सिद्ध हो जाता है (इति डल्हणः) ।

मधु०—पित्तजलक्षणमाह—यस्योष्णमङ्गारचितमित्यादि । अङ्गारचितं यथैवेति ज्वलदङ्गाराच्छन्नमिवेत्यर्थः । धूप्यति धूमायते धूमपूर्णमिव भवतीत्यर्थः । धूप्यतीति दिवादेराकृतिगणत्वात् । अक्षि च नासा चेत्यक्षिनासं, प्राण्यङ्गत्वादेकवद्भावः । उपशयं दर्शयति—शीतेन रात्रौ चेत्यादि ॥३॥

पित्तजलक्षणमाह—इत्यादि की भाषा सुगम है ।

श्लैष्मिकशिरोरोगस्य स्वरूपमाह—

शिरो भवेद्यस्य कफोपदिग्धं
गुरु प्रतिष्टब्धमतो हिमं च ।
शूनाक्षिकूटं वदनं च यस्य
शिरोऽभितापः स कफप्रकोपात् ॥४॥ [सु० ६।२५]

जिस मनुष्य का सिर कफलिप्त, भारी, अचल और शीतल होता है तथा जिसका मुख आंखों के निचले उभरे हुए भाग से सूजा हुआ होता है, उसे श्लैष्मिक शिरोभिताप कहना चाहिए ।

वक्तव्य—भाव यह है कि श्लैष्मिकशिरोरोग में सिर कफलिप्त, भारी, अचल एवं शीतल होता है । इसमें अक्षिकूटों पर सूजन भी होती है । इसमें भी स्वेदन आदि उपशय होता है ।

श्लेष्मजलक्षणमाह—शिरो भवेदित्यादि । कफोपदिग्धमिति कफलिप्तम् । गुरु गौरवयुतम् । प्रतिष्टब्धं बद्धमिव । हिमं हिमस्पर्शम् । शूनाक्षिकूटमिति वदनविशेषणम् । तथा हि चरकः—"शिरो मन्दरुजं तेन गुरु स्तिमितभारिकम्" (च. सू. स्था. अ. १७) इति । अत्रापि स्वेदादिनोपशयो ज्ञेयः ॥४॥

श्लेष्मजलक्षणमाह इत्यादि की भाषा सरल है ।

सान्निपातिकशिरोरोगस्य स्वरूपमाह—

शिरोऽभितापे त्रितयप्रवृत्ते
सर्वाणि लिङ्गानि समुद्भवन्ति ।

सन्निपातज शिरोरोग में सभी दोषों के लक्षण होते हैं ।

वक्तव्य—यहां 'समुद्भवन्ति' के स्थान पर '[illegible]' यह पाठान्तर भी मिलता है ।

मधु०—सान्निपातिकलक्षणमाह—शिरोऽभिताप इत्यादि । सर्वाणि [illegible] रोक्तानि वातादिलिङ्गानि । (अयं च [illegible] [illegible] इति, अन्यथा [illegible]

शिरोरोगाणां त्रिदोषजत्वात् पृथगभिधानं व्यर्थं स्यात्; अस्य च विकृतिविषमसमवेतत्वं कारण-भेदाज्ज्ञेयं, न तु विरुद्धलक्षणतया; स चायं कारणभेद उत्कटसर्वदोषजत्वादेव विज्ञेयः । यथा त्रिदोषजे राजयक्ष्मणि स्वरभेदादिजनकानां वातादीनामुत्कटत्वमिति । उक्तं हि चरके—"वाता-च्छूलं भ्रमः कम्पः पित्ताद्दाहो मदस्तृषा । कफाद्गुरुत्वं तन्द्रा च शिरोरोगे त्रिदोपजे" (च. सू. स्था. अ. १७) इति ॥—

यह रोगविकृति विषमसमवाय से जानना चाहिए, अन्यथा सभी शिरोरोगों के सन्निपातज होने से पृथगभिधान व्यर्थ होगा । इसमें विकृतिविषमसमवेतपन कारणभेद से जानना चाहिए, न कि विरुद्ध लक्षणों से, (क्योंकि इसमें व्याधिस्वभाव से विरुद्ध लक्षण नहीं होते) और वह कारणभेद उल्बण सभी दोषों से होने के कारण जानना चाहिए। जैसे त्रिदोषज राजयक्ष्मा में स्वरभेदादिकों को उत्पन्न करने वाले वातादिकों की उत्कटता होती है (वैसे ही यहां भी जाननी चाहिए) । जैसे चरक में कहा भी है कि—'त्रिदोपज शिरोरोग में वायु से शूल, भ्रम और कम्प; पित्त से दाह, मद और तृष्णा; एवं कफ से गौरव और तन्द्रा होती है' ।

वक्तव्य—उक्त सन्दर्भ का भाव यह है कि यह जो सन्निपात का लक्षण कहा है, इसे विकृतिविषमसमवायज सन्निपात का लक्षण जानना चाहिए। यदि इसे विकृति विषमसमवायज सन्निपात का लक्षण न माना जावेगा तो वातादि सभी शिरोरोगों के सन्निपातज होने से पुनः इस सन्निपातज शिरोरोग के निर्देश की क्या आवश्यकता थी एवं इसका पृथक् अभिधान व्यर्थ होता है । अब यहां शङ्का होती है कि—जैसे हरिद्रा और चूर्ण के संयोग से उत्पन्न लौहित्य कारणानुरूप नहीं होता वैसे ही विकृतिविषमसमवाय में कारणानुरूप कार्य नहीं होता । एवं यदि यह सन्निपात विकृतिविषम-समवाय के अनुसार है, तो इसमें वातोल्बण शिरोरोगादि के वही लक्षण नहीं आने चाहिए ? प्रत्युत यहां तो वातादि के संयोग से विलक्षण लक्षण होने चाहिए ? इसका उत्तर यह है कि यहां विकृतिविषमसमवाय हरिद्राचूर्ण संयोगजन्य लौहित्य की तरह विरुद्ध लक्षणों से नहीं समझना चाहिए, प्रत्युत यहां तो विकृतिविषमसमवाय कारण भेद से जानना चाहिए और वह कारण भेद सभी दोषों की उल्बणता से अनुमित करना चाहिए । जैसे कि त्रिदोषज राजयक्ष्मा में स्वरभेद आदि लक्षणों को उत्पन्न करने वाले वातादिकों का उत्कटपन जाना जाता है वैसे ही प्रकृत में शूल आदि लक्षणों को उत्पन्न करने वाले वातादिकों का उल्बणपन जानना चाहिए । चरक ने भी कहा है कि—'त्रिदोपज शिरो रोग में वायु शूल, भ्रम और कम्प को; पित्त दाह, मद और प्यास को एवं कफ गुरुता तथा तन्द्रा को उत्पन्न करता है' । श्रीकण्ठ की इस व्याख्या से यह सिद्ध होता है कि इसने 'त्रिभिः' से प्रकृतिसमसमवाय से होने वाले सन्निपात को मानने वाले आचार्यों के मत को नहीं माना क्योंकि यदि इस रोग में प्रकृतिसमसमवायज सन्निपात पृथक् होता हो तो 'सभी शिरोरोग सन्निपातज हैं' यह शालाक्यतन्त्र की उक्ति सिद्ध नहीं हो सकती। दूसरे विद्वान् कहते हैं कि नहीं, श्रीकण्ठ के मत में 'त्रिभिः' से होने वाला प्रकृतिसमसम-वायज सन्निपात उक्त वातोल्बणज आदि शिरोरोग ही है, किन्तु यह सन्निपात विकृति विपमसमवायज है । यदि श्रीकण्ठ को ये प्रकृतिसमसमवायज अभीष्ट न होते तो वह इसको विकृति विपमसमवायज क्यों मानता और यदि इसे विकृतिविपमसमवायज न मानता तो सभी शिरोरोगों की सन्निपातजता सिद्ध नहीं होती । साथ ही 'परमतमप्रतिसिद्धमनुमतम्' के

अनुसार यह प्रतीत होता है कि श्रीकण्ठ की इस मत में भी रुचि अवश्य है, एवं उक्त-मत खण्डित नहीं होता।

रक्तजशिरोरोगस्य लक्षणमाह—

रक्तात्मकः पित्तसमानलिङ्गः
स्पर्शासहत्वं शिरसो भवेच्च ॥५॥ [सु० ६।२५]

रक्तात्मक (अर्थात् रक्तोल्बण वा रक्तजन्य) शिरोरोग पित्तात्मक (अर्थात् पित्तोल्बण वा पित्तजन्य) शिरोरोग के लक्षणों के से लक्षणों वाला होता है, किन्तु इसमें स्पर्शासहत्व (स्पर्श को न सह सकना) रूप लक्षण विशेष होता है।

वक्तव्य—भाव यह है कि रक्तोल्बण शिरोऽभिताप में और तो सभी लक्षण पित्तोल्बण शिरोरोग के समान ही होते हैं, परन्तु यह विशेषता होती है कि इसमें सिर स्पर्श को सहन नहीं कर सकता।

मधु०—रक्तजलक्षणमाह—रक्तात्मक इत्यादि। पित्तसमानलिङ्ग इति पित्तजशिरोरोगतुल्यलक्षणः। पैत्तिकलिङ्गाधिकमिह स्पर्शासहत्वम् ॥५॥

रक्तजलक्षणमाह इत्यादि की भाषा सरल ही है।

क्षयजशिरोरोगस्य स्वरूपं दर्शयति—

असृग्वसाश्लेष्मसमीरणानां
शिरोगतानामिह संक्षयेण।
क्षयप्रवृत्तः शिरसोऽभितापः
कष्टो भवेदुग्ररुजोऽतिमात्रम्।
संस्वेदनच्छर्दनधूमनस्यै-
रसृग्विमोक्षैश्च विवृद्धिमेति ॥६॥ [सु० ६।२५]

सिर में स्थित वा सिर में गए हुए रक्त, वसा, श्लेष्मा और वायु के क्षीण हो जाने से (क्षय से) उत्पन्न हुई २ शिरोरुजा कष्टसाध्य, एवं अत्यन्त उग्रपीड़ा वाली होती है, तथा यह शिरोरुजा संस्वेदन, वमन, धूमपान, नस्यप्रदान एवं रक्तमोक्षण से बढ़ जाती है।

वक्तव्य—उक्त का भाव यह है कि शिरोगत वातादिकों के क्षय से कष्टसाध्य शिरोभिताप हो जाता है जिसमें कि पीड़ा अत्यन्त दारुण होती है तथा स्वेद आदि अनुपशय रूप में होते हैं।

मधु०—क्षयजलक्षणमाह—असृगित्यादि। वसासृजोः सर्वदेहस्थितत्वाच्छिरसि स्थितिः, श्लेष्मणश्च स्थानमेव शिरः, उदानवायोरूर्ध्वगतित्वाच्छिरस्यवस्थानं, तेषां क्षयेणोग्ररुजत्वं व्याधिप्रभावात्; यतो वृद्धे वायावुग्ररुजा युज्यते न तु क्षीणे, यदुक्तं—"वाते पित्ते कफे चैव क्षीणे लक्षणमुच्यते। कर्मणः प्राकृताद्धानिः ॥" (च. सू. स्था. अ. १८) इति। अन्यः पुनरयं पाठः सुश्रुते स्वीकृतः, यथा—'वसाबलासक्षयसंभवानाम्' इति। दुष्टश्चायं पाठः, वातक्षये हि कफवृद्धौ कफजः शिरोरोगः स्यात्, "वृद्धिर्वाऽपि विरोधिनाम्" (च. सू. स्था.

अ. १८) इति वचनात् । किं चैतस्य चिकित्सायामुक्तं—'पाने नस्ये च सर्पिः स्याद्वातघ्नमधुरैः शृतम्'—इति । ततश्च समीरणपाठो न सङ्गतः, न हि क्षीणे वायौ शमनमुक्तम्, अपि तर्हि वर्धनविधिः; यदुक्तं—'क्षीणा वर्धयितव्याः' (सु. चि. स्था. अ. ३३) इति । वसा देहस्नेहस्योपलक्षणं, तेन मेदोमज्जशुक्रमस्तिष्काण्यप्यवरुध्यन्ते, तेषां देहस्नेहत्वात् । पित्तमांसादिक्षयजस्तु चयादिक्रमजक्षयकृतवातशिरोरोग एवावरुध्यते, इति गदाधरः । शिरोभितापः शिरोरुजा । संस्वेदनच्छर्दनधूमनस्यैः कफक्षयः, नागरादितीव्रधूमेन वसामस्तिष्कादिक्षयः, सिरामोक्षादिभिरसृक्क्षयः, अत एवैतैः संस्वेदनादिभिः क्षयजस्य वृद्धिः । अयं विदेहेऽपि पठ्यते—"भ्रमति तुद्यते शून्यं शिरो विभ्रान्तनेत्रता । मूर्च्छा गात्रावसादश्च शिरोरोगे क्षयात्मके"—इति । चक्षुष्योऽप्याह—"स्त्रीप्रसंगादभिघातादथवा देहकर्मणा । क्षिप्रं संजायते कृच्छ्रः शिरोरोगः क्षयात्मकः ॥ वातपित्तात्मकं लिङ्गं व्यामिश्रं तत्र लक्षयेत्" इति ॥६॥

वसा और रक्त सम्पूर्ण देह में स्थित होते हैं, अतः उनकी शिर में स्थिति भी बन जाती है । श्लेष्मा का स्थान तो सिर है ही, एवं ऊर्ध्वगति होने से वहां उदानवायु का भी अवस्थान हो जाता है । इस प्रकार यहां (इनके क्षय से) उग्रपीड़ा व्याधि के स्वभाव से होती है, क्योंकि (यदि यहां व्याधि के स्वभाव से उग्रपीड़ा न मानी जावे तो सिद्धान्तानुसार) बढ़ी हुई वायु में ही उग्रपीड़ा होती है, न कि क्षीण में । जैसे कहा भी है कि—'वात, पित्त और कफ के क्षीण होने पर प्राकृतकर्म की हानि होती है' (एवं यहां उग्रपीड़ा नहीं हो सकती) । गयी आदि आचार्यों ने इस पाठ को स्वीकार न कर यहां 'वसाबलासक्षयसम्भवानाम् (वसाबलासक्षतसम्भवानाम्)' यह पाठ स्वीकार किया है और वस्तुतः यह पाठ युक्तियुक्त भी है, क्योंकि उपर्युक्तानुसार ('असृग्वसाश्लेष्मसमीरणानाम्' के अनुसार) वातक्षय में कफ की वृद्धि होने पर कफज शिरोरोग होगा क्योंकि 'वृद्धिर्वापि विरोधिनाम्' इस वचन से दोषों के क्षीण होने पर प्राकृतकर्मों की हानि होती है और विरोधी कर्मों की वृद्धि होती है । (एवं कफ के वृद्ध होने पर) इसकी (क्षयज शिरोरोग की) चिकित्सा में (जो) यह कहा है कि 'पीने में और नस्य देने में मधुर पदार्थों से शृत वातघ्न सर्पि प्रयुक्त करना चाहिए' (यह सङ्गत नहीं होता) क्योंकि क्षीण वायु में शमनचिकित्सा नहीं कही, अपितु "क्षीणा वर्धयितव्याः"—इस चरक वाक्य से वर्धनविधि कही है । अतः यह सिद्ध होता है कि 'असृग्वसाश्लेष्मसमीरणानाम्' में 'समीरण' (वायु) का पाठ सङ्गत नहीं है । यहां पर वसा का ग्रहण शारीरिक स्नेह का उपलक्षण है । इससे मेद, मज्ज, शुक्र और मस्तिष्क का भी ग्रहण हो जाता है; यह आचार्य गदाधर का मन्तव्य है । शिरोऽभिताप का अर्थ शिरोरुजा है । संस्वेदन, छर्दन, धूमपान तथा नस्य से कफ की क्षीणता; नागर (शुण्ठी) आदि के तीव्र धूम से मस्तिष्क आदिकों की क्षीणता; एवं सिरामोक्ष आदिकों से रक्त की क्षीणता होती है । इसी लिए इन संस्वेदन आदिकों से क्षयज शिरोरोग की वृद्धि होती है । यह रोग विदेह में भी पढ़ा है कि—'सिर में भ्रमण, तोद और शून्यता; नेत्रों में विभ्रान्तता, मूर्च्छा और गात्रावसाद ये लक्षण क्षयात्मक शिरोरोग में होते हैं" । आचार्य चक्षुष्य ने भी कहा है कि—"स्त्रीगमन से, अभिघात से अथवा शारीरिक कर्म से शीघ्र ही क्षयात्मक एवं कष्टसाध्य शिरोरोग उत्पन्न हो जाता है । इसमें वात और पित्त के मिलित लक्षण जानने चाहिएं' ।

वक्तव्य—उपर्युक्त का भाव यह है कि जो रक्त, वसा, श्लेष्म और वायु के क्षय से होने वाले शिरोरोग में अत्यधिक पीड़ा होती है, में अत्यधिक पीड़ा कही है वह व्याधि के

स्वभाव से होती है; क्योंकि यदि यहां व्याधि का स्वभाव कारण न माना जावे तो पीड़ा हो नहीं सकती; कारण कि पीड़ा वायु से होती है और अधिक पीड़ा वायु की अधिकता से होती है, न्यूनता से नहीं। प्रत्युत न्यूनता से तो पीड़ा और भी कम होनी चाहिए क्योंकि वातादि दोष क्षीण हुए अपने प्राकृतकर्म को छोड़ते हैं और वृद्ध हुए २ अपने प्राकृतकर्म को अधिक करते हैं। एवं यहां भी वात की क्षीणता होने से पीड़ा की स्वल्पता होनी चाहिए, न कि अत्यधिकता। अतः यह मानना पड़ता है कि यहां स्वल्पता के स्थान पर जो पीड़ा की अत्यधिकता होती है, वह व्याधि के स्वभाव से है। गयी आदि आचार्य इस समाधान को महत्त्व न देते हुए सुश्रुत में 'असृग्वसाश्लेष्मसमीरणानाम्' के स्थान पर 'वसाबलासक्षत-सम्भवानाम्' यह पाठान्तर मानते हैं। इस पाठ के मानने से वायुक्षय नहीं होता और कफ का क्षय होता है। एवं वायु के क्षय न होने से और कफ के क्षय होने से कफ के विरोधी भावों की 'वृद्धिर्वापि विरोधिनाम्' के अनुसार वृद्धि हो जाती है। कफ का विरोधी भाव वायु है। एवं वायु की वृद्धि हो जाती है और वायु की वृद्धि हो जाने से अत्यधिक पीड़ा होनी आवश्यक है। इस प्रकार व्याधि के स्वभाव से पीड़ा की उत्पत्ति मानने की कोई आवश्यकता नहीं होती और यदि इस पाठ को ('वसाबलासक्षतसम्भवानाम्' को) न मान कर पहला ही पाठ स्वीकार किया जावे तो वायु के क्षीण होने पर 'वृद्धिर्वापि विरोधिनाम्' के अनुसार कफ की वृद्धि होगी और कफ की वृद्धि होने पर यह रोग भी कफज होगा और इसके कफज होने पर क्षयज शिरोरोग की चिकित्सा में कही हुई, वातघ्न मधुर द्रव्यों से शृत किया हुआ घृत पीने के लिए तथा नस्य के लिए देना चाहिए, यह चिकित्सा सङ्गत नहीं होती। कारण कि यह शमनचिकित्सा है और शमनचिकित्सा वृद्धदोष में की जाती है, न कि शरीर में। जैसे कहा भी है कि—'वृद्धा ह्रासयितव्याः' तथा 'क्षीणा वर्धयितव्याः'। एवं प्रकृत में 'असृग्वसाश्लेष्मसमीरणानाम्' को स्वीकार करने पर वायु की क्षीणता होने से 'पाने नस्ये' इत्यादि से शमनचिकित्सा नहीं करनी चाहिए थी, प्रत्युत वर्धनचिकित्सा करनी चाहिए थी, किन्तु यहां ऐसा नहीं है। अतः मानना पड़ता है कि 'असृग्वसाश्लेष्मसमीरणानाम्' में समीरण पद का पाठ युक्तियुक्त नहीं है। इसलिए 'वसाबलासक्षतसम्भवानाम्' यह पाठ उपयुक्त है। यहां वसा शब्द को उपलक्षण मान कर मेद आदिक लिए जाते हैं। इस प्रकार इस पाठ को मानने से उक्त अनुपशय भी सुसंगत हो जाता है। तद्यथा—संस्वेदन, वमन, धूम और नस्य से कफ की (और भी) क्षीणता; नागर (शुण्ठी) आदि के तीव्र धूम से वसा मस्तिष्क आदिकों की (और भी) क्षीणता एवं सिराविमोक्षण आदि से रक्त की (और भी) क्षीणता होती है और इसी लिए इनसे इस रोग की और भी वृद्धि होती है। एवं यदि वायु का ग्रहण किया जावे तो इससे वायु की क्षीणता नहीं होती प्रत्युत इससे तो वह बढ़ता है। अतः तब यह अनुपशय भी नहीं हो सकता, किन्तु अब इनसे श्लेष्म आदिकों का क्षय होने तथा वायु की वृद्धि होने से संस्वेदन आदि अनुपशय रूप हैं। मधुकोष की उपर्युक्त सन्दर्भ की अर्थ सङ्गति करते हुए 'वातक्षये हि कफवृद्धौ कफजः शिरोरोगः स्यात्' इस वाक्य का अर्थ 'असृग्वसाश्लेष्मसमीरणानाम्' इस पाठ को लक्ष्य में रखकर करना चाहिए अन्यथा अर्थसङ्गति नहीं होगी। हां, यदि 'वातक्षये' इत्यादि की जगह पर 'कफक्षये हि वातवृद्धौ वातजः शिरोरोगः स्यात्' यह पाठ माना जावे तो अर्थसङ्गति सीधी लगती चली जाती है। श्रीकण्ठ ने एकीय मत के अनुसार 'वसाबलास-क्षयसम्भवानाम्' यह पाठान्तर बताया है, परन्तु वस्तुतः 'वसाबलासक्षतसम्भवानाम्' यह पाठान्तर ठीक है; और प्रतीत होता है कि श्रीकण्ठ ने भी यही रक्खा होगा किन्तु कार्य

आदि के समय असावधानता हो जाने से उसमें 'क्षतसम्भवानां' के स्थान पर 'क्षयसम्भवानाम्' यह पाठ आ गया है। इस पाठ के मानने से रक्त का ग्रहण नहीं होता, क्योंकि रक्त क्षयसम्भव नहीं होता, अपितु क्षतसम्भव होता है। यहां यह आशंका नहीं करनी चाहिए कि श्रीकण्ठ ने सम्भवतः रक्त को माना ही न हो, क्योंकि अनुपशय बताते हुए श्रीकण्ठ ने 'सिरामोक्षादिभिरसृक्क्षयः' यह स्वीकार किया है। अतः प्रतीत होता है कि उसने रक्त को स्वीकार किया है। इसलिए यहां 'वसाबलासक्षतसम्भवानाम्' यह पाठ होना चाहिए और डल्हण ने भी सुश्रुत में यही पाठ माना है।

क्रिमिजशिरोरोगस्य लक्षणमाह—

निस्तुद्यते यस्य शिरोऽतिमात्रं
संभक्ष्यमाणं स्फुरतीव[1] चान्तः।
घ्राणाच्च गच्छेत् सलिलं[2] सपूयं[3]
शिरोऽभितापः क्रिमिभिः स घोरः ॥७॥ [सु० ६।२५]

जिस मनुष्य का सिर क्रिमियों से खाया जा रहा होने से अत्यन्त तोद युक्त होता है तथा अन्दर (कपालास्थियों के भीतर) कुछ स्फुरण सा प्रतीत होता है, एवं जिसकी नासिका से पूयमिश्रित सलिल वहता है, वह क्रिमिज शिरोरोग होता है। यह रोग दारुण होता है।

वक्तव्य—क्रिमिज शिरोरोग में क्रिमि सिर में बैठ कर अन्दर की ओर से सिर को खाते रहते हैं, जिससे कि सिर में अत्यन्त पीड़ा और अन्दर की ओर स्फुरण सा होता है। इसमें नासिका से जल, रक्त, पूय तथा कभी २ कृमि भी निकलते हैं।

मधु०—क्रिमिजमाह—निस्तुद्यत इत्यादि। निस्तुद्यते सूचीभिरिव तुद्यते। संभक्ष्यमाणमित्यत्र 'क्रिमिभिः' इति शेषः, प्रकरणात्। स्फुरतीव मनाक् चलतीव। घ्राणाच्चेति चकारो भिन्नक्रमेण सलिलमित्यत्र संबध्यते, तेन सलिलं पूयं च गच्छेत् तथा क्रिमयश्च कदाचिद्गच्छन्तीति, तथाच चरकः—"क्रिमीणां दर्शनेन च" (च. सू. स्था. अ. १७) इति ॥७॥

यहां चकार को भिन्नक्रम में मान कर सलिल के साथ सम्बन्धित किया जाता है, एवं सलिल और पूय तथा कभी २ कृमि भी निकलते हैं, यह अर्थ वनता है। शेष स्पष्ट है।

सूर्या(प)वर्तस्य लक्षणमवतारयति—

सूर्योदयं या प्रति मन्दमन्द-
मक्षिभ्रुवं रुक् समुपैति गाढा।
विवर्धते चांशुमता सहैव
सूर्यापवृत्तौ विनिवर्तते च॥
सर्वात्मकं कष्टतमं विकारं
सूर्यापवर्तं तमुदाहरन्ति ॥८॥

१ स्फुटतीव. २ रुधिरं. ३ सरक्तं. ४ घ्राणाच्च गच्छेदित्यत्र चकारेण क्रमयश्च गच्छन्तीति ग्रहणं.

जो पीड़ा सूर्योदय से आरम्भ होकर (उसके साथ २ ही) धीरे २ बढ़ती हुई नेत्र और भ्रुवों को प्राप्त कर लेती है, तथा जो सूर्य के साथ साथ ही प्रगाढ़ होकर बढ़ती चली जाती है और जो मध्याह्न के बाद सूर्य के साथ साथ ही निवृत्त होती चली जाती है। वह पीड़ा रूप विकार सूर्यावर्त होता है, जो कि सर्वदोषज एवं कष्टसाध्य होता है।

वक्तव्य—सूर्यावर्त की गति सूर्य के अनुसार ही होती है। जिस प्रकार सूर्य प्रातः उदित होकर क्रमशः मध्याह्न तक बढ़ता चला जाता है; और तदनु क्रमशः क्षीणतेज होता हुआ सायंकाल को अस्त हो जाता है, उसी प्रकार यह शिरोभिताप भी प्रातःकाल आरम्भ होकर क्रमशः मध्याह्न तक बढ़ता चला जाता है; और तदनु क्रमशः क्षीण होता हुआ सायंकाल को शान्त हो जाता है। इसके स्थान नेत्र और भ्रू हैं। यह विकार कष्टसाध्य होता है और इसकी उत्पत्ति त्रिदोष से होती है। ऊपर कहा गया है कि यह रोग प्रातः सूर्योदय से प्रारम्भ होकर मध्याह्न तक बढ़ता है और तदनु सायं तक क्षीण होता हुआ शान्त हो जाता है। सूर्य की तरह प्रवृत्त होने से ही इसका नाम सूर्यावर्त है। इसकी व्युत्पत्ति—'सूर्यमिव आवर्तो भ्रमणं यस्य सो विकारः सूर्यावर्तः'। अथवा 'सूर्यमिव भास्करवत्, आ-समन्तात्, वर्तते-प्रचरति, इति सूर्यावर्तः' यह है। यह सूर्य की तरह प्रचार वाला है, अतः इसे सूर्यावर्त कहा जाता है। इसका इस प्रकार प्रचार वाला होना व्याधि का अपना स्वभाव है, यह विचार श्रीकण्ठ आदिकों का है, किन्तु वस्तुतः इसका ऐसा होना सकारण है। वह कारण यह है कि रात्रि स्वभावतः शीतप्रधान और तमोगुण का मूल होती है। अतः तब उनसे बढ़े हुए कफ से मार्ग के रुक जाने पर वायु प्रकुपित होकर प्रातःकाल सिर में पीड़ा कर देती है, जो कि मध्याह्न तक बढ़ती जाती है। जब मध्याह्न में सूर्य का ताप प्रखर हो जाता है तो उससे वह मार्गावरोधक कफ पिघल जाता है, जिससे वायु अपने स्थान में स्थिति करने लगती है और पीड़ा भी शान्त होने लगती है। सायंकाल तक सम्पूर्ण कफ पिघल जाता है, मार्ग साफ हो जाता है, वायु अपने स्थान में चली जाती है, तब पीड़ा भी शान्त हो जाती है। इसी भाव को लेकर आचार्य निमि ने भी कहा है कि—"स्वभावशीता तमसोभिमूला रात्रिस्तमोद्भूतकफेन मार्गे। रुद्धे मरुत्कोपमियात् प्रभाते रुजं करोत्यत्र शिरोभितापे॥ मध्याह्नसूर्यातपतापयोगात् कफे विलीने मरुति प्रपन्ने। स्वमार्गमायाति तदा दिनान्ते प्रशान्तिमावर्त इहार्कपूर्वे"। यहां आचार्य दृढ़बल और ही कारण मानता है। वह कहता है कि सूर्य की गर्मी से मस्तुलुङ्ग विलीन हो जाता है, जिससे कि यह सूर्यावर्तक नाम वाला रोग हो जाता है। इसका क्रम यह है कि जैसे २ सूर्य आकाश के मध्य की ओर चलता जाता है, वैसे २ उसकी गर्मी बढ़ती जाती है और गर्मी की बढ़ती के साथ साथ मस्तुलुङ्ग की विलीनता भी बढ़ती जाती है, जिससे कि पीड़ा भी बढ़ती जाती है। मध्याह्न में

सूर्य अपने पूर्ण यौवन पर होता है, उसकी सहधर्मिणी गर्मी भी पूर्ण यौवन में होती है। तब मस्तुलुङ्ग का शोषण भी परिपूर्ण होता है, जिससे पीड़ा भी पूर्ण युवा हो प्रगाढ़ बन जाती है। तदनु सूर्य क्षीण होने लगता है, उसकी सहधर्मिणी में भी जरा आने लगती है। अतः मस्तुलुङ्ग के शोषण में शिथिलता पड़ जाती है, जिससे पीड़ा शान्त होने लगती है। सायंकाल को सूर्य अस्त हो जाता है, उसकी सहधर्मिणी सती हो जाती है, मस्तुलुङ्ग का शोषण बन्द हो जाता है और पीड़ा थम जाती है। डल्हण ने सुश्रुत में सूर्यावर्त के लक्षण पर यह पाठ माना है कि—"सूर्योदयं या प्रति मन्दमन्दमक्षिभ्रुवं रुक् समुपैति गाढम्। विवर्धते चांशुमता सहैव सूर्यापवृत्तौ विनिवर्तते च ॥ शीतेन शान्तिं लभते कदाचिदुष्णेन जन्तुः सुखमाप्नुयाच्च। तं भास्करावर्तमुदाहरन्ति सर्वात्मकं कष्टतमं विकारम्"। इसमें 'शीतेन शान्तिं लभते कदाचित्' से शीतता को उपशय बताया है। जब शीतता उपशय होगी; तो आवश्यक है कि उष्णता अनुपशय हो, किन्तु यहां 'उष्णेन जन्तुः सुखमाप्नुयाच्च' से उष्णता को भी उपशय बताया है। एवं इसमें स्वोक्ति विरोध आता है। इस पर कई आचार्य कहते हैं कि यहां कोई दोष नहीं है, क्योंकि सूर्यापवर्त दो प्रकार का होता है। एक सूर्यावर्त और दूसरा सूर्यावर्तविपर्यय। एवं प्रथम शीततारूप उपशय सूर्यावर्त का है और दूसरा उष्णता रूप उपशय सूर्यावर्त विपर्यय का है। इसी 'उष्णेन' इत्यादि पाठ से ही सुश्रुत ने सूर्यावर्त विपर्यय का भी सङ्केत कर दिया है। इसका स्पष्ट लक्षण सुश्रुत ने इस कारण नहीं कहा कि सूर्यावर्त को विपरीत करने से वह स्वयं सिद्ध हो जाता है। इसका लक्षण तन्त्रान्तरों में दिया गया है, जिनमें से विदेहोक्त लक्षण पीछे दिया गया है तथा आगे मधुकोश में श्रीकण्ठ ने भी दिया है, अतः वहीं से देख लेना चाहिए।

मधु०—सूर्यावर्तलक्षणमाह—सूर्योदयमित्यादि। सूर्योदयं प्रति लक्षीकृत्य या रुगक्षिभ्रुवं समुपैतीति संबन्धः। अक्षिभ्रुवाविति पाठान्तरे प्राण्यङ्गत्वेन प्रासैकवद्भावस्याभावः, नासिकास्तनयोरितिवल्लक्षणव्यभिचारात्। सूर्योदये प्रातर्मन्दं मन्दं यथा स्यात्तथा रुजां समुपैति, अंशुमता च सूर्येण सह गाढा यथा भवति तथा वर्धते। अयमर्थः—यथा सूर्यो वर्धते तथा वेदना प्रवृद्धा भवति, सूर्यस्याप्रवृत्तौ सायाह्ने विनिवर्तते शाम्यतीत्यर्थः; 'गाढा' इत्यत्र 'गूढा' इति पाठान्तरं, तदा सूर्यापगमे गूढा रात्रौ लीनेत्यर्थः। सर्वात्मकमिति सन्निपातजम्। व्याधिस्वभावाच्च कालविशेषनियमः। कष्टतमं कृच्छ्रसाध्यम्। ननु, अयं सुश्रुते वातपित्ताभ्यां पठ्यते, तद्यथा—"आवर्तसंज्ञः स तु सूर्यपूर्वो व्याधिर्मतः पित्तसमीरणाभ्याम्। शीतेन शान्तिं लभते कदाचिदुष्णेन जन्तुः सुखमाप्नुयाच्च ॥" (सु. उ. तं. अ. २५) इति। तत्कथं सर्वजत्वम्? उच्यते—सुश्रुते औत्कर्षेण व्यपदेश इति न विरोधः। ननु, एवं कथं रात्रौ वायुसमानगुणशीतप्रादुर्भावे वेदनालीनता, दिवसस्याद्यन्तयोर्मन्दरुक्त्वं च? उच्यते—अत्रापि पित्तस्य प्रबलतमत्वात्। यत्तु चिकित्सायां शिरीषमूलपिप्पलीमूलवचावपीडाद्यभिहितं तद्व्याधिप्रत्यनीकत्वात्। अथ वातपित्तजत्ववर्णनेन विशिष्टकालभवने हेतुर्दर्शितो भवति। यतो वातपित्तयोः शीतोष्णात्मकत्वात्। पूर्वाह्णे सूर्यवृद्धिक्रमेण स्रोतसां

संकोचक्रमादवरुद्धमार्गयोर्वेदनाकरत्वं, पराह्णे निवर्तमाने सूर्ये तु स्रोतसां विवृतत्वात् स्वमार्गव्याघातविरहेण वेदनाया अजनकत्वमिति युक्तः कालविशेषनियमः। तथाचाह निमिः—"सूर्यसोमात्मकौ नित्यं स्वहेतू पित्तमारुतौ। कुर्वाते वेदनां तीव्रां दिनात् पूर्वाह्ण एव तु॥ आदित्यतेजसा युक्ते निवृत्तेऽपि च भास्करे। स्रोतसां विवृतत्वाच्च ततः श्लेष्माऽधिगच्छति॥ उद्धतो मातरिश्वा च स्वमार्गं प्रतिपद्यते। तस्मान्मध्यदिनादूर्ध्वं वेदनाऽत्र प्रशाम्यति"—इति। वातपित्तजत्वमस्याधिकत्वेन व्यपदेश इति न्यायात्; तेन पूर्वेण समं न विरोधः। विदेहे सूर्यावर्तविपर्ययोऽपि पठ्यते—"तत्र वातानुगं पित्तं चितं शिरसि तिष्ठति। मध्याह्ने तेजसाऽर्कस्य तद्विवृद्धं शिरोरुजम्॥ करोति पैत्तिकीं घोरां संशाम्यति दिनक्षये। अस्तंगते प्रभाहीने सूर्ये वायुर्विवर्धते॥ पित्तं शान्तिमवाप्नोति ततः शाम्यति वेदना। एष पित्तानिलकृतः सूर्यावर्तविपर्ययः"- इति। अयमत्र सूर्यावर्त एवान्तर्भावनीयः, चातुर्थिके चातुर्थिकविपर्ययवत् ॥८॥

(सर्वात्मकमिति—) यह रोग सर्वात्मक अर्थात् सन्निपातज है। यहां कालविशेष का नियम व्याधि के स्वभाव से है। 'कष्टतमं' से यहां तीसरे दर्जे का कष्टसाध्य लिया जाता है। अब यहां शंका होती है कि यहां इसे श्री माधव जी ने सन्निपातज माना है किन्तु सुश्रुत में यह वातपित्तज स्वीकृत है। तद्यथा—'वह सूर्य पूर्वक आवर्त नाम वाली व्याधि पित्त और वायु से होती है। इसमें मनुष्य कभी २ शीत से शान्ति भी प्राप्त करता है और उष्णता से सुखी होता है'। एवं जब ऐसा है तो इसमें त्रिदोषजत्व किस प्रकार आ सकता है? इसका उत्तर यह है कि वस्तुतः यह सन्निपात से ही होता है किन्तु सन्निपात के तेरह भेदों में से यह वातपित्तोल्बण सन्निपातज होने के कारण सुश्रुत में वातपित्तज से कहा गया है अर्थात् सुश्रुत में इसका वातपित्तात्मक रूप से निर्देश उत्कर्षता के कारण है, अतः विरोध नहीं आता। (ननु—) यदि ऐसा ही है अर्थात् यह वातपित्तोल्बण है, तो रात्रि में वायु के समान गुण शीत के होने से पीड़ा की शान्ति क्यों हो जाती है और दिन के आदि तथा अन्त में पीड़ा की मन्द गति क्यों हो जाती है? इसका उत्तर यह है कि यहां भी पित्त के प्रबलतम होने से उपर्युक्त भाव होते हैं। जो चिकित्सा में शिरीषमूल, पिप्पलीमूल और वचा आदिकों का अवपीड़न आदि (पैत्तिक पदार्थों का देना) कहा है, वह व्याधिप्रत्यनीक होने से विहित किया है। इसका वातपित्तजपन से वर्णन कालविशेष में होने का हेतु है, क्योंकि वात और पित्त के शीतोष्णात्मक होने से पूर्वाह्ण में सूर्य की वृद्धि के क्रम से स्रोतों के क्रमशः संकुचित होने के कारण उनका (वात और पित्त का) मार्ग रुक जाता है जिससे वे पीड़ा करते हैं। एवं पराह्ण में सूर्य के नीचे की ओर चलने से स्रोत खुल जाते हैं, जिससे अपने मार्ग की रुकावट न रहने से वे वातपित्त पीड़ा को नहीं उपजाते। इस तरह कालनियम युक्तियुक्त हो जाता है। निमि ने भी ऐसा ही कहा है कि—'सूर्यचन्द्रात्मक पित्त और वात दिन के प्रथम भाग में तीव्र वेदना करते हैं। आदित्य के तेज से युक्त सूर्य के निवृत्त होने पर स्रोतों के खुल जाने से श्लेष्मा विलीन हो जाती है और उद्धतवायु अपने मार्ग में चला जाता है। इस कारण मध्याह्न के समय इस रोग में पीड़ा शान्त हो जाती है'। यहां भी इसका वातपित्तजपन वातपित्त की उल्बणता के कारण ही कहा है। इस कारण इसका पूर्वोक्त से विरोध नहीं आता। विदेहकृत तन्त्र में सूर्यावर्तविपर्यय भी पढ़ा जाता है। तद्यथा—"इस शिरोभिताप में वातानुग पित्त सिर में संचित होकर ठहर जाता है और मध्याह्न में सूर्य के तेज से बढ़ा हुआ वह दारुण पैत्तिकी शिरपीड़ा कर देता है, जो कि

दिन के क्षीण हो जाने पर शान्त होती है। प्रभारहित सूर्य के अस्त हो जाने पर और वायु के बढ़ जाने पर पित्त शान्त हो जाता है जिससे कि पीड़ा भी शान्त हो जाती है। यह पित्त और वात से उपजाया हुआ सूर्यावर्तविपर्यय नामक रोग होता है। जैसे कि चातुर्थिकज्वर में चातुर्थिकविपर्यय लिया जाता है, उसी प्रकार यह रोग प्रकृत में सूर्यावर्त में ही ले लेना चाहिए।

अनन्तवातस्य निदानसंप्राप्तिपूर्वकं स्वरूपमाह—

दोषास्तु दुष्टास्त्रय एव मन्यां
संपीड्य घाटासु रुजां सुतीव्राम्।
कुर्वन्ति योऽक्षिभ्रुवि[1] शङ्खदेशे
स्थितिं करोत्याशु विशेषतस्तु ॥९॥ [सु० ६।२५]
गण्डस्य पार्श्वे तु करोति कम्पं
हनुग्रहं लोचनजांश्च रोगान्।
अनन्तवातं तमुदाहरन्ति
दोषत्रयोत्थं शिरसो विकारम् ॥१०॥ [सु० ६।२५]

दुष्ट हुए वातादि तीनों दोष ग्रीवा में होने वाली मन्या नामक दोनों सिराओं को सम्पीडित कर ग्रीवा के पिछले भाग में दारुण पीड़ा कर देते हैं; और जो यह रोग नेत्र, भ्रू तथा शङ्ख प्रदेश में विशेषतः होता है; तथा जो कपोल के एक तरफ कम्प, हनुग्रह और नेत्ररोगों को उत्पन्न करता है, तीनों दोषों से होने वाले उस शिरोभिताप को वैद्य लोग अनन्तवात के नाम से पुकारते हैं।

मधु०—अनन्तवातलक्षणमाह—दोषा इत्यादि। मन्या ग्रीवासिराद्वयं, तां संपीड्य, घाटासु ग्रीवापश्चाद्भागेषु, दोषास्त्रय एव रुजां वेदनां सुतीव्रां कुर्वन्ति, तथा अक्षिभ्रुवि शङ्खदेशे च स्थितिमारब्धत्वं यो विशेषतः करोति, तथा गण्डपार्श्वे कम्पं हनुग्रहादिकं च यः करोति, तमनन्तवातमुदाहरन्तीति योज्यम्। गण्डस्य कपोलस्य, पार्श्वे एकदेशे। हनुग्रहो वातव्याधिविशेषः। अमुं च सुश्रुते अन्यतोवातेनैव तुल्यत्वादनन्तवातं परित्यज्य दश शिरोरोगा अभिहिताः, एवं तन्त्रान्तरेऽपि 'कीर्तितास्तद्विदा दश' इत्यभिधानं, माधवकरेण तु त्रिदोषजत्वेन तदधिककम्पहनुग्रहलिङ्गयोगाच्च केवलवातजादन्यतोवाताद्विलक्षण एवायमिति अनन्तवातोऽधिकः पठितः, भेदो हि भेदवतां कारणभेदाद्विरुद्धधर्माध्यासाच्च भवतीति ॥९-१०॥

इस रोग को सुश्रुत में अन्यतोवात के समान मान कर उसी में लेकर छोड़ दिया है, एवं वहां दस शिरोरोग कहे हैं। इसी प्रकार तंत्रान्तर में भी—'कीर्तितास्तद्विदा दश' से दस ही शिरोरोग माने हैं। किन्तु माधवकर ने इसके त्रिदोषजत्व तथा इसमें कम्प आदि अधिक लक्षणों को देखकर इसे केवल वातिक अन्यतोवात से विलक्षण माना है। अतः यहां अनन्तवात अधिक पढ़ा है। शेष स्पष्ट ही है।

१ साक्षिभ्रुवि.

निदानसंप्राप्तिपूर्वकमर्धावभेदस्य लक्षणमाह—

रूक्षाशनात्यध्यशनप्राग्वातावश्यमैथुनैः ।
वेगसंधारणायासव्यायामैः कुपितोऽनिलः ॥११॥
केवलः सकफो वाऽर्धं गृहीत्वा शिरसो बली ॥
मन्याभ्रूशङ्खकर्णाक्षिललाटार्धेऽतिवेदनाम् ॥१२॥
शस्त्रारणिनिभां कुर्यात्तीव्रां सोऽर्धावभेदकः ।
नयनं वाऽथवा श्रोत्रमतिवृद्धो विनाशयेत् ॥१३॥

रूक्षभोजन, अतिअध्यशन, अतिप्राग्वातसेवन, अतिहिमसेवन, अतिमैथुन-सेवन, वेगावरोध, आयास और व्यायाम से प्रकुपित वायु अकेला वा कफमिश्रित होकर आधे शिर को जकड़ कर मन्या, भ्रू, शङ्ख, कर्ण, नेत्र और ललाटार्ध में तीव्रपीड़ा को उत्पन्न कर देता है, जो कि शस्त्र से कटने के बराबर वा प्रचण्ड अग्नि के बराबर तीव्र होती है। यही रोग अर्धावभेदक होता है, जो कि अत्यधिक बढ़ा हुआ नेत्र वा कान को नष्ट कर देता है।

मधु०—अर्धावभेदलक्षणमाह—रूक्षाशनेत्यादि । अध्यशनमजीर्णे भोजनम् । अवश्यायेति अवश्यायो हिममुच्यते, छन्दोऽनुरोधेन यकारलोपो ह्रस्वत्वं चेति व्याचक्षते । कदाचित् सश्लेष्मवातजत्वमिति विकल्पं दर्शयति—केवल इत्यादि । शस्त्रारणिनिभां शस्त्रच्छेदनिभामरणिनिभां च, अरणिरग्न्युत्थापनकाष्ठयन्त्रं, तस्य मन्थनवत् पीडा; किंवा अरणिना कारणेनाग्निरेवोच्यते, तेनाग्निनिभां वेदनाम् । सुश्रुते त्वयं त्रिदोषजः पठितः । तद्यथा—"यस्योत्तमाङ्गं रुजतेऽर्धमात्रं सतोदभेदभ्रममोहशूलैः । पक्षाद्दशाहादथवाऽप्यकस्मात्तमर्धभेदं त्रितयाद्व्यवस्येत् ॥" (सु. उ. तं. अ. २५) इति । अत्र तु केवलोऽनिलः सकफो वेत्यौत्कर्ष्यादभिधानं, 'सोऽर्धभेदः कफानिलात्' इति विदेहेऽप्येवं बोद्धव्यम् । अयमुपेक्ष्यमाणो नयनादिकं हन्यादित्याह—नयनमित्यादि । अत्रैव विदेहः—"शिरसोऽन्यतरे पार्श्वे कुपितो मारुतो यदा । श्लेष्मणा रुध्यते जन्तोस्तोदस्फुटनदालनैः ॥ शूलावदारणैर्गाढमर्धं तदवरुध्यते । नयनं चावदीर्येत सोऽर्धभेदः कफानिलात् ॥ तथा त्र्यहात् स पञ्चाहात् पञ्चान्मासाच्च देहिनाम्" इति । सुश्रुते 'पवनात् सपित्तात्' इति केचित् पठन्ति । तेन वातपित्तजत्वमस्य । सात्यकिना 'वायुः शिरःशङ्खभ्रूनेत्रमवगृह्य' इत्यादिना वातजत्वमस्य दर्शितम् । अन्ये तु सन्निपाताधिकारात् सन्निपातजं पठन्ति, तथाच सुश्रुतः—"त्रितयाद्व्यवस्येत्" (सु. उ. तं. अ. २५) इति । व्याधिस्वभावादचिरानुबन्धकत्वं सान्निपातिकत्वेऽपि ॥११–१३॥

(सुश्रुते त्वयमिति—) सुश्रुत में तो यह रोग त्रिदोषज माना गया है। तद्यथा—जिस मनुष्य का आधा सिर पन्द्रह दिन बाद वा दस दिन बाद अकस्मात् तोद, भेद, भ्रम, मोह और शूल के साथ साथ पीड़ित होता है, उसे त्रिदोषज अर्धावभेदक समझना चाहिए। अतः यहां जो इसे केवल वातज वा कफमिश्रित वातज कहा है, वह उत्कर्ष

१ सं० अर्धावभेदक, हि० आधे सिर की पीड़ा, अ० शक़ीक़ा, इ० हेमिक्रेनिया (Hemicrania).

को लेकर कहा है और 'सोऽर्धभेदः कफानिलात्' इस वाक्य से विदेहतन्त्र में भी इसे वैसा ही जानना चाहिए। उपेक्षा करने पर यह नयन आदि को नष्ट कर देता है। इसी पर विदेह ने भी कहा है कि—'जब कुपित वायु सिर के किसी एक पार्श्व में श्लेष्मा द्वारा अवरुद्ध हो जाता है, तो वह तोद, स्फुटन, दालन, शूल और अवदारण से उस आधे सिर को भली प्रकार जकड़ लेता है। इसमें नेत्र भी अवदीर्ण होता है। यह अर्धावभेदक कफ और वात से होता है और इसका वेग तीन दिन बाद, पांच दिन बाद, पन्द्रह दिन बाद वा एक मास बाद होता है'। सुश्रुत में कई 'पवनात् सपित्तात्' यह पाठान्तर मानते हैं। इससे इसकी वातपित्तजता सिद्ध होती है। सात्यकि ने 'वायुः शिरःशङ्खभ्रूनेत्रमवगृह्य' इत्यादि से इसे वातजत्व से ही स्वीकार किया है। दूसरे आचार्य सन्निपातज अधिकार में आने के कारण इसे सन्निपातज ही मानते हैं। तथाच सुश्रुतः 'त्रितयाद्व्यवस्येत्'। इसके सन्निपातज होने पर भी इसमें चिरानुबन्धकत्व व्याधि के स्वभाव से होता है।

वक्तव्य—'यस्योत्तमाङ्गं' इत्यादि श्लोक में डल्हण ने इस प्रकार का पाठान्तर माना है। तद्यथा—'यस्योत्तमाङ्गार्धमतीव जन्तोः सम्भेदतोदभ्रमशूलजुष्टम्। पक्षाद्दशाहादथवाऽप्यकस्मात् तस्यार्धभेदं त्रितयाद् व्यवस्येत्'। कई आचार्य चतुर्थपाद में 'तस्यार्धभेदं पवनात्सपित्तात्' यह; तथा कई आचार्य 'तस्यार्धभेदं द्वितयाद्द्विवस्येत्' यह पाठान्तर मानते हैं।

निदानसंप्राप्तिपूर्वकं शङ्खकस्य स्वरूपं तदसाध्यताञ्चाह—

रक्तपित्तानिला[१] दुष्टाः शङ्खदेशे विमूर्च्छिताः।
तीव्ररुग्दाहरागं हि शोथं कुर्वन्ति दारुणम् ॥१४॥
स शिरो विषवद्वेगी निरुध्याशु गलं तथा।
त्रिरात्राज्जीवितं हन्ति शङ्खको नामतः परम्।
त्र्यहाज्जीवति भैषज्यं प्रत्याख्याय समाचरेत् ॥१५॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने शिरोरोगनिदानं समाप्तम् ॥६०॥

रक्त, पित्त और वायु दुष्ट होकर शङ्खप्रदेश में आ जाते हैं और वहां पर तीव्रपीड़ा, दाह, राग और दारुण शोथ को उपजा देते हैं। तब वह शोथ विष की तरह बड़े वेग से सिर में व्याप्त होकर शीघ्र ही गले को रोक तीन दिन के अनन्तर प्राणों को हर लेता है, किन्तु इसके पहले रोगी वैद्य, परिचार और औषध के अपने अपने गुणों से युक्त होने पर व्याधित बच भी जाता है, परन्तु इन दिनों में भी जवाब देकर ही चिकित्सा करनी चाहिए। इस रोग का नाम शङ्खक होता है।

वक्तव्य—शङ्खक नामक रोग में रक्त, पित्त और वायु दुष्ट होकर पहले शङ्खदेश में स्थिति करते हैं, तदनु च वहां शोथ उपजा देते हैं जिसमें कि तीव्रपीड़ा, तीव्रदाह और तीव्रराग होता है। उसके बाद वह शोथ बड़े वेग से विष की तरह सिर में व्याप्त होकर शीघ्र ही गले को रोक लेती है। यही शोथ (शंख नाम से कहलाती है, जो कि) रोगी को (उपचरित न होने पर) तीन दिन बाद मार देती है; किन्तु पादचतुष्टय के ठीक होने पर यदि तीन दिन के अन्दर चिकित्सा की जावे

१ पित्तरक्तानिलाः.

तो रोगी बच भी रहता है, परन्तु तब भी 'अक्रियायां ध्रुवं मृत्युः क्रियायां संशयो भवेत्' (चरकः) के अनुसार जवाब देकर ही चिकित्सा करनी चाहिए। भाव यह निकला कि यह रोग तीन दिन के बाद तो निश्चित असाध्य है ही किन्तु तीन दिन के अन्दर भी विकल्प से असाध्य है। इसको यदि और भी विशद किया जावे तो वह इस तरह कह सकते हैं कि यह रोग तीन दिन के अनन्तर निस्सन्देह असाध्य है किन्तु इससे पूर्व पादचतुष्टय के ठीक होने पर तथा इस रोग को उत्पन्न करने वाले कर्म के शान्त हो जाने पर यह रोग ठीक हो जाता है; अन्यथा तीन दिन में भी मार देता है। कई विद्वान् इसकी व्याख्या करते हुए 'परम्' शब्द को 'अहात्' के साथ सम्बन्धित करते हैं। एवं 'अहात् परं जीवति' यह अर्थ लगाते हैं अर्थात् वे कहते हैं कि यह रोग तीन दिन में जीवन को नष्ट कर देता है; किन्तु तीन दिन के बाद कुशल वैद्य से चिकित्सा किये जाने पर रोगी बच जाता है, परन्तु तो भी जवाब देकर ही चिकित्सा करनी चाहिए। तीसरे विद्वान् 'परम्' को तो पहली व्याख्या की तरह ही संयुक्त करते हैं, किन्तु 'भैषज्यं प्रत्याख्याय समाचरेत्' को 'अहाज्जीवति' के साथ संयुक्त न कर 'त्रिरात्रात्परं जीवितं हन्ति' के साथ संयुक्त करते हैं, एवं यह अर्थ बनता है कि यह रोग रोगी को तीन दिन के बाद मार देता है, किन्तु इससे पूर्व योग्य चिकित्सक द्वारा चिकित्सा होने पर वह रोगी बच जाता है, परन्तु इसके अर्थात् तीन दिन के बाद भी जवाब देकर चिकित्सा करनी चाहिए। इसका भाव यह है कि यह रोग तीन दिन के अन्दर भली प्रकार साध्य है और उसके बाद असाध्य (अर्थात् मारक) है, किन्तु फिर भी 'अक्रियायां ध्रुवं मृत्युः क्रियायां संशयो भवेत्' के अनुसार वैद्य को चाहिए कि जवाब देकर उसकी चिकित्सा करे। चौथे टीकाकार विद्वान् यहां यह मानते हैं कि यह रोग तीन दिन के अन्दर जीवन को नष्ट कर देता है, किन्तु तीन दिन में न मरने वाला मनुष्य बाद में योग्य वैद्य से चिकित्सा कराने पर बच जाता है। अतः यदि तीन दिन के अन्दर चिकित्सा करनी पड़े, तो जवाब देकर करनी चाहिए। इसका भाव यह है कि इस रोग में तीन दिन में रोगी मर जाता है। यदि कथंचित् वह तीन दिन निकाल ले तो बाद में योग्य वैद्य से चिकित्सा कराने पर वह बच जाता है, किन्तु यदि तीन दिन के अन्दर चिकित्सा करनी पड़े तो जवाब देकर करनी चाहिए, क्योंकि वहां प्रधानतः तीन दिन को गुजारना होता है, वे सम्भवतः गुजरें या न गुजरें, यह सन्देह रहता है। इस सन्देह को कह कर चिकित्सा करना ही प्रत्याख्यान कर चिकित्सा करना है। इन चारों व्याख्याओं में से प्रथम व्याख्या ही ठीक है, अन्यथा विदेहवाक्य के साथ विरोध आता है, क्योंकि विदेह ने इसे तीन दिन के बाद मारक माना है, और इससे पूर्व भली प्रकार चिकित्सा करने पर साध्य माना है। इसका यह भी भाव है कि तीन दिन से पूर्व भी चिकित्सा करते समय जवाब देकर चिकित्सा आरम्भ करनी चाहिए, क्योंकि सम्भवतः कहीं त्रुटि

जावे और वह रोगी न बच सके। विदेहवाक्यं यथा—"चीयते तु तदा पित्तं शंखयो-रनिलाचितम् । निरुणद्धि ततो मर्म परिपूरितमुल्बणम् ॥ ततः शंखौ प्ररुज्येते दह्येते इव वह्निना । सूचीभिरिव तुद्येते निकृत्येते इवासिना ॥ शंखको नाम शिरसि व्याधिरेषः सुदारुणः । तृष्णामूर्च्छाज्वरकरस्त्रिरात्रात् परमन्तकृत् ॥ कुशलेन तूपक्रान्तस्त्रिरात्रादेव जीवति"। इस रोग को यहां पर रक्त, पित्त और वात के मेल से माना है, किन्तु कहीं कहीं यह रक्त सहित त्रिदोष से माना गया है। सुश्रुत में भी इसे इसी प्रकार का माना गया है। तद्यथा-"शङ्खाश्रितो वायुरुदीर्णवेगः कृतानुयात्रः कफपित्तरक्तैः। रुजः सुतीव्राः प्रतनोति मूर्ध्नि विशेषतश्चापि हि शङ्खयोस्तु ॥ सुकष्टमेनं खलु शङ्खकाख्यं महर्षयो वेदविदः पुराणाः। व्याधिं वदन्त्युद्गतमृत्युकल्पं भिषक्सहस्रैरपि दुर्निवारम्"।

मधु०—शङ्खकलक्षणमाह—रक्तपित्तानिला इत्यादि। दुष्टाश्चयादिमन्तः। मूर्च्छिता अन्योन्यमेकीभूताः। कफोऽप्यत्र बोद्धव्यः, तथाच सुश्रुतः—"शङ्खाश्रितो वायुरुदीर्णवेगः कृतानुतापः कफपित्तरक्तैः॥" (सु. उ. तं. अ. २५) इति। (मारकत्वमाह—त्रिरात्राज्जीवितं हन्तीति। कुशलेनोपक्रमे क्रियमाणे त्रिरात्रात् परतो जीवत्येवेत्यत आह—परं त्र्यहाज्जीवतीति। अत्र अहःसंबन्धिनी रात्रिरुपलक्ष्यते, तेन त्रिरात्रात् परं जीवतीत्यर्थः। तत् किमस्य त्रिरात्राभ्यन्तरे साध्यत्वमसाध्यत्वं वेत्यत आह—भैषज्यमित्यादि। तदनेन त्रिरात्राभ्यन्तरे विकल्पिता साध्यत्वं, त्रिरात्रात् परमसाध्यत्वं दर्शितम्। तत्रैव विदेहः—"चीयते तु तदा पित्तं शङ्खयोरनिलाचितम्। निरुणद्धि ततो मर्म परिपूरितमुल्बणम् ॥ ततः शङ्खौ प्ररुज्येते दह्येते इव वह्निना। सूचीभिरिव तुद्येते निकृत्येते इवासिना ॥ शङ्खको नाम शिरसि व्याधिरेषः सुदारुणः। तृष्णामूर्च्छाज्वरकरस्त्रिरात्रात् परमन्तकृत् ॥ कुशलेन तूपक्रान्तस्त्रिरात्रादेव जीवति" इति) ॥१४-१५॥

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायां शिरोरोगनिदानं समाप्तम् ॥६०॥

यहां पर कफ को भी कारण रूप से जानना चाहिए। जैसे सुश्रुत ने कहा भी है कि—'शंख प्रदेश में आश्रित उदीर्ण वेग वाला वायुदोष कफ, पित्त और रक्त से अनुतप्त हुआ२ सिर में, विशेषतः शङ्खप्रदेशों में तीव्र पीड़ाओं को करता है'। (तदनेनेति—) तो इससे तीन दिन के अन्दर विकल्प से असाध्यता और तीन दिन के बाद असाध्यता प्रकट होती है। इसी पर विदेह ने भी कहा है कि—'तव वायु से संयुक्त पित्त शङ्खप्रदेशों में निचित होकर मर्म को रोक लेता है, जिससे शंख पीड़ित होते हैं, अग्नि द्वारा दग्ध से होते हैं, सुइयों द्वारा तुदित से होते हैं और तलवार द्वारा कटते से प्रतीत होते हैं। यह सिर में होने वाली दारुण व्याधि शङ्खक नाम से पुकारी जाती है तथा यह तृष्णा, मूर्च्छा और ज्वर को करती है, एवं तीन दिन के अनन्तर मार देती है; किन्तु यदि तीन दिन से पूर्व कुशल वैद्य द्वारा चिकित्सा की जावे तो इसमें मनुष्य बच जाता है, अन्यथा नहीं।

अथासृग्दरनिदानम् ।

प्रदरस्य निदानमवतारयति—

विरुद्धमद्याध्यशनादजीर्णाद्
गर्भप्रपातादतिमैथुनाच्च ।
यानाध्वशोकादतिकर्षणाच्च
भाराभिघाताच्छयनाद् दिवा च ।
तं श्लेष्मपित्तानिलसंनिपातै-
श्चतुःप्रकारं प्रदरं वदन्ति ॥१॥

परस्पर विरुद्ध (संयोगविरुद्ध, मात्राविरुद्ध आदि) भोजन से, मद्य पीने से, अध्यशन से, अजीर्ण से, गर्भप्रपात से, अतिमैथुन से, यान द्वारा चलने से, बहुत मार्ग चलने से, शोक से, लंघनादि द्वारा धातुओं के क्षीण होते जाने से, भार उठाने से, चोट लगने से और दिन में सोने से प्रदर रोग हो जाता है, जो कि कफ, पित्त, वात और सन्निपात इन भेदों द्वारा चार प्रकार का होता है।

वक्तव्य—प्रदर उस रोग को कहते हैं जिसमें कि योनि मार्ग द्वारा स्राव अधिक आता है। वह स्राव चाहे मैथुन के समय आवे वा उससे भिन्न समय में। इसकी उत्पत्ति जिन कारणों द्वारा होती है, वे कारण ऊपर बता दिए हैं। चरक ने भी कहा है कि—"यः पूर्वमुक्तः प्रदरः शृणु हेत्वादिभिस्तु तम्। यात्यर्थं सेवते नारी लवणाम्लगुरूणि च। कटून्यथ विदाहीनि स्निग्धानि पिशितानि च॥ ग्राम्यौदकानि मेध्यानि कृशरं पायसं दधि। शुक्तमस्तुसुरादीनि भजन्त्याः कुपितोऽनिलः॥ रक्तं प्रमाणमुत्क्रम्य गर्भाशयगताः सिराः। रजोवहाः समाश्रित्य रक्तमादाय तद्रजः। यस्माद्विवर्धयत्याशु रक्तपित्तं समारुतम्॥ तस्मादसृग्दरं प्राहुरेतत्तन्त्रविशारदाः। रजः प्रदीर्यते यस्मात्प्रदरस्तेन स स्मृतः॥ सामान्यतः समुद्दिष्टं कारणं लिङ्गमेव च। चतुर्विधं व्यासतस्तु वाताद्यैः सन्निपाततः॥" (च. चि. स्था. अ. ३०)। इससे प्रदर की निदान शृङ्खला तथा सम्प्राप्ति एवं प्रकार भी आ जाते हैं। उपर्युक्त का भाव यह है कि उपर्युक्त कारणों द्वारा योनि में से समय के बिना ही जो स्राव बहने लगता है, उसे प्रदर कहा जाता है। वह दोषानुसार चार प्रकार का होता है और वर्णानुसार प्रधानतः दो प्रकार का होता है। एक—श्वेत[1] प्रदर, दूसरा—रक्त प्रदर[2]। योनि से निकलने वाले उपर्युक्त स्राव को आर्तव कहा जाता है और यही आर्तव उपर्युक्त कारणों तथा अतिमैथुन से ऋतु के बिना ही जब आने लगता है, तो असृग्दर कहलाता है। यही बात सुश्रुत ने भी स्वसंहिता में कही है। तद्यथा—"तदेवातिप्रसङ्गेन प्रवृत्तमनृतावपि। असृग्दरं विजानीयात्"

१ श्वेतप्रदर ल्युकोरिया (Leucorrhea) सफेद पानी. २ रक्तप्रदर; असृग्दर, मेनोरेजिया (Menorrhagia) रक्तस्राव.

(सु. शा. स्था. अ. २)। अब विचारना है कि वह रज क्या वस्तु है, जो कि असृग्दर में परिणत होती है। इसमें प्रथम मुख्यतः दो प्रकार के मत हैं—एक नवीन और दूसरा प्राचीन। नवीन कहते हैं कि स्त्रियों के गर्भाशय से जो अकस्मात् रक्त बहने लगता है उसको रज कहते हैं, और इसी के रजोधर्म, मासिक धर्म, रजःस्राव, आर्तव, पराग, (स्त्री) शुक्र, बीजरक्त, बीजशोणित और मन्थली कोर्स ये नाम हैं। इसकी उत्पत्ति के विषय में कुछ नवीन विद्वान् यह मानते हैं कि गर्भाशय की श्लैष्मिक कला के नीचे रक्तकेशिकाएं रहती हैं, जिनके मुख बहुत छोटे छोटे होते हैं, परन्तु ये मुख स्नायुओं के आकुञ्चन के कारण सदैव बन्द रहते हैं। जब रक्त का स्राव होता है, तब स्नायु ढीले पड़ जाते हैं और उन केशिकाओं के छिद्र खुल जाते हैं, जिससे कि तब उनसे स्राव होने लगता है। इसी विषय पर दूसरे नवीन विद्वानों का प्रायः सर्वसम्मत यह मत है कि आर्तव निकलने से पहले गर्भाशय की श्लैष्मिककला अधिक रक्तमय हो जाती है और अधिक रक्त के कारण ही पहले से अधिक मोटी हो जाती है। अब रक्त केशिकाओं में से निकल कर श्लैष्मिककला में स्थान स्थान पर इकट्ठा हो जाता है, जिससे श्लैष्मिककला मुलायम तथा कुछ पिलपिली हो जाती है। तदनु रक्त श्लैष्मिककला में से बाहर आ जाता है और रक्त के आने पर श्लैष्मिककला सङ्कुचित होकर पूर्ववत् हो जाती है। यह आर्तव स्त्रियों की युवा अवस्था का परिचायक है। जब यह प्रथम बार आता है तो इसे रजोदर्शन कहते हैं। जब यह आ रहा होता है तो उस स्त्री को रजस्वला कहा जाता है। यह रजोधर्म १२-१४ वर्ष की आयु से लेकर ४५-५० वर्ष की आयु तक रहता है। और जब तक स्त्री गर्भवती रहती है तब तक यह बन्द भी रहता है। इसके अलावा यह जब कि बच्चे दूध पीते होते हैं, तब भी कुछ मास तक बन्द रहता है। इसमें कारण यह है कि आर्तव और स्तन्य दोनों ही रस से बनते हैं, किन्तु जब बच्चा दूध पीता है, तो दूध की आवश्यकता अधिक होने से रस से दूध ही अधिक बनता है, जिससे कि आर्तव नहीं आता। कई विद्वान् उस समय आर्तव के न आने में स्त्री की क्षीणता का कारण मानते हैं। दूसरे विद्वान् यह भी कहते हैं कि प्रसव के समय पर्याप्त रक्त निकल चुका होता है। अतः उसकी न्यूनता को दूर करने के लिए उस समय आहार रस से उपधातु रूप आर्तवरक्त अत्यल्प बनकर धातु रूप जीवरक्त ही अधिक बनता है, अतः तब आर्तव नहीं आता। कई स्त्रियाँ ऐसी भी होती हैं जिन्हें कि आर्तव आता ही नहीं; और वे गर्भधारण करती हैं। इनमें ऋतु के दिनों में "पीनप्रसन्नवदनां प्रक्लिन्नात्ममुखद्विजाम्। नरकामां प्रियकथां स्रस्तकुक्ष्यक्षिमूर्धजाम्॥ स्फुरद्भुजकुचश्रोणिनाभ्यूरुजघनस्फिचम्। हर्षौत्सुक्यपराञ्चापि विद्यादृतुमतीमिति॥" (सु. शा. अ. ३) ये लक्षण भी होते हैं। जब आर्तवदर्शन होता है तो कन्या का कुमारिकापन चला जाता है और वह स्त्रीत्व

को प्राप्त हो जाती है। इस समय में इसकी सम्पूर्ण जननेन्द्रियों में परिवर्तन होना आरम्भ हो जाता है अर्थात् इसकी विटप सन्धि की ऊपरली त्वचा में वाल उत्पन्न होने लगते हैं, वस्तिगह्वर बड़ा और चौड़ा होने लगता है, स्तन बढ़ने लगते हैं, उसकी मानसिक अवस्था में परिवर्तन आ जाता है और वह पहले से कुछ अधिक मर्यादा में रहने लगती है। यद्यपि यह भारत में प्रायः १२-१४ वर्ष की अवस्था से ही प्रारम्भ हो जाता है किन्तु तो भी इस पर जल, वायु, देश और सभ्यता का भी बहुत प्रभाव होता है। शीतप्रधान देशों में उष्णप्रधान देशों की अपेक्षा रजोदर्शन विलम्ब से होता है। योरप में १४-१६ साल की अवस्था में रजोदर्शन होता है। सामाजिक अवस्था, रहन सहन की प्रणाली और शिक्षण परिपाटी में जो लड़कियां अग्रेसर होती हैं, उनमें रजोदर्शन शीघ्र होता है। चञ्चल और नाजुक प्रकृति की लड़कियों में भी यह शीघ्र होता है। जिन्हें शारीरिक परिश्रम कम करना पड़ता है, पौष्टिक और उत्तेजक भोजन खूब मिलता है और जिन्हें शहर की गन्दी गलियों में रहना पड़ता है तथा जो गन्दे उपन्यास आदि पढ़कर वा विवाहसम्बन्धी बातों में अथवा अन्य उद्दीपन विभावों में अपना समय अधिक यापन करती हैं, उनमें इनसे विपरीत लड़कियों की अपेक्षा रजोदर्शन शीघ्र होता है। यह मासिकस्राव प्रायः ४५—५० वर्ष की आयु तक रहता है, तदनु स्वयं बन्द हो जाता है। एक रजोदर्शन के वाद दूसरा रजोदर्शन प्रायः २८ दिन के वाद होता है। इसकी अवधि प्रायः ३—४ दिन है। इसकी मात्रा तीन वा चार छटांक होती है। यह कुछ काले रङ्ग का और क्षारीय होता है। इसमें श्लैष्मिककला के छोटे छोटे टुकड़े, गर्भाशय की ग्रन्थियों का स्राव और खटिक लवण आदि द्रव्य भी मिलित होते हैं। इस आर्तवशोणित का गर्भस्थिति में कोई साक्षात् सम्बन्ध नहीं है, परन्तु स्त्रीवीज की परिपक्वता से इसका अवश्य सम्बन्ध है; क्योंकि मासिकस्राव अधिकतर उस समय होता है, जब कि पक्वबीज कोष के बाहर निकल आता है। एवं बीज के आग्नेय होने से उसके साथ सम्बन्धित होने के कारण यह आर्तव-शोणित भी आग्नेय होता है। प्राचीन आचार्यों का मत भी इससे बहुत मिलता जुलता है। वे भी कहते हैं कि आर्तव स्त्रियों के गर्भाशय से ही आता है। जैसे सुश्रुत ने कहा भी है कि—"मासेनोपचितं काले धमनीभ्यां तदार्तवम्। ईषत्कृष्णं विगन्धञ्च वायुर्योनिमुखं नयेत्" ॥ एवं इन आचार्यों ने भी इसका प्रारम्भिक तथा समाप्तिकाल १२ से ५० वर्ष तक माना है। एवं यह मास मास के वाद आता है और तीन दिन से पांच दिन तक आता रहता है। एवं इसकी उत्पत्ति रस नामक धातु से होती है। जैसे कहा भी है कि—"रसादेव स्त्रिया रक्तं रजःसंज्ञं प्रवर्तते। तद्वर्षाद् द्वादशादूर्ध्वं याति पञ्चाशतः क्षयम्।" (सु. सू. स्था. अ. १४)। किञ्च सुश्रुत ने इसी बात को पुनः शारीर में भी कहा है कि—"तद्वर्षाद्द्वादशात्काले वर्तमानमसृक् पुनः। जरापक्वशरीराणां याति पञ्चाशतः क्षयम्॥" (सु. शा. स्था. अ. ३)

वाग्भट ने भी इसी विषय पर कहा है कि—"मासि मासि रजः स्त्रीणां रसजं स्रवति त्र्यहम्। वत्सराद्द्वादशादूर्ध्वं याति पञ्चाशतः क्षयम्"। (वा. शा. स्था. अ. १)। चरक ने भी कहा है कि—"मासान्निष्पिच्छदाहार्तिपञ्चरात्रानुबन्धि च। नैवातिबहुलात्यल्पमार्तवं शुद्धमादिशेत्"॥ (चरकः)। यह रस से ही बनता है, इसमें तो कोई विवाद ही नहीं; क्योंकि वाग्भट ने भी रसज ही माना है, और सुश्रुत ने भी "रसादेव स्त्रिया रक्तं रजःसंज्ञं प्रवर्तते" में इसे रसज ही माना है। एवं चरक ने भी "रसात् स्तन्यं ततो रक्तमसृजः कण्डरा सिराः। मांसाद्वसा त्वचः षट् च मेदसः स्नायुसम्भवः।" (च. चि. स्था. अ. १५) इसमें इसे रसज ही स्वीकार किया है। अब उट्टङ्कना केवल इस बात पर उठती है कि रस से आर्तव बनने में कितना समय लगता है, क्योंकि सुश्रुत ने पहले तो यह कहा है कि "रसादेव स्त्रिया रक्तं रजःसंज्ञं प्रवर्तते।" जिसका कि यह भाव निकलता है कि आहार करने के सात दिन बाद आर्तव बनता है, क्योंकि आहार प्रथम दिन किया जाता है और दूसरे दिन जठराग्नि से पाक हो जाने पर उसका रस बनता है तदनु च पांच दिन तक रसाग्नि से रस का पाक होने पर उससे जीवरक्त, आर्तवशोणित, स्तन्य (दुग्ध), कफ, और रसपोषक सूक्ष्म अंश बनता है, एवं सात दिन हो जाते हैं। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि आर्तव की उत्पति सात दिन बाद होती है। परन्तु यह मानने से "मासेन रसः शुक्रीभवति स्त्रीणाञ्चार्तवम्।" (सु. सू. स्था. अ. १४)। यह वाक्य असङ्गत होता है। यदि इस वाक्य को मान लिया जावे तो रस से जीव रक्त की उत्पत्ति तो पांच दिन में हो जावे और आर्तवरक्त की न हो, यह नहीं हो सकता। साथ ही इसकी उत्पत्ति एक मास के बाद मानने से कण्डरा आदिकों की उत्पत्ति इससे भी बाद माननी पड़ेगी। अतः इनका परस्पर विरोध आता है। इस पर भिन्न २ विद्वानों के भिन्न २ मत हैं, जिनमें से मुख्यतः चार हैं। इनमें से प्रथम तो कहते हैं कि आर्तव की उत्पत्ति तो (रक्त की तरह) सातवें दिन ही हो जाती है, किन्तु उपचिति और अभिव्यक्ति एक मास बाद होती है। एवं 'मासेन रसः शुक्रीभवति स्त्रीणाञ्चार्तवम्' का भाव भी उपचिति और अभिव्यक्तिपरक है, न कि उत्पत्तिपरक। दूसरे कहते हैं कि आर्तव की उत्पत्ति ही एक मास बाद होती है, और यही बतलाने के लिए सुश्रुत ने "मासेन रसः शुक्रीभवति स्त्रीणाञ्चार्तवम्" यह विशेष वाक्य बताया है, अन्यथा यदि सात दिन बाद इसकी उत्पत्ति होती तो 'स्त्रीणाञ्चार्तवम्' यह कहने की कोई आवश्यकता न थी। यदि यह कहा जावे कि 'स्त्रीणाञ्चार्तवम्' यह वाक्य उपचिति तथा अभिव्यक्तिपरक है तो भी ठीक नहीं; क्योंकि इसे उपचिति तथा अभिव्यक्ति-परक मानने से शुक्र को भी उपचिति तथा अभिव्यक्तिपरक मानना पड़ेगा, जो कि शास्त्रविरुद्ध होगा। यदि यह कहा जावे कि शुक्र अन्तिम धातु है, इसलिए "स खलु त्रीणि त्रीणि कलासहस्राणि पञ्चदश च कला एकैकस्मिन् धातावतिष्ठते"

(सु. सू. स्था. अ. १४) के अनुसार रस से शुक्र बनने में एक मास अवश्य लग जाता है, परन्तु आर्तव रस से ही बनता है, अतः यह सात दिन में ही बन जाता है, तो यह मन्तव्य भी माननीय नहीं है, क्योंकि जैसे शुक्र मास बाद बनता है वैसे आर्तव भी मास बाद बनता है। शुक्र के मास बाद बनने में हेतु रस का धातुओं में से होकर आना है, अतः यहां आर्तव का स्वभाव ही ऐसा है कि वह मास बाद बनता है। तीसरे आचार्यों का मत यह है कि यद्यपि आर्तव में लालिमा मांस नामक धातु के बनने से पूर्व ही आ जाती है, परन्तु तो भी उसमें आर्तवरूपता उसके गर्भाशय में जाने पर ही होती है और गर्भाशय में आर्तव एक मास बाद जाता है। जैसे विश्वामित्र ने कहा भी है कि—"सूक्ष्माः केशप्रतीकाशाः बीजरक्तवहाः शिराः। गर्भाशयं पूरयन्ति मासाद्बीजाय कल्पते॥" इसमें चतुर्थ मत यह है कि आर्तव की उत्पत्ति सात दिन में ही होती है, क्योंकि "रसात् स्तन्यं तथा रक्तमसृजः कण्डराः सिराः। मांसाद्वसा त्वचा षट् च मेदसः स्नायुसन्धयः" इससे यही सिद्ध होता है, और जो "मासेन रसः शुक्रीभवति स्त्रीणाञ्चार्तवम्" यह कहा है, वहां आर्तव शब्द से भी शुक्र ही लिया जाता है। यदि वहां आर्तव शब्द से रज लिया जावे तो स्त्रियों में शुक्र की उक्ति न होने से उनमें उस (शुक्र) का अभाव होगा जिससे उन (स्त्रियों) का शरीर सप्तधातुक नहीं बन सकता। अथच यदि वहां आर्तव शब्द को शुक्रपरक न मान कर शुक्रस्थानीय माना जावे तो आर्तव में आग्नेय-पन नहीं आ सकता, क्योंकि शुक्र को सौम्य माना है। एवं आग्नेयपन न आने से गर्भ अग्निषोमीय नहीं हो सकता; और इसके अग्निषोमीय न होने से सुश्रुत की "आर्तवं शोणितन्त्वाग्नेयम्, अग्निषोमीयत्वाद्गर्भस्य" (सु. सू. स्था. अ. १४) यह उक्ति नहीं बन सकती। अतः यह मानना पड़ता है कि आर्तव सात दिन बाद उत्पन्न होता है और "मासात् रसः शुक्रीभवति स्त्रीणाञ्चार्तवम्" में पठित आर्तव शब्द शुक्रपरक है। यदि यह कहा जावे कि आर्तव शब्द शुक्र-परक नहीं आ सकता तो यह बात भी ठीक नहीं है, क्योंकि आर्तव शब्द शुक्र-परक और शुक्र शब्द आर्तवपरक आता है। तद्यथा—"यदा नार्यौ वापेयातां वृषस्यन्त्यौ कथंचन। विमुञ्चन्त्यौ शुक्रमन्योन्यमनस्थि तत्र जायते॥" (सु. शा. स्था. अ. २) यहां तथा "योषितोऽपि स्रवन्त्येव शुक्रं पुंसां समागमे। तन्न गर्भस्य किञ्चित्तु करोतीति न चिन्त्यते॥" (वृद्धवाग्भटः) इसमें शुक्र शब्द आर्तव में आया है और 'घृतपिण्डो यथैवाग्निमाश्रितः प्रविलीयते। विसर्पत्यार्तवं नार्यास्तथा पुंसा समागमे॥" (सु. शा. स्था. अ. २) इसमें, तथा प्रकृत में आर्तव शब्द शुक्र में है। एवं यह सिद्ध होता है कि आर्तव सात दिन बाद ही उत्पन्न होता है, तथा 'मासेन' इत्यादि में स्थित आर्तवशब्द का शुक्र अर्थ होने से उसके साथ विरोध भी नहीं आता। उपर्युक्त मतों में आजकल सिद्धान्त रूप से यही स्वीकार किया जाता है कि रस में रक्तरूपता तो सात दिन बाद ही आ जाती है किन्तु आर्तवरूपता

मास बाद होती है, वा रस से (शोणित) रक्त की उत्पत्ति तो सात दिन बाद ही हो जाती है किन्तु उपचिति और अभिव्यक्ति मास बाद होती है। कन्याओं में १२ वर्ष से पूर्व भी रज होता अवश्य है, परन्तु अलक्ष्य होता है। जैसे कि बन्द कलिका में सुगन्ध के होने पर भी वह (सुगन्ध) अलक्षित होती है, उसमें यह नहीं कहा जा सकता कि इसमें सुगन्ध है वा नहीं, यही प्रकार कन्याओं में रज का है। जब कलिका विकसित हो जाती है तो गन्ध आने लगती है। इसी प्रकार जब कुमारिका की युवा अवस्था आती है; तो रजोदर्शन होने लगता है। जब रजः प्रवृत्ति के ३(-५) दिन पूरे हो चुकते हैं तो उससे १२ दिन बाद योनि (गर्भाशय) संकुचित हो जाती है। जैसे कहा भी है कि—"नियते दिवसेऽतीते संकुचत्यम्बुजं यथा। ऋतौ व्यतीते नार्यास्तु योनिः संव्रियते तथा" (सु. शा. स्था. अ.)। एवं उपर्युक्त सभी विवरण, रज की उत्पत्ति के काल को छोड़कर पूर्वोक्त नवीन आचार्यों से सुसङ्गत है। अब ज़रा यहां पर भेद पड़ता है कि हमारे प्राचीन आचार्य मैथुन के समय में भी एक प्रकार के आर्तव का प्रादुर्भाव मानते हैं, जो कि (आर्तव) शुक्र से मिल कर गर्भोत्पादक होता है। इसमें प्रमाण भी है। तद्यथा—"ऋतुस्नाता तु या नारी स्वप्ने मैथुनमाचरेत्। आर्तवं वायुरादाय कुक्षौ गर्भं करोति च" (सु. शा. स्था. अ. २) में स्थित आर्तव शब्द है। परन्तु नवीन आचार्य मैथुन के समय होने वाली वस्तु को जो कि शुक्रकण को ग्रहण करती है तथा जो गर्भोत्पादक होती है, स्त्रीबीज वा डिम्ब कहते हैं। एवं यह सिद्ध होता है कि प्राचीन आचार्यों के मत में मास मास के बाद आने वाले स्राव को भी आर्तव तथा मैथुन के समय गर्भग्राहक वस्तु को भी आर्तव एवं इनसे अतिरिक्त मैथुन के समय योनि से होने वाले स्राव को भी आर्तव ही कहा जाता है। किन्तु नवीनों के मत में मास मास बाद गर्भाशय से आने वाले रक्तस्राव को आर्तव, तथा गर्भग्राहक वस्तु को गर्भकोष वा डिम्ब एवं मैथुन के समय होने वाले स्राव को श्लैष्मिककला स्राव कहा जाता है परन्तु ये तीनों वस्तुतः हैं भिन्न भिन्न। इनमें से प्रथम ही वस्तुतः आर्तव, रज, मासिकधर्म, शोणित रक्त आदि नामों से कहलाता है। यह उपधातु है और प्रसाद से ही होता है। यहां पर कई आचार्यों का भ्रमात्मक यह विचार भी है कि आर्तव और रक्त वस्तुतः एक ही वस्तु है, भिन्न २ नहीं। यह विचार युक्तियुक्त नहीं है; क्योंकि आर्तव को भी रक्त मानने से, और रक्त में धातुपन होने से इसमें भी धातुपन आवेगा, किन्तु यह (आर्तव) धातु नहीं है, प्रत्युत यह तो उपधातु है। साथ ही आचार्यों ने इनकी उत्पत्ति भी पृथक् २ प्रकार से स्वीकार की है। तद्यथा रक्त की उत्पत्ति—"रसाद्रक्तं ततो मांसं मांसान्मेदस्ततोऽस्थि च। अस्थ्नोः मज्जा ततः शुक्रं शुक्राद्गर्भः प्रसादजः॥" (च.) इस प्रकार; तथा आर्तव की उत्पत्ति "रसात् स्तन्यं ततो रक्तमसृजः कण्डराः सिराः। मांसाद्वसा त्वचा षट् च मेदसः स्नायुसन्धयः"॥ (च. चि. स्था. अ. १५),

इस प्रकार मानी जाती है। रक्त और आर्तव की उत्पत्ति में काल भेद भी है। तद्यथा—रक्त सात दिन बाद उपजता है, और आर्तव एक मास बाद। इनमें परस्पर नाम भेद भी है। रक्त जीवशोणित वा जीवरक्त कहलाता है और रज आर्तवशोणित वा आर्तवरक्त कहलाता है। अतः ये दोनों परस्पर भिन्न २ हैं। किञ्च यदि आर्तव को रक्त से अपृथक् माना जावे तो "आर्तवमपि त्रिभिर्दोषैः शोणितचतुर्थैः पृथक्द्वन्द्वैरुपसृष्टमबीजं भवति" (सु. शा. स्था. अ. २) में आर्तव की दुष्टि शोणित से भी मानी गई है, जो कि 'स्वात्मनि क्रियाविरोध' होने से असम्भव हो जावेगी। अतएव यह मानना पड़ता है कि आर्तव और रक्त पृथक् पृथक् हैं। हाँ, आर्तव में लालिमा आदि रक्त के से गुण अवश्य हैं। इसी लिए आचार्यों ने—"रक्तलक्षणं आर्तवं गर्भकृच्च" (सु. सू. स्था. अ. १५) में आर्तव को रक्त लक्षण माना है। साथ ही आर्तव में यह विशेषता भी है कि यह रक्त की भांति अनुष्णशीत नहीं है। एवं यही आर्तव उपर्युक्त कारणों द्वारा जब असमय में ही आने लगता है, तो असृग्दर कहलाता है; और जब दोषों द्वारा मार्ग के रुक जाने से नहीं आता तो नष्टार्तव कहलाता है। जैसे सुश्रुत ने कहा भी है कि—"दोषैरावृतमार्गत्वादार्तवं नश्यति स्त्रियाः"। (सु. शा. स्था. अ. २)।

मधु०—स्त्रीपुंसां साधारणान् विकारानभिधाय पुंप्रतिनियतस्योपदंशादेरुक्तत्वात् स्त्रीनियतरोगाभिधानम्। तत्र च योनिव्यापत्तिविशेषेऽप्यार्तवप्रवृत्तिसद्भावात् प्रथमं दुष्टार्तवप्रवृत्तिस्वरूपं प्रदरमाह—विरुद्धेत्यादि। विरुद्धमद्यं दुष्टमद्यं, अथवा विरुद्धं संयोगादिविरुद्धं, मद्यं च स्वरूपतः। अजीर्णादपक्वभोजनात्। अतिकर्षणात् लङ्घनाद्यतियोगेन क्षीणधातुत्वात्। तं श्लेष्मपित्तानिलसन्निपातैरित्यत्र श्लेष्मणोऽग्रेऽभिधानं श्लेष्मजेऽपि वेदनासूचनार्थम्॥१॥

स्त्री पुरुषों के साधारण विकारों को कहकर पुरुषों में होने वाले उपदंश आदि की उक्ति हो जाने के कारण स्त्रियों में नियत रोगों का निर्देश करना प्रारम्भ किया है। उनमें से योनिव्यापत्ति विशेष में भी आर्तव की प्रवृत्ति होने से प्रथम दुष्टार्तव प्रवृत्तिस्वरूप प्रदर को 'विरुद्ध' इत्यादि सार्धश्लोक से कहा जाता है। तमिति—'तं श्लेष्मपित्तानिलसन्निपातैः' इसमें वात का प्रथम अभिधान न कर श्लेष्मा का प्रथम अभिधान श्लेष्मज प्रदर में भी पीड़ा के सद्भाव का सूचक है।

प्रदरस्य सामान्यलक्षणमाह—

असृग्दरं भवेत् सर्वं साङ्गमर्दं सवेदनम्।

सभी प्रकार का असृग्दर अङ्गमर्द और वेदना वाला होता है।

वक्तव्य—भाव यह है कि उपर्युक्त चारों प्रकार के रक्तप्रदर में सामान्यतः अङ्गमर्द और पीड़ा होती है अर्थात् अङ्गमर्द और वेदना असृग्दर का सामान्य लक्षण है। यही मूलपाठ सुश्रुत में इस प्रकार मिलता है। तद्यथा—"असृग्दरो भवेत्सर्वः साङ्गमर्दः सवेदनः" (सु. शा. स्था. अ. २)।

मधु०—तस्य सामान्यरूपमाह—असृग्दरमित्यादि । सवेदनं सशूलम्, असृग् दीर्यते च्यवते यस्मिन्नित्यसृग्दरं, तन्त्रान्तरमत्र—"तदेवातिप्रसङ्गेन प्रवृत्तमनृतावपि । असृग्दरं विजानीयात् पुरस्ताद्वक्ष्यलक्षणम् ॥" (सु. शा. स्था. अ. २)—इति । तदेवेति आर्तवम् ॥—

असृग् अर्थात् आर्तव शोणित, जहां दीर्ण अर्थात् च्यवित होता है, उसे असृग्दर कहा जाता है । इसमें तन्त्रान्तर का वचन भी है कि अतिमैथुन के कारण वही आर्तव-शोणित जब बिना समय के ही आने लगता है तो वक्ष्यमाण लक्षणों वाला वह रोग असृग्दर नाम से जानना चाहिए ।

प्रदरातिप्रवृत्तौ विकारान्तरानाह—

तस्यातिवृत्तौ दौर्बल्यं भ्रमो मूर्च्छा मदस्तृषा ।
दाहः प्रलापः पाण्डुत्वं तन्द्रा रोगाश्च वातजाः ॥२॥ [सु० ३।२]

उस असृग्दर की अत्यधिक प्रवृत्ति होने पर दुर्बलता, भ्रम, मूर्च्छा, मद, पिपासा, दाह, प्रलाप, पाण्डुता, तन्द्रा और अन्य वातिक रोग होते हैं ।

वक्तव्य—भाव यह है कि जब आर्तव अतिमैथुन आदि के कारण असमय में ही आने लगता है, तो असृग्दर हो जाता है; और जब असृग्दर भी अधिक मात्रा में आने लगता है, तो दुर्बलता आदि रोगों को उपजा देता है । इसका निष्कर्ष यह है कि विरुद्धादि सेवन के कारण आर्तव असमय में और अधिक मात्रा में आने लगता है, तो अङ्गमर्द एवं पीड़ा के साथ साथ दुर्बलता, भ्रम, मूर्च्छा, मद, तृषा, दाह, प्रलाप, पाण्डुता, तन्द्रा तथा अन्य आक्षेपक आदि वातिक रोगों को उपजा देता है । एवं "रोगारम्भकदोषप्रकोपजन्योऽन्यो विकार उपद्रवः" इस परिभाषा के अनुसार दुर्बलता आदि असृग्दर के उपद्रव सिद्ध होते हैं ।

मधु०—आर्तवातिप्रवृत्तौ उपद्रवानाह—तस्यातिवृत्तौ दौर्बल्यमित्यादि । रोगाश्च वातजा इति आक्षेपककम्पादयः ॥२॥

आर्तवातिप्रवृत्तौ इत्यादि की भाषा सरल है ।

श्लैष्मिकादिभेदेन प्रदरस्य विशेषलक्षणान्याह—

आमं सपिच्छाप्रतिमं सपाण्डु
पुलाकतोयप्रतिमं कफात्तु ।

श्लेष्मा के कारण होने वाला असृग्दर आम (रसमिश्रित सा), पिच्छिल, पाण्डुवर्ण और गवेधुक (गेहूं) धावनजलाभ वा प्रक्षालितमांसतोयाभ अथवा तुच्छधान्यधावनजलाभ होता है ।

वक्तव्य—भाव यह है कि जो असृग्दर आम, पिच्छिल, पाण्डु एवं कनक (गेहूं) के प्रक्षालित जल वा मांस धोवन अथवा क्षुद्रधान्य धोवन के समान हो, उसे श्लैष्मिक असृग्दर जानना चाहिए । यहां पुलाक का पलल अर्थ ठीक नहीं जँचता क्योंकि यह लक्षण वातिक में भी कहा जावेगा । श्लैष्मिक प्रदर को चरक ने इस प्रकार विशेष रूप से वर्णित किया है—"श्लैष्मिकं तु प्रवक्ष्यते ।

गुर्वादिभिर्हेतुभिश्च पूर्ववत् कुपितः कफः ॥ प्रदरं कुरुते तस्य लक्षणं तत्त्वतः शृणु । पिच्छिलं पाण्डुवर्णं च गुरु स्निग्धं च शीतलम् ॥ स्रवत्यसृं श्लेष्मलं च तथा मन्द-रुजाकरम् । छर्द्यरोचकहृल्लासश्वासकाससमन्वितम् ॥" (च. चि. स्था. अ. ३०)।

सपीतनीलासितरक्तमुष्णं
पित्तार्तियुक्तं भृशवेगि पित्तात् ॥३॥

पित्त के कारण आने वाला असृग्दर पीला, नीला, काला वा लाल, उष्ण, दाहयुक्त और अत्यन्त वा बार बार वेग वाला होता है।

वक्तव्य—भाव यह है कि जो असृग्दर पीले, नीले, काले वा लाल वर्ण का आता है, एवं जो उष्ण, दाह वाला और बहुत वेगों वाला होता है, वह पित्तज असृग्दर होता है। इसका विशिष्ट वर्णन चरक में इस प्रकार मिलता है कि—"अम्लोष्णलवणक्षारैः पित्तं प्रकुपितं यदा। पूर्ववत्प्रदरं कुर्यात् पैत्तिकं लिङ्गतः शृणु ॥ सनीलमथवा पीतमत्युष्णमसितं तथा। नितान्तरक्तं स्रवति मुहुर्मुहुरथार्तिमत् ॥ विदाहरागतृष्णमोहज्वरभ्रमसमायुतम्। असृग्दरं पैत्तिकं तु" (च. चि. स्था. अ. ३०)।

रूक्षारुणं फेनिलमल्पमल्पं
वातार्ति वातात् पिशितोदकाभम्।

रूक्ष, अरुण, झागदार, थोड़ा थोड़ा, पीड़ायुक्त एवं मांसधावन के समान वर्ण वाला जो असृग्दर आता है, वह वातिक जानना चाहिए। अर्थात् वातिक असृग्दर में रूक्ष आदि लक्षण होते हैं।

वक्तव्य—वातिक प्रदर को चरक ने इस प्रकार विशेष रूप से वर्णित किया है कि—"रूक्षादिभिर्मारुतस्तु रक्तमादाय पूर्ववत्। कुपितः प्रदरं कुर्याल्लिङ्गं तस्य च मे शृणु ॥ फेनिलं तनु रूक्षं च श्यावमारुणमेव च। किंशुकोदकसङ्काशं सरुजं वाथ नीरुजम् ॥ कटीवंक्षणहृत्पार्श्वपृष्ठश्रोणिषु मारुतः। कुरुते वेदनां तीव्रामेतद्वातात्मकं विदुः" ॥ (च. चि. स्था. अ. ३०)।

सक्षौद्रसर्पिर्हरितालवर्णं
मज्जप्रकाशं कुणपं त्रिदोषात् ॥४॥

त्रिदोष प्रकोप से होने वाला असृग्दर माखी के से वर्ण वाला, घृत के से वर्ण वाला, हरिताल के से वर्ण वाला, मज्जा के समान और मुर्दे की सी गन्ध वाला होता है।

वक्तव्य—चरक ने सान्निपातिक असृग्दर के विषय में कहा है कि—"वक्ष्यते क्षीरदोषाणां सामान्यमिह कारणम्। यत्तदेव त्रिदोषस्य कारणं प्रदरस्य तु। त्रिलिङ्ग-संयुतं विद्यान्नैकावस्थमसृग्दरम्। नारी त्वतिपरिक्लिष्टा यदा प्रक्षीणशोणिता। सर्व-हेतुसमाचारादतिवृद्धस्तदानिलः ॥ रक्तमार्गेण सृजति प्रत्यनीककरं कफम्।

दुर्गन्धं पिच्छिलं पीतं विदग्धं पित्ततेजसा ॥ वसा मेदश्च यात्रद्धि समुपादाय वेगवान् । सृजत्यपत्यमार्गेण सर्पिर्मज्जवसोपमम् ॥ शश्वत्स्रवत्यथास्रावं तृष्णादाहज्वरान्वितम् । क्षीणरक्तां दुर्बलाञ्च तामसाध्यां विवर्जयेत् ॥" (च. चि. स्था. अ. ३०) ।

त्रिदोषजस्य असाध्यतालक्षणमाह—

तं चाप्यसाध्यं प्रवदन्ति तज्ज्ञा
न तत्र कुर्वीत भिषक् चिकित्साम् ।

और उस सन्निपातज असृग्दर को विद्वान् लोग असाध्य कहते हैं, अतः वैद्य को इसकी चिकित्सा नहीं करनी चाहिए ।

प्रदरस्य प्रत्याख्येयतालक्षणमाह—

शश्वत् स्रवन्तीमास्रावं तृष्णादाहज्वरान्विताम् ॥५॥ [च० ६।३०]
क्षीणरक्तां दुर्बलां च तामसाध्यां विनिर्दिशेत् ।

असृग्दर को निरन्तर स्रवण करने वाली; तृष्णा, दाह और ज्वर से युक्त; क्षीणरक्त वाली एवं दुर्बल (असृग्दर वाली) स्त्री को असाध्य जानना चाहिए ।

मधु०—श्लैष्मिकादिभेदेन विशेषलक्षणान्याह—आममित्यादि । आममामरसानुविद्धम् । सपिच्छाप्रतिममिति पिच्छा शाल्मल्यादिनिर्यासः, तत्सदृशं पिच्छिलमित्यर्थः; सशब्द ईषदर्थे । पुलाकतोयप्रतिमं प्रक्षालितपललतोयसदृशं, अन्ये पुलाकं गवेधुकमाहुः । पित्तार्तियुक्तं दाहचिमिचिमादियुक्तम् । भृशवेगि बहुवेगि । वातार्ति तोदादिलक्षणम् । पिशितोदकाभं मांसप्रक्षालनजलसदृशम् । सक्षौद्रसर्पिर्हरितालवर्णमिति नानावर्णत्वं त्रिदोषकोपादेव । क्षौद्रवर्णं मनाक्कपिलं, सर्पिर्वर्णं विलीनघृतवत् किञ्चिदरुणं च, मज्जप्रकाशं मज्जा अस्थिस्नेहः तत्समं, कुणपं शवगन्धि । तच्चाप्यसाध्यमिति चिकित्सानिवृत्त्यर्थम् ॥३—५॥

पित्तार्तियुक्त का अर्थ यह है कि दाह और चिमचिम आदि पैत्तिक पीड़ाओं से युक्त (वह असृग्दर पैत्तिक होता है) । (सक्षौद्रेत्यादि—)सन्निपात में क्षौद्रवर्ण, घृतवर्ण और हरितालवर्ण का समकाल में होना कर्बुरवर्णता का परिचायक है । भाव यह है कि सन्निपातज असृग्दर इनके मिश्रितवर्ण वाला होता है । यहां विकल्प की कोई आवश्यकता नहीं । हाँ, पैत्तिक में पीतवर्णता आदि विकल्प से जाननी चाहिए । क्षौद्रवर्ण अर्थात् कुछ कपिलवर्ण, सर्पिवर्ण अर्थात् पिघले हुए घृत की तरह कुछ अरुणवर्ण, मज्जाप्रकाश अर्थात् अस्थिस्नेह के समान और कुणप अर्थात् मुर्दे की सी गन्ध वाला ।

शुद्धार्तवस्य लक्षणमाह—

मासान्निष्पिच्छदाहार्ति पञ्चरात्रानुबन्धि च ॥६॥ [च० ६।३०]
नैवातिबहुलात्यल्पमार्तवं शुद्धमादिशेत् ।

मास मास के बाद आने वाला, पिच्छिलता, दाह और पीड़ा से रहित, (-अधिक से अधिक) पांच दिन तक ठहरने वाला, न बहुत ज्यादह और न बहुत कम आने वाला आर्तव शुद्ध कहना चाहिए ।

वक्तव्य—मासात् का अभिप्राय यह है कि एक रजोदर्शन के बाद दूसरे रजोदर्शन में एक मास का अन्तर होना चाहिए और जिसमें यह अन्तर होता है, वह ठीक है। निष्पिच्छ, निर्दाह और निरर्ति इन तीन लक्षणों वाले का अभिप्राय यह है कि श्लैष्मिक लक्षण रूप पिच्छिलता से, पैत्तिक लक्षण रूप दाह से, वातिक लक्षण रूप पीड़ा से और सान्निपातिक लक्षण रूप पिच्छिलता, दाह तथा पीड़ा (तीनों) से रहित आर्तव शुद्ध होता है। इनके निर्देश का भाव यह है कि किसी दोष से अदुष्ट आर्तव शुद्ध है। पञ्चरात्रानुबन्धि शब्द यहां मर्यादापरक है एवं इसका अर्थ यह होता है कि तीन दिन से लेकर अधिक से अधिक पांच दिन तक रहने वाला आर्तव शुद्ध होता है; यह होता है; अन्यथा वाग्भट का "मासि मासि रजः स्त्रीणां रसजं स्रवति त्र्यहम्"–यह सूत्र असिद्ध होता है। एवं इनकी एकवाक्यता बनाने के लिए यह मानना पड़ता है, वाग्भट ने न्यून से न्यून तीन दिन माने हैं और प्रकृत चरक के पद्य ने अधिक से अधिक पांच दिन माने हैं। वस्तुतः वाग्भट के मत में भी जब अधिक से अधिक की अपेक्षा होगी तो पांच दिन ही मानने पड़ेंगे। इसी प्रकार चरक के मत में भी जब न्यून से न्यून की अपेक्षा होगी तो तीन दिन ही मानने पड़ेंगे। एवं दोनों के मेल से यह भाव निकलता है कि तीन दिन से पांच दिन तक रहने वाला आर्तव शुद्ध होता है। अथवा दोनों का समाधान इस प्रकार भी किया जा सकता है कि वाग्भट एवं सुश्रुत ने तीन दिन इसलिए माने हैं कि उन्होंने प्रथम और अन्तिम दिन को नहीं लिया एवं चरक ने पांच दिन इसलिए माने हैं कि इसने प्रथम और अन्तिम दिन भी गिन लिया है, जिससे पांच दिन बन जाते हैं। कई आचार्य यह भी मानते हैं कि वस्तुतः ऋतुदिवस सोलह होते हैं। जैसे विदेह ने कहा भी है कि "स्त्रीणामृतुर्भवति षोडशवासराणि"। सुश्रुत ने भी एकीय मत में कहा है कि "ऋतुस्तु द्वादशरात्रं भवति"–(सु. शा. स्था. अ. ३); यहां द्वादशरात्र का निर्देश पहले तीन दिनों, जिनमें कि आर्तव अत्यधिक आता है, को तथा अन्तिम सोलहवें एक दिन, जिसमें कि गर्भाशय सङ्कुचित होता है, को छोड़कर किया है। एवं इनको भी साथ गिनने पर ऋतुकाल सोलह दिन का ही सिद्ध होता है। इस प्रकार इन दोनों की एकवाक्यता बनती है तथा यह सिद्ध होता है कि ऋतुकाल वास्तव में सोलह दिन होता है और सोलहवें दिन योनि (गर्भाशय) सङ्कुचित हो जाती है। तब शुक्राणुग्राहक डिम्ब भी गर्भाशय से बाहर नहीं आते जिससे तदनु गर्भस्थिति भी नहीं हो सकती। या यों कहें कि सोलह दिन के बाद गर्भाशय सङ्कुचित हो जाता है जिससे शुक्र के साथ मिलकर गर्भ उपजाने वाले स्त्रीबीज का आना बन्द हो जाता है, जिस कारण तब गर्भस्थिति नहीं हो सकती। इसी

लिए सुश्रुत ने कहा भी है कि—"नियतं दिवसेऽतीते सङ्कुचत्यम्बुजं यथा। ऋतौ व्यतीते नार्यास्तु योनिः संव्रियते तथा॥"-(सु. शा. स्था. अ. ३)। एवं वाग्भट ने तथा चरक ने जो तीन दिन का तथा पांच दिन का आर्तवकाल माना है, वह उद्भूतता तथा बहुलता को लक्ष्य रख कर माना है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि वस्तुतः ऋतुकाल सोलह दिन तक है, किन्तु उद्भूत ऋतु तीन से पांच दिन तक रहता है। इसी बात को स्फुट करने वाला हारीत का वाक्य भी है। तद्यथा—"उद्भूत-प्रवृत्त्याऽऽपञ्चरात्रं, ततः परं स्वल्पप्रवृत्त्या तु षोडश दिनानि"। यहां 'आपञ्चरात्रं' का अर्थ भी तीन से पांच दिन तक ही है। इस प्रकार मानने से भी उपर्युक्त दोष नहीं आता। यहां 'नैवातिबहुल' से अतिबहुल का निषेध इसलिए किया है कि आर्तव का अत्यधिक आना विकार होता है। एवं इसका अत्यल्प आना भी विकार होता है। अतः 'अत्यल्पं' से अत्यल्प का भी निषेध किया है।

प्रकारान्तरेण तस्यैव लक्षणमाह—

शशासृक्प्रतिमं यच्च यद्वा लाक्षारसोपमम्।
तदार्तवं प्रशंसन्ति यच्चाप्सु न विरज्यते॥७॥ [सु० ३।२]

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदानेऽसृग्दरनिदानं समाप्तम्॥६१॥

जो आर्तव शशक (खरगोश) के रुधिर के समान वर्ण वाला वा लाक्षारस के समान वर्ण वाला होता है; तथा जो आर्तव (रञ्जित वस्त्र) जल में प्रक्षालित करने पर रक्त नहीं रहता, वह आर्तव प्रशंसनीय अर्थात् शुद्ध है।

वक्तव्य—मासान्निष्पिच्छ इत्यादि पद्य में आर्तव के आने की सीमा, ठहरने की सीमा, मात्रा का निर्णय, तथा पिच्छिलता आदि दोषों के लक्षणों से राहित्य को लक्ष्य रख कर शुद्धता कही है, और इस 'शशासृक्' इत्यादि श्लोक में वर्ण तथा आर्तवरञ्जितवस्त्र के वर्णत्याग के अनुसार शुद्धता कही है। 'शशासृक्' इत्यादि का भाव यह है कि शशकरक्त के समान तथा लाक्षारस के समान वर्ण वाला एवं धोने पर वस्त्र से उतर जाने वाला आर्तव शुद्ध होता है। इसी बात को वाग्भट ने भी अष्टाङ्गहृदय में कहा है कि—"आर्तवं पुनः। लाक्षारसशशास्राभं धौतं यच्च विरज्यते"-(वा. शा. स्था. अ. १)।

मधु०—विशुद्धार्तवलक्षणमाह—मासादित्यादि। निष्पिच्छदाहार्तीति अपिच्छिलम-दाहमशूलादिवेदनम्, एतेन विकृतवातादिलिङ्गरहितमित्यर्थः। पञ्चरात्रानुबन्धीति पञ्चरात्रं प्रभूत-प्रवृत्त्याऽनुबध्नातीत्यर्थः। अल्पप्रवृत्त्या पञ्चरात्रात परतोऽप्यनुबध्नाति। तदुक्तं हारीते-'षोडशदिव-सान्यृतुकालः' इति। विदेहेऽप्युक्तम्-"स्त्रीणामृतुर्भवति षोडशवासराणि" इति। शशासृगित्या-दिना वर्णद्वयं वातादिप्रकृतिभेदात्। यच्चाप्सु न विरज्यत इति येनार्तवेन रञ्जितं वस्त्रमप्सु प्रक्षालितं सल्लोहितं न भवति तद्विशुद्धम्। तथाच हिरण्याक्षः—"सुरेन्द्रगोपसङ्काशं स्निग्धं च मधुगन्धि च। अपिच्छिलमशीतं च यद्वासो न विरञ्जयेत्" इति॥६-७॥

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायामसृग्दरनिदानं समाप्तम्॥६१॥

पञ्चरात्रानुबन्धित्व प्रभूत प्रवृत्ति से लेना चाहिए, क्योंकि अल्पप्रवृत्ति से इसके बाद भी आर्तव रहता है। जैसे हारीत ने कहा भी है कि—'ऋतुकाल सोलह दिन तक रहता है'। विदेहकृत तन्त्र में भी कहा है कि—'स्त्रियों में ऋतु सोलह दिन तक रहती है'। 'यच्चाप्सु न विरज्यते' का अर्थ यह है कि—'जो आर्तवरञ्जित वस्त्र जल में प्रक्षालित करने पर रक्तवर्ण का नहीं रहता, वह (आर्तव) शुद्ध होता है'। इसी पर हिरण्याक्ष ने कहा भी है कि—'इन्द्रगोप के समान वर्ण वाला, स्निग्ध, मधुगन्धि, अपिच्छिल, अशीत और वस्त्र में राग न करने वाला आर्तव शुद्ध होता है'।

अथ योनिव्यापन्निदानम्[1]।

योनिरोगाणां निदानमाह—

विंशतिर्व्यापदो योनौ निर्दिष्टा रोगसंग्रहे।
मिथ्याचारेण ताः स्त्रीणां प्रदुष्टेनार्तवेन च ॥१॥ [सु० ६।३८]
जायन्ते बीजदोषाच्च दैवाच्च शृणु ताः पृथक्।

रोगसंग्रह में (अर्थात् श्लोक स्थान के अष्टोदरीय अध्याय में) योनि में होने वाली बीस व्यापत्तियाँ (व्याधियाँ) कही हैं, वे स्त्रियों में मिथ्या आहार विहार के कारण, प्रदुष्ट आर्तव के कारण, माता पिता के आरम्भक बीज दोष के कारण तथा दैवेच्छा के कारण होती हैं।

वक्तव्य—यह पाठ चरक चिकित्सा अध्याय ३० में तथा सुश्रुत उत्तर-तन्त्र अध्याय ३८ में मिलता है। भाव यह है कि यह पाठ चरक और सुश्रुत दोनों में मिलता है, किन्तु वहां "विंशतिर्व्यापदो योनौ" के स्थान पर 'विंशतिर्व्यापदो योनेः' यह पाठान्तर मिलता है। योनि शब्द से यहां गर्भाशय लिया जाता है। क्योंकि योनि शब्द का अर्थ भी उत्पत्तिस्थान ही है। किन्तु योनि शब्द से समीपवर्ती भगमार्ग तथा भग को भी ले लिया जाता है। एवं यह सिद्ध होता है कि योनि से गर्भाशय, अपत्यपथ तथा भग लिया जाता है। क्योंकि इनमें कई रोग गर्भाशय के हैं और कई अपत्यपथ के। योनिव्यापत् (रोग) सभी आचार्यों ने बीस ही माने हैं, इसमें कोई मतभेद नहीं। तद्यथा—"विंशतिर्योनिव्यापदः"। (च. सू. स्था. अ. १९); "विंशतिर्व्यापदो योनेः" (च. चि. स्था. अ. ३०); तथा "विंशतिर्व्यापदो योनेः" (सु. उ. तं. अ. ३८); तथा "विंशतिर्व्यापदो योनेर्जायन्ते दुष्टभोजनात्" (वा. उ. स्था. अ. ३३); तथा "विंशतिर्योनिरोगाः स्युः" (शा. पू. खं. अ. ७)। किन्तु इनके नामकरण में तथा इनका दोषों में अन्तर्भाव करने में मतभेद अवश्य है। चरक ने—"विंशतिर्योनिव्यापद इति, वातिकी पैत्तिकी श्लैष्मिकी, सान्निपातिकी चेति चतस्रः, दोषदूष्य-

---

[1] योनिव्यापत्, डिज़ीज़ ऑफ़ वजायना (Disease of Vagina)

संसर्गप्रकृतिनिर्देशैरवशिष्टाः षोडश निर्दिश्यन्ते । तद्यथा—रक्तयोनिश्चारजस्का चाचरणा चातिचरणा च प्राक्चरणा चोपप्लुता च परिप्लुता चोदावर्तिनी च कर्णिनी च पुत्रघ्नी चान्तर्मुखी च सूचीमुखी च शुष्का च वामिनी च षण्डयोनिश्च महायोनिश्चेति विंशतिर्योनिव्यापदः" (च. सू. स्था. अ. १९) इससे ये वीस रोग माने हैं; और सुश्रुत ने—"उदावर्ता तथा वन्ध्या विप्लुता च परिप्लुता । वातला चेति वातोत्था, पित्तोत्था रुधिरक्षरा ।। वामिनी स्रंसिनी चापि पुत्रघ्नी पित्तला च या । अत्यानन्दा च या योनिः कर्णिनी चरणाद्वयम् ॥ श्लेष्मला च कफाज्ज्ञेया, षण्डाख्या फलिनी तथा । महती सूचिवक्त्रा च सर्वजेति त्रिदोषजा ।।" (सु. उ. तं. अ. ३८) इससे ये बीस रोग माने हैं; नव्य आचार्य शार्ङ्गधर ने—"विंशतिर्योनिरोगाः स्युर्वातपित्तकफादपि । सन्निपाताच्च रक्ताच्च लोहितक्षयतस्तथा ।। शुष्का च वामिनी चैव षण्डी चान्तर्मुखी तथा । सूचीमुखी विप्लुता च जातघ्नी च परिप्लुता ।। उपप्लुता प्राक्चरणा महायोनिश्च कर्णिनी । स्यान्नन्दा चातिचरणा योनिरोगा इतीरिताः ।।" (शा. पू. खं. अ. ७) इससे ये बीस रोग माने हैं । चरक ने रक्तयोनि आदि सोलह व्यापत्तियों में से पहली दो (रक्तयोनि और अरजस्का) व्यापत्तियां पित्तदोषज, परिप्लुता और वामिनी वातपित्तात्मक, कर्णिनी और उपप्लुता वातकफात्मक तथा शेष दस वातज मानी हैं । एवं पहली चार क्रमशः दोषज हैं । इससे यह सिद्ध होता है कि चरक ने १ वातला, २ अचरणा, ३ अतिचरणा, ४ प्राक्चरणा, ५ उदावर्तिनी, ६ पुत्रघ्नी, ७ अन्तर्मुखी, ८ सूचीमुखी, ९ शुष्कयोनि, १० षण्डयोनि और ११ महायोनि ये ग्यारह वातज; १२ पित्तला, १३ रक्तयोनि और १४ अरजस्का ये तीन पित्तज; १५ श्लेष्मला अकेली श्लेष्मज; १६ परिप्लुता और १७ वामिनी ये दो वातपित्तज; १८ कर्णिनी और १९ उपप्लुता ये दो वातकफज; तथा २० सान्निपातिकी अकेली सन्निपातज मानी है । जैसे कहा भी है कि—'आसां षोडश यास्तासामाद्ये द्वे पित्तदोषजे । परिप्लुता वामिनी च वातपित्तात्मिके मते ।। कर्णिन्युपप्लुते वातकफाच्छेषास्तु वातजाः ।" (च. चि. स्था. अ. ३०) । एवं सुश्रुत ने यथाक्रम उदावर्ता आदि पांच वातज, रुधिरक्षरा आदि पांच पित्तज, अत्यानन्दा आदि पांच कफज और षण्डयोनि आदि पांच ही सन्निपातज मानी हैं । किन्तु वाग्भट ने १ वातला, २ प्राक्चरणा, ३ उदावृत्ता (उदावर्ता), ४ जातघ्नी, ५ अन्तर्मुखी, ६ सूचीमुखी, ७ शुष्कयोनि, ८ वामिनी, ९ षण्डयोनि और १० महायोनि ये दस वातज; तथा ११ पैत्तिकी और १२ रक्तयोनि ये दो पित्तज; १३ श्लैष्मिकी अकेली श्लेष्मज; १४ लोहितक्षया और १५ परिप्लुता ये दो वातपित्तज; १६ उपप्लुता, १७ विप्लुता और १८ कण्डूला ये तीन वातश्लेष्मज; १९ कर्णिनी अकेली श्लेष्मरक्तज तथा २० सान्निपातिकी अकेली सन्निपातज स्वीकार की है । यह चरक के अनुसार ही चला है । भेद केवल इतना ही है कि इसने दस योनिव्यापत्तियां वातज मानी हैं और

चरक ने ग्यारह वातज मानी हैं। इसने वामिनी को वातिक माना है और चरक ने इसे वातपित्तात्मक माना है। चरक ने अचरणा वातिक मानी है किन्तु इसने अचरणा के स्थान में कण्डूला मानी है और इसे वातश्लेष्मज माना है। चरक ने अतिचरणा मानी है, जो कि वाग्भट ने नहीं मानी। वाग्भट ने संख्यापूर्ति के लिए विप्लुता मानी है जो कि चरक मे नहीं मानी। और भी इनमें मतभेद है, जो कि विद्वान् पाठक उपर्युक्त रोगों का मिलान करके स्वयं जान लें। विस्तारभय से सभी मतभेद नहीं लिखा जा सकता। हाँ, इतना कहना आवश्यक है कि मतभेद होने पर भी इनमें विरोध नहीं है, इन्होंने भावान्तरों को लेकर पृथक् २ माना है। किसी एक के भाव को लेकर मिलान किया जावे तो एकवाक्यता बन जाती है। किसने किस व्यापत्ति के स्थान में कौन सी व्यापत्ति मानी है यह सब आगे उन २ के लक्षण निर्देश में बताया जायगा।

मधु०—व्यधिकारानुवृत्तेः प्रदुष्टार्तवकार्यत्वाच्च योनिव्यापन्निदानमाह—विंशतिरित्यादि। रोगसंग्रह इति अष्टोदरीये, चरकोक्तत्वादस्य वाक्यस्य। मिथ्याचारेण असम्यगाहाराचारेण, चरते- र्गतिभक्षणार्थत्वात्। प्रदुष्टेनार्तवेनेति वातादिदुष्टरजसेत्यर्थः। तेन, वन्ध्यादिष्वार्तवदुष्टिरपि कारणं भवति। बीजदोषान्मातापित्रोरारम्भकबीजदोषात्। दैवात् प्राक्तनाधर्मकारणात्, दैवस्य सर्वत्र कारणत्वे सिद्धेऽत्र विशेषेण कारणत्वमुक्तम् ॥१॥

बीजदोषात् अर्थात् माता पिता के प्रारम्भक बीज में दुष्टि होने के कारण।

वक्तव्य—इस वाक्य का भाव यह है कि व्याधियां कई प्रकार की होती हैं। तद्यथा- व्याधि पहले दो प्रकार की होती है, शस्त्रकृत्य और अशस्त्रकृत्य। ये दोनों प्रकार की व्याधियां पुनः आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक भेद से तीन प्रकार की हो जाती हैं। इनमें से भी प्रथम (आध्यात्मिक) आदिबलप्रवृत्त, जन्मबलप्रवृत्त और दोषबलप्रवृत्त भेद से तीन प्रकार की; द्वितीय (आधिदैविक) संघातबलप्रवृत्त भेद से एक प्रकार की; और तृतीय (आधिभौतिक) कालबलप्रवृत्त, दैवबलप्रवृत्त और स्वभावबलप्रवृत्त भेद से तीन प्रकार की होती हैं। आगे इनके भी भेद प्रभेद चलते हैं, जिनका विन्यास यहां अनावश्यक होने से केवल चित्र से ही बताया जावेगा। एवं प्रकृत में 'बीजदोषाच्च' का अभिप्राय आदिबलप्रवृत्त से है। अतः यह सिद्ध होता है कि आदिबलप्रवृत्त के कारण भी योनिव्यापद् रोग हो जाता है। आदिबलप्रवृत्त आदि को समझने के लिए चित्र देखें।

व्याधिः

- १ शस्त्रकृत्य
  - १ आध्यात्मिक
    - १ आदिबलप्रवृत्त
      - मातृज
      - २ पितृज
    - २ जन्मबलप्रवृत्त
      - १ रसकृत
      - २ दौहृदापचारकृत
    - ३ दोषबलप्रवृत्त
      - १ आमाशयसमुत्थ
        - १ शारीर
        - २ मानसिक
      - २ पक्वाशयसमुत्थ
        - १ शारीर
        - २ मानसिक
  - २ आधिदैविक
    - ४ संघातबलप्रवृत्त
      - १ शस्त्रकृत
      - २ व्यालकृत
  - ३ आधिभौतिक
    - ५ कालबलप्र०
      - १ व्यापन्नऋतुकृत
      - २ अव्यापन्नऋतुकृत
    - ६ दैवबलप्र०
      - १ विद्युदादिज
        - १ संसर्गज
        - २ आकस्मिक
      - २ पिशाचादिज
        - १ संसर्गज
        - २ आकस्मिक
    - ७ स्वभावबलप्रवृत्त
      - १ कालकृत
      - २ अकालकृत
- २ अशस्त्रकृत्य
  - १ आध्यात्मिक
  - २ आधिदैविक
  - ३ आधिभौतिक

इसी ... चाहिए। एवं प्रकृत में बीजदोषात्
का अभि... सु. सू. अ. २४ में देखें।

श्लैष्मिकाणां पञ्चयोनिव्यापदां लक्षणान्याह—

सा फेनिलमुदावर्ता रजः कृच्छ्रेण मुञ्चति ॥२॥ [सु० ६।३८]

वह उदावृत्त योनि रज को कृच्छ्रता (पीड़ा) के साथ छोड़ती है।

वक्तव्य—भाव यह है कि उदावृत्त योनिव्यापद् आर्तव पीड़ा करता हुआ आता है। यह व्याधि सुश्रुत ने इसी नाम से, चरक ने उदावर्तिनी नाम से, वाग्भट ने उदावृत्ता नाम से और नव्य आचार्य शार्ङ्गधर ने उपप्लुता नाम से कही है। कई विद्वानों का विचार है कि चरक ने भी उदावर्ता को उपप्लुता नाम से ही माना है, क्योंकि इसके लक्षण उससे मिलते हैं। परन्तु उस (चरक) ने उदावर्तिनी पृथक् मानी है। सुश्रुत ने उदावर्ता को वातज, चरक ने यदि इसे उदावर्तिनी माना जावे तो, वातज; और यदि उपप्लुता माना जावे तो वातकफज, एवं वाग्भट ने इसे वातज माना है। इसके लक्षण तन्त्रान्तर में इस प्रकार मिलते हैं। तद्यथा—"सा फेनिलं रजः कृच्छ्राद्रुदावृत्तं विमुञ्चति। इयं व्यापदुदावृत्ता"।

वन्ध्यां नष्टार्तवां विद्याद्

नष्टार्तवा योनिव्यापद् को वा नष्टार्तवा स्त्री को वन्ध्या जानना चाहिए।

वक्तव्य—जिस स्त्री को आर्तव नहीं आता, उसे वन्ध्या जानना चाहिए। वन्ध्या का केवल इतना ही लक्षण पर्याप्त नहीं है, किन्तु इसका यह लक्षण होना चाहिए कि जिसे आर्तव नहीं आता तथा जो सन्तानोत्पत्ति भी नहीं कर सकती वह वन्ध्यायोनि होती है। यदि केवल नष्टार्तवा को ही वन्ध्या कहा जावे तो सुश्रुत ने शारीरस्थान में यह बताया है कि "अदृष्टार्तवाऽप्यस्तीत्येके भाषन्ते" (सु. शा. स्था. अ. ३)। एवं ये भी वन्ध्या कहलानी चाहिए, किन्तु इनको सन्तान होती है। अतः ये वन्ध्या नहीं होतीं। इसलिए वन्ध्या का यह लक्षण मानना ही ठीक है कि नष्टार्तवा तथा अजननी वन्ध्या होती है। इसी वन्ध्या को चरक अरजस्का, सुश्रुत वन्ध्या, वाग्भट लोहितक्षया, शार्ङ्गधर लोहितक्षया, अन्य लोग नष्टार्तवा और पाश्चात्त्य विद्वान् (इस रोग को) ऐमिनोरिया कहते हैं। इसे सुश्रुत ने वातिक, चरक ने पैत्तिक, वाग्भट ने वात पैत्तिक और शार्ङ्गधर ने सुश्रुतवत् वातिक माना है। इसका लक्षण तन्त्रान्तर में इस प्रकार है। तद्यथा—"सदाहं क्षीयते रक्तं यस्यां सा लोहितक्षया" तथा "योनिगर्भाशयस्थञ्चेत्पित्तं सन्दूषयेदसृक्। साऽरजस्का मता कार्श्यवैवर्ण्यजननी भृशम्" (च. चि. अ. ३०); तथा—"वातपित्ताभ्यां क्षीयते रजः। सदाहकार्श्यवैवर्ण्यं यस्यां सा लोहितक्षया"। कई विद्वान् वन्ध्या से शार्ङ्गधर में शुष्का लेते हैं, एवमपि यही वातिक है क्योंकि चरक ने इसे वातिकी माना है। एवं यह सिद्ध होता है कि वन्ध्या को इसने शुष्का में लिया है। इस प्रकार मानने से चरक के मत में भी यह सिद्ध होता है कि उसने वन्ध्या को

व्याधिः

- १ शस्त्रकृत्य
  - १ आध्यात्मिक
  - २ आधिदैविक
  - ३ आधिभौतिक
    - १ आदिबलप्रवृत्त
      - १ मातृज
      - २ पितृज
    - २ जन्मबलप्रवृत्त
      - १ रसकृत
      - २ दौहृदापचारकृत
    - ३ दोषबलप्रवृत्त
      - १ आमाशयसमुत्थ
        - १ शारीर
        - २ मानसिक
      - २ पक्वाशयसमुत्थ
        - १ शारीर
        - २ मानसिक
    - ४ संघातबलप्रवृत्त
      - १ शस्त्रकृत
      - २ व्यालकृत
    - ५ कालबलप्र०
      - १ व्यापन्नऋतुकृत
      - २ अव्यापन्नऋतुकृत
    - ६ दैवबलप्र०
      - १ विद्युदादिज
        - १ संसर्गज
        - २ आकस्मिक
      - २ पिशाचादिज
        - १ संसर्गज
        - २ आकस्मिक
    - ७ स्वभावबलप्रवृत्त
      - १ कालकृत
      - २ अकालकृत
- २ अशस्त्रकृत्य
  - १ आध्यात्मिक
  - २ आधिदैविक
  - ३ आधिभौतिक
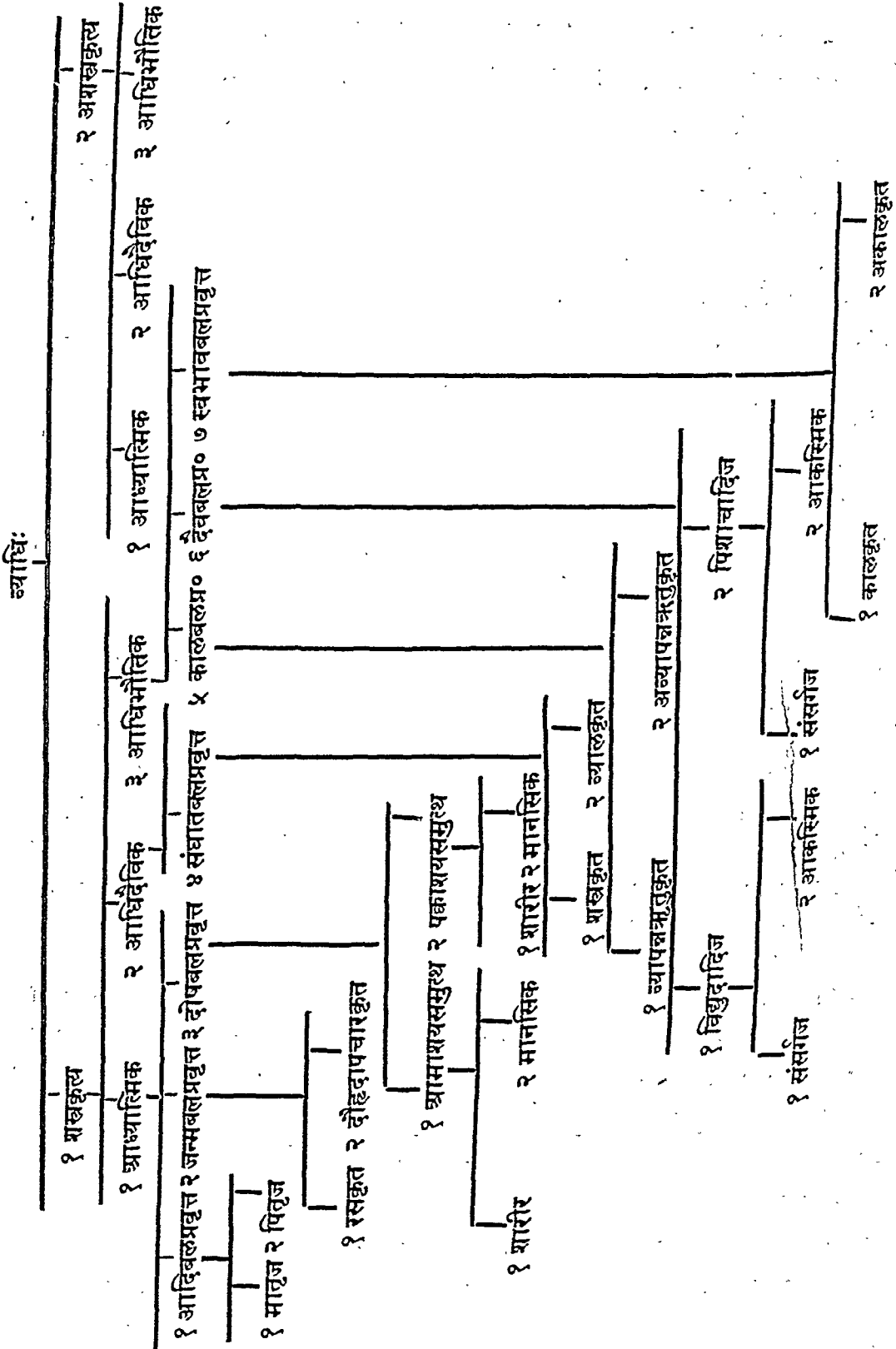
इसी प्रकार अशस्त्रकृत्य व्याधियों के भी भेद जानने चाहिए। एवं प्रकृत में बीजदोषाख्य का अभिप्राय उपर्युक्त आदिबलप्रवृत्त से है। इसका विशेष विवरण सु. सू. अ. २४ में देखें।

श्लैष्मिकाणां पञ्चयोनिव्यापदां लक्षणान्याह—

सा फेनिलमुदावर्ता रजः कृच्छ्रेण मुञ्चति ॥२॥ [सु० ६।३८]

वह उदावृत्त योनि रज को कृच्छ्रता (पीड़ा) के साथ छोड़ती है।

वक्तव्य—भाव यह है कि उदावृत्त योनिव्यापद् आर्तव पीड़ा करता हुआ आता है। यह व्याधि सुश्रुत ने इसी नाम से, चरक ने उदावर्तिनी नाम से, वाग्भट ने उदावृत्ता नाम से और नव्य आचार्य शार्ङ्गधर ने उपप्लुता नाम से कही है। कई विद्वानों का विचार है कि चरक ने भी उदावर्ता को उपप्लुता नाम से ही माना है, क्योंकि इसके लक्षण उससे मिलते हैं। परन्तु उस (चरक) ने उदावर्तिनी पृथक् मानी है। सुश्रुत ने उदावर्ता को वातज, चरक ने यदि इसे उदावर्तिनी माना जावे तो, वातज; और यदि उपप्लुता माना जावे तो वातकफज, एवं वाग्भट ने इसे वातज माना है। इसके लक्षण तन्त्रान्तर में इस प्रकार मिलते हैं। तद्यथा—"सा फेनिलं रजः कृच्छ्रादुदावृत्तं विमुञ्चति। इयं व्यापदुदावृत्ता"।

वन्ध्यां नष्टार्तवां विद्याद्

नष्टार्तवा योनिव्यापद् को वा नष्टार्तवा स्त्री को वन्ध्या जानना चाहिए।

वक्तव्य—जिस स्त्री को आर्तव नहीं आता, उसे वन्ध्या जानना चाहिए। वन्ध्या का केवल इतना ही लक्षण पर्याप्त नहीं है, किन्तु इसका यह लक्षण होना चाहिए कि जिसे आर्तव नहीं आता तथा जो सन्तानोत्पत्ति भी नहीं कर सकती वह वन्ध्यायोनि होती है। यदि केवल नष्टार्तवा को ही वन्ध्या कहा जावे तो सुश्रुत ने शारीरस्थान में यह बताया है कि "अदृष्टार्तवाऽप्यस्तीत्येके भाषन्ते" (सु. शा. स्था. अ. ३)। एवं ये भी वन्ध्या कहलानी चाहिए, किन्तु इनको सन्तान होती है। अतः ये वन्ध्या नहीं होतीं। इसलिए वन्ध्या का यह लक्षण मानना ही ठीक है कि नष्टार्तवा तथा अजननी वन्ध्या होती है। इसी वन्ध्या को चरक अरजस्का, सुश्रुत वन्ध्या, वाग्भट लोहितक्षया, शार्ङ्गधर लोहितक्षया, अन्य लोग नष्टार्तवा और पाश्चात्त्य विद्वान् (इस रोग को) ऐमिनोरिया कहते हैं। इसे सुश्रुत ने वातिक, चरक ने पैत्तिक, वाग्भट ने वात पैत्तिक और शार्ङ्गधर ने सुश्रुतवत् वातिक माना है। इसका लक्षण तन्त्रान्तर में इस प्रकार है। तद्यथा—"सदाहं क्षीयते रक्तं यस्यां सा लोहितक्षया" तथा "योनिगर्भाशयस्थश्चेत्पित्तं सन्दूषयेदसृक्। साऽरजस्का मता कार्श्यवैवर्ण्यजननी भृशम्" (च. चि. अ. ३०); तथा—"वातपित्ताभ्यां क्षीयते रजः। सदाहकार्श्यवैवर्ण्यं यस्यां सा लोहितक्षया"। कई विद्वान् वन्ध्या से शार्ङ्गधर में शुष्का लेते हैं, एवमपि यही वातिक है क्योंकि चरक ने इसे वातिकी माना है। एवं यह सिद्ध होता है कि वन्ध्या को इसने शुष्का में लिया है। इस प्रकार मानने से चरक के मत में भी यह सिद्ध होता है कि उसने वन्ध्या को

शुष्का में और लोहितक्षया को अरजस्का में ले लिया है। अर्थात् उसने वन्ध्या को शुष्का तथा लोहितक्षया को अरजस्का माना है।

विप्लुतां नित्यवेदनाम्।

जिस योनि में नित्य वेदना होती है, वह विप्लुता योनि जाननी चाहिए।

वक्तव्य—भाव यह है कि जिस स्त्री को योनि में मैथुन के समय अत्यधिक तथा अन्यदा कुछ कम नित्य पीड़ा रहे, उसे विप्लुता योनि जानना चाहिए। सुश्रुत ने इसे विप्लुता, वाग्भट ने विप्लुता, शार्ङ्गधर ने विप्लुता और चरक ने इसे उपप्लुता में ही ले लिया है। सुश्रुत ने इसे वातिक और वाग्भट ने इसे वातश्लेष्मन माना है।

परिप्लुतायां भवति ग्राम्यधर्मेण रुग् भृशम् ॥३॥ [सु० ६।३८]

परिप्लुता योनि में मैथुन करने पर अत्यन्त पीड़ा होती है।

वक्तव्य—इससे विप्लुता का भेद यह है कि उसमें हर समय पीड़ा रहती है और इसमें केवल मैथुन के समय। साथ ही उसकी उत्पत्ति अप्रक्षालन आदि से होती है। जैसे वाग्भट ने कहा भी है कि—"विप्लुताख्या त्वधावनात्" (वा. उ. स्था. अ. ३३)। इसे सुश्रुत, चरक, वाग्भट और शार्ङ्गधर आदिकों ने इसी नाम से माना है। इसकी उत्पत्ति तथा लक्षण चरक ने भली प्रकार विशद किया है। तद्यथा—"पित्तलाया नृसंवासे क्षवथूद्गारधारणात्। पित्तसंमूर्च्छितो वायुर्योनिं दूषयति स्त्रियाः॥ शूना स्पर्शाक्षमा सार्तिर्नीलपीतमसृक् स्रवेत्। श्रोणिवंक्षणपृष्ठार्तिज्वरार्तायाः परिप्लुता" (च. चि. स्था. अ. ३०)। इसे सुश्रुत ने वातिक, चरक ने वातपैत्तिक और वाग्भट ने भी वातपैत्तिक ही माना है। जैसे वाग्भट में कहा भी है कि—"पित्तलायाः नृसंवासे क्षवथूद्गारधारणात्। पित्तयुक्तेन मरुता योनिर्भवति दूषिता। शूना स्पर्शासहा सार्तिनीलपीतास्रवाहिनी। वस्तिकुक्षिगुरुत्वातीसारारोचककारिणी। श्रोणिवंक्षणरुक्तोदज्वरकृत्सा परिप्लुता"।

वातला कर्कशा स्तब्धा शूलनिस्तोदपीडिता।

वातल योनि कर्कश, स्थिर, शूल और सुइयों की सी चुभान से पीड़ित होती है।

[illegible] सब [illegible] एक सी है, केवल लक्षणों में न्यूनाधिकता है। जैसे [illegible] वातलायाः समीरणः। विवृद्धो यो[illegible] पिपीलिकासृप्तिमिव कर्कशतां [illegible] स्यात् सशब्दरुक्फेन-

[illegible] ॥ [सु० ६।३८]

वक्तव्य—उपर्युक्त पद्यार्थ का भाव यह है कि पूर्वोक्त उदावर्ता, वन्ध्या, विप्लुता और परिप्लुता इन चारों में भी वातज पीड़ाएं जाननी चाहिएं। एवं तात्पर्य यह निकला कि वस्तुतः ये चारों ही वातला योनि के भेद हैं और धर्मान्तर के साथ योग होने से इनका नामान्तर हो गया है। वे धर्मान्तर इनमें वातिक लक्षणों के साथ साथ ही होते हैं। उन वातिक लक्षणों के विषय में आचार्यप्रवर वाग्भट जी लिखते हैं कि—"योनौ क्रुद्धोऽनिलः कुर्याद्रुक्तोदायाससुप्तताः ॥ पिपीलिकासृप्तिमिव स्तम्भं कर्कशतां स्वनम् ॥ फेनिलारुणकृष्णाल्पतनुरूक्षार्तवस्रुतिम्। स्रंसं वंक्षणपार्श्वादौ व्यथां गुल्मं क्रमेण च ॥ तांस्तांश्च स्वान्गदान्व्यापद्वातिकी नाम सा स्मृता"। वस्तुतः ये लक्षण उसने वातिकी के माने हैं, किन्तु ये लक्षण यथोचित रूप में उदावर्ता आदि चारों में होते हैं और साथ ही इनके विशिष्ट लक्षण भी होते हैं। कई विद्वान् केवल वातिक तोदादि पीड़ाओं की विद्यमानता को ही उदावर्ता आदि चारों में स्वीकार करते हैं, नकि शेष लक्षणों को। क्योंकि शेष लक्षणों में कुछ एक ऐसे लक्षण भी हैं, जो उनमें नहीं हो सकते। जैसे फेनादियुक्त आर्तव का वहना वन्ध्या में नहीं हो सकता। कारण कि वन्ध्या नष्टार्तवा होती है। जब वह नष्टार्तवा होती है, तो उसमें आर्तव आ ही नहीं सकता। पुनः फेनिल आदि विशिष्ट आर्तव का आना कैसे हो सकता है? प्रथम कोटि के विद्वान् इस पर कहते हैं कि इसी लिए तो हमने उपर्युक्त वाक्यों में 'यथोचित' शब्द का विन्यास किया है। यथोचित का अर्थ यही है कि जो लक्षण नहीं हो सकते वे न होंगे और जो हो सकते हैं, वे भी निदान के अनुसार तथा दोष दूष्य की सम्मूर्च्छना अवस्था के अनुसार होंगे। वाग्भट ने यही अनुक्रम रक्खा है, उसने पहले वातिकी मानकर तदनु उसमें धर्मान्तरों का सम्बन्ध बताते हुए नामान्तर माने हैं। इसी लिए उसने वातिकी के अनन्तर कहा है कि "सैवातिचरणा शोफसंयुक्तातिव्यवायतः" यहां 'सैव' से वातला अभिप्रेत है। इसी प्रकार उसने 'प्राक्चरणेति सा' में 'सा' शब्द वातला का बोधक कहा है। इसे पाश्चात्य विद्वान् 'डिस्मनोरिया' कहते हैं। यह कष्टार्तवा भी कहलाती है।

मधु०—वातिका आह—सा फेनिलमित्यादि। सा योनिः फेनवदार्तवं मुञ्चति उदावर्तेति ऊर्ध्वमावर्तः समन्ताद्वर्तनं वायोर्यत्र सा तथेति, अर्शआदित्वादच्। विप्लुतामिति विप्लुतां वातवेदनया विप्लुतत्वात्। नित्यवेदनामतिकुपितेनैव वातेनेति। परिप्लुतायामिति परि सर्वतो वातविकारेण प्लुतत्वात् परिप्लुतासंज्ञा। परिप्लुतायां बाह्याभ्यन्तरवातवेदनाभिर्युक्तायाम्। 'ग्राम्यधर्मेण रुग्भृशम्' इत्यत्र 'ग्राम्यधर्मे रुचिर्भृशम्' इति पाठान्तरं, तत्र रुचिरभिलापः; ग्राम्यधर्मे मैथुने। वातलेत्यादि योनिविशेषणं, वातलया सह पञ्च योनिव्यापदः। वातलायाः पृथगभिधानं वातलायां विशेषेण वातवेदनाप्रादुर्भावार्थम्। एवं पित्तलादिष्वपि बोद्धव्यम्। चतसृष्विति उदावर्तावन्ध्याविप्लुतापरिप्लुतासु ॥२-४॥

शुष्का में और लोहितक्षया को अरजस्का में ले लिया है। अर्थात् उसने वन्ध्या को शुष्का तथा लोहितक्षया को अरजस्का माना है।

विप्लुतां नित्यवेदनाम्।

जिस योनि में नित्य वेदना होती है, वह विप्लुता योनि जाननी चाहिए।

वक्तव्य—भाव यह है कि जिस स्त्री को योनि में मैथुन के समय अत्यधिक तथा अन्यदा कुछ कम नित्य पीड़ा रहे, उसे विप्लुता योनि जानना चाहिए। सुश्रुत ने इसे विप्लुता, वाग्भट ने विप्लुता, शार्ङ्गधर ने विप्लुता और चरक ने इसे उपप्लुता में ही ले लिया है। सुश्रुत ने इसे वातिक और वाग्भट ने इसे वातश्लेष्मन माना है।

परिप्लुतायां भवति ग्राम्यधर्मेण रुग् भृशम् ॥३॥ [सु० ६।३८]

परिप्लुता योनि में मैथुन करने पर अत्यन्त पीड़ा होती है।

वक्तव्य—इससे विप्लुता का भेद यह है कि उसमें हर समय पीड़ा रहती है और इसमें केवल मैथुन के समय। साथ ही उसकी उत्पत्ति अप्रक्षालन आदि से होती है। जैसे वाग्भट ने कहा भी है कि—"विप्लुताख्या त्वधावनात्" (वा. उ. स्था. अ. ३३)। इसे सुश्रुत, चरक, वाग्भट और शार्ङ्गधर आदिकों ने इसी नाम से माना है। इसकी उत्पत्ति तथा लक्षण चरक ने भली प्रकार विशद किया है। तद्यथा—"पित्तलाया नृसंवासे क्षवथूद्गारधारणात्। पित्तसंमूर्च्छितो वायुर्योनिं दूषयति स्त्रियाः॥ शूना स्पर्शाक्षमा सार्तिर्नीलपीतमसृक् स्रवेत्। श्रोणिवंक्षणपृष्ठार्तिज्वरार्तायाः परिप्लुता" (च. चि. स्था. अ. ३०)। इसे सुश्रुत ने वातिक, चरक ने वातपैत्तिक और वाग्भट ने भी वातपैत्तिक ही माना है। जैसे वाग्भट में कहा भी है कि—"पित्तलायाः नृसंवासे क्षवथूद्गारधारणात्। पित्तयुक्तेन मरुता योनिर्भवति दूषिता। शूना स्पर्शासहा सार्तिनीलपीतास्रवाहिनी। वस्तिकुक्षिगुरुत्वातीसारारोचककारिणी। श्रोणिवंक्षणरुक्तोदज्वरकृत्सा परिप्लुता"।

वातला कर्कशा स्तब्धा शूलनिस्तोदपीडिता।

वातल योनि कर्कश, स्थिर, शूल और सुइयों की सी चुभान से पीड़ित होती है।

वक्तव्य—यह सब के मत में एक सी है, केवल लक्षणों में न्यूनाधिकता है। जैसे चरक में कहा भी है कि—"वातलाहारचेष्टाया वातलायाः समीरणः। विवृद्धो योनिमाश्रित्य योनेस्तोदं सवेदनम्॥ स्तम्भं पिपीलिकासृप्तिमिव कर्कशतां तथा। करोति सुप्तिमायासं वातजांश्चापरान् गदान्॥ सा स्यात् सशब्दरुक्फेनतनुरूक्षार्तवानिलात्"।

चतसृष्वपि चाद्यासु भवन्त्यनिलवेदनाः ॥४॥ [सु० ६।३८]

पहली चार व्यापत्तियों में भी वातिक पीड़ाएं होती हैं।

वक्तव्य—उपर्युक्त पद्यार्ध का भाव यह है कि पूर्वोक्त उदावर्ता, वन्ध्या, विप्लुता और परिप्लुता इन चारों में भी वातज पीड़ाएं जाननी चाहिएं। एवं तात्पर्य यह निकला कि वस्तुतः ये चारों ही वातला योनि के भेद हैं और धर्मान्तर के साथ योग होने से इनका नामान्तर हो गया है। वे धर्मान्तर इनमें वातिक लक्षणों के साथ साथ ही होते हैं। उन वातिक लक्षणों के विषय में आचार्यप्रवर वाग्भट जी लिखते हैं कि—"योनौ क्रुद्धोऽनिलः कुर्याद्रुक्तोदायाससुप्तताः ॥ पिपीलिकासृप्तिमिव स्तम्भं कर्कशतां स्वनम् ॥ फेनिलारुणकृष्णाल्पतनुरूक्षार्तवस्रुतिम्। स्रंसं वंक्षणपार्श्वादौ व्यथां गुल्मं क्रमेण च ॥ तांस्तांश्च स्वान्गदान्व्यापद्वातिकी नाम सा स्मृता"। वस्तुतः ये लक्षण उसने वातिकी के माने हैं, किन्तु ये लक्षण यथोचित रूप में उदावर्ता आदि चारों में होते हैं और साथ ही इनके विशिष्ट लक्षण भी होते हैं। कई विद्वान् केवल वातिक तोदादि पीड़ाओं की विद्यमानता को ही उदावर्ता आदि चारों में स्वीकार करते हैं, नकि शेष लक्षणों को। क्योंकि शेष लक्षणों में कुछ एक ऐसे लक्षण भी हैं, जो उनमें नहीं हो सकते। जैसे फेनादियुक्त आर्तव का वहना वन्ध्या में नहीं हो सकता। कारण कि वन्ध्या नष्टार्तवा होती है। जब वह नष्टार्तवा होती है, तो उसमें आर्तव आ ही नहीं सकता। पुनः फेनिल आदि विशिष्ट आर्तव का आना कैसे हो सकता है? प्रथम कोटि के विद्वान् इस पर कहते हैं कि इसी लिए तो हमने उपर्युक्त वाक्यों में 'यथोचित' शब्द का विन्यास किया है। यथोचित का अर्थ यही है कि जो लक्षण नहीं हो सकते वे न होंगे और जो हो सकते हैं, वे भी निदान के अनुसार तथा दोष दूष्य की सम्मूर्च्छना अवस्था के अनुसार होंगे। वाग्भट ने यही अनुक्रम रक्खा है, उसने पहले वातिकी मानकर तदनु उसमें धर्मान्तरों का सम्बन्ध बताते हुए नामान्तर माने हैं। इसी लिए उसने वातिकी के अनन्तर कहा है कि "सैवातिचरणा शोफसंयुक्तातिव्यवायतः" यहां 'सैव' से वातला अभिप्रेत है। इसी प्रकार उसने 'प्राक्चरणेति सा' में 'सा' शब्द वातला का बोधक कहा है। इसे पाश्चात्य विद्वान् 'डिस्मनोरिया' कहते हैं। यह कष्टार्तवा भी कहलाती है।

मधु०—वातिका आह—सा फेनिलमित्यादि। सा योनिः फेनवदार्तवं मुञ्चति उदावर्तेति ऊर्ध्वमावर्तः समन्ताद्वर्तनं वायोर्यत्र सा तथेति, अर्शआदित्वादच्। विप्लुतामिति विप्लुतां वातवेदनया विप्लुतत्वात्। नित्यवेदनामतिकुपितेनैव वातेनेति। परिप्लुतायामिति परि सर्वतो वातविकारेण प्लुतत्वात् परिप्लुतासंज्ञा। परिप्लुतायां बाह्याभ्यन्तरवातवेदनाभिर्युक्तायाम्। 'ग्राम्यधर्मेण रुग्भृशम्' इत्यत्र 'ग्राम्यधर्मे रुचिर्भृशम्' इति पाठान्तरं, तत्र रुचिरभिलाषः; ग्राम्यधर्मे मैथुने। वातलेत्यादि योनिविशेषणं, वातलया सह पञ्च योनिव्यापदः। वातलायाः पृथगभिधानं वातलायां विशेषेण वातवेदनाप्रादुर्भावार्थम्। एवं पित्तलादिष्वपि बोद्धव्यम्। चतसृष्विति उदावर्तावन्ध्याविप्लुतापरिप्लुतासु ॥२-४॥

(वातलायाः—) यहां वातला का पृथक् निर्देश वातला में विशेषतः वातिक पीड़ाओं के प्रादुर्भाव होने के कारण किया है। भाव यह है कि जब उपर्युक्त उदावर्ता आदि चारों व्यापत्तियां भी वातलक्षणान्विता होती हैं; वा वातजा होती हैं, तो पुनः वातला का पृथगभिधान क्यों किया है? क्यों न इसको भी उन्हीं में वा उनको भी इसी में ले लिया? इसी का उत्तर आचार्य ने यह दिया है कि उदावर्ता प्रभृति चारों व्यापत्तियों की अपेक्षा इसमें वातिक पीड़ा विशेषरूप से होती है, अतः इसका निर्देश उनसे पृथक् किया है। उदावर्ता आदिकों में अपने २ विशिष्ट लक्षण होते हैं, जिससे उनको वातला से पृथक् माना है। यही प्रकार वक्ष्यमाण पित्तला आदिकों में भी जानना चाहिए। 'चतसृषु' शब्द से यहां उदावर्ता, वन्ध्या, विप्लुता और परिप्लुता ये चार ली जाती हैं।

लोहितक्षयायाः (योनिव्यापदः) स्वरूपमाह—

सदाहं क्षीयते रक्तं यस्यां सा लोहितक्षया।

जिस योनि व्यापत्ति में आर्तव दाह करता हुआ क्षीण हो जाता है, वह लोहितक्षया योनि होती है।

वक्तव्य—भाव यह है कि जहां आर्तवशोणित दाहकर हुआ क्षीण हो जाता है, वह लोहितक्षया योनि होती है। इसका लक्षण सुश्रुत ने इस प्रकार माना है कि—"सदाहं प्रक्षरत्यस्रं यस्यां सा लोहितक्षरा"। (सु. उ. तं. अ. ३८)। सुश्रुत ने लोहितक्षया को लोहितक्षरा तथा रुधिरक्षरा नाम से; वाग्भट ने लोहितक्षया नाम से; चरक ने शुष्का नाम से तथा शाङ्गंधर ने लोहितक्षया नाम से कहा है। कई विद्वानों का यहां पर यह मत भी है कि चरक ने लोहितक्षया को अरजस्का तथा वन्ध्या को शुष्का में माना है। एवं यह सिद्ध होता है कि चरक ने इसे अरजस्का नाम से माना है। अस्तु कुछ भी हो, चरक ने न तो वन्ध्या मानी है और नहीं लोहितक्षया मानी है, प्रत्युत उसने अरजस्का और शुष्का ये दो और मानी हैं; जो कि प्रकृत रोग विनिश्चय में नहीं हैं। अतः यही मानना पड़ता है कि प्रकृत रोगविनिश्चय में होने वाली वन्ध्या और लोहितक्षया चरक ने अरजस्का तथा शुष्का में अन्तर्हित कर ली हैं। इसलिए पाठक भी चरक में इनका अन्तर्भाव वा नामान्तर उपर्युक्तानुसार यथोचित रूप से जान लें। वन्ध्या को शुष्का में मानने वाले विद्वानों ने "शुष्का नष्टार्तवा कथिता (?)" यह वाक्य कहा है, जिसे कि पद्य में इस प्रकार कहा जा सकता है कि "शुष्का नष्टार्तवा प्रोक्ता'। नष्टार्तवा से यहां वन्ध्या ली जाती है, क्योंकि वन्ध्या के लक्षण में 'वन्ध्यां नष्टार्तवां विद्यात्" (सु. उ. तं. अ. ३८) यह कहा है। एवं इसी लोहितक्षया को सुश्रुत ने पैत्तिकी, वाग्भट ने वातपैत्तिकी और चरक ने अरजस्का मानने पर पैत्तिकी; और शुष्का मानने पर वातिकी माना है। शाङ्गंधर यहां माधवानुगामी है। वाग्भट ने लोहितक्षया का लक्षण "वातपित्ताभ्यां क्षीयते रजः। सदाहकार्श्यवैवर्ण्यं यस्यां सा लोहितक्षया" (वा. उ. स्था. अ. ३३) यह माना है।

वामिन्याः (योनिव्यापदः) स्वरूपमाह—

सवातमुद्गिरेद्बीजं वामिनी रजसा युतम् ॥५॥ [सु० ६।३८]

जो योनि रजयुक्त वातसहित बीज (गर्भोत्पादक शुक्र) को उलट (निकाल) देती है, वह वामिनी कहलाती है।

वक्तव्य—वामिनी योनि वह होती है, जो कि अपानवायु के प्रकोप से वीर्य सहित आर्तव को योनि मार्ग से बाहर निकाल देती है। इसका लक्षण चरक ने इस प्रकार माना है कि—"षडहात्सप्तरात्राद्वा शुक्रं गर्भाशयं गतम्। सरुजं नीरुजं वापि या स्रवेत्सा च वामिनी ॥" (च. चि. स्था. अ. ३०)। इसके अनुयायी वाग्भट ने भी यही भाव लेकर—"षडहात्सप्तरात्राद्वा शुक्रं गर्भाशयान्मरुत्। वमेत्सरुङ् नीरुजो वा यस्याः सा वामिनी मता" यह लक्षण माना है। इसे सुश्रुत ने पित्तजा, चरक ने वातपित्तजा और वाग्भट ने वातजा माना है।

प्रस्रंसिन्याः (योनिव्यापदः) स्वरूपमाह—

प्रस्रंसिनी स्रंसते च क्षोभिता दुष्प्रजायिनी।

प्रस्रंसिनी योनि क्षुब्ध होकर अपने स्थान से ढिलक जाती है, जिससे प्रसव कष्ट से होता है।

वक्तव्य—भाव यह है कि जो योनि (गर्भाशय) क्षुब्ध होकर अपने स्थान से स्रंसित हो जाती है, वह प्रस्रंसिनी योनि कहलाती है। इसमें प्रसव बड़े दुःख से होता है। इसे चरक ने योनिव्यापदन्तर्गत स्थानापवृत्ता से माना है। इसका (स्थानापवृत्ता का) लक्षण "योनिस्थानापवृत्ता हि शल्यभूता स्त्रिया मता" यह है। कई इसे चरक में रक्तयोनि में अन्तर्हित करते हैं। एवं शार्ङ्गधर ने भी इसे रक्तयोनि में ही लिया है। दूसरे विद्वान् इसे वाग्भट तथा चरक में अन्तर्मुखी में मानते हैं।

पुत्रघ्नी(योनिव्यापदः)स्वरूपमाह—

स्थितं स्थितं हन्ति गर्भं पुत्रघ्नी रक्तसंक्षयात् ॥६॥ [सु० ६।३८]

पुत्रघ्नी योनि वायु द्वारा आर्तव के क्षीण हो जाने पर स्थित हुए २ गर्भ को भी नष्ट कर देती है।

वक्तव्य—इसे चरक ने पुत्रघ्नी, वाग्भट ने जातघ्नी, सुश्रुत ने पुत्रघ्नी और शार्ङ्गधर ने जातघ्नी माना है। तद्यथा "जातघ्नी तु यदानिलः। जातं जातं सुतं हन्ति रौक्ष्याद्दुष्टार्तवोद्भवम्" (वा. उ. स्था. अ. ३३); तथा "रौक्ष्याद्वायुर्यदा गर्भं जातं जातं विनाशयेत्। दुष्टशोणितजं नार्याः पुत्रघ्नी नाम सा मता" (च. चि. स्था. अ. ३०)। इसे सुश्रुत ने पित्तजा, वाग्भट ने वातजा, शार्ङ्गधर ने पित्तजा और चरक ने वातजा माना है। जातघ्नी और पुत्रघ्नी इनके अर्थ में समता ही है।

पित्तलायाः (योनिव्यापदः) स्वरूपमाह—

अत्यर्थं पित्तला योनिर्दाहपाकज्वरान्विता।

पित्तला योनि अत्यन्त दाह, अत्यन्त पाक और ज्वर से युक्त होती है।

वक्तव्य—इसका निदानपूर्वक लक्षण चरक और वाग्भट में इस प्रकार लिखा मिलता है। तद्यथा—"व्यापत्कट्वम्ललवणक्षाराद्यैः पित्तजा भवेत्। दाहपाकज्वरोष्णार्ता नीलपीता सितार्तवा॥ भृशोष्णकुणपस्रावा योनिः स्यात्पित्तदूषिता" (च. चि. स्था. अ. ३०); तथा—"यथा स्वैर्दूषणैर्दुष्टं पित्तं योनिमुपाश्रितम्। करोति दाहपाकोष्णपूतिगन्धज्वरान्विताम्॥ भृशोष्णभूरिकुणपनीलपीतासितार्तवाम्। सा व्यापत्पैत्तिकी" (वा. उ. स्था. अ. ३३)। यह व्यापत्ति सब ने इसी नाम से स्वीकार की है।

आद्यासु पित्तजव्यापत्सु पित्तलिङ्गोच्छ्रयतामाह—

चतसृष्वपि चाद्यासु पित्तलिङ्गोच्छ्रयो भवेत् ॥७॥ [सु० ६।३८]

लोहितक्षया आदि पहली चार व्यापदों में भी पैत्तिक लक्षणों की उल्बणता होती है।

वक्तव्य—भाव यह है कि जिस प्रकार उदावर्ता आदि चार व्यापत्तियों में वातिक लिङ्ग होते हैं, उसी प्रकार लोहितक्षया आदि चार व्यापत्तियों में भी इनके अपने २ लक्षणों के साथ २ पैत्तिक लक्षण भी होते हैं। यहां भी पूर्वोक्त सारा विवरण जान लेना चाहिए।

मधु०—पैत्तिका आह—सदाहमित्यादि। क्षीयते रक्तमिति अतिप्रवृत्त्या रक्तस्य क्षयः। वामिन्युद्गिरेद्बीजमिति शुक्रं शुद्धमपि वमतीत्यर्थः। प्रस्रंसिनी स्रंसत इति स्वस्थानाच्च्यवते निःसरतीति यावत्। अत एव "क्षीरस्विन्नां प्रवेशयेत्" (सु. उ. तं. अ. ३८) इति चिकित्सितम्। क्षोभिता विमर्दिता। दुष्प्रजायिनी दुःखप्रसवा। रक्तसंक्षयादार्तवस्य वायुना क्षयात्। यद्यपि सर्वस्यैवापत्यस्य नाशस्तथाऽपि पुत्रस्य प्राधान्यात् पुत्रघ्नीति व्यपदेशः। पित्तलया सह पञ्च पित्तजाः। दाहपाकेत्याद्युपलक्षणं, तेन नीलपीतासितार्तवा च भवतीत्यर्थः। यदुक्तमन्यत्र—"व्यापल्लवणकट्वम्लक्षाराद्यैः पित्तजा भवेत्। दाहपाकज्वरोष्णार्ता नीलपीतासितार्तवा"—इति। आद्यास्विति रक्तक्षयावामिनीप्रस्रंसिनीपुत्रघ्नीषु ॥५-७॥

'क्षीयते रक्तं' अर्थात् प्रवृत्ति के अत्यधिक होने से रक्त का क्षय होता है। 'वामिन्युद्गिरेद्बीजम्' अर्थात् शुद्ध शुक्र को भी वमित कर (निकाल) देती है। प्रस्रंसिनी का अर्थ अपने स्थान से ढिलक आना है। अतएव इसकी चिकित्सा में इसे दूध से स्विन्न कर प्रविष्ट करना लिखा है। क्षोभित अर्थात् मर्दित की हुई (मसली हुई)। पुत्रघ्नी में यद्यपि अपत्यमात्र का ही नाश हो जाता है, तथापि कन्या और पुत्र में दायाद ग्रहण, पिण्डदान, पितृऋणोद्धरण आदि में पुत्र का ही अधिकार होने से उसी की प्रधानता को लक्ष्य रखकर यहां 'अपत्यघ्नी' न कहकर पुत्रघ्नी ही कहा है, किन्तु वस्तुतः पुत्रघ्नी का अर्थ 'अपत्यघ्नी' ही यहां लेना चाहिए। इस प्रकार पुत्रघ्नी से अपत्यघ्नी यह अर्थ लेने में गौरव देखकर वाग्भट आदि नव्य विद्वानों ने पुत्रघ्नी के स्थान पर 'जातघ्नी' माना है। एवं जात शब्द पुत्र, कन्या और नपुंसक तीनों का ही ग्राहक होने से युक्तियुक्त है। (दाहपाकेत्यादि—) उपर्युक्त पित्तला योनि में दाह, पाक और ज्वर का निर्देश उपलक्षण मात्र है। इससे यह नील, पीत और कृष्ण

आर्तव वाली भी होती है। जैसे अन्यत्र कहा भी है कि—लवण, कटु, अम्ल और क्षारादिकों से पित्तज योनि व्यापद् होती है, जो कि दाह, पाक, ज्वर और उष्णता से आर्त तथा नील, पीत एवं कृष्ण आर्तव वाली होती है। 'आद्यासु' शब्द से यहां रक्तक्षया, वामिनी, प्रस्रंसिनी और पुत्रघ्नी ली जाती है।

अत्यानन्दायाः (योनिव्यापदः) स्वरूपमाह—

अत्यानन्दा न सन्तोषं ग्राम्यधर्मेण गच्छति।

अत्यानन्दा योनि मैथुन से संतुष्ट नहीं होती।

वक्तव्य—भाव यह है कि जो स्त्री पर्याप्त मैथुन करने पर भी सन्तुष्ट नहीं होती, उसे अत्यानन्दा योनि कहना चाहिए। इस योनि में एक प्रकार के कृमि उत्पन्न हो जाते हैं, जिससे कि उनके प्रचार वा भक्षण आदि से योनि में खुजली होती रहती है। इस कारण स्त्री की कामवासना बढ़ जाती है, जिससे कि उसकी मैथुनशक्ति भी बढ़ जाती है। एवं मैथुनशक्ति के बढ़ जाने से वह (पुरुष से) देर बाद स्खलित होती है और पुरुष शीघ्र स्खलित हो जाता है, जिससे स्त्री सन्तुष्ट नहीं होती। एवं सन्तुष्ट न होने से मैथुन अधिक करने के कारण और मैथुन द्वारा कण्डू की शान्ति होने के कारण उसे अत्यन्त आनन्द आता है, जिससे उसका नाम अत्यानन्दा रक्खा गया है। नव्य विद्वान् शार्ङ्गधर ने आदि पद का लोप कर केवल नन्दा नाम से इसे पुकारा है। आचार्यप्रवर वाग्भट ने कृमिजन्य कण्डू को लक्ष्य रख कर इसका नाम 'कण्डूरा योनि' माना है। ऋषिवर अग्निवेश ने देर बाद स्खलित होने को लक्ष्य रख कर इसका नाम 'अचरणा' स्वीकार किया है; और सुश्रुत में इसे अत्यानन्दा नाम से ही ग्रहण किया गया है। वाग्भट ने इसका लक्षण—"सञ्जातजन्तुः कण्डूला कण्ड्वा चातिरतिप्रिया" यह; और अग्निवेश ने इसका लक्षण—"योन्यामधाननात्कण्डूं जाताः कुर्वन्ति जन्तवः। सा स्यादचरणा कण्ड्वा तथातिनरकाङ्क्षिणी" यह माना है। इसे कई लोग चिरचरणा और अतिरतिप्रिया योनि भी कहते हैं। इसे सुश्रुत में श्लैष्मिकी, चरक में वातिकी और वाग्भट में वातश्लैष्मिकी माना है।

कर्णिन्याः (योनिव्यापदः) स्वरूपमाह—

कर्णिन्यां कर्णिका योनौ श्लेष्मासृग्भ्यां प्रजायते॥८॥ [सु० ६।३८]

कर्णिनी (योनि) में कफ और रक्त से योनि में कर्णिका हो जाती है।

वक्तव्य—भाव यह है कि जो स्त्री पूर्ण युवावस्था से पूर्व ही गर्भधारण कर लेती है, उसके गर्भ से रुका हुआ वायु श्लेष्मा और रक्त से मिलकर योनि में एक प्रकार की गाँठ सी उत्पन्न कर देता है, जिससे कि रक्त (आर्तव) का मार्ग रुक जाता है। इसे कर्णिनी योनि कहा जाता है। इसी बात को चरक और वाग्भट ने इस प्रकार बताया है कि—"अकाले वाहमानाया गर्भेण पिहितोऽनिलः

कर्णिकां जनयेद्योनौ श्लेष्मरक्तेन मूर्च्छितः ॥ रक्तमार्गावरोधिन्या सा तया कर्णिनी मता" । (चरकः); "अकालवाहनाद्वायुः श्लेष्मरक्तविमूर्च्छितः । कर्णिकां जनयेद्योनौ रजोमार्गनिरोधिनीम् ॥ सा कर्णिनी···" (वाग्भटः) । इसे चरक ने वातश्लेष्मज, वाग्भट ने वातश्लेष्मरक्तज और सुश्रुत ने श्लेष्मज माना है ।

अचरणायाः (योनिव्यापदः) स्वरूपमाह—

मैथुनेऽचरणा पूर्वं पुरुषादतिरिच्यते ।

प्राक्चरणा योनि मैथुन के समय पुरुष से पहले ही स्खलित हो जाती है।

वक्तव्य—उपर्युक्त का भाव यह है कि जो स्त्री मैथुन के समय पुरुष से पहले अर्थात् पुरुष के रतिज आनन्द अनुभव करने से पहले ही स्खलित अर्थात् रति करने में असमर्थ हो जाती है, उसे प्राक्चरणा योनि कहा जाता है। यह रोग बहुत छोटी अवस्था वाली स्त्री के साथ बहुत मैथुन करने से होता है। इसमें पीठ, जङ्घाओं, ऊरुओं और वंक्षणों में पीड़ा होती है। इसका लक्षण तन्त्रान्तर में इस प्रकार माना है कि—"मैथुनादतिबालायाः पृष्ठजङ्घोरुवङ्क्षणम् । रुजयन् दूषयेद्योनिं वायुः प्राक्चरणा हि सा (प्राक्चरणेति सा)" (च. चि. स्था. अ. ३०; वा. उ. स्था. अ. ३३) । इसे सुश्रुत ने श्लेष्मज, चरक तथा वाग्भट ने वातज माना है ।

अतिचरणायाः (योनिव्यापदः) स्वरूपमाह—

बहुशश्चातिचरणा तयोर्बीजं न विन्दति ॥९॥ [सु० ६।३८]

अधिक वा बहुत वार मैथुन करने से अतिचरणा योनि होती है, और वह गर्भाङ्कुर ग्रहण नहीं कर सकती ।

वक्तव्य—भाव यह है कि जब स्त्री बहुत वार मैथुन करती है तो अतिचरणा योनि वाली हो जाती है। तब वह अतिचरणायोनि स्त्री अपने और पुरुष के (तयोः) गर्भारम्भक बीज को धारण नहीं कर सकती । कई विद्वान् यहां अतिचरणा का केवल 'बहुशश्चातिचरणा' इतना ही लक्षण मानते हैं और उसके आगे के 'तयोर्बीजं न विन्दति' पाठ को प्राक्चरणा और अतिचरणापरक मानते हैं । एवं इसका अर्थ यह बनता है कि बहुत वार मैथुन करने से अतिचरणा योनि होती है । (तयोः) प्राक्चरणा और अतिचरणा स्त्री की योनि बीज (गर्भारम्भकबीज) को प्राप्त नहीं कर सकती (प्राक्चरणाऽतिचरणास्त्रियोर्योनिर्बीजं न विन्दति न लभते) । अतिचरणा का लक्षण लिखते हुए आचार्य सुश्रुत ने यह कहा है कि—"बहुशश्चातिचरणादन्या बीजं न विन्दति" । इसमें 'तयोः' पाठ न होने से अर्थसङ्गति सीधी ही लग जाती है । तद्यथा—बहुत वार (बहुशः) अधिक मैथुन करने से (अतिचरणात्) अतिचरणा (अन्या) योनि गर्भाङ्कुरजनक बीज को (बीजं) धारण नहीं कर सकती (न विन्दति) । सुश्रुत में कहीं

कहीं "वहुशश्चातिचरणी तयोर्वीजं न तिष्ठति" यह पाठान्तर भी मिलता है। इसका अर्थ माधव के पाठ की तरह यही करना चाहिए कि अतिचरणा स्त्री बहुत बार मैथुन करती है, किन्तु उसकी योनि में स्त्री का (अपना) और पुरुष का बीज नहीं ठहरता (अर्थात् गर्भ नहीं उपजाता)। इसका दूसरा अर्थ इस प्रकार भी किया जाता है कि अतिचरणा स्त्री बहुत बार मैथुन करती है, अर्थात् बहुत बार मैथुन करने वाली स्त्री अतिचरणी वा अतिचरणा होती है। 'तयोर्वीजं न तिष्ठति' (तयोः योनिरिति शेषः) प्राक्चरणा और अतिचरणा स्त्री की योनि (बीजं) गर्भधारक शुक्र को (न तिष्ठति) नहीं ग्रहण करती; अथवा (तयोः) प्राक्चरणा और अतिचरणा स्त्री की (योनाविति शेषः) योनि में (बीजं) बीज (न तिष्ठति) नहीं ठहरता। कुछ भी हो, माधव का लक्षण सुश्रुतानुसार ही है और इनके उपर्युक्त सारे अर्थ सङ्गत हैं। अतिचरणा योनि का लक्षण चरक ने "पवनोऽतिव्यवायेन शोफसुप्तिरुजः स्त्रियाः। करोति कुपितो योनौ सा चातिचरणा मता" यह; तथा वाग्भट ने "सैवातिचरणा शोफसंयुक्तातिव्यवायतः" यह माना है। सुश्रुत ने अतिचरणा को श्लेष्मज; वाग्भट और चरक ने अतिचरणा को वातज माना है।

श्लेष्मलायाः (योनिव्यापदः) स्वरूपमाह—

श्लेष्मला पिच्छिला योनिः कण्डूग्रस्ताऽतिशीतला।

श्लेष्मजयोनिव्यापत्सु श्लेष्मलिङ्गोच्छ्रयतामाह—

चतसृष्वपि चाद्यासु श्लेष्मलिङ्गोच्छ्रयो भवेत् ॥१०॥ [सु० ६।३८]

श्लेष्मल योनि पिच्छिल, खुजली युक्त और अतिशीतल होती है।

वक्तव्य—भाव यह है कि अभिष्यन्दि आदि पदार्थों के सेवन से बढ़ा हुआ कफ यदि स्त्री की योनि को दूषित कर देता है, तो वह (कफ) योनि को पिच्छिल, खुजलीयुक्त और अतिशीतल कर देता है। इसे चरक ने अल्पपीड़ा वाली, पाण्डुवर्ण वाली, पाण्डु आर्तवस्राविणी तथा पिच्छिल आर्तवस्राविणी भी माना है। तद्यथा—"कफोऽभिष्यन्दिभिर्वृद्धो योनिं चेद्दूषयेत्स्त्रियाः। स शीतां पिच्छिलां कुर्यात् कण्डुग्रस्तालपवेदनाम् ॥ पाण्डुवर्णां तथा पाण्डुपिच्छिलार्तववाहिनीम्"–(च. चि. स्था. अ. ३०)। इसी बात को वाग्भट ने भी कहा है कि—"कफोऽभिष्यन्दिभिः क्रुद्धः कुर्याद्योनिमवेदनाम्। शीतलां कण्डुलां पाण्डुपिच्छिलां तद्विधस्रुतिम् ॥ सा व्यापच्छ्लैष्मिकी" (वा. उ. स्था. अ. ३३)। यह सब के मत में श्लेष्मज है। यहां भी वातज व्यापत्तियों के प्रतिपादक 'चतसृषु' इत्यादि श्लोक की तरह इस प्रकार भाव समझना चाहिए कि पूर्वोक्त अत्यानन्दा, कर्णिका, प्राक्चरणा और अतिचरणा इन चारों में भी श्लैष्मिक पीड़ाएं जाननी चाहिए। एवं सारांश यह निकला कि वस्तुतः अत्यानन्दा आदि चारों ही श्लेष्मला

के भेद हैं और धर्मान्तर के साथ सम्बन्ध होने से इनका अत्यानन्दा आदि नामान्तर पड़ गया है। वे धर्मान्तर इन अत्यानन्दा आदिकों में श्लैष्मिक लिङ्गों के साथ २ ही होते हैं। किन्तु वे लक्षण समग्र नहीं होते, प्रत्युत यथोचित रूप में होते हैं। यहां पर भी वाग्भट ने पूर्वोक्त क्रम ही रक्खा है। उसने पूर्व श्लेष्मला ही मानी है। यहां पर पूर्वोक्त सभी भाव जान लेने चाहिएं।

मधु०—श्लैष्मिका आह—अत्यानन्देत्यादि। ग्राम्यधर्मेण मैथुनेन। कर्णिन्यां कर्णिकेति कर्णिका मांसकन्दाकारग्रन्थिः। मैथुनेऽचरणा पूर्वं पुरुषादतिरिच्यत इति अचरणा सम्यङ्मैथुनाचरणात् पूर्वं प्रथमं, पुरुषादतिरिच्यते विरमति, तेन बीजं न गृह्णाति। अत्राचरणशब्देनोपचारात्तद्वती स्त्री भण्यते। बहुशश्चातिचरणेति बहुशो मैथुनाचरणादतिचरणा, सा च श्लेष्मजनितकण्डूभिराजगेव (?) बहुमैथुनाचरणाद्बीजं न धत्ते। अत उक्तं—तयोर्बीजं न विन्दतीति। तयोरिति अचरणातिचरणयोः। श्लेष्मलायामतिशीतलेत्युपलक्षणं, तेन वेदनादिकमपि ज्ञेयम्। तथाच तन्त्रान्तरे—"कफोऽभिष्यन्दिभिर्वृद्धो योनिं चेद्दूषयेत् स्त्रियाः। स कुर्यात् पिच्छिलां शीतां कण्डूग्रस्तां सवेदनाम्" इति (च. चि. स्था. अ. ३०) ॥८—१०॥

कर्णिन्यां कर्णिकेति—कर्णिका मांसकन्द के आकार वाली ग्रन्थि को कहते हैं। मैथुनेऽचरणा पूर्वं पुरुषादतिरिच्यते—इसका अर्थ यह है कि प्राक्चरणा योनि वाली स्त्री अच्छी तरह मैथुन करने से पूर्व ही श्रान्त वा स्खलित हो जाती है, जिससे बीज ग्रहण नहीं कर सकती। यहां पर अचरणा शब्द से उपचारानुसार उस वाली स्त्री ली जाती है। बहुशश्चातिचरणेति—बहुत बार मैथुन करने से स्त्री अतिचरणा कहलाती है, और यह अतिचरणा श्लेष्मजनित खुजली के कारण अत्यानन्दा की तरह (आजगेव आनन्देव) बहुत मैथुन करने से बीज ग्रहण नहीं करती। इसी लिए कहा है कि—'तयोर्बीजं न विन्दतीति'। 'तयोः' शब्द से यहां अचरणा (प्राक्चरणा) और अतिचरणा का ग्रहण होता है। श्लेष्मला में योनि का अति शीतल होना रूप निर्देश उपलक्षण में है। इससे इसमें वेदना आदि भी लेनी चाहिए। जैसे तन्त्रान्तर में कहा भी है कि–'अभिष्यन्दि पदार्थों से बढ़ा हुआ कफ यदि स्त्री की योनि को दूषित कर देता है तो वह (कफ) उस (योनि) को पिच्छिल, शीत, कण्डूग्रस्त और वेदनान्वित कर देता है' (च. चि. स्था. अ. ३०)।

वक्तव्य—इस मधुकोप व्याख्या में 'सा च श्लेष्मजनितकण्डूभिराजगेव (?) बहुमैथुनाचरणाद्बीजं न धत्ते" यह पाठ मिलता है। इसमें स्थित 'कण्डूभिः आजग इव' में पड़े हुए 'आजग इव' शब्द के आगे बहुत सी प्रतियों में सन्देहवाचक (?) चिह्न लगा है, जिससे प्रकट होता है कि इसमें अर्थ सङ्गति न लगने के कारण भ्रान्ति पड़ती है, जिससे प्रतीत होता है कि यहां कोई पाठ और था जो कि उपलब्ध नहीं होता। मेरा विचार है कि 'आजगेव' के स्थान पर सम्भवतः 'आनन्देव' यह पाठ होगा और 'आनन्देव' का अर्थ 'अत्यानन्दा की तरह' है। यही अर्थ ठीक भी प्रतीत होता है क्योंकि अत्यानन्दा में भी श्लेष्मजनित कण्डू होती है तथा यह बहुत मैथुन करती है। एवं इसी कारण गर्भधारण नहीं कर सकती। इस प्रकार अतिचरणा का अत्यानन्दा के साथ उपमान, उपमेय और साधारण धर्मों के मिलने से यहां पर 'आनन्देव' यही पाठ ठीक जँचता है। मैंने मूल पाठ में परिवर्तन नहीं किया क्योंकि सम्भवतः उसका कोई और अर्थ ही हो जो कि मेरी समझ में नहीं आ रहा; किन्तु हो सकता है कि आगे किसी की समझ में आ जाय वा किसी हस्तलिखित

प्रति से कोई पाठान्तर मिल जाय जिससे कि अर्थ सङ्गति हो सके। टीकाकार वा सम्पादक को अन्यकृत ग्रन्थ में पाठपरिवर्तन का अधिकार भी नहीं होता, केवल वह अपने भावों को अपने नोट में स्फुट कर सकता है। इसी बात को लक्ष्य में रखकर मैंने अनधिकार चेष्टा नहीं की।

षण्डयाः (योनिव्यापदः) स्वरूपमाह—

अनार्तवाऽस्तनी षण्डी खरस्पर्शा च मैथुने।

जो स्त्री आर्तव रहित, छोटे २ स्तनों वाली एवं मैथुन में खरस्पर्श होती है, उसे षण्डी कहा जाता है।

वक्तव्य—भाव यह है कि षण्डयोनि स्त्री रजःस्रावशून्य, छोटे २ स्तनों वाली तथा मैथुन के समय खरस्पर्श वाली होती है। इस स्त्री के साथ मैथुन तो किया जाता है, परन्तु मैथुन समय तथा ऋतु समय इसे आर्तव नहीं आता। इसके स्तन होते तो हैं, किन्तु ये वहुत छोटे २ होते हैं। मैथुन के समय स्पर्श करने पर यह खर प्रतीत होती है। इसमें शुक्र गर्भाधान नहीं कर सकता। सुश्रुत ने इसका लक्षण—"अनार्तवस्तना षण्डी खरस्पर्शा च मैथुने"-(सु. उ. तं. अ. ३८) यह लिखा है। यह रोग गर्भारम्भक वीज की दुष्टि के कारण स्त्री में आता है। यह आदिवलप्रवृत्त व्याधि है। इसमें वीज का इस भाग को वनाने वाला भाग उपतप्त हुआ होता है, जिससे गर्भ में ही कन्या का गर्भाशय विकृत हो जाता है, जिस कारण वह न तो रजस्वला और न स्तनों वाली होती है, क्योंकि रज का और स्तनों का आपस में सम्वन्ध है। यही कारण है कि जव रजोदर्शन होने लगता है तो स्तन भी वढ़ने लगते हैं। सम्भवतः यही सम्वन्ध हो कि रज और स्तन्य एक ही धातु से वनते हैं और रजस्वला होने पर मैथुन करने से गर्भ की सम्भावना को लक्ष्य रख प्रकृति ने स्तन्य आश्रय के उपचय करने का नियम वना रक्खा हो। यह भी हो सकता है कि रजोदर्शन से पूर्व स्तनों की धमनियां वन्द होती हैं, किन्तु रजोदर्शन के वाद उनमें कुछ संचार होता हो जिससे वे उपचित होकर स्तनों को भी उपचित कर देती हों और सन्तानो-त्पत्ति के अनन्तर उनमें दुग्ध आने लगता है। यह सब भाव "[illegible]-द्वाराः कन्यानां सम्भवन्ति हि" इसी श्लोक से निकलता है। [illegible] वह मैथुन से द्वेष भी रखती है। द्वेष का यहां यह अभिप्राय नहीं है कि वह मैथुन कर ही नहीं सकती। उससे मैथुन किया जा सकता है; किन्तु इसकी मैथुन में इच्छा नहीं होती। यह व्याधि आदिवलप्रवृत्त होने के कारण असाध्य है। इसे सुश्रुत ने त्रिदोषजा, चरक और वाग्भट ने वातजा माना है। इसका लक्षण चरक ने—"वीजदोषात्तु गर्भस्था मारुतोपहताशया। नृद्वेषिण्यस्तनी चैव षण्ढी स्यादनुप-क्रमा"-यह; तथा वाग्भट ने-"योनौ वातेन [illegible] नृद्वेषिण्य-स्तनी च स्यात्षण्ढसंज्ञाऽनुपक्रमा" (अ. ह. उ. अ. ३३) यह लिखा है।

अण्डिन्याः (योनिव्यापदः) स्वरूपमाह—

अतिकायगृहीतायास्तरुण्यास्त्वण्डिनी भवेत् ॥११॥ [सु० ६।३८]

बहुत बड़े लिङ्ग वाले पुरुष से गृहीत स्त्री अण्डिनी–अण्डली (अण्डवत् निकली हुई योनि वाली) हो जाती है।

वक्तव्य—जो स्त्री छोटी वा सामान्य योनि वाली हो, उसके साथ यदि बड़े मेढ़ वाला मनुष्य मैथुन करे और उससे वह योनि अण्डे की आकृति वाली होकर बाहर निकल आवे, वा बाहर निकल कर अण्डाकार हो जावे तो उसे अण्डली-योनि वा अण्डिनीयोनि वाली स्त्री कहना चाहिए। इसे सुश्रुत ने फलिनी माना है। कई इसे अफलिनी कहते हैं, जिसका कि अर्थ अप्रजा (सन्तानोत्पत्ति में असमर्था) होता है। कई विद्वानों का विचार है कि चरक और वाग्भट ने इसे 'अन्तर्मुखी' में लिया है। कई वैद्य विद्वान् इसे अण्डिनी भी कहते हैं। इसे अन्तर्मुखी मानने वालों का यह कथन है कि इस रोग में योनिमुख वक्र हो जाता है, जिससे उस का शेष कुछ भाग अण्डाकृति में बाहर आ जाता है। चरक ने इसका (अन्तर्मुखी का) लक्षण इस प्रकार कहा है कि—"वायुर्मिथ्यास्थिताङ्गाया योनिस्रोतसि संस्थितः। वक्रयत्याननं योन्याः सास्थिमांसानिलार्तिभिः॥ भृशार्तिर्मैथुनासक्ता योनिरन्तर्मुखी मता" (च. चि. स्था. अ. ३०)। वाग्भट अन्तर्मुखी का "अत्याशिताया विषमां स्थितायाः सुरते मरुत्। अन्नेनोत्पीडितो योनेः स्थितः स्रोतसि वक्रयेत्॥ सास्थिमांसमुखं तीव्ररुजमन्तर्मुखीति सा" यह लक्षण मानता है।

विवृतायाः (योनिव्यापदः) स्वरूपमाह—

विवृता च महायोनिः

जो योनि विवृत अर्थात् खुली हुई होती है, उसे महायोनि कहा जाता है, अथवा जो योनि खुली हुई होती है, वह महायोनि होती है।

वक्तव्य—मैथुन के समय यदि स्त्री मैथुनासन पर ऊँची नीची (जिस प्रकार मैथुन किया जाता है, उससे विरुद्ध) पड़ी हो तो मैथुन करने से वायु प्रकुपित हो जाता है, जिससे वह स्त्री के गर्भाशय तथा योनिद्वार को विष्टब्ध कर देता है; और इनके विष्टब्ध हो जाने पर योनिद्वार वन्द न होकर खुला ही रहता है। इसमें पीड़ा रूक्षफेनस्राव और रूक्षआर्तवस्राव होता है। इसमें मांस भी उभरा हुआ होता है; तथा इसमें पर्वों और वंक्षणों में पीड़ा भी होती है। इसका नाम महायोनि है। इसे चरक, सुश्रुत, वाग्भट और शार्ङ्गधर आदि आचार्यों ने भी महायोनि ही कहा है। भेद केवल इतना है कि चरक ने इसे वातज, सुश्रुत ने सन्निपातज और वाग्भट ने वातज माना है। इसका लक्षण जैसे वाग्भट ने कहा भी है कि—"दुष्टो विष्टभ्य योन्यास्यं गर्भकोष्ठं च मारुतः। कुरुते विवृतां स्रस्तां वातिकीमिव दुःखिताम्। उत्सन्नमांसां तामाहुर्महायोनिं महारुजाम्"॥ (वा. उ. तं. अ. ३३)। चरक

ने इसका लक्षण "विषमं दुःखशय्यायां मैथुनात्कुपितोऽनिलः । गर्भाशयस्य योन्याश्च मुखं विष्टम्भयेत् स्त्रियाः ॥ असंवृतमुखी सार्ती रूक्षफेनास्रवाहिनी । मांसोत्सन्ना महायोनिः पर्ववंक्षणशूलिनी" (च. चि. स्था. अ. ३०) यह माना है।

सूचीवक्त्रायाः (योनिव्यापदः) स्वरूपमाह—

सूचीवक्त्राऽतिसंवृता ।

जो योनि अतिसंवृत अर्थात् अतिसङ्कुचित (बहुत सिकुड़े हुए) मुख वाली होती है, उसे सूचीवक्त्रा कहा जाता है; अथवा जो योनि अतिसङ्कुचित होती है वह सूचीवक्त्रा होती है।

वक्तव्य—यह योनि माता के दोष से गर्भ में ही हो जाती है, अर्थात् जब स्त्री अभी गर्भ में ही होती है, तो उसकी माता के दोष से बढ़ा हुआ वायु अपनी रूक्षता से (गर्भस्थ स्त्री के) योनि भाग को दूपित करता हुआ उसके (योनि के) मुख को सूक्ष्मद्वार वाली बना देता है। एवं यह रोग जन्मबल-प्रवृत्त है। इसे चरक ने सूचीमुखी, वाग्भट ने सूचीवक्त्रा, शार्ङ्गधर ने सूचीमुखी तथा सुश्रुत ने सूचीवक्त्रा कहा है। इसे चरक और वाग्भट ने वातज; सुश्रुत, शार्ङ्गधर और माधव ने सन्निपातज माना है। इसका लक्षण वाग्भट ने—"वातलाहार-सेविन्यां जनन्यां कुपितोऽनिलः । स्त्रियो योनिमणुद्वारां कुर्यात् सूचीमुखीति सा" यह; तथा चरक ने "गर्भस्थायाः स्त्रिया रौक्ष्याद्वायुर्योनिं प्रदूपयन् । मातृदोषादणु-द्वारां कुर्यात्सूचीमुखीति सा ॥" (च. चि. स्था. अ. ३०) यह माना है।

सन्निपातजां योनिव्यापदं लक्षयति—

सर्वलिङ्गसमुत्थाना सर्वदोषप्रकोपजा ॥१२॥ [सु० ६।३८]

सभी दोषोंके प्रकोप से होनेवाली योनिव्यापद् में सारे दोषोंके लक्षण होते हैं।

वक्तव्य—भाव यह है कि सन्निपातज योनिव्यापद् में सन्निपातज लक्षण होते हैं अर्थात् वह सन्निपातज योनिव्यापद् रोग होता है जिसमें कि सभी दोषों के लक्षण हों। यह रोग सभी रसों के सेवन आदि से होता है। जैसे चरक ने कहा भी है कि—"समश्नन्त्या रसान्सर्वान् दूपयित्वा त्रयो मलाः। योनिगर्भाशय-स्थाः स्वैर्योनिं युञ्जन्ति लक्षणैः ॥ सा भवेद्दाहशूलार्ता श्वेतपिच्छिलवाहिनी ॥" (च. चि. स्था. अ. ३०)। इसका लक्षण वाग्भट ने यह माना है कि—"त्रिभिर्दोषै-र्योनिगर्भाशयाश्रितैः । यथा स्वोपद्रवकरैर्व्यापत्सा सान्निपातिकी"। यह सभी के मत में सन्निपातजा है।

पण्ड्यादिषु चापि सर्वलिङ्गोच्छ्रयतां प्रत्याख्येयताञ्चाह—

चतसृष्वपि चाद्यासु सर्वलिङ्गोच्छ्रयो भवेत् ।
पञ्चासाध्या भवन्तीह योनयः सर्वदोषजाः ॥१३॥ [सु० ३।३८]

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने योनिव्यापन्निदानं समाप्तम् ॥६२॥

पूर्वोक्त पण्डी आदि चार व्यापदों में भी तीनों दोषों के लक्षणों की प्रधा-नता होती है। इन बीस योनिव्यापदों में से पांचों व्यापत्तियाँ असाध्य होती हैं।

वक्तव्य—यहां पर (वातिक व्यापत्ति में) भी उक्त क्रम जान लेना चाहिए। असाध्यता के विषय में भी चरकादिकों के साथ इसका कुछ मतभेद है। वह भी रोगों को लक्ष्य रख कर है, क्योंकि माधव ने तथा सुश्रुत ने इनको सन्निपातज मान कर असाध्य कहा है; और चरकादिकों ने इनमें किसी को सन्निपातज न मान कर भी असाध्य कहा है। जैसे षण्डयोनि इसने सन्निपातज मान कर असाध्य कही है, और चरक ने वातज होने पर भी वीजदोषज मान कर असाध्य कही है। अब इसमें केवल यही बात आती है कि माधव का चरक और वाग्भट के साथ इन रोगों में दोषस्थापनाविषयक मतभेद क्यों है? इसका उत्तर यह है कि माधव ने सुश्रुत के मत को लिया है और सुश्रुत ने इनमें दोषोत्कटता सूक्ष्म दृष्टि से की है, किन्तु चरक ने स्थूल दृष्टि से प्रधानदोष को लेकर ही इनमें यथा-दोषता मानी है। भाव यह है कि इनमें दोषता भिन्न २ आचार्यों ने भिन्न २ दृष्टि-कोण से भिन्न २ मानी है। यथा—किसी ने आरम्भकदोष की प्रधानता मानी है, और किसी ने बाद में प्रधान होकर स्वलक्षणोत्पादक दोष की प्रधानता मानी है। यदि इनके दृष्टिकोण को एक कर दिया जाए तो दोनों के मत मिल जाते हैं। ये वीस योनिव्यापत्तियां हैं। इन व्यापत्तियों के कारण योनि (गर्भाशय) शुक्र धारण नहीं कर सकती, जिससे कि गर्भस्थिति नहीं होती। केवल इनसे यही नहीं होता कि गर्भ स्थिति न हो प्रत्युत इनसे गुल्म आदि वहुत सी व्याधियां भी उपद्रव रूप में हो जाती हैं। इसमें प्रमाण भी है कि—"इत्येतैर्लक्षणैः प्रोक्ता विंशतिर्योनिजा गदाः। न शुक्रं धारयत्येभिर्दोषैर्योनिरुपद्रुता ॥ तस्माद्गर्भं न गृह्णाति स्त्री गच्छत्यामान् बहून्। गुल्मार्शःप्रदरादींश्च वाताद्यैश्चातिपीडनम्" (च. चि. स्था. अ. ३०)। इसी बात को वाग्भट ने भी इस प्रकार स्फुट किया है कि—"इति योनिगदा नारी यैः शुक्रं न प्रतीच्छति। ततो गर्भं न गृह्णाति रोगांश्चाप्नोति दारुणान् ॥ असृग्दरार्शोगुल्मादीनाबाधाश्चानिलादिभिः ॥" (वा. उ. तं. अ. ३३)।

मधु०—सान्निपातिका आह—अनार्तवेत्यादि। अनार्तवा रजःशून्या। अस्तनी ईषत्स्तनी। अतिकायगृहीताया महामेहनेन गृहीतायाः। अण्डली अण्डवन्निःसृता योनिः। विवृता महायोनि-रतिविवृतमुखी। सूचीवक्त्राऽतिसंवृता सूचीरन्ध्राऽतिसङ्कटमुखी। सर्वलिङ्गसमुत्थानेति सर्वदोष-लिङ्गानां समुत्थानं यत्र सा तथा। अन्ये त्वाहुः—सर्वदोषसमुत्थाना सर्वदोषहेतुजेत्यर्थः। चरकोक्ता अधिका रक्तयोन्यादयः सुश्रुतोक्तानामदूरान्तरत्वेनाववोद्धव्याः ॥११–१२॥

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायां योनिव्यापन्निदानं समाप्तम् ॥६२॥

अनार्तवा—रजरहित। अस्तनी—छोटे छोटे स्तनों वाली। अतिकायगृहीतायाः—बड़े लिङ्ग से गृहीत स्त्री की। अण्डली—अण्ड की तरह निकली हुई योनि। सर्वलिङ्ग-समुत्थाना—सभी दोषलिङ्गों (लक्षणों) की जहां उत्पत्ति हो वह सर्वदोषसमुत्थाना योनि होती है। दूसरे आचार्य इसमें कहते हैं कि—सर्वदोषसमुत्थाना अर्थात् सर्वदोषहेतुजा। चरकोक्त रक्तयोनि आदि अधिक विकार सुश्रुतोक्त विकारों से मिलते जुलते जानने चाहिए।

वक्तव्य—टीकाकार श्रीकण्ठदत्त जी भी रक्तयोनि आदि चरकोक्त अधिक विकारों को इनसे मिलता जुलता ही मानते हैं अर्थात् उन विकारों को यहां नामान्तर से वा उन विकारों का इन विकारों में अन्तर्भाव मानते हैं।

अथ योनिकन्दनिदानम्।

योनिकन्दस्य निदानपूर्वकं सामान्यस्वरूपमाह—

दिवास्वप्नादतिक्रोधाद् व्यायामादतिमैथुनात्।
क्षताच्च नखदन्ताद्यैर्वाताद्याः कुपिता यदा ॥१॥
पूयशोणितसंकाशं निकुचाकृतिसंनिभम्।
जनयन्ति यदा योनौ नाम्ना कन्दः स योनिजः ॥२॥

दिन में सोने से, अत्यन्त क्रोध से, व्यायाम (कसरत) से, अतिमैथुन से, नखक्षत से, दन्तक्षत से एवं अन्य क्षतों से कुपित वात आदि जब पूय के सदृश, रक्त के सदृश, निकुचाकृति (ढेऊ की आकृति) के समान कन्द को योनि में उत्पन्न कर देते हैं तो वह कन्द योनिज कन्द वा योनिकन्द के नाम से कहलाता है।

वक्तव्य—इनका भाव यह है कि दिन में सोने से कफ उत्पन्न होता है, क्योंकि दिन में सोना स्निग्ध हो जाता है। जैसे कहा भी है कि—"रात्रौ जागरणं रूक्षं स्निग्धं प्रस्वप्नं दिवा" एवं दिन का सोना स्निग्ध होने से कफोत्पादक वा कफ-प्रकोपक होता है। जैसे कहा भी है कि—"सर्वर्तुषु दिवास्वापः प्रतिषिद्धोऽन्यत्र ग्रीष्मात्, विकृतिर्हि दिवास्वप्नो नाम; तत्र स्वपतामधर्मः सर्वदोषप्रकोपश्च, तत्प्रकोपाच्च कास-श्वासप्रतिश्यायशिरोगौरवाङ्गमर्दारोचकज्वरअग्निदौर्बल्यानि भवन्ति" (सु. शा. स्था. अ. ४)। यद्यपि इसमें सर्वदोषप्रकोप कहा है, किन्तु प्रधानतः इसमें कफ की ही उत्पत्ति होती है। अतएव दिवास्वाप से होने वाले रोग भी प्रायः श्लेष्मज ही कहे हैं। तीसटाचार्य ने भी कहा है कि—"गुरुमधुररसातिस्निग्धदुग्धेक्षुभक्ष्यद्रव-दधिदिननिद्रापूपसर्पिष्प्रपूरैः। तुहिनपतनकाले श्लेष्मणः संप्रकोपः प्रभवति दिवसादौ भुक्तमात्रे वसन्ते"॥ एवं यह सिद्ध होता है कि दिवास्वाप से कफ का प्रकोप होता है। अत्यन्त क्रोध से पित्त प्रकुपित होता है। जैसे कहा भी है कि—"क्रोधात् पित्तम्"; अपि च—"कट्वम्लोष्णविदाहितीक्ष्णलवणक्रोधोपवासातपस्त्रीसम्पर्क-तिलातसीदधिसुराशुक्तारनालादिभिः। भुक्ते जीर्यति भोजने च शरदि ग्रीष्मे सति प्राणिनां मध्याह्ने च तथार्धरात्रिसमये पित्तं प्रकोपं व्रजेत्"। एवं यह सिद्ध होता है कि क्रोध से पित्त प्रकुपित होता है। व्यायाम से वायु का प्रकोप होता है। जैसे कहा भी है कि—"व्यायामादपतर्पणात्प्रपतनाद्भङ्गात्क्षयाज्जागराद्वेगानां च विधारणा-दतिशुचः शैत्यादतित्रासतः। रूक्षक्षोभकषायतिक्तकटुकैरेभिः प्रकोपं व्रजेत् वायुर्वारि-

धरागमे परिणते चान्नेऽपराह्णेऽपि च"। एवं अतिमैथुन से भी वायु का प्रकोप होता है। इस प्रकार ये निदान तीनों दोषों के हैं। अतः यहां तीनों दोष प्रकुपित होते हैं, जिनसे कि योनिकन्द की उत्पत्ति होती है। इसी लिए आचार्य ने 'वाताद्याः कुपिता यदा' यह कहा है। एवं इस योनिकन्द की आकृति लकुचफल के समान तथा पूयाभ एवं शोणिताभ होती है। 'वाताद्याः' से दो अभिप्राय निकलते हैं, एक तो यह कि योनिकन्द की उत्पत्ति ही त्रिदोष से होती है; और उसमें वातादि का निर्देश सन्निपात में वातादि की उल्बणता को लक्ष्य रख कर कहा है। दूसरा अभिप्राय यह है कि उक्त कारणों के सेवन से निदानानुसार वातादिकों का प्रकोप होगा जिससे कि वातादिज योनिकन्द होंगे। इसका भाव यह है कि वात के व्यायाम और अतिमैथुन रूप निदान के सेवन से वात प्रकुपित होकर वातिक योनिकन्द को, पित्त के अतिक्रोध रूप निदान के सेवन से पित्त प्रकुपित होकर पैत्तिक योनिकन्द को, और दिवास्वाप के सेवन से कफ प्रकुपित होकर कफज योनिकन्द को उपजा देता है। इनमें से दूसरा अभिप्राय रुचिकर है, इसी लिए इसे नव्य विद्वान् शार्ङ्गधर ने भी माना है। वह कहता है कि—"चतुर्विधं योनिकन्दं वातपित्तकफैस्त्रिधा। चतुर्थं सन्निपातेन" (शा. पू. खं. अ. ७)।

मधु०—योन्याश्रयत्वाद्योनिकन्दनिदानमाह—दिवास्वप्नादित्यादि। नखदन्ताद्यैरित्यत्रादिशब्दात् कण्टकादिपरिग्रहः। वाताद्याः कुपिता इति यथानिदानं प्रत्येकं वातादयः कुपिताः। निकुचाकृतिसंनिभमिति वर्तुलमित्यर्थः; अस्यानन्तरं गुडकमिति द्रष्टव्यं, तेन नपुंसकलिङ्गता सङ्गता भवति। कन्दः प्रायेण जरन्नारीयोनिगतो निकुचाकारो रोगः ॥१-२॥

योनि के आश्रय में होने के कारण अब आचार्य योनिकन्द के निदान को कहते हैं कि—दिवास्वप्नादित्यादि। 'नखदन्ताद्यैः' में आदि शब्द से कण्टकादिकों का ग्रहण करना चाहिए। 'वातद्याः कुपिताः' इससे अपने २ निदान से हर एक प्रकुपित वातादि लिए जाते हैं। 'निकुचाकृतिसन्निभं' से वर्तुल रूप अर्थ लिया जाता है। 'निचुलाकृतिसन्निभं' इससे आगे 'गुडकं' समझना चाहिए; और यह समझने से ही 'निचुलाकृतिसन्निभं' में नपुंसकलिङ्गता सङ्गत होती है। कन्दरोग प्रायः वृद्धनारी की योनि में होने वाला लकुच के आकार वाला रोग होता है।

वातिकयोनिकन्दस्वरूपमाह—

रूक्षं विवर्णं स्फुटितं वातिकं तं विनिर्दिशेत्।

जो योनिकन्द रूक्ष, विवर्ण एवं स्फुटित होता है, उसे वातिक (योनिकन्द) कहना चाहिए।

पैत्तिकयोनिकन्दस्वरूपमाह—

दाहरागज्वरयुतं विद्यात् पित्तात्मकं तु तम् ॥३॥

दाह, राग और ज्वर से युक्त योनिकन्द को पैत्तिक (योनिकन्द) जानना चाहिए।

श्लैष्मिकयोनिकन्दस्वरूपमाह—

नीलपुष्पप्रतीकाशं कण्डूमन्तं कफात्मकम्।

नील (अलसी) पुष्प के सदृश और खुजली वाला योनिकन्द श्लैष्मिक (योनिकन्द) होता है।

सन्निपातजयोनिकन्दस्वरूपमाह—

सर्वलिङ्गसमायुक्तं सन्निपातात्मकं विदुः ॥४॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने योनिकन्दनिदानं समाप्तम् ॥६३॥

जो योनिकन्द सभी दोषों के लक्षणों से युक्त होता है, उसे सन्निपातज योनिकन्द कहना चाहिए।

मधु०—वातजादिभेदेन रूपमाह—रूक्षमित्यादि । नीलपुष्पप्रतीकाशमिति अतसी-कुसुमवर्णम् । कफजेऽपि नीलता व्याधिप्रभावादेव; अन्ये तु पैत्तिकलक्षण एव संवध्नन्ति, योग्यत्वात् ॥३-४॥

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायां योनिकन्दनिदानं समाप्तम् ॥६३॥

कफज योनिकन्द में नीलता व्याधि के प्रभाव से होती है। दूसरे आचार्य इसे पैत्तिक लक्षणों के साथ ही सम्बन्धित करते हैं क्योंकि इनका लक्षण उन्हींके साथ करना युक्त है।

अथ मूढगर्भनिदानम्।

गर्भस्रावपातयोर्निदानपूर्वकं पूर्वरूपमाह—

भयाभिघातात् तीक्ष्णोष्णपानाशननिषेवणात् ।
गर्भे पतति रक्तस्य सशूलं दर्शनं भवेत् ॥१॥

भय से, अभिघात (चोट आदि लगने) से, तीक्ष्ण द्रव पदार्थ के पीने से, उष्ण द्रव पदार्थ के पीने से, तीक्ष्ण अन्न के सेवन से और उष्ण अन्न के सेवन से गर्भ गिर जाता है; तथा शूल करते हुए रक्त का दर्शन होता है।

वक्तव्य—भाव यह है कि भयादिकों से गर्भपात हो जाता है, जिससे रक्त बहने लगता है और पीड़ा होने लगती है। सब से पूर्व उचित है कि मूढगर्भ के विषय में कुछ कह दिया जावे, मूढगर्भ को किसी २ आचार्य ने गर्भरोग का एक प्रकार माना है। वह कहता है कि आठ गर्भरोग होते हैं और वे रोग उपविष्टक गर्भ, नागोदर, मकल, मूढगर्भ, विष्टम्भ, गूढगर्भ, जरायुदोष और गर्भपात ये हैं। जैसे कहा भी है कि—"तथाष्टौ गर्भजा गदाः। उपविष्टकगर्भः स्यात् तथा नागोदरः स्मृतः। मकल्लो मूढगर्भश्च विष्कम्भो गूढगर्भकः॥ जरायुदोषो गर्भस्य पातश्चाष्टमकः स्मृतः॥" (शार्ङ्गधरः)। इसमें भी कई विद्वान् कहते हैं कि ये नाम वस्तुतः मूढगर्भ के ही हैं। यदि ऐसा माना जावे तो इनमें दो में पुनः मूढगर्भ का विन्यास व्यर्थ होता है, क्योंकि मूढगर्भ का भेद भी मूढगर्भ हो यह सङ्गत नहीं होता। हाँ, यह हो सकता है कि इसने ये गर्भरोग ही कहे हैं, और दूसरे आचार्यों ने

---

१ Mal-Presentation of the Foetus.

इनमें से कुछ लक्षणान्तरों से मूढगर्भ के भेद मान लिए हों। अस्तु, मूढगर्भ उस गर्भ को कहते हैं जो कि सर्वावयवसम्पन्न होकर योनिमार्ग में अयोग्य रीति से आता है। जैसे कहा भी है कि—"सर्वावयवसम्पूर्णो मनोबुद्ध्यादिसंयुतः। विगुणापानसम्मूढो मूढगर्भोऽभिधीयते"॥ भाव यह है कि सभी अवयवों से सम्पन्न गर्भ दो प्रकार से अपत्यपथ में आता है, जिनमें से प्रथम स्वाभाविक (प्रकृति) रीति से और दूसरा अस्वाभाविक रीति से। स्वाभाविक वा योग्य रीति से आने वाले गर्भ का सिर आगे की ओर वक्ष पर झुका रहता है। मेरुदण्ड वा रीढ़ की अस्थि आगे को मुड़ी रहती है। दोनों जांघें पेट पर और टांगें जांघों पर मुड़ी रहती हैं। दोनों बाहु वक्ष पर और एक दूसरे के ऊपर मुड़े रहते हैं। प्रसव समय के कुछ मास पूर्व गर्भ का सिर नीचे को और उसके चूतड़ ऊपर की ओर हो जाते हैं। एवं प्रसूति के समय वह गर्भस्थ बालक सिर के बल ही जन्म लेता है और ग्रीवा, कन्धे, ऊर्ध्वशाखाएँ, उदर, चूतड़, तथा अधोशाखाएँ क्रमशः बाहर आ जाती हैं। प्रसूति के समय पूर्वरन्ध्र (ब्रह्मरन्ध्र) और पश्चात् (अधिपति) रन्ध्र के बीच का भाग अर्थात् शीर्षाग्र आगे को रखकर जन्म लेना स्वाभाविक एवं सर्वसरल प्रसव है और इसे ही स्वाभाविक वा योग्य गर्भ कहा जाता है। इसके अतिरिक्त और जितने भी प्रसव होते हैं, उनमें कुछ न कुछ कठिनता अवश्य होती है। अतः उनका अन्तर्भाव अस्वाभाविक गर्भ वा मूढगर्भ में होता है। पाश्चात्त्य विद्वानों का मत भी प्रायः यही है और चरक ने भी इस पर इस प्रकार प्रकाश डाला है कि—"गर्भस्तु खलु मातुः पृष्ठाभिमुख ऊर्ध्वशिरः सङ्कुच्याङ्गान्यास्ते जरायुवृत्तः कुक्षौ। स चोपस्थितकाले जन्मनि प्रसूतिमारुतयोगात् परिवृत्यावाक्शिरा निष्क्रामत्यपत्यपथेन। एषा प्रकृतिः विकृतिः पुनरतोऽन्यथा" (च. शा. स्था. अ. ६)। ऊपर भय आदि छः गर्भपात के कारण बताए हैं, किन्तु सुश्रुत में और भी बहुत से प्रदर्शित किए हैं। तद्यथा—"ग्राम्यधर्मयानवाहनाध्वगमनप्रस्खलनप्रपतनप्रपीडनधावनाभिघातविषमशयनासनोपवासवेगाभिघातातिरूक्षकटुतिक्तभोजनशोकातिक्षारसेवनातिसारवमनविरेचनप्रेङ्खोलनाजीर्णगर्भशातनप्रभृतिविंभिशेषैर्बन्धनान्मुच्यते गर्भः, फलमिव वृन्तबन्धनादभिघातविशेषैः" (सु. नि. स्था. अ. ८)। एवं जब गर्भपात होता है, तो उससे अपानवायु प्रकुपित हो जाती है, जो कि प्रकोपानुसार गर्भ को परिवर्तित कर (उलट) देती है, जिससे कि वह गर्भसङ्ग हो जाता है। इसे मूढगर्भ कहा जा सकता है। इसी बात को सुश्रुत ने भी बताया है कि—"स विमुक्तबन्धनो गर्भाशयमतिक्रम्य यकृत्प्लीहान्त्रविवरैरवस्रंसमानः कोष्ठसंक्षोभमापादयति, तस्या जठरसंक्षोभाद्वायुरपानो मूढः पार्श्ववस्तिशीर्षोदरयोनिशूलानाहमूत्रसङ्गानामन्यतममापाद्य गर्भं व्यापादयति (च्यावयति) तरुणं शोणितस्रावेण; तमेव कदाचिद्विवृद्धमसम्यगागतमपत्यपथमनुप्राप्तमनिरस्यमानं विगुणापानसम्मोहित-

१ हिन्दोलनम् (झूलना वा हिलाना).

गर्भं मूढगर्भमित्याचक्षते" (सुश्रुतः)। यहां पर भी मूढगर्भ सर्वाङ्ग सम्पूर्ण विगुण गर्भ को ही कहा है। यहां जरा सा प्रसक्तानुप्रसक्त के अनुसार "यकृत्प्लीहान्त्रविवरैरवस्रंसमानः" पर विचार करना है। सो इसका भाव यही है कि उदर गुहा में स्थित यकृत्, प्लीहा और अन्त्र गर्भवृद्धि के समय ऊपर हो जाते हैं, जिससे गर्भ उनके कुछ बीच आ जाता है, किन्तु जब वह विमुक्तबन्धन हो जाता है तो वह उनके मध्य में से नीचे ढिलक आता है और यकृत् आदि भी रोधक न होने से पुनः अपने २ स्थान पर आ जाते हैं। एवं 'यकृत्प्लीहान्त्रविवरैरवस्रंसमानः' का अर्थ, गर्भवृद्धि के कारण ऊपर को उठे हुए यकृत्, प्लीहा और अन्त्रों के मध्य भाग से नीचे की ओर आता हुआ, यह होता है।

मधु०—योनिस्थानविकारानुवृत्तेः स्त्रीरोगनिदानारम्भः। तत्र गर्भपातनिदानमाह—भयाभिघातादित्यादि। एतच्चोपलक्षणं, तेनान्येऽपि सुश्रुतोक्ता ग्राम्यधर्मयानवाहनपतनस्खलनादयो वोद्धव्याः। पततीति स्रंसमाने, तेन स्रावपातयोरपि सशूलं रक्तदर्शनं भवति, एतत्तु पूर्वरूपमिति दर्शयति ॥१॥

योनिस्थान में होने वाले विकारों का प्रसङ्ग चला आने के कारण अब स्त्रीरोगों के निदान का आरम्भ किया जाता है। स्त्रीरोगों में से भी गर्भपात के निदान को 'भयाभिघातात्' इत्यादि श्लोक से कहा जाता है। भय आदिकों का निर्देश उपलक्षणमात्र है। इससे ग्राम्यधर्म, यान, वाहन, पतन और स्खलन आदि सुश्रुतोक्त अन्य लक्षण भी जान लेने चाहिएं। पतति—अर्थात् स्रंसमान होने पर। इससे स्राव और पात में भी सशूल रक्तस्राव होता है। यह पूर्वरूप दर्शाया गया है।

गर्भस्रावपातयोः कालावधिमाह—

आचतुर्थात्ततो मासात् प्रस्रवेद्गर्भविद्रवः।
ततः स्थिरशरीरस्य पातः पञ्चमषष्ठयोः ॥२॥

गर्भविद्रव (अनतिघनाङ्ग होने के कारण द्रवरूप गर्भ) गर्भाधान से आरम्भ हो चौथे महीने तक यदि गिरे तो स्राव कहलाता है; और जब गर्भ घनाङ्ग वा स्थिर शरीर वाला होकर पांचवें वा छठे मास में गिरता है तो पात कहलाता है।

वक्तव्य—उपर्युक्त का भाव यह है कि गर्भाधान के समय से आरम्भ होकर चतुर्थ मास तक गर्भ अनतिघनाङ्ग होने के कारण द्रवरूप में होता है। अतः यदि वह उस समय गिर पड़े तो वह गिरना(गर्भ)स्राव[१] कहलावेगा; क्योंकि सब द्रव पदार्थों के गिरने को वस्तुतः स्राव ही कहा जाता है। एवं इसके बाद पांचवें और छठे महीने में गर्भ घनाङ्ग हो जाता है। अतः यदि वह (गर्भ) उस समय गिरे तो (गर्भ)पात[२] कहलावेगा; क्योंकि सब द्रव पदार्थों के गिरने को वस्तुतः पात ही कहा जाता है। सारांश यह निकला कि चार मास तक के गर्भ का गिरना गर्भस्राव तथा पांचवें और छठे मास में गर्भ का गिरना गर्भपात कहलाता है। सातवें मास

१ अबार्शन(Abortion). २ मिस्कैरेज (Miscarriage).

से गर्भ का आना 'गर्भजात' कहलाता है। यद्यपि आठवें मास में ओज के अस्थिर होने से गर्भ के बाहर आने पर कभी कभी, जब कि ओज नाभि नाल द्वारा माता में गया होता है, तो बच्चे की मृत्यु हो जाती है, परन्तु फिर भी उसे गर्भपात नहीं कहा जाता; प्रत्युत उसे मृतजात ही कहा जाता है, क्योंकि इस मास में उत्पन्न बालक भी कभी कभी, जब कि ओज बालकगत होता है, तो बच जाता है; और गर्भजात वा जातगर्भ कहलाता है। एवं नवम और दशम मास में भी गर्भ का बाहर आना जात ही कहलाता है। इसके बाद आने वाला गर्भ विकृत होता है, क्योंकि इसमें आहार रस के न पहुँचने पर वा स्राव के कारण गर्भ गर्भाशय में सूख जाता है और जब वह धीरे २ पुष्ट हो जाता है तो बाहर आ जाता है। इस गर्भ के बाहर आने की कोई सीमा नहीं है। जब पूर्ण पुष्ट हो जाता है; तो आ जाता है, चाहे उसमें कुछ वर्ष भी क्यों न लग जावें। जैसे कहा भी है कि—'आहारमाप्नोति यदा न गर्भः शोषं समाप्नोति परिस्रुतिं वा। तं स्त्री प्रसूते सुचिरेण गर्भं पुष्टो यदा वर्षगणैरपि स्यात्' (च. शा. स्था. अ. २)। एवं यह भाव निकला कि गर्भ के बाहर आने से समयानुसार उसके पाँच नाम होते हैं—एक स्राव, दूसरा पात, तीसरा जात वा विप्रसूत, प्रसव अथवा विप्रसव चौथा प्रसव पांचवां विलम्ब प्रसव। पाश्चात्य विद्वान् गर्भस्राव को 'अवार्शन' और गर्भपात को 'मिस्क्यारेज' कहते हैं। प्रसवकाल के विषय में कुछ मत भेद है। चरक प्रसवकाल नववां और दसवां महीना मानता है। जैसे उसका वचन भी है कि—'तस्मिन्नेकदिवसातिक्रान्तेऽपि नवमं मासमुपादाय कालमित्याहुरादशमान्मासात्, एतावान् कालः। वैकारिकमतः परं कुक्षौ स्थानं गर्भस्य' (च. चि. स्था. अ. ४)। सुश्रुत प्रसव का काल नववां, दशवां, ग्यारहवां और बारहवां महीना मानता है। उसने कहा भी है कि—'नवमदशमैकादशद्वादशानामन्यतमस्मिन् जायते' (सु. शा. स्था. अ. ५)। इस मत भेद की चरक चतुरानन चक्रपाणिदत्त ने एकवाक्यता बनाने की चेष्टा की है। वे कहते हैं कि—'आदशमादिति वचनं प्रशस्ततरकालाभिप्रायेण। सुश्रुते द्वादशमासपर्यन्तं सम्यक् प्रसवकालाभिधानं स्तोकदोषयोरेकादशद्वादशमासयोरेवाल्पदोषत्वेनाऽदोषपक्ष एव निक्षेपाद्बोद्धव्यम्'। ऊपर प्रसव के पांच भेद बताए हैं। पाश्चात्य विद्वानों ने भी पांच ही प्रसव भेद माने हैं। भिन्नता केवल प्रसव की कालमर्यादा में है। हमारे आचार्यों ने गर्भस्राव पहले तीन वा चार महीनों के अन्त तक माना है[१]। गर्भपात—पांचवें और छठे महीने में माना है। वि(गुण)प्रसव—सातवें और आठवें महीने में माना है। कालप्रसव—नववें और दसवें महीने में माना है और विलम्बी वा वैकारिक प्रसव ग्यारहवें और बारहवें महीने में वा इसके भी बाद

१ वक्ष्यमाण 'आतृतीयात्ततो मासाद्गर्भः स्रवति शोणितम्' इस विदेह वाक्य से सुश्रुत के वाक्य की एकवाक्यता करने पर यही भाव निकलता है।

माना है; तथा पाश्चात्य विद्वानों ने गर्भस्राव पहले तीन वा चार मास के अन्त तक, गर्भपात—पांचवें मास से सातवें मास के अन्त तक, विगुणप्रसव—आठवें मास के प्रारम्भ से दसवें मास के अन्त तक, कालप्रसव—दसवें मास का अन्त व २८० दिन और वैकारिक प्रसव ग्यारहवें मास के प्रारम्भानन्तर माना है। इसी भाव को स्पष्ट रीति से चित्रद्वारा इस प्रकार समझाया जा सकता है। यहां यह प्राचीन और अर्वाचीन विद्वानों के मत का विवरण दिया गया है।

प्रसवभेद	१ गर्भस्राव	२ गर्भपात	३ विगुण प्रसव वा विप्रसूत	४ कालप्रसूति वा समय प्रसव	५ विलम्बी वा वैकारिक प्रसव
आयुर्वैदिक समयमर्यादा	पहले तीन वा चार मास के अन्त तक	पांचवां और छठा मास	सातवां और आठवां मास	नववां और दसवां मास	ग्यारहवां और बारहवां तथा इसके बाद भी
पाश्चात्य समय मर्यादा	पहले तीन वा चार मास के अन्त तक	पाँचवें से सातवें मास के अन्त तक	आठवें मास के प्रारंभ से दसवें के अन्त तक	दसवें मास का अन्त वा २८० दिन	ग्यारहवें मास के प्रारम्भानन्तर

मधु०—एतयोः कालभेदमाह—आचतुर्थादित्यादि। गर्भविद्रव इति अनतिघनावयवत्वेन विशेषेण द्रवरूपतया गर्भविद्रवो भण्यते; स्रावो नातिघनत्वात्, पातस्तु घनत्वात्। यत्तु भोजेऽभिहितम्—"आतृतीयात्ततो मासाद्गर्भः स्रवति शोणितम्। ऊर्ध्वं संघातभूतस्तु गर्भः पतति योषिताम्" इति। संघातभूतः कोमलाङ्गः, पिण्डितावस्थ इत्यर्थः। अत एव सुश्रुते चतुर्थमासेऽप्यदृढत्वात् स्रावः कथितः। स्थिरशरीरस्येति कठिनशरीरावयवस्य। पञ्चमषष्ठयोरिति सप्तमे अनुगुणजनने जीवदर्शनायोक्तं, विगुणजनने तु सप्तमादिमासेष्वपि गर्भपातः। अन्ये तु पञ्चमषष्ठयोरेव पातः, सप्तमादिषु दोषवैगुण्याद्विप्रसव इति आचार्यप्रामाण्याद्व्यवहाराच्च मन्यन्ते ॥२॥

स्राव और पात का कालभेद कहते हैं कि—आचतुर्थादित्यादि। गर्भविद्रव—से अनतिघनाङ्ग होने से द्रवरूप में स्थित गर्भ लिया जाता है। अतिघन न होने से ही उसका स्राव होता है; और घनाङ्ग होने से पात होता है। एवं जो भोज में यह कहा है कि—'तीसरे मास के अन्त तक गर्भ रक्त को स्रवित करता है और उसके बाद सघन हो जाने के कारण वह पतित होता है'। सङ्घातभूतः—कोमल अङ्गों वाला अर्थात् पिण्डित अवयवों वाला। एवं कोमल अङ्गों वाला होने से ही सुश्रुत ने चौथे महीने में भी (अदृढ होने के कारण) उसका स्राव ही कहा है। स्थिरशरीरस्य—अर्थात् कठिन शरीरावयवों वाला। पञ्चमषष्ठयोः—का कथन, सातवें मास में गुणानुसार प्रसव होने पर जीवदर्शन के लिए किया है। विगुणजनन में तो सप्तम आदि मासों में भी गर्भपात ही कहलाता है। दूसरे आचार्य तो पांचवें और छठे मास में ही पात मानते हैं और सप्तमादिकों में तो दोष की विगुणता होने के कारण विप्रसव कहते हैं। इसमें आचार्यों का प्रमाण तथा व्यवहार भी मिलता है।

वक्तव्य—'पञ्चमषष्ठयोरिति' इसका तात्पर्य यह है कि सातवें मास में गर्भजनन अनुगुण हो तो वह जायमान बालक जीवित रहता है। अतः तब वह प्रसूत कहलाता है;

और यदि गर्भजनन विगुण हो तो जायमान बालक जीवित नहीं रहता। अतः तब वह पात कहलाता है। परन्तु यहां दूसरे विद्वान् यह कहते हैं कि पात पांचवें और छठे महीने में ही होता है, सप्तम आदिकों में तो दोष की विगुणता होने पर भी विप्रसव ही कहलाता है।

गर्भस्य अकालपाते सनिदानं निदर्शनमवतारयति—

गर्भोऽभिघातविषमाशनपीडनाद्यैः
पक्वं द्रुमादिव फलं पतति क्षणेन।

चोट आदि से पक्व फल जैसे वृक्ष से गिरता है, वैसे ही अभिघात (चोट), विषमाशन और पीड़न आदिकों से गर्भ भी गिर जाता है।

वक्तव्य—भाव यह है कि जैसे पक्व फल चोट आदि द्वारा बहुत शीघ्र वृन्त से पृथक् होकर गिर जाता है; उसी प्रकार गर्भ भी पक्व होने पर चोट आदि द्वारा शीघ्र ही गिर जाता है। यहां आदि शब्द से अन्य भी गर्भपातक कारणों का ग्रहण करना चाहिए। यहां गर्भ का दृष्टान्त फल दिया है। एवं यहां फल उपमान वा निदर्शन, गर्भ उपमेय वा निदर्श्य और चोट आदि साधारण धर्म हैं। यही बातें दृष्टान्त में होती हैं। इसी लिए "दृष्टान्तः पुनरेकेषां वस्तूनां निदर्शनम्" कहा है। एवं यह सब तो मिल गया, परन्तु अब विचारना यह है कि फल वृक्ष से कैसे लगा होता है और कैसे गिरता है; तथा गर्भ गर्भाशय में कैसे रहता है और कैसे गिरता है। इस पर यही कहना ठीक है कि फल वृक्ष से वृन्त वा डण्डी द्वारा लटकता रहता है। अतः यह जब गिरता है तो उस डण्डी वा वृक्ष से पृथक् होकर गिरता है, और गर्भ गर्भशय्या के आश्रय होता है। अतः वह जब गिरता है तो गर्भशय्या से पृथक् होकर गिरता है। इस पर हाराणचन्द्र आदि विद्वानों का कथन है कि फल जैसे डण्ठल वा डण्डी से अलग होकर गिरता है वैसे ही गर्भ भी गर्भनाल द्वारा पृथक् होकर गिरता है। यह मत प्रत्यक्षसिद्ध न होने से माननीय नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष दीखता है कि मूढगर्भ नाभिनाडीबन्धन से संसक्त ही गिरता है। एवं यहां फल की तुलना में, जैसे वह टहनी से गिरता है वैसे यह गर्भशय्या से पृथक् होकर गिरता है, यह समझना चाहिए। यहां थोड़ा सा और भी समझना आवश्यक है, वह यह कि वृक्ष से लगे हुए फल को पृथ्वी की आकर्षणशक्ति नीचे को खैंचती है और डण्डी, टहनी वा वृक्ष फल से सम्बन्धित होने से उसे गिरने नहीं देता, परन्तु जब अभिघात आदि द्वारा वह फल डण्ठल से पृथक् होता है तो वह रोधन न रहने से और पृथ्वी का आकर्षण होने से तथा अपने भार से पृथ्वी पर आ गिरता है। इसी को पतन कहते हैं। जैसे कहा भी है कि—"आकृष्टिशक्तिश्च मही तया यत् स्वस्थं गुरु स्वाभिमुखं स्वशक्त्या। आकृष्यते तत्पततीव भाति"। किन्तु गर्भ में भौमिक आकर्षण नहीं होता प्रत्युत यहां पर अभिघात आदि द्वारा उसके गर्भशय्या से पृथक् होने पर गर्भ में एक

प्रकार की तरङ्गें उठती हैं, जिन्हें कि गर्भतरङ्ग कहा जाता है। वे अपने प्रभाव से गर्भ को बाहर फैंक देती हैं। भाव यह है कि इस दृष्टान्त में केवल इतनी विसदृशता है कि (फल का पातक फल का भार, फल का डण्डल से पृथक् होना और भौमिक आकर्षण है, तथा गर्भ का पातक गर्भ का भार, गर्भ का गर्भशय्या से पृथक् होना और गर्भतरङ्गों द्वारा फैंकना है, में) फल भौमिक आकर्षण द्वारा गिरता है और गर्भ गर्भतरङ्गों द्वारा। उपर्युक्त श्लोक के भाव को सुश्रुत ने "मुच्यते गर्भः, फलमिव वृन्तबन्धनादभिघातविशेषैः" केवल इतने शब्दों में ही कह दिया है।

मधु०—गर्भस्याकालपाते निदानपूर्वकं दृष्टान्तमाह—गर्भोऽभिघातेत्यादि। पक्वं द्रुमादिवेति दृष्टान्तेनैव दर्शयति यथा वृन्तलग्नं पक्वफलमभिघातेनाकाल एव पतति, तथोक्तहेतुभिरकाले गर्भपातः॥—

गर्भ के अकालपात में निदानपूर्वक दृष्टान्त कहते हैं कि—गर्भोऽभिघातेत्यादि। पक्वं द्रुमादिव—इस दृष्टान्त से ही दिखाते हैं कि जैसे वृक्ष से लगा हुआ फल चोट से असमय में ही गिर पड़ता है, वैसे ही उक्त कारण से गर्भ भी असमय में गिर पड़ता है।

मूढगर्भं लक्षयति—

मूढः करोति पवनः खलु मूढगर्भं
शूलं च योनिजठरादिषु मूत्रसङ्गम्॥३॥

मूढ (निश्चलगति सा) वायु मूढगर्भ ("सर्वावयवसम्पूर्णो मनोबुद्ध्यादिसंयुतः। विगुणापानसम्मूढो मूढगर्भोऽभिधीयते" इस) को कर देता है, जिससे कि योनि और जठरादिकों में शूल एवं मूत्र की सङ्गति (अप्रवृत्ति) हो जाती है; वा मूढवायु मूढगर्भ को, योनिशूल को, जठरादिगत शूल को तथा मूत्रासङ्ग को उपजा देता है।

वक्तव्य—यहां मूढगर्भ वा अनिरस्यमान गर्भ केवल गर्भ की विकृति वा परिवृत्ति से ही माना है, किन्तु पाश्चात्य प्रसूतितन्त्रों में मूढगर्भ वा अनिरस्यमान गर्भ तीन कारणों से माना है। तद्यथा—एक-गर्भ के दोष, दूसरा-प्रसवमार्ग के दोष और तीसरा प्रसवशक्ति के दोष। वे इन तीनों को अस्वाभाविक प्रसूति में लेते हैं। भाव यह है कि वे पहले प्रसूति के दो भेद मानते हैं—एक-स्वाभाविक और दूसरा-अस्वाभाविक। पुनः अस्वाभाविक के तीन भेद होते हैं—एक-आकस्मिक प्रसूति, दूसरी-दीर्घप्रसूति और तीसरी-सङ्कीर्णप्रसूति। इन प्रसूतियों की तीन २ अवस्थाएं होती हैं। पहली में आठ घण्टे से अधिक समय लगता है, दूसरी में तीन घण्टे से अधिक समय लगता है और तीसरी में पाव घण्टे से आध घण्टा लगता है। एवं प्रसवमार्ग के दोष, जो कि प्रसूत की पहली अवस्था में होने वाले प्रसव में विलम्ब लगाते हैं, तीन होते हैं। एक-ग्रीवा का अकड़ना (Rigidity of the cervix).

दूसरा—गर्भाशय की ग्रीवा में दुष्टव्रण (Cancer) और तीसरा गर्भाशय की वक्रता (Oblipuity of the uterus)। गर्भ के दोष, जो कि प्रसव की पहली अवस्था में होने वाली प्रसूति में विलम्ब लगाते हैं, तीन होते हैं। तद्यथा—१ असमय में गर्भोदक कोश का फूटना, २ गर्भ का अयोग्य दर्शन और ३ गर्भोदक अधिक होना और जुड़े हुए बच्चे होना। प्रसव की दूसरी अवस्था में होने वाली प्रसूति में विलम्ब लगाने वाले प्रसवमार्ग के दोष पाँच होते हैं। एक—मूत्राशय का भरा हुआ होना, (फुल ब्लैडर Full bladdar), दूसरा—कोष्ठबद्धता (लोडेड रेकटम Loaded Rectum), तीसरा—योनि और विटप की अकड़ (रेजिडिटी आफ वजायना एन्ड पेरीनियम Regidity of uagina and Perinium), चौथा—कटीर और योनिमार्ग की ग्रन्थियां (ट्यूमरस् इन् दि पेल्विस एन्ड वजायना (Tumaurs in the pelvis and vogina) और पांचवां—कटीरवैरूप्य (डिफार्मड पेलविस Defarmed palvis)। दीर्घप्रसूति—प्रसूति की दूसरी अवस्था में विलम्ब लगाने वाले गर्भ के दोष पांच प्रकार के होते हैं। एक—गर्भ के सिर का बड़ा होना, दूसरा—सिर के अतिरिक्त अन्य भागों का बड़ा होना, तीसरा—नाल का छोटा होना, चौथा—मस्तकदर्शन की पश्चाच्छिरःपृष्ठस्थिति और पांचवां—गर्भ का अयोग्य दर्शन। प्रसव की तृतीय अवस्था में प्रसूति में विलम्ब का कारण गर्भाशय में किन्हाई का अटकना है। सङ्कीर्ण प्रसूति में विलम्ब के कारण निम्न हैं। एक—नालभ्रंश वा नाल दर्शन (प्रोलाप्स आफ दि फ्यूनिस Prolapse of the Funis), दूसरा—गर्भ का उल्टा होना, तीसरा—गर्भाशय का फटना (रपचर आफ दि यूटेरस Ruptur of the uterus) आदि। ये अति संक्षेप है। इनका विशद वर्णन पाश्चात्य प्रसूतितन्त्रों में देखना चाहिए। आयुर्वेद में इन सब में से गर्भ के दोषों को ही लिया है, और उन्हीं को इन्होंने मूढगर्भ कहा है। इसका वर्णन आगे अवसर पर किया जावेगा।

मधु०—उचितप्रसवकाले यथा मूढो गर्भः स्यात्तदाह—मूढः करोतीत्यादि। मूढो व्यासक्तगतिः, शूलं च योनिजठरादिषु 'करोति' इति शेषः; मूत्रसंगमित्यत्र करोतीति संबध्यते ॥३॥

समुचित प्रसव के समय में जिस प्रकार मूढगर्भ होता है, उसे कहा जाता है कि मूढः करोतीत्यादि। मूढ अर्थात् व्यासक्तगति। 'करोति' का सम्बन्ध 'शूलं च योनिजठरादिषु' के साथ तथा मूत्रसंग के साथ होता है।

मूढगर्भस्य बहुधा गतिं दर्शयति—

भुग्नोऽनिलेन विगुणेन ततः स गर्भः
संख्यामतीत्य बहुधा समुपैति योनिम्।

विगुण वायु से उलटा हुआ गर्भ संख्या को अतिक्रमण करके योनिद्वार में बहुत प्रकार से आता है।

वक्तव्य—इसका अर्थ यह है कि अपत्यमार्ग में संसक्त हुए गर्भ के अङ्ग प्रत्यङ्गों का सूक्ष्म विचार कर यदि उन्हें गिना जावे तो उसकी नियत संख्या कदापि नहीं हो सकती। कारण कि हर एक अङ्गदर्शन के कई भेद हो सकते हैं। सुश्रुत और तदनुयायी वाग्भट ने इन असंख्येय गतियों का सङ्कलन तीन वर्गों में किया है। तद्यथा–"स्वभावगता अपि त्रयः सङ्गा भवन्ति-शिरसो वैगुण्यात्, अंसयोः, जघनस्य वा" (सुश्रुतः) तथा "समासतस्तु त्रिविधा गतिरूर्ध्वा तिर्यङ् न्युब्जा च" (अष्टाङ्ग-संग्रहः) । आधुनिक पाश्चात्यों का वर्गीकरण इसके साथ मिल जाता है। पाश्चात्य विद्वान् पहली शिरोगति वा न्युब्जा गति को Cephalie presentation, दूसरी—अंस गति वा तिर्यग्गति को Shoulaer or transverse presentation और तीसरी जघन वा ऊर्ध्वगति को Pelvic Presentation कहते हैं। पाश्चात्यों ने आगे इनके अनेक भेद माने हैं। तद्यथा–शिरोगति–स्वभावतः गर्भ के शिर का आकार बड़ा होना, सीवनों के छोटी होने के कारण हड्डियों का नियमानुसार ऊपर न चढ़ना, जलशीर्ष (Hydroeephalous) के कारण शिर का बड़ा होना, आदि आदि। एवं अंसगति के तिरश्चीनजनन आदि २। इसी प्रकार जघनगति के गुददर्शन आदि अनेक भेद होते हैं। एवमेव हमारे आचार्यों ने भी इसके बहुत से भेद माने हैं। जैसे सुश्रुत ने कहा भी है कि—"स यदा विगुणानिलप्रपीडितोऽपत्यपथमनेकधा प्रतिपद्यते तदा संख्या हीयते" (सु. नि. स्था. अ. ८)। अब इन असंख्येय गतियों में से बहुलता से मिलने वाली होने के कारण आठ गतियों का वर्णन 'द्वारं निरुध्य' इत्यादि से किया जाता है।

तत्रापि प्राधान्येनाष्टविधां गतिं निर्दिशति—

द्वारं निरुध्य शिरसा जठरेण कश्चित्
कश्चिच्छरीरपरिवर्तितकुब्जदेहः ॥४॥
एकेन कश्चिदपरस्तु भुजद्वयेन
तिर्यग्गतो भवति कश्चिदवाङ्मुखोऽन्यः।
पार्श्वापवृत्तगतिरेति तथैव कश्चि-
दित्यष्टधा गतिरियं

इन असंख्य प्रकारों में (१) कोई मूढगर्भ योनिद्वार को (विपुल) सिर से रोक कर, (२) कोई (आध्मात) उदर से रोक कर, (३) कोई शरीर के परिवर्तित (उल्टा) हो जाने से कुबड़ेपन द्वारा अर्थात् अन्तरायाम की तरह हो अपने कुब्ज से योनि को रोक कर; अथवा बाह्यायाम की तरह हो अपने कुब्ज से योनिमार्ग को रोक कर, (४) कोई एक भुजा से योनि द्वार को रोक कर, (५) कोई दोनों बाहुओं से योनिद्वार को रोक कर, (६) कोई तिर्यग्गति से योनिमार्ग को रोक कर, (७) कोई अवाङ्मुख से योनिमार्ग को रोक कर और (८) कोई पार्श्वापवृत्तगति से योनि-

मार्ग को रोक कर आता है। एवं यह आठ प्रकार की गति है।

वक्तव्य—सुश्रुत ने भी आठ प्रकार की गति मानी है। वह कहता है कि— "तत्र कश्चिद्द्वाभ्यां सक्थिभ्यां योनिमुखं प्रतिपद्यते; कश्चिदाभुग्नैकसक्थिरेकेन; कश्चिदाभुग्नसक्थिशरीरः स्फिग्देशेन तिर्यगागतः; कश्चिदुरःपार्श्वपृष्ठानामन्यतमेन योनिद्वारं पिधायावतिष्ठते; अन्तःपार्श्वापवृत्तशिरः कश्चिदेकेन बाहुना; कश्चिदाभुग्नशिरः बाहुद्वयेन; कश्चिदाभुग्नमध्यो हस्तपादशिरोभिः; कश्चिदेकेन सक्थ्ना योनिमुखं प्रतिपद्यतेऽपरेण पायुम्; इत्यष्टविधा मूढगर्भगतिरुद्दिष्टा समासेन" । (सु. नि. स्था. अ. ८) । इनमें से सातवें (कोई मूढगर्भ शरीर को टेढ़ा कर हाथ पांव और सिर से आता है) को तथा आठवें (कोई एक मूढगर्भ अपनी एक सक्थि को गुदा पर रख कर दूसरी सक्थि से योनि मुख पर आता है) को वाग्भट ने अष्टाङ्गसंग्रह में विष्कम्भक नाम से पढ़ा है। तद्यथा- "पादेन योनिमेकेन भुग्नोऽन्येन गुदं च यः" । पूर्वोक्त सुश्रुतवचन में सक्थि शब्द से पाद ही लेना चाहिए, तभी इससे एकवाक्यता होगी। अब हमने विचार करना है कि माधव ने 'द्वारं निरुध्य शिरसः' यह कहा है। इसका क्या अभिप्राय है ? क्योंकि यदि इसका अभिप्रायान्तर न माना जावे तो यह मूढगर्भ नहीं बन सकता। कारण कि स्वाभाविक गर्भ भी शिर द्वारा ही आता है, किन्तु वह रुकता नहीं, फिर यह क्यों रुक जाता है। इस पर श्रीवाचस्पति मिश्र ने कहा है कि-'विपुलेन शिरसा योनिमुखं पिधाय लग्नो भवति"। और श्रीकण्ठदत्त ने "शिरसा विपुलेन द्वारं योनिमुखं पिधाय लग्नो भवति" यह कहा है। यहां विपुल शब्द कह देने से यह सिद्ध होता है कि सिर के विपुल (बड़ा) होने से गर्भ योनिद्वार में अटक जाता है। विपुलसिर भी दो प्रकार से हो सकता है—एक स्वाभाविक और दूसरा अस्वाभाविक। स्वाभाविक प्रकार में सिर की हड्डियां अधिक बड़ी होती हैं, और वे कठोर भी होती हैं। तालु और हड्डियों के बीच की सीवनें छोटी होती हैं। इस प्रकार में प्रसूति के विलम्ब में वा मूढगर्भता में दो कारण होते हैं। एक सिर के आकार का बड़ा होना और दूसरा सीवनों के छोटी होने के कारण हड्डियां नियमानुसार ऊपर नहीं चढ़ती और सिर का आकार छोटा नहीं होता जिससे गर्भ वहां अटक जाता है। एवं अस्वाभाविक प्रकार में सिर जलशीर्ष (Hydrocephalous हाईड्रोकेफेलस) रोग के कारण बड़ा हो जाता है, जिससे गर्भ योनिद्वार में अटक जाता है। यह सब भाव 'शिरसा' वा 'विपुलशिरसा' में आ जाता है। 'अवाङ्मुखोऽन्यः' यह भी माधव ने कहा है। इसे पाश्चात्य विद्वानों ने गर्भ के अयोग्य दर्शन में आए हुए मुखदर्शन, गुददर्शन[1] और तिरश्चीनजनन[2] में से मुख-

१ ब्रीच प्रेजेन्टेशन (Breech Presentation). २ ट्रांसवर्स प्रेजेन्टेशन (Tronsverse Presentation).

दर्शन (Face Presentation फेसप्रेजेन्टेशन) से माना है। भाव यह है कि मूढगर्भ की अनेकविध गतियों का तुलना की दृष्टि से विचार करने पर यह कहना पड़ता है कि आधुनिक पाश्चात्त्य विद्वानों ने अपने प्रसूतितन्त्रों में जो अनेकविध प्रकार वर्णित किए हैं, वे सभी आयुर्वेदशास्त्र में मिल जाते हैं। इन सब का वर्णन यहां नहीं किया जा सकता अन्यथा ग्रन्थ की कलेवरवृद्धि हो जाती है। अतः भावुकों के लिए यही उचित है कि उनका ज्ञान करने के लिये वे पाश्चात्त्य प्रसूतितन्त्रों का अध्ययन करें तथा उनमें कहे प्रकारों का शास्त्र से मिलान करें।

मधु०—विगुणानिलत्वादसंख्येयत्वेऽपि विशिष्टा अष्टौ गतीराह—भुग्नोऽनिलेनेत्यादि। भुग्नो विगुणीकृतः। बहुधेति कथितप्रकारादप्यधिकं दर्शयति। द्वारं निरुध्य शिरसेत्येकः प्रकारः, शिरसा विपुलेन द्वारं योनिमुखं पिधाय लग्नो भवतीत्यर्थः। जठरेण कश्चिदित्यपरः, जठरेणोदरेण योनिद्वारं पिधाय सक्तो भवतीत्यर्थः। कश्चित् शरीरपरिवर्तितकुब्जदेह इति शरीरपरिवर्तनेन कुब्जदेहः कश्चित सक्तो भवति, अनेनान्तःकुब्जपृष्ठकुब्जयोः परिग्रहः। एकेनेति बाहुना, अयं चतुर्थः। तिर्यगगत इति अर्गलायमानः। कश्चिदवाङ्मुखोऽन्य इति ग्रीवाभङ्गादधः संलग्नः। पार्श्वापवृत्तगतिरिति पार्श्वभङ्गेन विगुणीकृतः पार्श्वनत इति यावत्। एतीति स्वस्थानादपैति, तथैवेति अवाङ्मुखः सन्। सुश्रुतेऽप्यष्टधा गतिरेव पठ्यते। यथा—"कश्चिद्द्वाभ्यां सक्थिभ्यां योनिमुखं प्रपद्यते, कश्चिदाभुग्नैकसक्थिरेकेन सक्थ्ना, कश्चिदाभुग्नसक्थिशरीरः स्फिग्देशेन तिर्यगागतः, कश्चिदुदरपृष्ठपार्श्वानामन्यतमेन योनिद्वारं पिधायावतिष्ठते, अन्तःपार्श्वापवृत्तशिराः कश्चिदेकेन बाहुना, कश्चिदाभुग्नशिरा बाहुद्वयेन, कश्चिदाभुग्नमध्यो हस्तपादशिरोभिः, कश्चिदेकेन सक्थ्ना योनिमुखमभिप्रपद्यतेऽपरेण पायुम्॥" (सु. नि. स्था. अ. ८) इति॥४-५॥

वायु के विगुण होने के कारण मूढगर्भों के असंख्येय होने पर भी उनकी विशेष रूप से आठ गतियां होती हैं, जिन्हें कि आचार्य 'भुग्नोऽनिलेन' आदि से कहते हैं। (सुश्रुतेऽपीति—) सुश्रुत में भी आठ प्रकार की गति निर्दिष्ट की गई है। तद्यथा—'इनमें (१) कोई मूढगर्भ दोनों सक्थियों से योनि के मुख में प्राप्त होता है। (२) कोई एक सक्थि को सिकोड़ कर एक ही दूसरी एक सक्थि से प्राप्त होता है। (३) कोई सक्थियों को शरीर पर सिकोड़ कर कूलों से टेढ़ा आता है। (४) कोई छाती, पार्श्व और पीठ इनमें से किसी एक से योनिद्वार को रोक कर स्थित होता है। (५) कोई पार्श्व में सिर को झुका कर एक हाथ से योनिद्वार में आता है। (६) कोई सिर को झुका कर दोनों हाथों से आता है। (७) कोई शरीर को टेढ़ा करके हाथ पाँव और सिर से आता है एवं (८) कोई एक सक्थि गुदा पर रख कर और दूसरी सक्थि से योनिद्वार पर आता है'।

मूढगर्भस्य (अपरां) चतुःप्रकारां गतिमाह—

ह्यपरा चतुर्धा ॥६॥

संकीलकः प्रतिखुरः परिघोऽथ बीज-

उपर्युक्त आठ प्रकार की गति से भिन्न दूसरी चार प्रकार की गति भी होती है और उनके नाम—१ संकीलक, २ प्रतिखुर, ३ परिघ और ४ बीजक हैं।

वक्तव्य—'सङ्कीलक' और 'बीज' को सुश्रुत ने क्रमशः 'कील' और

'वीजक' नाम से लिया है। जैसे सुश्रुत ने निदानस्थान अध्याय ८ में कहा भी है कि—"ततः स कीलः प्रतिखुरो बीजकः परिघ इति"। वाग्भट ने स्वरचित अष्टाङ्ग-हृदय में प्रतिखुर को विष्कम्भक का भेद माना है। जैसे उसने कहा भी है कि—"हस्तपादं शिरोभिर्यो योनिंभुग्नः प्रपद्यते"। यद्यपि 'हस्तपादशिरोभिः' इत्यादि की टीका करते हुए अरुणदत्त ने हस्तपाद आदिकों द्वारा गर्भ का आना विकल्प से लिखा है, किन्तु उसकी "दृश्यैः खुरैः प्रतिखुरं स हि कायसङ्गी" इस वक्ष्यमाण माधव वाक्य से एकवाक्यता न होने के कारण वह ('हस्तेन पादेन शिरसा अतुल्यकालं कदाचिद्धस्तेन कदाचित् पादेन कदाचिच्छिरसा योनिं प्रतिभुग्नः कुटिलो मूढगर्भः प्रपद्यते आयाति स एको विष्कम्भको नाम मूढगर्भः') लेख ठीक नहीं है। कई विद्वान् वाग्भट के उक्त पद्य का अर्थ हस्त आदिकों की समष्टि तथा व्यष्टि द्वारा आना मानते हैं। एवं इससे भी सङ्गति हो जाती है, और अरुणदत्त का व्याख्यान भी असत्य सिद्ध नहीं होता; क्योंकि यहां यह शङ्का तो हो ही नहीं सकती कि ये प्रकार कैसे बन सकते हैं। कारण कि उसके विषय में "भुग्नोऽनिलेन विगुणेन ततः स गर्भः संख्यामतीत्य बहुधा समुपैति योनिम्" इससे असंख्येयता कही है, अतः ये प्रकार हो सकते हैं। इससे वहां प्रकृत संख्या में भी वृद्धि नहीं आ सकती क्योंकि यह सब विष्कम्भक में ही आ जावेगा।

कीलकाख्यमूढगर्भस्य लक्षणमाह—

स्तैषूर्ध्ववाहुचरणैः शिरसा च योनिम्।
सङ्गी च यो भवति कीलकवत् स कीलो

उपर्युक्त चारों में से जो गर्भ हाथ, पाँव और सिर को ऊपर करके योनि द्वार को कील की भाँति रोक देता है, वह सङ्कीलक वा कील होता है।

वक्तव्य—उपर्युक्त का भाव यह है कि जब गर्भ दोनों हाथों, दोनों पाँवों और सिर को सम्मिलित रूप में ऊपर की ओर करके योनिमुख में आकर कील की तरह संसक्त हो जाता है तो उसे कीलक कहना चाहिए। इसी बात को सुश्रुत ने भी कहा है कि—"ऊर्ध्वबाहुशिरःपादो यो योनिमुखं निरुणद्धि कील इव स कीलः"। सङ्कीलक को कई आचार्यों ने ह्वर्टेक्स (Vertex) माना है, किन्तु यह (सङ्कीलक) तिरश्चीनजनन वा तिर्यक्दर्शन (ट्रांसवर्स प्रेजेन्टेशन) का भेद होने से वह नहीं बन सकता। अतः इसे पूर्वोक्त 'चस्ट, वैक एन्ड साईड प्रेजेन्टेशन' Chest, (back and side Presentation) कहना ही ठीक है।

खुराख्यमूढगर्भस्य लक्षणमाह—

दृश्यैः खुरैः प्रतिखुरं स हि कायसङ्गी।

जिस मूढगर्भ में गर्भ खुरों (हाथों पांवों) से दीखता हुआ अटक जाता है, उसे प्रतिखुर कहते हैं।

वक्तव्य—भाव यह है कि उत्पत्ति के समय जिस गर्भ के हाथ पाँव बाहर आ जाएं और शेष शरीर अटक जाय, उसे प्रतिखुर कहना चाहिए। यहां हाथों पाँवों के साथ सिर भी लेना चाहिए, क्योंकि यह प्रकार कीलक से सर्वथा विरुद्ध है; और उसमें (कीलक में) हाथ, पांव तथा सिर ऊपर की ओर होते हैं, एवं दर्शन पीठ का होता है। अतः यहां हाथ, पाँव और सिर नीचे को होते हैं तथा दर्शन भी इन्हीं का होता है। इसी लिए सुश्रुत ने इसके लक्षण में सिर का विन्यास भी किया हुआ है। तद्यथा—"निसृतहस्तपादशिराः कायसङ्गी प्रतिखुरः"-अर्थात् जिसमें हाथ, पैर और सिर निकल आवे किन्तु शरीर अटक जावे, वह प्रतिखुर नामक मूढगर्भ होता है। इसे कई 'हैन्डस ऐन्ड फीट'[१] कहते हैं, किन्तु यह सङ्कीर्ण दर्शन (कौम्प्लैक्स प्रैजेन्टेशन[२]) का भेद होने से बहुतों के मत में 'प्रैजेन्टेशन आफ दि हैड्ड विद टू हैन्ड्ज् एन्ड टू लैग्ज़'[३] कहलाता है। कीलक और प्रतिखुर अन्तरायाम ही के से होते हैं। भेद केवल इतना है कि एक में हाथ, पाँव और सिर ऊपर रहते हैं और दूसरे में नीचे रहते हैं। अतः यहां इन्हीं का पूर्व दर्शन होता है।

बीजकाख्यमूढगर्भस्य लक्षणमाह—

गच्छेद्भुजद्वयशिराः स च बीजकाख्यो

जो गर्भ दोनों बाहुओं तथा (एक) सिर से बाहर निकलता है, वह बीजक (हैड्ड विद बोथ हैन्ड्ज्) कहलाता है।

वक्तव्य—उपर्युक्त का भाव यह है कि जो गर्भ दोनों बाहुओं और अकेले सिर से आता हुआ अटक जाता है, उसे बीजक कहा जाता है। इसके विषय में सुश्रुत कुछ मतभेद रखता है, क्योंकि उसने इसमें एक हाथ और सिर का बाहर आना वा दर्शन माना है। तद्यथा—"यो निर्गच्छत्येकभुजः स बीजकः"-अर्थात् जिसका सिर और एक हाथ ही निकले वह बीजक होता है। इन दोनों की एकवाक्यता करते हुए कई विद्वानों का भाव है कि श्रुतिद्वैधवत् दोनों प्रमाणित होने से इनमें विकल्प समझना चाहिए। एवं यह भाव निकला कि जो गर्भ सिर और एक हाथ से वा (सिर और) दो हाथों से आता है, उसे बीजक (हैड्ड प्रैजेन्टेशन विद वन् और टू हैन्डस् प्रोलैप्सिङ् (Head presentation with one or two hands prolapsing) कहना चाहिए। एवं यह पाश्चात्य मत में सङ्कीर्णजनन वा सङ्कीर्णदर्शन (कौम्प्लैक्स प्रैजेन्टेशन) का भेद है।

परिघाख्यमूढगर्भस्य लक्षणमाह—

योनौ स्थितः स परिघः परिघेण तुल्यः ॥८॥

जो गर्भ अर्गला की तरह योनि में आकर अटक जाता है, वह परिघ (ट्रान्सवर्स वा ट्रान्सवर्स प्रैजेन्टेशन इन् जनरल) कहलाता है।

---

१ Hands and feet. २ Complex presentation. ३ Presentation of the Head with two hands and two legs.

वक्तव्य—यह मूढगर्भ पाश्चात्त्य मत में तिरश्चीनजनन (ट्रान्सवर्स प्रैज़ेन्टेशन) का एक प्रकार है। इसका लक्षण सुश्रुत ने निम्न माना है कि—"यस्तु परिघ इव योनिमुखमावृत्य तिष्ठेत् स परिघः"-(सु. नि. स्था. अ. ८)। इस चार प्रकार की गति को सुश्रुत ने एकीयमत से दर्शाया है तथा उसने यह भी कहा है कि केवल यही चार गतियां नहीं होतीं; क्योंकि जब विगुण अपान वायु से पीड़ित गर्भ अपत्यपथ को प्राप्त होता है तो संख्या की अवधारणा नहीं रहती। जैसे कहा भी है कि—"इति चतुर्विधो भवतीत्येके भाषन्ते। तत्तु न सम्यक्; कस्मात् ? स यदा विगुणानिलप्रपीडितोऽपत्यपथमनेकधा प्र(ति)पद्यते तदा संख्या हीयते"-(सुश्रुत)।

मधु०—इत्यष्टविधा गतीः प्रदर्श्य चतुःप्रकारेण ये गतिविशेषाः कथितास्तानाह—संकीलक इत्यादि। सम्यक् कीलवत् संकीलकः, स्वार्थे कन्। तेनोर्ध्वबाहुचरणशिरोभिः कीलकवल्लग्नो योन्यां संकीलकः। पृष्ठेन योन्यां तथैतद्विपरीतेन दृश्यैर्हस्तपादशिरोभिः प्रतिखुरः, खुरसाधर्म्यात्; खुरशब्देन हस्तपादावुच्येते। गच्छेद्भुजद्वयशिरा इति भुजद्वयोपहितं शिरो यस्य स तथाभूतः सन् यो गच्छेत् स बीजकः कायसङ्गी। भोजेऽप्येता गतयः पठ्यन्ते। तथाहि—"ऊर्ध्वबाहुशिरःपादो रुन्ध्याद्योनिमुखं तु यः। प्रतिकीलोपमस्थित्या स च कीलकसंज्ञितः॥ अधस्तात् पार्श्वतो वाऽपि तथैवाकुञ्चितोऽपि वा। यो निःसृत्य मुखं योनेर्ज्ञेयः प्रतिखुरस्तु सः॥ योनिद्वारात्तु निर्गच्छेद्यश्चैकः सशिरोभुजः। तमाहुर्बीजकं नाम मूढगर्भचिकित्सकाः॥ योनिमावृत्य यस्तिष्ठेत् परिघो गोपुरं यथा। तथाऽन्तर्गर्भमायान्तं विद्यात् परिघसंज्ञितम्" इति॥६॥

पूर्वोक्त आठ प्रकार की गति को बता कर अब निर्दिष्ट चार प्रकार की गति को कहते हैं कि—सङ्कीलक इत्यादि। जो भली प्रकार कील की तरह (प्रकृतानुसार) आचरण करे वह कीलक होता है। यहां स्वार्थ में 'कन्' प्रत्यय कर संकीलक शब्द की सिद्धि हुई है। इससे यह सिद्ध होता है कि जो योनिद्वार में ऊर्ध्वबाहु, ऊर्ध्वचरण और ऊर्ध्वशिर से कीलक की तरह संलग्न होता है, वह कीलक होता है। पीठ से योनिमार्ग में संलग्न के विरुद्ध जो दीखते हुए हाथों, पाँवों और सिर से संलग्न होता है, वह प्रतिखुर होता है। यहां खुर की सधर्मता को लेकर खुर शब्द से हाथ पाँव कहे जाते हैं। गच्छेद्भुजद्वयशिराः—भुजद्वय (दोनों भुजाओं) से उपहित (युक्त) है शिर जिसका उस प्रकार का होता हुआ जो (योनिमार्ग में) प्राप्त होता है, वह कायसङ्गी बीजक होता है। ये गतियां भोज में भी पढ़ी हैं। तथाहि—'जो गर्भ ऊर्ध्वबाहु, ऊर्ध्वशिर और ऊर्ध्वपाँओं से (आता हुआ) योनिमुख को रोक लेता है; प्रतिकीलक की तरह स्थिति वाला वह कीलक संज्ञा वाला होता है। नीचे से वा पार्श्व से अथवा संकुचित हो, निकल कर जो गर्भ योनिद्वार को रोक लेता है वह प्रतिखुर होता है। और जो एक भुजा तथा एक सिर द्वारा योनिमार्ग से निकलता (हुआ रुक जाता) है, उसे मूढगर्भ की चिकित्सा करने वाले वैद्य बीजक कहते हैं। (यहां पर भी सुश्रुत की तरह एक भुजा तथा सिर द्वारा ही आगमन माना है, किन्तु माधव ने दो भुजाओं तथा सिर द्वारा आगमन माना है। अतः यहां भी—'श्रुतिद्वैधं हि यत्र स्यात्तत्र धर्मावुभावपि' के अनुसार विकल्प मानना चाहिए। जैसे गोपुर ('पुरद्वारं तु गोपुरम्' इत्यमरः एवं पुरद्वार) में अर्गला आकर ठहर जाती है उसी प्रकार जब गर्भ योनि में आकर ठहर जाता है, तो उस (आते हुए) गर्भ को परिघसंज्ञक जानना चाहिए'।

असाध्यमूढगर्भगर्भिण्याः स्वरूपमाह—

अपविद्धशिरा या तु शीताङ्गी निरपत्रपा।
नीलोद्गतसिरा हन्ति सा गर्भं स च तां तथा ॥७॥ [सु० २।८]

जो स्त्री सिर धारण करने में असमर्थ हो गई हो, ठण्डी वा शीतकाय हो गई हो (जिसके अङ्ग शीतल हो गए हों), लज्जाशून्य हो गई हो तथा नीली एवं उभरी हुई शिराओं वाली हो गई हो, वह (स्त्री) गर्भ को तथा गर्भ उस स्त्री को मार देता है।

वक्तव्य—सुश्रुत निदान अध्याय ८ में इस श्लोक के अन्तवर्ती 'अपविद्धशिरा' के स्थान में 'प्रविध्यति शिरः' यह पाठान्तर मिलता है। इसका अर्थ 'सिर को हिलाती है' यह है। 'निरपत्रपा' शब्द का अर्थ यद्यपि निर्लज्जा वा लज्जाशून्या है, किन्तु इसका अभिप्राय मूर्च्छा के कारण लज्जाशून्या अर्थात् मूर्च्छित होने के कारण जो अपनी लज्जा की रक्षा करने में असमर्थ हो, यह है; न कि मूर्च्छा के विना भी जो अपनी लज्जा की रक्षा करने में असमर्थ हो, यह है। कई विद्वानों का विचार है कि निरपत्रपा का, तीव्र पीड़ा में जो अपनी लज्जा की रक्षा को भी भूल गई हो, यह अर्थ है। कुछ भी हो, दोनों अर्थ सङ्गत हैं। नीलोद्गतसिराः—यहां पेट शब्द का अध्याहार करना चाहिए एवं यह अर्थ निकलता है कि पेट पर उभरी हुई नीलवर्ण की सिराओं वाली। 'सा-गर्भं तथा स च तां हन्ति' (हन्ति सा गर्भं स च तां तथा)—का अभिप्राय यह है कि वह स्त्री गर्भ को मार देती है और तदनु वह मृतगर्भ उस स्त्री को मार देता है। इसका सारांश यह है कि उक्त लक्षणों वाली स्त्री प्रकृतिस्थ न होने से अपने आचरण से पीड़न आदि द्वारा गर्भस्थ बालक को मार देती है। एवं जब वह गर्भस्थ बालक मर जाता है, तो उसमें सड़ान आदि होने से स्त्री को सर्वाङ्ग शोथ वा गुह्याङ्ग शोथ आदि मारक लक्षण हो जाते हैं, जिससे कि वह मर जाती है। इसी भाव को लक्ष्य रख कर आचार्य ने 'हन्ति सा गर्भं स च तां तथा' यह कहा है।

मधु०—असाध्यमूढगर्भगर्भिण्योर्लक्षणमाह—अपविद्धशिरा या त्वित्यादि। अपविद्धशिरा शिरो धारयितुमशक्तेत्यर्थः, अवनतशिरा इति गदाधरः। निरपत्रपा लज्जाशून्या। नीलोद्गतसिरा इति नीलवर्णा उद्गता सिरा कुक्षौ यस्याः सा तथा। स चेति गर्भः ॥७॥

असाध्य मूढगर्भ और असाध्य गर्भिणी के लक्षणों को कहते हैं कि—अपविद्धशिरा या त्वित्यादि। अपविद्धशिरा का अर्थ सिर को उठाने में (धारण करने में) असमर्थ का है, किन्तु गदाधर इसका अर्थ (अवनतशिरा) 'अवनतं शिरो यस्याः सा' के अनुसार झुक कर गिरे हुए वा शिथिलता के कारण अवनत सिर वाली, यह मानता है। नीलोद्गतसिरा—अर्थात् नीलवर्ण की उठी हुई सिराएं हैं कुक्षि (पेट) में जिसके वह नीलोद्गतसिरा अर्थात् पेट पर उभरी हुई नीलवर्ण की सिराओं वाली होती है।

अन्तर्मृतगर्भस्य लक्षणमाह—

गर्भास्पन्दनमावीनां प्रणाशः श्यावपाण्डुता।
भवेदुच्छ्वासपूतित्वं शूनताऽन्तर्मृते शिशौ ॥८॥ [सु० ३।८]

कुक्षि के अन्दर गर्भ के मरने पर गर्भ में निश्चलता (अर्थात् गर्भाशय में गर्भ के स्पन्दन का वा गर्भस्थ बालक के हृदयस्पन्दन का बन्द होना), प्रसव वेदनाओं का अभाव, त्वचा का वर्ण श्यावता (शाकवर्णता, यकृत्वर्णता वा कृष्णवर्णता) लिए हुए पाण्डुरता, श्वास में दुर्गन्धि और अङ्गों में सूजन हो जाती है।

वक्तव्य—उपर्युक्त का भाव यह है कि जब पूर्वोक्त कारण से वा वक्ष्यमाण मानसिक उपतापादिकों में से किसी एक कारण से बच्चा गर्भाशय में ही मर जाता है तो गर्भ का वा गर्भस्थ बालक के हृदय का फटकना बन्द हो जाता है, प्रसव व्यथाएं नहीं होतीं, श्वास में से दुर्गन्धि आने लगती है और अङ्गों में सूजन हो जाती है। अभिप्राय यह है कि उक्तलक्षण मृतगर्भ के परिचायक हैं। 'आवी' शब्द का अर्थ "आवी स्यात्प्रसवव्यथा" के अनुसार प्रसव वेदना है, और पाण्डु शब्द का अर्थ "श्वेतरक्तस्तु पाण्डुरः–इत्यमरः" के अनुसार 'श्वेतरक्त' है। यहां सुश्रुत में कुछ पाठान्तर भी मिलता है। तद्यथा–-भवत्युच्छ्वासपूतित्वं शूलं चान्तर्मृते शिशौ"। प्रकृत में दोनों ही अर्थ सङ्गत हो सकते हैं।

मधु०—मृतगर्भलक्षणमाह—गर्भास्पन्दनमित्यादि। अस्पन्दनं निश्चलत्वं, जीवतो गर्भस्यावयवचलनं भवति। आवीनां प्रणाशः प्रसववेदनानामभावः, अथवा आवीशब्देन प्रसवलिङ्गान्युच्यन्ते, तानि च मूत्रकफप्रसेकादीनि, तेषां नाशः। शूनतेति उच्छूनता, अन्तर्गतस्य मूढगर्भस्याध्मापनेन ॥८॥

'आवीनां प्रणाशः' का अर्थ प्रसव वेदनाओं का अभाव है; अथवा 'आवी' शब्द से प्रसव के लक्षण लिए जाते हैं और वे लक्षण मूत्रप्रसेक और कफप्रसेक आदि हैं।

अन्तर्मृतगर्भस्य मरणकारणमाह—

मानसागन्तुभिर्मातुरुपतापैः प्रपीडितः।
गर्भो व्यापद्यते कुक्षौ व्याधिभिश्च निपीडितः ॥९॥ [सु० ३।८]

माता के मानसिक और आगन्तुक दुःखों से तथा अपनी खास व्याधियों से पीड़ित हुआ २ गर्भ कुक्षि में मर जाता है।

वक्तव्य—भाव यह है कि गर्भ में बालक की मृत्यु तीन कारणों से होती है। एक—माता के मानसिक दुःख से, दूसरा—माता के आगन्तुक दुःख से और तीसरा—गर्भ के अपने रोगों से। पाश्चात्य विद्वानों ने इसमें चार कारण माने हैं। तद्यथा एक—जननी के विकार जिनमें कि गर्भापतानक, गर्भाशयान्तः शोथ, तीव्रज्वर, तीव्रसंक्रामक रोग, वृक्कशोथ, फिरङ्गरोग, पाण्डुरोग, मल्ल

(संखिया) विप विकार और सीसकविप विकार आदि आते हैं। दूसरा—जनक के विकार, जिनमें कि राजयक्ष्मा (थाईसिस्) और फिरङ्ग आदि रोग आते हैं। तीसरा-गर्भ के अपने विकार जिनमें कि नाभि नाड़ी आदि के रक्तसञ्चार में वाधा आदि विकार आते हैं। एवं चौथा कारण आघात (चोट) है, जो कि माता के पेट पर होने से गर्भ मारक होता है।

मधु०—तस्यान्तर्गतस्य मानसागन्तुदुःखव्याधिभेदेन द्विविधं मरणहेतुमाह—मानसागन्तुभिरित्यादि। उपतापैः दुःखैः ॥९॥

तस्यान्तर्गतस्य इत्यादि की भाषा सुगम है।

प्रकारान्तरेण असाध्यगर्भिणीलक्षणमाह—

योनिसंवरणं सङ्गः कुक्षौ मक्कल्ल एव च।
हन्युः स्त्रियं मूढगर्भा यथोक्ताश्चाप्युपद्रवाः ॥१०॥

मक्कल्लशूलस्य लक्षणमाह—

(वायुः प्रकुपितः कुर्यात् संरुध्य रुधिरं स्रुतम्।
सूतायाः हृच्छिरोवस्तिशूलं मक्कल्लसंज्ञकम् ॥१॥)

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने मूढगर्भनिदानं समाप्तम् ॥६४॥

योनिसंवरण, कुक्षिसङ्ग, मक्कल्ल तथा अन्य अपतानक आदि उपद्रव मूढ-गर्भ वाली स्त्री को मार देते हैं। (प्रकुपित वायु वहते हुए रक्त को रोक कर प्रसूता स्त्री में हृदयशूल, शिरःशूल और वस्तिशूल वाले मक्कल संज्ञक रोग को कर देता है।)

वक्तव्य—ऊपर मूढगर्भ वाली स्त्री को मारने वाले उपद्रवों का वर्णन कर दिया गया है। एवं भाव यह निकला कि मूढगर्भा स्त्री गर्भ के मर जाने से तथा योनिसंवरणादिकों से मर जाती है। एवं गर्भ, अपविद्धशिरा आदि लक्षणान्वित स्त्री के कारण, माता के मानसिक दुःख के कारण, माता के आगन्तुज दुःख के कारण तथा अपनी व्याधियों के कारण मर जाता है। कुछ मूढगर्भ भी ऐसे हैं, जो कि स्वभावतः असाध्य होने के कारण दोनों को हानि पहुँचाने वाले होते हैं और कुछ मूढगर्भ ऐसे भी हैं, जो कि अवस्था विशेष में गए हुए असाध्य होकर मारक होते हैं। उनमें से जो शरीर को टेढ़ा कर हाथ, पाँव और सिर से आता है, वह; तथा जो एक सक्थि गुदा पर रख कर दूसरी सक्थि से योनिमुख पर आता है, वह असाध्य होता है। दूसरे विपरीतेन्द्रियार्थ आदि से निर्पीडित होने के कारण असाध्य होते हैं। ये सब सुश्रुत के मत में हैं। जैसे उसने कहा भी है कि—"तत्र द्वावन्त्यावसाध्यौ मूढगर्भौ, शेषानपि विपरीतेन्द्रियार्थाक्षेपकयोनिभ्रंशसंवरणमक्कल्लश्वासकास भ्रमनिर्पीडितान् परिहरेत्"। (सु. नि. स्था. अ. ८)। माधव ने तो इसके स्थान में 'योनिसंवरणं' इत्यादि ही कहा है। इस प्रकार यह मूढगर्भ का प्रकरण संक्षेपतः समाप्त होता है।

मूढगर्भ में उपर्युक्त बातें होती हैं। दूसरे गर्भ में ये बातें नहीं होतीं। वह स्वभावतः सरल रीति से उत्पन्न हो जाता है। जैसे कहा भी है कि—"कालस्य परिणामेन मुक्तं वृन्तात् यथा फलम्। प्रपद्यते स्वभावेन नान्यथा पतितुं ध्रुवम् ॥ एवं कालप्रकर्षेण मुक्तो नाडीनिबन्धनात्। गर्भाशयस्थो यो गर्भो जननाय प्रपद्यते" (सु. नि. स्था. अ. ८)। इससे विपरीत ही पूर्वोक्त गर्भपात आदि होते हैं। उसमें भी सुश्रुत का वचन है कि—"कृमिवाताभिघातैस्तु तदेवोपद्रुतं फलम्। पतत्यकालेऽपि यथा तथा स्याद्गर्भविच्युतिः" (सु. नि. स्था. अ. ८)।

मधु०—अपरमसाध्यगर्भिणीलक्षणमाह—योनिसंवरणमित्यादि। योनिसंवरणं तन्त्रान्तरपठितो रोगः। तथाहि—"वातलान्यन्नपानानि ग्राम्यधर्मं प्रजागरम्। अत्यर्थं सेवमानाया गर्भिण्या योनिमार्गगः॥ मातरिश्वा प्रकुपितो योनिद्वारस्य संवृतिम्। कुरुते रुद्धमार्गत्वात् पुनरन्तर्गतोऽनिलः॥ निरुणद्ध्याशयद्वारं पीडयन् गर्भसंस्थितिम्। निरुद्धवदनोच्छ्वासो गर्भश्चाशु विपद्यते॥ वद्धां संरुद्धहृदयां नाशयत्याशु गर्भिणीम्। योनिसंवरणं विद्याद्व्याधिमेनं सुदारुणम्॥ अन्तकप्रतिमं घोरं नारभेत चिकित्सितम्" इति। सङ्गः कुक्षाविति योनिसंवरणे प्रतिनिवृत्तो वायुर्गर्भाशयं यदा निरुणद्धि तदा गर्भः कुक्षौ सक्तो भवति स उच्यते—सङ्गः कुक्षाविति। मक्कल्लो रक्तमारुतजः शूलविशेषः। यद्यपि प्रसूतायाः शूलं मक्कल्लमुक्तं सुश्रुते—"प्रजातायाश्चोत्तरकालं तीक्ष्णैरविशोधितं रक्तं मक्कल्लं करोति॥" (सु. शा. स्था. अ. १०) इति, तथाऽपि प्रजातायाश्चेति चकारेणाप्रजाताया अपि शूलं मक्कल्लमिति। यथोक्ताश्चाप्युपद्रवा इति यथोक्ता ये ये उक्तास्ते पुनराक्षेपकश्वासादयः॥१०॥

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायां मूढगर्भनिदानं समाप्तम्॥६४॥

योनिसंवरण तन्त्रान्तर में पठित एक रोग विशेष है। जैसे कहा भी है कि—'वातल अन्नपान, मैथुन और प्रजागरण का अतिसेवन करने वाली गर्भिणी के योनिमार्ग में होने वाली प्रकुपित वायु योनिद्वार (गर्भाशय द्वार) का संवरण कर देती है। फिर रुद्धमार्ग होने के कारण अन्तर्गत वायु स्थित गर्भ को पीड़ित करती हुई गर्भाशय द्वार को रोक देती है, जिससे गर्भस्थ बालक मुख और श्वास के रुक जाने से शीघ्र ही मर जाता है, जो कि बाद में संरुद्ध हृदय वाली, नाभि नाल से बन्धी हुई गर्भिणी को भी शीघ्र ही मार देता है। इस अतिभयङ्कर व्याधि को योनिसंवरण के नाम से जानना चाहिए, जो कि यमराज के समान अवश्यमारक होती है। अतः इसकी चिकित्सा ही आरम्भ नहीं करनी चाहिए'। सङ्गः कुक्षौ—का अर्थ यह है कि योनिसंवरण में प्रतिनिवृत्त वायु जब गर्भाशय को रोक देती है, तब गर्भ कुक्षि में अटक जाता है और इसी को कुक्षिसङ्ग कहा जाता है। मक्कलनामक रोग रक्त और वायु से होने वाला शूल विशेष है। यद्यपि सुश्रुत में प्रसूता स्त्री का शूल ही मक्कल नाम से कहा है, तद्यथा—प्रसव के बाद तीक्ष्ण द्रव्यों से अविशोधित रक्त मक्कलसंज्ञक शूल को कर देता है, तथापि 'प्रजातायाश्च' में स्थित चकार से यह गृहीत होता है कि अप्रजाता स्त्री का शूल भी मक्कल ही कहलाता है। शेष मधुकोष की भाषा स्पष्ट ही है।

अथ सूतिकारोगनिदानम् ।

सूतिकारोगस्य लक्षणमवतारयति—

अङ्गमर्दो ज्वरः कम्पः पिपासा गुरुगात्रता ।
शोथः शूलातिसारौ च सूतिकारोगलक्षणम् ॥१॥

अङ्गमर्द, ज्वर, कम्पन (कँपकँपी), तृषा, गात्रगौरव, सूजन, शूल और अतिसार होना सूतिका रोग का लक्षण है।

वक्तव्य—भाव यह है कि सूतिकारोग में अङ्गों में मसलने की सी पीड़ा होती है, बुखार होता है, कँपकँपी होती है, प्यास लगती है, शरीर भारी होता है, सूजन होती है, शूल होता है और दस्त भी आते हैं। अर्थात् उपर्युक्त लक्षण सूतिकारोग के परिचायक चिह्न हैं, क्योंकि ये सूतिका में होते हैं।

मधु०—क्रमप्राप्तत्वात् सूतिकारोगनिदानारम्भः—अङ्गमर्द इत्यादि। सूतिकारोगलक्षणमिति सूतिकारोग एव लक्षणम्, अङ्गमर्दादिव्यतिरिक्तस्य रोगस्यानभिधानात्। एतेऽङ्गमर्दादयः प्रायेण सूतिकाया भवन्तः सूतिकारोगत्वेन लक्ष्यन्त इत्यर्थः ॥१॥

क्रमप्राप्तत्वादित्यादि की भाषा सरल है।

सूतिकारोगस्य निदानमाह—

मिथ्योपचारात् संक्लेशाद्विषमाजीर्णभोजनात् ।
सूतिकायाश्च ये रोगा जायन्ते दारुणास्तु ते ॥२॥

ज्वरातिसाराद्य एव सूतिकाश्रितत्वेन आश्रयाश्रितयोरभेदोपचारात्सूतिकारोगनाम्नाभिधीयन्त इत्याह—

ज्वरातीसारशोथाश्च शूलानाहबलक्षयाः ।
तन्द्रारुचिप्रसेकाद्याः कफवातामयोद्भवाः ॥३॥
कृच्छ्रसाध्या हि ते रोगाः क्षीणमांसबलाग्नितः ।
ते सर्वे सूतिकानाम्ना रोगास्ते चाप्युपद्रवाः ॥४॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने सूतिकारोगनिदानं समाप्तम् ॥६५॥

प्रसूता स्त्री को मिथ्या उपचार से, संक्लेश से, विषम एवं अजीर्ण भोजन से जो दारुण सूतिका रोग हैं, वे हो जाते हैं। ज्वर, अतिसार, शोथ, शूल, आनाह, बलक्षय ये; तथा कफवातामयोद्भव तन्द्रा, अरुचि और लालास्राव (ये सूतिकारोग हैं) ये रोग क्षीणबल क्षीणमांस और क्षीण अग्नि होने पर कृच्छ्रसाध्य होते हैं। उपर्युक्त सभी रोग सूतिका रोग के नाम से कहलाते हैं और (ये किसी एक के प्रधान होने पर) उपद्रव हो जाते हैं।

वक्तव्य—मिथ्योपचारात्—इसका भाव यह है कि प्रसव के बाद स्त्री का उपचार (सुश्रूषा आदि) यदि अवस्था के प्रतिकूल अर्थात् रक्तशोधक, बलप्रद आदि औषध; विश्राम आदि विहार; स्निग्ध, उष्ण एवं मधुर आदि आहार न

देकर इसके विरुद्ध आचरण किया जाए तो सूतिकारोग हो जाते हैं। संक्लेशात्— इसके दो अर्थ हैं। एक तो यह है कि पारिवारिक परिस्थिति के कारण स्त्री के मन में उत्पन्न क्लेश से; और दूसरा, जिसे कि श्रीकण्ठदत्त ने भी माना है, दोषजनक अन्न से सूतिकारोग हो जाता है। 'विषमभोजनात्' से—"विषमं बहु वाल्पं वाप्यप्राप्तातीतकालयोः" (च. चि. स्था. अ. १५) के अनुसार कभी बहुत खाने और कभी थोड़ा खाने से; वा कभी पहले खाने और कभी बाद खाने (रूप विशमाशन) से सूतिकारोग हो जाता है। अजीर्णभोजनात्—जीर्ण न होने वाले भोजन के करने से; वा अजीर्ण अवस्था में भोजन करने से। 'ते सर्वे सूतिका नाम्ना रोगास्ते चाप्युपद्रवाः' इसका भावार्थ यह है कि वे पूर्वोक्त ज्वर आदि रोग सूतिकारोग के नाम से कहलाते हैं; तथा इनमें से एक रोग के प्रधान होने पर शेष उपद्रव रूप में भी हो जाते हैं। एवं यह सिद्ध होता है कि ये रोग स्वतन्त्र और परतन्त्र दोनों प्रकार से प्रसूता में होते हैं, किन्तु प्रधानरूप से इनमें कोई एक ही होगा और दूसरे अनुबन्ध रूप में हो जाते हैं। यथा—यदि ज्वर अनुबन्ध्य (प्रधान) रूप से होगा तो अतीसार आदि अनुबन्ध (अप्रधान) रूप से हो जाते हैं; और यदि अतीसार अनुबन्ध्यरूप से होगा तो ज्वर, शोथ आदि अनुबन्धरूप से हो जाते हैं।

प्रसववती स्त्री में होनेवाले रोगों को तीन श्रेणियों में विभक्त किया जाता है। पहली श्रेणी में वे रोग आते हैं, जो कि गर्भाधान से आरम्भ होकर प्रसवारम्भ से पूर्व तक के समय में केवल इसी के कारण होते हैं। इन्हें गर्भावस्था के रोग वा प्रसव के पूर्व होने वाले रोग कहा जाता है। दूसरी श्रेणी में वे रोग होते हैं, जो कि प्रसवारम्भ से लेकर प्रसव समाप्ति तक के समय में होते हैं। इन्हें प्रसवकालिक रोग कहा जाता है। एवं तीसरी श्रेणी में वे रोग आते हैं, जो कि प्रसव के समाप्त होने पर जननेन्द्रियों के पूर्ववत् होने में जितना समय (१½–२ मास) लगता है, उसमें होते हैं। इन्हें सूतिकारोग वा सूतिकाकालज रोग (प्युएरपिरल पीरियड डिज़ीज़[१]) कहा जाता है। पाश्चात्य विद्वानों ने भी अपने प्रसूतितन्त्रों में यही प्रकार स्वीकृत किया है। उन्होंने प्रसव के पूर्वकालिक रोगों में भयङ्कर प्रातर्वान्ति, लालास्राव, श्वेतप्रदर (ल्यूकोरिआ), बाह्य जननेन्द्रियों पर पिडकाओं का होना वा कण्डू होना, पाद शोथ और पिण्डलियों की रक्तवाहिनियों का मोटा होना, मलावरोध, अतीसार, बवासीर, भृशमूत्रता, मूत्रावरोध, अल्ब्यूमेन अन्वित मूत्रता, आक्षेपक (clampsia), शिरोव्यथा, उरोदाह, कामला, कम्पवात, गर्भोन्माद, निद्रानाश, कष्टद कास, नीरक्तता, श्वास, हृद्रोग और मूर्च्छा आदि माने हैं। हमारे आचार्यों ने भी प्रायः इन्हें इङ्गित द्वारा निर्दिष्ट किया है। ये सब गर्भिणी के लक्षणों के अधिक होने पर तथा अन्य विकारों के वर्णन में आ जाते हैं। प्रसवकालिक रोग मूढगर्भ में तथा कुछ अन्य प्रकारों में ही आ जाते हैं। पाश्चात्य विद्वानों ने भी

१ Puerperal Period Disease.

इन्हें गर्भ के दोष, स्त्री के दोष और योनिमार्ग के दोषों में माना हैं, जिनका कि वर्णन संक्षेप रूप से ऊपर किया जा चुका है, विस्तार अन्यत्र देखें। तीसरी श्रेणी अर्थात् प्रसूति के रोग; ज्वर एवं अतीसार आदि हैं, जिनका कि वर्णन प्रकृत प्रकरण में किया गया है। पाश्चात्य विद्वानों ने भी इस अवस्था के निम्नलिखित रोग माने हैं। तद्यथा—प्रसवोत्तर वेदना (आफ्टर पेन्स[1]), मूत्रावरोध (रेटेंशन आफ यूरिन[2]), कटीरसन्ताप (पेल्विक सेल्युलायटिस[3]), श्वेतपाद (फ्लेग्मेशिया आल्वाडोलन्स[4]), फुफ्फुस की शिराओं में रक्तार्बुद का रुकना (पल्मनरी एम्बोलिज़्स[5]), सूतिकोन्माद (प्यूएरपिरल इन्सानिटी[6]), सूतिकाविभ्रम (प्यूएरपिरल मेलांकोलियां[7]) और प्रसूति का ज्वर (प्युअरपिरल फीवर[8]) आदि। इन सब का वर्णन ग्रंथविस्तृति के भय से यहां नहीं किया जाता, अतः पाठक अन्यत्र तन्त्रों से देख लें। आचार्य माधव प्रसूतिका में होने वाले ज्वर, अतीसार, शोथ, शूल, आनाह, बलक्षय, तन्द्रा, अरुचि और लालाप्रसेक ये नौ रोग मानता है। इनके विषय में कुछ थोड़ा सा लिखा जाता है। सूतिकाज्वर—प्रसव के समय स्त्री की जननेन्द्रियों में कुछ घाव हो जाते हैं। यदि उनमें कृमिहर उपचार न कर विपरीतोपचार किया जावे तो इस मिथ्योपचार से उसे यह ज्वर हो जाता है। इसमें रक्त दूषित होकर विषाक्त एवं व्याप्त हो जाता है। यह संक्रामक रोग है। इसमें यदि बलक्षय आदि उपद्रव हो जावें तो यह भयङ्कर हो जाता है। तथा इसका परिणाम अच्छा नहीं होता। यह इसका अति संक्षिप्त वर्णन है। इसे पाश्चात्य प्युअरपिरल फीवर (Puerperal Fever) कहते हैं। अतीसार—इसमें भी खून के भली प्रकार न निकलने से वा शोधनरूप उपचार न करने से विष सर्वत्र व्याप्त हो आंतों में आ जाता है, जिससे अति दस्त आने लगते हैं। कभी २ संक्लिष्ट अन्न से, मानसिक क्षोभ से, विषम भोजन से वा अजीर्ण भोजन से ही दस्त आने लगते हैं। इसमें कारण यह है कि प्रसव के समय होने वाली क्षीणता के साथ २ आमाशय भी निर्बल हो चुका होता है। अतः इस प्रकार के आहार से वह दूषित होकर अपक्व अन्न नीचे को फेंकता हुआ अन्त्रों को भी दूषित कर देता है, जिससे अतीसार होने लगता है। यह भी जब उपद्रवों वाला हो जाता है तो भयङ्कर होता है। शोथ—स्वभावतः अशुद्ध रक्त के रुक जाने से वा शोधक वस्तुओं का उपयोग न कर दूसरी वस्तुओं के प्रयोग से अशुद्ध रक्त के रुक जाने से सूजन हो जाती है। संक्लिष्ट अन्न आदि भी यही करते हैं, जिससे शोथ हो जाती है। इसके लक्षण शोथाधिकार में कह चुके हैं। पाश्चात्य इसमें यह भी कारण मानते हैं कि अशुद्धरक्तवाहिनियों पर दबाव पड़ता है, जिससे

१ Afterpains, २ Retention of urine. ३ Pelvic cellulitis. ४ Phlegmasia Albadolens. ५ Pulmonary Embolisms. ६ Puerperal Insanity, ७ Puerperal melancholia. ८ Puerperal fever.

पैरों आदि में शोथ हो जाती है। यह शोथ उपद्रवों से युक्त होने से भयानक हो जाती है और रोगिणी को मार भी देती है। शूल—यह भी तीक्ष्ण द्रव्यों से शुद्ध न करने पर हो जाता है। इसे मक्कल भी कहा जाता है। जैसे सुश्रुत ने कहा भी है कि—"प्रजातायाश्चोत्तरकालं तीक्ष्णैरविशोधितं रक्तं मक्कल्लं करोति" (सु. शा. स्था. अ. १०)। अन्यत्र भी कहा है कि—"वायुः प्रकुपितः कुर्यात् संरुध्य रुधिरं स्रुतम्। सूनाया हृच्छिरोबस्तिशूलं मक्कल्लसंज्ञकम्"। इसे पाश्चात्य आफ्टरपेन्स (After-pains) कहते हैं। आनाह—यह भी आमाशय और पक्वाशय में मिथ्योपचारादि के कारण खराबी होने से होता है। इसमें निचित मल की प्रवृत्ति नहीं होती। बलक्षय—अतिरक्त स्राव आदि के कारण होता है और इसमें यदि ज्वर आदि उपद्रव हो जावें तो यह अवस्था अतिदारुण हो जाती है। तन्द्रा—यह रोग भी विषरक्तता (टाक्सिमिआं) के कारण होता है। इसका बढ़ जाना भयावह होता है। अरुचि और प्रसेक—ये रोग मिथ्योपचारादि द्वारा आमाशय की दुष्टि से होते हैं। यह इन सब का संक्षिप्त विवरण है। इसी से अनुमान द्वारा विद्वानों को सब समझ लेना चाहिए। वा अन्य तन्त्रों से जान लेना चाहिए।

मधु०—सूतिकारोगनिदानमाह—मिथ्येत्यादि। संक्लेशादिति संक्लिश्यते उत्क्लिश्यते दोषोऽनेनेति संक्लेशो दोषजनकमन्नम्। विषमाजीर्णभोजनादिति विषमभोजनादजीर्णभोजनाच्च। ज्वरातीसारादीनामङ्गमर्दादिभ्यः पृथक् पुनरुपादानं रोगाधिक्यं कृच्छ्रत्वमुपद्रवत्वं च ख्यापयितुम्। कफवातामयोद्भवा इति तन्द्रारुचिप्रसेकाद्या इत्यस्य विशेषणं मन्यन्ते केचित्, अन्ये सर्वस्य ज्वरातिसारादेः। कफवातजे विकारे सति येषामुद्भवस्ते कफवातामयोद्भवा ज्वरातीसारादयः कृच्छ्रसाध्या इत्यर्थः। ते सर्वे सूतिकानाम्नेति ते ज्वरातीसारादयः सर्वे सूतिकाभवत्वेनाश्रयाश्रितयोरभेदोपचारात् सूतिकानाम्नोच्यन्ते; ते चाप्युपद्रवाः ते उपद्रवाश्च भवन्ति उक्तानां रोगाणामन्यतमं प्रधानीकृत्य ॥२–४॥

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायां सूतिकारोगनिदानं समाप्तम् ॥६५॥

'संक्लेशात्' का अर्थ संक्लिष्ट अर्थात् उत्क्लिष्ट किया जाता है दोष जिससे के अनुसार (संक्लेश से) दोषजनक अन्न लिया जाता है। ज्वर अतिसार आदिकों का अङ्गमर्द आदिकों से अलग पुनः कथन रोग की अधिकता, कृच्छ्रता तथा उपद्रवता बताने के लिए किया है। कई आचार्य 'कफवातामयोद्भवाः' को 'तन्द्रारुचिप्रसेकाद्याः' का विशेषण मानते हैं और कई आचार्य ज्वरादि सब का विशेषण मानते हैं। कफवातज विकार के होने पर जिनकी उत्पत्ति होती है, वे कफवातामयोद्भव ज्वर अतीसार आदि कृच्छ्रसाध्य होते हैं। वे ज्वरातिसार आदि सभी रोग सूतिका में होने के कारण आश्रय और आश्रित का अभेद मान कर सूतिका के नाम से पुकारे जाते हैं। ते चापि उपद्रवाः—अर्थात् वे उक्त रोगों में से किसी एक को प्रधान कर (बाकी) उपद्रव भी बन जाते हैं।

अथ स्तनरोगनिदानम् ।

स्तनरोगस्य संप्राप्तिमाह—

सक्षीरौ वाऽप्यदुग्धौ वा प्राप्य दोषः स्तनौ स्त्रियाः ।
प्रदूष्य मांसरुधिरं स्तनरोगाय कल्पते ॥१॥ [सु० २।१०]

वातादि दोष स्त्रियों के दुग्धयुक्त वा दुग्धरहित स्तनों को प्राप्त होकर मांस एवं रक्त को प्रदूषित करते हुए स्तनरोग को उत्पन्न करने वाले हो जाते हैं ।

वक्तव्य— भाव यह है कि प्रकुपित दोष जब स्तनों में आश्रित हो जाते हैं, चाहे वे स्तन दूध वाले हों वा दूधरहित, तो रक्त एवं मांस को दूषित कर स्तनरोग को उपजा देते हैं । स्तनरोग को अंग्रेजी भाषा में 'डिसिजेस् आफ दि ब्रेस्टज्'[१] कहा जाता है । इन्होंने स्तनरोगों के कई प्रकार बताए हैं, जिनमें से मुख्य मुख्य प्रकार आगे प्रसङ्गवश कहे जायँगे । स्तन्यदुष्टि के विषय में सुश्रुत ने भी कहा है कि—"धात्र्यास्तु गुरुभिर्भोज्यैर्विषमैर्दोषलैस्तथा । दोषा देहे प्रकुप्यन्ति ततस्तन्यं प्रकुप्यति । मिथ्याहारविहारिण्या दुष्टा वातादयः स्त्रियाः । दूषयन्ति पयस्तेन शारीरा व्याधयः शिशोः । भवन्ति···" (सु. शा. स्था. अ. १०) ।

मधु०—सूतिकारोगाधिकारात् स्तनरोगा उच्यन्ते । पारिभाषिकस्तनरोगसंप्राप्तिमाह—सक्षीरौ वाऽपीत्यादि । सक्षीरौ गर्भवत्याः, अदुग्धौ वेति दोहदायोगेन प्रसूतायाः, स्तनौ प्राप्येति विवृतधमनीमुखेनाविश्य, स्तनरोगशब्देन स्तनकोप इति प्रसिद्धो रोग उच्यते ॥१॥

सूतिकारोगाधिकारात् इत्यादि की भाषा सुगम है ।

स्तनरोगाणां लक्षणान्याह—

पञ्चानामपि तेषां हि रक्तजं विद्रधिं विना ।
लक्षणानि समानानि बाह्यविद्रधिलक्षणैः ॥२॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने स्तनरोगनिदानं समाप्तम् ॥६६॥

रक्तज विद्रधि के बिना पांचों ही स्तनविद्रधियों के लक्षण बाह्य विद्रधिलक्षणों के समान होते हैं ।

वक्तव्य—हमारे आचार्यों ने स्तनरोग पांच माने हैं, जिनमें से एक—वातिक, दूसरा—पैत्तिक, तीसरा—श्लैष्मिक, चौथा—सान्निपातिक और पांचवां—आगन्तुज होता है । जैसे तन्त्रान्तर में भी कहा है कि—"पञ्चैव स्तनरोगाः स्युर्वातात् पित्तात्कफादपि । सन्निपातात्क्षताच्चैव तथा स्तन्योद्भवा गदाः" (शा.) । ये विकार कुमारी कन्याओं में नहीं होते, क्योंकि इनके स्तनों की धमनियां अवरुद्धद्वार वाली होती हैं, अतः इनमें दोष असर नहीं कर सकते । इसी बात को सुश्रुत ने भी कहा है कि—"धमन्यः संवृतद्वाराः कन्यानां स्तनसंश्रिताः । दोषाभिसरणात्तासां न भवन्ति स्तनामयाः ॥ तासामेव प्रजातानां गर्भिणीनाञ्च ताः पुनः ।

१ Diseases of the breasts.

स्वभावादेव विवृता जायन्ते सम्भवन्त्यतः" (सु. नि. स्था. अ. १०)। इनमें रक्तज विद्रधि नहीं होती, क्योंकि यह इस व्याधि का स्वभाव ही है। एवं इन सब के लक्षण उसी प्रकार हैं, जिस प्रकार कि बाह्य विद्रधियों के होते हैं। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि पाश्चात्यों के माने हुए स्तनरोग (डिसिजेज् आफ दि ब्रेस्टज्) इन्हीं के लक्षण विशेष होने से इन्हीं में आ जाते हैं। पाश्चात्य विद्वानों ने मुख्यतः ये स्तन रोग माने हैं। तद्यथा—१ अतिदुग्धस्राव (क्यालाक्टोह्रिया)—इसके बहुत दिन तक रहने से स्त्री दुर्बल पड़ जाती है, नीरक्तता आ जाती है, दृष्टि मन्द हो जाती है एवं अन्त में स्त्री मर भी जाती है। इस रोग में आहार रस से दूध अधिक बनता है और रक्त नहीं बनता जिससे दुर्बलता, नीरक्तता और दृष्टिमन्दता आ जाती है। अन्त में जब रस से सर्वथा दुग्ध ही बनता है और पूर्व बना हुआ रक्त व्यय हो जाता है तो दुर्बलता आदि लक्षण बढ़कर स्त्री को मार देते हैं। २ अल्पक्षीरता (नोट सफिसैन्ट आफ मिल्क)—इसमें आहार रस से दूध अधिक नहीं बनता। इसमें कारण तरल एवं क्षीरजनक पदार्थों का त्याग है। यदि ये पदार्थ सेवन किये जावें तो यह व्याधि नहीं होती, यदि हो तो ठीक हो जाती है। ३ चूचुकों का चपटा होना (डिप्रेस्ड निपल्स)—यह दबाव के कारण होता है। ४ स्तनाग्रों पर बिवाई फटना और उनका दुखना (क्रैक्ड एंड सोअर निपल्स)—यह खुश्की के कारण होता है। अतः इसमें धोने से वा स्नेह लगाने से लाभ होता है। ५ स्तनदाह (इन्फ्लेमेशन आफ दि ब्रेस्ट) और स्तनों में पीप पड़ना—यह स्तनों पर बिवाई फटने से वा दुर्बलता एवं नीरक्तता के कारण होता है। अभिघात भी इसमें कारण है। कभी २ बच्चे के सिर आदि की चोट से भी यह हो जाता है। इसे पञ्जाबी में 'मम्मा ठिल्लना' कहते हैं। इसमें स्तन में होने वाली व्यथा के कारण ज्वर भी आ जाता है। इसमें पीव भी पड़ जाती है। वह स्थान उन्नत, रक्तवर्ण एवं दबाने पर पीवपूर्ण प्रतीत होता है। इसके पूर्ण पक जाने पर पीव छिद्र बनाकर बाहर आने लगती है। तदनु पीव बढ़ती हुई भिन्न २ स्थानों से होकर उसी छिद्र से आने लगती है। इस प्रकार स्तन भीतर ही भीतर सड़ता जाता है। यह रोग कई मास रहता है और स्त्री दुर्बल हो जाती है। ६ स्तनार्बुद दुग्धार्बुद (गालाक्टो सील)—यह रोग क्षीरवह नाड़ियों के बन्द हो जाने से पिछली जगह के फूल जाने पर होता है। थोड़े दिन बाद दुग्ध का द्रव अंश सूख जाता है, जिससे अवशिष्ट घनभाग का गोला सा बन जाता है, जो कि कभी २ बहुत बढ़ जाता है। इसे पाश्चात्य शस्त्रसाध्य कहते हैं। इस प्रकार पाश्चात्यों के मत में स्तनरोग हैं, जो कि हमारे स्वीकृत स्तनरोगों में आ जाते हैं।

१ Calactorrhoea. २ No sufficiant of milk. ३ Depressed nipples ४ Cracked and sore nipples. ५ Inflammation of the breast. ६ Abscess of the breast (ऐब्सेस आफ दि ब्रेस्ट). ७ Galactocle.

मधु०—तेषां वातपित्तकफसन्निपातागन्तुजानामतिदेशेन लक्षणमाह—पञ्चानामपीत्यादि। एतत् सुबोध्यम्। आगन्तुस्तनरोगोऽभिघातेन शल्येन च। रक्तजस्यासंभवो व्याधिस्वभावात् ॥२॥

इति श्रीकण्ठदत्तविरचितायां मधुकोशव्याख्यायां स्तनरोगनिदानं समाप्तम् ॥६६॥

तेषामित्यादि की भाषा सरल है।

अथ स्तन्यदुष्टिनिदानम्।

अदृश्यस्यापि स्तन्यस्य प्रवृत्तौ सनिदर्शनं हेतुमभिधत्ते—

विशस्तेष्वपि गात्रेषु यथा शुक्रं न दृश्यते।
सर्वदेहाश्रितत्वाच्च शुक्रलक्षणमुच्यते ॥१॥ [सु० २।१०]

शरीर को शस्त्र द्वारा काटने पर भी जिस प्रकार शुक्र नहीं दीखता (उसी प्रकार यह स्तन्य भी नहीं दीखता) तथापि समस्त शरीर में व्याप्त होने से शुक्र का लक्षण कहा जाता है।

स्तन्यस्य अन्तर्विद्यमानतां प्रतिपाद्य सनिदर्शनां बहिःप्रवृत्तिमुपपादयति—

तदेव चेष्टयुवतेर्दर्शनात् स्मरणादपि।
शब्दसंश्रवणात् स्पर्शात् संहर्षाच्च प्रवर्तते ॥२॥ [सु० २।१०]
सुप्रसन्नं मनस्तत्र हर्षणे हेतुरुच्यते।
आहाररसयोनित्वादेवं स्तन्यमपि स्त्रियाः ॥३॥ [सु० २।१०]

वही शुक्र मनोरमा के दर्शन, स्मरण, शब्दश्रवण, स्पर्शन और संहर्षण से प्रवृत्त होने (आने) लगता है। एवं वहां हर्षण में मन का भली प्रकार प्रसन्न होना कारण है। इसी प्रकार आहारज रस से उपजने वाला होने के कारण स्त्रियों का दूध भी जानना चाहिए।

स्तन्यप्रवृत्तौ कारणमाह—

तदेवापत्यसंस्पर्शाद् दर्शनात् स्मरणादपि।
ग्रहणाच्च शरीरस्य शुक्रवत् संप्रवर्तते।
स्नेहो निरंतरस्तत्र प्रस्रवे हेतुरुच्यते ॥४॥ [सु० २।१०]

वही स्तन्य बच्चे के संस्पर्शन, दर्शन, स्मरण और ग्रहण से शुक्र की तरह सर्वशरीरव्यापी होने पर भी (स्तनों में से) आने लगता है। इसके बहने में स्नेह का अत्यधिक होना ही कारण है।

दुष्टस्तन्यपानेन स्तनन्धयानां नानारोगप्रसङ्ग इत्याह—

गुरुभिर्विविधैरन्नैर्दुष्टैर्दोषैः प्रदूषितम्।
क्षीरं मातुः कुमारस्य नानारोगाय कल्पते ॥५॥

गुरु आदि अनेक प्रकार के दुष्ट अन्नों से दुष्ट हुए दोषों द्वारा प्रदूषित (बच्चे की) माता का दूध बच्चे में अनेक प्रकार के रोगों को उपजाने वाला हो जाता है।

वक्तव्य—उपर्युक्त का भाव यही है कि आहार रस से रक्त आदि बनने के बाद उत्पन्न होने वाला शुक्र शरीर में शस्त्र आदि द्वारा काटने पर भी नहीं दीखता; किन्तु फिर भी वह, जब कि मनुष्य अपनी हृदयङ्गमा स्त्री का दर्शन, स्मरण, शब्दश्रवण, अङ्गस्पर्श करता है तो संहर्षण से आने लगता है। इसी प्रकार आहार रस से होने वाला दूध शस्त्र आदि द्वारा काटने पर भी स्त्री के शरीर में नहीं दीखता; किन्तु जब स्त्री अपने बालक का प्रसन्नतापूर्वक दर्शन, स्मरण और स्पर्श करती है तो वह दूध आने लगता है। एवं शुक्र के आने में मनोहर्ष तथा इसके आने में निरन्तर स्नेह कारण है। यह दोनों रस से होते हैं। इसमें प्रमाण भी है। तद्यथा—"मासेन रसः शुक्रीभवति स्त्रीणाञ्चार्तवम्" (सु. सू. स्था. अ. १४); तथा—"रसात् स्तन्यं" इत्यादि (सु. सू. स्था. अ. १४); किञ्च—"रसप्रसादो मधुरः पक्वाहारनिमित्तजः। कृत्स्नदेहात्स्तनौ प्राप्तः स्तन्यमित्यभिधीयते" (सु. नि. स्था. अ. १०)। एवं इस प्रकार का स्तन्य गुरु अन्नादिकों के सेवन से दुष्ट दोषों द्वारा माता का प्रदूषित दुग्ध अनेक रोगों को उपजा देता है। इसी बात को चरक ने पर्याप्त विशदरूप से लिखा है कि—"अजीर्णासात्म्यविषमविरुद्धात्यर्थभोजनात्। लवणाम्लकटुक्षारप्रक्लिन्नानाञ्च सेवनात्॥ मनःशरीरसन्तापादस्वप्नान्निशि चिन्तनात्। प्राप्तवेगप्रतीघातादप्राप्तोदीरणेन च॥ परमान्नं गुडकृतं कृशरं दधिमत्स्यकम्। अभिष्यन्दीनि मांसानि ग्राम्यानूपौदकानि च॥ भुक्त्वा भुक्त्वा दिवास्वप्नान्मद्यस्यातिनिषेवणात्। अनायासादभीघातात्क्रोधाच्चातङ्ककर्शनैः॥ दोषाः क्षीरवहाः प्राप्य शिराः स्तन्यं प्रदूष्य च। कुर्युरष्टविधं भूयो दोषास्तान्मे निबोधत॥ (च. चि. स्था. अ. ३०)। एवं यह सिद्ध होता है कि वात आदि की दुष्टि से क्षीर में आठ दोष होते हैं और वे दोष—१ विरसता, २ फेनसंघात, ३ रूक्षता, ४ विवर्णता, ५ दुर्गन्धता, ६ स्निग्धता, ७ पिच्छिलता और ८ गुरुता—ये हैं। इनमें प्रथम तीन वायु से, दूसरे दो पित्त से और तीसरे तीन कफ से होते हैं। जैसे कहा भी है कि—"वैरस्यं फेनसङ्घातरौक्ष्यञ्चेत्यनिलात्मके। पित्ताद्वैवर्ण्यदौर्गन्ध्ये, स्नेहपैच्छिल्यगौरवम्॥ कफाद्भवति" (च. चि. स्थ. अ. ३०)।

मधु०—स्तनाश्रितत्वेन स्तन्यदुष्टिमाह—गुरुभिर्विविधैरित्यादि। गुरुभिरन्नैर्हेतुभूतैर्ये दुष्टा दोषास्तैः प्रदूषितम् ॥१॥

स्तनाश्रितत्वेन इत्यादि की भाषा सुगम है।

वातादिदोषदूषितस्तन्यानां लक्षणान्याह—

कषायं सलिलप्लावि स्तन्यं मारुतदूषितम्।
कट्वम्ललवणं पीतराजीमत् पित्तसंज्ञितम् ॥६॥

कफदुष्टं घनं तोये निमज्जति सपिच्छिलम् ।
द्विलिङ्गं द्वन्द्वजं विद्यात् सर्वलिङ्गं त्रिदोषजम् ॥७॥

ऊपर वातादिकों से सङ्केत द्वारा स्तन्य की दुष्टि निर्दिष्ट की है, अब उसे विशद किया जाता है कि वायु से दूषित दुग्ध कषायरस वाला एवं जल पर तैरने वाला होता है; पित्त से दूषित दुग्ध कटुरस वाला, अम्लरस वाला, लवण रस वाला, और पीली पीली रेखाओं वाला होता है; कफ से दूषित दुग्ध घना (गाढ़ा), जल में डूब जाने वाला एवं पिच्छिल होता है, दो दो के लिङ्गों वाला द्वन्द्वज और सभी लिङ्गों वाला त्रिदोषज होता है ।

वक्तव्य—यहां इस बात की शङ्का नहीं करनी चाहिए कि चरक ने दूध में वात आदि के लक्षण, विरसता आदि माने हैं और इसने कषायता आदि, अतःविरोध आता है। क्योंकि चरक के लक्षणों का इसमें और इसके लक्षणों का चरक में अन्तर्भाव हो जाता है। किन्तु यह सब सूक्ष्मदृष्टि से पर्यालोचन करने पर होता है। स्थूलदृष्टि से देखने पर दोनों आचार्यों के लक्षण उसमें होते हैं, प्रत्युत ये भी उपलक्षण ही समझना चाहिए। इससे अन्य आचार्यों के रूक्ष आदि लक्षण भी जानने चाहिएं। जैसे वाग्भट ने कहा भी है कि—"वाताद्दुष्टं तु प्लवतेऽम्भसि। कषायं फेनिलं रूक्षं वर्चोमूत्रविबन्धकृत्॥ पित्ताद्दुष्टाम्लकटुकं पीतराज्यप्सु दाहकृत्। कफात्सलवणं सान्द्रं जले मज्जति पिच्छिलम्॥ संसृष्टलिङ्गां-स्तत्राधीन् जनयन्त्युपयोजितम्" (वा. उ. स्था. अ. २)। ऊपर कहा गया है कि—"गुरुभिर्विविधैरन्नैर्दुष्टैर्दोषैः प्रदूषितम्। क्षीरं मातुः कुमारस्य नानारोगाय कल्पते" इत्यादि। वे नाना रोग कौन से हैं, इस विषय पर चरक ने अच्छा प्रकाश डाला है। इसने इनका वर्णन विरस आदि दोषों के अनुसार किया है। अर्थात् वातिक विरसता दुष्ट-स्तन्य से कौन २ से रोग होते हैं, इस क्रम से चरक ने नाना रोगों को दर्शाया है। तद्यथा—"रूक्षाद्यैरनिलः स्वैः प्रकोपणैः। क्रुद्धः क्षीराशयं प्राप्य रसं स्तन्यस्य दूषयेत्॥ विरसं वातसंसृष्टं कृशीभवति तत् पिबन्। न चास्य स्वदते क्षीरं कृच्छ्रेण च विवर्धते॥ तथैव वायुकुपितः स्तन्यमन्तर्विलोडयन्। करोति फेनसङ्घातं तत्तु कृच्छ्रात्प्रवर्तते॥ तेन क्षामस्वरो बालो बद्धविण्मूत्रमारुतः। वातिकं शीर्षरोगं वा पीनसं वाधिगच्छति॥ पूर्ववत्कुपितः स्तन्ये स्नेहं शोषयतेऽनिलः। रूक्षं तत्पिबतो रौक्ष्याद् बलह्रासश्च जायते॥" ये वात के "वैरस्यं फेनसङ्घातं रौक्ष्यं चेत्यनिलात्मके" से प्रतिपादित विरसता, फेनसंघात और रूक्षता के अनुसार वातसंसृष्ट दुग्ध से होने वाले रोग हैं। अब "पित्ताद्वैवर्ण्यदौर्गन्ध्ये" से प्रतिपादित विवर्णता और दुर्गन्धता के अनुसार पित्तसंसृष्ट दुग्ध से होने वाले रोगों का निर्देश किया जाता है। तद्यथा—"पित्तमुष्णादिभिः क्रुद्धं स्तन्याशयमभिप्लुतम्। करोति स्तन्यं नीलपीतसितादिकम्॥ विवर्णगात्रः स्विन्नः स्यात् तृष्णालुर्भिन्नविट् शिशुः। नि-

शरीरश्च नाभिनन्दति ततस्तनम् । पूर्ववत्कुपिते पित्ते दौर्गन्ध्यं क्षीरमृच्छति । पाण्डुामयस्तत्पिबतः कामला च भवेच्छिशोः ॥" अव "स्नेहपैच्छिल्यगौरवं कफाद्भवति" के अनुसार श्लैष्मिक रोगों का वर्णन किया जाता है कि—"क्रुद्धो गुर्वादिभिः श्लेष्मा क्षीराशयगतः स्त्रियः । स्नेहान्वितत्वात्तत्क्षीरमतिस्निग्धं करोति तु ॥ छर्दनः कुन्थनस्तेन लालालुर्जायते शिशुः । नित्योपदिग्धैः स्रोतोभिर्निद्राक्लमसमन्वितः ॥ अभिभूय कफः स्तन्यं पिच्छिलं कुरुते यदा । लालालुः शूनवक्त्राक्षिर्जडः स्यात्तु पिवन् शिशुः ॥ कफः क्षीराशयगतो गुरुत्वात्क्षीरगौरवम् । अतिस्नेहान्वितं पीत्वा वालो हृद्रोगमृच्छति ॥ अन्यांश्च विविधान् रोगान् कुर्यात्क्षीरसमाश्रितान् ॥" सान्निपातिक लक्षण का निर्देश—"क्षीरे वातादिभिर्दुष्टे सम्भवन्ति तदात्मकाः" (च. चि. स्था. अ. ३०) । इसमें अनिर्दिष्ट द्वन्द्वज लिङ्ग भी जान लेने चाहिएं, क्योंकि समानतन्त्रों में मिलते हैं । जैसे प्रकृत में कहा भी है कि—"द्विलिङ्गं द्वन्द्वजं विद्यात्" । सुश्रुत ने भी अपनी संहिता में वातादि दुष्ट दुग्ध के लक्षण इस प्रकार वताए हैं कि—"तत्कषायं भवेद्वातात् क्षिप्तञ्च प्लवतेऽम्भसि । पित्तादम्लं सकटुकं राज्योऽम्भसि च पीतिका ॥ कफाद्धनं पिच्छिलं च जले चाप्यवसीदति । सर्वैर्दुष्टैः सर्वलिङ्गमभिघाताच्च दुष्यति"–(सु. नि. स्था. अ. १०) ।

मधु०—स्तन्यदुष्टिलक्षणमाह—कषायमित्यादि । सलिलप्लावीति सलिले यदुत्प्लवते लाघवात् तत् सलिलप्लावि । एतदुपलक्षणं, तेन तनुत्वाद्यपि वोद्धव्यम् । कट्वम्ललवणमिति कटु तिक्तं, तिक्तेऽपि कटुशब्दप्रवृत्तेरिति वदन्ति । पीतराजीमदिति पीतरेखायुक्तं, तत्रापि नीललोहिताश्च राज्यो ज्ञेयाः । निमज्जति पित्तदुष्टसंज्ञितम् । संज्ञितमित्यत्र संयुतमिति पाठान्तरम् । तोये निमज्जति गुरुत्वात् । अतिमाधुर्याद्यपि वोध्यम् । प्रसन्नस्य तु साधारणं मधुरपाण्डुत्वम् । अभिघातेनापि स्तन्यं दुष्टं संभवत्येव, किंतु तस्य वातिकस्तन्यलक्षणैरेव संग्रहणं कर्तव्यम् । स्तन्यस्वरूपं च सुश्रुतेनोक्तम् । तद्यथा—"रसप्रसादो मधुरः पक्काहारनिमित्तजः । कृत्स्नदेहात् स्तनौ प्राप्तः स्तन्यमित्यभिधीयते ॥" (सु. नि. स्था. अ. १०) इति ॥२–३॥

सलिलप्लावि—लाघव के कारण जल में तैरने वाला । अभिघातेनापि—अभिघात से भी स्तन्य दुष्ट होता है किन्तु उसका वातिकस्तन्य लक्षणों में संग्रह करना चाहिए । स्तन्य का स्वरूप सुश्रुत में कहा है कि—'अच्छी तरह से परिपाचित हुआ आहार जिसका कारण है, ऐसे रस से उत्पन्न हुआ उस रस का प्रसन्न और मधुर भाग समग्र शरीर से स्तनों में आने पर स्तन्य कहलाता है' ।

शुद्धस्तन्यस्य स्वरूपमवतारयति—

अदुष्टं चाम्बुनिक्षिप्तमेकीभवति पाण्डुरम् ।
मधुरं चाविवर्णं च प्रसन्नं तत् प्रशस्यते ॥८॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने स्तन्यदुष्टिनिदानं समाप्तम् ॥६७॥

जो दूध वातादिकों से अदूषित एवं पानी में डालने से उसके (पानी के) साथ एकरूप हो जाता है तथा जो सुफेद है, मधुर है एवं जिसके वर्ण में फर्क नहीं आया, वह निर्दोष समझना चाहिए ।

वक्तव्य—इसी विषय पर वाग्भट ने भी कहा है कि—"यदद्भिरेकतां याति नच दोषैरधिष्ठितम् । तद्विशुद्धं पयः" (वा. उ. स्था. अ. २) । सुश्रुत ने भी कहा है कि—'अदुष्टञ्चाम्बुनिक्षिप्तं' (सु. नि. स्था. अ. १०) इत्यादि; तथा—"तच्चेच्छीतलममलं तनु शङ्खावभासमप्सु न्यस्तमेकीभावं गच्छत्यफेनिलमतन्तुमन्नोत्प्लवतेऽवसीदति वा तच्छुद्धम्" (सु. शा. स्था. अ. १०) ।

मधु०—अविकृतस्तन्यमाह—अदुष्टमित्यादि । अम्बुनिक्षिप्तमेकीभवति सर्वात्मना जलेन सहैकीभवतीति बोध्यं, वातादिदुष्टस्याप्येकदेशेनैकीभावोपलम्भात् । अविवर्णमिति अविद्यमानवातादिदुष्टवर्णम् । एतत् समदोषप्रकृतिक्षीरस्य प्रसन्नस्य लक्षणम् । अन्ये त्वविवर्णमित्यत्र नञ् ईषदर्थे, तेन यद्वातादिप्रकृतिवर्णानुविद्धमपि पाण्डुरमल्पदुष्टत्वात्तद्गृह्णन्ति । केचित् पाण्डुरस्थाने 'सर्वशः' इति पठन्ति, तदा सर्वात्मना जलेन सहैकीभवतीति व्यक्तोऽर्थः । अत्र पक्षे अविवर्णमित्यनेनैवादुष्टशुक्लवर्णता ज्ञेया । प्रसन्नं प्रकृतिस्थम् ॥४॥

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायां स्तन्यदुष्टिनिदानं समाप्तम् ॥६७॥

अविवर्णमिति—जिसमें वातादिकों के दुष्ट वर्ण न हीं हैं, उसे अविवर्ण कहा जाता है । दूसरे आचार्य 'अविवर्ण' में नञ् ईषत् अर्थक मानते हैं, एवं वातादि प्रकृत वर्णयुक्त भी अल्प दुष्ट होने से पाण्डुर का ग्रहण करते हैं । कई पाण्डुर के स्थान में 'सर्वशः' यह पाठान्तर मानते हैं । तब यह अर्थ लेना चाहिए कि वह सारे का सारा जल के साथ मिल जाता है । इस पक्ष में 'अविवर्ण' से ही अदुष्ट शुक्लवर्णता जाननी चाहिए ।

अथ बालरोगनिदानम् ।

वातदूषितस्तन्यपानजनितबालरोगस्य लक्षणमाह—

वातदुष्टं शिशुः स्तन्यं पिबन् वातगदातुरः ।
क्षामस्वरः कृशाङ्गः स्याद्बद्धविण्मूत्रमारुतः ॥१॥

बालक; माता के वायु से दुष्ट दुग्ध को पीता हुआ वातिक रोगों से आतुर हो जाता है; और क्षाम (थकावट के कारण मन्द हुए हुए स्वर के से) स्वर वाला, दुर्बलाङ्ग तथा मलावरोध, मूत्रावरोध एवं अपानवातावरोध वाला होता है ।

वक्तव्य— पीछे स्तन्यदुष्टि निदान में कहा है कि—'गुरुभिर्विविधैरन्नैर्दुष्टैर्दोषैः प्रदूषितम् । क्षीरं मातुः कुमारस्य नानारोगाय कल्पते' । एवं उन्हीं नाना रोगों का अब अवसर आया है; क्योंकि यह बालरोगनिदान का प्रकरण है । इसलिए इसमें बालकों के रोगों का निर्देश अनिवार्य होने से सब से पूर्व पहले कथित वातादि दुष्टस्तन्यजन्य रोगों का निदान ही 'वातदुष्टम्' इत्यादि से किया जाता है । चरक ने तो दुष्टस्तन्यजन्य बालरोगों को प्रकरणानुसार स्तन्यदोषों के साथ ही निर्दिष्ट कर दिया है, जिनका कि वर्णन रूक्षाग्नेरित्यादि से मैंने स्तन्यरोगनिदान के वक्तव्यों में दे दिया है ।

पित्तदूषितस्तन्यपानजनितबालरोगस्य लक्षणमाह—

स्विन्नो भिन्नमलो बालः कामलापित्तरोगवान् ।
तृष्णालुरुष्णसर्वाङ्गः पित्तदुष्टं पयः पिबन् ॥२॥

पित्त दोष से दुष्ट दूध को पीता हुआ बालक स्विन्न (पसीने से भीगा हुआ), विड्भेद वाला, कामलान्वित, पित्तरोग युक्त, पिपासित एवं उष्ण अङ्गों वाला होता है ।

वक्तव्य—भाव यह है कि जो बालक माता वा धाय के पित्तदुष्ट दुग्ध को पीता है, उसे पसीना अधिक आता है, टट्टी पतली आती है, कामला हो जाती है, पित्तरोग हो जाते हैं, प्यास अधिक वा सर्वदा रहती है और सारे शरीर में ऊष्मा रहती है ।

बलासदूषितस्तन्यपानजनितबालरोगस्य लक्षणमाह—

कफदुष्टं पिबन् क्षीरं लालालुः श्लेष्मरोगवान् ।
निद्रान्वितो जडः शूनवक्त्राक्षश्छर्दनः शिशुः ॥३॥

कफदोष से दुष्ट दूध को पीता हुआ बालक लालास्रावी, श्लेष्म रोगों वाला, निद्रायुक्त, अपविद्धाङ्ग (मूढ), शूनमुख, शूननेत्र और दुग्धोद्वामी होता है ।

द्वन्द्वादिदोषदुष्टस्तन्यपानोत्थबालरोगस्य लक्षणमाह—

द्वन्द्वजे द्वन्द्वजं रूपं सर्वजे सर्वलक्षणम् ।

दो दो दोषों से दुष्ट दूध के पीने से बालक दो दो दोषों के लक्षणों वाला होता है; और तीनों दोषों से दुष्ट दूध के पीने से बालक तीनों दोषों के लक्षणों वाला होता है ।

मधु०—बालरोगाणां दुष्टस्तन्येन संभवात्तदनन्तरं तानाह—वातदुष्टमित्यादि । वातगदातुर इति वक्ष्यमाणक्षामस्वरादियुक्तः । तृष्णालुरिति तृष्णावान् । लालालुरिति लालास्रावयुक्तः । छर्दन इति स्तन्यवान्तिकरः ॥१-३॥

बालरोगाणां इत्यादि की भाषा सुगम है ।

स्तनन्धयस्य वक्तुमक्षमतया तदन्तर्गतवेदनाज्ञानोपायान् निरूपयति—

शिशोस्तीव्रामतीव्रां च रोदनाल्लक्षयेद्रुजम् ॥४॥ [वा० ६।२]
स यं स्पृशेद् भृशं देशं यत्र च स्पर्शनाक्षमः ।
तत्र विद्याद्रुजं, मूर्ध्नि रुजं चाक्षिनिमीलनात् ॥५॥ [वा० ६।२]
कोष्ठे विबन्धवमथुस्तनदंशान्त्रकूजनैः ।
आध्मानपृष्ठनमनजठरोन्नमनैरपि ॥६॥ [वा० ६।२]
बस्तौ गुह्ये च विण्मूत्रसंगत्रासदिगीक्षणैः ।
स्रोतांस्यङ्गानि सन्धींश्च पश्येद्यत्नान्मुहुर्मुहुः ॥७॥ [वा० ६।२]

बालक में होने वाली तीव्र वा अतीव्र (मन्द) पीड़ा को उसके रोने से जानना चाहिए । वह बालक जिस प्रदेश का बार बार स्पर्श करता है तथा

बालक का जो प्रदेश स्पर्शासह होता है, वहां पीड़ा जाननी चाहिए। यदि बालक आंखें बन्द रखता है, तो समझना चाहिए कि उसे सिर में पीड़ा है। यदि बालक को मल नहीं आता, वमन आता है, माता के स्तनों को काटता है, उसके अन्त्र कूजते हैं, उसे अफारा प्रतीत होता है, उसकी पीठ निम्न होती है और उसका पेट उठा होता है तो उस बालक को कोष्ठ में पीड़ा जाननी चाहिए। यदि बालक को मल मूत्र नहीं आता और वह भयविह्वल नेत्रों से चारों ओर देखता है; वा डरता है तथा चारों ओर देखता है तो उसे वस्ति (मूत्राशय, मसाने) में और गुह्यभाग में पीड़ा जाननी चाहिए। इसलिए वैद्य को चाहिए कि वह बालक के स्रोतों को, अङ्गों को और सन्धियों को यत्नपूर्वक बार बार देखे।

वक्तव्य—शिशोरित्यादि श्लोकार्ध का भाव यह है कि बालक के थोड़े वा अधिक रोने से उसमें थोड़ी वा अधिक पीड़ा जाननी चाहिए। स्पर्शनाक्षमः—इसका भाव यह है कि बालक जिस अङ्ग के स्पर्श करने पर चिल्ला उठे, उसे उसमें पीड़ा जाननी चाहिए। आतङ्कदर्पणकार 'तत्र विद्याद्रुजं,मूर्ध्नि रुजं चाक्षिनिमीलनात्' के बाद तथा 'कोष्ठे विबन्ध' इत्यादि के पूर्व 'हृदि जिह्वोष्ठदशनश्वासमुष्टिनिपीडितैः' (वा. उ. स्था. अ. २) इस पाठ को मानता है।

मधु०—शिशोर्वक्तुमक्षमस्यान्तर्गतवेदनाज्ञानोपायमाह—शिशोरित्यादि । तीव्रां रुजं बहुरोदनात्, अतीव्रामल्परोदनाल्लक्षयेत् ॥४-७॥

शिशोर्वक्तुमक्षमस्येत्यादि की भाषा सरल है।

कुकूणकस्य निदानपूर्वकं लक्षणमाह—

कुकूणकः क्षीरदोषाच्छिशूनामेव वर्त्मनि ।
जायते तेन तन्नेत्रं कण्डूरं च स्रवेन्मुहुः ॥८॥
शिशुः कुर्याल्ललाटाक्षिकूटनासावघर्षणम् ।
शक्तो नार्कप्रभां द्रष्टुं न वर्त्मोन्मीलनक्षमः ॥९॥

क्षीर के दोष से कुकूणक नाम वाला रोग बच्चों के वर्त्म में ही होता है; और इस रोग के कारण उसका नेत्र खुजलीयुक्त एवं बार २ नेत्रमलस्रावी हो जाता है। इसमें बालक ललाट (मस्तक), नेत्रकूट (आंखों के कोए) और नासा को मसलता रहता है। एवं वह इस रोग के कारण सूर्य की प्रभा (धूप वा प्रकाश) को नहीं देख सकता और न वह वर्त्मों को खोल सकता है।

वक्तव्य—भाव यह है कि बालकों के वर्त्म में एक कुकूणक नाम वाला रोग होता है, जिसकी उत्पत्ति क्षीरदुष्टि से होती है। इसमें बालक का नेत्र खुजली वाला एवं मलस्रावी होता है; तथा वह बालक कोओं और नासिका को मसलता रहता है। उसकी आंखें सूर्य के प्रकाश को नहीं देख सकतीं और न ही उसके पलक खुलते हैं। 'शिशूनामेव' में स्थित 'एव' शब्द से यह सिद्ध होता है कि यह रोग बालकों में ही होता है, युवा और वृद्धों में नहीं होता; क्योंकि

एक तो यह 'एव' शब्द अन्ययोगव्यवच्छेदक है, दूसरा इसका निदान दुष्टस्तन्य है, जिसका कि सेवन बच्चे ही कर सकते हैं, वे भी, वे बच्चे जो कि "त्रिविधः कथितो बालः क्षीरान्नोभयवर्तनः" (वा. उ. स्था. अ. २) के अनुसार कथितों में से क्षीरप और क्षीरान्नाद होते हैं। इसके विषय में वाग्भट ने भी कहा है कि—"कुकूणकः शिशोरेव दन्तोत्पत्तिनिमित्तजः" (वाग्भटः)। इसी बात को सुश्रुत ने भी स्वीकार किया है कि—"बालाक्षिवर्त्मभव एव कुकूणकोऽन्यः" (सु. उ. तं. अ. १६)। आचार्य माधव ने इसका 'कुकूणकः' इत्यादि दो श्लोकों में संक्षिप्त वर्णन किया है, किन्तु सुश्रुत ने इसे स्तन्यप्रकोपज मानते हुए भी वात, पित्त, कफ और रक्त के भेद से चार प्रकार का मानकर इसका लक्षण लिखा है। तद्यथा—"स्तन्यप्रकोपकफमारुतपित्तरक्तैर्बालाक्षिवर्त्मभव एव कुकूणकोऽन्यः। मृद्गाति नेत्रमतिकण्डुमथाक्षिकूटं नासाललाटमपि तेन शिशुः स नित्यम्॥ सूर्यप्रभां न सहते स्रवति प्रवृद्धम्" (सु. उ. तं. अ. १६)।

मधु०—बालानामेव दुष्टस्तन्यपानाद्वर्त्मरोगमाह—कुकूणक इत्यादि। कुकूणकः 'कोथ' इति ख्यातः। स्रवेन्मुहुरिति पिच्चिटस्रुतियुक्तं भवतीत्यर्थः। न वर्त्मोन्मीलनक्षम इति न वर्त्मचालनपटुः॥८-९॥

बालानामेव इत्यादि सरल है।

पारिगर्भिकरोगस्य स्वरूपमाह—

मातुः कुमारो गर्भिण्याः स्तन्यं प्रायः पिबन्नपि।
कासाग्निसादवमथुतन्द्राकार्श्यारुचिभ्रमैः ॥१०॥
युज्यते कोष्ठवृद्ध्या च तमाहुः पारिगर्भिकम्।
रोगं परिभवाख्यं च युञ्ज्यात्तत्राग्निदीपनम्॥११॥

प्रायः गर्भिणी माता का दूध पीता हुआ बालक कास, अग्निमान्द्य, वमन, निद्रार्त की सी चेष्टा, कृशता, अरुचि, भ्रम और कोष्ठवृद्धि (पेट का बढ़ना) से युक्त हो जाता है। इसे आयुर्वेदविद्याविशारद वैद्य पारिगर्भिक रोग कहते हैं और इसका दूसरा नाम परिभव है। इसमें अग्निदीपन पदार्थ औषध रूप में देने चाहिएं।

मधु०—पारिगर्भिकमाह—मातुरित्यादि। पिबन्नपीति अपिशब्दादपिबन्नपि। तमाहुः पारिगर्भिकमिति पारिगर्भिकोऽहिण्डीति ख्यातः; तस्यैव परिभवाख्य इति नामान्तरं, बालं परिभवतीति परिभवः, स एव आख्या यस्य तम्। उपशयेनापि तज्ज्ञानमाह—युञ्ज्यादित्यादि॥ ॥१०-११॥

पिबन्नपीति—'अपि' शब्द से यहां 'न पीता हुआ भी' यह अर्थ लेना चाहिए। तमाहुः पारिगर्भिकम्—पारिगर्भिक रोग अहिण्डी नाम से प्रसिद्ध है। उसी का परिभव नामक दूसरा नाम है। बालक को जो परिभूत करता है, उसे परिभव कहा जाता है, वही है आख्या नाम जिसका उसे परिभव कहते हैं। इसका उपशय द्वारा ज्ञान कहते हैं कि—युञ्ज्यादित्यादि।

तालुकण्टकस्य लक्षणमाह—

तालुमांसे कफः क्रुद्धः कुरुते तालुकण्टकम्।
तेन तालुप्रदेशस्य निम्नता मूर्ध्नि जायते॥१२॥ [वा० ६।२]
तालुपातः स्तनद्वेषः कृच्छ्रात् पानं शकृद्द्रवम्।
तृडक्षिकण्ठास्यरुजा ग्रीवादुर्धरता वमिः॥१३॥ [वा० ६।२]

बालक के तालुमांस में क्रुद्ध हुआ २ कफ तालुकण्टक नामक रोग को कर देता है, जिससे कि सिर में तालु प्रदेश नीचे को दब सा जाता है। इसमें तालु का पात (तालु का नीचे की ओर खिसक जाना), स्तन में द्वेष (स्तन न पीना), कठिनता से स्तन्य (दुग्ध) का पीना, मल का पतला आना, प्यास लगनी, नेत्रों में पीड़ा होनी, गले में व्यथा होनी, मुख में रुजा होनी, ग्रीवा का न उठना और दूध के वमन का आना ये लक्षण होते हैं।

वक्तव्य—कई आचार्य इन दो श्लोकों में दो रोगों का वर्णन मानते हैं, जिनमें से एक तालुकण्टक और दूसरा तालुपात। वाचस्पति मिश्र ने भी इन्हें पृथक् पृथक् ही माना है। अतएव वे लिखते हैं कि—"कण्टकाकारत्वेन तालुकण्टकः, निम्नता गर्ताकारता। तालुपातमाह—तालुपात इत्यादि। तालुपाताख्यो रोगः, तालुनः पतनं स्रंसो यत्र रोगे स तथा" (आ. द.)। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि इन्होंने पृथक् पृथक् दो रोग माने हैं। दूसरे आचार्य इन दोनों श्लोकों में अकेले तालुकण्टक का वर्णन मानते हैं। श्रीकण्ठ भी इन्हीं का अनुयायी है और वस्तुतः है भी ठीक, अन्यथा इनके लक्षण, दोष और स्थान आदि समान होने से भेद ज्ञान नहीं हो सकता। अतः यही मानना पड़ता है कि यह एक ही रोग है और तालुपात स्तनद्वेष आदि पद उसके लक्षणबोधक पद हैं।

मधु०—तालुकण्टकमाह—तालुमांस इत्यादि। अस्यैव लक्षणं तालुपात इत्यादि। तालुपात इत्यभ्यन्तरे तालुनोऽधःपातः। कृच्छ्रात् पानमित्यत्र 'स्तन्यस्य' इति शेषः। शकृद्द्रवं भिन्नपुरीषता। ग्रीवादुर्धरता ग्रीवाया दुःखेन धारणम्। वमिः स्तन्यस्य वान्तिः॥१२–१३॥

तालुकण्टकमाह इत्यादि की भाषा सुगम है।

महापद्मसंज्ञकस्य विसर्पस्य लक्षणमाह—

विसर्पस्तु शिशोः प्राणनाशनो वस्तिशीर्षजः।
पद्मवर्णो महापद्मनामा दोषत्रयोद्भवः॥१४॥
शङ्खाभ्यां हृदयं याति हृदयाद्वा गुदं व्रजेत्।

बच्चे की वस्ति (मूत्राशय) और सिर में होने वाला विसर्प इसके प्राणों को नष्ट करने वाला होता है। इसका वर्ण पद्म के समान, नाम महापद्म और जन्म तीनों दोषों से होता है। यह रोग शङ्खों से हृदय की ओर जाता है (यह शीर्षज है) और हृदय से गुदा की ओर जाता है (यह वस्तिज है)।

वक्तव्य—महापद्म नामक स्थानभेद से दो प्रकार का होता है—एक बस्तिज और दूसरा शीर्षज। यह दोनों प्रकार का रोग एक प्रकार का विसर्प है। इससे बालक मर जाता है। इसका वर्ण पद्म के समान और इसकी उत्पत्ति तीनों दोषों से होती है। इनमें से शीर्षज महापद्माख्य रोग शङ्खप्रदेशों से आरम्भ होकर हृदय की ओर जाता है; और बस्तिज महापद्माख्य रोग हृदय से आरम्भ होकर गुदा की ओर जाता है। इसमें और विसर्प में केवल भेद यही है कि यह बालकों में ही होता है तथा शङ्ख से हृदय तक और हृदय से गुदा तक जाता है। यह मर्मज (हृदय, शिर और बस्ति जनित) होने के कारण अवश्यमारक है, तथा इसका वर्ण पद्म के समान होता है, किन्तु विसर्प सब में होता है। उसके लिए स्थान का विशेष नियम नहीं है और वह अवश्यमारक तथा नियतवर्ण वाला नहीं होता।

मधु०—महापद्मनामानं विसर्पमाह—विसर्पस्त्वित्यादि। बस्तिशीर्षज इति बस्तिजः शीर्षजश्च, शीर्षं शिरः। पद्मवर्ण इति लोहितपद्मवर्णः। शङ्खाभ्यां हृदयं यातीति शीर्षजः। पद्मपत्र-तुल्यवर्णतां मुखतालुनि वहिर्देशे वेति वदन्ति। हृदयाद्गुदं यातीति बस्तिजः, ऊर्ध्वं हृदयं गत्वा गुदं यातीत्यर्थः। अत्र पद्मसवर्णता वस्तिदेशे गुदे च। वाशब्दश्चात्र व्यवस्थितविकल्पवचनः॥१४॥

महापद्मनामानं विसर्पमाह—इत्यादि की भाषा सुगम है।

क्षुद्ररोगोक्तौ बालरोगौ स्मारयति—

क्षुद्ररोगे च कथिते त्वजगल्ल्यहिपूतने ॥१५॥

बालकों में होने वाला अजगल्लिका तथा अहिपूतना नामक रोग क्षुद्र रोग में कहा जा चुका है।

वक्तव्य—क्षुद्ररोग होने से इनका क्षुद्ररोग में वर्णन तथा बालरोग होने से इनका बालरोग में भी वर्णन किया है। (शंका—) जब क्षुद्ररोग में भी बालकों के ही रोग प्रतिपादित हैं, जैसा कि 'क्षुद्राणां बालानां, ये रोगास्तेषां निदानमिति क्षुद्ररोगनिदानम्' से सिद्ध होता है तो यहां बालरोगों के पृथक् कहने की क्या आवश्यकता थी? इसका उत्तर यह है कि यहां 'क्षुद्ररोग-निदानम्' की व्युत्पत्ति दूसरी ही है। साथ ही क्षुद्ररोगों में केवल बालकों के ही रोग नहीं हैं, दूसरे भी हैं। जैसे अग्निरोहिणी बालकों में भी होती है और बड़ों में भी एवं अजगल्लिका भी दोनों में होती है। जैसे श्रीकण्ठ ने कहा भी है कि—"बालानां प्रायोभावित्वादुक्तं, तेनाबालानामपि दृश्यमाना संगच्छते" (मधुकोषव्याख्या, क्षु. रो. नि.)। साथ ही यदि बालरोगनिदान में पठित रोग भी उसमें लिए जाते तो आचार्यों का प्रतिपादित क्रम टूटता था। अतः ये पृथक् पृथक् वर्णित किए हैं। अजगल्लिका का लक्षण सुश्रुत तथा माधव ने यह प्रतिपादित किया है कि—"स्निग्धा सवर्णा ग्रथिता नीरुजा मुद्गसन्निभा। कफ-वातोत्थिता ज्ञेया बालानामजगल्लिका"-(सु. नि. स्था. अ. १३)। यह रोग

जब बालकों में ही होगा तो बालरोग में तथा क्षुद्ररोग में और जब बड़ों में होगा तो केवल क्षुद्ररोगों में आवेगा। इसका लक्षण वाग्भट ने यह लिखा है कि—"स्निग्धा सवर्णा ग्रथिता नीरुजा मुद्गसम्मिता। पिटिका कफवाताभ्यां बालानामजगल्लिका" (वा. उ. स्था. अ. ३१)। अहिपूतना का लक्षण—"शकृन्मूत्रसमायुक्तेऽधौतेऽपाने शिशोर्भवेत्। स्विन्नस्यास्नाप्यमानस्य कण्डूरक्तकफोद्भवा ॥ कण्डूयनात्ततः क्षिप्रं स्फोटाः स्रावश्च जायते। एकीभूतं व्रणैर्घोरं तं विद्यादहिपूतनम्"-(सु. नि. स्था. अ. १३ तथा मा. नि. क्षु. रो. नि.)। मातृकादोष, पूतन, प्रष्ठारु, गुदकुन्द और अनामिक ये नाम भी इसके हैं। जैसे वाग्भट ने कहा भी है कि—"केचित्तं मातृकादोषं वदन्त्यन्येऽपि पूतनम्। प्रष्ठारुर्गुदकुन्दञ्च केचिच्च तमनामिकम्" (अष्टाङ्गसंग्रह वा वाग्भट उ. स्था. अ. २)। यह रोग बड़ों में भी, विशेषतः उन जातियों में जिनमें कि पुरुष गुदा को भली प्रकार शुद्ध नहीं रखते, बहुतायत से हो जाता है। विशेषतः इसकी उत्पत्ति मल, मूत्र और स्वेद से सर्वदा गन्दे तथा गीले रहने वाले एवं गुदा की स्वच्छता ठीक न रखने वाले मनुष्यों में होता है। इनके अतिरिक्त बालकों में यह दुष्टस्तन्यपान से भी हो जाता है। जैसे भोज ने कहा भी है कि—"दुष्टस्तन्यस्य पानेन मलस्याक्षालनेन च ॥" कुछ भी हो, बालकों में होने वाले इस रोग का ग्रहण उभयत्र तथा अबालकों में होने वाले का ग्रहण क्षुद्ररोगों में ही होता है। किन्तु वाग्भट ने इसे बालरोग ही माना है। अतएव उसने इसका वर्णन 'केचित्तं मातृकादोषं' इत्यादि से उत्तर स्थान अध्याय दो में किया है।

मधु०—अन्यौ द्वौ विकारौ बालानां भवतस्तावाह—क्षुद्रेत्यादि। स्निग्धा सवर्णेत्यादिनाऽजगल्लिका, कण्डूयनादित्यादिनाऽहिपूतना ॥१५॥

अन्यौ द्वौ विकारौ—इत्यादि की भाषा सुगम है।

अन्येषामपि बालरोगाणामतिदेशेन लक्षणान्याह—

ज्वराद्या व्याधयः सर्वे महतां ये पुरेरिताः।
बालदेहेऽपि ते तद्वद्विज्ञेयाः कुशलैः सदा ॥१६॥

कुशल वैद्यों को चाहिए कि ज्वरादि सभी व्याधियां, जो कि बड़े मनुष्यों में पूर्वप्रतिपादित की गई हैं, बालकों के शरीर में भी जान लें।

मधु०—अन्येऽपि विकारा बालानां संभवन्तीत्यतिदेशेन लक्षणमाह—ज्वराद्या इत्यादि। पुरेरिता इति पूर्वोक्ताः। ते तद्वदिति ते ज्वरादयस्तत्सदृशा ज्ञेयाः। कुशलैरिति विज्ञैः ॥१६॥

अन्येऽपि—इत्यादि की भाषा सुगम है।

ग्रहजुष्टानां शिशूनां सामान्यलक्षणमाह—

क्षणादुद्विजते बालः क्षणात् त्रस्यति रोदिति।
नखैर्दन्तैर्दारयति धात्रीमात्मानमेव च ॥१७॥
ऊर्ध्वं निरीक्षते दन्तान् खादेत् कूजति जृम्भते।

भ्रुवौ क्षिपति दन्तौष्ठं फेनं वमति चासकृत् ॥१८॥
क्षामोऽति निशि जागर्ति शूनाक्षो भिन्नविट्स्वरः ।
मांसशोणितगन्धिश्च न चाश्नाति यथा पुरा ॥१९॥
सामान्यं ग्रहजुष्टानां लक्षणं समुदाहृतम् ।

क्षण में बालक उद्विग्न हो जाता है, क्षण में डरने लगता है और क्षण में ही रोने लगता है। नखों वा दांतों से बालक धाय को वा अपने आपको विदीर्ण करता है, ऊपर की ओर देखता है, दांतों को चबाता है, कूजन करता है, जम्भाइयां लेता है, वार २ भ्रुवट्टों को फैंकता है, वार २ दांतों से होठों को काटता है और वार वार मुख से झाग छोड़ता है। बालक कमजोर हो जाता है, रात को जागता रहता है, उसकी आंखों में सूजन आ जाती है, आवाज़ में खरावी आ जाती है और मल में द्रवता आ जाती है। उसके शरीर में से मांस और रक्त की गन्ध आने लगती है और वह पहले की तरह खाता भी नहीं है। ये सब ग्रहजुष्ट बालकों के सामान्य लक्षण हैं।

वक्तव्य—आर्षग्रन्थ यह वताते हैं कि कुछ ग्रह ऐसे हैं, जो कि वालक को हिंसा के लिए, अरति के लिए वा पूजा के लिए ग्रहण करते हैं। जैसे सुश्रुत ने कहा भी है कि–"धात्रीमात्रोः प्राक्प्रदिष्टापचाराच्छौचभ्रष्टान्मङ्गलाचारहीनान् । त्रस्तान् हृष्टांस्तर्जितान् ताडितान् वा पूजाहेतोर्हिंस्युरेते कुमारान्"–(सु. उ. तं अ. २७)। किञ्च, वाग्भट ने भी कहा है कि—"हिंसाऽरत्यर्चनाकाङ्क्षा ग्रहग्रहणकारणम्"–(वा. उ. स्था. अ. ३)। इनका प्रादुर्भाव भगवान् शङ्कर ने गुह (कार्तिकेय—'पार्वतीनन्दनः स्कन्दः सेनानीरग्निभूर्गुहः' इत्यमरः) की रक्षा के लिए किया था। इनकी संख्या वारह है, जिनमें से स्कन्द, २ विशाख ('वाहुलेयस्तारकजिद्विशाखः शिखिवाहनः' इत्यमरः, के अनुसार स्कन्दापस्मार), ३ मेषा (मेया)ख्य (नैगमेय वा नैगमेष), ४ श्वग्रह और पितृग्रह ये पाँच पुरुष शरीर वाले; तथा १ शकुनि, २ पूतना, ३ शीतपूतना, ४ दृष्टि (अन्ध) पूतना, ५ मुखमण्डलिका (मुखमण्डिका), ६ रेवती और ७ शुष्करेवती ये सात स्त्री शरीर वाले होते हैं। जैसे कहा भी है कि—"पुरा गुहस्य रक्षार्थं निर्मिताः शूलपाणिना । मनुष्यविग्रहाः पञ्च सप्त स्त्रीविग्रहाः ग्रहाः । स्कन्दो विशाखो मेषाख्यः श्वग्रहः पितृसंज्ञितः । शकुनिः पूतना शीतपूतना दृष्टिपूतना ॥ मुखमण्डलिका तद्वद्रेवती शुष्करेवती ॥" (वा. उ. स्था. अ. ३)। काश्यपादिकों ने भी ये ही वालग्रह स्वीकार किये हैं, किन्तु आचार्य सुश्रुत ने नवग्रहाकृतिविज्ञानीय अध्याय में तथा माधव ने प्रकृत में केवल नौ ही स्वीकार किए हैं; और सुश्रुत ने इनका निर्देश इस प्रकार किया है कि—"स्कन्दग्रहस्तु प्रथमः स्कन्दापस्मार एव च । शकुनी रेवती चैव पूतना चान्धपूतना ॥ पूतना शीतनामा च तथैव मुखमण्डिका । नवमो नैगमेषश्च यः पितृग्रहसंज्ञितः ॥" (सु. उ. तं. अ. २७)।

ये सब 'अणिमा महिमा चैव गरिमा लघिमा तथा। प्राप्तिः प्राकाम्यमीशित्वं वशित्वं चाष्टसिद्धयः ॥' (अमरः) इस आठ प्रकार के ऐश्वर्य ("विभूतिर्भूतिरैश्वर्यमणिमादिकमष्टधा"–नामलिङ्गानुशासनम्) वाले होने से मनुष्य शरीर में प्रविष्ट होते हुए पूर्वोक्तानुसार दर्पण में छाया और चन्द्रकान्त में सूर्यार्चि के समान (दर्पणादीन् यथा छाया शीतोष्णं प्राणिनोः यथा । स्वमणिं भास्करार्चिश्च यथा देहञ्च देहधृक् । विशन्ति च न दृश्यन्ते ग्रहास्तद्वच्छरीरिणम् ॥" (सु. उ. तं. अ. ६०); तथा "अदूषयन्तः पुरुषस्य देहं देवादयः (देवग्रहाः) स्वैश्च गुणप्रभावैः । विशन्त्यदृश्यास्तरसा यथैव छायातपौ दर्पणसूर्यकान्तौ ॥" (च. चि. स्था. अ. ६) इसके अनुसार) दीखते नहीं हैं, किन्तु उनका ज्ञान तथा लक्षणादि शब्द (आप्त) प्रमाण से जाना जाता है। इसी बात को सुश्रुत ने भी कहा है कि—"ऐश्वर्यस्थास्ते न शक्या विशन्तो देहं द्रष्टुं मानुषैर्विश्वरूपाः । आप्तं वाक्यं तत्समीक्ष्याभिधास्ये लिङ्गान्येषां यानि देहे भवन्ति ॥" (सु. उ. तं. अ. २७) । एवं इन बालग्रहजुष्ट बालक का निदान सुश्रुत ने 'धात्रीमात्रोः प्राक्प्रदिष्टापचारात्' से कहा है। इसका पूर्वरूप वाग्भट ने इस प्रकार दर्शाया है कि—"तेषां ग्रहीष्यतां रूपं प्रततं रोदनं ज्वरः" (वा. उ. स्था. अ. ३) । इसका सामान्य लक्षण आचार्य ने 'क्षणादुद्विजते' इत्यादि कहा है। इसका भाव यह है कि जो बालक कभी उद्विग्न होता है, कभी डरता है, कभी रोता है, धाय को वा अपने आपको नखों वा दांतों से काटता है, ऊपर की ओर देखता है, दाँतों को चबाता है, कुल्लाता है, जम्भाइयाँ लेता है, बार २ भ्रू टेढ़ी करता है, बार २ दांतों से ओष्ठों को चबाता है, बार २ झाग छोड़ता है, कृश होता जाता है, रात्रि को जागता रहता है, शूनाक्ष होता है, भिन्न स्वर होता है, भिन्नविट्क होता है, मांसगन्धि वा शोणितगन्धि होता है; और पहले की तरह खाता नहीं है, वह स्कन्दादि बालग्रहजुष्ट जानना चाहिए। ये स्कन्दादि बालग्रहजुष्ट के सामान्य लक्षण हैं। "भ्रुवौ क्षिपति दन्तौष्ठम्" अर्थात् (भ्रुवौ) भ्रुवों को (क्षिपति–चालयति) चलाता अर्थात् टेढ़ा करता है, और (दन्तैरोष्ठं खादति) दांतों से ओष्ठों को खाता है। यहां यही अर्थ ठीक है। यदि दांतों तथा ओष्ठों को खाता है, यह अर्थ करेंगे तो इसका पूर्वोक्त 'दन्तान् खादति' से पुनरुक्ति दोष आता है। अतः दांतों से ओठों को खाता है, यही अर्थ ठीक है। यहां 'दन्तैरोष्ठं खादति' के अनुसार समस्त पद कर 'ओत्वोष्ठयोः समासे वा' से वैकल्पिक वृद्धि कर 'दन्तौष्ठं (खादति)' यह पद बनता है। अथवा 'भ्रुवौ क्षिपति (चालयति) तथा–दन्तौष्ठं क्षिपति' अर्थात् भ्रुवों को टेढ़ा करता है और दांत तथा ओष्ठ को चलाता है। यहां एकवद्भाव करके 'ओत्वोष्ठयोः समासे वा' से वृद्धि कर 'दन्तौष्ठं' रूप बनता है। एवं पहले 'दन्तान् खादति' का दांतों को खाता है, यह तथा इसका 'दांत और ओठ को चलाता है' यह अर्थ करने से पुनरुक्तिदोष नहीं आता। ये ग्रहजुष्टों के सामान्य लक्षण हैं। इनके सामान्य

लक्षण आचार्य वाग्भट ने इस प्रकार दर्शाए हैं कि—"सामान्यं रूपमुत्त्रासजृम्भाभ्रूक्षेपदीनताः । फेनस्रावोर्ध्वदृष्ट्योष्ठदंतदंशप्रजागराः ॥ रोदनं कूजनं स्तन्यविद्वेषः स्वरवैकृतम् ॥ नखैरकस्मात्परितः स्वधात्र्यङ्गविलेखनम्" (वा. उ. स्था. अ. ३) ।

मधु०—प्रायेण शौचभ्रंशादिना स्कन्दग्रहादयो नव बालेष्वावेशं कुर्वन्त्यतस्तत्परिज्ञानाय सामान्यलक्षणमाह—क्षणादुद्विजते बाल इत्यादि । एते ग्रहाः पूजार्थं बालान् हिंसन्ति । यदुक्तं सुश्रुते—"धात्रीमात्रोः प्राक् प्रदिष्टापचाराच्छौचभ्रष्टान् मङ्गलाचारहीनान् । त्रस्तान् हृष्टांस्तर्जितान् क्रन्दितान् वा पूजाहेतोर्हिंस्युरेते कुमारान् ॥" (सु. उ. तं. अ. २७) इति । उद्विजत इत्युद्विग्नो भवति; उद्विग्नो विह्वलः, न तु बिभेतीत्यर्थः, त्रस्यतीत्यनेन पौनरुक्त्यप्रसंगात् । कूजत्यार्तनादं करोति । भ्रुवौ क्षिपतीति भ्रूभङ्गं रचयति । दन्तौष्ठमित्यत्र क्षिपतीति संबध्यते । क्षिपति खादति, धातूनामनेकार्थत्वात् । भिन्नविट्स्वर इति भिन्नविट् भिन्नशकृत्, भिन्नस्वरः स्वरभेदवान् । मांसशोणितगन्धिरिति विस्रगन्धि । न चाश्नाति यथा पुरेति पूर्ववन्न भक्षयतीत्यर्थः ॥१७–१९॥

प्रायः अपवित्रता आदि के कारण स्कन्दग्रह आदि नौ ग्रह बालकों में आवेश करते हैं । अतः उनके ज्ञानार्थ आचार्य माधव सामान्य लक्षण कहता है कि—क्षणादुद्विजते बाल इत्यादि । ये ग्रह पूजा के लिए बालकों को मारते (वा प्राप्त करते) हैं । जैसे सुश्रुत में कहा भी है कि—धाय और माता के पूर्वोक्त अपचार के कारण शुद्धिविहीन, मङ्गलाचरण रहित, डरे हुए (भीत), प्रसन्नचित्त, तर्जित (भर्त्सित) वा क्रन्दन करते हुए बालकों को ये पूजा के लिए मारते (वा प्राप्त करते) हैं' । उद्विजते—उद्विग्न होता है; उद्विग्न अर्थात् विह्वल होता है, न कि डरता है । अन्यथा 'त्रस्यति' से पौनरुक्त्यदोष आता है । कूजति—आर्तनाद करता है । भ्रुवौ क्षिपति—भ्रूभङ्ग करता है । दन्तौष्ठम्—में क्षिपति का सम्बन्ध होता है । क्षिपति—खाता है । यह अर्थ धातुओं के अनेकार्थक होने से होता है । भिन्नविट्स्वरः—अर्थात् भिन्नशकृत् तथा भिन्नस्वर अर्थात् स्वरभेदवाला । मांसशोणित गन्धि से यहां विस्रगन्धि अर्थ लिया जाता है । न चाश्नाति यथा पुरा—पहले की तरह नहीं खाता ।

स्कन्दगृहीतस्य शिशोः स्वरूपमाह—

एकनेत्रस्य गात्रस्य स्रावः स्पन्दनकम्पनम् ॥२०॥
ऊर्ध्वं दृष्ट्या निरीक्षेत वक्रास्यो रक्तगन्धिकः ।
दन्तान् खादति वित्रस्तः स्तन्यं नैवाभिनन्दति ॥२१॥
स्कन्दग्रहगृहीतानां रोदनं चाल्पमेव च ।

किसी एक नेत्र का स्रवित होना, शरीर से पसीना बहना, स्पन्दन वा कम्पन होना (ये लक्षण स्कन्दगृहीत में होते हैं, एवं इस प्रकार का ग्रस्त), टेढ़े मुख वाला, रक्तगन्धि (बालक) नेत्रों से ऊपर की ओर देखता है, दांतों को खाता है और भीत हुआ २ दूध नहीं पीता । यह स्कन्दग्रहगृहीत का लक्षण है और इसमें रोना कम आता है ।

वक्तव्य—उपर्युक्त का भाव यह है कि स्कन्दग्रहजुष्ट बालक के एक नेत्र से स्राव निकलता है, शरीर से पसीना चूता है और उसे स्पन्दन वा कम्पन होता है। वही बालक वक्रवदन और रक्तगन्धि होता हुआ ऊपर की ओर देखता है, दांतों को काटता है और भय से दूध नहीं पीता। इस रोग में बच्चा कम रोता है। इसी स्कन्दग्रह का लक्षण सुश्रुत तथा वाग्भट ने इस प्रकार दर्शाया है कि—शूनाक्षः क्षतजगन्धिकः स्तनद्विड् वक्रास्यो हतचलितैकपक्ष्मनेत्रः। उद्विग्नः सुललितचक्षुरल्परोदी स्कन्दार्तो भवति च गाढमुष्टिवर्चाः॥" (सु. उ. तं. अ. २७); तथा "तत्रैकनयनस्रावी शिरो विक्षिपते मुहुः। हतैकपक्षः स्तब्धांगः सस्वेदो नतकंधरः। दन्तखादी स्तनद्वेषी त्रस्यन् रोदिति विस्वरः। वक्रवक्त्रो वमेल्लालां भृशमूर्ध्वं निरीक्षते॥ वसासृग्गन्धिरुद्विग्नो बद्धमुष्टिशकृच्छिशुः। चलितैकाक्षिगण्डभ्रूः संरक्तोभयलोचनः॥ स्कन्दार्तस्तेन वैकल्यं मरणं वा भवेद्ध्रुवम्" (वा. उ. स्था. अ. ३)।

मधु०—सामान्यलिङ्गमभिधाय विशेषग्रहलिङ्गमाह—एकनेत्रस्येत्यादि। एकनेत्रस्य वामस्य दक्षिणस्य वा स्रावोऽश्रुस्रुतिः प्रभावात्, गात्रस्य स्रावो घर्मयुक्तगात्रतेत्यर्थः। स्पन्दनकम्पनमिति स्पन्दनं मनाक् चलनं, कम्पनं महता वेगेन वेपनं; स्पन्दनं कम्पनं वा भवतीत्यर्थः। वक्रास्यो वक्रमुखः। रक्तगन्धिक इत्येतत् सामान्यलक्षणलब्धमप्यातिशयार्थमुक्तम्; एवमन्यत्रापि सामान्यलक्षणे पुनरुक्ते व्याख्येयम् ॥२०–२१॥

एकनेत्रस्येति—वाम वा दक्षिण नेत्र से स्राव बहता है। यह व्याधि का प्रभाव ही है कि स्राव किसी एक नेत्र से ही बहता है। रक्तगन्धिकः—यह लक्षण सामान्य लक्षण द्वारा उपलब्ध हो जाने पर भी यहां पर निर्देश अतिशय के लिए किया है। इसी प्रकार अन्यत्र सामान्य लक्षण पुनरुक्ति में समाधान करना चाहिए।

स्कन्दापस्मार(गृहीत)स्य लक्षणमाह—

नष्टसंज्ञो वमेत् फेनं संज्ञावानतिरोदिति।
पूयशोणितगन्धित्वं स्कन्दापस्मारलक्षणम् ॥२२॥

जो बालक मूर्च्छित हुआ हुआ मुख से झाग छोड़ता है और अमूर्च्छित हुआ हुआ (होश वाला) बहुत रोता है तथा जिससे पूय वा रक्त की गन्ध आती है (उसे स्कन्दापस्मारी या स्कन्दापस्मारजुष्ट जानना चाहिए), यह स्कन्दापस्मार का लक्षण है।

वक्तव्य—भाव यह है कि स्कन्दापस्मारग्रस्त बालक मूर्च्छितावस्था में फेनोद्वामी और अमूर्च्छितावस्था में अतिरोदनशील होता है, एवं यह पूयशोणितगन्धी होता है। इसका लक्षण सुश्रुत ने उत्तरतन्त्र अध्याय २८ में इस प्रकार पढ़ा है कि—"निःसंज्ञो भवति पुनर्भवेत्ससंज्ञः संरब्धः करचरणैश्च नृत्यतीव। विण्मूत्रे सृजति विनद्य जृम्भमाणः फेनञ्च प्रसृजति तत्सखाभिपन्नः"। इसी भाव को कुछ अधिक लक्षणों के साथ साथ वाग्भट इस प्रकार दिखाता है कि—"संज्ञानाशो मुहुः केशलुञ्चनं कन्धरानतिः। विनद्य जृम्भ-

लक्षण आचार्य वाग्भट ने इस प्रकार दर्शाए हैं कि—"सामान्यं रूपमुत्त्रासजृम्भा-भ्रूक्षेपदीनताः । फेनस्रावोर्ध्वदृष्ट्योष्ठदंतदंशप्रजागराः ॥ रोदनं कूजनं स्तन्य-विद्वेषः स्वरवैकृतम् ॥ नखैरकस्मात्परितः स्वधात्र्यङ्गविलेखनम्" (वा. उ. स्था. अ. ३)।

मधु०—प्रायेण शौचभ्रंशादिना स्कन्दग्रहादयो नव बालेष्वावेशं कुर्वन्त्यतस्तत्परिज्ञानाय सामान्यलक्षणमाह—क्षणादुद्विजते बाल इत्यादि । एते ग्रहाः पूजार्थं बालान् हिंसन्ति । यदुक्तं सुश्रुते—"धात्रीमात्रोः प्राक् प्रदिष्टापचाराच्छौचभ्रष्टान् मङ्गलाचारहीनान् । त्रस्तान् हृष्टांस्तर्जितान् क्रन्दितान् वा पूजाहेतोर्हिंस्युरेते कुमारान् ॥" (सु. उ. तं. अ. २७) इति । उद्विजत इत्युद्विग्नो भवति; उद्विग्नो विह्वलः, न तु बिभेतीत्यर्थः, त्रस्यतीत्यनेन पौनरुक्त्य-प्रसंगात् । कूजत्यार्तनादं करोति । भ्रुवौ क्षिपतीति भ्रूभङ्गं रचयति । दन्तौष्ठमित्यत्र क्षिपतीति संबध्यते । क्षिपति खादति, धातूनामनेकार्थत्वात् । भिन्नविट्स्वर इति भिन्नविट् भिन्नशकृत्, भिन्नस्वरः स्वरभेदवान् । मांसशोणितगन्धिरिति विस्रगन्धि । न चाश्नाति यथा पुरेति पूर्ववन्न भक्षयतीत्यर्थः ॥१७–१९॥

प्रायः अपवित्रता आदि के कारण स्कन्दग्रह आदि नौ ग्रह बालकों में आवेश करते हैं । अतः उनके ज्ञानार्थ आचार्य माधव सामान्य लक्षण कहता है कि—क्षणादुद्विजते बाल इत्यादि । ये ग्रह पूजा के लिए बालकों को मारते (वा प्राप्त करते) हैं । जैसे सुश्रुत में कहा भी है कि—धाय और माता के पूर्वोक्त अपचार के कारण शुद्धिविहीन, मङ्गलाचरण रहित, डरे हुए (भीत), प्रसन्नचित्त, तर्जित (भर्त्सित) वा क्रन्दन करते हुए बालकों को ये पूजा के लिए मारते (वा प्राप्त करते) हैं' । उद्विजते—उद्विग्न होता है; उद्विग्न अर्थात् विह्वल होता है, न कि डरता है । अन्यथा 'त्रस्यति' से पौनरुक्त्यदोष आता है । कूजति—आर्तनाद करता है । भ्रुवौ क्षिपति—भ्रूभङ्ग करता है । दन्तौष्ठम्—में क्षिपति का सम्बन्ध होता है । क्षिपति—खाता है । यह अर्थ धातुओं के अनेकार्थक होने से होता है । भिन्नविट्स्वरः—अर्थात् भिन्नशकृत् तथा भिन्नस्वर अर्थात् स्वरभेदवाला । मांसशोणित गन्धि से यहां विस्रगन्धि अर्थ लिया जाता है । न चाश्नाति यथा पुरा—पहले की तरह नहीं खाता ।

स्कन्दगृहीतस्य शिशोः स्वरूपमाह—

एकनेत्रस्य गात्रस्य स्रावः स्पन्दनकम्पनम् ॥२०॥
ऊर्ध्वं दृष्ट्या निरीक्षेत वक्रास्यो रक्तगन्धिकः ।
दन्तान् खादति वित्रस्तः स्तन्यं नैवाभिनन्दति ॥२१॥
स्कन्दग्रहगृहीतानां रोदनं चाल्पमेव च ।

किसी एक नेत्र का स्रवित होना, शरीर से पसीना बहना, स्पन्दन वा कम्पन होना (ये लक्षण स्कन्दगृहीत में होते हैं, एवं इस प्रकार का ग्रस्त), टेढ़े मुख वाला, रक्तगन्धि (बालक) नेत्रों से ऊपर की ओर देखता है, दांतों को खाता है और भीत हुआ २ दूध नहीं पीता । यह स्कन्दग्रहगृहीत का लक्षण है और इसमें रोना कम आता है ।

वक्तव्य—उपर्युक्त का भाव यह है कि स्कन्दग्रहजुष्ट बालक के एक नेत्र से स्राव निकलता है, शरीर से पसीना चूता है और उसे स्पन्दन वा कम्पन होता है। वही बालक वक्रवदन और रक्तगन्धि होता हुआ ऊपर की ओर देखता है, दांतों को काटता है और भय से दूध नहीं पीता। इस रोग में बच्चा कम रोता है। इसी स्कन्दग्रह का लक्षण सुश्रुत तथा वाग्भट ने इस प्रकार दर्शाया है कि—शूनाक्षः क्षतजगन्धिकः स्तनद्विट् वक्रास्यो हतचलितैकपक्ष्मनेत्रः। उद्विग्नः सुललितचक्षुरल्परोदी स्कन्दार्तो भवति च गाढमुष्टिवर्चाः॥" (सु. उ. तं. अ. २७); तथा "तत्रैकनयनस्रावी शिरो विक्षिपते मुहुः। हतैकपक्षः स्तब्धांगः सस्वेदो नतकंधरः। दन्तखादी स्तनद्वेषी त्रस्यन् रोदिति विस्वरः। वक्रवक्त्रो वमेल्लालां भृशमूर्ध्वं निरीक्षते॥ वसासृग्गन्धिरुद्विग्नो बद्धमुष्टिशकृच्छिशुः। चलितैकाक्षिगण्डभ्रूः संरक्तोभयलोचनः॥ स्कन्दार्तस्तेन वैकल्यं मरणं वा भवेद्ध्रुवम्" (वा. उ. स्था. अ. ३)।

मधु०—सामान्यलिङ्गमभिधाय विशेषग्रहलिङ्गमाह—एकनेत्रस्येत्यादि। एकनेत्रस्य वामस्य दक्षिणस्य वा स्रावोऽश्रुस्रुतिः प्रभावात, गात्रस्य स्रावो घर्मयुक्तगात्रतेत्यर्थः। स्पन्दनकम्पनमिति स्पन्दनं मनाक् चलनं, कम्पनं महता वेगेन वेपनं; स्पन्दनं कम्पनं वा भवतीत्यर्थः। वक्रास्यो वक्रमुखः। रक्तगन्धिक इत्येतत् सामान्यलक्षणलब्धमप्यातिशयार्थमुक्तम्; एवमन्यत्रापि सामान्यलक्षणे पुनरुक्ते व्याख्येयम् ॥२०-२१॥

एकनेत्रस्येति—वाम वा दक्षिण नेत्र से स्राव बहता है। यह व्याधि का प्रभाव ही है कि स्राव किसी एक नेत्र से ही बहता है। रक्तगन्धिकः—यह लक्षण सामान्य लक्षण द्वारा उपलब्ध हो जाने पर भी यहां पर निर्देश अतिशय के लिए दिया है। इसी प्रकार अन्यत्र सामान्य लक्षण पुनरुक्ति में समाधान करना चाहिए।

स्कन्दापस्मार(गृहीत)स्य लक्षणमाह—

नष्टसंज्ञो वमेत् फेनं संज्ञावानतिरोदिति।
पूयशोणितगन्धित्वं स्कन्दापस्मारलक्षणम् ॥२२॥

जो बालक मूर्च्छित हुआ हुआ मुख से झाग छोड़ता है और अमूर्च्छित हुआ हुआ (होश वाला) बहुत रोता है तथा जिससे पूय वा रक्त की गन्ध आती है (उसे स्कन्दापस्मारी या स्कन्दापस्मारजुष्ट जानना चाहिए), यह स्कन्दापस्मार का लक्षण है।

वक्तव्य—भाव यह है कि स्कन्दापस्मारग्रस्त बालक मूर्च्छितावस्था में फेनोद्गामी और अमूर्च्छितावस्था में अतिरोदनशील होता है, एवं यह पूयशोणितगन्धी होता है। इसका लक्षण सुश्रुत ने उत्तरतन्त्र अध्याय २८ में इस प्रकार पढ़ा है कि—"निःसंज्ञो भवति पुनर्भवेत्ससंज्ञः संरब्धः करचरणैश्च नृत्यतीव। विण्मूत्रे सृजति विनद्य जृम्भमाणः फेनञ्च प्रसृजति तत्सखाभिपन्नः"। इसी भाव को कुछ अधिक लक्षणों के साथ साथ वाग्भट इस प्रकार दिखाता है कि—"संज्ञानाशो मुहुः केशलुञ्चनं कन्धरानतिः। विनद्य जृम्भ-

लक्षण आचार्य वाग्भट ने इस प्रकार दर्शाए हैं कि—"सामान्यं रूपमुत्त्रासजृम्भाभ्रूक्षेपदीनताः । फेनस्रावोर्ध्वदृष्ट्योष्ठदंतदंशप्रजागराः ॥ रोदनं कूजनं स्तन्यविद्वेषः स्वरवैकृतम् ॥ नखैरकस्मात्परितः स्वधात्र्यङ्गविलेखनम्" (वा. उ. स्था. अ. ३) ।

मधु०—प्रायेण शौचभ्रंशादिना स्कन्दग्रहादयो नव वालेष्वावेशं कुर्वन्त्यतस्तत्परिज्ञानाय सामान्यलक्षणमाह—क्षणादुद्विजते वाल इत्यादि । एते ग्रहाः पूजार्थं वालान् हिंसन्ति । यदुक्तं सुश्रुते—"धात्रीमात्रोः प्राक् प्रदिष्टापचाराच्छौचभ्रष्टान् मङ्गलाचारहीनान् । त्रस्तान् हृष्टांस्तर्जितान् क्रन्दितान् वा पूजाहेतोर्हिंस्युरेते कुमारान् ॥" (सु. उ. तं. अ. २७) इति । उद्विजत इत्युद्विग्नो भवति; उद्विग्नो विह्वलः, न तु विभेतीत्यर्थः, त्रस्यतीत्यनेन पौनरुक्त्यप्रसंगात् । कूजत्यार्तनादं करोति । भ्रुवौ क्षिपतीति भ्रूभङ्गं रचयति । दन्तौष्ठमित्यत्र क्षिपतीति संवध्यते । क्षिपति खादति, धातूनामनेकार्थत्वात् । भिन्नविट्स्वर इति भिन्नविट् भिन्नशकृत्, भिन्नस्वरः स्वरभेदवान् । मांसशोणितगन्धिरिति विस्रगन्धि । न चाश्नाति यथा पुरेति पूर्ववन्न भक्षयतीत्यर्थः ॥१७–१६॥

प्रायः अपवित्रता आदि के कारण स्कन्दग्रह आदि नौ ग्रह बालकों में आवेश करते हैं । अतः उनके ज्ञानार्थ आचार्य माधव सामान्य लक्षण कहता है कि—क्षणादुद्विजते बाल इत्यादि । ये ग्रह पूजा के लिए बालकों को मारते (वा ग्रास करते) हैं । जैसे सुश्रुत में कहा भी है कि—धाय और माता के पूर्वोक्त अपचार के कारण शुद्धिविहीन, मङ्गलाचरण रहित, डरे हुए (भीत), प्रसन्नचित्त, तर्जित (भर्त्सित) वा क्रन्दन करते हुए बालकों को ये पूजा के लिए मारते (वा ग्रास करते) हैं' । उद्विजते—उद्विग्न होता है; उद्विग्न अर्थात् विह्वल होता है, न कि डरता है । अन्यथा 'त्रस्यति' से पौनरुक्त्यदोष आता है । कूजति—आर्तनाद करता है । भ्रुवौ क्षिपति—भ्रूभङ्ग करता है । दन्तौष्ठम्—में क्षिपति का सम्बन्ध होता है । क्षिपति—खाता है । यह अर्थ धातुओं के अनेकार्थक होने से होता है । भिन्नविट्स्वरः—अर्थात् भिन्नशकृत् तथा भिन्नस्वर अर्थात् स्वरभेदवाला । मांसशोणित गन्धि से यहां विस्रगन्धि अर्थ लिया जाता है । न चाश्नाति यथा पुरा—पहले की तरह नहीं खाता ।

स्कन्दगृहीतस्य शिशोः स्वरूपमाह—

एकनेत्रस्य गात्रस्य स्रावः स्पन्दनकम्पनम् ॥२०॥
ऊर्ध्वं दृष्ट्या निरीक्षेत वक्रास्यो रक्तगन्धिकः ।
दन्तान् खादति वित्रस्तः स्तन्यं नैवाभिनन्दति ॥२१॥
स्कन्दग्रहगृहीतानां रोदनं चाल्पमेव च ।

किसी एक नेत्र का स्रवित होना, शरीर से पसीना बहना, स्पन्दन वा कम्पन होना (ये लक्षण स्कन्दगृहीत में होते हैं, एवं इस प्रकार का ग्रस्त), टेढ़े मुख वाला, रक्तगन्धि (वालक) नेत्रों से ऊपर की ओर देखता है, दांतों को खाता है और भीत हुआ २ दूध नहीं पीता । यह स्कन्दग्रहगृहीत का लक्षण है और इसमें रोना कम आता है ।

वक्तव्य—उपर्युक्त का भाव यह है कि स्कन्दग्रहजुष्ट बालक के एक नेत्र से स्राव निकलता है, शरीर से पसीना चूता है और उसे स्पन्दन वा कम्पन होता है। वही बालक वक्रवदन और रक्तगन्धि होता हुआ ऊपर की ओर देखता है, दांतों को काटता है और भय से दूध नहीं पीता। इस रोग में बच्चा कम रोता है। इसी स्कन्दग्रह का लक्षण सुश्रुत तथा वाग्भट ने इस प्रकार दर्शाया है कि—शूनाक्षः क्षतजगन्धिकः स्तनद्विट् वक्रास्यो हतचलितैकपक्ष्मनेत्रः। उद्विग्नः सुललितचक्षुरल्परोदी स्कन्दार्तो भवति च गाढमुष्टिवर्चाः॥" (सु. उ. तं. अ. २७); तथा "तत्रैकनयनस्रावी शिरो विक्षिपते मुहुः। हतैकपक्षः स्तब्धांगः सस्वेदो नतकंधरः। दन्तखादी स्तनद्वेषी त्रस्यन् रोदिति विस्वरः। वक्रवक्त्रो वमेल्लालां भृशमूर्ध्वं निरीक्षते॥ वसासृग्गन्धिरुद्विग्नो बद्धमुष्टिशकृच्छिशुः। चलितैकाक्षिगण्डभ्रूः संरक्तोभयलोचनः॥ स्कन्दार्तस्तेन वैकल्यं मरणं वा भवेद्ध्रुवम्" (वा. उ. स्था. अ. ३)।

मधु०—सामान्यलिङ्गमभिधाय विशेषग्रहलिङ्गमाह—एकनेत्रस्येत्यादि। एकनेत्रस्य वामस्य दक्षिणस्य वा स्रावोऽश्रुस्रुतिः प्रभावात्, गात्रस्य स्रावो घर्मयुक्तगात्रतेत्यर्थः। स्पन्दनकम्पनमिति स्पन्दनं मनाक् चलनं, कम्पनं महता वेगेन वेपनं; स्पन्दनं कम्पनं वा भवतीत्यर्थः। वक्रास्यो वक्रमुखः। रक्तगन्धिक इत्येतत् सामान्यलक्षणलब्धमप्यतिशयार्थमुक्तम्; एवमन्यत्रापि सामान्यलक्षणे पुनरुक्ते व्याख्येयम् ॥२०–२१॥

एकनेत्रस्येति—वाम वा दक्षिण नेत्र से स्राव बहता है। यह व्याधि का प्रभाव ही है कि स्राव किसी एक नेत्र से ही बहता है। रक्तगन्धिकः—यह लक्षण सामान्य लक्षण द्वारा उपलब्ध हो जाने पर भी यहां पर निर्देश अतिशय के लिए दिया है। इसी प्रकार अन्यत्र सामान्य लक्षण पुनरुक्ति में समाधान करना चाहिए।

स्कन्दापस्मार(गृहीत)स्य लक्षणमाह—

नष्टसंज्ञो वमेत् फेनं संज्ञावानतिरोदिति।
पूयशोणितगन्धित्वं स्कन्दापस्मारलक्षणम् ॥२२॥

जो बालक मूर्च्छित हुआ हुआ मुख से झाग छोड़ता है और अमूर्च्छित हुआ हुआ (होश वाला) बहुत रोता है तथा जिससे पूय वा रक्त की गन्ध आती है (उसे स्कन्दापस्मारी या स्कन्दापस्मारजुष्ट जानना चाहिए), यह स्कन्दापस्मार का लक्षण है।

वक्तव्य—भाव यह है कि स्कन्दापस्मारग्रस्त बालक मूर्च्छितावस्था में फेनोद्वामी और अमूर्च्छितावस्था में अतिरोदनशील होता है, एवं वह पूयशोणितगन्धी होता है। इसका लक्षण सुश्रुत ने उत्तरतन्त्र अध्याय २८ में इस प्रकार पढ़ा है कि—"निःसंज्ञो भवति पुनर्भवेत्ससञ्ज्ञः संरब्धः करचरणैश्च नृत्यतीव। विण्मूत्रे सृजति विनद्य जृम्भमाणः फेनञ्च प्रसृजति तत्सखाभिपन्नः"। इसी भाव को कुछ अधिक लक्षणों के साथ साथ वाग्भट इस प्रकार दिखाता है कि—"संज्ञानाशो मुहुः केशलुञ्चनं कन्धरानतिः। विनम्य जृम्भ-

मारणस्य शकृन्मूत्रप्रवर्तनम् । फेनोद्वमनमूर्धाक्षिहस्तभ्रूपादनर्तनम् ॥ स्तनस्वजिह्वासन्दंशसंरम्भज्वरजागराः । पूयशोणितगन्धिश्च स्कन्दापस्मारलक्षणम्" (वा. उ. स्था. अ. ३)। वाग्भट ने स्कन्दापस्मार का दूसरा नाम 'विशाखः' वा 'विशाखापस्मार' माना है। अतएव उसने गणना में 'स्कन्दो विशाखः' (वा. उ. स्था. अ. ३) इत्यादि कहा है।

मधु०—स्कन्दापस्मारलक्षणमाह—नष्टेत्यादि । नष्टसंज्ञो मूर्च्छितः सन् फेनं वमति, तथा संज्ञावान् सन्नतिरोदिति ॥२२॥

स्कन्दापस्मारलक्षणमाह की भाषा सरल ही है।

शकुनीगृहीत(बाल)स्य लक्षणमाह—

स्रस्ताङ्गो भयचकितो विहङ्गगन्धिः
साम्रावव्रणपरिपीडितः समन्तात् ।
स्फोटैश्च प्रचिततनुः सदाहपाकै-
र्विज्ञेयो भवति शिशुः क्षतः शकुन्या ॥२३॥ [सु० ६।२७]

जो बालक अङ्गावस्रंस की सी पीड़ा वाला, भयविह्वल, विहङ्गमों (जलचरों तथा मांसादों) की सी गन्ध वाला, चारों ओर स्रावयुक्त व्रणों से दुःखित और दाह तथा पाक वाले स्फोटों से व्याप्त शरीर वाला होता है, वह शकुनिग्रह से क्षत जानना चाहिए।

वक्तव्य—इसमें तन्त्रान्तरोक्त अतीसार आदि लक्षण भी जानने चाहिएं। जैसे वाग्भट ने कहा भी है कि—"स्रस्ताङ्गत्वमतीसारो जिह्वातालुगले व्रणाः। स्फोटाः सदाहरुक्पाकाः सन्धिषु स्युः पुनः पुनः ॥ निश्यह्नि प्रविलीयन्ते पाको वक्त्रे गुदेऽपि वा। भयं शकुनिगन्धत्वं ज्वरश्च शकुनिग्रहे" (वा. उ. स्था. अ. ३)।

मधु०—शकुनीलक्षणमाह—स्रस्ताङ्ग इत्यादि । स्रस्ताङ्ग इति अङ्गस्रंसव्यथावान् । भयचकित इति भयहेतुर्भयं भयानकमुच्यते, ततश्चकितः, असति भयहेतौ त्रस्यतीत्यर्थः । विहङ्गगन्धिरिति विहङ्गस्येव गन्धो यस्य स तथा, उपमानाच्चेति समासान्त इप्रत्ययः । विहङ्गशब्देन जलचरा मांसादाश्च पक्षिणो गृह्यन्ते, विस्रगन्धित्वात् । हिरण्याक्षेऽप्युक्तं—"संस्रावदाहपाकाद्यैश्चितः स्फोटैर्भयान्वितः। स्रस्ताङ्गो विस्रगन्धिः स्याच्छकुन्या पीडितः शिशुः" इति । सास्रावव्रणपरिपीडित इति स्फोटैरेव विदीर्णैर्व्रणरूपमापन्नैः परिपीडितः । स्फोटैश्च प्रचिततनुरिति नवनवैः स्फोटैर्व्याप्ततनुः । क्षत इत्यभिभूतः ॥२३॥

विहङ्गशब्देनेति—विस्रगन्धी होने से विहङ्ग शब्द से जलचर तथा मांसाद पक्षी लिए जाते हैं। हिरण्याक्षकृत तन्त्र में भी कहा है कि—'अतिस्राव, दाह और पाकादिकों से व्याप्त, स्रस्ताङ्ग एवं विस्रगन्धि शिशु शकुनिग्रह से पीड़ित होता है'। शेष स्पष्ट है।

रेवतीग्रहस्य लक्षणमाह—

व्रणैः स्फोटैश्चितं गात्रं पङ्कगन्धं स्रवेदसृक् ।
भिन्नवर्चा ज्वरी दाही रेवतीग्रहलक्षणम् ॥२४॥

जिस (बालक) का शरीर व्रणों तथा स्फोटों से व्याप्त हुआ हुआ कीचड़ की सी गन्धि वाले रक्त को स्रवित करता है, वह मलभेदी (पतली टट्टी वाला) ज्वरवान् एवं दाहान्वित बालक रेवतीग्रह से ग्रस्त जानना चाहिए; यह रेवती-ग्रह का लक्षण है।

वक्तव्य—रेवतीग्रह का लक्षण यह है कि इसमें बालक व्रणों और स्फोटों से व्याप्त शरीर वाला, पङ्कगन्धि, रक्तस्रावी, मलभेदी, ज्वरी एवं दाहान्वित होता है। सुश्रुत और वाग्भट में इसके कुछ विशिष्ट लक्षण भी कहे हैं। तद्यथा—"रक्तास्यो हरितमलोऽतिपाण्डुदेहः श्यावो वा ज्वरमुखपाकवेदनार्तः। रेवत्या व्यथित-तनुश्च कर्णनासं मृद्नाति ध्रुवमभिपीडितः कुमारः" (सु. उ. तं. अ. २७)। तथा—"रेवत्यां श्यावनीलत्वं कर्णनासाक्षिमर्दनम्। कासहिध्माक्षिविक्षेपवक्रवक्त्रत्व-रक्तताः। बस्तगन्धो ज्वरः शोषः पुरीषं हरितं द्रवम्" (वा. उ. स्था. अ. ३)।

पूतनागृहीतस्य लक्षणमभिधत्ते—

अतीसारो ज्वरस्तृष्णा तिर्यक्प्रेक्षणरोदनम्।
नष्टनिद्रस्तथोद्विग्नो ग्रस्तः पूतनया शिशुः॥२५॥

पूतनाग्रह से ग्रस्त बालक अतीसार, ज्वर, पिपासा, तिरछा देखना, रोना, निद्रानाश और उद्विग्नता से युक्त होता है।

वक्तव्य—इसमें काकतुल्यगन्धता आदि लक्षण भी होते हैं। जैसे सुश्रुत ने कहा भी है कि—"स्रस्ताङ्गः स्वपिति सुखं दिवा न रात्रौ विड्भिन्नं सृजति च काक-तुल्यगन्धिः। छर्द्यार्तो हृषिततनूरुहः कुमारस्तृष्णालुर्भवति च पूतनागृहीतः" (सु. उ. तं. अ. २७); तथा वाग्भट ने भी कहा है कि—"पूतनायां वमिः कम्प-स्तन्द्रा रात्रौ प्रजागरः। हिध्माध्मानं शकृद्भेदः पिपासा मूत्रनिग्रहः। स्रस्तहृष्टाङ्गरोमत्वं काकवत्पूतिगन्धता" (वा. उ. स्था. अ. ३)।

अन्धपूतनागृहीतस्य स्वरूपमाह—

छर्दिः कासो ज्वरस्तृष्णा वसागन्धोऽतिरोदनम्।
स्तन्यद्वेषोऽतिसारश्च अन्धपूतनया भवेत्॥२६॥

अन्धपूतना नामक (स्त्री) ग्रह के ग्रसन से बालक में वमन, खांसी, ज्वर, प्यास, वसा की सी गन्ध, अधिक रोना, दूध न पीना और अतिसार ये लक्षण होते हैं।

वक्तव्य—सुश्रुत ने इसमें अम्लगन्धता; तथा वाग्भट ने मत्स्यगन्धता, अन्न-गन्धता एवं दुर्गन्धता स्वीकार की है। साथ ही इन्होंने कुछ लक्षण भी अधिक दर्शाए हैं। तद्यथा—"यो द्वेष्टि स्तनमतिसारकासहिक्काछर्दीभिर्ज्वरसहिताभिरर्द्यमानः। दुर्वर्णः सततमधः शयोऽम्लगन्धिस्तं ब्रूयुर्भिषज इहान्धपूतनार्तम्" (सु. उ. तं. अ. २७)। तथा—"अन्धपूतनया छर्दिर्ज्वरः कासोऽल्पवह्निता। वर्चसो भेदवैवर्ण्यदौर्गन्ध्या-

न्यङ्गशोषणम् ॥ दृष्टिसादोऽतिरुक्कण्डू पोथकी जन्मशून्यताः । हिध्मोद्वेगस्तनद्वेषवैवर्ण्यं स्वरतीक्ष्णता । वेपथुर्मत्स्यगन्धित्वमथवा साम्लगन्धिता" (वा. उ. स्था. अ. ३)। वाग्भट ने इस अन्धपूतना को दृष्टिपूतना के नाम से भी पुकारा है; तद्यथा—"शकुनिः पूतना शीतपूतना दृष्टिपूतना" (वा. उ. तं. अ. ३)।

शीतपूतनागृहीतस्य लक्षणमाह—

वेपते कासते क्षीणो नेत्ररोगो विगन्धिता।
छर्द्यतीसारयुक्तश्च शीतपूतनया शिशुः ॥२७॥

शीतपूतना नामक (स्त्री) ग्रह के कारण बच्चा काँपता है, खाँसता है, नेत्ररुग्णता होती है, दुर्बल होता है, दुर्गन्धि वाला होता है, वमन वाला एवं अतिसार युक्त होता है।

वक्तव्य—इसका भाव यह है कि शीतपूतना नामक ग्रह से ग्रस्त बालक में कम्पन, कास, क्षीणता, नेत्ररोग, वैगन्ध्य, वमन और अतिसार ये लक्षण होते हैं। इसमें अन्त्रकूजन आदि अन्य लक्षण भी होते हैं। जैसे सुश्रुत और वाग्भट ने कहा भी है कि—"उद्विग्नो भृशमतिवेपते प्ररुद्यात् संलीनः स्वपिति च यस्य चान्त्रकूजः। विस्राङ्गो भृशमतिसार्यते च यस्तं जानीयाद्भिषगिह शीतपूतनार्तम् ॥" (सु. उ. तं. अ. २७); तथा—"शीतपूतनया कम्पो रोदनं तिर्यगीक्षणम्। तृष्णान्त्रकूजोऽतीसारो वसावद्विस्रगन्धता। पार्श्वस्यैकस्य शीतत्वमुष्णत्वमपरस्य च ॥" (वा. उ. स्था. अ. ३)।

मुखमण्डिकागृहीतस्य लक्षणमाह—

प्रसन्नवर्णवदनः सिराभिरभिसंवृतः।
मूत्रगन्धी च बह्वाशी मुखमण्डिकया भवेत् ॥२८॥

मुखमण्डिका नामक (स्त्री) ग्रह से गृहीत बालक प्रसन्नमुख, सिराओं से व्याप्त, मूत्र की सी गन्ध वाला और बहुभोजी होता है।

वक्तव्य—भाव यह है कि बालक में प्रसन्नमुखता आदि होना मुखमण्डिका का लक्षण है। मुखमण्डिका में मुख का प्रसन्न होना उपलक्षण है। इससे हाथों पैरों में रुचिरता भी जाननी चाहिए। इसे सुश्रुत ने स्पष्ट किया है। 'सिराभिरभिसंवृतः' अर्थात् 'कलुषसिरावृतोदरः' (सुश्रुतः)। इसमें हाथ, पाँव और मुख तो प्रसन्न (रुचिर) होता है, किन्तु शेष अङ्ग म्लान होते हैं। जैसे कहा भी है कि—"म्लानाङ्गः सुचिरपाणिपादवक्त्रो बह्वाशी कलुषसिरावृतोदरो यः। सोद्वेगो भवति च मूत्रतुल्यगन्धिः स ज्ञेयः शिशुरिह वक्त्रमण्डिकार्तः ॥" (सु. उ. तं. अ. २७); तथा—"मुखमण्डितया पाणिपादस्य रमणीयता। सिराभिरसिताभाभिराचितोदरता ज्वरः ॥ अरोचकोऽङ्गग्लपनं गोमूत्रसमगन्धता ॥" (वा. उ. स्था. अ. ३)।

नैगमेयगृहीतस्य लक्षणमाह—

छर्दिस्प(स्य)न्दनकण्ठास्यशोषमूर्च्छाविगन्धिताः ।
ऊर्ध्वं पश्येद्दशेद्दन्तान् नैगमेयग्रहं वदेत् ॥२९॥

जो बालक वमन, स्प(स्य)न्दन, गलशोष, मुखशोष, मूर्च्छा और वैगन्ध्ययुक्त होता है; तथा जो ऊपर की ओर देखता है और दांतों को काटता है, उसे नैगमेयग्रहग्रस्त कहना चाहिए।

वक्तव्य—उपर्युक्त का भाव यह है कि बालक में वमन आदि होना नैगमेय ग्रह का लक्षण है। इसी नैगमेय को सुश्रुत नैगमेष और वाग्भट मेष वा नैगमेष नाम से पुकारता है। इन्होंने इसमें कुछ अधिक लक्षण भी माने हैं। तद्यथा—"यः फेनं वमति विनम्यते च मध्ये सोद्वेगं विलपति चोर्ध्वमीक्षमाणः। ज्वर्येत प्रततमथो वसासगन्धिर्निःसंज्ञो भवति हि नैगमेषजुष्टः॥" (सु. उ. तं. अ. २७); तथा—"आध्मानं पाणिपादास्यस्पन्दनं फेननिर्वमः। तृण्मुष्टिबन्धातीसारस्वरदैन्यविवर्णताः॥ कूजनं स्तननं (सततं) छर्दिः कासहिध्माप्रजागराः। ओष्ठदंशाङ्गसङ्कोचस्तम्भबस्तामगन्धताः॥ ऊर्ध्वं निरीक्ष्य हसनं मध्ये विनमनं ज्वरः। मूर्च्छैकनेत्रशोफश्च नैगमेषग्रहाकृतिः॥" (वा. उ. स्था. अ. ३)। ये सुश्रुत माधव आदि स्वीकृत नौ ग्रहों के लक्षण हैं। पराशर वाग्भट आदिकों ने कुछ अधिक भी स्वीकार किए हैं। जैसे वाग्भट ने इन नौ ग्रहों के अतिरिक्त श्वग्रह, पितृग्रह और शुष्करेवती ये तीन और भी स्वीकार किए हैं। इनके लक्षण उसने इस प्रकार वर्णित किए हैं कि—"कम्पो हृषितरोमत्वं स्वेदश्चक्षुर्निमीलनम्। बहिरायमनं जिह्वा दंशोऽन्तः कण्ठकूजनम्। धावनं विट्सगन्धत्वं क्रोशनं श्वानवच्छुनि॥" इति श्वग्रहलक्षणम्। "रोमहर्षो मुहुस्त्रासः सहसा रोदनं ज्वरः। कासातीसारवमथुजृम्भातृट्शवगन्धताः॥ अङ्गेष्वाक्षेपविक्षेपः शोषस्तम्भविवर्णताः। मुष्टिबन्धः स्रुतिश्चाक्ष्णोर्बालस्य स्युः पितृग्रहे"॥ इति पितृग्रहलक्षणम्। "जायते शुष्करेवत्यां क्रमात्सर्वाङ्गसंश्रयः।" इति शुष्करेवतीलक्षणम्। (अथासाध्यलक्षणानि—) "केशशातोऽन्नविद्वेषः स्वरदैन्यं विवर्णता॥ रोदनं गृध्रगन्धित्वं दीर्घकालानुवर्तनम्। उदरे ग्रन्थयो वृत्ता यस्य नानाविधं शकृत्। जिह्वाया निम्नता मध्ये श्यावं तालु च तं त्यजेत्"॥ "भुञ्जानोऽन्नं बहुविधं यो बालः परिहीयते। तृष्णागृहीतः क्षामाक्षो हन्ति तं शुष्करेवती॥" (वा. उ. तं. अ. ३) इति शुष्करेवतीप्रत्याख्येयलक्षणम्। एवं ये १२ बालग्रह होते हैं। नव्य विद्वान् शार्ङ्गधर ने भी १२ बालग्रह स्वीकार किए हैं। तद्यथा—"तथा बालग्रहाः ख्याता द्वादशैव मुनीश्वरैः। स्कन्दग्रहो विशाखः स्यात्स्वग्रहश्च पितृग्रहः॥ नैगमेयग्रहस्तद्वत् शकुनिः शीतपूतना। रेवती चैव संख्याता तथा स्याच्छुष्करेवती" (शा. पू. खं. अ. ७)। भेद केवल इतना ही है कि इसमें वाग्भटोक्त 'श्वग्रह' के स्थान में 'स्वग्रह' और 'नैगमेष' के स्थान में माधववत् 'नैगमेय' माना है। किसी

किसी विद्वान् ने इसकी टीका करते हुए 'स्वग्रह' को 'स्कन्दापस्मार' माना है, जो कि अनुचित प्रतीत होता है; क्योंकि स्कन्दापस्मार का बोधक यहां विशाख (अपस्मार) ग्रह है, कारण कि विशाख और स्कन्द पर्यायवाचक है। जैसा कि मैं यहीं पहले अमरसिंह का प्रमाण देकर बता चुका हूँ। हाँ, 'स्वग्रह' से 'श्वग्रह' लिया जा सकता है, क्योंकि इनमें वर्णसमता है, जो कि यह बताती है कि सम्भवतः 'श्व' के स्थान में भ्रमवश 'स्व' वा 'स्व' के स्थान में भ्रमवश 'श्व' लिखा गया हो। यदि 'स्वग्रह' से हम 'स्कन्दापस्मार' ले लें तो विशाख (अपस्मार) ग्रह से कौन सा ग्रह लिया जाएगा ? अतः यही उचित है कि स्वग्रह को श्वग्रह माना जावे और इसका लक्षण वाग्भटोक्त 'कम्पो हृषितरोमत्वं' (वा. उ. तं. अ. ३) इत्यादि मानना चाहिए। इन सब के लक्षण वाग्भट उत्तरस्थान अध्याय तीन को पढ़ने से स्पष्ट हो जाते हैं।

एतेषां ग्रहाणामसाध्यतालक्षणमाह—

प्रस्तब्धाक्षः स्तनद्वेषी मुह्यते चानिशं मुहुः।
तं बालमचिराद्धन्ति ग्रहः संपूर्णलक्षणः ॥३०॥ [सु० ६।२७]

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने बालरोगनिदानं समाप्तम् ॥६८॥

जो बालक स्तम्भित आँखों वाला, स्तनद्वेषी और सर्वदा बार बार मूर्च्छित होने वाला होता है, उसे सम्पूर्ण लक्षणों वाला ग्रह शीघ्र ही मार डालता है।

वक्तव्य—भाव यह है कि नेत्रस्तम्भ आदि लक्षणों वाले बालक को हर एक ग्रह, जो कि शरीर में प्रविष्ट होकर अपने सम्पूर्ण लक्षणों को दिखाता है, मार डालता है। यह सब हिंसार्थगृहीत बालक में होता है, दूसरों में नहीं। हिंसार्थगृहीत बालक में ही नेत्रस्तम्भ आदि लक्षण भी होते हैं तथा प्रविष्टग्रह के अपने सम्पूर्ण लक्षण भी होते हैं। जो रति और अर्चना के लिए गृहीत होता है, उसमें इससे विपरीत लक्षण होते हैं; अर्थात् उसमें नेत्रस्तम्भ आदि भी नहीं होते और ग्रह के सम्पूर्ण लक्षण भी नहीं होते। इसी भाव को लेकर आचार्य सुश्रुत ने कहा भी है कि—"विपरीतमतः साध्यं चिकित्सेदचिरार्दितम्" (सु. उ. तं. अ. २७)। वाग्भट ने हिंसार्थ, रति अर्थ और अर्चना अर्थ गृहीत बालक के लक्षण भली प्रकार निर्दिष्ट किए हैं। तद्यथा—"हिंसा रत्यर्चना कांक्षा ग्रहग्रहणकारणम्। तत्र हिंसात्मके बालो महान् वा स्रुतनासिकः ॥ क्षतजिह्वः क्वणेद्बाढमसुखी चाश्रुलोचनः। दुर्वर्णो हीनवचनः पूतिगन्धिश्च जायते॥ क्षामो मूत्रपुरीषं स्वं मृद्नाति न जुगुप्सते। हस्तौ चोद्यम्य संरब्धो हन्त्यात्मानं तथापरम्॥ तद्वच्च शस्त्रकाष्ठाद्यैरग्निं वा दीप्तमाविशेत्। अप्सु मज्जेत्पतेत् कूपे कुर्यादन्यच्च तद्विधम्॥ तृड्दाहमोहान् पूयस्य छर्दनं च प्रवर्तयेत्। रक्तञ्च सर्वमार्गेभ्यो रिष्टोत्पत्तिश्च तं त्यजेत्॥" (इति हिंसार्थम्)। "रहःस्त्रीरतिसँल्लापगन्धस्रग्भूषणप्रियः। हृष्टः शान्तश्च दुःसाध्यो रतिकामेन पीडितः।" (इति रत्यर्थम्)। "दीनः परिमृशेद्वक्त्रं शुष्कोष्ठगलतालुकः॥ शङ्कितं वीक्षते रौति

ध्यायत्यायाति दीनताम् । अन्नमन्नाभिलाषेऽपि दत्तं नातिबुभुक्षते ।। गृहीतं बलिकामेन तं विद्यात्सुखसाधनम् ।।" (वा. उ. तं. अ. ३) (इत्यर्चनार्थम्)। इन रोगों के विषय में वाग्भट का यह भाव है कि ये रोग केवल बालकों में ही नहीं; प्रत्युत बड़ों में भी होते हैं। अतएव उसने "तत्र हिंसात्मके बालो महान् वा" यह कहा है; और इसी लिए उसने हिंसार्थगृहीत में "रहःस्त्रीरतिसँल्लापगन्धस्रग्भूषणप्रियः" प्रभृति कुछ ऐसे लक्षण कहे हैं, जो कि बच्चों में असम्भव होने से बड़ों में ही होते हैं। एवं यह सिद्ध होता है कि ये ग्रह एकान्ततः बच्चों में ही प्रविष्ट नहीं होते प्रत्युत बड़ों में भी होते हैं। किन्हीं विद्वानों का यह ख़याल है कि इनमें से ६ ग्रह, जो कि माधव और सुश्रुत ने माने हैं, केवल बच्चों में ही होते हैं; और दूसरे तीन जो कि सुश्रुत ने और माधव ने नहीं माने तथा पराशर, वाग्भट एवं शार्ङ्गधर आदिकों ने माने हैं, दोनों में होते हैं। इन तीनों की बड़ों में स्थिति होने से ही सुश्रुत आदिकों ने इन तीनों का ग्रहण बालरोगों में नहीं किया। इन्होंने इनका ग्रहण देवादिगृहीत उन्मादों में ही किया है, क्योंकि वहां भी ये हिंसा, रति तथा अर्चना के लिए ही ग्रहण करते हैं। साथ ही रोगी का आत्मघातार्थ अग्नि आदि में प्रवेश होना भी उसमें दिया है। इसमें प्रमाण भी है कि—"हिंसा रतिरर्चनञ्चेति···तत्र हिंसार्थमुन्माद्यमानोऽग्निं प्रविशति···इत्यादि (च. नि. स्था. अ. ७)। दूसरे विद्वान् कहते हैं कि इनका बालरोगों में होना वा बालकों में होना अधिकता को लेकर कहा है; किन्तु अल्परूप में ये बड़ों में भी मिलते हैं; और उनमें इनके लक्षण भी यही होते हैं, केवल वे लक्षण जो कि अवस्था पर निर्भर होते हैं, विशेष होते हैं; जैसे 'रहःस्त्रीकामता' आदि। इनका यह मन्तव्य भी है कि यद्यपि ये ग्रह उन्मादोत्पादक ग्रहों में भी आ जाते हैं, परन्तु फिर भी ये सर्वत्र उन्माद ही नहीं उपजाते, किन्तु निदानानुसार कहीं कहीं उन्माद और कहीं २ ये लक्षण उपजाते हैं। यदि यह कहा जावे कि यदि ये रोग बड़ों में भी होते हैं, तो इनका 'बालरोग' यह नाम नहीं पड़ सकता ? तो इसका उत्तर यह है कि ये अधिकतर बालकों में होते हैं। अतः इनका नाम बालरोग रक्खा है, न कि इसलिए रक्खा है कि ये बड़ों में न होकर एकान्ततः बच्चों में ही होते हैं। यदि एकान्ततः बच्चों में ही होने वाले रोग की बालरोगसंज्ञा मानी जावेगी तो इनके साथ साथ अजगल्लिका और अहिपूतना आदि रोग भी बालरोगों में नहीं आ सकते, क्योंकि वे भी बड़ों में होते हैं, जिसका कि वर्णन "क्षुद्ररोगे च कथिते त्वजगल्ल्यहिपूतने" (मा. नि. बा. रो. नि.) इस कारिका में किया जा चुका है। एवं यही मानना समीचीन प्रतीत होता है कि इनमें कई रोग, जिनका कि सम्बन्ध स्तन्य के साथ होता है, केवल बालकों में होते हैं; और कई रोग, जिनका कि सम्बन्ध स्तन्य के साथ साथ और कारणों से भी होता है, प्रायः बालकों
हैं; अथवा—इनमें से वे रोग, जिनके निदान बालकोपयोगी ही होते

बच्चों में होते हैं; और दूसरे रोग, जिनके निदान उभयोपयोगी होते हैं, प्रायः बालकों में होते हैं। इस प्रकार माधवोक्त बालरोग समाप्त होते हैं, परन्तु शार्ङ्गधर ने बालग्रहों के अतिरिक्त रोगों को भी इससे अधिक संख्या में माना है। तद्यथा—"द्वाविंशतिर्बालरोगास्तेषु क्षीरालसास्त्रयः। वातात्पित्तात्कफाच्चैव दन्तोद्भेदश्चतुर्थकः॥ दन्तघातो दन्तशब्दोऽकालदन्तोऽहिपूतनम् ॥ मुखपाको मुखस्रावो गुदपाकोपशीर्षकौ। पार्श्वारुणस्तालुकण्ठो विच्छिन्नं पारिगर्भिकः॥ दौर्बल्यं गात्रशोषश्च शय्यामूत्रं कुकूणकः। रोदनं चाजगल्ली स्यादिति द्वाविंशतिः स्मृताः॥" (शा. पू. खं. अ. ७)। इनमें से वे रोग, जिन्हें कि माधव ने नहीं लिखा, माधवोक्त अन्य रोगों के लक्षण होने से उन्हीं में आ जाते हैं। एवं यद्यपि ये लक्षण रूप होकर अन्य रोगों में आ जाते हैं; किन्तु इन्हें पृथक् मानना भी अनुचित नहीं है, क्योंकि बहुत से रोग एक रोग में उसके लक्षण होकर आ जाते हैं; किन्तु वे स्वतन्त्र रोग भी होते हैं। जैसे दाह आदि ज्वर आदि में लक्षण रूप से भी होते हैं और अपने विकार में स्वतन्त्र रूप से भी होते हैं। एवं ये भी स्वतन्त्र माने जा सकते हैं, अतएव शार्ङ्गधर ने इन्हें पृथक् माना है। अब अत्यावश्यक होने से इनके विषय में कुछ लिखा जाता है। १ वातज क्षीरालस—इसे माधव ने वातदुष्टस्तन्यज रोग माना है, एवं इसका लक्षण "वातदुष्टं शिशुस्तन्यं" (मा. नि. बा. रो. नि. श्लो. १) इत्यादि है। २ पित्तज क्षीरालस—इसे माधव ने पित्तदुष्ट स्तन्यज रोग नाम से माना है, एवं इसका लक्षण "स्विन्नो भिन्नमलो बालः" (मा. नि. बा. रो. नि. श्लो. २) इत्यादि है। ३ कफजक्षीरालस—इसे माधव ने कफदुष्ट स्तन्यजरोग नाम से माना है, एवं इसका लक्षण "कफदुष्टं पिबन् क्षीरं" (मा. नि. बा. रो. नि. श्लो. ३) इत्यादि है। ४ दन्तोद्भेद—यह एक आवस्थिक लक्षण है, किन्तु इसमें ज्वर अतीसार आदि होते हैं, अतः इसे रोग माना है। इसका लक्षण—"दन्तोद्भेदश्च रोगाणां सर्वेषामपि कारणम्। विशेषाज्ज्वरविड्भेदकासच्छर्दिशिरोरुजाम्" यह है। ५ दन्तघात—यह दो प्रकार से होता है—एक आवस्थिक और दूसरा आगन्तुज। आवस्थिक में पीड़ा कम होती है और आगन्तुज में पीड़ा स्पर्श, द्वेष आदि अधिक होता है। तद्यथा—दन्तघातो द्विधा प्रोक्तः समयासमयप्रभः। प्रथमः कालजस्तत्र द्वितीयो बाह्यहेतुजः॥ प्रथमे वेदना स्वल्पा द्वितीये महती भवेत्"। इसे भञ्जनक (मा. नि. मु. रो. नि. श्लो. २४) भी माना जाता है। ६ दन्तशब्द—यह कृमि वा अजीर्णरोग का एक लक्षण है, किन्तु फिर भी इसे पृथक् रोग माना जाता है। इसका लक्षण—"अजीर्णकृमिदोषाभ्यां सुप्तो दन्तावघट्टनैः। शिशुः 'कटकटं' शब्दं करोति दशनस्वने" यह है। ७ अकालदन्त—यह भी दो प्रकार से होता है—समय के पहले वा बाद में होना। समय के पहले होना भी दो प्रकार से होता है—एक गर्भ में ही और दूसरा जन्मानन्तर तथा नियत समय से पूर्व। इनके लक्षण यथा—"विना कालं समुत्पत्तिर्दशनानां द्विधा भवेत्। प्रथमा गर्भवेलायां द्वितीया जन्मतः

परम् ॥ सदन्तो जायते यस्तु दन्ताः प्राग्यस्य चोत्तराः । अपशकुनकरावेता-वाभ्यान्तु जायतेऽशुभम् ॥ अकाले यस्य जायन्ते दन्ता जन्मनः परम् । रोगा ज्वरादयो बालं तं विशन्ति न संशयः"। ८ अहिपूतना—इसे माधव ने क्षुद्ररोग तथा बालरोग में इसी नाम से माना है। इसका लक्षण उसने "शकृन्मूत्रसमायुक्ते" (मा. नि. क्षु. रो. नि.) इत्यादि माना है। ९ मुखपाक—इसे माधव ने अन्य रोगों का लक्षण माना है, तथा इसका अन्तर्भाव (पैत्तिक वा रक्तज) मुखरोग में है। यथा—"रक्तैः सदाहैस्तनुभिः सपीतैर्यस्याचितं चापि सपित्तकोपात् । रक्तेन पित्तोदित एव चापि कैश्चित्प्रदिष्टो मुखपाकसंज्ञः"। वस्तुतः मुखपाक सर्वसर रोगों में से है, वा मुखपाक ही सर्वसर मुखरोग है। एवं यह माधव के मत में तीन प्रकार का और किसी के मत में चार प्रकार का है। प्रतीत होता है कि मुखपाक से शार्ङ्गधर को पैत्तिक और रक्तज अभिप्रेत है। यह क्षीराद बालकों में दुग्ध के दोष से वा अजीर्ण आदि से, क्षीरान्नाद बालकों में दोनों दोषों और अजीर्ण आदि से तथा अन्नाद में अन्न और अजीर्ण आदि से होता है। १० मुखस्राव—यह भी रोगों के लक्षणों में होता है। विशेषतः अजीर्ण, मुखपाक, उदरकृमि, बाल (स्कन्द) ग्रह, अरोचक आदि में होता है। इसे लालास्राव भी कहते हैं। इसका लक्षण यह है कि—"अजीर्णमुखपाकादिकारणैर्गलसंस्थिताः । ग्रन्थयः स्रावस्राविण्यो दुष्टा लालां स्रवन्ति हि"। ११ गुदपाक—इसे माधव ने अहिपूतना में ही लिया है, परन्तु इसमें पित्त की प्रधानता होती है। कारण दोनों के प्रायः एक से ही हैं। इसका लक्षण—"शकृन्मूत्रसमायुक्तेऽधौते पाने च बालके । स्विन्ने वाऽस्नाप्यमाने वा तथातीसारपीडिते ॥ अन्यैश्च हेतुभिर्दुष्टा गुदा बालस्य पच्यते । रक्ताभा दाहसंयुक्ता पित्तला च ज्वरादिदा"। १२ उपशीर्षक—"कपाले पवने दुष्टे गर्भस्थस्यापि जायते। सवर्णो नीरुजः शोफः स विद्यादुपशीर्षकम्" यह उपशीर्षक का लक्षण है। यह रोग अधिकतर बालकों को होता है, कभी कभी तो गर्भ में भी हो जाता है। इसी लिए तो उपर्युक्त श्लोक में पठित 'गर्भस्थस्यापि' में अपि शब्द दिया है। कई विद्वानों का विचार है कि उपशीर्षक महापद्म ही है, जिसका कि लक्षण माधवनिदान बालरोग में 'विसर्पस्तु' इत्यादि से दिया गया है। १३ पार्श्वारुण—यह अरुण कुष्ठ में, वारुण में वा महापद्म में आ जाता है। कइयों का विचार है कि इसमें मुख, तालु और बाह्यत्वक् पद्मवर्ण की हो जाती है। १४ तालुकण्टक—इसे माधव ने तालुकण्टक नाम से ही पुकारा है। १५ विच्छिन्न विद्वानों का मत है कि इसे माधव ने बाल रोग निदान में तालुपात से दर्शाया है। १६ पारिगर्भिक—यह माधव ने "मातुः कुमारः" इत्यादि से इसी नाम से माना है। इसी का दूसरा नाम परिभवाख्य भी है। १७ दौर्बल्य—'दुष्टस्तन्यनिमित्तेन कारणेनापरेण वा। व्यानो हि विगुणो वातो दौर्बल्यं कुरुते शिशोः ॥ तस्मिन्कासोऽतिसारश्च बहवश्चापरे गदाः । दुःखदाः खलु जायन्ते प्राणहाश्च क्रियां विना ॥" यह दुर्बलता का लक्षण है। १८ गात्रशोष—

'सूखना' वा 'मसान' कहा जाता है। इसमें मुख कान्ति वाला रहता है और दूसरे गात्र सूख जाते हैं। कई इसे मुखमण्डिका में ले लेते हैं। १९ शय्यामूत्र—इसमें बच्चा बड़ी अवस्था में आ जाने पर भी रात को बिस्तर में मूत देता है। बालक में अक्षीणता नहीं होती। पाश्चात्य विद्वान् इस रोग को पिच्युट्रीबाडी की क्षीणता से मानते हैं। २० कुकूणक—इसे माधव ने इसी नाम से माना है। इसका लक्षण उसने 'कुकूणकः' इत्यादि से कहा है। २१ रोदन—"पीड़ादिकारणैर्बालो रौति तत्र करं क्षिपन्। तस्यास्तीव्रामतीव्राञ्च रोदनाल्लक्षयेद्रुजम्"। यह रोदन का लक्षण है। इसी का निर्देश माधव ने 'शिशोः' इत्यादि से किया है। २२ अजगल्ली—इसे माधव ने अजगल्लिका नाम से क्षुद्ररोग में माना है। इसका लक्षण—'स्निग्धाः सवर्णा ग्रथिता नीरुजोमुद्गसन्निभाः। कफवातोत्थिता ज्ञेया बालानामजगल्लिका' यह है।

मधु०—रेवतीग्रहलक्षणमाह—व्रणैरित्यादि। व्रणैः पुराणैः, स्फोटैरविदीर्णैर्नूतनैः, चितं व्याप्तम्। गात्रं पङ्कगन्धं सवेदस्रगिति गात्रमिति कर्तृपदं, पङ्कगन्धं शटितकर्दमगन्धं, समासविधेरनित्यत्वादित्प्रत्ययो न भवति। पूतनालक्षणमाह—अतीसार इत्यादि। ग्रस्त इति गृहीत इत्यर्थः ॥२४-३०॥

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायां बालरोगनिदानं समाप्तम् ॥६८॥

रेवतीग्रहलक्षणमाह—इत्यादि की भाषा सुगम ही है।

अथ विषरोगनिदानम्।

विषस्य स्थावरजङ्गमभेदेन द्वैविध्यमाह—

स्थावरं जङ्गमं चैव द्विविधं विषमुच्यते।
मूलाद्यात्मकमाद्यं स्यात् परं सर्पादिसंभवम् ॥१॥

स्थावर और जङ्गम के भेद से विष दो प्रकार का होता है, जिनमें से प्रथम (अर्थात् स्थावर) मूलाद्यात्मक और दूसरा सर्प आदि से होने वाला होता है।

वक्तव्य—भाव यह है कि विष दो प्रकार का होता है, जिनमें से मूलात्मक विष स्थावर और सर्पादिसम्भव विष जंगम कहलाता है। ज्वर आदिकों की तरह विष की भी पूर्वोत्पत्ति मिलती है। जैसे चरक ने कहा भी है कि—"अमृतार्थं समुद्रे तु मथ्यमाने सुरासुरैः। जज्ञे प्रागमृतोत्पत्तेः पुरुषो घोरदर्शनः। दीप्ततेजश्चतुर्दंष्ट्रो हरित्केशोऽनलेक्षणः। जगद्विषण्णं तं दृष्ट्वा तेनासौ विषसंज्ञितः। तदम्बुसम्भवं तस्माद्विविधं पावकोत्तमम् ॥" (च. चि. स्था. अ. २३)। एवं उपर्युक्त इसकी उत्पत्ति तथा इसके नामकरण में बीज है। ये दोनों (स्थावर और जङ्गम) भेद वस्तुतः अकृत्रिमविष के भेद हैं। कृत्रिमविष जिसे कि गर ('गरं संयोगजं' चरकः) विष कहा जाता है, दो प्रकार का होता है—एक निर्विष द्रव्यों के संयोग से और दूसरा सविष द्रव्यों के संयोग से। एवं कृत्रिम और अकृत्रिम भेद से

विष दो प्रकार का; स्थावर, जङ्गम और गर भेद से विष तीन प्रकार का होता है। जैसे कि सुश्रुत और वाग्भट ने कहा भी है कि—"स्थावरं जङ्गमं यच्च कृत्रिमं चापि यद्विषम्" (सु. क. स्था. अ. २) तथा "स्थावरं जङ्गमं चेति विषं प्रोक्तमकृत्रिमम्। कृत्रिमं गरसंज्ञं तु क्रियते विविधौषधैः" (वा. उ. स्था. ३५)। इनमें से प्रथम अर्थात् स्थावर विष पहले मुख्यतः दश प्रकार का होता है। तदनु यह ५५ (पञ्चपञ्चाशत्) प्रकार का हो जाता है। दूसरा जङ्गमविष सोलह प्रकार का होता है। जैसे कहा भी है कि—"स्थावरं जङ्गमञ्चैव द्विविधं विषमुच्यते। दशाधिष्ठानमाद्यन्तु द्वितीयं षोडशाश्रयम्" (सु. उ. स्था. अ. २)। तीसरा गरसंज्ञक विष होता है, जिसके विषय में चरक लिखते हैं कि—"गरं संयोगजं चान्यद्गरसंज्ञं गरप्रदम्। कालान्तरविपाकित्वान्न तदाशु हरत्यसून्" (च. चि. स्था. अ. २३)।

मधु०—पारिशेष्याद्विषरोगनिदानमुच्यते—स्थावरमित्यादि। विषादजनकत्वाद्विषं, तच्च द्विविधं स्थावरं जङ्गमं च। मूलाद्यात्मकमिति आद्यं स्थावरं मूलादिरूपं दशविधं, यदुक्तं सुश्रुते—"मूलं पत्रं फलं पुष्पं त्वक् क्षीरं सार एव च। निर्यासो धातवश्चैव कन्दश्च दशमः स्मृतः॥" (सु. क. स्था. अ. २) इति। तत्र क्लीतकाश्वमारकगुञ्जासुगन्धगर्गरकरघाटविद्युच्छिखानन्ताविजयानीत्यष्टौ मूलविषाणि, विषपत्रिकालम्बासुरदारुकरम्भमहाकरम्भाणि पञ्च पत्रविषाणि, कुमुद्वतीरेणुकाकरम्भमहाकरम्भकर्कोटकरेणुकखद्योतकचर्मरीभगन्धासर्पघातिनन्दनसारपाकानि द्वादश फलविषाणि, वेत्रकादम्बवल्लीजकरम्भमहाकरम्भाणि पञ्च पुष्पविषाणि, अन्त्रपाचककर्तरीयशैलेयकरम्भनन्दनकरघाटवराटकानि सप्त त्वङ्निर्याससारविषाणि, कुमुदघ्नीस्नुहीजालक्षीरीणि त्रीणि क्षीरविषाणि, फेनाश्मभस्म हरितालं च द्वे धातुविषे, कालकूटवत्सनाभसर्षपकपालकर्दमकवैराटकमुस्तकमहाविषप्रपौण्डरीकमूलकहलाहलशृङ्गिमर्कटकानि त्रयोदश कन्दविषाणि, एतानि प्राणहराणि, एवं पञ्चपञ्चाशत् स्थावराणि विषाणि भवन्ति। एषां च व्याधपुलिन्दादिभ्यो व्यक्तिज्ञानं कर्तव्यम्।

अवशिष्ट होने से अत्र विषरोग के निदान को कहा जाता है कि—स्थावरमित्यादि। विषादजनक होने से इसे विष कहा जाता है और वह विष दो प्रकार का होता है—एक स्थावर और दूसरा जङ्गम। पहला मूलाद्यात्मक स्थावरविष मूलादि रूप से दस प्रकार का होता है। जैसे सुश्रुत में कहा भी है कि—मूल, पत्र, फल, पुष्प, त्वचा, क्षीर, सार, निर्यास धातु एवं कन्द (दसवां विष स्थावर विष है। एवं) ये दस स्थावर विष हैं। इनमें से १ क्लीतक, २ अश्वमार (कनेर), ३ गुञ्जा (रक्तिका—"काकणन्ती च रक्तिका" भावमिश्रः), ४ सुग(ब)न्ध, ५ गर्गरक, ६ करघाट, ७ विद्युच्छिखा, और ८ विजया ये आठ मूल विष हैं। विषपत्रिका, कालम्बा, (सुर) दारुक, करम्भ और महाकरम्भ ये पांच पत्र विष हैं। कुमुद्वती, रे(वे)णुका, करम्भ, महाकरम्भ, कर्कोटक, रेणुक, खद्योतक, चर्मरी, इभगन्धा, सर्पघाती, नन्दन और सारपाक ये बारह फल विष हैं। वेत्र, कादम्ब, वल्लीज, करम्भ और महाकरम्भ ये पांच पुष्पविष है। अन्त्र, पाचक, कर्तरीय, शैलेय, करम्भ, नन्दन, करघाट और वराटक ये त्वक्, निर्यास और सार विष हैं। कुमुदघ्नी, स्नुही और जालक्षीरी ये तीन क्षीर विष हैं।

फेनाश्म भस्म और हरिताल ये दो धातुविष हैं। कालकूट, वत्सनाभ, सर्षपक, पालक, कर्दमक, वैराटक, मुस्तक, महाविष, प्रपौण्डरीक, मूलक, हलाहल, शृङ्गिविष और मर्कट ये तेरह कन्द विष हैं। एवं ५५ (पचपन) स्थावर विष होते हैं। इनका आकृति ज्ञान व्याध, पुलिन्द आदिकों से करना चाहिए।

वक्तव्य—ऊपर जो स्थावर विष के पचपन प्रकार बताए हैं, वे सुश्रुत के अनुसार ही हैं, केवल कहीं पाठान्तर होने से भेद है। कई विद्वानों ने हिन्दी करते हुए किसी २ अक्षर का इधर उधर संयोजन कर नाम में भी कुछ परिवर्तन कर दिया है। पहले इन दोनों को स्पष्ट कर फिर इन विषों के विषय में भी कुछ लिखा जावेगा। सुश्रुत में इस प्रकार पाठान्तर मिलता है। यथा—"तत्र क्लीतकाश्वमारगुञ्जासुग(ब)न्धगर्गरककरघाटविद्युच्छिखा(अनन्ता)विजयानीत्यष्टौ मूलविषाणि; विषपत्रिकालम्बावरदारु(क)करम्भमहाकरम्भाणि पञ्च पत्रविषाणि; कुमुद्वतीवे(रे)णुकाकरम्भमहाकरम्भकर्कोटकरे(वे)णुकखद्योतकचर्मरीभगन्धासर्पघातिनन्दनसारपाकानीति द्वादश फलविषाणि; वेत्रकादम्बवल्लीजकरम्भमहाकरम्भपञ्चपुष्पविषाणि; अन्त्रपाचककर्तरीयसौरीयककरघाटकरम्भनन्दनना(वा)राचकानि सप्त त्वक्सारनिर्यासविषाणि; कुमुदघ्नीस्नुहीजालक्षीरीणि त्रीणि क्षीरविषाणि; फेनाश्म(भस्म)हरितालं च द्वे धातुविषे; कालकूटवत्सनाभसर्षपपा(का)लककर्दमकवैराटकमुस्तकशृङ्गीविष(महाविष)प्रपुण्डरीकमूलहलाहलमहाविष(शृङ्गीविष)क(म)र्कटकानीति त्रयोदश कन्दविषाणि; इत्येवं पञ्चपञ्चाशत् स्थावरविषाणि भवन्ति" (सु. क. स्था. अ. २)। अब नामों के विषय में यह लिखना है। कई विद्वानों ने उक्त सुश्रुत पाठ की हिन्दी टीका करते हुए किसी अक्षर को इधर उधर कर भिन्न नाम स्वीकार किए हैं। उनका निर्णय भी नहीं हो सकता कि वस्तुतः क्या चाहिए, क्योंकि जब तक वस्तु ज्ञान न हो तब तक निर्णय नहीं हो सकता। उनके दृष्टान्तों का निदर्शन दिया जाता है। तद्यथा—'गर्गरककरघाट' में दो विष निर्दिष्ट हैं। इनको पृथक् करते हुए कई विद्वान् गर्गरक और करघाट इस प्रकार कहते हैं; और कई गर्गर और ककरघाट इस प्रकार कहते हैं। 'विषपत्रिकालम्बावरदारुकरम्भ' इसमें चार विष निर्दिष्ट हैं। इनको पृथक् बताते हुए कई विद्वान् विषपत्रिका, लम्बा, वरदारु और करम्भ; इस प्रकार चार मानते हैं; तथा कई विद्वान् विषपत्रिका, लम्बावर, दारुक और करम्भ; इस प्रकार मानते हैं। अन्त्रपाचकर्तरीय—इत्यादि से त्वक्सार और निर्यास विषों को बताया है। कई विद्वान् इसकी हिन्दी करते हुए 'अन्त्र, पाचक, कर्तरीय, सौरीयक, करघाट, करम्भ, नन्दनवराटक ये सात त्वक् (छाल) और सार तथा निर्यास (गोंद) विष हैं' यह कहते हैं, परन्तु इस प्रकार गणना से ये आठ बनते हैं। कई त्वक्सार को एक मान कर हिन्दी करते हैं, एवं सात ही बनते हैं। एवं क्षीरविषों में कहीं 'कुमुदघ्नी' पाठ मिलता है और कहीं 'कुमुद्वती' एवं अर्थ में अतीव अन्तर पड़ जाता है। यह निर्णय भी नहीं हो सकता कि वस्तुतः कुमुदघ्नी विष है; वा कुमुद्वती। दोनों पर्यायवाचक भी नहीं माने जा सकते, क्योंकि अर्थ भिन्नताद्योतक है। एवं यह नहीं कहा जा सकता कि यहां वस्तुतः क्या चाहिए, क्योंकि हमारी गुरुपरम्परा की शृङ्खला कई सदियों से टूट चुकी है। अतः हम इसका ज्ञान नहीं कर सकते। मैंने इस विषय के अन्वेषणार्थ कई कोष और कई निघण्टु देखे, किन्तु वहीं का वहीं रहा, कुछ ज्ञान न हुआ; क्योंकि कोषों में भी इनका कोई विशेष वर्णन नहीं मिलता। उदाहरणार्थ—सब से पहले क्लीतक (मूलविष) को ही लीजिए। इसके विषय में कोष बताते हैं कि क्लीतक नाम मुलैठी का है। तद्यथा—'मधुकं क्लीतकं यष्टिमधुकं

मधुयष्टिका' (अमरः) । एवं कोषों द्वारा क्लीतक मुलैठी सिद्ध होता है, किन्तु मुलैठी विष नहीं है, प्रत्युत 'यह एक मशहूर दरख़्त की जड़ है' (मखज़न उल मुफरदात)। इसी प्रकार का एक और पदार्थ है, जिसे क्लीतकिका कहा जाता है। इसके विषय में कोष में आता है कि—'नीली काला क्लीतकिका ग्रामीणमधुपर्णिका'। यहां क्लीतकिका को नीली कहा है। एवं वस्तुतः क्लीतक किस द्रव्य को कहते हैं, यह निर्णय नहीं होता। जरा पत्रविषों को लीजिए, इनमें से विषपत्रिका को कई विद्वान् भांग से लेते हैं, और कई भांग के उस प्रकार को लेते हैं जिससे कि गाञ्जा बनता है। वस्तुतः भांग और गाञ्जा एक प्रकार की सी वस्तु है, केवल पत्रों में और तीक्ष्णता में भेद है, जो कि सम्भवतः विकास से किया गया हो। इसी लिए भावमिश्र ने भङ्ग के पर्यायवाचकों में गाञ्जे का भी ज़िक्र किया है। तद्यथा—'भङ्गा गञ्जा मातुलानी मादिनी विजया जया' (हरीतक्यादिनिघण्टु)। इतना होने पर भी यह सिद्धान्त है, यह नहीं कहा जा सकता। एवं कई विद्वान् 'विषत्रिकालम्बा' में 'विषपत्रिका' और 'लम्बा' इस प्रकार का विच्छेद कर 'लम्बा' से कड़ुवी तुम्बी लेते हैं। एवं कई विद्वान् 'विषपत्रिका-लम्बावरदारु' में अन्तिम वस्तु वरदारु मान, इससे सागौन वृक्ष लेते हैं, किन्तु कई वारदारु के स्थान पर सुरदारु पाठान्तर मान सुरदारु से देवदारु (देवदार वा दयार) लेते हैं, किन्तु यह विष है, यह नहीं कहा जा सकता। इसी भांति फलविषों का भी पता नहीं चलता। समय के परिवर्तन से नाम ही बदल गए हैं। यहां तक कि इन नामों का पता ही नहीं लगता, न किसी कोष में मिलते हैं और न किसी ग्रन्थ में। फलविषों में आजकल कुचला एक प्रसिद्ध विष है; किन्तु यहां पता नहीं लगता कि उसे किस नाम से पुकारा गया है। एवं जो नाम फलविष में दिए हैं, वे किन द्रव्यों के हैं, यह भी पता नहीं लगता। यह कोई आज की बात नहीं है। डल्हण और श्रीकण्ठदत्त को भी इनका पता नहीं था। अतः उन्होंने लिखा है कि—'मूलादिविषाणां यत्नैरपि ज्ञातुमशक्यत्वात् तत्र तानि हिमवत्प्रदेशे किरातशबरा-दिभ्यो ज्ञेयानि' (डल्हणः)। तथा—'एषाञ्च व्याधपुलिन्दादिभ्यो व्यक्तिज्ञानं कर्तव्यम्' (श्रीकण्ठ-दत्तः)। यद्यपि विषों के विषय में उपर्युक्त बात ही है, किन्तु फिर भी जिन एक आध के विषय में कुछ अनुसन्धान मिलता है, वह इस प्रकार है कि अश्वमार—इसे कनेर कह सकते हैं। जैसे भावमिश्र ने भी कहा है कि—'करवीरः श्वेतपुष्पः शतकुम्भोऽश्वमारकः' (हरीतक्यादि-निघण्टुः); इसे फारसी में खरजेहरा और इङ्गलिश में 'स्वीटसेंटेडओलियंडर (Swet-serutedoleander) कहा जाता है। गुञ्जा—रक्तिका। जैसे कहा भी है कि—'श्वेतगुञ्जोच्चटा प्रोक्ता कृष्णला वापि सा स्मृता। रक्ता सा काकचिंची स्यात्काकणन्ती च रक्तिका' (हरीतक्यादिनि०)। इसे फारसी में 'चश्मेखरूस' और इङ्गलिश में 'बिडट्री' (Beadtree) कहा जाता है। करघाट—इसे कई विद्वान् मैनफल की जड़ मानते हैं, क्योंकि उसकी नामावलि में इससे मिलता जुलता एक 'करहाट' नाम है। सम्भवतः इनमें से कहीं आगे चलकर वर्णव्यत्यय हो गया हो वा 'करहाट' की जड़ 'करघाट' हो। इसे भावमिश्र ने इस प्रकार बताया है कि—'मदनः छर्दनः पिण्डी राठः पिण्डीतकस्तथा। करहाटो मरुवकः शल्यको विषपुष्पकः' (हरी-तक्यादिनि०)। यदि 'करघाट' 'करहाट' ही है तो इसका देसी नाम मैनफल, राठा और इङ्गलिशनाम 'बुशी गार्डिनीया' (Bushy Gardnia) है। सुगन्धा—इसके विषय में कोष बताते हैं कि–'नाकुली सुरसा रास्ना सुगन्धा गन्धनाकुली। नकुलेष्टा भुजङ्गाक्षी छत्राकी सुवहा च सा' (अमरः); इस पाठ को कई विद्वान् रास्नापरक मानते हैं, एवं रास्ना भी सन्दिग्ध द्रव्य है। उसको कोई कुछ मानता है, कोई कुछ। कोई कुलञ्जन को रास्ना मानता है और कोई एक पीले वर्ण की नड़े जैसी लम्बी २ वस्तु को रास्ना मानता है। एवं कोई तुलसी को

ही रास्ना मानता है। अतः यहां निर्णय नहीं हो सकता, क्योंकि यहां जिन वस्तुओं को सुगन्धा वा रास्ना माना गया है, वे विष नहीं हैं। अब आगे चलिए—हरीतक्यादि निघण्टु कहता है कि—'रास्ना युक्तरसा रस्या सुवहा रसना रसा। एलापर्णी च सुरसा सुगन्धा श्रेयसी तथा' ॥ यह भी रास्ना के ही नाम हैं, किन्तु इसमें नाकुली आदि अमरोक्त नाम नहीं आए। अतः प्रतीत होता है कि अमरसिंह ने रास्ना और नाकुली को एक भाव मानकर वर्णन किया है, जो कि वैद्यकतन्त्रों के विरुद्ध है। सम्भवतः सुरसा और सुगन्धा की नामसमता को लेकर उसने दोनों को एक माना हो। अब नाकुली की ओर देखने से उसके ये नाम मिलते हैं कि—'नाकुली सुरसा नागसुगन्धा गन्धनाकुली। नकुलेष्टा भुजङ्गाक्षी सर्पाक्षी विषनाशिनी'। एवं इसके नामों में भी 'नागसुगन्धा' यह एक नाम है। सम्भवतः सुश्रुत ने इसी नाम को लक्ष्य रख आदि पद का लोप कर मूलविषों में 'सुगन्धा' पद दिया हो। शिमले, सोलन और मसूरी आदि में एक क्षुप मिलता है, जिसे नाकुली कहा जाता है। वहां के पर्वतीय लोगों का कथन है कि यह विषैला क्षुप है। विशेषतः इसके मूल में कन्द होता है, जो कि अधिक विषैला होता है। सम्भवतः यह नाकुली वही हो। फारसी में इस नाकुली को छोटा चान्दा कहा जाता है। सम्भवतः यह भी इसलिए कहा जाता हो कि उसकी जिस टहनी से पत्र लगते हैं, वह चन्द्राकार होती है और उसमें पांच सात पत्ते लगे होते हैं। विद्युच्छिखा कलिहारी को माना जाता है, क्योंकि इसकी शिखा बिजली की तरह ही चमकती है। इसे अग्निशिखा आदि भी कहा जाता है। इसका मूल भी विषैला होता है। इसे कलिहारी, लाङ्गली, हलिनी, विशल्या, अग्निशिखा, वह्निवक्त्रा, वुल्फसेबन (Walfsbane) आदि नामों से पुकारा जाता है। हरिद्वार आदि स्थानों में इसकी उपलब्धि पर्याप्त होती है। अब एक बात यह आती है कि कई इसके कन्द को वत्सनाभ विष कहते हैं। तद्यथा—"अस्याः कन्दं वत्सनाभविषम्"। किन्तु यदि कलिहारी उपर्युक्त मानी जावे तो उसका कन्द वत्सनाभ नहीं कहलाता, बल्कि लङ्गलीकन्द कहलाता है। अथवा हो सकता है कि वत्सनाभ के क्षुप को भी कलिहारी कहा जाता हो। कुछ भी हो, ये दोनों ही विष हैं। विजया—इसको कई आचार्य भांग मानते हैं, क्योंकि उनका कथन है कि भांग का मूल विषैला होता है। होता होगा, परन्तु मुझे अनुभव नहीं हुआ। मैं बहुत दिन तक भांग के काण्ड की, जिसके साथ कभी कभी मूल भी लगा रहता था, दँतवन करता रहा हूं, किन्तु कोई विषैला प्रभाव नहीं हुआ। सम्भवतः इसमें अतिन्यून विष होता हो जो कि अल्पमात्रा में कोई लक्षण न उपजा सकता हो। एक बात और भी है, वह यह कि भंग के नामों में विजया भी आता है। तद्यथा—'भङ्गा गञ्जा मातुलानी मादिनी विजया जया'। सम्भवतः इसी लिए विजया से भांग ली जाती हो। वैसे भंग भी विष है अवश्य। अतः यह हो सकता है कि यहां विजया से भङ्ग ही अभिप्रेत हो। स्नुही—थोहर को कहा जाता है। जैसे कहा भी है कि—'सेहुण्डः सिंहतुण्डः स्याद्वज्री वज्रद्रुमोऽपि च। सुधा समन्तदुग्धा च स्नुक्स्त्रियां स्यात्स्नुही गुडा'। इसका दुग्ध विषाक्त होता है। फेनाश्मभस्म—इससे कई संखिया लेते हैं। हरिताल—वरकिया हड़ताल। इसके ये नामान्तर हैं। यथा—"हरितालं तालमालमालं शैलूषभूषणम्" (रसेन्द्रसारः)। वत्सनाभ—मीठा तेलिया। इसे कई लोग सींगिया विष भी कहते हैं; किन्तु सुश्रुत ने शृङ्गी विष (वत्सनाभ से) पृथक् माना है। तेरह प्रकार के प्रतिपादित कन्द विषों के वर्ण विषय में बृहद्रसराजसुन्दरकार यह लिखता है कि—'कर्कटं कपिवर्णं स्यात् काकचञ्चुनिभं पुनः। कालकूटं ततो ज्ञेयं वत्सनाभं तु पाण्डुरम् ॥ भङ्गराकन्दवत्, देवि ! नीलवर्णं हलाहलम्। वालुकं (पालकं) वालुकाभञ्च, कर्दमं कर्दमोपमम् ॥ सक्तुकं श्वेतवर्णं स्यात्, शुक्लकन्दन्तु मूलकम्। सर्षपं पीत-

वर्ण स्याच्छृङ्गकं कृष्णपिङ्गलम् ॥ मुस्ताभं मुस्तकं प्रोक्तं रक्तवर्णं महाविषम्। हरिद्रकं पीतवर्णं विषभेदाः प्रकीर्तिताः" (बृहद्रसराजसुन्दरम्)। बाकी विषों के विषय में भी अनुमान तथा समता ही देखनी पड़ती है। सो विज्ञ स्वयं मिला लें, अनुमानमात्र अपनी २ बुद्धि के अनुसार करना चाहिए। यहां सब के विषय में विस्तारभय से नहीं लिखा जाता। भावमिश्र ने अपने भावप्रकाश में विषों की गणना इस प्रकार दी है कि—"वत्सनाभः सहारिद्रः सक्तुकश्च प्रदीपनः। सौराष्ट्रिकः शृङ्गिकश्च कालकूटस्तथैव च॥ हालाहलो ब्रह्मपुत्रो विषभेदा अमी नव"। इनमें वत्सनाभ को सुश्रुत ने चार प्रकार का माना है। तद्यथा—'चत्वारि वत्सनाभानि मुस्तके द्वे प्रकीर्तिते। षट् चैव सर्षपाण्याहुः शेषाण्येकैकमेव तु' (सु. क. स्था. अ. २)। इन नौ विषों के अतिरिक्त भावमिश्र ने सात उपविष भी माने हैं—'अर्कक्षीरं स्नुहीक्षीरं लाङ्गली करवीरकम्। गुञ्जाहिफेनो धत्तूरः सप्तोपविषजातयः' अर्थात्—वत्सनाभ[1] (मिट्ठा तेलिया), हारिद्र, सक्तुक, प्रदीपन, सौराष्ट्रिक, शृङ्गी (सींगी मोहरा), कालकूट, हालाहल और ब्रह्मपुत्र[2] (संखिया) ये नौ विष के भेद हैं। इनका आकृतिनिर्देश बृहद्रसराजसुन्दर में भली प्रकार वर्णित किया है। उसने उपविषों में विषमुष्टि जयपालादिकों को भी लिया है। तद्यथा—'स्नुह्यर्कलाङ्गली गुञ्जा हयारिविषमुष्टिकाः। जैपालोन्मत्त आफूकं नवोपविषजातयः' (बृहद्रसराजसुन्दर)। इनके लक्षण, तथा सुश्रुतोक्त तेरह प्रकार के कन्द विषों के लक्षण तथा आकृति आदि भी बृहद्रसराजसुन्दर से जाननी चाहिए। इन सब का विस्तार यहां नहीं किया जा सकता। यदि हो सका तो परिशिष्ट में कुछ लिखा जायगा।

मधु०—परं सर्पादिसंभवमिति परं जङ्गमं, तच्च षोडशाभिधानं—दृष्टिनिःश्वासदंष्ट्रानखमूत्रपुरीषशुक्रलालार्तवमुखसंदंशपर्दितगुदास्थिपित्तशूकशवभेदात्। पर्दितं पायुकृतः कुत्सितशब्दः, 'पर्द' कुत्सिते शब्दे, इत्यस्य प्रयोगात्। तत्र दृष्टिनिःश्वासविषा दिव्याः सर्पाः, भौमाः सर्पाः दंष्ट्राविषाः, मार्जारमकरव्याघ्रादयो दंष्ट्रानखविषाः, पिच्चिटकौण्डिन्यादयो मूत्रपुरीषविषाः, मूषिकाः शुक्रविषाः, वृश्चिकवरट्युच्चिटिङ्गादयो आराविषाः, लूता लालार्तवविण्मूत्रशुक्रमुखसंदंशविषाः, चित्रशीर्षकशतदारुकशारिकादयो मुखसन्दंशदंष्ट्रापर्दितगुदपुरीषविषाः, विषहतास्थिमत्स्यास्थिप्रभृतयोऽस्थिविषाः, शकुलीमत्स्यादयः पित्तविषाः, सूक्ष्मतुण्डभ्रमरादयः शूकविषाः, कीटसर्पदेहा गतासवः शवविषाः। एषां च सुश्रुतस्य कल्पस्थाने विस्तरो द्रष्टव्यः ॥१॥

परं सर्पादिसंभवं—परं अर्थात् जङ्गमविष और वह जङ्गमविष दृष्टि, विश्वास, दंष्ट्रा, नख, मूत्र, पुरीष, शुक्र, लाला, आर्तव, मुख, सन्दंश, पर्दित, गुदा, अस्थि, पित्त, शूक और शव भेद से सोलह प्रकार का होता है। पर्दित अर्थात् गुदा से किया हुआ कुत्सित शब्द (जिसे हिन्दी में पाद, पञ्जाबी में पद्द, संस्कृत में गुदगर्जन कहा जाता है)। इसी में 'पर्द' कुत्सिते शब्दे का प्रयोग है। उपर्युक्त विष प्रकारों में से दृष्टि और श्वास विष वाले दिव्य सर्प होते हैं, और दूसरे अर्थात् भौमिक सर्प दंष्ट्राविष होते हैं। मार्जार (बिल्ला, बिलाव), मकर (मगरमच्छ), व्याघ्र (बघयाड़ इति भाषायां; शार्दूल इति तन्त्रे, तद्यथा—'शार्दूलद्वीपिनौ व्याघ्रे' इत्यमरः) आदि दंष्ट्रा और नखविष होते हैं। पिच्चिट, कौण्डिन्य आदि मूत्र तथा पुरीष विष होते हैं। मूषिका शुक्रविष होती है। वृश्चिक (बिच्छु), वरटी (धमोड़ी-डेम्मु) और उच्चिटिङ्ग आदि आरा विष होते हैं। लूता, लाला, आर्तव, मल, मूत्र, शुक्र, मुख और

१ एकोनाइट (Aconight). २ ओफे संड ऑफआर्सेनिक (Oeasiad of arsenik). नक्स वामिका (Nucis vomica).

सन्दंश विष होती है। चित्रशीर्षक, शतदारुक और शारिका आदि मुख, सन्दंश (डङ्क), दंष्ट्रा, पर्दित, गुद और पुरीष विष होते हैं। विषहतास्थि और मत्स्यास्थि आदि अस्थि-विशेष अस्थिविष होते हैं। शकुली मत्स्य आदि पित्तविष होते हैं। सूक्ष्म तुण्ड भ्रमरादि शूकविष होते हैं। एवं कीड़े और सर्पों की प्राणरहित देह शवविष होती है। इनका विस्तार सुश्रुत के कल्पस्थान में देखना चाहिए।

वक्तव्य—सुश्रुत कल्प में इनका विशद वर्णन इस प्रकार है कि—तत्र दृष्टिनिःश्वासदंष्ट्रानखमूत्रपुरीषशुक्रलालार्तवमुखसन्दंशविशर्द्धितगुदास्थिपित्तशूकशवानीति। तत्र दृष्टिनिःश्वासविषास्तु दिव्याः सर्पा भौमास्तु दंष्ट्राविषाः। मार्जार (बिल्ली) श्व (कुत्ता) वानर (बन्दर) मकर (मगर) मण्डूक (एक प्रकार का विषैला मेंडक) पाकमत्स्य (एक प्रकार का मच्छ) गोधा (गोह वा गुहेरा) शम्बूक (जलजन्तु) प्रचालक (कीटविशेष) गृहगोधिका (छिपकली) चतुष्पाद कीटास्तथाऽन्ये दंष्ट्रानखविषाः। चिपिटपिच्चटककषायवासिकसर्षपवासिकतोटकवर्चःकीटकौण्डिल्यकाः शकृन्मूत्रविषाः। मूषिकाः शुक्रविषाः। लूताश्च (मकड़ी) लालामूत्रपुरीषमुखसंदंशनखशुक्रार्तवविषाः। वृश्चिकविश्वम्भरराजीवमत्स्योच्चिटिङ्गाः समुद्रवृश्चिका श्वानविषाः। चित्रशिरःसरावकुर्दितशतदारुकारिमेदकसारिकामुखा मुखसंदंशविशर्द्धितमूत्रपुरीषविषाः। मक्षिकाकणभजलायुका मुखसन्दंशविषाः। विषहतास्थि सर्पकंटकवरटीमत्स्यास्थि चेत्यस्थिविषाणि। शकुलीमत्स्यरक्तराजीचरकीमत्स्याश्च पित्तविषाः। सूक्ष्मतुण्डोच्चिटिङ्गवरटी शतपदीशूकवलभिकाशृङ्गिभ्रमराः शूकतुण्डविषाः। कीटसर्पदेहा गतासवः शवविषाः। शेषास्त्वनुक्ता मुखसन्दंशविषेष्वेव गणयितव्याः" (सु. क. स्था. अ. १)।

जङ्गमविषस्य सामान्यस्वरूपमवतारयति—

निद्रां तन्द्रां क्लमं दाहमपाकं लोमहर्षणम्।
शोथं चैवातिसारं च जङ्गमं कुरुते विषम् ॥२॥ [च० ६।२३]

जङ्गमविष निद्रा, तन्द्रा, क्लम, दाह, अपाक, लोमहर्षण, सूजन और अतीसार को करता है।

मधु०—तत्र जङ्गमविषस्य बह्वधिष्ठानत्वेन प्राधान्यात् सर्ववेगानुगतं सामान्यलिङ्गमाह—निद्रामित्यादि। एतत् सुबोध्यम् ॥२॥

तत्र जङ्गमविषस्य इत्यादि की भाषा सुगम है।

स्थावरविषस्य सामान्यस्वरूपमाह—

स्थावरं च ज्वरं हिक्कां दन्तहर्षं गलग्रहम्।
फेनच्छर्द्यरुचिश्वासं मूर्च्छां च कुरुते भृशम् ॥३॥ [च० ६।२३]

स्थावरविष ज्वर, हिक्का, दन्तहर्ष, गलग्रह, फेनवमन, अरुचि, श्वास और मूर्च्छा को करता है।

मधु०—स्थावरस्य सामान्यलिङ्गमाह—स्थावरं चेत्यादि। फेनच्छर्दिरिति फेनस्य छर्दिः ॥३॥

स्थावरस्येत्यादि की भाषा सुगम है।

विषदातुर्विज्ञानोपायानाह—

इङ्गितज्ञो मनुष्याणां वाक्चेष्टामुखवैकृतैः।
जानीयाद्विषदातारमेभिर्लिङ्गैश्च बुद्धिमान् ॥४॥ [सु० ५।१]

मनुष्यों की चेष्टाओं को जानने वाला (वैद्य, अफसर वा बुद्धिमान् प्राणी) वाणी, चेष्टा और मुख की विकृति आदि लक्षणों को देखकर विषदाता को जान ले। भाव यह है कि इन लक्षणों से विषदातां को पहचान ले।

विषदातुः स्वरूपमवतारयति—

न ददात्युत्तरं पृष्टो विवक्षुर्मोहमेति च।
अपार्थं बहु संकीर्णं भाषते चापि मूढवत् ॥५॥ [सु० ५।१]
हसत्यकस्मात्स्फोटयत्यङ्गुलीर्विलिखेन्महीम्।
वेपथुश्चास्य भवति त्रस्तश्चान्योन्यमीक्षते ॥६॥ [सु० ५।१]
विवर्णवक्त्रो ध्यामश्च नखैः किंचिच्छिनत्त्यपि।
आलभेतासनं दीनः करेण च शिरोरुहम् ॥७॥ [सु० ५।१]
वर्तते विपरीतं च विषदाता विचेतनः।

जो मनुष्य पूछने पर उत्तर नहीं देता, जो कहने की इच्छा करने पर (कथन के समय) मूर्च्छित हो जाता वा भूल जाता है, जो मूर्ख की तरह निरर्थक, बहुत एवं अस्तव्यस्त बकता है, बिना कारण के हँसने लगता है, कुछ पूछने पर अपनी अङ्गुलियों को मरोड़ने वा चटकाने लगता है, यदि बैठा हो और उस समय पूछने पर नाखून आदि से पृथ्वी को कुरेदने लगता है, जो पूछने पर काँपने लगे वा जो अकारण काँप रहा हो, जो भीत हो, कुछ न कहकर एक दूसरे को देखने लगे, जो विकृतमुख और दग्ध के समान म्लानमुख होकर नाखूनों से कुछ (तृण आदि) काटने लगता है, जो दीन अवस्था में बैठ जाता है, तथा जो हाथ से अपने सिर के वालों को नोचे एवं जो किंकर्तव्यविमूढ हुआ २ अपनी प्रकृति के प्रतिकूल आचरण करता है उसे विषदाता समझना चाहिये। ये विषदाता के लक्षण हैं। विद्वान् इनसे विषदाता का ज्ञान करें।

वक्तव्य—उपर्युक्त का भाव यह है कि जो व्यक्ति किसी को विष दे देता है, उसके सिर पर आगामी विपत्तियों का भय सवार हो जाता है जिससे कि वह अपने आप में नहीं रहता। उस समय यदि उससे कोई सामान्य सा प्रश्न, कि तुम किधर से आए हो, जैसा कर दिया जावे तो वह उसका उत्तर नहीं देता। यदि उत्तर देने भी लगे तो मन के अस्थिर होने से वक्तव्य भूल जाता है, जिससे मूर्खों की तरह निरर्थक, वहुत एवं वेतुका वकवास करने लगता है या अकारण हँसता हुआ गिड़गिड़ाने लगता है, वा अपनी अङ्गुलिएं चटकाने लगता है, यदि वैठा हो तो नाखून आदि से जमीन खुरेदने लगता है, वा काँपने लगता है, अथवा भय से एक दूसरे का मुख देखने लगता है कि अब क्या कहें। इस प्रकार के मनुष्य तथा जो दीनता से वैठ जाता है, वा अपने हाथ से अपने वाल उखाड़ने लगता है और जो विवेकमूढ़ होकर विपरीत अर्थात् अपने आप ही कहने लगता है कि मैंने तो नहीं विष दिया, मैं ऐसा कुकर्म कैसे कर सकता

मैं तो यहां ही नहीं था आदि बिना पूछे ही कहने लगता है, उसे इङ्गितज्ञ विद्वान् विषदाता समझे। इसी बात को सुश्रुत ने कुछ पाठभेद तथा अधिक पाठ के साथ इस प्रकार वर्णित किया है कि—"इङ्गितज्ञो मनुष्याणां वाक्चेष्टामुखवैकृतैः। विद्याद्विषस्य दातारमेभिर्लिङ्गैश्च बुद्धिमान्॥ न ददात्युत्तरं पृष्टो विवक्षन् मोहमेति च। अपार्थं बहुसङ्कीर्णं भाषते चापि मूढवत्॥ स्फोटयत्यङ्गुलीर्भूमिमकस्माद्विलिखेद्धसेत्। वेपथुर्जायते तस्य त्रस्तश्चान्योन्यमीक्षते॥ क्षामो विवर्णवक्त्रश्च नखैः किञ्चिच्छिनत्त्यपि। आलभेतासकृद्दीनः करेण च शिरोरुहान्॥ निर्यियासुरपद्वारैर्वीक्षते च पुनः पुनः। वर्तते विपरीतस्तु विषदाता विचेतनः॥" (सु. क. स्था. अ. १)। वस्तुतः आचार्य सुश्रुत ने ये लक्षण बड़े मार्के के लिखे हैं, अन्यत्र कुछ अधिक लक्षण भी लिखे हैं, किन्तु वे सब सुश्रुत की 'वर्तते विपरीतस्तु विषदाता विचेतनः' इस अन्तिम पंक्ति में आ जाते हैं। ये लक्षण केवल विषदाता के विषय में ही न लेकर प्रत्येक घातक के विषय में वा इससे भी अधिक प्रत्येक अभियुक्त के विषय में भी समझे जावें तो कोई हानि नहीं है। क्योंकि अनुभव में आता है कि अभियुक्त में ये लक्षण आ जाते हैं, भेद केवल इतना ही होता है जो बातें वैयक्तिक को प्रकट करती हैं, वे भिन्न होती हैं। यथा—विषदाता से कुछ और ही अस्पष्ट बात पूछने पर वह अपने आप विष के विषय में ही कहने लगेगा कि मैंने तो नहीं विष दी आदि। एवं अन्य प्रकार से हन्ता मनुष्य भी अपने किए हननोपाय के अनुसार ही बकने लगता है। शेष, उत्तर न देना, निरर्थक बकना, बहुत कह जाना, कुछ का कुछ बोलते जाना आदि लक्षण सब घातकों में वा अन्य अभियुक्तों में प्रायः समान ही होते हैं। यद्यपि वर्तमान समय कृत्रिमप्रिय है तो भी न्यायालयों में कुछ ऐसे अभियुक्त आ जाते हैं, जिनमें कि ये लक्षण घटते हैं।

मधु०—विषदातृलक्षणमाह—इङ्गितज्ञ इत्यादि। अभिप्रायसूचकमीहितमिङ्गितं तज्ज्ञो वैद्यो वाचा क्रियया मुखवैकृत्यादिना च विषदातारं जानीयात्। एभिर्वक्ष्यमाणलक्षणैः। न ददात्युत्तरं पृष्ट इति स्वीयासत्कर्मजनितव्यामोहात्। अपार्थमित्यनर्थकम्। संकीर्णमित्यस्फुटम्। हसत्यकस्मादिति अहेतोरपि हसति। भयजवायुजनितपर्वव्यथापनोदनायाङ्गुलीः स्फोटयति। क्रियान्तरकरणसूचनाय महीं विलिखति। भीतः सन् प्रत्येकं वीक्षते, ध्याम इति दग्धसमवर्णः, किञ्चित्तृणादिकं, वर्तते विपरीत इति वारं वारं परिवर्त्य तिष्ठति॥४—७॥

अभिप्रायसूचक चेष्टा इङ्गित कहलाती है। उसे जानने वाला वैद्य वाणी, क्रिया एवं मुखविकृति आदि से विषदाता को जाने। शेष स्पष्ट है।

मूलविषस्य लक्षणमाह—

उद्वेष्टनं मूलविषैः प्रलापो मोह एव च॥८॥ [सु० ५।२]

मूल विषों से उद्वेष्टन, प्रलाप (बकवास) और मोह (मूर्च्छा वा इन्द्रियमोह) होता है।

पत्रविषस्य स्वरूपमाह—

जृम्भणं वेपनं श्वासो मोहः पत्रविषेण तु ।

पत्र विष से जम्भाइयाँ, कम्पकम्पी, दमा और मोह हो जाता है ।

फलविषस्य लक्षणमाह—

मुष्कशोथः फलविषैर्दाहोऽन्नद्वेष एव च ॥९॥ [सु० ५।२]

फल विषों से अण्ड (कोष) शोथ, दाह (जलन) और अन्न में द्वेष (अन्न भक्षण में दिल न करना) हो जाता है ।

पुष्पविषस्य लक्षणमाह—

भवेत् पुष्पविषैश्छर्दिराध्मानं श्वास एव च ।

पुष्प विषों से वमन, आध्मान (अफारा) और श्वास होता है ।

त्वक्सारनिर्यासविषस्य स्वरूपमाह—

त्वक्सारनिर्यासविषैरुपयुक्तैर्भवन्ति हि ॥१०॥ [सु० ५।२]
आस्यदौर्गन्ध्यपारुष्यशिरोरुक्कफसंस्रवाः ।

त्वचा, सार और निर्यास (गोंदरूप) विषों के उपयोग से मुख का दुर्गन्धित होना, परुषता (कठोरता) होनी, सिर में पीड़ा होनी और कफ का स्राव होना ये लक्षण होते हैं ।

क्षीरविषस्य लक्षणमाह—

फेनागमः क्षीरविषैर्विड्भेदो गुरुगात्रता ॥११॥ [सु० ५।२]

क्षीर विषों के सेवन से झाग आने लगती है, मल पतला हो जाता है और गात्र भारी पड़ जाते हैं ।

धातुविषस्य लक्षणमाह—

हृत्पीडनं धातुविषैर्मूर्च्छा दाहश्च तालुनि ।

धातु विषों के खाने से हृदय में निपीड़ने की सी पीड़ा, मूर्च्छा (बेहोशी) और तालु में दाह होता है ।

मूलादिविषाणि कालान्तरप्राणहराणीत्याह—

प्रायेण कालघातीनि विषाण्येतानि निर्दिशेत् ॥१२॥ [सु० ५।२]

इन मूलादि विषों को कुछ कालान्तर मारने वाले कहना चाहिए ।

वक्तव्य—भाव यह है कि उपर्युक्त मूलादिविष उपयोग के कुछ देर वाद मारने वाले होते हैं ।

मधु०—मूलादिविषाणां प्रमादादुपयुक्तानां प्रत्येकं लक्षणमाह—उद्वेष्टनमित्यादि । उद्वेष्टनं दण्डविमर्दनवद्व्यथा । मूलविषैरित्यष्टविधैरपि, एवं पत्रादीनामुक्तानां यावत्संख्याकानामेकं सामान्यलक्षणमवगन्तव्यम् । प्रायेण कालघातीनीति एतानि नव मूलादिविषाणि कालान्तरेण मारकाणि भवन्तीत्यर्थः । कन्दविषं तु त्रयोदशविधमतितीक्ष्णत्वाद्व्यवायिविकाश्यादिगुणयोगात्तदात्वेन मारकम् ॥८–१२॥

विषदिग्धशस्त्रहतस्य लक्षणमाह—

सद्यः क्षतं पच्यते यस्य जन्तोः
स्रवेद्रक्तं पच्यते चाप्यभीक्ष्णम् ।
कृष्णीभूतं क्लिन्नमत्यर्थपूति
क्षतान्मांसं शीर्यते चापि यस्य ॥१३॥ [सु० ५।५]
तृष्णा मूर्च्छा ज्वरदाहौ च यस्य
दिग्धाहतं तं पुरुषं व्यवस्येत् ।

जिस मनुष्य का क्षत जल्दी पक जाता है, वा जिस मनुष्य का शीघ्र कटा हुआ भाग पक जाता है और जिसका क्षत बार बार रक्त स्रवित करता है तथा पक जाता है, एवं जो कृष्णवर्ण का हो जाता है, आर्द्र सा रहता है, बहुत दुर्गन्ध वाला होता है और जिसके क्षत से मांस शीर्ण होकर गिरने लगता है, जिसे प्यास, मूर्च्छा, ज्वर और दाह होता है उस मनुष्य को विषाक्त शस्त्र से उपहत जानना चाहिए।

वक्तव्य—उपर्युक्त का भाव यह है कि जो मनुष्य विषदग्धशस्त्र से आहत होता है, उसका क्षत शीघ्र पक जाता है और उससे रक्त भी अधिक स्रवित होता है, उसका क्षतस्थान काला, क्लिन्न अतिदुर्गन्धित तथा शीर्णमांसपाती होता है। एवं उसे प्यास, मूर्च्छा, ज्वर और दाह भी होता है।

विषदिग्धव्रणस्य लक्षणं निरूपयति—

लिङ्गान्येतान्येव कुर्यादमित्रै-
र्व्रणे विषं यस्य दत्तं प्रमादात् ॥१४॥ [सु० ५।५]

मनुष्य के अपने प्रमाद से उसके व्रण में शत्रुओं द्वारा दी गई हुई विष उपर्युक्त इन्हीं लक्षणों को कर देती है।

विषपीतस्य लक्षणमाह—

सपीतं गृहधूमाभं पुरीषं योऽतिसार्यते ।
फेनमुद्वमते चापि विषपीतं तमादिशेत् ॥१५॥

जो मनुष्य पीलिमा लिए हुए गृहधूम की तरह (वर्ण वाले) पुरीष को अतिसार की अवस्था में छोड़ता है तथा मुख से झाग त्यागता है, उसे विषपीत (विष पिए हुए) समझना चाहिए।

मधु०—विषलिप्तशस्त्रहतस्य लिङ्गमाह—सद्य इत्यादि । पच्यते चाप्यभीक्ष्णमिति सद्यस्तावत् पच्यते पश्चादपि पुनः पुनः पाकमेति ॥१३-१५॥

विषलिप्तशस्त्रहतस्येत्यादि की भाषा सरल है।

भोगिमण्डलिराजिलानां वातपित्तकफात्मकत्वमाह—

वातपित्तकफात्मानो भोगिमण्डलिराजिलाः ।
यथाक्रमं समाख्याता, द्व्यन्तरा द्वन्द्वरूपिणः ॥१६॥

भोगी, मण्डली और राजिल ये यथाक्रम वातात्मक, पित्तात्मक और कफात्मक होते हैं, तथा जो दोनों की विशेषता वाले होते हैं, वे द्वन्द्वात्मक होते हैं।

वक्तव्य—वासुक्यादि सर्पों की संख्या अत्यधिक है, तथापि भौमसर्प अस्सी प्रकार के होते हैं। वे अस्सी प्रकार पाँच भेदों में विभक्त हो जाते हैं। तद्यथा—दर्वीकर, मण्डलि, राजिवान्, निर्विष और वैकरञ्ज। इनमें से दर्वीकर फण वाले होते हैं, मण्डली मण्डल वाले वा चकत्तों वाले होते हैं, राजीमन्त लकीरदार वा धारीदार होते हैं, निर्विष विषरहित वा अल्पविष होते हैं एवं वैकरञ्ज दूसरी जाति की सर्पिणी में दूसरी जाति के सर्प से उत्पन्न होने वाले होते हैं। किन्तु फिर भी ये सब तो वही प्रकार के होते हैं, या तो दर्वीकर (फण वाले) या मण्डली (चकत्ते वाले) वा राजिमन्त (धारीदार) होते हैं। इनमें से दर्वीकर छब्बीस प्रकार के, मण्डली बाईस प्रकार के, राजिमन्त दस प्रकार के, निर्विष बारह प्रकार के और वैकरञ्ज तीन प्रकार के होते हैं। एवं इन वैकरञ्जों से उत्पन्न हुए हुए मण्डली और धारीदार सात प्रकार के होते हैं। एवं ये अस्सी बनते हैं। इन उपर्युक्त पाँच जातियों में से दर्वीकर वातात्मक, मण्डली पित्तात्मक और राजिल कफात्मक होते हैं। एवं दर्वीकरान्तर्गत कृष्णसर्प से मण्डल्यन्तर्गत गोनसी में पैदा हुआ २ सर्प मण्डल्यन्तर्गत गोनस से दर्वीकरान्तर्गत कृष्णसर्पिणी में पैदा हुआ २ माकुलि नामक सर्प वातपित्तात्मक; राजिल से मण्डल्यन्तर्गत गोनसी में उत्पन्न हुआ २ वा मण्डल्यन्तर्गत गोनसी से राजिला में उत्पन्न हुआ हुआ पोटगल नामक सर्प पित्तकफात्मक एवं दर्वीकरान्तर्गत कृष्ण सर्प से राजिमती में उत्पन्न हुआ हुआ वा राजीमान् से कृष्ण सर्पिणी में उत्पन्न हुआ स्निग्धराजी नामक सर्प वातश्लेष्मात्मक होता है। कइयों का विचार है कि इन तीनों में से प्रथम (माकुलि) पिता के समान दोष वाला होता है; और दूसरे दो माता के समान दोष प्रधान होते हैं। इसी बात को सुश्रुत ने इस प्रकार बताया है कि—'असंख्या वासुकिश्रेष्ठा विख्यातास्तक्षकादयः' 'ये तु दंष्ट्राविषा भौमा ये दशन्ति च मानुषान् ॥' 'अशीतिस्त्वेव सर्पाणां भिद्यते पञ्चधा तु सा। दर्वीकरा मण्डलिनो राजिमन्तश्च पन्नगाः ॥ द्वाविंशतिर्मण्डलिनो राजिमन्तस्तथा दश। निर्विषा द्वादश ज्ञेया वैकरञ्जास्त्रयस्तथा ॥ वैकरञ्जोद्भवाः सप्त चित्रा मण्डलिराजिलाः ॥' 'कोपयन्त्यनिलं जन्तोः फणिनः सर्व एव तु। पित्तं मण्डलिनश्चापि कफं चानेकराजयः ॥ अपत्यमसवर्णाभ्यां द्विदोषकर लक्षणम्। ज्ञेयं दोषैश्च दम्पत्योर्विशेषश्चात्र वक्ष्यते ॥' वैकरञ्जास्तु त्रयाणां दर्वीकरादीनां व्यतिकराज्जाताः, तद्यथा—माकुलिः-पोटगलः, स्निग्धराजिरिति। तत्र, कृष्णसर्पेण गोनस्यां वैपरीत्येन वा जातो माकुलिः, राजिलेन गोनस्यां वैपरीत्येन वा जातः

पोटगल:; कृष्णसर्पेण राजिमत्यां वैपरीत्येन वा जातः स्निग्धराजिरिति। तेषामा द्यस्य पितृवद्विषोत्कर्षो, द्वयोर्मातृवदित्येके" (सु. क. स्था. अ. ३)। इन सब नाम, इन सब का विचरणकाल आदि का विशेष ज्ञान सुश्रुत कल्पस्थान में देखना चाहिए। चरक ने भी इनके विषय में लिखा है कि—"इह दर्वीकरः सर्पो मण्डली राजिमानिति। त्रयो यथाक्रमं वातपित्तश्लेष्मप्रकोपणाः" (च. चि. स्था. अ. २३)

मधु०—स्थावरमभिधाय जङ्गमेष्वतितीक्ष्णत्वेन सर्पविषे वाच्ये तदाश्रयान् सर्पानाह—वातपित्तकफात्मान इत्यादि। भोगी फणी, मण्डली मण्डलवद्रथाङ्गलाङ्गलादिरूपमण्डलयुक्तः राजिलश्चित्रदीर्घरेखावान्, एते यथाक्रमं वाताद्यात्मानो वातादिप्रकृतयः। व्यतिकरजान् सर्पान् दर्शयति–द्व्यन्तरा द्वन्द्वरूपिण इति।–द्वयोरन्तरं विशेषो येषु ते तथा। यथा–फणिना मण्डलिन्य गोनसा जाताः, मण्डलिना गोनसेन च फणिन्यां कृष्णसर्पाः, एवमन्येऽपि जातिसंकरा ऊह्याः। व्यन्तरा इति पाठे स एवार्थः, विशब्दस्य द्व्यर्थत्वात्; तथा 'विभवान्महानाकाशः' इत्यत्र व्याख्यातं, विभवादिति द्विभावात्, द्विभावश्च सर्वमूर्तद्रव्यैः संयोगः सर्वत्रोपलम्भश्चेति। द्वन्द्वरूपिण इति द्वयोः फणिमण्डलिनोर्वातपित्तप्रकृत्योर्यत् प्रकृतित्वं तन्मिलितप्रकृतित्वमेषामित्यर्थः, वातपित्तप्रकृत्योरथवा द्वयोर्दोषयो रूपं तद्रूपमित्यर्थः ॥१६॥

स्थावरविष के विषय में कहकर जङ्गमों में अतितीक्ष्ण होने से सर्पों के प्रसङ्ग में उसके आश्रयभूत सर्पों को कहते हैं कि—वातपित्तकफात्मान इत्यादि। भोगी अर्थात् फण वाला, मण्डली अर्थात् मण्डल की तरह रथाङ्ग और लाङ्गलादिरूप मण्डलों से युक्त, राजिल अर्थात् चित्र एवं दीर्घ रेखाओं वाला, ये यथाक्रम वातादि प्रकृति वाले होते हैं। द्व्यन्तरा दोनों की है विशेषता जिनमें वे। शेष स्पष्ट है।

भोगिप्रभृतिभिः कृतदंशेषु वातादीनां लक्षणमाह—

दंशो भोगिकृतः कृष्णः सर्ववातविकारकृत्।
पीतो मण्डलिजः शोथो मृदुः पित्तविकारवान् ॥१७॥
राजिलोत्थो भवेद्दंशः स्थिरशोथश्च पिच्छिलः।
पाण्डुः स्निग्धोऽतिसान्द्रासृक् सर्वश्लेष्मविकारकृत् ॥१८॥

भोगी (दर्वीकर—फण वाले) सर्पों से किया हुआ दंश कृष्णवर्ण का एवं सभी वातिक विकारों को करने वाला होता है। मण्डलों वाले सर्पों से किया हुआ दंश पीतवर्ण का, कोमल एवं पैत्तिक विकारों वाला होता है। इसी प्रकार राजिल सर्पों से किया हुआ दंश स्थिर सूजन वाला; पिच्छिल, पाण्डु, स्निग्ध एवं अतिघन रक्त वाला; तथा सभी श्लैष्मिक विकारों को करने वाला होता है।

मधु०—भोगिप्रभृतिकृतदंशेषु वातादीनां लिङ्गमाह—दंशो भोगिकृत इत्यादि। सर्ववातविकारकृदित्यनेनैव कृष्णत्वे सिद्धे तदुक्तिरवश्यंभावित्वख्यापनार्थम्, एवमुत्तरत्रापि पीताद्यभिधानम् ॥१७–१८॥

भोगिप्रभृतिकृतदंशेषु—इत्यादि की भाषा सुगम है।

विशिष्टदेशादिदष्टस्य प्रत्याख्येयतामाह—

अश्वत्थदेवायतनश्मशान-
वल्मीकसन्ध्यासु चतुष्पथेषु।
याम्ये च दष्टाः परिवर्जनीया
ऋक्षे सिरामर्मसु ये च दष्टाः ॥१९॥ [सु० ५।३]

जो सर्प अश्वत्थ (पीपल) के नीचे, देवालय (मन्दिर) में, श्मशान (मसान) में, वल्मीक पर, सन्धियों में, चौराहों में, भरणी नक्षत्र में, सिराओं में वा मर्मों में काटते हैं, वे वर्ज्य हैं।

वक्तव्य—उपर्युक्त का भाव यह है कि जो सर्प पीपल में रहने वाला वा पीपल के नीचे डसे, जो सर्प मन्दिर में रहने वाला वा मन्दिर में डसे, जो सर्प श्मशान में रहने वाला वा श्मशान में डसे, जो सर्प वल्मीक के पास रहने वाला हो तथा वहीं डसे, जो सर्प सन्ध्याकालों में डसे, जो चौराहों में डसे, जो भरणी नामक नक्षत्र में डसे, जो सिराओं में डसे और जो मर्म स्थानों में डसे, उसे वर्ज्य समझना चाहिए। यह स्थानादि का प्रभाव है कि वह सर्प बहुत विषैला होता है। सुश्रुत में कुछ पाठान्तर भी मिलता है। तद्यथा—"याम्ये सपित्र्ये परिवर्जनीया ऋक्षे नरा मर्मसु ये च दष्टाः"-(सु. क. स्था. अ. ३)। यही विषय चरक ने इस प्रकार दर्शाया है कि—"श्मशानचैत्यवल्मीकयज्ञाश्रमसुरालये। पक्षसन्धिषु मध्याह्ने सार्धरात्रेऽष्टमीषु च ॥ न सिध्यन्ति नरा दष्टाः पाखण्डायतनेषु च।"

मधु०—विशिष्टदेशादिदष्टस्यासाध्यत्वमाह—अश्वत्थेत्यादि। याम्ये चेति भरण्याम्। ऋक्षे नक्षत्रे। मर्मस्विति आशुघातिषु। याम्ये चेति चकारेणार्द्राश्लेषामघामूलकृत्तिकानां ग्रहणम्। यदुक्तमन्यत्र—"चैत्यायतनवल्मीकश्मशानेषु चतुष्पथे। आर्द्राश्लेषामघामूलकृत्तिकाभरणीषु च। पञ्चम्यां सन्ध्ययोर्दर्शे मर्मस्वाशुहरेषु च। दष्टाः कष्टेन जीवन्ति यदि दूतादिसंपदः" इति ॥१९॥

विशिष्टदेशादिदष्टस्यासाध्यत्वमाह की भाषा स्पष्ट है। याम्ये चेति—'याम्ये च' में स्थित चकार से आर्द्रा, आश्लेषा, मघा, मूल और कृत्तिका का भी ग्रहण करना चाहिए। जैसे अन्यत्र कहा भी है कि—'चैत्यायतन ('चैत्यायतमं तुल्ये' इत्यमरः के अनुसार यज्ञायतन का भेद विशेष), वल्मीक, श्मशान, चौराह, आर्द्रा, आश्लेषा, मघा, मूल, कृत्तिका, भरणी, पञ्चमी, सन्ध्याकाल और मर्मस्थान पर डसने से दूतादि संपद के ठीक होने पर भी वह मनुष्य कठिनता से बचता है'।

सर्पाणामाशुघातित्वे विशिष्टकारणान्याह—

दर्वीकराणां विषमाशुघाति
सर्वाणि चोष्णे द्विगुणीभवन्ति।

दर्वीकर (भोगी) सर्पों का विष शीघ्रमारक होता है, तथा उष्ण समय अर्थात् गर्मियों में सभी (भोगी, मण्डली और राजिलों) का विष दूना हो जाता है।

वक्तव्य—यद्यपि मण्डली को ही पैत्तिक माना है, किन्तु उसमें पित्त की अत्यधिकता को लेकर पित्तात्मक कहा है। वस्तुतः सभी सर्पों में ही पित्त होता है क्योंकि विष को अधिकतर पित्तात्मक ही माना गया है, कारण कि यह आग्नेय है। एवं यही कारण है कि गर्मियों के दिनों में इनमें विष प्रबलता पकड़ लेता है। यह केवल इन्हीं के लिए ही नहीं है, प्रत्युत अन्य छोटे २ बरटी (धमोड़ी) आदिकों में भी गर्मियों में विष की प्रबलता हो जाती है और सर्दियों में उनका विष मृदु रहता है। यही बात बताने के लिए आचार्य ने 'सर्वाणि चोष्णे द्विगुणीभवन्ति' यह कहा है।

मधु०—दर्वीत्यादि। दर्वीकराणां विषमाशु हन्ति अश्वत्थादौ विशेषेण दर्वीकराणामाशुमारकं, दर्वीकराः फणिनः। सर्वाणि चोष्णे द्विगुणीभवन्तीति उष्णसंयोगे सति सर्वाणि विषाणि स्वरूपतो द्वैगुण्यं भजन्ते; 'सर्वाणि चोक्तानि यथाक्रमेण' इति पाठान्तरे अयमर्थः—सर्वाणि भोगिमण्डलिराजिलविषाणि यथाक्रमेण यथोद्दिष्टक्रमेणोक्तान्यश्वत्थादिष्वाशुघातीनि। दर्वीकरविषस्य पृथगुपादानं विशेषार्थम् ॥—

दर्वीकर सर्पों का विष शीघ्र ही मार देता है, किन्तु अश्वत्थ आदि के नीचे वा अश्वत्थ आदि में रहने वाले सर्प के काटने से दर्वीकर के काटने से उनका विष विशेषतः मारक होता है। 'सर्वाणि चोष्णे द्विगुणीभवन्ति'—अर्थात् उष्णता के संयोग से सभी विष स्वरूप से द्विगुणित हो जाते हैं। 'सर्वाणि चोष्णानि यथाक्रमेण'—इस पाठान्तर में सर्वाणि—अर्थात् भोगी, मण्डली और राजिल विष यथोक्त क्रम से अश्वत्थादिक शीघ्रमारक हो जाते हैं। यद्यपि सभी को शीघ्रमारक कहा है किन्तु दर्वीकर विष का 'दर्वीकराणां विषमाशुघाती' में पृथक् प्रयोग विशेषता के लिए है अर्थात् शेष विषों की अपेक्षा यह विशेष शीघ्रघाती है।

अजीर्णपित्तातपपीडितेषु
बालेषु वृद्धेषु बुभुक्षितेषु ॥२०॥ [सु० ५।३]
क्षीणक्षते मेहिनि कुष्ठयुक्ते
रूक्षेऽबले गर्भवतीषु चापि।

अजीर्ण पीड़ितों में, पित्त पीड़ितों में और आतप (प्रतिस्वर-धूप) पीड़ितों में, बालकों में, वृद्धों में, भूखों में, क्षीणों में, क्षतों में, प्रमेहियों में, कुष्ठियों में, रूक्षों में, निर्बलों में तथा गर्भवती स्त्रियों में भी उनका विष शीघ्रमारक हो जाता है।

वक्तव्य—इसमें कारण यह है कि इस समय मनुष्य की अपनी शक्ति जो कि विष का कुछ न कुछ प्रतिरोध करती है, कम हो चुकी होती है जिससे कि उनका विष शीघ्रघाती हो जाता है। यहां सुश्रुत में इस प्रकार का पाठान्तर मिलता है कि—"अजीर्णपित्तातपपीडितेषु बालप्रमेहिष्वथ गर्भिणीषु। वृद्धातुरक्षीणबुभुक्षितेषु रूक्षेषु भीरुष्वथ दुर्दिनेषु" (सु. क. स्था. अ. ३)। इसी बात को चरक ने भी कहा है कि—"भीतमत्तावलोष्णक्षुत्तृष्णार्ते वर्धते विषम्" (च. चि. अ. २३)।

मधु०—एवमपरेष्वप्याशुघातित्वं संभवति, तानाह—अजीर्णेत्यादि । अजीर्णपित्तातपपीडितेष्विति अजीर्णिनि दोषत्रयप्रकोपात्, पित्तातपपीडितयो रौक्ष्यात्, बालवृद्धयोरसंपूर्णक्षीणधातुत्वेन विषवेगासहत्वात्, बुभुक्षितेष्विति पित्तवृद्ध्योष्णदेहत्वात्, क्षीणक्षत इति क्षतक्षीणे बहुलवातदुष्टेः, मेहिनि दोषत्रयप्रकोपात्, कुष्ठयुक्ते रक्तादिदोषात्, रूक्षे वातकोपात्, अबले क्लेशासहत्वात्, गर्भवतीषु गर्भेणोत्क्षिप्तदोषत्वात्, एषु विषमाशुघातीति ॥२०॥

अजीर्णपित्तातपपीडितेषु—अजीर्ण वाले मनुष्य में तीनों दोषों का प्रकोप होने से, पित्त और आतपपीड़ितों में रूक्षता के कारण, बालक और वृद्धों में असम्पूर्ण धातुओं की क्षीणता के कारण, विषवेग को न सह सकने से, भूखों में पित्तवृद्धि के कारण उष्णदेह होने से, क्षत और क्षीण में बहुलवातदुष्टि होने से, प्रमेही में त्रिदोष का प्रकोप होने से, कुष्ठी में रक्तदुष्टि होने से, रूक्ष में वातकुपित होने से, अबल में क्लेशसहन की शक्ति न होने से, और गर्भवती में गर्भ से दोषों के उत्क्षिप्त होने से इनमें विष शीघ्रघातक होता है।

सर्पादिदष्टानां प्रत्याख्येयतालक्षणान्याह—

शस्त्रक्षते यस्य न रक्तमेति
राज्यो लताभिश्च न संभवन्ति ॥२१॥ [सु० ५।३]
शीताभिरद्भिश्च न रोमहर्षो
विषाभिभूतं परिवर्जयेत्तम् ।
जिह्मं मुखं यस्य च केशशातो
नासावसादश्च सकण्ठभङ्गः ॥२२॥ [सु० ५।३]
कृष्णः सरक्तः श्वयथुश्च दंशे
हन्वोः स्थिरत्वं च विवर्जनीयः ।
वर्तिर्घना यस्य निरेति वक्त्राद्
रक्तं स्रवेदूर्ध्वमधश्च यस्य ॥२३॥ [सु० ५।३]
दंष्ट्रानिपाताश्चतुरश्च यस्य
तं चापि वैद्यः परिवर्जयेच्च ।
उन्मत्तमत्यर्थमुपद्रुतं वा
हीनस्वरं वाऽप्यथवा विवर्णम् ॥२४॥ [सु० ५।३]
सारिष्टमत्यर्थमवेगिनं च
ज्ञात्वा नरं कर्म न तत्र कुर्यात् ।

जिस सर्पदष्ट मनुष्य में शस्त्र द्वारा क्षत करने पर भी रक्त नहीं बहता, लताओं (वेत्रलता-बेंत) द्वारा ताड़ना करने पर भी जिसके अङ्गों पर रेखाएं नहीं पड़तीं; वा लताओं द्वारा कस कर बाँधने पर भी जिसके उस अङ्ग पर बन्धनरेखाएं नहीं पड़तीं, और ठण्डे ठण्डे जल के छींटें आदि लगाने से भी जिसे रोमहर्ष नहीं होता, उस विषाभिभूत मनुष्य को छोड़ देना चाहिए, अर्थात् उसकी चिकित्सा नहीं करनी चाहिए। जिस सर्पदष्ट मनुष्य का मुख

वक्र हो जाता है, बाल झड़ने लगते हैं; वा मूलों के निर्बल हो जाने से ज़रा सा खींचने पर बाल गिरने लगते हैं, नासिका अवसन्न हो जाती है, ग्रीवा भग्न हो (ढिलक) जाती है, दंश में लालिमा लिए हुए कृष्णवर्ण की सूजन हो जाती है तथा जिसकी हनुअस्थियों में स्थिरता (हनुस्तम्भता) हो जाती है, उसे छोड़ देना चाहिए। जिस मनुष्य के मुख से (श्लेष्मा की) घनी वर्ति (वट्टी) सी निकलती है, जिसके ऊपर और नीचे (मुख आदि ऊपरले द्वारों से तथा गुदा आदि निचले द्वारों) से रक्तस्रवित होता है, तथा जिसे चारों दाँत लगे हों, वैद्य उस विषाभिभूत मनुष्य की भी चिकित्सा न करे। जो विषाभिभूत मनुष्य अत्यन्त उन्मत्त, उपद्रवों वाला, हीनस्वर, विकृतवर्ण वाला, नियतमरणख्यापक लक्षणों से युक्त एवं वेगरहित होता है, उसमें भी चिकित्सा का प्रारम्भ न करें।

वक्तव्य—सर्प के विष में एक इस प्रकार का द्रव्य होता है जो कि रक्त में उसे जमा देता है, जब वह रक्त जम जाता है तो शस्त्र द्वारा काटने पर भी उसके शरीर से रक्त स्रवित नहीं होता; और रक्त का स्रवित न होना असाध्य लक्षण है। इसी लिए आचार्य ने 'शस्त्रक्षते यस्य न रक्तमेति' कहा है। जब बेंत द्वारा ताड़न या किसी वल्ली आदि द्वारा बन्धन किया जाता है तो उससे त्वचा में होने वाली छोटी रक्तवाहिनियां टूट जाती हैं, जिससे उनका रक्त उनसे निकल कर वहां एकत्रित हो रक्तवर्ण की धारियां बना देता है। वे धारियां यदि बन्धन अधिक देर रहे तो उस रक्त के जम जाने से कृष्णवर्ण में परिणत हो जाती हैं। जब मनुष्य के शरीर का रक्त सर्पदंशन आदि में जम जाता है तो ताड़न वा बन्धन से वे रक्तवाहिनियां टूट कर भी रक्तस्रवित नहीं करतीं, जिससे कि उसके शरीर में ताड़नादि से रेखाएं नहीं पड़तीं। इसी बात को लक्ष्य रख कर आचार्य ने 'राज्यो लताभिश्च न सम्भवन्ति' कहा है। रोमहर्ष वायु का नानात्मज विकार है। जैसे कहा भी है कि—"रोमहर्षश्च भीरुत्वं तोदः कण्डू रसज्ञता" इत्यादि। यह रोग वायु के भय, हर्ष, शोक, शीत, शीतपवनस्पर्श, शीतजलस्पर्श आदि से वायु के प्रकुपित होने से होते हैं। पाश्चात्यों का भी मत है कि भय, हर्ष, शीतस्पर्श आदि से वातसंस्थान में संक्षोभ हो जाता है जिससे रोमहर्ष होता है। इसमें रक्तसञ्चार (ब्लड सर्कुलेशन) भी बढ़ जाता है। चरक ने रोमहर्ष को जङ्गमविष का लक्षण भी माना है; और वह रोमहर्ष ही विष को आशुव्यवायि (अर्थात् रक्त में मिल कर शीघ्र सारे शरीर में पहुँचने वाला) बना देता है। यह रोमहर्ष तब तक होता रहता है जब तक कि रक्त विष के प्रभाव से जम नहीं जाता। रक्त को विष के प्रभाव द्वारा जमने से पहले ही शीत पदार्थों से स्कन्न (स्थिर) करना चाहिए। एवं पहले ही स्कन्न हो जाने से न तो रोमहर्ष, नही वेग से रक्तपरिभ्रमण होता है एवं विष कम हो जाता है। इसी लिए इसकी चिकित्सापद्धति में चरक ने विषवेग आदि को दूर करने के लिए शीतोपचार लिखा है; और

वह भी ऐसा जिससे रोमहर्ष न हो सके। जैसे कहा भी है कि—"रक्तं हि विषाधानं वायुरिवाग्नेः प्रदेहसेकैस्तत् । शीतैः स्कन्दति तस्मिन् स्कन्ने वयं याति विषवेगः ॥ विषवेगान्मदमूर्च्छाविषादहृदयद्रवाः प्रवर्तन्ते । शीतैर्निवर्तयेत्तान् न वीज्यैश्च लोमहर्षः स्यात्" (च. चि. स्था. अ. २३)। यहां इस बात की शङ्का नहीं करनी चाहिए कि शीतपदार्थों से वायु के प्रकुपित होने से भी रोमहर्ष होता है, तो विषवेगादि को दूर करने के लिए जब शीतोपचार किया जावेगा तो अवश्य उससे वायु प्रकुपित वा वातसंस्थान प्रभावित होकर रोमहर्ष उपजा देगा, क्योंकि यहां शीतोपचार भी इस प्रकार का बताया है जो कि रोमहर्षण न हों। इसी लिए तो कहा है कि—"न वीज्यैश्च लोमहर्षः स्यात्" इति। एवं जब विष के प्रभाव से रक्त जम जाता है तो रोगी असाध्य हो जाता है। रक्त जम गया है या नहीं, इसकी परीक्षा का साधन रोमहर्ष भी है, क्योंकि रक्त के न जमने पर यह हो सकता है, जम जाने पर यह नहीं जमता। अतः चिकित्सा करते समय वैद्य को यदि यह संशय पड़ जावे कि रक्त न जम गया हो तो उसे ठण्डे जल के छींटे देकर देख लेना चाहिए। यदि रोमहर्ष न हो तो साध्य समझ कर चिकित्सा करे अन्यथा असाध्य जान कर त्याग दे। इसी बात कों बतलाने के लिए आचार्य सुश्रुत ने 'शीताभिरद्भिश्च न रोमहर्षः' कहा है। यह ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि यह परीक्षा का अन्तिम उपाय है। यदि पहले उपायों से ही निर्णय हो सके तो इसका प्रयोग नहीं करना चाहिए क्योंकि इसमें यह भय रहता है कि कहीं रोगी साध्य ही हो परन्तु परीक्षार्थ रोमहर्ष कराने पर विषाघात रक्त उससे शीघ्र भ्रमण कर सारे शरीर में पूर्णतः न व्याप्त हो जावे। यदि ऐसा हो जाता है तो फिर भी विषवेग बढ़कर मदमूर्च्छादिकों को तथा निद्रा तन्द्रा आदिकों को उपजा कर असाध्य कर देता है। इसी लिए तो 'नवीज्यैश्च लोमहर्षः स्यात्' कहा है। अब यहां शङ्का होती है कि जब यह निर्णयपद्धति भयावह है तो करनी ही नहीं चाहिए, क्योंकि इसमें उभयथा हानि ही है। कारण कि यदि यह विधि न की जावे और अन्य लक्षणों से ही असाध्य जान छोड़ दिया जावे तो भी वह नहीं बच सकता; और यदि यह विधि की जावे तथा रोमहर्ष न हो तो भी वह असाध्य ही है। एवं यदि यह विधि की जावे और रोमहर्ष हो जावे तो उससे भी विष शीघ्र सर्वदेहव्यापक होकर असाध्यता कर देगा। एवं इससे किसी प्रकार भी लाभ नहीं हो सकता। अतः यह परीक्षा करनी ही नहीं चाहिए। इसका उत्तर यह है कि—'अक्रियायां ध्रुवं मृत्युः क्रियायां संशयो भवेत्' (चरकः)। इसके अनुसार वहां यह परीक्षा करनी ही चाहिए, परन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि जब रोमहर्ष होने लगे तो उसकी साध्यता जान तत्काल रोमहर्ष को रोक कर विषहरण चिकित्सा करे; एवं दोष नहीं आता। कई विद्वानों ने इन्हीं बातों को देखकर, कई विद्वानों ने वाग्भट के अनुसार 'न वीज्यश्च रोमहर्षः स्यात्' (चरकः) ने

स्थान पर पाठान्तर माना है। विष के प्रभाव से मुख का टेढ़ापन, केशशात (बालों की जड़ों के कमज़ोर हो जाने से केशों का उखड़ना); नासावसाद आदि लक्षण होते हैं। यहां सुश्रुत में यह पाठान्तर मिलता है—"जिह्वा सिता यस्य च केशशातो नसावभङ्गश्च स कण्ठभङ्गः"। दंष्ट्रानिपाताश्चतुरश्च यस्य—चारों दंष्ट्राओं के लगने से विष पूर्णतः शरीर में प्रविष्ट हो जाता है, जिससे उसे असाध्य कहा है। इसी बात को चरक ने खूब विशद किया है कि—"सर्पदंष्ट्राश्चतस्रस्तु तासां वामाधराः सिताः। पीता वामोत्तरा दंष्ट्रा रक्तश्यावाधरोत्तरा॥ यन्मात्रः पतते बिन्दुर्गोबालात् सलिलोद्धृतात्। वामाधरायां दंष्ट्रायां तन्मात्रं स्यादहेर्विषम्॥ एकद्वित्रिचतुर्वृद्धिविषभागोत्तरोत्तराः। सवर्णास्तत्कृता दंशा बहूत्तरविषाभृषाः॥" (च. चि. स्था. अ. २३)। एवं विष के अत्यधिक होने से ही 'दंष्ट्रानिपाताश्चतुरश्च यस्य' कहा है। यहां सुश्रुत में 'दंष्ट्रानिपाताः सकलाश्च यस्य' यह पाठान्तर भी मिलता है।

मधु०—इदानीं सर्वथा वर्जनीयमाह—शस्त्रक्षत इत्यादि। राज्यो लताभिश्चेति राज्यो लेखा लताभिस्ताडनान्न भवन्ति। तदुक्तमालम्बायने—"नैति रक्तं क्षतांयस्य लताघातैर्न राजिकाः। न लोमहर्षः शीताद्भिर्वर्जयेत्तं विषार्दितम्" इति। जिह्मं वक्रं, स्तब्धमिति कार्तिकः। केशशात इति कर्षणात् केशोत्पाटः। कण्ठभङ्गो ग्रीवाया अविधारणम्। हन्वोः स्थिरत्वं हनुद्वयस्य लग्नत्वम्। वर्तिर्घनेति लालारूपा वर्तिः। रक्तं स्रवेदूर्ध्वमधश्च यस्येति मुखनासागुदादिभ्यः शोणितस्रावः। दंष्ट्रानिपाताश्चतुरश्चेति चत्वार इति प्राप्ते चतुर इति निर्देश आगमविधेरनित्यत्वात्, यथा "अग्रतश्चतुरो वेदा" इत्यादि। उन्मत्तमत्यर्थमुपद्रुतमिति उन्मत्तमत्यर्थमुन्मादवन्तम्, उपद्रुतं ज्वरातिसारादिभिरत्यर्थमुपद्रुतम्। हीनस्वरं वक्तुमसमर्थम्। विवर्णं कृष्णवर्णम्। सारिष्टं नासाभङ्गादियुक्तम्। अवेगिनं गमनादिवेगरहितं, विण्मूत्रादिवेगरहितमिति कार्तिकः॥२१-२४॥

राज्यो लताभिश्चेति—लताओं से अभिघात करने पर भी रेखाएँ नहीं होतीं। जैसे आलम्बायन में कहा भी है कि—'जिसके क्षत से रक्त नहीं आता, जिसे लता के आघातों से रेखाएँ नहीं उपजतीं तथा जिसे शीतल जल से रोमहर्ष नहीं होता उस विषार्दित को छोड़ देना चाहिए'। 'दंष्ट्रानिपाताश्चतुरः' में 'चत्वारः' के स्थान में 'चतुरः' का निर्देश आगमविधि के अनित्य होने से किया है। जैसे "अग्रतश्चतुरो वेदाः" इत्यादि में। उन्मत्तमत्यर्थमुपद्रुतम्—अत्यन्त उन्मादयुक्त; तथा ज्वरादि उपद्रवों वाले को। शेष स्पष्ट ही है।

स्थावरजङ्गमविषाणां दूषीविषसंज्ञकत्वमाह—

जीर्णं विषघ्नौषधिभिर्हतं वा
दावाग्निवातातपशोषितं वा॥२५॥ [सु० ५।२]
स्वभावतो वा गुणविप्रहीनं
विषं हि दूषीविषतामुपैति।

जो (स्थावर वा जङ्गम) विष मनुष्य में जाकर जीर्ण हो जाता है, वा विषघ्न औषधों से अभिहत हो जाता है, अथवा दावाग्नि (वनाग्नि); वायु वा धूप से

सूख जाता है, वा स्वभावतः हीनगुण (दश गुणों में से किसी एक गुण से रहित) विष दूषीविष में परिणत हो जाता है।

वक्तव्य—यहां स्थावर हो, वा जङ्गम हो वा कृत्रिम हो, उपर्युक्त कारणों से दूषीविष बन जाता है। जैसे सुश्रुत ने कहा भी है कि—"यत् स्थावरं जङ्गमकृत्रिमं वा देहादशेषं यन्निर्गतं तत्। जीर्णं विषघ्नौषधिभिर्हतं वा" इत्यादि (सु. क. स्था. अ. २)।

मधु०—स्थावरजङ्गमविषमेव जीर्णत्वादिभिर्विशेषैर्दूषीविषसंज्ञां लभते; तदाह—जीर्णमित्यादि। विषघ्नौषधिभिरिति अगदादिभिः। दावाग्निवातातपशोषितं वेति दावाग्निर्वनाग्निः। स्वभावतो वा गुणविप्रहीनमिति स्वभावादेव किमपि विषं व्यवायिविकाशिप्रभृतिषु दशसु गुणेषु मध्ये एकद्वित्र्यादिगुणहीनं यदि भवति तदा दूषीविषतामुपैति ॥२५॥

स्थावर और जङ्गम विष ही जीर्णत्वादि विशेषताओं से दूषीविष नाम को प्राप्त कर लेता है; उसी को कहा जाता है कि—जीर्णमित्यादि। विषघ्नौषधिभिः—अर्थात् अगदादिकों से। स्वभावतो वा गुणविप्रहीनम्—स्वभाव से ही कोई एक विष व्यवायि विकाशि आदि दश गुणों में से किसी एक दो गुणों से यदि हीन हो जाता है तो दूषीविषता को प्राप्त हो जाता है।

वक्तव्य—"रूक्षमुष्णं तथा तीक्ष्णं सूक्ष्ममाशु व्यवायिच। विकाशि विशदञ्चैव लघ्वपाकि च तत्स्मृतम्" ॥ तथा—"लघु रूक्षमाशु विशदं व्यवायि तीक्ष्णं विकासि सूक्ष्मं च। उष्णमनिर्देश्यरसं दशगुणयुक्तं विषं तज्ज्ञैः"। ये विष के दश गुण हैं।

दूषीविषस्य वर्षगणानुबन्धित्वमाह—

वीर्याल्पभावान्न निपातयेत्तत्
कफान्वितं वर्षगणानुबन्धि ॥२६॥ [सु० ५।२]

वह जीर्णत्वादि विशेषताओं से दूषीविष की संज्ञा को प्राप्त हुआ २ विष अल्पवीर्य (व्यवायि आदिकों में से कुछ गुणों के हीन) होने से मृत्युप्रद नहीं होता; किन्तु कफ से आच्छादित होकर बरसों शरीर में रहता है।

दूषीविषार्दितस्य लक्षणमाह—

तेनार्दितो भिन्नपुरीषवर्णो
वैगन्ध्यवैरस्ययुतः पिपासी।
मूर्च्छां भ्रमं गद्गदवाग्वमिं च
विचेष्टमानोऽरतिमाप्नुयाद्वा ॥२७॥ [सु० ५।२]

उस दूषीविष से पीड़ित मनुष्य पतली टट्टी वाला, परिवर्तित वर्ण वाला, दुर्गन्धित मुख वाला, विरस मुख वाला, तृष्णा वाला, मूर्च्छायुक्त, भ्रमयुक्त, गद्गदवाणीयुक्त, तथा वमनयुक्त होकर विरुद्ध चेष्टाएँ करता हुआ दुःखित होता है।

मधु०—गुणहीनतामेव कार्येण दर्शयति—वीर्याल्पभावादित्यादि। न निपातयेदिति न मारयति सद्यश्चिरेण वा। कफान्वितमिति कफान्वितं सत् मन्दीभूतोष्ण्यादिगुणं न मारयति।

वर्षगणानुबन्धीति अपाकाच्चिरस्थायि । तेनार्दितो भिन्नपुरीषवर्ण इति तेन दूषीविषेणार्दितो; भिन्नशब्दोऽत्र पुरीषवर्णाभ्यां प्रत्येकमभिसंबध्यते, भिन्नवर्णो विवर्णः । वैगन्ध्यवैरस्ययुत इति विरुद्धगन्धमुखवैरस्ययुक्तः । विचेष्टमानो विरुद्धां चेष्टां कुर्वन्, अरतिमसुखं लभते ॥२६-२७॥

कफान्वित—कफान्वित होता हुआ उष्ण आदि गुणों के मन्द हो जाने से मारता नहीं है । शेष सरल ही है ।

दूषीविषस्य स्थानविशेषेण विशिष्टस्वरूपमाह—

आमाशयस्थे कफवातरोगी
पक्वाशयस्थेऽनिलपित्तरोगी ।
भवेत् समुद्ध्वस्तशिरोरुहाङ्गो
विलूनपक्षस्तु यथा विहङ्गः ॥२८॥ [सु० ५।२]

उस दूषी विष के आमाशयस्थ होने से मनुष्य कफवातरोगी होता है; तथा उसके पक्वाशयस्थ होने से मनुष्य वातपित्तरोगी होता है । इस पक्वाशयस्थ दूषीविष के कारण केशों तथा रोमों के झड़ जाने से मनुष्य विलून (मुण्डे हुए वा सर्वथा उखाड़े हुए) पक्षों वाले पक्षी की तरह (रुण्डमुण्ड) हो जाता है ।

मधु०—स्थानविशेषेण विशिष्टलिङ्गमाह—आमाशयस्थ इत्यादि । कफावृतत्वेन वातकोप आमाशये, तेन कफवातरोगीत्युक्तम् । अनिलपित्तरोगीति पक्वाशये दुष्टवातसंबन्धेन प्रत्यासन्नस्याशयस्थस्य पित्तस्य कोपः । भवेत् समुद्ध्वस्तशिरोरुहाङ्ग इति अत्राङ्गशब्दात् परं रुहशब्दो द्रष्टव्यः, तेनायमर्थः—समुद्ध्वस्तशिरोरुहाङ्गः, शिरोरुहाः केशाः, अङ्गरुहं लोम, तदुक्तमालम्बायने—"सीदन्ति केशलोमानि तस्मिन् पक्वाशयं गते" इत्यादि । विलूनपक्षस्तु यथा विहङ्ग इति मुण्डितपक्षशकुनिसदृशः, एतत् पक्वाशयगतस्यैव लिङ्गम् ॥२८॥

'भवेत्समुद्ध्वस्तशिरोरुहाङ्गः' में 'अङ्ग' शब्द के बाद भी 'रुह' शब्द जानना चाहिए। एवं यह अर्थ बनता है कि नष्टकेशों वाला एवं नष्टरोमों वाला । आलम्बायन में भी कहा है कि—उस विष के पक्वाशय में चले जाने से केश और लोम अवशीर्ण हो जाते हैं। बाकी सरल है ।

रसादिधातुगतस्य दूषीविषस्य लक्षणमाह—

स्थितं रसादिष्वथवा यथोक्तान्
करोति धातुप्रभवान् विकारान् ।
कोपं च शीतानिलदुर्दिनेषु
यात्याशु,

वह दूषीविष रसादि धातुओं में ठहरा हुआ धातुओं में होने वाले अन्न में अश्रद्धादि विकारों को करता है; तथा शीत, वायु एवं दुर्दिन में शीघ्र ही कुपित हो जाता है ।

वक्तव्य—इसका भाव यह है कि जब यह दूषीविष रसादिक धातुओं में चला जाता है, तो व्याधिसमुद्देशीय अध्याय में प्रतिपादित अन्नाश्रद्धादि विकारों को उपजा देता है । वे विकार ये हैं, तद्यथा—"अन्नाश्रद्धारोचकाविपाकाङ्गमर्द-

ज्वरहृल्लासतृप्तिगौरवहृत्पाण्डुरोगमार्गोपरोधकार्श्यवैरस्याङ्गसादाकालवलिपलितदर्शनप्रभृतयो रसदोषजा विकाराः कुष्ठविसर्पपिडकामशकनीलिकातिलकालकन्यच्छव्यंगेन्द्रलुप्तप्लीहविद्रधिगुल्मवातशोणिताशोर्बुदाङ्गमर्दासृग्दररक्तपित्तप्रभृतयो रक्तदोषजाः गुदमुखमेढ्रपाकाश्च; अधिमांसार्बुदार्शोऽधिजिह्वोपजिह्वोपकुशगलशुण्डिकालजीमांससंघातौष्ठप्रकोपगलगण्डगण्डमालाप्रभृतयो मांसदोषजाः; ग्रन्थिवृद्धिगलगण्डार्बुदमेदोजौष्ठप्रकोपमधुमेहातिस्थौल्यातिस्वेदप्रभृतयो मेदोदोषजाः; अध्यधिदन्तास्थितोदशूलकुनखप्रभृतयोऽस्थिदोषजाः; तमोदर्शनमूर्च्छाभ्रमपर्वस्थूलमूलारुर्जन्मनेत्राभिष्यन्दप्रभृतयो मज्जदोषजाः; क्लैब्याप्रहर्षशुक्राश्मरीशुक्रमेहशुक्रदोषादयश्च तद्दोषजाः" (सु. सू. स्था. अ. २३)।

मधु०—तस्य रसादिधातुगतस्य लिङ्गमाह—स्थितं रसादिष्वित्यादि। यथोक्तान् करोति धातुप्रभवान् विकारानिति सुश्रुते (सु. सू. स्था. अ. २४) व्याधिसमुद्देशीयाध्यायोक्तानन्नाश्रद्धादीन् करोति; कोपं च शीतानिलदुर्दिनेषु यातीति कफसंबन्धाच्छीतादौ काले कोपं याति॥

तस्य रसादिधातुगतस्य लिङ्गमाह की भाषा सुगम ही है।

दूषीविषकोपस्य पूर्वरूपमवतारयति—

पूर्वं शृणु तस्य रूपम् ॥२९॥ [सु० ५।२]

निद्रागुरुत्वं च विजृम्भणं च
विश्लेषहर्षावथवाऽङ्गमर्दम् ।

(पूर्वं शृणु तस्य रूपम्—अङ्गमर्दम् यावत्) हे सुश्रुत ! उस दूषीविष के पहले रूप (पूर्वरूप) को सुनो। (पूर्वरूप की अवस्था में) निद्रा आनी (नींद का अधिक आना), गौरव (भारीपन प्रतीत) होना, जम्भाइयां आना, गात्रों में शिथिलता होनी, लोमहर्ष होना तथा अङ्गमर्द होना, ये लक्षण होते हैं। भाव यह है कि निद्रा, गौरव, विजृम्भण, शैथिल्य, लोमहर्ष और अङ्गमर्द ये दूषीविष कोप के पूर्वरूप हैं।

ततः करोत्यन्नमदाविपाका-
वरोचकं मण्डलकोठजन्म ॥३०॥ [सु० ५।२]
मांसक्षयं पादकरप्रशोथं
मूर्च्छां तथा छर्दिमथातिसारम् ।
दूषीविषं श्वासतृषाज्वरांश्च
कुर्यात् प्रवृद्धिं जठरस्य चापि ॥३१॥ [सु० ५।२]

उस पूर्वरूप के बाद (अर्थात् रूपावस्था में) दूषीविष अन्नमद, अन्नापाक (अन्न का न पकना), अरोचक, मण्डलों (चकत्तों) की उत्पत्ति, कोठों (वरटी दष्ट के समान सूजन) की उत्पत्ति, मांसक्षय, पादशोथ (पाँवों में सूजन), करशोथ (हाथों में सूजन), मूर्च्छा, वमन, अतिसार, श्वास (दमा), प्यास, ज्वर और जठरवृद्धि (दूष्योदर) को करता है।

वक्तव्य—प्रवृद्धिं जठरस्य चापि—जठर की वृद्धि अर्थात् उदर रोग को करता है। उदर रोग से भी यहां सान्निपातिक उदर वा दूष्योदर लेना चाहिए। जैसे सुश्रुत ने उदररोगनिदान में कहा भी है कि—'स्त्रियोऽन्नपानं नखरोममूत्रविडार्तवैर्युक्तमसाधुवृत्ताः। यस्मै प्रयच्छन्त्यरयो गराँश्च दुष्टाम्बुदूषीविषसेवनाद्वा ॥ तेनाशु रक्तं कुपिताश्च दोषाः कुर्वन्ति घोरं जठरं त्रिलिङ्गम्। तच्छीतवाताभ्रसमुद्भवेषु विशेषतः कुप्यति दह्यते च। स चातुरो मूर्च्छति संप्रसक्तं पाण्डुः कृशः शुष्यति तृष्णया च ॥ दूष्योदरं कीर्तितमेतदेव' (सु. नि. स्था. अ. ७)। यहां सुश्रुत में इस प्रकार का पाठान्तर मिलता है कि—'ततः करोत्यन्नमदाविपाकावरोचकं मण्डलकोठमोहान्। धातुक्षयं पादकरास्यशोफं दकोदरं छर्दिमथातिसारम् ॥ वैवर्ण्यमूर्च्छाविषमज्वरान्वा कुर्यात्प्रवृद्धं प्रबलां तृषां वा ॥' (सु. क. स्था. अ. २)। चरक ने दूषीविष पर इस प्रकार कहा है कि—'दूषीविषं तु शोणितदुष्टकिटिभकोठादिरक्तलिङ्गं च। विषमेकैकं दोषं संदूष्य हरत्यसूनेवम्' (च. चि. स्था. अ. २३)।

मधु०—पूर्वं शृणु तस्य रूपमिति पूर्वरूपं शृणित्वत्यर्थः ॥२९॥ तदेवाह—निद्रेत्यादि। विश्लेषहर्षाविति विश्लेषो गात्रस्य शैथिल्यं, हर्षो रोमहर्षः। एतानि वातकफजानि लिङ्गानि। तत इति पूर्वरूपादनन्तरम्। अन्नमदाविपाकाविति अन्नमदः अन्ने भुक्ते मदो हर्षः अन्नमदः, कार्तिकस्त्वन्नविक्षेपणमन्नमदमाह, अन्नमदो रसाजीर्णमिति गदाधरः; अविपाकोऽन्नस्यापाकः। पादकरप्रशोथमिति पादे करे च प्रकृष्टं शोथं करोति। 'मूर्च्छां तथा छर्दिमथातिसारम्' इत्यस्य स्थाने 'प्रलेपकं छर्दि' इत्यादि पाठान्तरे प्रलेपकं स्वेदप्रवृत्त्या पिच्छिलं गात्रं, ज्वरविशेषं वा ॥३०-३१॥

अन्नमदः—अन्न के खाने पर मद अर्थात् हर्ष होना अन्नमद कहलाता है। आचार्य कार्तिक अन्न विक्षेपण को अन्नमद कहता है। गदाधर अन्नमद से रसाजीर्ण लेता है। बाकी सब सरल है।

दूषीविषजान् विकारानाह—

उन्मादमन्यज्जनयेत्तथाऽन्य-
दानाहमन्यत्क्षपयेच्च शुक्रम्।
गाद्गद्यमन्यज्जनयेच्च कुष्ठं
तांस्तान्विकारांश्च बहुप्रकारान् ॥३२॥ [सु० ५।२]

कोई कोई दूषीविष उन्माद को उपजाता है, कोई कोई आनाह (अफारे) को उपजाता है, कोई कोई शुक्र को नष्ट कर देता है, कोई कोई गद्गदता उपजाता है, कोई कोई कुष्ठ उत्पन्न कर देता है, एवं वह उन अर्थात् आमाशयस्थ कफवातज विकारों से तथा पक्वाशयस्थ पित्तवातज और पूर्वोक्त रसादि धातुगत विकारों को उत्पन्न कर देता है।

वक्तव्य—तांस्तान्विकारांश्च बहुप्रकारान्—उन उन बहुत प्रकार के विकारों को करता है। यहां 'उन उन' से जो ज्ञात होना चाहिए, उसका निर्देश नहीं किया। इससे सिद्ध होता है कि 'उन उन' से ज्ञात होने वाला विषय आचार्य ने पहले बता

दिया होगा, जिससे अब उसने उसका सङ्केतमात्र कर दिया है। अन्वेषण करने पर वे विकार 'आमाशयस्थे कफवातरोगी पक्वाशयस्थेऽनिलपित्तरोगी । भवेन्नरो ध्वस्तशिरोरुहाङ्गो विलूनपक्षस्तु यथा विहङ्गः॥ स्थितं रसादिष्वथवा यथोक्तान् करोति धातुप्रभवान् विकारान्' इससे प्रतिपादित ही प्रतीत होते हैं। यहां पर भी 'यथोक्तान्' से व्याधिसमुद्देशीय (सु. सू. स्था. अ. २३) अध्यायोक्त अन्नाश्रद्धा अरोचक आदि लिए जाते हैं। 'तांस्तान्विकारांश्च बहुप्रकारान्' का अर्थ डल्हण ने भी यही माना है। तद्यथा—"तांस्तान् विकारान् पूर्वोक्तान् आमाशये कफवातजान्, पक्वाशये पित्तानिलजान्, रसादिधातुगतांश्च विकारान् जनयेत्"।

मधु०—तदेव नानाप्रकारं यद्यत्करोति तत्तदाह—उन्मादमन्यदित्यादि । क्षपयेच्च शुक्रमिति षाण्ढ्यं करोतीत्यर्थः । तांस्तानिति विसर्पविस्फोटकादीन् ॥३२॥

तदेवेत्यादि की भाषा सुगम है।

दूषीविषस्य निर्वचनमाह—

दूषितं देशकालान्नदिवास्वप्नैरभीक्ष्णशः ।
यस्मात् संदूषयेद्धातून् तस्माद्दूषीविषं स्मृतम् ॥३३॥ [सु० ५।२]

वायु, शीत और वृष्टि की अधिकता वाले; तथा अनूप आदि देश से, शीत और प्रवात वाले तथा दुर्दिनरूप काल से; मद्य, तिल और कुलत्थादि अन्न से एवं अधिक स्वप्न से अत्यन्त दूषित हुआ २ विष धातुओं को दूषित करने के कारण दूषीविष कहलाता है।

दूषीविषस्य साध्यासाध्यतामाह—

साध्यमात्मवतः सद्यो याप्यं संवत्सरोत्थितम् ।
दूषीविषमसाध्यं स्यात् क्षीणस्याहितसेविनः ॥३४॥ [सु० ५।२]

पथ्यसेवी तथा बलादियुक्त मनुष्य में सद्योजात दूषीविष साध्य होता है। पथ्यसेवी मनुष्य में भी एक वर्ष का पुराना दूषीविष याप्य होता है। एवं क्षीण और कुपथ्यसेवी में दूषीविष असाध्य होता है।

वक्तव्य—इसका भाव यह है कि आत्मवान् मनुष्य में सद्योजात दूषीविष साध्य होता है और अनात्मवान् में याप्य; एवं आत्मवान् में एक वर्ष का पुराना याप्य और अनात्मवान् में एक वर्ष का पुराना असाध्य, एवं क्षीण और अहितसेवी का दूषीविष सर्वदा असाध्य होता है।

मधु०—दूषीविषस्य निरुक्तिमाह—दूषितमित्यादि । देशकालान्नदिवास्वप्नैरिति देशः प्रचुरानिलशीतवृष्टिरनूपादिः, कालः शीतानिलदुर्दिनादिः, अन्नं सुरातिलकुलत्थादि, तैर्दूषितं कोपितम् अभीक्ष्णशः पुनः पुनः । धातुदूषकत्वेन दूषीविषम् । संयोगजं विषं द्विविधम्; एकं सविषाविषसंयोगकृतं कृत्रिमसंज्ञम्, अपरं निर्विषद्रव्यकृतं गरसंज्ञम्। यदाह वृद्धकाश्यपः—"संयोगजं च द्विविधं

तृतीयं विषमुच्यते । गरः स्यादविषं तत्र सविषं कृत्रिमं मतम्" इति। अत एव रसायने चरकः-"दंष्ट्राविषे मूलविषे सगरे कृत्रिमे विषे" इति ॥३३-३४॥

देश, काल, अन्न और दिवास्वप्न से । इसमें देश शब्द से वायु, शीत और वर्षा की अधिकता वाला तथा आनूपदेश लिया जाता है। काल शब्द से शीतवाला, प्रवातबहुल एवं दुर्दिन लिया जाता है। एवं अन्न शब्द से मद्य, तिल और कुलथी आदि लिए जाते हैं, इनसे पुनः २ कोपित। संयोगजमिति—संयोगज विष दो प्रकार का होता है; एक सविष द्रव्यों के संयोग से वा अविष (अल्पविष) द्रव्यों के उपयोग से; दूसरा निर्विषद्रव्यों के उपयोग किया हुआ गरसंज्ञक विष। जैसे वृद्धकाश्यप ने कहा भी है कि तीसरा संयोगज विष दो प्रकार का होता है उनमें से एक अविषद्रव्यों के संयोग से होने वाला गर नामक विष; और दूसरा सविषद्रव्यों के संयोग से होने वाला कृत्रिमविष होता है। इसी लिए रसायनाधिकार में चरक ने—"दंष्ट्राविष में, मूलविष में और गर (संयोगज विष) युक्त कृत्रिमविष में" यह कहा है।

वक्तव्य—संयोगज विष के विषय में अन्य विद्वानों ने प्रायः यही मत स्वीकार किया है। उनका भी यह कथन है कि विष तीन प्रकार का होता है। जैसे चरक ने कहा भी है कि—"तदम्बुसम्भवं तस्माद् द्विविधं पावकोपमम्। गरं संयोगजं चान्यद्गरसंज्ञं गदप्रदम्। कालान्तरविपाकित्वान्न तदाशु हरत्यसून् ॥" (च. चि. स्था. अ. २३)। एवं दूषीविष भी इन तीनों में ही अन्तर्हित हो जाता है। तीसरागरसंज्ञक विष दो प्रकार का होता है—एक निर्विषद्रव्यों के संयोग से होने वाला; और दूसरा सविषद्रव्यों के संयोग से होने वाला। इनमें से प्रथम गरसंज्ञक होता है और दूसरा कृत्रिम। यह व्यवस्था है। इसी व्यवस्था को लेकर चरक ने—'दंष्ट्राविषे मूलविषे सगरे कृत्रिमे विषे' (च. चि. स्था. अ. १.); यह कहा है; और यही भाव वृद्धकाश्यप में भी कहा है कि—'संयोगे द्विविधं प्रोक्तम्' इत्यादि। इसी मत को चरक चतुरानन चक्रपाणि ने भी माना है। तद्यथा—"गरन्तु द्विविधं निर्विषद्रव्यसंयोगकृतं तथा सविषद्रव्यसंयोगकृतं, तत्राद्यं गरसंज्ञम्; उत्तरं तु कृत्रिममिति व्यवस्था। इमां व्यवस्थां गृहीत्वैवमुक्तं रसायनीये—'दंष्ट्राविषे मूलविषे सगरे कृत्रिमे विषे'। वृद्धकाश्यपेऽप्युक्तं—संयोगे द्विविधं प्रोक्तं तृतीयं विषमुच्यते। गरं स्यादविषं तत्र सविषं कृत्रिमं मतम्" (चक्रपाणिः)।

गर(विष)स्य लक्षणमाह—

सौभाग्यार्थं स्त्रियः स्वेदं रजो नानाङ्गजान् मलान्।
शत्रुप्रयुक्तांश्च गरान् प्रयच्छन्त्यन्नमिश्रितान् ॥३५॥ [च० ६।२३]
तैः स्यात् पाण्डुः कृशोऽल्पाग्निर्गरश्चास्योपजायते।
मर्मप्रधमनाध्मानं हस्तयोः शोथलक्षणम् ॥३६॥ [च० ६।२३]
जठरं ग्रहणीदोषो यक्ष्मा गुल्मः क्षयो ज्वरः।
एवंविधस्य चान्यस्य व्याधेर्लिङ्गानि दर्शयेत् ॥३७॥ [च० ६।२३]

ऊपर गरविष के विषय में पर्याप्त बता दिया गया है। अब उसकी उत्पत्ति, लक्षण तथा उससे होने वाले रोगों का निर्देश किया जाता है कि अपने सौभाग्य (पति को वश करने) के लिये स्त्रियां अन्न से मिले हुए स्वेद, रज और अनेक अङ्गों के मलों को तथा शत्रुओं से दिए गए गरविषों को देती हैं। उन स्वेद

आदिकों से वह मनुष्य पाण्डु, कृश और अल्पाग्नि हो जाता है तथा उसमें वह स्वेदादि गर बन जाता है। तब उसमें वह विष मर्मों में पीड़ा, अफारा, हाथों में सूजन, सन्निपातोदर, ग्रहणी, राजयक्ष्मा, गुल्म, धातुक्षय, ज्वर तथा इसी प्रकार की अन्य व्याधियों को उपजा देता है।

मधु०—तद्द्वयमपि दर्शयितुमाह—सौभाग्यार्थमित्यादि ।—स्त्रियः सौभाग्यार्थं शत्रुप्रयुक्ता वा सविषजन्तूनां स्वेदं, रजश्चूर्णम्, नानाङ्गजान् नानागरकरान् मलान्, अन्नादौ ददति । तैरिति स्वेदरजःप्रभृतिभिः । गरश्चास्येति अपाकाज्जठरावस्थितस्वेदादिरेव गरः, अत एव तस्योदरामयः; किंवा वक्ष्यमाणमर्मप्रधमनादिलक्षणो व्याधिर्गरः । मर्मप्रधमनं मर्मव्यथा । शोथलक्षणमिति शोथ एव लक्षणं, जठरमुदरम् । अन्यस्य व्याधेर्लिङ्गानि दर्शयेदिति अन्यस्य विस्फोटादेर्लिङ्गं दर्शयति ॥३५-३७॥

तद्द्वयमपि दर्शयितुमाह—इत्यादि की भाषा सुगम ही है।

लूतानामुत्पत्तिनिरुक्तिपूर्वकं तद्भेदानाह—

यस्माल्लूनं तृणं प्राप्ता मुनेः प्रस्वेदविन्दवः ।
तस्माल्लूतास्तु भाष्यन्ते संख्यया ताश्च षोडश ॥३८॥ [सु० ५।८]

वसिष्ठ नामक मुनि की घर्मबिन्दुओं के धेन्वर्थक कटे हुए घास पर गिरने के कारण उत्पन्न हुए २ एक प्रकार के विषैले जन्तु विशेष को लूता कहा जाता है, जो कि गिनती में सोलह प्रकार की होती हैं।

वक्तव्य—उपर्युक्त का भाव यह है कि एक श्रुति मिलती है, जिसे कि श्रीकण्ठ ने आगे इसी श्लोक की मधुकोषव्याख्या 'विश्वामित्रो नरपतिः' इत्यादि से कहा है। इसे सुश्रुत ने भी इस प्रकार दर्शाया है कि—"विश्वामित्रो नृपवरः कदाचिदृपिसत्तमम् । वशिष्ठं कोपयामास गत्वाश्रमपदं किल ॥ कुपितस्य मुनेस्तस्य ललाटात्स्वेदविन्दवः । अपतन् दर्शनादेव रवेस्तत्समतेजसः ॥ तृणे महर्पिणा लूने धेन्वर्थं संभृतेऽपि च । ततो जातास्त्विमा घोरा नानारूपा महाविषाः ॥ अपकाराय वर्तन्ते नृपसाधनवाहने । यस्माल्लूनं तृणं प्राप्ता मुनेः प्रस्वेदबिन्दवः । तस्माल्लूतेति भाष्यन्ते संख्यया ताश्च षोडश" (सु. क. स्था. अ. ८)। एवं इन लूताओं के घोरतम, दुर्विज्ञेयतम तथा दुश्चिकित्स्यतम होने से आचार्य ने इनका पहले वर्णन किया है। इनकी दुर्विज्ञेयता में सुश्रुत ने कहा है कि—"लूताविषं घोरतमं दुर्विज्ञेयतमञ्च तत् । दुश्चिकित्स्यतमं चापि भिषग्भिर्मन्दबुद्धिभिः" (सु. क. स्था. अ. ८)। ये लूताएं सविष और निर्विष दो प्रकार की होती हैं। इसी वात को दर्शाने वाला सुश्रुतवाक्य भी है कि—"सविपं निर्विपं चैतदित्येवं परिशङ्किते। विपघ्नमेव कर्तव्यमविरोधि यदौपधम्" (सु. क. स्था. अ. ८)। तदनु वे सविप लूताएं भी प्रचण्डविप, मध्यविप और मृदुविप के भेद से तीन प्रकार की होती हैं। इनमें प्रचण्डविप वाली सात दिन में, मध्यविप वाली ग्यारह दिन में और मृदुविप वाली पन्द्रह दिन में मार देती हैं। इसमें सुश्रुत का प्रमाण भी है कि

"यास्तीक्ष्णचण्डोग्रविषा हि लूतास्ताः सप्तरात्रेण नरं निहन्युः। अतोऽधिकेनापि निहन्युरन्या यासां विषं मध्यमवीर्यमुक्तम् ॥ यासां कनीयो विषवीर्यमुक्तं ताः पक्ष-रात्रेण विनाशयन्ति" (सु. क. स्था. अ. ८)।

मधु०—संप्रति लूतानां घोरविषत्वप्रतिपादनार्थमैतिह्यमाह-यस्माल्लूनं तृणमित्यादि। इति किल श्रुतिः—'विश्वामित्रो नरपतिः कामधेनोर्बलात्कारपरिग्रहेण मुनिसत्तमं वशिष्ठं कोप-यांचकार, कुपितेन तेनान्तर्ज्वलदविरलकोपानलज्वलितं कुकुलयुगलमिव बहलपाटलं लोचनद्वयं वहता भगवान् रविरवलोकितः । ततस्तस्य भ्रुकुटिभयङ्करललाटतटप्रस्यन्दी स्वेदबिन्दूत्करः प्रचण्डतरः प्रत्यासन्नलूनतृणे धेन्वर्थं संभृते निपतितो लूताऽभूत्'—इति । तास्तु षोडश । यदाह सुश्रुतः-"त्रिमण्डला तथा श्वेता कपिला पीतका तथा । लालामूत्रविषा रक्ता कठिना चाष्टमी स्मृता । सौवर्णिका लाजवर्णा जालिन्येकपदी तथा । कृष्णाऽग्निवक्त्रा काण्डा च मालागुण्यष्टमी मता" (सु. क. स्था. अ. ८) इति ॥३८॥

अब लूताओं के घोरविषत्व को बताने के लिए ऐतिह्य कहा जाता है कि—यस्मादिति। (ऐतिह्य—इतिहास, वा पूर्व कथा।) वस्तुतः 'ऐतिह्य' शब्द का प्रयोग तथा 'इति ह विज्ञायते' का प्रयोग पौराणिक वा ऐतिहासिक तथा वैदिक साहित्य की बात के लिए आता है। जैसे निरुक्त में बहुत्र यास्काचार्य ने 'इति ह विज्ञायते' का प्रयोग किया है। इसी से मिलता जुलता वाक्य चरक में भी मिलता है कि—'इति ह स्माह भगवान् आत्रेयः'। इससे सिद्ध होता है कि 'ऐतिह्य' इतिहास द्वारा प्राप्त बात को, गुरुपरम्परा आदि से प्राप्त बात को 'ऐतिह्य' कहा जाता है । इसका प्रमाण भी है कि—"पारम्पर्योपदेशे स्यादैतिह्यमितिहाव्ययम्" (नामलिङ्गानुशासन)। यह निश्चित श्रुति मिलती है कि नरपति विश्वामित्र ने बलपूर्वक कामधेनु को लेने के लिए मुनिवर वसिष्ठ को क्रुद्ध कर दिया। तदनु क्रुद्ध हुए हुए उस मुनि ने प्रचण्डवेग से हृदय में दहकती हुई क्रोधाग्नि से प्रज्वलित अंगारों की तरह अतिपाटल दोनों नेत्रों से भगवान् सूर्य को देखा। उसके बाद उसकी भ्रुकुटि से भयङ्कर हुए हुए मस्तक के किनारे से बहने वाला प्रचण्डतर प्रस्वेदबिन्दुओं का पुञ्ज, धेनु के लिए बढ़ाकर काटे हुए समीपस्थ तृणों पर गिर पड़ा; और उसी से लूता उत्पन्न हो गई। वे लूताएं सोलह प्रकार की होती हैं। जैसे सुश्रुत ने कहा भी है कि—त्रिमण्डला, श्वेता, कपिला, पीतका, लालविषा, मूत्रविषा, रक्ता, कठिना, सौवर्णिका, लाजवर्णा, जालिनी, एकपदी, कृष्णा, अग्निवक्त्रा, काण्डा और मालागुणी ये सोलह प्रकार की लूताएं होती हैं।

वक्तव्य—उपर्युक्त ऐतिह्य का विस्तार यह है कि—एक समय गाधिपुत्र विश्वामित्र सेनासहित वन में से जा रहा था; मार्ग में मुनिवर वसिष्ठ का आश्रम आया। मुनि ने भी राजा को आया जान सत्कार करने की तैयारी की। उसने ससैन्य राजा का इतना सत्कार किया कि विश्वामित्र को ईर्ष्या हो उठी। वह सोचने लगा, जङ्गल में एक तपस्वी इतना सत्कार कर सकता है, जो कि सम्भवतः मुझ से भी किसी का न हो सके। उसने गुप्तचरों द्वारा पता लिया कि यह सत्कार मुनि ने किस आधार पर किया है। उन्होंने आकर सूचना दी कि मुनि के पास एक धेनु है, जिसके प्रसाद से मुनि ने हमारा सत्कार किया है। यह सुन राजा ने मुनि से धेनु को मांगा किन्तु उसने इन्कार कर दिया। इस पर विश्वामित्र को बड़ा क्रोध आया। उसके मनमें यह बात आई कि एक तापस मुझ चक्रवर्ती का अपमान करे। उसने अपने नौकरों को आज्ञा दी कि धेनु को जबरदस्ती ले चलो। इस पर मुनि

वहुधा च विशीर्येत दाहमूर्च्छाज्वरान्वितः॥" इति मालागुणादंशलक्षणमिति। ये लक्षण इसलिए बताए गए हैं कि इनके बिना शरीरप्रविष्ट विष का ज्ञान नहीं हो सकता और न ही इनके बिना साध्यासाध्य का विभाग किया जा सकता है। अतः आवश्यक समझ इनका निर्देश किया गया है। इनका विष शरीर में प्रविष्ट होते ही ज्ञात नहीं हो सकता और ऊपर कहा गया है कि तीक्ष्णविष सात दिन में मार देती है। जब ऐसा है तो हमें कैसे ज्ञान हो कि इस विष के कौन कौन से लक्षण होते हैं। इसी शङ्का की उत्थानिका करते हुए पूर्वाचार्यों ने भी कहा है कि—"प्रोद्भिद्यमानस्तु यथाङ्कुरेण न व्यक्तजातिप्रविभाति वृक्षः। तद्वत् दुरालसतमं हितासा विषं शरीरे प्रविकीर्णमात्रम्"। उग्रविष लूताओं की विष प्रथमादि दिवसों में कौन कौन से लक्षण उपजाती हुई किस प्रकार सातवें दिन नष्ट कर देती है, इस विषय में तन्त्रान्तर में कहा है कि—"ईषत्सकण्डु प्रचलं सकोठमव्यक्तवर्णं प्रथमेऽहनि स्यात्। अन्तेषु शूनं परिनिम्नमध्यं प्रव्यक्तरूपं च दिने द्वितीये॥ त्र्यहेण तद्दर्शयतीह रूपं विषं चतुर्थेऽहनि कोपमेति। अतोधिकेऽह्नि प्रकरोति जन्तोर्विषप्रकोपप्रभवान् विकारान्॥ षष्ठे दिने विप्रसृतं तु सर्वान् मर्मप्रदेशान् भृशमावृणोति। तत्सप्तमेऽत्यर्थपरीतगात्रं व्यापादयेन्मर्त्यमतिप्रवृद्धम्"। एवं यह सिद्ध होता है कि लूताएं इस प्रकार लक्षण उपजाती हुई मनुष्य को मार देती हैं। इनका विष सात प्रकार मनुष्य में जा सकता है। जैसे सुश्रुत ने कहा भी है कि—"विषं तु लालानखमूत्रदंष्ट्रारजःपुरीषैरथ चेन्द्रियेण। सप्तप्रकारं विसृजन्ति लूतास्तदुग्रमध्यावरवीर्यमुक्तम्॥ सकण्डुकोठं स्थिरमल्पमूलं लालावृतं मन्दरुजं वदन्ति। शोफश्च कण्डूश्च पुलालिका च धूमायनं चैव नखाग्रदंशे। दंशं तु मूत्रेण सकृष्णमध्यं सरक्तपर्यन्तमवेहि दीर्णम्। दंष्ट्राभिरुग्रं कठिनं सवर्णं जानीहि दंशं स्थिरमण्डलं च॥रजःपुरीषेन्द्रियजे हि विद्धि स्फोटं विपक्वामलपीलुपाण्डुम्"।

मधु०—तासां सामान्यदंशलक्षणमाह—ताभिर्दष्ट इत्यादि। दंशकोथ इति दंशदेशे पूतिभाव इत्यर्थः। प्रवृत्तिः क्षतजस्येति रक्तस्य प्रवर्तनम्। सर्वलूतानामिति असाध्याष्टविधसौवर्णिकादिलूतानामेव सामान्यलक्षणं ज्ञेयम्। यतस्त्रिमण्डलादीनामष्टानां कृच्छ्रसाध्यत्वं, ताभिर्दष्टे शिरोदुःखमित्यादिना सामान्यलक्षणमभिधाय सौवर्णिकाद्यनन्तरमेतत् पठितवान् सुश्रुतः। माधवकरेण तु षोडशानां लूतानां सामान्यलक्षणमेतदित्यभिप्रायेण पठितमिति॥३९-४०॥

(सर्वलूतानामिति—) इससे सौवर्णिका आदि असाध्य आठ प्रकार की लूताओं का ही सामान्य लक्षण जानना चाहिए। क्योंकि त्रिमण्डला आदि आठों की कृच्छ्रसाध्यता को तथा उनके काटने पर 'ताभिर्दष्टे शिरोदुःखं' इत्यादि से सामान्य लक्षण को बतलाकर सौवर्णिका आदिकों के अनन्तर सुश्रुत ने इसे पढ़ा है। माधवकर ने तो इसे सोलह लूताओं के सामान्य लक्षण को मान कर पढ़ा है।

दूषीविषाणां लूतानां लक्षणमाह—

दंशमध्ये तु यत् कृष्णं श्यावं वा जालकाचितम्॥४१॥ [च० ६।२]

वातिका: ॥" यह है। सुश्रुत ने भी अपनी संहिता में यही भाव दर्शाया है एवं यह सिद्ध होता है कि 'ताभिर्दष्टे शिरोदु:खं' इत्यादि त्रिमण्डला आदिकों के समान्य लक्षण हैं, और 'ताभिर्दष्टे दंशकोथ:' आदि सौवर्णिका आदिकों के सामान्य लक्षण हैं। इनके विशेष लक्षण सुश्रुत ने इस प्रकार दिखाए हैं। तद्यथा त्रिमण्डला का लक्षण—"त्रिमण्डलाया दंशेऽसृक्कृष्णं स्रवति दीर्यते। बाधिर्यं कलुषा दृष्टिस्तथा दाहश्च नेत्रयो: ॥" श्वेता का लक्षण—"श्वेतायाः पिडकादंशे श्वेता कण्डूमती भवेत्। दाहमूर्च्छाज्वरवती विसर्पक्लेदरुक्करी ॥" कपिला का लक्षण- "आदंशे पिडका ताम्रा कपिलायाः स्थिरा भवेत्। शिरसो गौरवं दाहस्तिमिरं भ्रम एव च"। पीतिकादंशलक्षण—"आदंशे पीतिकायास्तु पिडका पीतिका स्थिरा। भवेच्छर्दिर्ज्वरः शूलं मूर्ध्नि रक्ते तथाक्षिणी ॥" लालाविषदंश का लक्षण—रक्तमण्डनिभे दंशे पिडकाः सर्षपा इव। जायन्ते तालुशोषश्च दाहश्चालविषार्दिते॥" इति। मूत्रविषादंश का लक्षण—"पूतिर्मूत्रविषादंशो विसर्पी कृष्णशोणितः। कासश्वासवमीमूर्च्छाज्वरदाहसमन्वितः ॥" रक्तादंश का लक्षण—"अपाण्डुपिडको दंशो दाहक्लेदसमन्वितः। रक्ताया रक्तपर्यन्तो विज्ञेयो रक्तसंयुतः ॥" कसनादंश का लक्षण—"पिच्छिलं कसनादंशाद्रुधिरं शीतलं स्रवेत्। कासश्वासौ च तत्रोक्तम्" (सु. क. स्था. अ. ८)। ये त्रिमण्डला आदि आठों के दंश लक्षण हैं। सौवर्णिका आदि आठ असाध्य हैं किन्तु उनमें से भी कृष्णा और अग्निवक्त्रा कभी २ कृच्छ्रसाध्य भी होती हैं। जैसे कहा भी है कि—"कृच्छ्रसाध्यविषा ह्यष्टौ प्रोक्ता द्वे च यदृच्छया ॥" अतः पहले इन दोनों के लक्षण बताकर अवशिष्ट छओं के लक्षण बाद में लिखे जावेंगे। कृष्णादंश का लक्षण—"पुरीषगन्धिरल्पासृक् कृष्णाया दंश एव तु । ज्वरमूर्च्छावमीदाहकासश्वाससमन्वितः ॥" अग्निवक्त्रादंश का लक्षण—"दंशे दाहोऽग्निवक्त्रायाः स्रावोत्यर्थं ज्वरस्तथा । चोषकण्डूरोमहर्षदाहविस्फोटसंयुतः ॥" इनसे अतिरिक्त सौवर्णिका आदि अकर्मविष वीर्य होने से असाध्य हैं, किन्तु भेदज्ञान के लिए उनके लक्षणों का निर्देश भी आवश्यक है। अतः इनकी असाध्यता प्रतिपादनपूर्वक आकृति का निर्देश किया जाता है। इस विषय में आचार्य सुश्रुत कहता है कि—"अवार्यविषवीर्याणां लक्षणानि निबोध मे। ध्यामः सौवर्णिकादंशः सफेनो मत्स्यगन्धकः ॥ श्वासः कासो ज्वरस्तृष्णा मूर्च्छा चात्र सुदारुणा ॥" इति सौवर्णिकादंशलक्षणम्। "आदंशे लाजवर्णाया ध्यामं पूति स्रवेदसृक्। दाहो मूर्च्छाऽतिसारश्च शिरोदु:खं च जायते ॥" इति लाजवर्णादंशलक्षणम्। "घोरो दंशस्तु जालिन्या राजिमानवदीर्यते। स्तम्भः श्वासस्तमोवृद्धिस्तालुशोषश्च जायते ॥" इति जालिनीदंशलक्षणम्। "एणीपद्यास्तथा दंशो भवेत् कृष्णतिलाकृतिः। तृष्णामूर्च्छाज्वरच्छर्दिकासश्वाससमन्वितः ॥" इति एणीपदीदंशलक्षणम्। "दंशाकाकाण्डिकादष्टे पाण्डुरक्तोतिवेदनः। तृण्मूर्च्छाश्वासहृद्रोगहिक्काकासाः स्युरुच्छ्रिताः ॥" इति काकाण्डिकादंशलक्षणम्। "रक्तो मालागुणादंशो धूमगंधोऽतिवेदनः।

वहुधा च विशीर्येत दाहमूर्च्छाज्वरान्वितः॥" इति मालागुणादंशलक्षणमिति। ये लक्षण इसलिए बताए गए हैं कि इनके बिना शरीरप्रविष्ट विष का ज्ञान नहीं हो सकता और न ही इनके बिना साध्यासाध्य का विभाग किया जा सकता है। अतः आवश्यक समझ इनका निर्देश किया गया है। इनका विष शरीर में प्रविष्ट होते ही ज्ञात नहीं हो सकता और ऊपर कहा गया है कि तीक्ष्णविष सात दिन में मार देती है। जब ऐसा है तो हमें कैसे ज्ञान हो कि इस विष के कौन कौन से लक्षण होते हैं। इसी शङ्का की उत्थानिका करते हुए पूर्वाचार्यों ने भी कहा है कि—"प्रोद्भिद्यमानस्तु यथाङ्कुरेण न व्यक्तजातिप्रविभाति वृक्षः। तद्वत् दुरालसतमं हितासा विषं शरीरे प्रविकीर्णमात्रम्"। उग्रविष लूताओं की विष प्रथमादि दिवसों में कौन कौन से लक्षण उपजाती हुई किस प्रकार सातवें दिन नष्ट कर देती है, इस विषय में तन्त्रान्तर में कहा है कि—"ईषत्सकण्डु प्रचलं सकोठमव्यक्तवर्णं प्रथमेऽहनि स्यात्। अन्तेषु शूनं परिनिम्नमध्यं प्रव्यक्तरूपं च दिने द्वितीये॥ त्र्यहेण तद्दर्शयतीह रूपं विषं चतुर्थेऽहनि कोपमेति। अतोधिकेऽह्नि प्रकरोति जन्तोर्विषप्रकोपप्रभवान् विकारान्॥ षष्ठे दिने विप्रसृतं तु सर्वान् मर्मप्रदेशान् भृशमावृणोति। तत्सप्तमेऽत्यर्थपरीतगात्रं व्यापादयेन्मर्त्यमतिप्रवृद्धम्"। एवं यह सिद्ध होता है कि लूताएं इस प्रकार लक्षण उपजाती हुई मनुष्य को मार देती हैं। इनका विष सात प्रकार मनुष्य में जा सकता है। जैसे सुश्रुत ने कहा भी है कि—"विषं तु लालानखमूत्रदंष्ट्रारजःपुरीषैरथ चेन्द्रियेण। सप्तप्रकारं विसृजन्ति लूतास्तदुग्रमध्यावरवीर्ययुक्तम्॥ सकण्डुकोठं स्थिरमल्पमूलं लालावृतं मन्दरुजं वदन्ति। शोफश्च कण्डूश्च पुलालिका च धूमायनं चैव नखाग्रदंशे। दंशं तु मूत्रेण सकृष्णमध्यं सरक्तपर्यन्तमवेहि दीर्णम्। दंष्ट्राभिरुग्रं कठिनं सवर्णं जानीहि दंशं स्थिरमण्डलं च॥ रजःपुरीषेन्द्रियजे हि विद्धि स्फोटं विपक्वामलपीलुपाण्डुम्"।

मधु०—तासां सामान्यदंशलक्षणमाह—ताभिर्दष्टे इत्यादि। दंशकोथ इति दंशदेशे पूतिभाव इत्यर्थः। प्रवृत्तिः क्षतजस्येति रक्तस्य प्रवर्तनम्। सर्वलूतानामिति असाध्याष्टविधसौवर्णिकादिलूतानामेव सामान्यलक्षणं ज्ञेयम्। यतस्त्रिमण्डलादीनामष्टानां कृच्छ्रसाध्यत्वं, ताभिर्दष्टे शिरोदुःखमित्यादिना सामान्यलक्षणमभिधाय सौवर्णिकाद्यनन्तरमेतत् पठितवान् सुश्रुतः। माधवकरेण तु षोडशानां लूतानां सामान्यलक्षणमेतदित्यभिप्रायेण पठितमिति॥३६–४०॥

(सर्वलूतानामिति—) इससे सौवर्णिका आदि असाध्य आठ प्रकार की लूताओं का ही सामान्य लक्षण जानना चाहिए। क्योंकि त्रिमण्डला आदि आठों की कृच्छ्रसाध्यता को तथा उनके काटने पर 'ताभिर्दष्टे शिरोदुःखं' इत्यादि से सामान्य लक्षण को बतलाकर सौवर्णिका आदिकों के अनन्तर सुश्रुत ने इसे पढ़ा है। माधवकर ने तो इसे सोलह लूताओं के सामान्य लक्षण को मान कर पढ़ा है।

दूषीविषाणां लूतानां लक्षणमाह—

दंशमध्ये तु यत् कृष्णं श्यावं वा जालकाचितम्॥४१॥ [च० ६।२]

ऊर्ध्वाकृति भृशंपाकं क्लेदशोथज्वरान्वितम् ।
दूषीविषाभिर्लूताभिस्तद्दष्टमिति निर्दिशेत् ॥४२॥ [च० ६।२३]

दंश के बीच में कृष्ण, श्याव, जालकव्याप्त, ऊर्ध्व आकृति वाला, बार बार वा अधिक पकने वाला, क्लेद, शोथ और ज्वर से युक्त जो चिह्न होता है, उसे दूषीविष लूताओं से दष्ट कहना चाहिए।

वक्तव्य—ऊपर कुछ स्थानिक लक्षण हैं और कुछ शारीरिक। इनमें से कृष्णता आदि स्थानिक लक्षण दष्ट स्थान में, और ज्वर आदि शारीरिक लक्षण सारे शरीर में ही जानने चाहिये।

मधु०—त्रिमण्डलादयोऽष्टौ दूषीविषास्तासां लक्षणमाह—दंशमध्ये त्वित्यादि। ऊर्ध्वाकृतीति ऊर्ध्वगस्वरूपम्, अन्ये 'दग्धाकृति' इति पठन्ति, तद्व्यक्तार्थम्। दूषीविषाभिरिति कालान्तरप्रकोपिविषाभिः। दष्टमिति दंशम् ॥४१–४२॥

त्रिमण्डलादयोऽष्टावित्यादि की भाषा सुगम है।

असाध्यलूतानां लक्षणमाह—

शोथः श्वेताः सिता रक्ताः पीता वा पिडका ज्वरः ।
प्राणान्तिकाश्च जायन्ते श्वासहिक्काशिरोग्रहाः ॥४३॥ [च० ६।२३]

सौवर्णिका आदिकों के दष्ट में शोथ, श्वेत, अतिश्वेत, रक्त और पीत पिडकाएं; ज्वर, श्वास, हिक्का तथा शिरोग्रह, ये लक्षण प्राणनाशक होते हैं।

वक्तव्य—यहां चरक में यह पाठान्तर मिलता है कि—'शोफाः श्वेताः सिता रक्ताः पीता वा पिडकी ज्वरः। प्राणान्तिको भवेच्छ्वासो दाहहिक्काशिरोग्रहाः' (च. चि. स्था. अ. २३)।

मधु०—सौवर्णिकादीनामष्टानामसाध्यानां प्राणहराणां सामान्यलक्षणमाह—शोथ इत्यादि। प्राणान्तिका इति प्राणहराः ॥४३॥

सौवर्णिकादीनामष्टानामित्यादि की भाषा सुगम है।

आखुदूषीविषस्य लक्षणमाह—

आदंशाच्छोणितं पाण्डुमण्डलानि ज्वरोऽरुचिः ।
लोमहर्षश्च दाहश्चाप्याखुदूषीविषार्दिते ॥४४॥ [च० ६।२३]

आखु(मूषक)दूषी विष से पीड़ित मनुष्य में दष्ट स्थान से रक्त बहता है, रोगी को पाण्डु, चकत्ते, ज्वर, अरोचक, लोमहर्ष और दाह होता है।

वक्तव्य—मूषक भी विषैले जन्तु हैं। इनके शुक्र में विष होता है। जैसे कहा भी है कि—'मूषिकाः शुक्रविषा' तथा 'शुक्रं पतति यत्रैषां शुक्रस्पृष्टैः स्पृशन्ति वा'। यदि मूषकों के शुक्र में विष होता है तो ये शुक्र द्वारा ही मनुष्य को हानि पहुंचा सकते हैं, किन्तु यहां आदंशादित्यादि से विष प्रभाव बताया है। यह कैसे बन सकता है? इसका उत्तर यह है कि मूषिका वस्तुतः शुक्रविष ही है और इनका यही विष अतिदारुण है। दारुणपन को ही लेकर 'मूषिकाः शुक्रविषाः' (सु. क. स्था. अ. २) कहा है। एवं यह सिद्ध होता है कि मूषिकाओं का शुक्र द्वारा प्रसार

करने वाला विष अतिदारुण होता है। शेष उससे कुछ न्यून होते हैं। इनके काटने पर नख दन्त द्वारा विष रक्त को दूषित करता है, जिससे कि 'आदंशाच्छोणितम्' इत्यादि लक्षण उपजते हैं। इसी भाव को सुश्रुत ने कल्पस्थान में इस प्रकार कहा है कि—'शुक्रं पतति यत्रैषां शुक्रदिग्धैः स्पृशन्ति वा। नखदन्तादिभिस्तस्मिन् गात्रे रक्तं प्रदुष्यति' (सु. क. स्था. अ. ७)। यहां 'नखदन्तादिभिः' में आदि शब्द से पुरीष और मूत्र भी लिए जाते हैं। एवं यह सिद्ध होता है कि शुक्र, नख, दन्त, पुरीष और मूत्रभेद से मूषिकाओं में पांच प्रकार का विष होता है। इसकी पुष्टि आलम्बायन में भी मिलती है। तद्यथा—'शुक्रेणाथ पुरीषेण मूत्रेणापि नखैस्तथा। दंष्ट्राभिर्वा क्षिपन्तीह मूषिका पञ्चधा विषम्'। यही कारण है कि सुश्रुत ने मूषिका कल्प के व्याख्यान में पठित 'पूर्वं शुक्रविषा उक्ता मूषिका ये समासतः' पद्य में 'समासतः' पद दिया है। इस प्रकार भी यह सिद्ध होता है कि जो सुश्रुत ने पहले 'मूषिकाः शुक्रविषाः' यह कहा है, वह संक्षेपतः कहा है। विस्तारतः तो ये आलम्बायनोक्त प्रकार के अनुसार शुक्र, मूत्र, पुरीष, नख और दन्त विष वाले हैं। ये मूषक अठारह प्रकार के होते हैं। जैसे कहा भी है कि—'नामलक्षणभैषज्यैरष्टादश निबोध तान्। लालनः पुत्रकः कृष्णो हंसिरश्चिक्किरस्तथा॥ छुछुन्दरोऽलसश्चैवं कषायदशनोऽपि च। कुलिङ्गश्चाजितश्चैव चपलः कपिलस्तथा॥ कोकिलोऽरुणसंज्ञश्च महाकृष्णस्तथोन्दुरः। श्वेतेन महता सार्धं कपिलेनाखुना तथा॥ मूषिकश्च कपोताभस्तथैवाष्टादश स्मृताः॥' यही प्रकार वाग्भट ने इस प्रकार दर्शाए हैं कि—'लालनश्चपलः पत्रो हसिरश्चिक्किरोऽजिरः। कषायदन्तः कुलकः कोकिलः कपिलोऽसितः॥ अरुणः शबलः श्वेतः कपोतः पलितोन्दुरः। छुछुन्दरो रसालाख्यो दंशाष्टौ चेति मूषिकाः॥' (वा. उ. स्था. अ. ३८)। इन अठारह प्रकार के मूषिकाओं का सामान्य लक्षण चरक ने 'आदंशाच्छोणितं' इत्यादि पढ़ा है। इसी को माधव ने अपने ग्रन्थ में दिया है। सुश्रुत ने इनके दो प्रकार के लक्षण माने हैं—एक सामान्य लक्षण और दूसरा विशेष लक्षण। वह सामान्य लक्षण लिखते हुए लिखते हैं कि—'जायन्ते ग्रन्थयः शोफाः कर्णिका मण्डलानि च। पिडकोपचयश्चोग्रो विसर्पाः किटिभानि च॥ पर्वभेदो रुजस्तीव्रा मूर्च्छाङ्गसदनं ज्वरः। दौर्बल्यमरुचिः श्वासो वमथुर्लोमहर्षणम्॥ दष्टरूपं समासोक्तमेतत्'। यह सब का सामान्य लक्षण है। इनका विष व्यवायि एवं कृच्छ्र होता है तथा इसका कोप बार २ होता है। जैसे कहा भी है कि—'व्यवायि स्याखुविषं कृच्छ्रं भूयो भूयश्च कुप्यति' (वा. उ. स्था. अ. ३८)। एवं इनका विष शरीर में व्याप्त होकर इस प्रकार विशेष लक्षण उपजाता है। तद्यथा—१ लालन का लक्षण—लालास्रावो लालनेन हिक्का छर्दिश्च जायते। २ पुत्रक का लक्षण—पुत्रकेणाङ्गसादश्च पाण्डुवर्णश्च जायते। चीयते ग्रन्थिभिश्चाङ्गमाखुशावकसन्निभैः॥ ३ कृष्ण का लक्षण—कृष्णेन दंशे शोफोऽसृक्छर्दिप्रायश्च दुर्दिने।

३ हंसिर का लक्षण—हंसिरेणान्नविद्वेषो जृम्भारोम्णाञ्च हर्षणम् । ४ चिक्किर का लक्षण—चिकि(क्कि)रेण शिरोदुःखं शोफो हिक्का वमिस्तथा । ४ छुछुन्दर-लक्षणम्—छुछुन्दरेण तृट्छर्दिर्ज्वरो दौर्बल्यमेव च । ग्रीवास्तम्भः पृष्ठशोफो गन्धाज्ञानं विसूचिका ॥ वा—छुछुन्दरेण विड्भङ्गो ग्रीवास्तम्भो विजृम्भणम् । ५ अलस का लक्षण—ग्रीवास्तम्भोऽलसेनोर्ध्ववायुर्दंशे रुजाज्वरः । ६ कषायदन्त लक्षण—निद्राकषायदन्तेन हृच्छोषः कार्श्यमेव च । ७ कुलिङ्ग का लक्षण—कुलिङ्गेन रुजः शोफो राज्यश्च दंशमण्डले । ८ अजितलक्षणम्—अजितेनाङ्गकृष्णत्वं छर्दिर्मूर्च्छा च हृद्ग्रहः । ९ चपल का लक्षण—चपलेन भवेच्छर्दिर्मूर्च्छा च सह तृष्णया । १० कपिला का लक्षण—कपिलेन व्रणे कोथो ज्वरो ग्रन्थ्युद्गमः सतृड् । ११ कोकिल का लक्षण—ग्रन्थयः कोकिलेनोग्रा ज्वरो दाहश्च दारुणः । १२ अरुण का लक्षण—अरुणेनानिलः क्रुद्धो वातजान् कुरुते गदान् । १३ महाकृष्ण का लक्षण—महाकृष्णेन पित्तं च । १४ महाश्वेत का लक्षण—श्वेतेन कफ एव च । १५ महाकपिल का लक्षण—महता कपिलेनासृक् । १६ महाकपोत का लक्षण—कपोतेन चतुष्टयम् । इनके चारों सामान्य लक्षण—भवन्ति चैषां दंशेषु ग्रन्थिमण्डलकर्णिकाः । पिडकोपचयश्चोग्रः शोफश्च भृशदारुणः ।

मधु०—आखुदूषीविषलक्षणमाह—आदंशादित्यादि । आदंशाच्छोणितमित्यत्र 'गलति' इति शेषः । आखवः शुक्रविषाः । यदुक्तं—"शुक्रं पतति यत्रैषां शुक्रस्पृष्टैः स्पृशन्ति यत् ॥" (सु. क. स्था. अ. ७) इति ॥४४॥

आखुदूषीविषलक्षणमाह की भाषा सुगम ही है ।

प्राणहरमूषिकदष्टस्य लक्षणमाह—

मूर्च्छाङ्गशोथवैवर्ण्यक्लेदशब्दाश्रुतिज्वराः ।
शिरोगुरुत्वं लालासृक्छर्दिश्चासाध्यमूषिकैः ॥४५॥ [च० ६।२३]

असाध्य मूषिकाओं से मूर्च्छा, अङ्गों में सूजन, विकृतवर्णता, क्लिन्नता, बाधिर्य्य, ज्वर, सिर में भारीपन, लालास्राव, रक्तस्राव और वमन होता है ।

वक्तव्य—भाव यह है कि असाध्यमूषिकादष्ट में मूर्च्छा आदि लक्षण होते हैं । यहां वाग्भट ने इनसे अतिरिक्त भी कुछ असाध्य लक्षण बताए हैं । तद्यथा—"शूनवस्ति विवर्णोष्ठमाख्वाभैः ग्रन्थिभिश्चितम् । छुछुन्दरसगन्धञ्च वर्जयेदाखुदूषितम्" ।

मधु०—प्राणहरमूषिकलक्षणमाह—मूर्च्छेत्यादि । अङ्गशोथेति मूषिकाकार एवाङ्गशोथो ज्ञेयः । यदुक्तमन्यत्र-"चीयते ग्रन्थिभिश्चाङ्गमाखुशावकसन्निभैः ॥" (सु. क. स्था. अ. ७) इति । शब्दाश्रुतिः बाधिर्यम्, अन्ये 'मन्दारुचिः' इति पठन्ति । असाध्यमूषिकैः मारणात्मकैः ॥४५॥

प्राणहरमूषिकलक्षणमाह की भाषा सरल ही है ।

कृकलासदष्टस्य लक्षणमाह—

काष्र्ण्यं श्यावत्वमथवा नानावर्णत्वमेव वा।
मोहोऽथ वर्चसो भेदो दष्टे स्यात् कृकलासकैः ॥४६॥ [च० ६।२३]

कृष्णता वा श्यावपन अथवा अनेकवर्णता, मूर्च्छा और मलभेद ये लक्षण कृकलासक के काटने पर होते हैं।

वक्तव्य—कृकलास—आजकल किरले को कहते हैं। इसे 'गिरगट' भी कहते हैं। इसके संस्कृत में दो नाम हैं--एक सरटा और दूसरा कृकलास। जैसे कहा भी है कि—"सरटा कृकलासः स्यात्" (अमरः)। इसके विषय में तन्त्रान्तर कहता है कि—"चतुष्पादो दीर्घपत्र उल्ललाटो बहुप्रजः। वृक्षालयो दन्तविषः कृकलास इति स्मृतः॥ चन्द्राभः कृकलासोऽन्यस्तद्भेदस्तु त्रिकण्टकः"। यहां कई प्रथम को 'किरला' और दूसरे को 'गिरगट' मानते हैं।

मधु०—कृकलासदष्टलिङ्गमाह—काष्र्ण्यमित्यादि। वर्चसो भेदोऽतिसारः ॥४६॥

कृकलासदष्टलिङ्गमाह इत्यादि की भाषा सरल है।

वृश्चिकदष्टस्य लक्षणमाह—

दहत्यग्निरिवादौ च भिनत्तीवोर्ध्वमाशु च।
वृश्चिकस्य विषं याति दंशे पश्चात्तु तिष्ठति ॥४७॥ [च० ६।२३]

वृश्चिक (बिच्छू) का विष पहले अग्नि की तरह जलाता है, उसके बाद शीघ्र ही भेद सा करता है और तदनु दंश में ठहरता है।

वृश्चिकदष्टस्य असाध्यतालक्षणमाह—

दष्टोऽसाध्यश्च हृद्घ्राणरसनोपहतो नरः।
मांसैः पतद्भिरत्यर्थं वेदनार्तो जहात्यसून् ॥४८॥ [च० ६।२३]

हृदय, घ्राण, जिह्वा के उपहत हो जाने पर वृश्चिकदष्ट मनुष्य साध्य नहीं होता। एवं जो मनुष्य शीर्ण होकर गिरते हुए मांस वाला तथा वेदना के कारण आर्त होता है, वह प्राणों को छोड़ देता है।

वक्तव्य—वस्तुतः वृश्चिक शब्द से कई अर्थ लिए जाते हैं, किन्तु उनमें से यहां बिच्छू ही लिया जाता है। तद्यथा—'वृश्चिकोऽष्टमराशौ स्याच्छूके कीटे च कर्कटे। तथा वृक्षविशेषे स्यात् विच्छुर्नाम्नात्र सङ्गतः॥' एवं यह वृश्चिक तीन प्रकार के होते हैं--एक मन्दविष, दूसरे मध्यविष और तीसरे महाविष। जैसे कहा भी है कि—'त्रिविधा वृश्चिकाः प्रोक्ता मन्दमध्यमहाविषाः'। इनमें से मन्दविष वाले बिच्छू गोबर कोथ से होते हैं। इन्हें प्रायः अठुवां कहा जाता है। इनका वर्ण अधिकतर पीला होता है और ये कनिष्ठिका से बड़े नहीं होते। मध्यविष वाले बिच्छू लकड़ियों, ईंटों, दग्धहत जीव के कोथ तथा विषहत जीव के कोथ से होते

हैं, इनका वर्ण कुछ कालिमा लिए हुए पीला होता है, और ये अङ्गुष्ठ के समान वा कुछ इससे बड़े २ भी होते हैं। एवं महाविष वाले बिच्छू सर्पों के कोथ से उत्पन्न होते हैं। इनका वर्ण कृष्ण और इनका प्रमाण छोटे मेंढक के बराबर तक हो जाता है। किंवदन्ति है कि ये जब पत्थर पर डङ्क मारते हैं तो पत्थर खिल कर संखिये के समान बन जाता है। इनकी उक्त उत्पत्ति के प्रकार में प्रमाण भी है कि—"गोशकृत्कोथजा मन्दा मध्याः काष्ठेष्टिकोद्भवाः। सर्पकोथोद्भवास्तीक्ष्णा ये चान्ये विषसम्भवाः॥" अथवा—"सर्पकोथोद्भवास्तीव्रा दिग्धविद्धविषैर्हते। कोथे मध्या गवादीनां शकृत्कोथो वराः स्मृताः"। इन तीन प्रकार के विषों वाले बिच्छुओं में से मन्दविष वाले बारह प्रकार के होते हैं, मध्यविष वाले तीन होते हैं और महाविष वाले पन्द्रह होते हैं। एवं इनकी सङ्कलित संख्या तीस है। इस पर आर्ष वचन भी है कि—"मन्दा द्वादश मध्यास्तु त्रयः पञ्चदशोत्तमाः। दश विंशतिरित्येते संख्यया परिकीर्तिताः"। कई आचार्य, महाविष वाले वृश्चिक तेरह प्रकार के, मध्यविष वाले तीन प्रकार के, और मन्दविष वाले ग्यारह प्रकार के मानते हैं। जैसे गयदास ने कहा भी है कि—"त्रयोदश प्राणहरास्त्रयो मध्यास्तथापरे। मन्दवीर्या दशैकश्च वृश्चिका विषवेदिभिः। सप्तविंशतिरित्येते संख्यया परिकीर्तिताः"। अब मन्दविष वृश्चिकों के लक्षण और कर्मों का निर्देश किया जाता है कि—"कृष्णः श्यावः कर्बुरः पाण्डुवर्णो गोमूत्राभः कर्कशो मेचकश्च। पीतो धूम्रो रोमशः शाद्वलाभो रक्तः श्वेतेनोदरेणेति मन्दः॥ युक्ताश्चैते वृश्चिकाः पुच्छदेशे स्युर्भूयोभिः पर्वभिश्चेतरेभ्यः। एभिर्दष्टे वेदना वेपथुश्च गात्रस्तम्भः कृष्णरक्तागमश्च। शाखादष्टे वेदना चोर्ध्वमेति दाहस्वेदौ दंशशोफौ ज्वरश्च॥" मध्यविष वाले वृश्चिकों के लक्षण एवं कर्मों का निर्देश—"रक्तः पीतः कपिलेनोदरेण सर्वे धूम्राः पर्वभिश्च त्रिभिः स्युः। एते मूत्रोच्चारपूत्यण्डजाता मध्या ज्ञेयास्त्रिप्रकारोरगाणाम्॥ यस्यैतेषामन्वयाद्यः प्रसूतो दोषोत्पत्तिं तत्स्वरूपां स कुर्यात्। जिह्वाशोफो भोजनस्यावरोधो मूर्च्छा चोग्रा मध्यवीर्याभिदष्टे॥" महाविष वाले वृश्चिकों के लक्षणों एवं कर्मों का निर्देश—"श्वेतश्चित्रः श्यामलो लोहिताभो रक्तः श्वेतो रक्तनीलोदरो च। पीतो रक्तो नीलपीतोऽपरस्तु रक्तो नीलो नीलशुक्लस्तथा च॥ रक्तो बभ्रुः पूर्ववच्चैकपर्वा यश्चापर्वा पर्वणी द्वे च यस्य। नानारूपा वर्णतश्चापि घोरा ज्ञेयाश्चैते वृश्चिकाः प्राणचौराः। जन्मैतेषां सर्पकोथात्प्रदिष्टं देहेभ्यो वा घातितानां विषेण॥ एभिर्दष्टे सर्पवेगप्रवृत्तिः स्फोटोत्पत्तिर्भ्रान्तिदाहौ ज्वरश्च। खेभ्यः कृष्णं शोणितं याति तीव्रं तस्मात् प्राणैस्त्यज्यते शीघ्रमेव॥" (सु. क. स्था. अ. ८)। इन सभी वृश्चिकों को सुश्रुत ने आरविष माना है। तद्यथा—"वृश्चिक...... आल(र)विषाः" इति (सु. क. स्था. अ. ३)।

मधु०—वृश्चिकविषलिङ्गमाह—दहत्यग्निरित्यादि । वृश्चिकः स्वनामख्यातः, स च आराविषः । दष्टोऽसाध्यश्च हृद्घ्राणरसनोपहतो नर इति यदा हृदयनासाजिह्वोपघातो भवति तदा तद्दष्टो न साध्यः । मांसैः पतद्भिरत्यर्थं वेदनार्तो जहात्यसूनित्यादिनाऽयमपरोऽसाध्यप्रकारः । 'दष्टोऽसाध्यैस्तु' इति पाठपक्षेऽसाध्यैः सद्यःप्राणहरैर्वृश्चिकैर्दष्टो यथोक्तलिङ्गो भवति । चरकेऽप्ययमेव पाठः ॥४७-४८॥

वृश्चिकविषलिङ्गमाह—इत्यादि की भाषा सुगम है ।

कणभदष्टस्य लक्षणमाह—

विसर्पः श्वयथुः शूलं ज्वरश्छर्दिरथापि च ।
लक्षणं कणभैर्दष्टे दंशश्चैवावसीदति ॥४९॥ [च० ६।२३]

कणभदष्ट में विसर्प, सूजन, शूल, ज्वर और वमन ये लक्षण होते हैं, तथा इसमें दंशस्थान अत्यधिक व्यथित होता है ।

वक्तव्य—कणभ को सुश्रुत ने कणभक नाम से माना है । उसने इसका अन्तर्भाव वात, पित्त, कफ और सन्निपात भेद होने वाले ६७ प्रकार के कृमियों में से पैत्तिक कृमियों में माना है । उसने सर्पों के मलमूत्र शवादिकों से होने वाले अनेक कृमि माने हैं किन्तु फिर भी उनमें से प्रधान कृमियों को वातादि भेद से चार प्रकारों में विभक्त किया है । तद्यथा—"सर्पाणां शुक्रविण्मूत्रशवपूत्यण्डसम्भवाः । वाय्वग्न्यम्बुप्रकृतयः कीटास्तु विविधाः स्मृताः ॥ सर्वदोषप्रकृतिभिर्युक्तास्ते परिणामतः । कीटत्वेऽपि सुघोराः स्युः सर्व एव चतुर्विधाः" ॥ इनमें से वातिक अठारह, पैत्तिक चौबीस, श्लैष्मिक तेरह और सान्निपातिक बारह होते हैं । एवं इनकी मिलित संख्या ६७ बनती है । इनके नामादि के विषय में सुश्रुत कहता है कि— "कुम्भीनसस्तुण्डिकेरी शृङ्गी शतकुलीरकः । उच्चिटिङ्गोऽग्निनामा च चिच्चिटिङ्गो मयूरिका । आवर्तकस्तथोरभ्रः सारिकामुखवैदलौ । शरावकुर्दोऽभीराजी परुषश्चित्रशीर्षकः । शतबाहुश्च यश्चापि रक्तराजिश्च कीर्तितः । अष्टादशेति वायव्याः कीटाः पवनकोपतः । तैर्भवन्तीह दष्टानां रोगा वातनिमित्तजाः" ॥ "कौण्डिन्यकः कणभको वरटी पत्रवृश्चिकः । विनामिका ब्राह्मणिका विन्दुलो भ्रमरस्तथा । वाह्यकी पिच्चिटाः कुम्भी वर्चः कीटोऽरिमेदकः । पद्मकीटो दुन्दुभिको मकरः शतपादकः । पञ्चालकः पाकमत्स्यः कृष्णतुण्डोऽथ गर्दभी । क्लीतः कृमिशरारी च यश्चाप्युत्क्लेशकस्तथा । एते ह्यग्निप्रकृतयश्चतुर्विंशतिरेव च । तैर्भवन्तीह दष्टानां रोगाः पित्तनिमित्तजाः" ॥ विश्वम्भरः पञ्चशुक्लः पञ्चकृष्णोऽथ कोकिलः । सैरेयकः प्रचलको वलभः किटिभस्तथा । सूचीमुखः कृष्णगोधा यश्च काषायवासिकः । कीटो गर्दभकश्चैव तथा त्रोटक एव च । त्रयोदशैते सौम्याः स्युः कीटाः श्लेष्मप्रकोपणाः । तैर्भवन्तीह दष्टानां रोगा कफनिमित्तजाः" ॥ तुङ्गीनासो विचिलकस्तालको वाहकस्तथा । कोष्ठागारी क्रिमिकरो यश्च मण्डलपुच्छकः । तुण्ड(ङ्ग)नाभः सर्षपिको वल्गुलिः शम्बुकस्तथा । अग्निकीटश्च

हैं, इनका वर्ण कुछ कालिमा लिए हुए पीला होता है, और ये अङ्गुष्ठ के समान वा कुछ इससे बड़े २ भी होते हैं। एवं महाविष वाले विच्छू सर्पों के कोथ से उत्पन्न होते हैं। इनका वर्ण कृष्ण और इनका प्रमाण छोटे मेंढक के बराबर तक हो जाता है। किंवदन्ति है कि ये जब पत्थर पर डङ्क मारते हैं तो पत्थर खिल कर संखिये के समान बन जाता है। इनकी उक्त उत्पत्ति के प्रकार में प्रमाण भी है कि—"गोशकृत्कोथजा मन्दा मध्याः काष्ठेष्टिकोद्भवाः। सर्पकोथोद्भवास्तीक्ष्णा ये चान्ये विषसम्भवाः॥" अथवा—"सर्पकोथोद्भवास्तीव्रा दिग्धविद्धविषैर्हते। कोथे मध्या गवादीनां शकृत्कोथो वराः स्मृताः"। इन तीन प्रकार के विषों वाले बिच्छुओं में से मन्दविष वाले बारह प्रकार के होते हैं, मध्यविष वाले तीन होते हैं और महाविष वाले पन्द्रह होते हैं। एवं इनकी सङ्कलित संख्या तीस है। इस पर आर्ष वचन भी है कि—"मन्दा द्वादश मध्यास्तु त्रयः पञ्चदशोत्तमाः। दश विंशतिरित्येते संख्यया परिकीर्तिताः"। कई आचार्य, महाविष वाले वृश्चिक तेरह प्रकार के, मध्यविष वाले तीन प्रकार के, और मन्दविष वाले ग्यारह प्रकार के मानते हैं। जैसे गयदास ने कहा भी है कि—"त्रयोदश प्राणहरास्त्रयो मध्यास्तथापरे। मन्दवीर्या दशैकश्च वृश्चिका विषवेदिभिः। सप्तविंशतिरित्येते संख्यया परिकीर्तिताः"। अब मन्दविष वृश्चिकों के लक्षण और कर्मों का निर्देश किया जाता है कि—"कृष्णः श्यावः कर्बुरः पाण्डुवर्णो गोमूत्राभः कर्कशो मेचकश्च। पीतो धूम्रो रोमशः शाद्वलाभो रक्तः श्वेतेनोदरेणेति मन्दः॥ युक्ताश्चैते वृश्चिकाः पुच्छदेशे स्युर्भूयोभिः पर्वभिश्चेतरेभ्यः। एभिर्दष्टे वेदना वेपथुश्च गात्रस्तम्भः कृष्णरक्तागमश्च। शाखादष्टे वेदना चोर्ध्वमेति दाहस्वेदौ दंशशोफौ ज्वरश्च॥" मध्यविष वाले वृश्चिकों के लक्षण एवं कर्मों का निर्देश—"रक्तः पीतः कापिलेनोदरेण सर्वे धूम्राः पर्वभिश्च त्रिभिः स्युः। एते मूत्रोच्चारपूत्यण्डजाता मध्या ज्ञेयास्त्रिप्रकारोरगाणाम्॥ यस्यैतेषामन्वयाद्यः प्रसूतो दोषोत्पत्तिं तत्स्वरूपां स कुर्यात्। जिह्वाशोफो भोजनस्यावरोधो मूर्च्छा चोग्रा मध्यवीर्याभिदष्टे॥" महाविष वाले वृश्चिकों के लक्षणों एवं कर्मों का निर्देश—"श्वेतश्चित्रः श्यामलो लोहिताभो रक्तः श्वेतो रक्तनीलोदरौ च। पीतो रक्तो नीलपीतोऽपरस्तु रक्तो नीलो नीलशुक्लस्तथा च॥ रक्तो बभ्रुः पूर्ववच्चैकपर्वा यश्चापर्वा पर्वणी द्वे च यस्य। नानारूपा वर्णतश्चापि घोरा ज्ञेयाश्चैते वृश्चिकाः प्राणचौराः। जन्मैतेषां सर्पकोथात्प्रदिष्टं देहेभ्यो वा घातितानां विषेण॥ एभिर्दष्टे सर्पवेगप्रवृत्तिः स्फोटोत्पत्तिर्भ्रान्तिदाहौ ज्वरश्च। खेभ्यः कृष्णं शोणितं याति तीव्रं तस्मात् प्राणैस्त्यज्यते शीघ्रमेव॥" (सु. क. स्था. अ. ८)। इन सभी वृश्चिकों को सुश्रुत ने आरविष माना है। तद्यथा—"वृश्चिक...... आल(र)विषाः" इति (सु. क. स्था. अ. ३)।

वक्तव्य—उच्चिटिङ्ग नामक विष जन्तु के विष का यह प्रभाव होता है कि उच्चिटिङ्ग के काटने पर उसका विष उससे निकल कर मनुष्य के शरीर में प्रविष्ट हो, उसे पुलकितवपु, स्तब्धमेढ्री, एवं भृशपीडान्वित बना देता है। इसके अतिरिक्त वह आतुर अपने अङ्गों को शीतल जल से सिञ्चित सा समझने लगता है। उच्चिटिङ्ग क्या है? इसके उत्तर में चरक मौन नहीं है, यद्यपि उसने "सर्पाः कीटोन्दुरा लूता वृश्चिका गृहगोधिकाः। जलौकामत्स्यमण्डूकाः कणभाः सकृकण्टकाः॥ श्वसिंहव्याघ्रगोधायुतरक्षुनकुलादयः। दंष्ट्रिणो ये विषं तेषां दंष्ट्रोत्थं जङ्गमं मतम्॥" (च. चि. अ. २२) इस जङ्गम विषार्त्तों की गणना में उच्चिटिङ्ग का ग्रहण नहीं किया; किन्तु चरक चतुरानन चक्रपाणि ने इसकी टीका करते हुए आदि शब्द से इसका ग्रहण किया है। तद्यथा—"आदिग्रहणादुच्चिटिङ्गादीनां तन्त्रान्तरोक्तानां ग्रहणम्"। और यह बात चरक को भी अभिमत थी, अतएव उसने इनका पृथक् पृथक् वर्णन करते हुए "हृष्टरोमोच्चिटिङ्गेन स्तब्धलिङ्गो भृशार्तिमान्। दष्टः शीतोदकेनेव सिक्तान्यङ्गानि मन्यते" यह उच्चिटिङ्ग का लक्षण कहा है, किन्तु इस लक्षण से उच्चिटिङ्ग क्या है? इस प्रश्न का उत्तर नहीं आता। अतः वे पुनः लिखते हैं कि—"वातोल्वणविषाः प्रायः उच्चिटिङ्गाः सवृश्चिकाः। वातपित्तोल्बणाः कीटाः श्लैष्मिकाः कणभादयः"। यहां 'सवृश्चिका उच्चिटिङ्गाः प्रायो वातोल्वणा विषाः' से यह सिद्ध होता है कि उच्चिटिङ्ग वृश्चिक से भिन्न है, किन्तु कई आचार्य इसी प्रमाण में उच्चिटिङ्ग का वृश्चिक के साथ पाठ होने से इसे वृश्चिक का भेद ही मानते हैं। सुश्रुत ने उच्चिटिङ्ग को अठारह प्रकार के वातिक विषकीटों में से एक माना है। तद्यथा—"उच्चिटिङ्गोऽग्निनामा च०—। अष्टादशेति वायव्याः कीटाः पवनकोपनाः"। एवं सुश्रुत से यह सिद्ध होता है कि उच्चिटिङ्ग वायव्य विषकीट है, किन्तु वाग्भट जी ने उच्चिटिङ्ग को वृश्चिक विशेष माना है, तथा उन्होंने इसके उष्ट्रधूम, और रात्रिक, ये दो और नाम भी दिये हैं। तद्यथा—"उच्चिटिङ्गस्तु वक्त्रेण दशत्यभ्यधिकव्यथः। साध्यतो वृश्चिकात् स्तम्भं शेफसो हृष्टरोमताम्॥ करोति सेकमङ्गानां दंशः शीताम्बुनेव च। उष्ट्रधूमः स एवोक्तो रात्रिचाराच्च रात्रिकः"॥ (वा. उ. स्था. अ. ३७)। एवं यह सिद्ध होता है कि सुश्रुत के मत में उच्चिटिङ्ग वायव्य विषकीट है, और वाग्भट के मत में उच्चिटिङ्ग वृश्चिक विशेष है। इसी भाव को लेकर वाचस्पतिमिश्र आतङ्कदर्पण में लिखते हैं कि—"उच्चिटिङ्गनाम्ना वृश्चिकेण दष्टः पुमान्। सुश्रुतस्तु उच्चिटिङ्गं कीटविशेषमाह" इत्यादि।

मधु०—उच्चिटिङ्गदष्टलिङ्गमाह— हृष्टरोमेत्यादि ॥५०॥

उच्चिटिङ्गदष्टलिङ्गमाह इत्यादि की भाषा सरल ही है।

सविषमण्डूकदष्टस्य लक्षणमाह—

एकदंष्ट्रार्दितः शूनः सरुजः पीतकः सतृट्।
छर्दिर्निद्रा च सविषैर्मण्डूकैर्दष्टलक्षणम् ॥५१॥ [च० ३।२३]

विज्ञेया द्वादश प्राणनाशनाः । तैर्भवन्तीह दष्टानां वेगज्ञानानि सर्पवत् । तास्ताश्च वेदनास्तीव्रा रोगा वै सान्निपातिकः । क्षाराग्निदग्धवद्दंशो रक्तपीतसितारुणः ॥" एवं कणभ पैत्तिक कृमि सिद्ध होता है। यह कणभ पुनः चार प्रकार का होता है। एक—त्रिकण्टक, दूसरा—करिणी (कुणी), तीसरा—हस्तिकक्ष और चौथा—अपराजित। जैसे तन्त्रान्तर में कहा भी है कि—त्रिकण्टः करिणी चापि हस्तिकक्षोऽपराजितः । चत्वार एते कणभा व्याख्यातास्तीव्रवेदनाः ॥" ये तीव्र पीड़ाप्रद होते हैं। यही कारण है कि माधव ने अवशिष्ट कृमियों की अवहेलना कर इसका वर्णन किया है। इनके काटने पर सूजन, अङ्गमर्द, गात्रगौरव और दष्टस्थान कृष्ण होता है। जैसे कहा भी है कि—तैर्दष्टस्य श्वयथुरङ्गमर्दो गुरुता गात्राणां दंशः कृष्णश्च भवति। (सु. क. स्था. अ. ८)। अब जरा यह विचारणीय विषय आता है कि कणभक का एक भेद त्रिकण्टक भी है; और ऊपर कृकलास के विषय में लिखते हुए यह भी कहा है कि—'चन्द्राभः कृकलासोऽन्यस्तद्भेदस्तु त्रिकण्टकः'। यहां यही कहा जा सकता है जो कृकलास चन्द्राभ होता है, उसे ही कणभ भी कहा जाता हो, एवं दोनों का भेद त्रिकण्टक बन सकता है। इस प्रकार यह भी सिद्ध होता है कि सामान्य किरले को कृकलास और चन्द्राभ किरले को वा गिरगट को कणभक कहा जाता हो। एवं इन दोनों के एक पदार्थवाची होने से इनका भेद त्रिकण्टक भी एकपदार्थवाची ही सिद्ध होता है। दूसरी बात यह भी है कि यदि चन्द्राभ कृकलास और कणभक भिन्नपदार्थवाची हों तो इन दोनों के भेद रूप दोनों त्रिकण्टक भी भिन्नपदार्थवाची हैं। क्योंकि एक शब्द अनेकार्थक भी होता है। दृष्टान्त रूप में जैसे 'सीता' शब्द को ही लीजिए। इसके पदार्थ बताने वाले विश्वकोष में लिखा है कि 'सीता लाङ्गलरेखा स्याद् व्योमगङ्गा तु जानकी'। (विश्वः)। किञ्च ऊपर वृश्चिक का परिचय कराते हुए भी कहा है कि—'वृश्चिकोऽष्टमराशौ स्याच्छूके कीटे च कर्कटे। तथा वृक्षविशेषे स्याद्विच्छुर्नाम्नात्र सङ्गतः'। एवं त्रिकण्टक द्विपदार्थवाची भी बन सकता है। एवं कणभक का यह विवरण है। इसके विषय में चरक ने भी लिखा है, जिसे माधवकर ने यहां उद्धृत किया है।

मधु०—कणभदष्टलिङ्गमाह—विसर्प इत्यादि । कणभः कीटविशेषः ॥४९॥

इसका अर्थ स्पष्ट ही है।

उच्चिटिङ्गदष्टस्य लक्षणमाह—

हृष्टलोमोच्चिटिङ्गेन स्तब्धलिङ्गो भृशार्तिमान् ।
दष्टः शीतोदकेनेव सिक्तान्यङ्गानि मन्यते ॥५०॥ [च० ६।२३]

उच्चिटिङ्ग नामक विषजन्तु का काटा हुआ मनुष्य रोमांचित देह, जकड़ाहटयुक्त लिङ्गवाला और अत्यन्त पीडित होता है; तथा अङ्गों को शीतल जल से सिञ्चित सा जानता है।

४ इन्द्रायुधा, ५ सामुद्रिका और ६ गोचन्दना ये होती हैं। इनमें भी सुर्मे के चूर्ण की तरह वर्ण वाली तथा मोटे सिर वाली कृष्णा, वर्मि मत्स्य की तरह आयत, छिन्न एवं उन्नत कुक्षि वाली कर्बुरा; बहुत से रोमों वाली, बड़े पार्श्वों वाली तथा काले मुख वाली अलगर्दा; पीठ पर इन्द्रधनुष की तरह रेखाओं वाली इन्द्रायुधा; कुछ काली पीली तथा विचित्र पुष्पाकृतियों से चित्रित सामुद्रिका, और गोवृषणों की तरह नीचे से दो भागों में विभक्त तथा छोटे मुख वाली गोचन्दना होती है। इनके काटने पर चरकोक्त "कण्डूं शोथं ज्वरं मूर्च्छां सविषास्तु जलौकसः" (च. चि. स्था. अ. २३) ये लक्षण, तथा दष्टस्थान में अत्यन्त सूजन, कण्डू, मूर्च्छा, ज्वर, दाह, छर्दि, मद तथा साद, ये लक्षण होते हैं। इनमें से इन्द्रायुधा से काटा हुआ मनुष्य असाध्य होता है। सुश्रुत ने उपर्युक्त भाव को अपने वाक्यों में इस प्रकार लिखा है कि—"तत्र सविषाः—कृष्णा, कर्बुरा, अलगर्दा, इन्द्रायुधा, सामुद्रिका, गोचन्दना चेति, तासु अञ्जनचूर्णवर्णा पृथुशिराः कृष्णा; वर्मिवत्स्यवदायता छिन्नोन्नतकुक्षिः कर्बुरा; रोमशा महापार्श्वा कृष्णमुखी अलगर्दा; इन्द्रायुधवदूर्ध्व-राजिभिश्चित्रिता इन्द्रायुधा; ईषदसितपीतिका विचित्रपुष्पाकृतिचित्रा सामुद्रिका; गोवृषणवदधोभागे द्विधाभूताकृतिरणुमुखी गोचन्दनेति। ताभिर्दष्टे पुरुषे दंशे श्वयथु-रतिमात्रं कण्डूर्मूर्च्छा ज्वरो दाहश्छर्दिर्मदः सदनमिति लिङ्गानि भवन्ति। इन्द्रा-युधादष्टमसाध्यम्"। सविष जोंकों की उत्पत्ति के विषय में सुश्रुत ने लिखा है कि—"तत्र, सविषमत्स्यकीटदर्दुरमूत्रपुरीषकोथजाताः कलुषेष्वम्भःसु च सविषाः" (सु. सू. स्था. अ. १३)। निर्विषों के विषय में भी लिखा है कि—"अथ निर्विषाः—कपिला, पिङ्गला, शङ्कुमुखी, मूषिका, पुण्डरीकमुखी, सावरिका चेति। तत्र, मनः-शिलारञ्जिताभ्यामिव पार्श्वाभ्यां पृष्ठे स्निग्धमुद्गवर्णा कपिला; किञ्चिद्रक्तावृत्तकाया पिङ्गा-ऽऽशुगा च पिङ्गला; यकृद्वर्णा शीघ्रपाचिनी दीर्घतीक्ष्णमुखी शङ्कुमुखी; मूषिकाकृति-वर्णाऽनिष्टगन्धा च मूषिका; मुद्गवर्णा पुण्डरीकतुल्यवक्त्रा पुण्डरीकमुखी; स्निग्धा पद्मपत्रवर्णाऽष्टादशाङ्गुलप्रमाणा सावरिका, इत्येता अविषा व्याख्याताः"। "तत्र, पद्मोत्पलनलिनकुमुदसौगन्धिककुवलयपुण्डरीकशैवलकोथजाता विमलेष्वम्भःसु च निर्विषाः"। जलौकस शब्द की निरुक्ति शास्त्र में इस प्रकार से वर्णित है कि—"जल-मासामायुरिति जलायुकाः, जलमासामोक इति जलौकसः" (सु. सू. स्था. अ. १३)।

मधु०—सविषमण्डूकादिदष्टलिङ्गमाह—एकदंष्ट्रार्दित इत्यादि। स्वभावादेकया दंष्ट्रया कृतो दंशो भवति ॥५१-५२॥

सविषमण्डूकादिदष्टलिङ्गमाह इत्यादि की भाषा सरल है।

गृहगोधिकादष्टस्य लक्षणमाह—

विदाहं श्वयथुं तोदं स्वेदं च गृहगोधिका।

गृहगोधिका विदाह, सूजन, तोद और स्वेद को उपजाती हैं।

(मेंढक की) एक दंष्ट्रा से दष्ट मनुष्य शोथयुक्त, पीडान्वित, पीतवर्ण, पिपासित, वमनयुक्त, एवं निद्रार्त हो जाता है। यह सविषमण्डूक (मेंढक) का दष्ट लक्षण है।

वक्तव्य—उपर्युक्त का भाव यह है कि जब मण्डूक मनुष्य को अपनी एक दंष्ट्रा से ही काटता है तो मनुष्य में उसके विषप्रभाव से शूनता आदि लक्षण उपज आते हैं। मण्डूक से यहां भेक वा मेंढक लिया जाता है। मण्डूकों को आचार्यों ने आठ प्रकार का माना है। तद्यथा—१ कृष्ण, २ सार, ३ कुहुक, ४ हरित, ५ रक्त ६ यववर्णाभ, ७ भृकुटी और ८ कोटिक। इनमें से पहले छः मेंढकों के काटने पर दष्टस्थान में खुजली होती है, और मुख से पीले रङ्ग की झाग आती है। किन्तु अन्तिम दो मण्डूकों में इन लक्षणों के अतिरिक्त दाह, छर्दि और मूर्च्छा अत्यधिक होती है। इसी बात को सुश्रुत ने भी कहा है कि—"मण्डूकाः-कृष्णः, सारः, कुहको, हरितो, रक्तो, यववर्णाभो, भृकुटी, कोटिकश्चेत्यष्टौ; तैर्दष्टस्य दंशे कण्डूर्भवति पीतफेनागमश्च वक्त्रात्, भृकुटीकोटिकाभ्यामेतदेव दाहछर्दिमूर्च्छा चातिमात्रम्॥" (सु. क. स्था. अ. ८)। इनमें से अन्तिम भृकुटी और कोटिकदष्ट असाध्य होते हैं। मण्डूकोत्पत्ति तथा कोटिक का लक्षण तन्त्रान्तर में इस प्रकार पढ़ा है। तद्यथा—"वर्षमाणे सृजेच्छुक्रं प्रावृट्काले महोरगः। ततः शरत्प्रतप्तायां भूमौ मण्डो जलस्य हि। तस्मिन् मण्डोदके जाता मण्डूकास्तेन संज्ञिताः॥ मण्डूको गोगतिस्तज्ज्ञैः कोटिकः परिकीर्तितः। तेन दष्टस्य मरणं, नास्ति तस्य प्रतिक्रिया॥" उक्त मूलश्लोक चरक में इस प्रकार मिलता है कि—"एकदंष्ट्रार्दितः(र्पितः) शूनः सरुक् स्यात् पीतकः सतृट्। छर्दिर्निद्रा च मण्डूकैः सविषैर्दष्टलक्षणम्॥" (च. चि. स्था. अ. २३)।

सविषमत्स्यजलौकादष्टयोः स्वरूपमाह—

मत्स्यास्तु सविषाः कुर्युर्दाहं शोथं रुजं तथा।

विषैली मछलियाँ जलन, सूजन और वेदना को करती हैं।

वक्तव्य—भाव यह है कि विषैली मछलियों के प्रयोग से मनुष्य को जलन, सूजन एवं पीड़ा होती है। अथवा इनके काटने पर भी ये लक्षण होते हैं। प्रथम भाव मछलियों को पित्त, अस्थि, तथा आर विष मान कर लिखा है।

कण्डूं शोथं ज्वरं मूर्च्छां सविषास्तु जलौकसः॥५२॥ [च० ६।२३]

सविष जोंकों के काटने पर कण्डू, शोथ, ज्वर और मूर्च्छा ये लक्षण होते हैं।

वक्तव्य—भाव यह है कि जोंकें दो प्रकार की होती हैं—एक सविष, और एक निर्विष। इनमें से सविष जोंकें भी छः प्रकार की होती हैं, और निर्विष भी। जैसे कहा भी है कि—"ता द्वादश; तासां सविषाः षट्, तावत्य एव निर्विषाः" (सु. सू. स्था. अ. १३)। इनमें से सविष जोंकें—१ कृष्णा, २ कर्बुरा, ३ अलगर्दा,

होता है। जैसे कहा भी है कि—"मशकाः—सामुद्रः, परिमण्डलो, हस्तिमशकः, कृष्णः, पार्वतीय इति पञ्च"। इनके लक्षण तथा पार्वतीय की असाध्यता के विषय में सुश्रुत ने लिखा है कि—"तैर्दष्टस्य तीव्रा कण्डूर्दंशशोफश्च, पार्वतीयास्तु कीटैः प्राणहरैस्तुल्यलक्षणाः"।

मधु०—मशकदष्टलिङ्गमाह—कण्डूमानित्यादि। असाध्यकीटसदृशमिति असाध्यकीटैर्लूतादिभिः समलक्षणमिति। असाध्यं मशकक्षतमिति पञ्चसु मशकेषु मध्ये पार्वतीयमशकक्षतमसाध्यम्। यदाह सुश्रुतः—"पार्वतीयैस्तु कीटैश्च प्राणहरैस्तुल्यलक्षणम्" (सु. क. स्था. अ. ८) इति ॥५४॥

मशकदष्टलिङ्गमाह इत्यादि की भाषा सरल ही है।

मक्षिकादष्टस्य लक्षणमाह—

सद्यःप्रस्राविणी श्यावा दाहमूर्च्छाज्वरान्विता।
पिडका मक्षिकादंशे तासां तु स्थगिकाऽसुहृत् ॥५५॥ [च० ६।२३]

मक्षिकाओं के दंश में शीघ्र स्राव छोड़ने वाली, श्याववर्ण की, दाह, मूर्च्छा और ज्वर से युक्त पिडकाएं उत्पन्न हो जाती हैं। इनमें से स्थगिका नाम वाली मक्षिका मारक होने से शत्रु होती है।

वक्तव्य—इसका भाव यह है, कान्तारिकाप्रभृति सुश्रुतोक्त छः प्रकार की मक्खियों के काटने से स्रावादि वाली पिडकाएं उपज आती हैं। इन छओं में से कान्तारिका आदि का दष्ट मनुष्य साध्य होता है; और अन्तिम स्थगिका से काटा हुआ मर जाता है। सुश्रुत ने कान्तारिका, कृष्णा, पिङ्गला, मधूलिका, काषायी और स्थगिका ये छः प्रकार की मक्षिकाएं मानी हैं। इस पर उसका अपना वाक्य भी है कि—"मक्षिकाः—कान्तारिका, कृष्णा, पिङ्गला, मधूलिका, काषायी, स्थगिकेत्येवं षट्"। चरक से उद्धृत माधव के 'सद्यः' आदि श्लोक से सुश्रुत ने यह विशेषता मानी है कि उसने स्थगिका के साथ साथ 'काषायी' को भी असाध्य माना है, तथा उसने लक्षण भी कुछ विशिष्ट माना है। तद्यथा—"ताभिर्दष्टस्य कण्डुशोफदाहरुजो भवन्ति, स्थगिकाकाषायीभ्यामेतदेव श्यावपिडकोत्पत्तिरुपद्रवाश्च ज्वरादयो भवन्ति, काषायी स्थगिका च प्राणहरे" (सु. क. स्था. अ. ८)।

मधु०—मक्षिकादष्टलिङ्गमाह—सद्य इत्यादि। तासां च स्थगिकाऽसुहृदिति तासां सुश्रुतोक्तषण्मक्षिकाणां मध्ये स्थगिका प्राणहरेत्यर्थः ॥५५॥

मक्षिकादष्टलिङ्गमाह इत्यादि की भाषा सरल ही है।

चतुष्पदद्विपदकृतनखदन्तविषस्य लक्षणमाह—

चतुष्पद्भिर्द्विपद्भिश्च नखदन्तविषं च यत्।
शूयते पच्यते वापि स्रवति ज्वरयत्यपि ॥५६॥ [च० ६।२३]

वक्तव्य—गृहगोधिका को घरेलूगोह, छिपकली, ज्येष्ठी, किरली, ब्राह्मणी, कोढ़किरली, गलगोडिका और गलगोलिका कहते हैं। सुश्रुत ने इसे छः प्रकार का माना है। तद्यथा—"गलगोलिका—श्वेता, कृष्णा, रक्तराजी, रक्तमण्डला, सर्षश्वेता, सर्षपिकेत्येवं षट्"। इनमें से प्रथम पांचों के काटने से दाह, शोफ और क्लिन्नता होती है, किन्तु पांचवीं सर्षपिका के काटने पर हृदय में पीड़ा एवं अतीसार होते हैं, यह प्राणनाशक होती है। जैसे कहा भी है कि—"ताभिर्दष्टे सर्षपिकावर्जं दाहशोफक्लेदा भवन्ति, सर्षपिकया हृदयपीड़ाऽतिसारश्च, तासु मध्ये सर्षपिका प्राणहरी" (सु. क. स्था. अ. ८)। चरक ने इसका विशेष वर्णन न कर केवल यही कहा है कि—"दाहतोदस्वेदशोथकरी तु गलगोडिका"।

मधु०—गृहगोधिकादष्टलिङ्गमाह—विदाहमित्यादि। गृहगोधिका ज्येष्ठी, अन्ये तु भ्रामरकमाहुः। अत्र वक्ष्यमाणं कुर्यादिति संबन्धनीयं, तेन विदाहादीनां कर्मत्वम्॥

गृहगोधिकादष्टलिङ्गमाह इत्यादि की भाषा सुगम ही है।

शतपदीदष्टस्य लक्षणमाह—

दंशे स्वेदं रुजं दाहं कुर्याच्छतपदीविषम्॥५३॥ [च० ६।२३]

शतपदी (कनकोहल) का विष दष्टस्थान पर स्वेद, पीड़ा और दाह को कर देता है।

वक्तव्य—शतपदी—परुषा, कृष्णा, चित्रा, कपिला, पीतिका, रक्ता, श्वेता और अग्निप्रभा के भेद से आठ प्रकार की होती है। सुश्रुत ने भी कहा है कि—"शतपद्यस्तु—परुषा, कृष्णा, चित्रा, कपिला, पीतिका, रक्ता, श्वेता, अग्निप्रभा, इत्यष्टौ"। इनमें काटने पर स्वेदादिकों से अतिरिक्त सुश्रुतोक्त शोफादि लक्षण भी जानने चाहिएं। जैसे सुश्रुत ने कहा भी है कि—"ताभिर्दष्टे शोफो वेदना दाहश्च हृदये, श्वेताग्निप्रभाभ्यामेतदेव दाहो मूर्च्छा चातिमात्रं श्वेतपिडकोत्पत्तिश्च"।

मधु०—शतपदीदष्टलक्षणमाह—दंशे इत्यादि। कुर्याच्छतपदीविषमिति शतपदी काण्डिका॥५३॥

शतपदीदष्टलक्षणमाह इत्यादि की भाषा सुगम है।

मशकदष्टस्य लक्षणमवतारयति—

कण्डूमान् मशकैरीषच्छोथः स्यान्मन्दवेदनः।
असाध्यकीटसदृशमसाध्यं मशकक्षतम्॥५४॥ [च० ६।२३]

सामुद्र आदि साध्य मशकों के काटने पर खुजली तथा हल्की सी पीड़ा वाली थोड़ी सी सूजन हो जाती है। पार्वतीय नामक असाध्य मशक से किया हुआ क्षत, असाध्य कीड़ों से किए हुए क्षत की तरह असाध्य होता है।

वक्तव्य—मशकों को सुश्रुत ने छः प्रकार का माना है, जिनमें से एक सामुद्र, दूसरा परिमण्डल, तीसरा हस्तिमशक, चौथा कृष्ण और पांचवां पार्वतीय

दंष्ट्रिदष्टस्य रिष्टलिङ्गमाह—

येन चापि भवेद्दष्टस्तस्य चेष्टां रुतं नरः।
बहुशः प्रतिकुर्वाणः क्रियाहीनो विपश्यति ॥६१॥ [सु० ५।६]
दंष्ट्रिणा येन दष्टश्च तद्रूपं यस्तु पश्यति।
अप्सु चादर्शबिम्बे वा तस्य तद्रिष्टमादिशेत् ॥६२॥ [सु० ५।६]

जो मनुष्य जिस दंष्ट्री से दष्ट होकर (उसके विष वेग से) उसकी सी चेष्टाएं तथा उसके से शब्द को करता है, वह बहुत बार वैसा ही करता हुआ अपने शारीरिक व्यापार से हीन होकर मर जाता है। जो मनुष्य जिस दष्ट दंष्ट्री के रूप को जल में वा दर्पण में देखता है, उसे वह रिष्ट (नियतमरणख्यापक) कहना चाहिए।

जलत्रासस्य लक्षणं तदसाध्यताञ्चाह—

त्रस्यत्यकस्माद्योऽभीक्ष्णं दृष्ट्वा स्पृष्ट्वाऽपि वा जलम्।
जलत्रासं तु तं विद्याद्रिष्टं तदपि कीर्तितम् ॥६३॥ [सु० ५।६]
अदष्टो वा जलत्रासी न कथंचन सिद्ध्यति।
प्रसुप्तो वोत्थितो वापि स्वस्थस्त्रस्तो न सिद्ध्यति ॥६४॥ [सु० ५।६]

जो मनुष्य अकस्मात् बार बार डरता है, वा जो मनुष्य जल को देखकर बार बार डरता है, उसे जलत्रास समझना चाहिए और यह जलत्रास भी शास्त्र में रिष्ट रूप से कहा है। जो मनुष्य विषैले जन्तु के काटे बिना ही जल से डरने लगता है, वह किसी प्रकार भी ठीक नहीं होता। तथा जो सोया हुआ वा जागता हुआ स्वस्थ मनुष्य डर जाता है, वह ठीक नहीं होता।

वक्तव्य—श्व, शृगाल इत्यादि श्लोक में प्रतिपादित दंष्ट्रीविष को अलर्क विष, हाइड्रोफोबिया (Hydrophobia); वा रेबीज़ कहा जाता है। इसकी उत्पत्ति के विषय में आचार्य माधव ने सुश्रुत के ही श्लोकों में कहा है कि जब श्व, शृगाल, चरख, रीछ, व्याघ्र आदि (यहां आदि शब्द से वृक-'भेड़िया', चित्रक प्रभृति हिंस्र जीव लिए जाते हैं) हिंस्र जीवों का वायु, श्लेष्मा द्वारा प्रदुष्ट होकर उन जन्तुओं के ज्ञानवह स्रोतों में जा, उनकी संज्ञा को हर लेता है। तब वे ढीली पूँछ, ढीली हनु तथा ढीले कन्धे वाले; अतिलाल स्रावी एवं कुछ बहरे तथा कुछ अन्धे होकर काटने के लिए एक दूसरे की ओर दौड़ते हैं, किन्तु उनमें से भी जो अधिक पागल होता है वह दूसरे को खाने के लिए दौड़ता है। इनके काटने पर दष्टस्थान सो जाता है तथा उसमें से काले वर्ण का रक्त अधिक बहता है। यह प्रायः दिग्धविद्ध के लक्षणों से उपलक्षित होता है। यह है, सुश्रुत तथा माधव के श्व, शृगालादि चार श्लोकों का भाव। यही भाव चरक में भी वर्णित है, किन्तु उसमें कुत्ते को लक्ष्य रखकर कहा गया है और बाद

चार पाँवों वाले वा दो पाँवों वाले जन्तुओं का नखजन्य विष, वा दन्तजन्य विष, शरीर में प्रविष्ट होने से क्षत सूज जाता है, वा पक जाता है, अथवा स्रवित होने लगता है, ज्वर भी हो जाता है।

वक्तव्य—भाव यह है कि व्याघ्र आदि चतुष्पदों, वनमानुष, वानर आदि द्विपदों के नख और दन्त के घात से हुआ क्षत सूज जाता है पक जाता है तथा बहने लगता है, एवं इससे दष्ट मनुष्य को ज्वर भी हो जाता है। उपर्युक्त श्लोक चिकित्सा-क्रम प्रदर्शक होने से वस्तुतः इस अर्थ वाला है कि चौपायों वा दोपायों का नख-जन्य क्षत सूज जाता है, पक जाता है, बहने लगता है तथा ज्वरित शरीर वाला हो जाता है (उस पर सोमवल्क आदि द्रव्यों का लेप करना चाहिए)। परन्तु हमने जो अर्थ किया है, प्रकरण के अनुसार भाव को लेकर किया है। अतः त्रुटि नहीं समझनी चाहिए। वस्तुतः चतुष्पदों का दष्ट लक्षण चरक ने वहीं कुछ आगे चल कर इस प्रकार बताया है कि—"मुहुर्मुहुः शिरोन्यासः शोथः स्रस्तौष्ठकर्णता। ज्वरः स्तब्धाक्षिगात्रत्वं हनुकम्पोऽङ्गमर्दनम्॥ रोमापगमनं ग्लानि-ररतिर्वेपथुर्भ्रमः। चतुष्पदां भवत्येतद्दष्टानामिह लक्षणम्"॥ (च. चि. स्था. अ. २३)।

मधु०—चतुष्पद्भिरिति चतुष्पादा व्याघ्रादयः। द्विपादा वनमानुषवानरादयः॥५६॥

उन्मत्तकुक्कुरादिदंशस्य लक्षणमाह—

श्वशृगालतरक्ष्वर्क्षव्याघ्रादीनां यदाऽनिलः।
श्लेष्मप्रदुष्टो मुष्णाति संज्ञां संज्ञावहाश्रितः॥५७॥ [सु० ५।६]
तदा प्रस्रस्तलाङ्गूलहनुस्कन्धोऽतिलालवान्।
अव्यक्तबधिरान्धश्च सोऽन्योन्यमभिधावति॥५८॥ [सु० ५।६]
प्रमूढोऽन्यतमस्त्वेषां खादन्विपरिधावति।
तेनोन्मत्तेन दष्टस्य दंष्ट्रिणा सविषेण तु॥५९॥ [सु० ५।६]
सुप्तता जायते दंशे कृष्णं चातिस्रवत्यसृक्।
दिग्धविद्धस्य लिङ्गेन प्रायशश्चोपलक्षितः॥६०॥ [सु० ५।६]

कुत्ता, गीदड़, चरख, रीछ और व्याघ्र आदिकों का वायु, श्लेष्मा से प्रदुष्ट हुआ हुआ, उनके संज्ञावह (ज्ञानवाही) स्रोतों में आश्रित होकर जब उनकी संज्ञा (सम्यक्ज्ञान) को हर लेता है, तब ढिलकी हुई पूछ वाले, ढिलकी हुई हनु सन्धि वाले, बहती हुई अत्यधिक लालाओं वाले, अव्यक्त बहरे (विष प्रभाव से कुछ बहरे) तथा अन्धे हुए, वे एक दूसरे को काटने के लिए दौड़ते हैं, किन्तु उनमें से प्रमूढ (प्रकृष्टज्ञानशून्य अर्थात् अत्युन्मत्त) हुआ हुआ कोई एक खाने के लिए दौड़ता है। उस पागल विषैले दंष्ट्री (कुत्ते आदि) से काटे हुए मनुष्य के दंश में सुप्तता हो जाती है, तथा उसमें से कृष्णवर्ण का रक्त बहने लगता है और वह मनुष्य दिग्धविद्ध के लक्षणों से प्रायः उपलक्षित होता है।

में उसी प्रकार दूसरों का निर्देश किया है। इसके अतिरिक्त चरक ने अलर्कविष के लक्षण भी कुछ अधिक दर्शाए हैं। तद्यथा—"श्वा त्रिदोषप्रकोपात्तु तथा धातुविपर्ययात्। शिरोऽभितापी लालास्राव्यधोवक्त्रस्तथा भवेत्॥ अन्येऽप्येवंविधा व्यालाः कफवातप्रकोपणाः। हृच्छिरोरुक्ज्वरस्तम्भतृषामूर्च्छाकरा मताः॥ कण्डूनिस्तोदवैवर्ण्यसुप्तिक्लेदोपशोषणम्। विदाहरागरुक्पाकः शोफो ग्रन्थिनिकुञ्चनम्॥ दंशावदरणं स्फोटाः कर्णिका मण्डलानि च। ज्वरश्च सविषे लिङ्गं, विपरीतं तु निर्विषे"। एवं चरक ने यह स्फुट बता दिया है कि सविष व्यालों के काटने पर ये लक्षण होते हैं। इसी विषय पर वाग्भट ने इन दोनों के भाव लेकर इस प्रकार लिखा है कि—"शुनः श्लेष्मोल्बणा दोषाः संज्ञां संज्ञावहाश्रिताः। मुष्णन्तः कुर्वते क्षोभं धातूनामतिदारुणम्। लालावानन्धबधिरः सर्वतः सोऽभिधावति। स्रस्तपुच्छहनुस्कन्धशिरोदुःखी नताननः॥ दंशस्तेन विदष्टस्य सुप्तः कृष्णं क्षरत्यसृक्। हृच्छिरोरुग्ज्वरस्तम्भस्तृष्णामूर्च्छोद्भवो नु च"॥ येन चापि—इत्यादि सुश्रुतोक्त दो श्लोकों में माधव ने बताया है कि जो मनुष्य काटने वाले व्याल की तरह चेष्टाएं और शब्द को करता है, वह उसी प्रकार करता हुआ शारीरिक व्यापारहीन होकर मर जाता है। तथा जो मनुष्य जल में वा दर्पण में काटने वाले व्याल का रूप देखता है, वह भी असाध्य है। यह सब भाव प्रत्यक्ष देखने में भी आता है। इसी भाव को वाग्भट ने एक ही श्लोक में प्रकट किया है कि—"दष्टो येन तु तच्चेष्टारुतं कुर्वन् विनश्यति। पश्यंस्तमेव चाकस्मादादर्शसलिलादिषु॥" त्रस्यतीत्यादि सुश्रुतोक्त दो श्लोकों में माधव ने बताया है कि जो मनुष्य जल को देखकर वा जल को छूकर (जलत्रास) कारण के बिना ही डरता है, उसे भी जलत्रास कहना चाहिये, तथा यह भी रिष्ट कहलाता है। सुश्रुत के इस भाव को भी वाग्भट ने उक्त 'दष्टो येन' इत्यादि श्लोक से ही कह दिया है। 'त्रस्यति' इत्यादि श्लोक प्रतिपादित रिष्ट दष्ट पुरुष के विषय में जानना चाहिए, क्योंकि अदष्ट पुरुष में होने वाला जलत्रासरूप रिष्ट 'अदष्टो वा' इत्यादि से कहा गया है। दष्ट में जलत्रास रूप होता है। इस विषय में तन्त्रान्तर का वाक्य भी है कि—"व्याधितेन श्वादिना दष्टस्य श्लेष्मा प्रकुपितश्चेतोवाहिनीर्धमनीरनुप्रविश्य संज्ञानाशमापादयति सद्यः कालान्तराद्वा"। अवभूते विशेषतः—"ततो नरः स्पृष्ट्वा दृष्ट्वा श्रुत्वा वा जलं त्रस्यति, तस्यापि तदरिष्टं जानीयात्"। किन्तु गयदासाचार्य 'यदि त्रस्यत्यदष्टोऽपि' यह पाठान्तर मानकर इसे भी अदष्टविषयक मानते हैं। दूसरे विद्वान् पाठान्तर स्वीकृति के विना ही 'अकस्मात्' शब्द से इसे भी अदष्टविषयक मानते हैं। अदष्टो वेत्यादि—सुश्रुतोक्त पाठ को देते हुए माधव का यह भाव है कि अदष्ट जलत्रासी कभी भी साध्य नहीं होता, तथा प्रसुप्त वा जागृत स्वस्थ जलत्रासी भी नहीं बचता। इसी भाव को तन्त्रान्तर में भी लिखा है कि—"अदष्टस्यापि जन्तोर्हि जलत्रासो भवेद्यदि। तस्य रिष्टं हि भिषजो ब्रुवते विषचिन्तकाः॥" तथा "जलं

विना जलत्रासो जायते श्लेष्मसङ्क्षयात् ॥" इसी भाव को वाग्भट ने भी कहा है कि—"योऽद्भ्यस्त्रस्येददष्टोऽपि शब्दसंस्पर्शदर्शनैः। जलसंत्रासनामानं दष्टं तमपि वर्जयेत्" (वा. उ. स्था. अ. ३८)। एवं यह सिद्ध होता है कि सुश्रुत, वाग्भट तथा माधवादिकों ने अदष्ट अवस्था में जलत्रास होना रिष्ट रूप से माना है; किन्तु कई आचार्य इसे रिष्ट न मान कर, श्लेष्मप्रकोपज होने से, अदष्टज होने से तथा इसका चिकित्सा विधान होने से साध्य मानते हैं, और दष्ट को असाध्य मानते हैं, क्योंकि इसमें कफ से वायु भी प्रकुपित होता है तथा इसकी चिकित्सा का विधान भी नहीं है। अदष्ट में चिकित्साविधान है। इसके प्रमाण में वे तन्त्रान्तर के वचन का भी उपन्यास करते हैं कि—"बुद्धिस्थानं यदा श्लेष्मा केवलं प्रतिपद्यते। तदा बुद्धौ निरुद्धायां श्लेष्मणाधिष्ठितो नरः॥ जाग्रत्सुप्तोऽथवाऽऽत्मानं मज्जतमिव मन्यते। सलिले त्रस्यति तदा जलत्रासं तु तं विदुः॥ श्लेष्मघ्नं तत्र कर्तव्यं शोधनं शमनानि च। आहारस्य विधानेन यावत् स प्रकृतिं व्रजेत्"॥ एवं इन दोनों मतों की एकवाक्यता करने पर यह सिद्ध होता है कि अदष्टोत्पन्न जलत्रास अल्पावस्था में साध्य तथा दारुणावस्था में असाध्य होता है। एवं तन्त्रान्तरोक्त मत अल्पावस्थापरक है और आचार्योक्त मत दारुण अवस्थापरक है, वा निरुपद्रव जलत्रास साध्य और सोपद्रव असाध्य होता है। अलर्कविष (हाइड्रोफोबिया) के विषय में पाश्चात्य विद्वान् यह मानते हैं कि (कारण—) यह रोग वस्तुतः कुत्तों, गीदड़ों, बिल्लियों वा अन्य पशुओं का है, और उनके काटने से वा व्रणों को चाटने से मनुष्य में आ जाता है। कुत्तों में यह रोग दो प्रकार का होता है। १ निश्चेष्टः—जिसमें कुत्ते की मांसपेशियों का आघात हो जाता है, वह चलने फिरने में असमर्थ होकर एकान्त में पड़ा रहता है; तथा संज्ञाशून्य होकर मर जाता है। इस प्रकार के कुत्ते रोग प्रसार में असमर्थ होते हैं; परन्तु जब इनको थपथपाया जावे वा प्यार किया जाय और वे किसी व्रणयुक्त स्थान को चाट लें तो यह रोग हो जाता है। २ क्षुब्धः—इसमें कुत्ता क्षुब्ध होता है, बिना सोचे समझे जो रास्ते में आये, उसे काट खाता है। वास्तव में ऐसे ही कुत्ते रोगप्रसार का कारण बनते हैं। इस रोग से पीड़ित मनुष्य भी कुत्तों की तरह रोग फैला सकता है। कुत्तों की लाल में इसके कीटाणु उपस्थित होते हैं। जब कुत्ता काटता है, तो उसी व्रण द्वारा उस की लाला में उपस्थित कीटाणु मनुष्य शरीर में प्रविष्ट हो जाते हैं। यह आवश्यक नहीं कि काटे हुए सभी मनुष्यों में यह रोग हो। जो गणना अभी तक हो सकी है, उससे पता लगता है कि १६ प्रतिशत काटे हुए इस रोग से प्रभावित होते हैं। यदि प्रतिरोधक इञ्जैक्शन करा लिया जाय तो उनमें से भी केवल एक प्रतिशत को यह रोग होता है। घाव जितना गम्भीर होगा, उतना ही रोग होने का अधिक भय रहेगा। इसके कीटाणु अतिसूक्ष्म होते हैं, जो कि अभी तक नहीं देखे जा सके। सम्प्राप्तिः—कीटाणु व्रण से वाततन्तु द्वारा मस्तिष्क तक पहुंचते हैं। वहां

में उसी प्रकार दूसरों का निर्देश किया है। इसके अतिरिक्त चरक ने अलर्कविष के लक्षण भी कुछ अधिक दर्शाए हैं। तद्यथा—"श्वा त्रिदोषप्रकोपात्तु तथा धातुविपर्ययात्। शिरोऽभितापी लालास्राव्यधोवक्त्रस्तथा भवेत्॥ अन्येऽप्येवंविधा व्यालाः कफवातप्रकोपणाः। हृच्छिरोरुक्ज्वरस्तम्भतृषामूर्च्छाकरा मताः॥ कण्डूनिस्तोदवैवर्ण्यसुप्तिक्लेदोपशोषणम्। विदाहरागरुक्पाकः शोफो ग्रन्थिनिकुञ्चनम्॥ दंशावदरणं स्फोटाः कर्णिका मण्डलानि च। ज्वरश्च सविषे लिङ्गं, विपरीतं तु निर्विषे"। एवं चरक ने यह स्फुट बता दिया है कि सविष व्यालों के काटने पर ये लक्षण होते हैं। इसी विषय पर वाग्भट ने इन दोनों के भाव लेकर इस प्रकार लिखा है कि—"शुनः श्लेष्मोल्बणा दोषाः संज्ञां संज्ञावहाश्रिताः। मुष्णन्तः कुर्वते क्षोभं धातूनामतिदारुणम्। लालावानंधबधिरः सर्वतः सोऽभिधावति। स्रस्तपुच्छहनुस्कन्धशिरोदुःखी नताननः॥ दंशस्तेन विदष्टस्य सुप्तः कृष्णं क्षरत्यसृक्। हृच्छिरोरुग्ज्वरस्तम्भस्तृष्णामूर्च्छोद्भवो नु च"॥ येन चापि—इत्यादि सुश्रुतोक्त दो श्लोकों में माधव ने बताया है कि जो मनुष्य काटने वाले व्याल की तरह चेष्टाएं और शब्द को करता है, वह उसी प्रकार करता हुआ शारीरिक व्यापारहीन होकर मर जाता है। तथा जो मनुष्य जल में वा दर्पण में काटने वाले व्याल का रूप देखता है, वह भी असाध्य है। यह सब भाव प्रत्यक्ष देखने में भी आता है। इसी भाव को वाग्भट ने एक ही श्लोक में प्रकट किया है कि—"दष्टो येन तु तच्चेष्टारुतं कुर्वन् विनश्यति। पश्यंस्तमेव चाकस्मादादर्शसलिलादिषु॥" त्रस्यतीत्यादि सुश्रुतोक्त दो श्लोकों में माधव ने बताया है कि जो मनुष्य जल को देखकर वा जल को छूकर (जलत्रास) कारण के बिना ही डरता है, उसे भी जलत्रास कहना चाहिये, तथा यह भी रिष्ट कहलाता है। सुश्रुत के इस भाव को भी वाग्भट ने उक्त 'दष्टो येन' इत्यादि श्लोक से ही कह दिया है। 'त्रस्यति' इत्यादि श्लोक प्रतिपादित रिष्ट दष्ट पुरुष के विषय में जानना चाहिए, क्योंकि अदष्ट पुरुष में होने वाला जलत्रासरूप रिष्ट 'अदष्टो वा' इत्यादि से कहा गया है। दष्ट में जलत्रास रूप होता है। इस विषय में तन्त्रान्तर का वाक्य भी है कि—"व्याधितेन श्वादिना दष्टस्य श्लेष्मा प्रकुपितश्चेतोवाहिनीर्धमनीरनुप्रविश्य संज्ञानाशमापादयति सद्यः कालान्तराद्वा"। अवभृते विशेषतः—"ततो नरः स्पृष्ट्वा दृष्ट्वा श्रुत्वा वा जलं त्रस्यति, तस्यापि तदरिष्टं जानीयात्"। किन्तु गयदासाचार्य 'यदि त्रस्यत्यदष्टोऽपि' यह पाठान्तर मानकर इसे भी अदष्टविषयक मानते हैं। दूसरे विद्वान् पाठान्तर स्वीकृति के विना ही 'अकस्मात्' शब्द से इसे भी अदष्टविषयक मानते हैं। अदष्टो वेत्यादि—सुश्रुतोक्त पाठ को देते हुए माधव का यह भाव है कि अदष्ट जलत्रासी कभी भी साध्य नहीं होता, तथा प्रसुप्त वा जागृत स्वस्थ जलत्रासी भी नहीं बचता। इसी भाव को तन्त्रान्तर में भी लिखा है कि—"अदष्टस्यापि जन्तोर्हि जलत्रासो भवेद्यदि। तस्य रिष्टं हि भिषजो ब्रुवते विषचिन्तकाः॥" तथा "जलं

सूक्तिमुक्तावलीग्रन्थे गुरुणा यत्र गुम्फितम् ।
मया समस्तमग्रन्थि तद्गिरा शुद्धियुक्तया ॥
गुणनिधिगुरुबद्धे दाम्नि वाङ्मालतीनां परमपरिमलश्रीधाम्नि लब्धावलम्बम् ।
स्फुरति वचनकुन्दं मन्दसौरभ्यलेशाद्वचनमपि मदीयं किंचिदेतत् कदाचित् ॥२॥
इति श्रीविजयरक्षितश्रीकण्ठदत्तविरचिता मधुकोशव्याख्या समाप्ता ॥

अथ विषयानुक्रमणिका ।

ज्वरोऽतिसारो ग्रहणी चार्शोऽजीर्णं विसूचिका ।
अलसश्च विलम्बी च क्रिमिरुक्पाण्डुकामलाः ॥१॥
हलीमकं रक्तपित्तं राजयक्ष्मा उरःक्षतम् ।
कासो हिक्का सह श्वासैः स्वरभेदस्त्वरोचकः ॥२॥
छर्दिस्तृष्णा च मूर्च्छाद्या रोगाः पानात्ययादयः ।
दाहोन्मादावपस्मारः कथितोऽथानिलामयः ॥३॥
वातरक्तमूरुस्तम्भ आमवातोऽथ शूलरुक् ।
पक्तिजं शूलमानाह उदावर्तोऽथ गुल्मरुक् ॥४॥
हृद्रोगो मूत्रकृच्छ्रं च मूत्राघातस्तथाऽश्मरी ।
प्रमेहो मधुमेहश्च पिडकाश्च प्रमेहजाः ॥५॥
मेदस्तथोदरं शोथो वृद्धिश्च गलगण्डकः ।
गण्डमालाऽपची ग्रन्थिरर्बुदः श्लीपदं तथा ॥६॥
विद्रधिर्व्रणशोथश्च द्वौ व्रणौ भग्ननाडिके ।
भगन्दरोपदंशौ च शूकदोषस्त्वगामयः ॥७॥
शीतपित्तमुदर्दश्च कोठश्चैवाम्लपित्तकम् ।
विसर्पश्च सविस्फोटः सरोमान्त्यो मसूरिकाः ॥८॥
क्षुद्रास्यकर्णनासाक्षिशिरःस्त्रीबालकामयाः ।
विषं चेत्ययमुद्दिष्टो रुग्विनिश्चयसंग्रहः ॥९॥
सुभाषितं यत्र यदस्ति किंचित्तत्सर्वमेकीकृतमत्र यत्नात् ।
विनिश्चये सर्वरुजां नराणां श्रीमाधवेनेन्दुकरात्मजेन ॥१०॥
यत्कृतं सुकृतं किंचित्कृत्वैवं रुग्विनिश्चयम् ।
मुञ्चन्तु जन्तवस्तेन नित्यमातङ्कसन्ततिम् ॥११॥
इति श्रीमाधवकरविरचितं माधवनिदानं समाप्तम् ।

सारा निदान समाप्त हो जाने के अनन्तर आचार्य माधव इस अभिप्राय से विषयानुक्रमणिका लिखते हैं कि जिससे पाठकों को इसमें आने वाले रोगों का ज्ञान शीघ्र हो जावे । साथ ही प्राचीन आचार्यों की यह शैली इसलिए भी

पहुंच कर मस्तिष्क की सैलों में और उनके इतस्ततः शोथ पैदा कर देते हैं। परिपाककाल:—एक मास से ३ मास तक और सीमा १२ दिन से लेकर एक वर्ष पर्यन्त है। लक्षण—दंशस्थान कुछ दिनों में स्वयमेव अच्छा हो जाता है, परन्तु जब रोग आरम्भ होने लगता है तो उसी स्थान पर पीड़ा व जलन सी प्रतीत होती है। मन्दज्वर, शिरःशूल, अनिद्रा और बेचैनी आदि लक्षण उपस्थित होते हैं। दो तीन दिन पीछे बेचैनी बढ़ जाती है। मन अतिक्षुब्ध रहता है। स्पर्शासहिष्णुता बढ़ जाती है और गले की मांसपेशियों का संकोच होने लगता है। पानी पीने की चेष्टा करने से या अन्य साधारण बात से गले की मांसपेशियां संकुचित हो जाती हैं और गला घुट जाता है जिससे कि रोगी पानी नहीं पी सकता। शनैः २ यह संकोच बढ़कर सारे शरीर में व्याप्त हो जाता है और उत्क्षेप होने लगते हैं। स्वरयन्त्र और गले की मांसपेशियों के संकोच से रोगी का स्वर भी विचित्र सा हो जाता है। प्रायः १०२, १०३ ज्वर भी रहता है। दो तीन दिन यह दशा रहने से रोगी बिलकुल निढाल होकर संज्ञाशून्य हो जाता है और मर जाता है।

प्रशान्तविषस्य लक्षणमाह—

प्रशान्तदोषं प्रकृतिस्थधातु-
मन्नाभिकामं सममूत्रविट्कम्।
प्रसन्नवर्णेन्द्रियचित्तचेष्टं
वैद्योऽवगच्छेदविषं मनुष्यम्॥६५॥ [सु०५।६]

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने विषनिदानं समाप्तम्॥६९॥

प्रशान्तदोष वाले, स्वमानस्थित धातु वाले, अन्नाभिलाषी, नियमपूर्वक मलमूत्र त्यागी, प्रसन्नवर्ण, प्रसन्नेन्द्रिय तथा प्रसन्नचित्त मनुष्य को वैद्य निर्विष जाने।

मधु०—विषातुरः कीदृशो निर्विषो भवतीति दर्शयितुमाह—प्रशान्तदोषमित्यादि। अन्नाभिकाममित्यनेन प्रकृतिस्थाग्नितोक्ता। यदाह चरकः—"प्रायेणोपहताग्नित्वात् सपिच्छमतिसार्यते। प्राप्नोति चास्यवैरस्यं न चान्नमभिनन्दति" इति। सममूत्रविट्कमिति अक्षीणानतिरिक्तमूत्रपुरीषम्। अन्ये 'समसूत्रजिह्वम्' इति पठन्ति, तदाऽयमर्थः—सममविकृतं सूत्रं जिह्वा च यस्य स तथा, एतेन विषजुष्टा जिह्वा न रसबोधिनी भवति, सूत्रमपि जिह्वायां विषप्रभावेण वैकृतं भवतीति प्रतिपादयति। जिह्वाग्रहणेनैव सूत्रग्रहणे सिद्धे, तस्य च रसग्रहणे अनुगुणत्वप्रतिपादनार्थं पृथगुपादानम्। अनेन श्लोकेन "समदोषः समाग्निश्च" (सु. सू. स्था. अ. १५)- इत्यादि श्लोकस्य सकल एवार्थ उपबद्धः॥६५॥

विषातुरः कीदृशो निर्विषो भवतीति दर्शयितुमाह इत्यादि की भाषा सरल ही है।

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायां विषनिदानं समाप्तम्॥६९॥

अथ निदानपरिशिष्टम्

अथ मन्थरकज्वरनिदानम्।

मन्थरकज्वरस्य निदानमाह—

अध्वोपवासक्लिष्टानां दुर्गन्धाभ्यर्णवासिनाम्।
प्रायो मलादिसंसृष्टभक्ष्यपानादियोगतः ॥१॥
सर्वेष्वेवर्तुषु भूम्ना ग्रीष्मे शरदि वार्षिके।
मन्थराख्यो ज्वरो घोरो दृश्यते कृच्छ्रलक्षणः ॥२॥
तस्य नामानि चोक्तानि चान्त्रिकतोरकीज्वरौ।
एण्टेरिक्टाइफाईडौ[1] मोतीझारो मुबारकी ॥३॥
तस्य कीटाणवः प्रोक्ता मूलं दण्डरूपिणः।
"वैसिलस टईफोसिस[2]" ते नाम्ना प्रकीर्तिताः ॥४॥
प्लीह्नि, मूत्राशये, रक्ते, पित्तस्थानेऽन्त्रजे व्रणे।
पिडकासु, तथा स्वेदे, विट्के चापि कृतास्पदाः ॥५॥
विशिष्टं कारणं प्रोक्ता

बहुत मार्ग चलकर थके हुए, बहुत उपवास करने के कारण क्षीण हुए और दुर्गन्धित स्थानों में रहने वाले मनुष्यों में प्रायः मल आदि से दूषित भक्ष्य (खाने योग्य) पदार्थ, पेय (पीने योग्य) पदार्थ, चोष्य (चूसने योग्य) पदार्थ, तथा लेह्य (चाटने योग्य) पदार्थ के सेवन करने से; सभी ऋतुओं में विशेषतः ग्रीष्म शरद और वर्षा ऋतु में भयानक लक्षणों वाला मन्थरक नामक घोर ज्वर उत्पन्न होता है। आन्त्रिक ज्वर, तोरकी, एण्टेरिक फीवर, मोतीझारा और मुबारकी ये उसके नाम हैं। उस मन्थर के मूल कारण दण्डाकार कीटाणु होते हैं, जो कि 'वैसिलस टाईफोसिस' कहलाते हैं, तथा प्लीहा, मूत्राशय, रक्त, पित्ताशय, आन्त्रिक व्रण, पिडका, स्वेद तथा मल में रहते हैं। ये कीटाणु ही इस ज्वर के विशेष कारण हैं।

---

१ एण्टेरिक फीवर (Enteric Fever) वा टाईफाइड फीवर (or Typhaid Fever). २ 'वैसिलस टाईफोसिस' स्थाने वैसिलस टईफोसिस इति निर्देशः छन्दोऽनुरोधात्.

होती थी कि कहीं ग्रन्थ का कोई भाग गुप्त हो जावे तो विषयानुक्रमणिका को देख उसके अन्वेषण में यत्न किया जा सके। साथ ही विषयानुक्रमणिका होने से अपहरण समावेश भी नहीं हो सकते। इन्हीं सब बातों को लक्ष्य में रखकर आचार्य विषयानुक्रमणिका लिखते हैं कि—ज्वर इत्यादि। अर्थात् ज्वर, अतिसार, ग्रहणी, अर्श, अजीर्ण, विसूचिका, अलसक, विलम्बिका, क्रिमिरोग, पाण्डु, कामला, हलीमक, रक्तपित्त, राजयक्ष्मा, उरःक्षत, कास, हिक्का, श्वास, स्वरभेद, अरोचक, छर्दि, तृष्णा, मूर्च्छादिरोग, पवनात्यय आदि रोग, दाह, उन्माद, अपस्मार, वातव्याधि, वातरक्त, ऊरुस्तम्भ, आमवात, शूलरोग, पक्तिशूल, आनाह, उदावर्त, गुल्मरोग, हृद्रोग, मूत्रकृच्छ्र, मूत्राघात, अश्मरी, प्रमेह, मधुमेह, प्रमेहपिडकाएं, मेदोरोग, उदररोग, शोथरोग, वृद्धिरोग, गलगण्ड, गण्डमाला, अपची, ग्रन्थि, अर्बुद, श्लीपद, विद्रधि, व्रणशोथ, भग्नव्रण, नाडीव्रण, भगन्दर, उपदंश, शूकदोष, कुष्ठ, शीतपित्त, उदर्द, कोठ, अम्लपित्त, विसर्प, विस्फोट, मसूरिका, रोमान्तिका, क्षुद्ररोग, मुखरोग, कर्णरोग, नासारोग, नेत्ररोग, शिरोरोग, स्त्रीरोग (योनिव्यापत्तियां, योनिकन्द, मूढगर्भ, असृग्दर आदि), बालरोग और विषप्रकरण, यह रोगविनिश्चय नामक इस ग्रन्थ में आए हुए रोगों का संग्रह है। जहां जो कुछ सुभाषित है (था) उस सम्पूर्ण सुभाषित को इन्दुकर के पुत्र श्रीमान् माधवकर ने इस मनुष्यों के सर्वरोगविनिश्चय (नामक ग्रन्थ) में यत्नपूर्वक इकट्ठा किया है। इस प्रकार के रोगविनिश्चय नामक ग्रन्थ को बनाकर मैंने जो कुछ अच्छाई की है, उस अच्छाई के प्रभाव से जन्तु (मनुष्य) प्रत्यहं (होने वाली) रोगशृङ्खला को छोड़ दें।

वक्तव्य—नित्यमातङ्कसन्ततिं—प्रति दिन होने वाली ज्वरादि रोगों की शृङ्खला को, छोड़कर सुखी हों; वा प्रति दिन होने वाली स्वाभाविक तथा कर्मादि रोग शृङ्खला को छोड़कर मुक्त हों। ये दोनों भाव उपर्युक्त श्लोक से निकलते हैं, अधिक मङ्गलप्रद होने से दूसरा भाव ही अच्छा है। आचार्य ने यह आशीर्वादात्मक मङ्गल किया है।

इति आयुर्वेदाचार्य-कविराजश्रीदीनानाथशर्मशास्त्रिवैद्यवाचस्पति-
विरचितायां यशोवतीटिप्पणीसमुपेतायां समूलमधुकोश-
विकासिन्याख्यायां व्याख्यायां माधवनिदानं समाप्तम्।

और यकृत् बढ़ जाते हैं। व्रण में कोई रक्तवाहिनी आकर यदि फट जावे तो रक्तस्राव भी होने लगता है; और अन्त्र को फाड़ कर व्रण के उदर कला तक पहुँच जाने पर उसमें सूजन आ जाती है।

मंथरकज्वरस्य पूर्वरूपं निरूपयति—

पूर्वरूपं तु तस्येदं शिरोरुगरुचिस्तमः।
अरतिर्विड्विबन्धश्च स्यात्सप्ताहं स्फुटास्फुटम् ॥११॥

उस मन्थरक ज्वर का यह पूर्वरूप है कि एक सप्ताह तक शिर में पीड़ा, अरुचि, तम (मूर्च्छा वा अन्धकार प्रविष्ट का सा ज्ञान), अरति (किसी कार्य में दिल न लगना) और मल की विबद्धता स्पष्ट तथा अस्पष्ट रूप में होती है।

वक्तव्य—'स्पष्टास्पष्टं' का भाव यह है शिरोरुजादि लक्षण प्रकट रूप में वा अप्रकट रूप में सात दिन तक रहते हैं। पूर्वरूपों की स्थिति मर्यादा सात दिन तक है। अब यहां यह शङ्का होती है कि जब शिरोरुजा आदि लक्षण पहले अस्फुट रूप में होकर बाद में स्फुट रूप में आ जाते हैं, तो वे लक्षण क्यों नहीं कहलाते ? क्योंकि रूप का लक्षण आचार्यों ने 'तदेव व्यक्ततां यातं रूपमित्यभिधीयते' यह माना है। इसका उत्तर यह है कि यहां 'स्फुटास्फुटं' का भाव यह है कि किसी व्यक्ति में ये पूर्वरूप अस्फुट रूप में होंगे और किसी में स्फुट रूप में। एवं यह सिद्ध होता है कि 'स्फुटास्फुट' पद विकल्पप्रदर्शक है, न कि एकव्यक्तिपरक। यदि एकव्यक्तिपरक भी माना जावे तो इसका भाव यह है कि रोगी को कभी ये लक्षण इतने हलके होते हैं कि वह मोटी बुद्धि से समझ ही नहीं सकता कि मुझे सिर में पीड़ा हो रही है। वह समझता है कि ऐसे ही सिर भारी सा हुआ २ है; वा वह इस हलकी सी व्यथा की परवाह ही नहीं करता जिससे यह शिरोव्यथा आदि लक्षण अस्फुट कहलाते हैं। इनकी स्फुट अवस्था वह है जिसमें कि शिरोव्यथा आदि लक्षण स्पष्ट रूप से अनुभूत होते हैं। इन स्फुट पूर्वलक्षणों को रूप नहीं कहा जा सकता क्योंकि ये रूप में नहीं रहते प्रत्युत ये कहीं और भी स्फुट हो जाते हैं। अतः तब इनके स्फुट होने पर जो लक्षण रहते हैं, वे रूप कहलाते हैं। हाँ, शिरोव्यथा आदि के स्फुट होने पर उन्हें विशिष्ट पूर्वरूप कहा जा सकता है। सप्ताहम्—अर्थात् यह अवस्था सात दिन तक रहती है। इसमें प्रमाण भी है कि—'सादः शिरसि च पीडा विड्विबन्धश्चारुचिस्ततोऽप्यरतिः। सप्ताह इति ज्ञेयं प्राग्रूपं त्वान्त्रिकजरस्यैतत्' तथा 'शिरोरुगरुचिः सादो विड्विबन्धोऽरतिस्तमः। स्फुटास्फुटं पूर्वलिङ्गं प्रायः स्यादान्त्रिके ज्वरे'॥

मन्थरकज्वरस्य रूपमवतारयति—

तदेव व्यक्ततां याति रूपरूपेण चाष्टमे।
वर्धते च ज्वरो नित्यं क्रमशो लक्षणैः सह ॥१२॥
चतुरोत्तरशतं स्यात् पञ्चोत्तरमथापि वा।
सीमा ज्वरतापस्य प्लीहश्चाप्यभिवर्धनम् ॥१३॥
पिडका मौक्तिकाकाराः स्युर्ग्रीवोदरसक्थिषु।
योद्भूयोद्भूय लीयन्ते भारतीयेषु निश्चिताः ॥१४॥
हरिवर्पप्रभूतेषु तारा वारुणलक्षणाः।
उद्भूयोद्भूय लीयन्ते विकल्पोऽयं प्रदश्यते ॥१५॥

वक्तव्य—सूक्ष्म जन्तु दो प्रकार के होते हैं जिनका कि ज्ञान अणुवीक्षणयन्त्र की सहायता से होता है। पहले प्रकार के सूक्ष्म जन्तु वे होते हैं, जिनकी उत्पत्ति प्राणिवर्ग से होती हैं। इन्हें जीवाणु कहा जाता है। दूसरे प्रकार के सूक्ष्मजन्तु वे होते हैं, जिनकी उत्पत्ति वनस्पति वर्ग से होती है, इन्हें कीटाणु कहा जाता है। कीटाणु तथा जीवाणु ये दोनों ही दण्डाकार, बिन्दुकाकार आदि भेदों से कई प्रकार के होते हैं। इसमें भी यह अवधेय है कि ये सभी हानिकर ही नहीं होते प्रत्युत कई लाभप्रद भी होते हैं। जैसे दूध को जमाने वाले, खमीर उठाने वाले प्रभृति। हानिकर सूक्ष्माणुओं के भेदरूप कीटाणुओं में से दण्डाकार कीटाणु जिनका कि नाम, 'वैसिलस टाइफोसिस' है, इस मन्थरकज्वर को उपजाते हैं। यह कीटाणु रोगी के मूत्राशय, आन्त्रिकव्रण, पित्ताशय, प्लीहा, रक्त और पिडिकाओं में रहता है। इसलिए यह रोगी के मलमूत्र और कभी २ स्वेद में भी उपस्थित होता है। इस दूषित मलमूत्र के स्पर्श आदि से, मक्खी आदि द्वारा दूषित वस्त्रों से, परिचारक दूध, दही आदि संक्रम के कारणों से गन्दी नालियों तथा नलकों आदि द्वारा, शुष्क मल के वायु द्वारा उड़कर जाने से, तथा अन्य संक्रमणों से रोग उपजाते हैं।

मन्थरकज्वरस्य सम्प्राप्तिमवतारयति—

विविधैः सङ्क्रमहेतुभिः।
विण्मूत्रस्वेदजैर्दोषैर्भक्ष्यादिद्रव्यदूषितैः ॥६॥
संक्रमणं हि कुर्वन्ति कृत्वा चान्त्रं नु यन्ति वै।
तदनु चान्त्रभित्तिस्थान् ग्रन्थींश्च शूनयन्ति नु ॥७॥
रसं रक्तञ्च दोषांश्च त्वरया कोपयन्त्यपि।
क्षिण्वन्ति चान्तिमं भागं क्षुद्रान्त्राणां शनैः शनैः ॥८॥
ततोऽन्त्रक्षतसंवृद्धौ तथा तत्पारगे क्षते।
ध्रुवं हि शूनतां याति कला तूदरमाश्रिता ॥९॥
जायते शौचवेलायां क्वचिद्रक्तस्य निःस्रवः।
भिन्नान्त्रता तदा विद्यादसाध्यश्च भवेत्तथा ॥१०॥

अनेक प्रकार के संक्रम कारणों से तथा मल, मूत्र और स्वेद (पसीना) से उत्पन्न दोषों द्वारा भक्ष्यादि द्रव्यों के दूषित होने पर ये कीटाणु संक्रमण करते हैं, और संक्रमण कर अन्त्र में प्रविष्ट हो जाते हैं। इसके बाद वे रोगाणु अन्त्र की दीवार में रहने वाली लसीका ग्रन्थियों को सुजा देते हैं; और रस, रक्त और दोषों को शीघ्र ही प्रकुपित कर देते हैं, तथा क्षुद्रान्त्रों के अन्तिम भाग को धीरे २ क्षतयुक्त कर देते हैं। तदनु अन्त्रक्षत के बढ़ जाने पर तथा क्षत उसके पार हो जाने पर उदरक कला में सूजन आ जाती है। इसके बाद (व्रणों के बढ़ जाने से) मल त्यागते समय कभी कभी रक्त भी बहने लगता है। इस अवस्था में अन्त्र भिन्न हो जाता है और यह रोग असाध्य हो जाता है।

वक्तव्य—उपर्युक्त का भाव यह है कि अनेक प्रकार के संक्रमणों द्वारा 'वैसिलस टाइफोसिस' नामक कीटाणु अन्त्र में जाकर उसकी दीवार में रहने वाली लसीका ग्रन्थियों के समूह में सूजन उत्पन्न कर देते हैं, जो कि शनैः २ बढ़ती जाती है। इसके बाद (दूसरे सप्ताह में) व्रण बन जाते हैं और उन व्रणों पर से श्लैष्मिक कला के टुकड़े गिर गिर कर मल के साथ आने लगते हैं। उदरक कला की लसीका ग्रन्थियां सूज जाती हैं तथा प्लीहा

के बीत जाने पर प्रायः ज्वर उतर जाता है। यह मन्थरक नाम वाले ज्वर की साधारण व्याख्या है। वही ज्वर मिथ्योपचार से विषमता को प्राप्त कर लेता है, तो उसकी मर्यादा द्विगुणित हो जाती है; और यदि फिर भी अपथ्य किया जावे तो उसकी मर्यादा तिगुणी भी हो जाती है। एवं तब अन्य उपद्रव भी विशेषरूप से भी हो जाते हैं।

वक्तव्य—यह रोग धीरे धीरे बढ़ता है; और इसमें शिरःशूल, अङ्गमर्द, अवसाद ज्वर की अपेक्षा नाड़ी की गति मन्द, जिह्वा मलिन, जिह्वाङ्कुर लाल एवं उभरे हुए, कोष्ठबद्धता वा अतिसार, प्लीहावृद्धि और यकृतवृद्धि ये लक्षण होते हैं। यह प्रथम सप्ताह की व्यवस्था है। इसमें ज्वर अपनी सीमा तक पहुँच जाता है। द्वितीय सप्ताह में प्रलाप, कम्प आदि लक्षण होते हैं। इसमें उदर आदि पर गुलाबी वर्ण की पिडकाएं निकल आती हैं, जिह्वा शुष्क होती है और फट जाती है। होठों वा दांतों पर मल जमा हो जाता है, पेट फूला रहता है, मुख की आकृति निश्चिन्त, आंखें स्तब्ध व तेजहीन होती हैं। इसमें ज्वर अपनी सीमा पर स्थित रहता है। तीसरे सप्ताह में ज्वर धीरे २ उतर जाता है, किन्तु दुर्बलता रहती है जो कुछ दिन बाद दूर हो जाती है। इस समय कुपथ्य से इसकी सीमा दुगुनी वा तिगुनी भी हो जाती है।

मन्थरज्वरस्यासाध्यलक्षणमाह—

मिथ्योपचारादन्त्रेषु यदा यक्ष्मोपजायते।
आक्रम्येते फुफ्फुसौ च जायन्तेऽन्येऽप्युपद्रवाः ॥२६॥
आन्त्रक्षयाभिधो रोगस्तदाऽसाध्यो भवत्यसौ।
रक्तस्रावोऽतिसारश्च तीव्रतापो विषाक्तता ॥२७॥
उदरावरके शोथो जायते च यदा खलु।
तदाऽसाध्यं विजानीयाद्विना पादचतुष्टयम् ॥२८॥
एवमन्यानि रूपाणि यान्ति प्रबलतां यदा।
तदाऽपि न भवेत् साध्यो विना पादचतुष्टयम् ॥२९॥

मिथ्या उपचार से जब आंतों में यक्ष्मा हो जाती है तो उससे फुफ्फुस भी आक्रान्त हो जाते हैं। इसमें और उपद्रव भी उपज आते हैं। यह अन्त्रक्षय नामक रोग होता है जो कि इस अवस्था में आया हुआ असाध्य होता है। जब रक्तस्राव, अतीसार, अतितीव्रताप, विषरक्तता (टाक्सीमिया) और उदरकला शोथ हो जाता है तब उसे चतुष्पाद के बिना असाध्य जानना चाहिए। इसी प्रकार इसके दूसरे रूप भी जब प्रबल हो जाते हैं तो भी चतुष्पाद के बिना रोगी मर ही जाता है।

इति दीनानाथशर्मविग्रथिते भाषाटीकान्विते निदानपरिशिष्टे मन्थरकज्वरनिदानम्।

अथ ग्रन्थिकज्वरनिदानम्।

ग्रन्थिकज्वर परिचयमाह—

प्रायो वंक्षणकक्षादिग्रन्थिषु शोफरुक्करः।
घोरो जनपदोद्ध्वंसी ग्रन्थिकाख्यो ज्वरो मतः ॥१॥

---

१ Plague or Bubonic Fever.

जिह्वा च मलिना रूक्षा त्वङ्कुरैः परिता चिता।
स्फुटिता च क्वचित् स्यात्तथाध्मानमुदरे भवेत् ॥१६॥
ज्वरः पूर्वोक्तसीमाञ्च शैघ्र्येणैवर्द्धति ध्रुवम्।
इयमवस्था प्रथमे स्यात्सप्ताहेऽपरे पुनः ॥१७॥
सीमायामेव रोगस्तिष्ठेदस्मिन्दिनसप्तके।
तदा प्रलाप आक्षेपस्तन्द्रा कासः प्रमीलकः ॥१८॥
दौर्बल्यं मुखशोषश्चाऽरत्याध्माने विशेषतः।
जिह्वा च रक्तपर्यन्ता कर्कशा स्फुटितोपमा ॥१९॥
मध्ये म्लाना तथा चात्र धमनी नातिचञ्चला।
सन्तापोऽभ्यधिकश्चापि चिन्ताशून्या मुखाकृतिः ॥२०॥
नेत्रे स्तब्धे तथा तेजोहीने स्यातां हि निश्चितम्।
सान्निपातिकलिङ्गानि दृश्यन्तेऽत्रापराण्यपि ॥२१॥
अथ तृतीये सप्ताहे क्वचित्तुर्येऽथवा पुनः।
ज्वर उपद्रवैर्युक्तः क्रमशश्चावरोहति ॥२२॥
याते तृतीये सप्ताहे प्रायो ज्वरो विमुञ्चति।
इयं साधारणी व्याख्या मन्थराख्यज्वरस्य हि ॥२३॥
मिथ्याचारेण वैषम्यं समाप्नोति च स ज्वरः।
तदाऽस्य खलु मर्यादा द्विगुणा जायते ध्रुवम् ॥२४॥
पुनश्चापथ्यचारेण त्रिगुणापि भवेदिह।
अन्ये चोपद्रवास्तर्हि वैशिष्ट्येन भवन्ति च ॥२५॥

आठवें दिन पूर्वोक्त शिरोव्यथा आदि पूर्वरूप पट्क रूप के स्वरूप में व्यक्त हो जाता है। तब अन्य लक्षणों के साथ २ ज्वर क्रमशः बढ़ जाता है, जिसकी सीमा १०४ फ.—१०५ फ. तक होती है, और इसमें प्लीहा भी बढ़ जाती है। इस ज्वर में भारतीयों में ही मौक्तिकाकार पिडकाएं उनकी ग्रीवा, उदर तथा जङ्घा में होती हैं, जो कि हो हो कर लीन हो जाती हैं। हरिवर्ष में होने वाले मनुष्यों में वही पिडकाएं अरुण वर्ण की होती हैं, तथा हो हो कर विलीन हो जाती हैं। एवं आर्यों और अंग्रेजों में यह पिडकाओं का भेद दीखता है। इस ज्वर में जिह्वा मलिन, रूक्ष और लालवर्ण के अङ्कुरों से व्याप्त एवं स्फुटित होती है। इस रोग में आध्मान भी होता है। एवं इन लक्षणों के हो जाने पर ज्वर शीघ्र ही पूर्वोक्त (१०४ फ.—१०५ फ. तक की) सीमा को प्राप्त कर लेता है। यह अवस्था पहले सप्ताह में होती है, और दूसरे सप्ताह में तो ज्वर अपनी सीमा में ही रहता है। इस सप्ताह में प्रलाप, आक्षेप, तंद्रा, कास, प्रमूढावस्था, दुर्बलता, मुखशोष, अरति और आध्मान विशेष रूप से होते हैं। इसमें जिह्वा लाल किनारों वाली, कर्कश, फटी सी और मध्य भाग से मलिन होती है, तथा इसमें धमनी ज्वर की अपेक्षा मन्द होती है। इसमें सन्ताप अधिक, मुख की आकृति चिन्ताशून्य और नेत्र स्तब्ध एवं तेज हीन होते हैं। एवं इसमें अन्य भी सान्निपातिक लिङ्ग दीखते हैं। इसके बाद तीसरे सप्ताह में वा कहीं कहीं चौथे सप्ताह में ज्वर उपद्रवों के साथ २ ही क्रमशः उतर जाता है। तीसरे सप्ताह

सर्वैव शूनतापन्ना मनाक् सर्वशरीरजा।
कीटरक्तनिमित्तायारियं जातिर्मता बुधैः ॥१०॥
फुफ्फुसदाहकाः कीटाः श्लेष्मादिभिः समागताः।
अन्तश्च श्वासमार्गेण गत्वा स्युः फुफ्फुसंदहाः ॥११॥
फुफ्फुसदाहकग्रन्थेः कष्टेयमागतिर्मता।

जब मूषकों में होने वाला पिस्सू नामक कीट किसी प्रकार से मनुष्य को काट लेता है तो वहीं उसके दंश से कीटाणु निकल कर मनुष्यशरीर में प्रविष्ट हो लसीकावाहिनियों में घूमता हुआ जब लसीका ग्रन्थियों में पहुंचता है, तो वे ग्रन्थियां क्षुब्ध हो जाती हैं; और उन कीटाणुओं के विष को दूर करने की चेष्टा करती हैं (भाव यह है कि उन कीटाणुओं को मारना चाहती हैं)। इस प्रकार को कार्य में परिणत करते समय ग्रन्थियों का कार्य बढ़ जाता है। अतः इस कार्यवृद्धि के प्रभाव से वे ग्रन्थियाँ बढ़ जाती हैं, और उन कीटाणुओं के विष से ज्वर हो जाता है। यह ग्रन्थिरोग (प्लेग) की मुनिप्रतिपादित सम्प्राप्ति है। जब वे कीटाणु ग्रन्थियों में नष्ट न होकर रक्त में घूमने लग जाते हैं, तो कीटरक्तता (सैप्टिसीमिया) हो जाती है। यह अवस्था अतिदारुण होती है। और इसमें किसी अङ्गविशेष की ग्रन्थियाँ न फूल कर अल्पांश में सारे ही शरीर की ग्रन्थियाँ फूल जाती हैं। यह कीटरक्तनिमित्ता (सैप्टिसीमियक) ग्रन्थिरोग की सम्प्राप्ति है। फुफ्फुसप्रदाहक कीट मनुष्य के फुफ्फुसों से श्लेष्मादि द्वारा बाहर आकर और श्वास के साथ दूसरे मनुष्य के फुफ्फुसों में जाकर (फुफ्फुस) प्रदाहक बन जाते हैं। यह फुफ्फुसप्रदाहिक ग्रन्थिरोग की सम्प्राप्ति है, जो कि कष्टप्रद होती है।

वक्तव्य—ऊपर प्लेग के विषय में कहा जा चुका है कि वह तीन प्रकार की होती है—एक ग्रन्थिक, दूसरी सैप्टीसीमियक और तीसरी फुफ्फुसप्रदाहिक। अब सम्प्राप्ति के विवरण में भी कुछ भेद है क्योंकि तीनों की सम्प्राप्ति में कुछ भेद है। प्रथम प्रकार के प्लेगरोग की सम्प्राप्ति यह है कि जब चूहों में प्लेग पड़ जाने से बचे हुए चूहे भाग जाते हैं, तो उनके पिस्सू बुभुक्षा के कारण मनुष्यों को काट लेते हैं। उनके काटने पर उनके अन्दर से प्लेग का कीटाणु भी उसी क्षत द्वारा मनुष्य के शरीर में प्रविष्ट होकर लसीकावाहिनियों में घूमने लगता है। लसिकावाहिनियों के भाग में लसीकाग्रन्थियां आती हैं। जब ये कीटाणु घूमते हुए लसीकाग्रन्थियों में जाते हैं तो वहां लसीकाग्रन्थियां उन्हें रोक कर रक्त में नहीं जाने देतीं और उनका नाश करना आरम्भ कर देती हैं। एवं इन्हें कार्य बहुत करना पड़ता है अतः तत्स्थानीय ग्रन्थि सूज जाती है, तथा विष के प्रभाव से ज्वर हो जाता है। एवं यह ग्रन्थिकप्लेग की सम्प्राप्ति है। इसमें भी यदि ग्रन्थि पक कर फूट पड़े तो शुभ लक्षण है, क्योंकि इस प्रकार पूय के साथ विषाक्त कीटाणु भी निकल जाते हैं। यही कारण है कि इनकी चिकित्सा में भी ग्रन्थि पकाई जाती है। जब कीटाणु लसीकाग्रन्थियों में न रुक कर रक्त में मिल जाते हैं, तो रक्त विषैले कीटाणुओं से विषाक्त हो जाता है। तब कोई विशेष ग्रन्थि न फूल कर स्वल्पमात्रा में सारी ग्रन्थियाँ ही फूल जाती हैं, ज्वर भी भयङ्कर हो जाता है। यह कीटशोणित (सैप्टिसीमियक) ग्रन्थिरोग है। श्लेष्मप्रदाहिक प्लेग के रोगी से कीटाणु श्लेष्मा द्वारा बाहर आकर श्वास द्वारा दूसरे मनुष्यों के फुफ्फुसों में पहुंच जाते हैं, जिससे कि उनमें प्रदाह उत्पन्न हो जाता है तथा रक्तनिष्ठीवन होने लगता है। यह फुफ्फुसप्रदाहिक प्लेग की सम्प्राप्ति है। एवं यह तीनों प्रकार की प्लेग की सम्प्राप्ति है।

तस्य कीटाणवो मूलं दण्डाकृतय आखुजाः ।
त्रिविधो जायते सो वै तत्र ग्रंथिक आदिमः ॥२॥
कीटरक्तो द्वितीयः स्यात्तृतीयः फुफ्फुसंदहः ।

प्रायः वंक्षण, कक्षा और ग्रीवा आदि में स्थित (लसीका) ग्रन्थियों में सूजन और पीड़ा को करने वाला, जनपदविनाशी ग्रन्थिक नाम वाला एक ज्वर होता है, जिसका मूल कारण मूषकों से होने वाले दण्डाकार कीटाणु होते हैं। यह ग्रन्थिक रोग तीन प्रकार का होता है, जिसमें से पहला ग्रन्थिक, दूसरा कीटशोणित (सैप्टीसीमियक) और तीसरा फुफ्फुसप्रदाहिक होता है।

ग्रन्थिकज्वरनिदानं निर्दिशति—

श्वसनैः स्पर्शनैर्नग्नपद्भ्यां सञ्चरणेन च ॥३॥
रोगाकीर्णनिवातेषु सङ्क्रामन्ति नरान्नरम् ।
कीटाणवोऽस्य रोगस्य भूम्ना रोगार्तमूषकैः ॥४॥

श्वास प्रश्वास से, स्पर्श से, एवं रोग से व्याप्त स्थानों में नंगे पाँव घूमने से इस रोग के कीटाणु एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य में जाते हैं। अधिकतर रोगी मूषकों द्वारा ही कीटाणु मनुष्य में जाकर रोग उपजाते हैं।

वक्तव्य—भाव यह है कि इस रोग का निदान "बैसीलस पैस्टिस" नामक दण्डाकार कीटाणु हैं। यह रोग अधिकतर चूहों का है और चूहों के पिस्सुओं द्वारा फैलता है। पिस्सू जब चूहे को काटते हैं तो प्लेग के कीटाणु को भी चूस लेते हैं और कुछ दिन तक वे कीटाणु चूहे में ही ठहरे हुए बढ़ते रहते हैं। तदनु वह पिस्सू जिसे काटता है, उसे ही यह रोग हो जाता है। पिस्सू चूहों पर रहते हैं जिससे कि यह रोग भी पहले चूहों में ही होता है और बहुत से चूहे मर जाते हैं तथा बाकी भाग जाते हैं। चूहों के भाग जाने पर इन पिस्सुओं को आहार नहीं मिलता जिससे कि ये मनुष्यों को काटकर उनमें रोग फैलाते हैं। यह सब को समान रूप में होता है। फुफ्फुसप्रदाहिक प्लेग में श्वास और कफ में कीटाणु निकलते हैं जो कि रोगप्रसारक बनते हैं।

ग्रन्थिकरोगस्य सम्प्राप्तिं विशिनष्टि—

मूषकजो यदा कीटः कथञ्चिद्दशति नरम् ।
दंशात् कीटाणु निःसृत्य तोयवहासु सञ्चरन् ॥५॥
यदा ग्रन्थिषु संयाति तदा ता यान्ति क्षुब्धताम् ।
चिकीर्षन्ति च कीटाणुविषं स्वभाववर्जितम् ॥६॥
अस्मिन्कार्ये तु ग्रन्थीनां कार्यवृद्धिः प्रभावतः ।
वृद्धिः सञ्जायते तासां विषाच्च जायते ज्वरः ॥७॥
संप्राप्तिर्ग्रन्थिरोगस्य निर्दिष्टा मुनिभिरियम् ।
निराबाधा यदा ते हि रक्ते परिभ्रमन्ति नु ॥८॥
कीटक्षतजता जायेदवस्थेयं हि दारुणा ।
नचात्र ग्रंथयः शूना भवन्त्यङ्गविशेषजाः ॥९॥

जायते खलु रोगेऽस्मिन् तथा रक्तस्य निर्गमः ।
प्राय एषोऽप्यसाध्यः स्यात्कश्चिद्दैवैनमुत्तरेत् ॥२७॥

इस ग्रन्थि नामक रोग में ज्वर पहले से ही तीव्र होता है, किन्तु कहीं मन्द भी होता है। इसकी रूपावस्था में उत्क्लेश, वमन, स्रस्ताङ्गता, दुर्बलता, मूर्च्छा, तृष्णा, प्रलाप, शिरोव्यथा, अरति, भ्रम, निद्रानाश, मोह, उन्माद और नाड़ीचञ्चलता होती है; तथा कक्षा आदि प्रदेशों में होने वाली सभी लसीकाग्रन्थियां दुखने लगती हैं । एवं तीसरे वा चौथे दिन दष्ट स्थान के समीप में होने वाली ग्रन्थि शीघ्र बढ़ जाती है, जो कि स्पर्श सहन भी नहीं कर सकती। इसमें पाक तथा पूयपूर्णता देर बाद होती है, कानों और नेत्रों में अवसन्नता हो जाती है तथा रोगी कोई चेष्टा नहीं करता। रोगी की जिह्वा दग्ध हुई २ की तरह कर्कश एवं धमनी शिथिल होती है। इस प्रकार इस रोग में अन्य अभिन्यास ज्वर में प्रतिपादित लक्षण भी होते हैं। दो, तीन, पाँच, छः वा कहीं २ दस दिन में, अथवा कहीं शीघ्र ही रोगी मर जाता है परन्तु कोई कोई इसके बाद भी जीता रहता है, अर्थात् १० दिन के बाद कोई २ रोगी बच भी रहता है। विद्वानों ने यह ग्रन्थिरोग का लक्षण कहा है। सैप्टिसीमियक प्लेग में ग्रन्थियां बहुत नहीं बढ़तीं, रक्त दुष्ट हो जाता है और ज्वर तीव्र रहता है। इसमें नाड़ी अतितीव्र और दुर्बल होती है; तथा इसमें संज्ञानाशादि लक्षण भी होते हैं। इन संज्ञानाशादि लक्षणों से युक्त रोगी दारुण अवस्था को प्राप्त होकर पांच वा छः दिन में मर जाता है। तीसरे अग्रन्थिरूप फुफ्फुसप्रदाहिक प्लेग में विष वा विषाक्त कीटाणु श्वासमार्ग से संक्रमण करते हैं। इसमें अकस्मात् शीत से तीव्र ज्वर चढ़ जाता है; तथा अङ्गमर्द, शिरःशूल, भ्रम, उत्क्लेश, छाती में पीड़ा एवं कास आदि अन्य लक्षण भी होते हैं। श्वास तीव्र चलता है, फुफ्फुस में कूजन होती है, किन्तु घने फुफ्फुसों में कर्करायन होती है और रक्तनिष्ठीवन भी होता है। यह लक्षण इस रोग में होते हैं। प्रायः यह रोग भी असाध्य ही होता है। अतः कोई भाग्यशाली रोगी ही इससे बचता है।

वक्तव्य—ग्रन्थिक ज्वर (ब्यूबानिक फीवर Bubonic Fever) में ज्वर अकस्मात् शीत लग कर चढ़ता है। इसमें मस्तकशूल, शिरोभ्रम, वमन, उत्क्लेश, दुर्बलता, नाड़ी तीव्र, ग्रन्थियों में पीड़ा तथा जिस अङ्ग में पिस्सू काटता है उसकी समीपवर्ती कक्षा, वंक्षण, ग्रीवा आदि की लसीकाग्रन्थियों में सूजन हो जाती है। यह अवस्था ही भयावह होती है। इसके बाद जब वह ग्रन्थि पक जाती है और उसमें पीप पड़ जाती है तथा वह फट जाती है तो यह अवस्था शुभप्रद होती है; क्योंकि इसमें कीटाणु पूय के साथ २ निकल जाते हैं, जिससे रोग का प्रभाव कम हो जाता है और रोगमुक्ति हो जाती है। ज्वर १०-१५ दिन तक उतर जाता है। सैप्टिसीमियक प्लेग में कीटाणु ग्रन्थियों में न रुक कर रक्त में पहुंच जाते हैं जिससे रोगी पर विष का सा प्रभाव पड़ता है। इसमें ज्वर अतितीव्र होता है तथा अन्य सान्निपातिक लक्षण भी उसमें होते हैं। नाड़ी की गति अतितीव्र होती है, और रोगी इसमें ५-७ दिन में प्रायः मर जाता है। फुफ्फुसप्रदाहिक में रोगी के कफ में निकले हुए कीटाणु दूसरे मनुष्यों में श्वासमार्ग द्वारा जाते हैं। इसमें तीव्रज्वर, शिरःशूल, रक्तनिष्ठीवन आदि लक्षण होते हैं। यह रोग अत्यन्त भयानक होता है। इसमें बचाव सौभाग्य का परिचायक है। अवधेय—इसमें यह बात भी अवधेय है कि महामारी को देखकर ही जिसने प्रतिरोधक चिकित्सा करा ली हो और उसे यदि प्लेग उत्पन्न हो वा शारीरिक शक्ति के प्रबल होने से लक्षणों की मन्दता हो तो उसे मृदुप्लेग कहा जाता है।

ग्रन्थिकरोगस्य पूर्वलक्षणनिर्देशः—

पूर्वरूपं तु तस्येदं गात्रशैथिल्यके रुजे ॥१२॥
उत्क्लेशोऽन्नेऽरुचिश्चैव स्वादो मानसदीनता।
अन्यान्यपि ज्वरोक्तानि स्युर्लिङ्गानि यथायथम् ॥१३॥

इस ग्रन्थिरोग का यह विशिष्ट पूर्वरूप है कि इसमें गात्रशैथिल्य, शिरःपीड़ा, उत्क्लेश, अन्न में अरुचि, अवसन्नता तथा मानसिक दीनता रोग से पूर्व होती है। सामान्यतः इसमें ज्वरोक्त पूर्वरूप यथोचित रूप में होते हैं।

ग्रन्थिकरोगस्य लक्षणमवतारयति—

पूर्वमेव ज्वरस्तीव्रस्तथा मन्दः क्वचित् पुनः।
उत्क्लेशो वमनं स्रस्ताङ्गता दौर्बल्यमेव च ॥१४॥
मूर्च्छा तृष्णा प्रलापश्च शिरोरुगरतिर्भ्रमः।
निद्रानाशस्तथा मोहो मत्तता नाडी चञ्चला ॥१५॥
दूयन्ते ग्रन्थयश्चात्र सर्वाः कक्षादिसंस्थिताः।
तृतीयेऽह्नि चतुर्थे वा ग्रन्थिर्दष्टसमीपजा ॥१६॥
वर्धते तीव्रवेगेन स्पर्शञ्च सहते न हि।
चिरात्पाकश्च जायेत तथा पूयस्य पूर्णता ॥१७॥
श्रुतौ नेत्रे प्रसुप्तिः स्यान्न चेष्टां काञ्चिदीहते।
अभिन्यासजलिङ्गानि चान्यान्यपि भवन्ति हि ॥१८॥
दग्धेव कर्कशा जिह्वा धमनी शिथिला भवेत्।
द्वित्रैर्वा पञ्चषैर्वापि दशभिर्वा दिनैः क्वचित् ॥१९॥
सद्यो वा म्रियते रोगी चिराद्वा कोऽपि जीवति।
इदं हि ग्रन्थिरोगस्य रूपं सद्भिः प्रकीर्तितम् ॥२०॥
कीटशोणितग्रन्थ्यां हि नैधन्ते बहुग्रन्थयः।
शोणितस्य च दुष्टिः स्यात्तथा स्याज्ज्वरतीव्रता ॥२१॥
अतितीव्रा भवेन्नाडी दौर्बल्येन च संयुता।
संज्ञानाशादीनि चात्र लक्षणानि भवन्ति वै ॥२२॥
एभिरेव युतो रोगी प्राप्यावस्थाञ्च दारुणाम्।
पञ्चभिः सप्तभिर्वापि दिवसैर्नाशमेति सः ॥२३॥
तृतीयेऽग्रन्थिके श्वासमार्गं संक्रमते विषम्।
तत्र ज्वरो भवेच्छीघ्रं दारुणः शीतपूर्वकः ॥२४॥
अङ्गमर्दः शिरःशूलं भ्रमोत्क्लेशावपि तथा।
अन्यान्यपि च लिङ्गानि रुक्कासप्रभृतीनि च ॥२५॥
भवन्ति, स्वासतीव्रत्वं फुफ्फुसयोश्च कूजनम्।
घनतां फुफ्फुसे जाते करकरायनं तथा ॥२६॥

ग्रन्थिकरोगस्योपद्रवानाह—

मूत्रावरोधकासातीसारशोणितपित्तताः ।
वमनश्चेति रोगास्तु ग्रन्थीनुपद्रवन्ति हि ॥२८॥

मूत्रावरोध, खाँसी, अतिसार, रक्तपित्त और वमन ये रोग प्लेग की ग्रन्थि में उपद्रवरूप से होते हैं।

वक्तव्य—इसी भाव को आचार्य गणनाथसेन ने भी दर्शाया है कि—'मूत्रावरोधकासश्च तथातीसार उल्वणः । छर्दिश्च रक्तपित्तञ्च ग्रन्थिके स्युरुपद्रवाः' (सिद्धान्तनिदानम्)।

ग्रन्थिकरोगस्य साध्यलक्षणमाह—

आशुः पाको हि ग्रन्थीनां बहूनाञ्चापि सम्भवः ।
जरन् वा बालको वापि रोगी साध्यः सुखेन हि ॥२९॥

जिस प्लेग के रोगी की ग्रन्थियों में पाक शीघ्र हो जाता है, वा जिस रोगी में ग्रन्थियाँ बहुत उत्पन्न हो जाती हैं, अथवा जो रोगी स्वयं वृद्ध वा बालक होता है, वह सुखसाध्य होता है।

वक्तव्य—ग्रन्थि के शीघ्रपाक से फट कर पूय के साथ २ कीटाणु भी निकल जाते हैं, जिससे इसका प्रभाव कम हो जाता है, और यह रोग सुखसाध्य हो जाता है। बहुत सी ग्रन्थियों के हो जाने से कीटाणु विभक्त हो जाते हैं, जिससे वे ग्रन्थियां भी उन कीटाणुओं को उदासीन वा नष्ट करने में समर्थ हो जाती हैं। अतः यह रोग ऐसी अवस्था में सुखसाध्य हो जाता है। वृद्ध में धातुओं के पक जाने के कारण कीटाणु अपना प्रभाव अधिक नहीं दर्शा सकते एवं बालक में सहनशक्ति अधिक होती है, धातुएं नई होती हैं, कीटाणुओं का प्रतिरोध प्रबलता से होता है, अतः यह भी सुखसाध्य होते हैं।

ग्रन्थिकरोगस्यारिष्टलक्षणमाह—

कर्मज्ञानकरणानां नाशेऽतीसार उल्वणे ।
ग्रन्थिरोगे हि प्लेगाख्ये रोगिने रिष्टमादिशेत् ॥३०॥
सुसिन्दूरोज्ज्वलं रक्तं सकफं श्वासपीडितः ।
ष्ठीवति फुफ्फुसदाहाक्रान्तोऽसाध्यो मतः स ना ॥३१॥
अग्रन्थौ ग्रन्थिलिङ्गानि यमगेहनिमन्त्रणम् ।

हाथ पाँव आदि कर्म इन्द्रियों के चेष्टाशून्य होने पर, श्रोत्रनेत्रादि ज्ञानेन्द्रियों के चेष्टाशून्य होने पर, उभयात्मक मन के भी निश्चेष्ट (उपहत) होने पर तथा अतिसार के अति उल्वण होने पर प्लेग नाम वाले ग्रन्थि रोग में वैद्य (यह सब) रिष्ट रूप में कह दे अर्थात् उपर्युक्त लक्षण रिष्ट लक्षण हैं। फुफ्फुसप्रदाहिक प्लेग से आक्रान्त श्वासपीड़ित जो मनुष्य कफयुक्त अच्छे सिन्दूर के से वर्ण वाले रक्त को थूकता है, वह असाध्य समझना चाहिए। ग्रन्थिकप्लेग में होने वाले लक्षण यदि अग्रन्थिक प्लेग में भी उत्पन्न हो जावें तो उन्हें यमालय का निमन्त्रण (पत्र) समझना चाहिए वा अग्रन्थिक प्लेग में ग्रन्थिक प्लेग के लक्षणों का होना यमालय का निमन्त्रण है।

ग्रन्थिकरोगे मतान्तरमाह—

अनलरोहिणीं केचिन्मन्यन्ते प्लेगसंज्ञया ॥३२॥

कई आचार्य अग्निरोहिणी नामक क्षुद्ररोग को प्लेग के नाम से मानते हैं।

वक्तव्य—कई आचार्यों ने अग्निरोहिणी को ही प्लेग माना है। एवं उन्होंने प्लेग की तरह उस अग्निरोहिणी को भी तीन प्रकार का ही स्वीकार किया है। इसे यहां ग्रन्थिक नाम से माना है क्योंकि महा महोपाध्याय गणनाथसेनादि आचार्यों ने इसी मत को अच्छाई दी है। यद्यपि ग्रन्थि नाम से प्रथम भेद ही पुकारा जा सकता है, क्योंकि उसी में वे सूजती हैं, दूसरे और तीसरे भेद में वह नहीं सूजतीं; परन्तु 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' के अनुसार वे दोनों भी ग्रन्थि नाम से ही पुकारे जाते हैं। केवल उनके साथ कीटशोणित तथा फुफ्फुसप्रदाहिक क्रमशः ये दो विशेषण लगाने पड़ते हैं; और इन्हीं विशेषणों द्वारा ही ये दोनों भेद प्रथम भेद से पृथक् गिने जाते हैं। इन सब की साध्यावस्था में तापमान १०३, ८ फ. होता है तथा असाध्यावस्था में १०६. होता है। यह जनपदध्वंसी रोग है। कई बार कई मनुष्य इसके भय से भी मर जाते हैं। ऐसी अवस्था में इसे मिथ्याग्रन्थिक ज्वर कहा जा सकता है।

इति दीनानाथशर्मविग्रथिते भाषाटीकान्विते निदानपरिशिष्टे ग्रन्थिकज्वरनिदानम्।

अथ वातश्लैष्मिकज्वरनिदानम्।

वातश्लैष्मिकज्वरस्य परिचयमादिशति—

उद्भवन्तीह ये प्रायः श्लेष्मजोपद्रवा भृशम्।
वातस्यापि भवेदत्र प्राधान्यं वातश्लैष्मिके ॥१॥
अयमागन्तुजो रोगो मारीरूपेण सर्पति।
वातश्लेष्मोल्बणश्चापि सन्निपातात्मकः स्मृतः ॥२॥
पूर्वमागन्तुकोऽयं हि पश्चाद्दोषैर्निबध्यते।

इस वातश्लैष्मिक रोग में प्रायः श्लैष्मिक उपद्रव उत्पन्न होते हैं; तथा यहां पर वायु की भी प्रधानता होती है। यह आगन्तुज रोग महामारी के रूप में फैल जाता है तथा वातश्लेष्मोल्बण भी यह सन्निपातात्मक ही कहा है। यह रोग पहले आगन्तुज ही होता है किन्तु बाद में दोषाक्रान्त भी हो जाता है।

वक्तव्य—यह एक तीव्र संक्रामक रोग है, जो कि महामारी के रूप में फैलता है। इसमें वातश्लैष्मिक ज्वर के लक्षण उल्बण होते हैं। अतः इसे आगन्तुज वातश्लैष्मिक ज्वर कहा जाता है। बहुत से आचार्य इसे केवल 'श्लेष्मकज्वर' के नाम से ही पुकारते हैं।

वातश्लैष्मिकज्वरस्य भेदानाह—

सुखज्ञानाय रोगोऽयं चतुर्धा प्रविभज्यते ॥३॥
आद्यः साधारणस्तत्र परः श्वसनको मतः।
तृतीय आन्त्रिकः स्याच्चतुर्थो वातिको भवेत् ॥४॥

सुगमतापूर्वक ज्ञान कराने के लिए यह रोग चार प्रकारों में विभक्त किया जाता है, जिनमें से प्रथम—साधारण, दूसरा—श्वसनक, तीसरा—आन्त्रिक और चौथा—वातिक होता है।

---

१ Influenza

ग्रन्थिकरोगस्योपद्रवानाह—

मूत्रावरोधकासातीसारशोणितपित्तताः ।
वमनञ्चेति रोगास्तु ग्रन्थीनुपद्रवन्ति हि ॥२८॥

मूत्रावरोध, खाँसी, अतिसार, रक्तपित्त और वमन ये रोग प्लेग की ग्रन्थि में उपद्रवरूप से होते हैं।

वक्तव्य—इसी भाव को आचार्य गणनाथसेन ने भी दर्शाया है कि—'मूत्रावरोधःकासश्च तथातीसार उल्बणः। छर्दिश्च रक्तपित्तञ्च ग्रन्थिके स्युरुपद्रवाः' (सिद्धान्तनिदानम्)।

ग्रन्थिकरोगस्य साध्यलक्षणमाह—

आशुः पाको हि ग्रन्थीनां बहूनाञ्चापि सम्भवः।
जरन् वा बालको वापि रोगी साध्यः सुखेन हि ॥२९॥

जिस प्लेग के रोगी की ग्रन्थियों में पाक शीघ्र हो जाता है, वा जिस रोगी में ग्रन्थियाँ बहुत उत्पन्न हो जाती हैं, अथवा जो रोगी स्वयं वृद्ध वा बालक होता है, वह सुखसाध्य होता है।

वक्तव्य—ग्रन्थि के शीघ्रपाक से फट कर पूय के साथ २ कीटाणु भी निकल जाते हैं, जिससे इसका प्रभाव कम हो जाता है, और यह रोग सुखसाध्य हो जाता है। बहुत सी ग्रन्थियों के हो जाने से कीटाणु विभक्त हो जाते हैं, जिससे वे ग्रन्थियां भी उन कीटाणुओं को उदासीन वा नष्ट करने में समर्थ हो जाती हैं। अतः यह रोग ऐसी अवस्था में सुखसाध्य हो जाता है। वृद्ध में धातुओं के पक जाने के कारण कीटाणु अपना प्रभाव अधिक नहीं दर्शा सकते एवं बालक में सहनशक्ति अधिक होती है, धातुएं नई होती हैं, कीटाणुओं का प्रतिरोध प्रबलता से होता है, अतः यह भी सुखसाध्य होते हैं।

ग्रन्थिकरोगस्यारिष्टलक्षणमाह—

कर्मज्ञानकरणानां नाशेऽतीसार उल्बणे।
ग्रन्थिरोगे हि प्लेगाख्ये रोगिने रिष्टमादिशेत् ॥३०॥
सुसिन्दूरोज्ज्वलं रक्तं सकफं श्वासपीडितः।
ष्ठीवति फुफ्फुसदाहाक्रान्तोऽसाध्यो मतः स ना ॥३१॥
अग्रन्थौ ग्रन्थिलिङ्गानि यमगेहनिमन्त्रणम्।

हाथ पाँव आदि कर्म इन्द्रियों के चेष्टाशून्य होने पर, श्रोत्रनेत्रादि ज्ञानेन्द्रियों के चेष्टाशून्य होने पर, उभयात्मक मन के भी निश्चेष्ट (उपहत) होने पर तथा अतिसार के अति उल्बण होने पर प्लेग नाम वाले ग्रन्थि रोग में वैद्य (यह सब) रिष्ट रूप में कह दें अर्थात् उपर्युक्त लक्षण रिष्ट लक्षण हैं। फुफ्फुसप्रदाहिक प्लेग से आक्रान्त श्वासपीड़ित जो मनुष्य कफयुक्त अच्छे सिन्दूर के से वर्ण वाले रक्त को थूकता है, वह असाध्य समझना चाहिए। ग्रन्थिकप्लेग में होने वाले लक्षण यदि अग्रन्थिक प्लेग में भी उत्पन्न हो जावें तो उन्हें यमालय का निमन्त्रण (पत्र) समझना चाहिए वा अग्रन्थिक प्लेग में ग्रन्थिक प्लेग के लक्षणों का होना यमालय का निमन्त्रण है।

ग्रन्थिकरोगे मतान्तरमाह—

अनलरोहिणीं केचिन्मन्यन्ते प्लेगसंज्ञया ॥३२॥

कई आचार्य अग्निरोहिणी नामक क्षुद्ररोग को प्लेग के नाम से मानते हैं।

वक्तव्य—कई आचार्यों ने अग्निरोहिणी को ही प्लेग माना है। एवं उन्होंने प्लेग की तरह उस अग्निरोहिणी को भी तीन प्रकार का ही स्वीकार किया है। इसे यहां ग्रन्थिक नाम से माना है क्योंकि महा महोपाध्याय गणनाथसेनादि आचार्यों ने इसी मत को अच्छाई दी है। यद्यपि ग्रन्थि नाम से प्रथम भेद ही पुकारा जा सकता है, क्योंकि उसी में वे सूजती हैं, दूसरे और तीसरे भेद में वह नहीं सूजतीं; परन्तु 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' के अनुसार वे दोनों भी ग्रन्थि नाम से ही पुकारे जाते हैं। केवल उनके साथ कीटशोणित तथा फुफ्फुसप्रदाहिक क्रमशः ये दो विशेषण लगाने पड़ते हैं; और इन्हीं विशेषणों द्वारा ही ये दोनों भेद प्रथम भेद से पृथक् गिने जाते हैं। इन सब की साध्यावस्था में तापमान १०३, ८ फ. होता है तथा असाध्यावस्था में १०६. होता है। यह जनपदध्वंसी रोग है। कई बार कई मनुष्य इसके भय से भी मर जाते हैं। ऐसी अवस्था में इसे मिथ्याग्रन्थिक ज्वर कहा जा सकता है।

इति दीनानाथशर्मविग्रथिते भाषाटीकान्विते निदानपरिशिष्टे ग्रन्थिकज्वरनिदानम्।

अथ वातश्लैष्मिकज्वरनिदानम्[1]।

वातश्लैष्मिकज्वरस्य परिचयमादिशति—

उद्भवन्तीह ये प्रायः श्लेष्मजोपद्रवा भृशम्।
वातस्यापि भवेदत्र प्राधान्यं वातश्लैष्मिके ॥१॥
अयमागन्तुजो रोगो मारीरूपेण सर्पति।
वातश्लेष्मोल्वणश्चापि सन्निपातात्मकः स्मृतः ॥२॥
पूर्वमागन्तुकोऽयं हि पश्चाद्दोषैर्निबध्यते।

इस वातश्लैष्मिक रोग में प्रायः श्लैष्मिक उपद्रव उत्पन्न होते हैं; तथा यहां पर वायु की भी प्रधानता होती है। यह आगन्तुज रोग महामारी के रूप में फैल जाता है तथा वातश्लेष्मोल्वण भी यह सन्निपातात्मक ही कहा है। यह रोग पहले आगन्तुज ही होता है किन्तु बाद में दोषाक्रान्त भी हो जाता है।

वक्तव्य—यह एक तीव्र संक्रामक रोग है, जो कि महामारी के रूप में फैलता है। इसमें वातश्लैष्मिक ज्वर के लक्षण उल्बण होते हैं। अतः इसे आगन्तुज वातश्लैष्मिक ज्वर कहा जाता है। बहुत से आचार्य इसे केवल 'श्लेष्मकज्वर' के नाम से ही पुकारते हैं।

वातश्लैष्मिकज्वरस्य भेदानाह—

सुखज्ञानाय रोगोऽयं चतुर्धा प्रविभज्यते ॥३॥
आद्यः साधारणस्तत्र परः श्वसनको मतः।
तृतीय आन्त्रिकः स्याच्चतुर्थो वातिको भवेत् ॥४॥

सुगमतापूर्वक ज्ञान कराने के लिए यह रोग चार प्रकारों में विभक्त किया जाता है, जिनमें से प्रथम—साधारण, दूसरा—श्वसनक, तीसरा—आन्त्रिक और चौथा—वातिक होता है।

---

१ Influenza

वातश्लैष्मिकज्वरस्य निदानं निर्दिशति—

प्रभञ्जनप्रवाहेण कीटाणूनां हि संक्रमः ।
जायते श्वासमार्गेण शीघ्रं जनचयेषु हि ॥५॥
क्वचित्स्याद्भुक्तमार्गेण भोजनादिनिमित्ततः ।
वस्त्रमाल्यादिभिश्चैव संक्रमो जायते क्वचित् ॥६॥
विशिष्टं कारणं कीटाणवो दण्डसमा मताः ।
प्रायेणैव विचारोऽयं दर्श्यते नूतनैरिह ॥७॥

वायु के प्रवाह से विस्तारित कीटाणुओं का संक्रमण श्वासमार्ग द्वारा मनुष्य समूह में शीघ्र ही हो जाता है; और कहीं २ भोजनादि के कारण अन्नमार्ग से भी संक्रमण होता है । एवं कहीं कहीं वस्त्रमाल्य आदि के द्वारा यह रोग फैल जाता है । नूतन आचार्यों ने यह विचार दर्शाया है कि यहां दण्ड के से आकार वाले विशेष कीटाणु कारण रूप से माने गए हैं ।

वक्तव्य—इस रोग का कीटाणु अभी तक नहीं मिला । विद्वानों का विचार है कि सम्भवतः इसका कीटाणु 'वैसिलस इन्फ्युलैंजा' है । ये कीटाणु अधिकतर वायु प्रवाह से ही प्रसार पाते हैं । तथा श्वासमार्ग से फुफ्फुसों में आक्रमण करते हैं; किन्तु कभी २ कहीं पर (आन्त्रिक में) भोजनादि के कारण (में मिल कर) अन्नमार्ग से भी आक्रमण करते हैं । कहीं कहीं पर, जहां कि यह एकाकी रूप से होता है, वस्त्रमाल्य आदि भी इसके प्रसार में कारण बन जाते हैं; किन्तु फिर भी इसका विशेष कारण एक प्रकार का दण्डाकार कीटाणु ही है ।

वातश्लैष्मिकज्वरसम्प्राप्तिमवतारयति—

अस्य रोगस्य कीटाणुः प्रविष्टः श्वासवर्त्मना ।
गलं वायोः प्रणालीश्च दूषयन् याति फुफ्फुसौ ॥८॥
अन्नमार्गेण यो याति सोऽखिलं रुजति हि तम् ।
क्वापि च धातवः सर्वे भवन्ति तेन दूपिताः ॥९॥
वातश्लेष्मोल्वणं रोगः सन्निपातमुदीरयन् ।
कुरुते सविषान्धातून् हन्ति तेन च मानवान् ॥१०॥

इस रोग का कीटाणु श्वासमार्ग से प्रविष्ट होकर गल (गल शब्द से यहां टेंटुआ लिया जाता है) और वायु प्रणाली को दूपित करता हुआ फुफ्फुस में पहुँच जाता है । जो कीटाणु अन्नमार्ग से जाता है, वह उस सम्पूर्ण अन्नमार्ग को रुग्ण करता है । एवं कहीं कहीं उस कीटाणु से सभी धातुएं दूषित हो जाती हैं । इस प्रकार कीटाणुओं द्वारा उत्पन्न वह रोग वातपित्तोल्वण सन्निपात को उदीर्ण करता हुआ धातुओं को विपाक्त बना कर पुनः उसी कारण से (अर्थात् उन्हीं धातुओं द्वारा) मनुष्यों को मार देता है ।

वक्तव्य—भाव यह है कि इस रोग का कीटाणु श्वासमार्ग से प्रविष्ट होकर टेण्टुवे और वायुप्रणाली को रोगग्रस्त बनाकर प्रणालीयफुफ्फुसप्रदाह के लक्षण वा कभी २ खण्डीयफुफ्फुसप्रदाह के लक्षण उपजा देता है । एवं कभी वह कीटाणु अन्नमार्ग से भी जाते हैं और आन्त्रिक नामक भेद को उपजाते हैं । इसी प्रकार इसमें कभी २ धातु भी दुष्ट हो जाते हैं, जिससे मनुष्य मर जाता है ।

वातश्लैष्मिकज्वरस्य रूपमाचष्टे—

अङ्गमर्दः शिरःशूलं प्रतिश्यायो गलग्रहः।
कम्पः शीतं कटीपृष्ठोरसां तीव्रा च वेदना॥११॥
ज्वरः कासोऽवसादश्च कार्श्यञ्चाल्पैर्दिनैर्बहु।
अत्यन्ता बलहानिश्च धमनी नातिचञ्चला॥१२॥
ध्माता च मलिना जिह्वा परितो लालिमान्विता।
चिह्नं साधारणे चेदं वातश्लेष्मज्वरे भवेत्॥१३॥
परे श्वसनकाख्ये तु साकं कथितलक्षणैः।
कासोऽतितीव्रो रक्तस्य ष्ठीवनं कफमिश्रितम्॥१४॥
प्रलापः श्वसनश्चैव भवेच्च रक्तवर्णता।
ज्वरस्यास्य विभागोऽयं वैद्यैः प्रोक्तो हि दारुणः॥१५॥
आन्त्रिकाख्येऽस्य भेदे तु वम्यतीसारयोर्द्वयोः।
एकस्य दर्शनं वापि शूलमुत्क्लेशकामले॥१६॥
प्रवाहणं भवेदत्र कदाचिदथ वातिके।
प्रतिश्यायो ज्वरः कासः क्षीणताऽस्थिरचित्तता॥१७॥
निद्रानाशः प्रलापश्च क्वचित्पक्षस्य घातता।
शीर्षावरणके दाहो भवेच्चाप्यत्र यक्ष्मणि॥१८॥

अङ्गमर्द, शिरःशूल, प्रतिश्याय, गलग्रह, कम्पन, शैत्य, कटीवेदना, पृष्ठवेदना, उरोवेदना, ज्वर, कास, अवसाद, कुछ दिनों में ही बहुत कृशता, अत्यन्त बल हानि, ताप की अपेक्षा नाड़ी की गति में मन्दता, जिह्वा में फुलाव; मलिनता तथा किनारों से लालिमान्वित होती है। यह लक्षण साधारण वातश्लेष्मज्वर में होते हैं। दूसरे श्वसनक नामक वातश्लैष्मिकज्वर में उक्त लक्षणों के साथ २ अतितीव्रकास, कफमिश्रित रक्तनिष्ठीवन, प्रलाप, श्वास और रक्तवर्णता होती है। इस वातश्लैष्मिकज्वर का यह प्रकार वैद्यों ने दारुण कहा है। इस वातश्लैष्मिकज्वर के आन्त्रिक नामक भेद में वमन और अतीसार दोनों का अथवा एक का दर्शन होता है; तथा शूल, उत्क्लेश, कामला, और कभी २ प्रवाहण भी होता है। इस रोग के वातिक भेद में प्रतिश्याय, ज्वर, कास, क्षीणता, बेचैनी, निद्रानाश, प्रलाप और कहीं २ पक्षाघात तथा कहीं २ शीर्षावरण प्रदाह भी हो जाता है।

वक्तव्य—यह वातश्लैष्मिकज्वर आचार्यों ने चार भेदों में विभक्त किया है, जिनमें प्रथम साधारण, दूसरा श्वसनक, तीसरा आन्त्रिक और चौथा वातिक है। १ साधारण—यह पांच छः दिन तक १०३—१०४ तक होता रहता है; पुनः प्रायः अकस्मात् उतर जाता है। कभी कभी आठ दिन तक भी चला जाता है। यदि इससे अधिक समय तक रह जावे तो इसके साथ श्वास मार्गादि का कोई न कोई उपद्रव समझना चाहिए। २ श्वसनक—इसमें ज्वर के लक्षण अति तीव्र होते हैं। श्वासप्रणाली में वा फुफ्फुसों में दोषों का संक्रमण हो जाने पर श्लेष्मा रक्त वा पूय मिश्रित आता है। श्वासकासादि अन्य उपद्रव भी अतितीव्र हो जाते हैं। इसमें कभी २ प्रणालीय, खण्डीय वा पूयमय फुफ्फुसप्रदाह भी हो जाता है। यही अवस्था महामारी के रूप में फैलती है। ३ आन्त्रिक—

इसमें वातश्लैष्मिक के अपने लक्षणों से अतिरिक्त आमाशय और अन्त्रविकृति के कारण होने वाले उत्क्लेश आदि लक्षण भी होते हैं। इसकी शान्ति पांच छः दिन तक हो जाती है। ४ वातिक—इसमें ज्वर, प्रतिश्याय, शुष्ककास, शूल, दुर्बलता, अतिप्रलाप आदि लक्षण होते हैं। कभी कभी शीर्षावरण प्रदाह तथा पक्षाघातादि वातव्याधियां भी हो जाती हैं।

वातश्लैष्मिकज्वरस्योपद्रवानाह—

रोगस्य पुनरावृत्तिः सादश्च हृदयस्य हि।
प्रदाहः फुफ्फुसे पक्षाघातश्च स्युरुपद्रवाः ॥१९॥

वातश्लैष्मिक ज्वर में रोग का पुनः पुनः आक्रमण, हृदय का अवसाद, फुफ्फुस में प्रदाह और पक्षाघातादि ये उपद्रव होते हैं।

वातश्लैष्मिकज्वरे मतान्तरमाह—

वातश्लैष्मिकमाहुर्हि केचिच्छ्लैष्मको ज्वरः।

कई आचार्य इस वातश्लैष्मिक ज्वर को श्लेष्मक ज्वर मानते हैं।

इति श्रीदीनानाथशर्मविग्रथिते भाषाटीकान्विते निदानपरिशिष्टे वातश्लेष्मज्वरनिदानम्।

अथ सन्धिकज्वरनिदानम्।

सन्धिकज्वरस्य परिचयमाह—

व्रणशोथव्यथातोदैः सन्धीनापीडयन् भृशम्।
घोरो ज्वरः सहृद्रोगः सन्धिको नाम कथ्यते ॥१॥

व्रणशोथ, पीड़ा और तोद से सन्धियों को खूब पीड़ित करता हुआ हृद्रोग सहित घोर ज्वर सन्धिक नाम से कहा जाता है।

वक्तव्य—भाव यह है कि जो ज्वर, व्रणशोथ, पीड़ा और तोद के साथ [२] सन्धियों को अत्यन्त पीड़ित करता है; तथा जिसमें हृदय विकार भी होता है, वह सन्धिक ज्वर कहलाता है।

ग्रन्थिकज्वरस्य सम्प्राप्तिमाचष्टे—

हेमन्ते शिशिरे चर्तौ वाल्ये वा यौवनेऽपि वा।
वर्षाशीतवसन्तेषु तथा क्लिन्नोष्णभूमिषु ॥२॥
निःशङ्कं चरतां नित्यं वाहुल्येनापचिते वले।
महिलापेक्षया पुंसां यूनां तत्रापि भूयसा ॥३॥
जायते सन्धितकमोऽयं स्वकीटाणुनिमित्ततः।
तस्य कीटाणवः कैश्चिद्बिन्द्वाकारायता वुधैः ॥४॥

हेमन्त ऋतु में वा शिशिर ऋतु में, वाल्यकाल में वा यौवनकाल में, वर्षा ऋतु में, शीतकाल में वा वसन्त ऋतु में तथा आर्द्र एवं उष्ण पृथ्वीखण्डों में प्रत्यहं निःशङ्क घूमने से, प्रायः वल के क्षीण हो जाने पर, स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में और वहां भी अधिकतर

१ रीयुमैटिक फीवर Rheumatic Fever.

नवयुवकों में यह सन्धिकज्वर अपने कीटाणुओं के कारण हो जाता है। कई विद्वानों ने इसके कीटाणु बिन्दुकाकार माने हैं।

वक्तव्य—भाव यह है कि यह ज्वर अपने कीटाणुओं से होता है, परन्तु इसमें सहायक कारण हेमन्त ऋतु, शिशिर ऋतु, बाल्यावस्था, युवावस्था, वर्षा ऋतु, शीतकाल, वसन्त ऋतु, आर्द्र तथा उष्ण भूभागों में निःशङ्क भ्रमण एवं बलक्षीणता है। यह रोग स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में, और प्रायः नवयुवकों में अधिक होता है। विद्वानों का विचार है कि इसके कीटाणु बिन्दुकाकार हैं।

सन्धिकज्वरस्य सम्प्राप्तिमवतारयति—

अस्य कीटाणवो नूनं धातुषु प्रसृता गलात्।
वातपित्तोल्वणं देहे सन्निपातमुदीर्य्य च ॥५॥
कुर्वंति परितः सन्धौ व्रणशोथं हि दारुणम्।
केचिदिदं हि मन्यन्ते मन्यन्ते चापरे त्विदम् ॥६॥
विषं जीवाणुसम्भूतं धातुषु प्रसृतं गलात्।
वातपित्तोल्वणं देहे सन्निपातमुदीरयेत् ॥७॥
ततश्च परितः सन्धीन् व्रणशोथोऽतिदारुणः।
उभयथापि भावस्य भेदो नास्ति, परं हि नः ॥८॥
प्रथमः श्रेयसे पक्षोऽतोऽत्र सैव विलिख्यते।
सन्धौ शूनत्वमापन्ने तज्जा हि श्लैष्मिका कला ॥९॥
जायते शोथयुक्ताम्बुपूरिता तरलेन च।
तेनैव हेतुना शोथस्तरुणास्थिशिरःसु च ॥१०॥
अस्थिबन्धेषु सर्वेषु जायते नात्र संशयः।
अन्तःसन्धिबलासश्च वर्धमानो विद्यते ॥११॥
विषप्रभावादस्मिंश्च क्षीयन्ते शोणिताणवः।
रक्तस्य न्यूनता तेन स्याच्च श्वेताणुसंचयः ॥१२॥
अभितः हृदयं चापि सञ्चयोऽपां कलापुटे।
हृन्मध्ये हृत्कपाटे वा विकारा व्रणशोथजाः ॥१३॥
श्वासयन्त्रकलाशोथः प्रायः सव्ये हि जायते।
कासश्वासादिभिर्लिङ्गैः फुफ्फुसाक्रमणं क्वचित् ॥१४॥

इस सन्धिकज्वर के कीटाणु गल (ग्रन्थियों) द्वारा रक्तादि धातुओं में पहुंच शरीर में वातपित्तोल्वण सन्निपात को उदीर्ण कर सन्धियों के चारों ओर दारुणव्रणशोथ को कर देते हैं। कई विद्वान् इस मत को मानते हैं; और कई आचार्य यह मानते हैं कि जीवाणुओं से होने वाला विष गल से धातुओं में जाकर देह में वातपित्तोल्वण सन्निपात को उदीर्ण कर देता है; और उसके बाद सन्धियों के चारों ओर अतिदारुण व्रणशोथ उपजा देता है। एवं इन दोनों प्रकारों से भाव में कोई भेद नहीं है, परन्तु फिर भी हम को पहला पक्ष ही अभिप्रेत है। अतः यहां पर वही लिखा जाता है। उपर्युक्त कारण से सन्धियों के सूज जाने

पर, सन्धियों में होने वाली श्लैष्मिककला शोथयुक्त हो जाती है; तथा तरल से परिपूर्ण हो जाती है। उपर्युक्त कारण से ही तरुणास्थियों (कारटिलेज़ों) के सिरों पर तथा सभी अस्थिबन्धनों में शोथ हो जाती है, इसमें कोई संशय नहीं। सन्धि के अन्दर बढ़ता हुआ कफ विदग्ध सा हो जाता है। विष के प्रभाव से इस ज्वर में रक्ताणु क्षीण हो जाते हैं और इसी कारण रक्त की न्यूनता तथा श्वेताणुओं की वृद्धि हो जाती है। हृदय के समीप में स्थित कलापुट में जल का सञ्चय हो जाता है (अर्थात् रक्तधराकला में सूजन हो जाती है) तथा हृदय में वा हृदय के कपाटों में व्रणशोथ से होने वाले विकार (सूजनरूप) हो जाते हैं, फुफ्फुस की कला में सूजन हो जाती है और वह भी प्रायः वाम ओर ही होती है। एवं कहीं कहीं कासश्वासादि लक्षणों के साथ फुफ्फुस भी आक्रान्त हो जाते हैं।

सन्धिकज्वरस्य स्वरूपमवतारयति—

साधारणो ज्वरोऽकस्माच्छीतेनैव प्रवर्धते।
कण्ठदाहोऽङ्गमर्दश्च ग्रीवास्तम्भो हृदि व्यथा ॥१५॥
भृशं स्वेदोऽल्पमूत्रत्वं गलग्रन्थिषु शूनता।
कफोण्यां मणिबन्धे वा गुल्फे जानुनि वा क्वचित् ॥१६॥
शोथो हि लालिमायुक्तो जायते रौद्रलक्षणः।
दुःसहा जायते पीडा तथाऽङ्गं स्पर्शनाक्षमम् ॥१७॥
पर्यायेणाभिभूयन्ते नरस्यान्येऽपि सन्धयः।
ततश्च ज्वरवृद्धिः स्यात् पूर्वोपात्तैः सलक्षणैः ॥१८॥
रोगस्य चास्य कालो हि सप्ताहो रससंख्यकः।
कथितस्तञ्च भुक्त्वोपक्रमणैश्च प्रशाम्यति ॥१९॥

इस रोग में अकस्मात् साधारण ज्वर शीत लगकर चढ़ आता है। तदनु इसमें कण्ठदाह, अङ्गमर्द, ग्रीवास्तम्भ, हृदयव्यथा, अत्यधिकस्वेद, अल्पमूत्र, गलग्रन्थि शोथ और कोहनी (कलाई, टखने) वा घुटने में दारुण लक्षणों वाला लालिमायुक्त शोथ हो जाता है। तब उसमें पीड़ा दुःसह होती है तथा वह अङ्गस्पर्श नहीं सह सकता। एवं क्रमशः मनुष्य की और सन्धिएं भी उपहत हो जाती हैं तथा पुनः पूर्वोक्त लक्षणों के साथ २ ज्वर बढ़ जाता है। इस रोग का समय रससंख्यक (छः) सप्ताह है। उसे पूरा कर चिकित्सा द्वारा वह शान्त हो जाता है।

सन्धिकज्वरस्यासाध्यत्वं साध्यत्वञ्चाह—

सान्निपातिकलिङ्गानां केषाञ्चन च दर्शनम्।
हृद्रोगश्च भवेद्यत्र प्राणहृत्सोनुपक्रमात् ॥२०॥

कथञ्चिज्ज्वरमुक्तावपि हृद्रोगत्वमाह—

अथोपक्रमनैपुण्याल्लाघवाद्वा विषस्य चेत्।
जीवति द्वित्रिसप्ताहान् हृदामयी तु जायते ॥२१॥

किन्हीं एक सान्निपातिक लक्षणों का जहां पर दर्शन होता है, तथा जहां पर हृद्रोग भी हो जाता है वह रोग चिकित्सा न करने पर प्राणहर होता है। यदि चिकित्सा कौशल से; वा कीटाणुजन्यविष की लघुता होने से रोगी दो तीन सप्ताह में जी जाता है तो भी इसमें मनुष्य हृद्रोगी अवश्य हो जाता है।

अत्र हृद्रोगस्य परिणतिमाह—

हृद्रोगादागतं दुःखं सर्वैः प्रायोऽनुभूयते ।
ते श्वासश्रमशोथाद्यैः खिद्यमानास्त्यजन्त्यसून् ॥२२॥

हृद्रोग के हो जाने पर प्रायः सभी मनुष्य दुःख को अनुभव करते हैं, वे (उसी कारण) श्वास, श्रम और शोथादिकों से पीड़ित होते हुए प्राणों को छोड़ देते हैं।

अत्र वैशिष्ट्यमाह—

यूनां सन्धिषु बालानां हृदये च विशेषतः ।
भवन्ति प्रायशो रोगा नाम्नि ज्वरे हि सन्धिके ॥२३॥

सन्धिक नाम वाले ज्वर में अधिकतर युवा पुरुषों की सन्धियों में तथा बालकों के हृदय में विकार हो जाते हैं।

वक्तव्य—यहां पर बाल शब्द से दो वर्ष से १६ वर्ष तक का मनुष्य लिया जाता है, और युवा शब्द से १६-३० वर्ष तक का पुरुष लिया जाता है। यद्यपि प्राचीन आचार्यों ने बाल और यौवन का निर्देश दूसरी तरह किया है किन्तु यहां नव्य आचार्यों का यही अभिप्राय है, अतः दोष नहीं समझना चाहिए।

सन्धिकज्वरस्योपद्रवानाह—

हृदयावरणे शोथः फुफ्फुसावरणे तथा ।
शीर्षस्यावरणे चैव तथा स्यात्कण्ठकेऽपि वा ॥२४॥
अतितीव्रज्वरश्चैते कदाचित्स्युरुपद्रवाः ।

हृदयावरण में शोथ, फुफ्फुसावरण में शोथ, शीर्षावरण में शोथ तथा कण्ठ में शोथ और अतितीव्र ताप ये उपद्रव (यहाँ) कभी २ हो जाते हैं। इसका भाव यह है कि इसमें कदाचित् हृदयावरणशोथ, फुफ्फुसावरणशोथ, कण्ठशोथ, शीर्षावरणशोथ और अतितीव्र ज्वर होने की सम्भावना रहती है।

सन्धिकज्वरे मतान्तरं निर्दिशति—

अयं सन्धिज्वरः कैश्चित्कथित आमवातिकः ॥२५॥

यह सन्धिक ज्वर कई आचार्यों ने आमवातिक नाम से कहा है।

वक्तव्य—इसमें तापांश १०३-१०६ वा १०७ तक होता है। इसकी मर्यादा तीन सप्ताह से छः सप्ताह तक है।

इति श्रीदीनानाथशर्मविग्रथिते भाषाटीकान्विते निदानपरिशिष्टे सन्धिकज्वरनिदानम्।

अथ श्वसनकज्वरनिदानम्।

श्वसनकज्वरस्य परिचयमाह—

ज्वरो न्यूमोनियाख्यो[१] हि भवति श्वसनको ज्वरः ।
तस्यैव नामनी स्यातां पार्श्वरुक्फुफ्फुसदहौ ॥१॥

---

१ Pnumonia न्यूमोनिया.

लाक्षारसाभं यः ष्ठीवेत् रक्तं श्वासज्वरार्दितः।
स्त्यानफुफ्फुसमूलस्य तस्य श्वसनको ज्वरः ॥२॥

न्यूमोनिया नामक ज्वर ही श्वसनक ज्वर होता है और उसी के पार्श्वशूल एवं फुफ्फुसप्रदाह ये दो नाम होते हैं। जो मनुष्य श्वास और ज्वर से पीड़ित हुआ लाख के समान वर्ण वाले रक्त को थूकता है, घन (कठिन) फुफ्फुसमूल वाले उस मनुष्य का वह ज्वर श्वसनक नाम वाला होता है।

श्वसनकज्वरस्य निदानं निर्दिशति—

भोजनाच्छादनैर्हीना दुर्बला ये विशेषतः।
दीना दूनमनस्का वा नित्यं श्रान्ताश्च ये नराः ॥३॥
अजीर्णार्ता यकृद्वृक्कशोथिनो बहुमद्यपाः।
मिथ्याहारविहाराश्च शीतवर्षादिबाधनात् ॥४॥
अभिघातात्क्वचित्पूतिगन्धयोगेन कुत्रचित्।
क्वचिद्वा व्याधिनानेन पीडितस्यातिसङ्गमात् ॥५॥
सर्वेष्वृतुषु भूम्ना तु वर्षासु शिशिरे मधौ।
ज्वरः प्रादुर्भवत्येष कीटाणुविषसम्भवः ॥६॥
अस्य कीटाणवः प्रोक्ता बहुधा तत्र भूयसा।
चत्वारः कारणं ज्ञेयास्तत्रापि दारुणास्त्रयः ॥७॥
तृतीयो दारुणस्तत्राऽपि तु प्रोक्तो विचक्षणैः।

जो मनुष्य भोजन और आच्छादन से रहित तथा विशेषतः दुर्बल होते हैं, एवं जो दीन, खिन्न मन वाले, थके हुए, अजीर्णयुक्त, यकृतशोथी, वृक्कशोथी, बहुत मद्य पीने वाले और मिथ्या आहार विहार सेवी होते हैं, उन्हें शीत वा वर्षा आदि से होने वाली बाधा के कारण वा अभिघात के कारण, वा पूतिगन्धता के कारण, वा इस रोग से ग्रस्त रोगी से स्पर्श के कारण, सभी ऋतुओं में और विशेषकर वर्षा, शिशिर वा वसन्त में कीटाणुओं के विष से होने वाला यह ज्वर होता है। इस रोग को उत्पन्न करने वाले कीटाणु बहुत प्रकार के कहे हैं। उनमें से भी प्रधानतः चार कीटाणु कारण हैं और वहां पर भी तीन कीटाणु दारुण हैं। कीटाणुवेत्ताओं ने उनमें से भी तीसरे कीटाणु को दारुणतम कहा है।

श्वसनकज्वरस्य भेदावाह—

श्वनको हि द्विधा प्रोक्तः खण्डीयस्तत्र चादिमः ॥८॥
द्वितीयस्तद्विदा प्रोक्तो विदुषा हि प्रणालिकः।
भिद्यते प्रथमस्तत्र भेदैश्च भूतसंख्यकैः ॥९॥
आद्यः साधारणस्तत्रोत्क्रामकश्च द्वितीयकः।
केन्द्रिको हि तृतीयः स्याच्चतुर्थो बृहदाख्यकः ॥१०॥
पञ्चमो फुफ्फुसावरणप्रदाहेन समन्वितः।
इतीमे प्रथमस्य स्युर्भेदा द्वितीयकस्य तु ॥११॥

द्वौ भेदौ मुख्यगौणाख्यौ विद्वद्भिरिह कीर्तितौ ।
सम्प्राप्तिर्लक्षणं चाथ सामान्येन प्रदर्श्यते ॥१२॥

श्वसनकज्वर दो प्रकार का होता है। उनमें से पहला खण्डीयफुफ्फुसप्रदाह और दूसरा प्रणालीयफुफ्फुसप्रदाह होता है। यह सब इसके जानने वाले विद्वान् (समूह) ने कहा है। इनमें से भी पहला (खण्डीयफुफ्फुसप्रदाह नामक श्वसनक ज्वर) पांच भेदों में विभक्त होता है। उनमें से पहला—साधारण, दूसरा—उत्क्रामक, तीसरा—केन्द्रिक, चौथा—बृहत् और पांचवां—फुफ्फुसावरण प्रदाहयुक्त खण्डीयफुफ्फुसप्रदाह (श्वसनक) (लोब्रबर न्युमोनिया) है। ये पहले श्वसनक ज्वर के भेद हैं। दूसरे प्रकार के (प्रणालीय फुफ्फुसप्रदाह नामक श्वसनकज्वर के) विद्वानों ने मुख्य और गौण नामक दो भेद कहे हैं। अब इनके बाद सामान्यतः इनकी सम्प्राप्ति और इनका लक्षण दिखाया जाता है।

श्वसनकज्वरस्य सम्प्राप्तिमवतारयति—

मुखात्कण्ठात्तथा श्वासवर्त्मनोऽस्याणवो गताः ।
फुफ्फुसान्तःप्रकोष्ठेषु वाथ वातप्रणालिषु ॥१३॥
विषप्रभावमापाद्य स्त्यानयन्ति हि शोणितम् ।
शोणिते स्त्यानतां याते वामे वामेतरेऽथवा ॥१४॥
द्वयोर्वा जायते शोथः, विशेषश्चात्र वक्ष्यते ।
यदि कोष्ठेषु शोथः स्यात् ततः खण्डीय उच्यते ॥१५॥
प्रणाल्यामथ शोथश्चेत्ततः सः स्यात् प्रणालिकः ।
तदेमान्युभयत्र स्युः "रुग्ज्वरश्वासकृच्छ्रताः" ॥१६॥

मुख से, गले से तथा श्वासमार्ग से इसके कीटाणु फुफ्फुसों के आभ्यन्तरिक प्रकोष्ठों में वा सूक्ष्मवायुप्रणालियों में जाकर विषैले प्रभाव को उपजा रक्त को घन कर देते हैं। एवं रक्त के घन हो जाने पर वाम फुफ्फुस में वा दक्षिण फुफ्फुस में अथवा दोनों फुफ्फुसों में सूजन हो जाती है। अब यहां पर जो विशेषता है, वह कही जाती है कि यदि कोष्ठों में शोथ होगी तो वह खण्डीयफुफ्फुसप्रदाह नामक श्वसनक रोग होता है, और यदि सूक्ष्मवायुप्रणालियों में शोथ होगी तो वह प्रणालीयफुफ्फुसप्रदाह नामक श्वसनक रोग होता है। तब इन दोनों में पीड़ा, ज्वर और श्वासकृच्छ्रता ये रूप भी उपज आते हैं।

श्वसनकज्वरपूर्वरूपं निरूपयति—

पूर्वरूपं बुधाः प्राहुः प्रायः श्वसनके ज्वरे ।
पार्श्वरुक् श्वासकासौ चावसादश्चाथ कम्पनम् ॥१७॥

श्वसनकज्वर में प्रायः विद्वान् पार्श्वपीड़ा, श्वास, कास, अवसन्नता और कम्पन को पूर्वरूप मानते हैं।

श्वसनकज्वरस्य स्वरूपं निर्दिशति—

अकस्माद्धि ज्वरस्तीव्रः शीतेन संप्रवर्तते ।
पश्चाच्च जायते तृष्णा तथान्ने वर्धतेऽरुचिः ॥१८॥
पार्श्वशूलमथो कासः श्वासवृद्धिः क्रमेण च ।
जायते, कासतो रक्तं सान्द्रं मुहुः प्रवर्तते ॥१९॥

तथा लाक्षारसाभश्च श्लेष्मभिश्च यथापि च।
पुटौ श्वासेन नासायाः स्फूर्जतश्च निरन्तरम् ॥२०॥
श्वासस्य च गतिस्तीव्रा लालिमा च कपोलयोः।
स्वेदो ललाटे गात्राणि भृशं स्विन्नानि चानिशम् ॥२१॥
गौरसर्षपतुल्यानां पिडकानाञ्च दर्शनम्।
मोहो दुर्बलता सादः प्रलापः कण्ठकूजनम् ॥२२॥
कर्कशा परुषा जिह्वा मलिना च भवेद् भृशम्।
नाडी द्विगुणतां याति कोमला स्थूलचञ्चला ॥२३॥
यावन्न ज्वरत्यागः स्याज्ज्वरत्यागादनन्तरम्।
प्रायेण मृदुतामेति दौर्बल्यञ्चेति निश्चितम् ॥२४॥
परं रिष्टदशायान्तु संख्यातिक्रम्यते तया।
प्रायेणेमानि लिङ्गानि प्रणालीये भवन्त्यपि ॥२५॥

श्वसनक ज्वर में रोगी को शीत लगकर अकस्मात् तीव्र ज्वर चढ़ जाता है; और बाद में प्यास लगती है तथा अन्न में अरुचि बढ़ जाती है। एवं क्रमशः पार्श्वशूल, खांसी और श्वास की वृद्धि हो जाती है, तथा खांसते समय लाक्षा रस के समान श्लेष्मा से मिला हुआ घना रक्त बार बार प्रवृत्त होता है। इसमें श्वास से नासापुट (नासा पुष्पुट) हर समय फूलते रहते हैं, श्वास की गति (पहले से भी) तीव्र हो जाती है, कपोलों में लालिमा छा जाती है, मस्तक पर पसीना टपकने लगता है, गात्र हमेशा खूब भीगे रहते हैं, गौरी सरसों के समान स्वेदपिडकाएं दीखने लगती हैं, मोह हो जाता है, दुर्बलता बढ़ जाती है, साद होने लगता है, रोगी प्रलाप करने लगता है, गला कूजने लगता है और जिह्वा अत्यन्त खुरदरी, कठोर, एवं मलिन हो जाती है। इसमें नाड़ी कोमल, भरी हुई, वेग वाली एवं दुगुनी (गतिवाली) हो जाती है। यह अवस्था तब तक रहती है, जब तक कि ज्वर छोड़ नहीं देता। ज्वर के हट जाने पर तो वह प्रायः मृदु एवं दुर्बल हो जाती है। यह बात निश्चित है; परन्तु रिष्ट दशा में वह नाड़ी (इतनी बढ़ जाती है कि) गिनी भी नहीं जा सकती। प्रायः यही लक्षण प्रणालीय फुफ्फुसावरणप्रदाह नामक श्वसनक ज्वर में भी होते हैं।

धातुमलपाकानुसारं वा तीव्रातीव्रलक्षणानुसारमस्य मुक्तिमाह—

सप्तमे चाष्टमे प्रायः नवमे दशमे क्वचित्।
हठाज्ज्वरस्य मुक्तिः स्यात् साकं स्वेदचयेन च ॥२६॥
रोगिणस्तत्र मुक्तिर्वा प्राणानामथवा क्वचित्।
मुक्तस्तु त्वरया रोगी नीरुजतां समश्नुते ॥२७॥

प्रायः सातवें दिन वा आठवें दिन और कहीं २ नववें वा दसवें दिन बहुत से पसीने के साथ अकस्मात् ज्वर उतर जाता है। ऐसे समय में या तो ज्वर से रोगी की मुक्ति हो जाती है और या रोगी से प्राणों की मुक्ति हो जाती है। यदि ज्वर से रोगी की मुक्ति हो जाती है तो वह शीघ्र ही नीरोगी हो जाता है।

वक्तव्य—इसमें ज्वरत्याग वा प्राणत्याग इसलिए कहा है कि ज्वर उतरते समय पसीना अत्यधिक आता है, जिससे शीताङ्गता और कहीं २ नाड़ीलुप्तता हो जाती है। एवं यदि उस समय चिकित्सा कर इन उपद्रवों को दूर कर लिया जावे वा ये स्वयं शान्त हो जावें तो रोगी बच जाता है अन्यथा मर जाता है।

श्वसनकज्वरस्य साध्यासाध्यत्वमाह—

एकस्मिन् फुफ्फुसे दुष्टे ज्वरे मन्दे स्थिते नले।
पादत्रयस्य सम्पत्तौ बोद्धव्या सुखसाध्यता ॥२८॥
स्वेदोऽत्यर्थं ज्वरस्तीव्रो जरन् क्षीणोऽथवातुरः।
द्रव्ये भृत्ये तथा वैद्ये योग्ये जीवे द्विभाषया ॥२९॥

किसी एक ही फुफ्फुस के दुष्ट होने पर, ज्वर के मन्द होने पर, बल के ठीक स्थित होने पर तथा वैद्य, औषध और उपचारक रूप पादत्रय के स्वस्वगुण सम्पन्न होने पर (इस रोग में) सुखसाध्यता जाननी चाहिए। जिसे स्वेद अत्यधिक आता है और ज्वर तीव्र होता है; तथा जो वृद्ध एवं क्षीण होता है, वह रोगी द्रव्य परिचारक और वैद्य के स्वस्वगुण युक्त होने पर भी कभी (सौभाग्यवश) ही जीता है, अन्यथा मर जाता है अर्थात् ऐसा होने पर भी कोई कोई रोगी बचता है।

श्वसनकज्वरस्यारिष्टमाह—

फुफ्फुसौ यस्य चाक्रान्तौ समग्रः फुफ्फुसोऽथवा।
नासाश्वासावतिस्वेदो दुर्लभं तस्य जीवनम् ॥३०॥
मन्दप्रलापसंयुक्तः स्वेदस्नातश्च यो नरः।
करौ पादौ च वेपेते यस्य ना म्रियते हि सः ॥३१॥
योऽतीसारेण चाक्रान्तो दुर्वारेण भवेदिह।
क्षीणः श्वसनकेनार्तः स ज्ञेयो यमगेहगः ॥३२॥

जिस मनुष्य के दोनों फुफ्फुस आक्रान्त हो जाते हैं, अथवा जिसका अकेला सम्पूर्ण फुफ्फुस ही आक्रान्त हो जाता है, जिसकी नासिका से शब्दविशेष होने लगता है तथा श्वास से दुःखित होता है एवं जिसे पसीना अत्यधिक आता है, उसका जीवन दुर्लभ है। जो मनुष्य मन्दप्रलाप से युक्त हो, तथा जो पसीने से तर-बतर हो, एवं जिसके हाथ पाँव काँपते हों वह मनुष्य मर जाता है। इस रोग में जो दुर्वार अतिसार से आक्रान्त हो, श्वसनक ज्वर से आर्त एवं क्षीण हुआ २ वह मनुष्य यमगृह में जाने वाला समझना चाहिए।

श्वसनकज्वरस्योपद्रवानाह—

निद्रानाशः प्रलापश्च कम्पोऽतितीव्रतापता।
हृदः कार्यावरोधश्च संज्ञाहानिरुपद्रवाः ॥३३॥

निद्रानाश, प्रलाप, कम्पन, अतितीव्रताप, हृदयकार्यावरोध और संज्ञाहानि ये उपद्रव हैं (जो कि श्वसनक ज्वर में होते हैं)।

इति दीनानाथशर्मविग्रथिते निदानपरिशिष्टे श्वसनकज्वरनिदानम्।

अथ आक्षेपकज्वरनिदानम् ।

आक्षेपकज्वरं परिचाययति—

आक्षिप्यन्ते यतोऽङ्गानि सङ्कोचं यान्ति चाञ्जसा ।
घोरो ज्वरश्च संज्ञाहृत् सोऽयमाक्षेपको ज्वरः ॥१॥
अयमेवापरैः प्रोक्तः शीर्षसौषुम्निको ज्वरः ।

जिस ज्वर में अङ्ग शीघ्र २ आक्षिप्त एवं सङ्कुचित होते हैं, वह संज्ञानाशक घोर ज्वर आक्षेपकज्वर नाम वाला होता है । इसे दूसरे शीर्षसौषुम्नज्वर भी कहते हैं ।

आक्षेपकज्वरस्य निदानं निर्दिशति—

बहुजनाचिते देशे रजोधूमाकुले तथा ।
वसतां स्याद्दरिद्राणामयं कीटाणुजो ज्वरः ॥२॥

बहुत मनुष्यों से परिपूर्ण तथा धूलि एवं धूम से व्याप्त देश में रहने वाले दरिद्र मनुष्यों को प्रायः कीटाणुसम्भव यह ज्वर हो जाता है ।

आक्षेपकज्वरस्यैव सम्प्राप्तिमवतारयति—

मस्तिष्कमूले परितः सुषुम्ना काण्डं च तच्छादिकलान्तराले ।
विषं क्रमात् पूयसमां लसीकां संहत्य दोषानखिलान् प्रकोप्य ॥३॥
चेष्टावहानामथ नाडिकानामुत्तेजनादाक्षिपदङ्गकानि ।
सङ्कोच्य शाखाश्च विहन्ति संज्ञामाक्षेपके दुर्लभजीवितस्य ॥४॥

मस्तिष्क के मूल में चारों ओर सुषुम्नाकाण्ड होता है । उस काण्ड को आच्छादन करके ठहरी हुई कला में होने वाली पूय की सी लसीका को कीटाणुओं से होने वाला विष नष्ट कर तथा सम्पूर्ण दोषों को प्रकुपित कर, चेष्टाओं को धारण करने वाली नाड़ियों की उत्तेजना के कारण अङ्गों को आक्षिप्त कर देता है । तदनु च पुनः वह विष आक्षेपक में दुर्लभजीवी मनुष्य की शाखाओं को संकुचित कर संज्ञा को नष्ट कर देता है ।

वक्तव्य—मस्तिष्क के मूल में सुषुम्नाकाण्ड होता है, जिसे कि एक कला आच्छादित किए होती है । उस कला की तह में एक प्रकार का तरल भरा रहता है, जो कि पूय के समान होता है । जब इस रोग के कीटाणु वहां पहुँचते हैं तो उसको नष्ट कर तथा वहां दोषों को प्रकुपित कर एवं गत्युत्पादक वातनाड़ियों को संक्षुब्ध कर अङ्गों को आक्षिप्त कर देते हैं । तदनु च इसमें शाखाएं संकुचित एवं संज्ञा नष्ट हो जाती है । इसी की सम्प्राप्ति दूसरे मान्य विद्वान् इस प्रकार लिखते हैं कि—'इस रोग के कीटाणु नासा और कण्ठ से वाततन्तुओं के रास्ते शीर्ष और सुषुम्ना के आवरणों में पहुँच कर शोथ उत्पन्न कर देते हैं । उनमें तरल भर जाता है जिसके कारण सुषुम्ना और शीर्ष की सैलों पर दबाव पड़ता है और यह लक्षण पैदा होते हैं' ।

आक्षेपकज्वरस्य स्वरूपमाचष्टे—

गुर्वी शिरोरुजा वान्ति कदाचिच्छीतकम्पने ।
ग्रीवास्तम्भः क्रमान्मूर्धा पश्चादाकृष्यते बलात् ॥५॥

---

१ Ceredr Spinal Fever.

ज्वरः स मेधते नित्यं शाखाः स्तब्धा भवन्ति च ॥६॥
यन्ति सङ्कोचमङ्गानि नेत्रे यातश्च वक्रताम् ।
तन्द्रा प्रलापो मोहश्च आक्षेपश्च मुहुर्मुहुः ॥७॥
चिह्नानां श्यावरक्तानामङ्गेषु च समुद्भवः ।
इन्द्रियाणां विनाशश्च भवेदाक्षेपके ज्वरे ॥८॥

आक्षेपकज्वर में तीव्र पीड़ा, वमन, शीतलता, कम्पन और ग्रीवास्तम्भ होता है। इसके बाद सिर पीछे की ओर खिंच जाता है, ज्वर नित्य बढ़ता जाता है, शाखाएं स्तब्ध हो जाती हैं, अङ्ग संकुचित हो जाते हैं, दृष्टि टेढ़ी हो जाती है, तन्द्रा, प्रलाप, मोह और आक्षेपक बार-बार होता है, अङ्गों पर श्यावरक्त निशान उपज आते हैं और इसमें इन्द्रियों का भी नाश हो जाता है।

अत्र रोगिणो मरणावधिमाह—

एकाहान्म्रियते कश्चिद् त्र्यहाद्वा दारुणे गदे ।
क्लिश्यंस्त्रिचतुरान् वाऽथ सप्ताहान् विजहात्यसून् ॥९॥
क्वचिच्चतुष्पादसम्पत्तौ दिष्ट्या कश्चन जीवति ।
प्रायोऽयं दृश्यते घोरो बालेषु तरुणेषु च ॥१०॥

इस दारुण व्याधि में कोई २ एक दिन में मर जाता है और कोई तीन दिन में मर जाता है। एवं कोई दुःखी होता है, तीन चार दिन में वा सात दिन में प्राण छोड़ देता है। किन्तु कहीं २ रोगी वैद्यादि पादचतुष्टय के ठीक मिल जाने पर दैववश बच भी जाता है। अधिकतर यह रोग बालकों और युवाओं में भयानक रूप में दिखाई पड़ता है।

इति श्रीदीनानाथशर्मविग्रथिते निदानपरिशिष्टे आक्षेपकज्वरनिदानम् ।

अथ दण्डकज्वरनिदानम् ।

दण्डकज्वरस्य परिचयमाह—

अयं संक्रामको रोगो विशिष्टमशकसम्भवः ।
सप्ताहं यावदातिष्ठेदस्थिसङ्घं च पीडयन् ॥१॥
सप्ताहकज्वरो डैंग्यूफीवरो[1] दण्डकज्वरः ।
अस्थिभञ्जनकश्चैव नामान्येतानि चास्य हि ॥२॥

यह एक विशेष मच्छर से होने वाला संक्रामक रोग है। यह अस्थिसमूह को पीड़ित करता हुआ एक सप्ताह तक रहता है। सप्ताहकज्वर, डैंग्यूफीवर, दण्डकज्वर, और अस्थि-भञ्जनज्वर ये इसके नाम हैं।

अस्य पूर्वरूपमाह—

पूर्वरूपं भवत्यत्र चाङ्गमर्दो क्लमोऽरुचिः ।
उत्क्लेशः सदनश्चापि, लक्षणं चास्य वक्ष्यते ॥३॥

---

१ डैंग्यू फीवर (Dengue Fever).

अङ्गमर्द, क्लम, अरुचि, उत्क्लेश और साद यह यहां पर पूर्वरूप होता है। अब लक्षण कहा जाता है।

दण्डकज्वरस्य लक्षणमाह—

अस्थिसन्धिव्यथा घोरा दण्डा हननजा इव।
क्वचिच्छ्रीघ्रोदितो लीनो विसर्पोऽखिलगात्रगः ॥४॥
सञ्चारिणा सशोथेन सन्धिशूलेन लक्षितः।
ज्वरश्च कण्ठरुग्युक्तः पुनरावर्तते गतः ॥५॥
प्रतिश्यायेन कासेन युक्तोऽष्टाहेन मुञ्चति।
चिरं सन्धिरुजश्चैव भवन्ति दण्डके ज्वरे ॥६॥
जनपदचरोऽयं हि प्रायेण कफवातजः।
अत्र ज्वरस्य मानं हि त्रिचतुरोत्तरं शतम् ॥७॥
पञ्चोत्तरशतं यावदथवा सम्प्रवर्तते।
अत्र नाड्या गतिर्ज्ञेया ज्वरान्न्यूनतरा खलु ॥८॥
मध्ये ज्वरावरोहे स्याद्रक्तपित्तं हि नासिकम्।
अतीसारोऽथवा तस्मिन् स द्व्यहात्पुनरेधते ॥९॥
ज्वरोऽयं बालवृद्धेषु भवेत्प्रायो हि दारुणः।

इस ज्वर में डंडे से मार पड़ने की तरह अस्थिसन्धियों में पीड़ा होती है, सारे शरीर में विसर्प हो जाता है, जो कि कहीं पर उत्पन्न और कहीं पर लीन होता रहता है। सञ्चारी शोथयुक्त सन्धिशूल से लक्षित ज्वर उतरा हुआ कण्ठ पीड़ा के साथ २ पुनः आ जाता है। प्रतिश्याय और कास से युक्त वह आठ दिन बाद उतर जाता है किन्तु सन्धिपीड़ाएं बाद में भी कुछ दिनों तक होती रहती हैं। जनपदों में होने वाला यह ज्वर प्रायः कफवात से होता है। यहां पर ज्वर का ताप परिमाण १०३ वा १०४ अथवा १०५ तक होता है। इस ज्वर में नाड़ी की गति ज्वर की अपेक्षा कम होती है। बीच में जब कि ज्वर का अवरोह होता है तो नकसीर वा अतिसार लग जाता है, तदनु वह दो दिन बाद पुनः बढ़ जाता है। यह ज्वर बालकों एवं वृद्धों में प्रायः दारुण होता है।

इति श्रीदीनानाथशर्मविग्रथिते निदानपरिशिष्टे दण्डकज्वरनिदानम्।

कर्णमूलिकज्वरनिदानम्।

कर्णमूलिकज्वरनामभिः परिचाययति—

पाषाणगर्दभो हप्पू मम्प्सश्च कर्णमूलिकः।
कर्णपेट इति प्रोक्तश्चायं विमलबुद्धिभिः ॥१॥

विमलबुद्धि वालों ने यह रोग पाषाणगर्दभ, हप्पू, मम्प्स, कर्णमूलिक ज्वर और कनपेड़े इन नामों से पुकारा है।

१ Mumps Fever.

अस्यैव सम्प्राप्तिलक्षणमाह—

पूर्वमेकतरे पार्श्वे द्वितीये च ततः पुनः ।
शोथो ज्वरकरो घोरः सरुक् स्यात्कर्णमूलिकः ॥२॥
शूयन्ते कर्णमूलस्था जिह्वातलं तथाऽऽस्थिताः ।
ग्रन्थयोऽधो हनुस्था वा ततोऽयं पञ्चषैर्दिनैः ॥३॥
शान्तिमेति, रुजःशोफौ स्यातां च मुष्कयोः पुनः ।
नराणां, नारीणां क्वापि भगनासास्तनेषु च ॥४॥
दशाहाच्चाखिला रोगाः शाम्यन्त्यत्र न संशयः ।
स जानपदिकः प्रायो वातश्लेष्मकृतो ज्वरः ॥५॥
बालानामथ यूनाञ्च प्रवर्तते विशेषतः ।

पहले किसी एक ओर और पुनः दूसरी ओर ज्वर को करने वाला पीड़ायुक्त घोर कर्णमूलिक शोथ हो जाता है। इसमें कर्णमूल में होने वाली तथा जिह्वा के नीचे होने वाली अथवा निचले हनु की तली में होने वाली ग्रन्थियां भी सूज जाती हैं। इसके अनन्तर पाँच छः दिन बाद यह ज्वर शान्त हो जाता है। तदनु मनुष्यों में मुष्कों पर तथा कहीं २ स्त्रियों में भगनासा और स्तनों पर पीड़ा एवं सूजन हो जाती है। इस रोग में दस दिन तक सभी विकार शान्त हो जाते हैं। यह जानपदिकज्वर प्रायः वायु और श्लेष्मा से होता है और विशेषतः इसकी प्रवृत्ति बालकों और युवाओं में होती है।

दण्डकज्वरस्योपद्रवानाह—

अर्दितं क्लोमशोफश्च शीर्षावरणशूनता ।
उपद्रवाः प्रजायन्ते क्वचिन्नु कर्णमूलिके ॥६॥

अर्दित, क्लोमशोथ और शीर्षावरणशोथ ये उपद्रव भी कहीं २ इस रोग में होते हैं।

इति श्रीदीनानाथशर्मविग्रथिते निदानपरिशिष्टे कर्णमूलिकज्वरनिदानम्।

अथ माल्टाज्वरनिदानम्।

माल्टाज्वरस्य परिचयमाह—

प्रागासीदयं रोगो माल्टाद्वीपवासिनाम् ।
तत्रैव चाभवद् ज्ञानं पूर्वमस्य ज्वरस्य हि ॥१॥
अनेन हेतुयोगेन चेयमस्याभिधाऽभवत् ।

यह रोग सब से पहले माल्टाद्वीपवासियों में होता था और वहीं इसका पहले पहल ज्ञान हुआ था। इसी कारण से इस ज्वर का नाम भी माल्टा फीवर पड़ गया है।

अस्य निदानमाह—

कीटाणवोऽस्य रोगस्य बिंदुकाकृतिसम्मिताः ॥२॥
अजायामातुरायान्तु स्तनजे च कृतालयाः ।

१ Malta Fever.

भवन्ति, तच्च पानेन जायन्ते रोगिणो नराः ॥३॥
रक्तपित्ते क्वचित्स्यातां मलमूत्रे च कारणम्।
अयमाबालवृद्धेषु सममेव प्रवर्तते ॥४॥

इस रोग के कीटाणु बिन्दुकाकार होते हैं, जिनकी स्थिति बकरी के दूध में होती है और उसी दूध के पीने से ही मनुष्य रोगी हो जाते हैं। बकरी का मल मूत्र, रक्त और पित्त भी कहीं २ रोगोत्पादक होता है, क्योंकि इसके कीटाणु उनमें भी रहते हैं। यह रोग बालकों और वृद्धों में समान रूप से होता है।

माल्टाज्वरस्य सम्प्राप्तिमवतारयति—

अजादुग्धादिभिः साकमन्नमार्गेण चागताः।
अन्त्रे कीटाणवश्चास्य ततोऽपि यान्ति शोणिते ॥५॥
तदा ज्वरं समुत्पाद्य चोदरावरकमास्थितान्।
लसीकोत्पादकान् ग्रन्थीन् शूनयन्ति न संशयः ॥६॥

अजादुग्ध आदिकों के साथ २ अन्नमार्ग से अन्त्र में आए हुए इस रोग के कीटाणु रक्त में चले जाते हैं। तब वहां ज्वर को उत्पन्न कर उदरककला में स्थित लसीकाग्रन्थियों को शोथान्वित कर देते हैं।

माल्टाज्वरस्य स्वरूपमाह—

ज्वर आरोहते स्वैरं शिरोरुगङ्गमर्दता।
उत्क्लेशो वमनञ्चैव भवति माल्टाज्वरे ॥७॥
कदाचित्कण्ठदाहश्च प्रतिश्यायश्च कासनम्।
अपि भवत्यवरोहे तु स्वेदस्यातिसमागमः ॥८॥
शोफः पीडा च सन्धिषु प्लीहावृद्धिस्तथैव च।
आवद्धत्वञ्च कोष्ठस्य भवति माल्टाज्वरे ॥९॥
भेदाश्चास्य चत्वारो मृदुः साधारणस्तथा।
विषमो दारुणश्चैव विद्वद्भिः परिकीर्तिताः ॥१०॥
मार्दवे तत्र वृद्धिः स्यात् प्लीह्नः साधारणे त्वथ।
उपर्युक्तानि लिङ्गानि मध्यकालोऽस्य चैधते ॥११॥
विषमे विषमो वेगो रुजा च सन्धिषु भृशम्।
भवत्युग्रे ज्वरश्चोग्रः पिडकानाञ्च दर्शनम् ॥१२॥
फुफ्फुसावरणे दाहस्तथा स्यादतिसारता।
रोगी चास्यामवस्थायां शीघ्रमेव विपद्यते ॥१३॥

इस माल्टा रोग में ज्वर धीरे २ चढ़ता है, शिर में पीड़ा होती है, अंगमर्द होता है, उत्क्लेश होता है और वमन आते हैं। कभी २ गले में जलन, प्रतिश्याय और कास भी होती है। एवं जब ज्वर उतरने लगता है तो पसीना अत्यधिक आता है, सन्धियों में सूजन और पीड़ा होती है, एवं इस माल्टाज्वर में प्लीहावृद्धि तथा कोष्ठबद्धता भी होती है। विद्वानों ने इसके मृदु, साधारण, विषम और दारुण—ये चार भेद कहे हैं। इनमें से

मृदु माल्टाज्वर में प्लीहा बढ़ जाती है, साधारण में उपर्युक्त लक्षण होते हैं एवं इसका मध्यकाल बढ़ जाता है। विषम माल्टाज्वर में वेग विषम होता है (अर्थात् प्रातः स्वस्थवत् ठीक होना, मध्याह्न में १०५-१०६ तक ताप होकर पुनः सायंकाल को अतिस्वेद से वह उतर जाना) और सन्धियों में पीड़ा होती है। उसमें ज्वर उग्र होता है, शरीर पर पिडकाएं भी उग्ररूप से होती हैं। इसमें कभी कभी फुफ्फुसावरण प्रदाह और अतिसार भी होने लगता है। ऐसी अवस्था में रोगी शीघ्र ही मर जाता है।

इति श्रीदीनानाथविग्रथिते निदानपरिशिष्टे माल्टाज्वरनिदानम्।

अथ कालज्वरनिदानम्।

कालज्वरनिदानमाह—

भूम्नानूपप्रदेशेषु भूबाष्पकृमिकारणैः।
कालज्वरः प्रवर्तेत सैव चात्र प्रदर्श्यते ॥१॥

प्रायः आनूप प्रदेशों में भू-बाष्प और कृमियों के कारण कालज्वर होता है और वही यहां दर्शाया जाता है।

कालज्वरस्य सम्प्राप्तिमवतारयति—

जीवाणवोऽस्य रोगस्य मज्जान्त्रफलकोशयोः।
श्वासयन्त्रेऽन्त्रभित्त्याञ्च तिष्ठन्त्यस्थ्नि विशेषतः ॥२॥
यकृत्प्लीह्नोः ततः क्षुब्धौ समेधेते निरन्तरम्।
सौत्रतन्तुयुतौ स्यातां तावेव कालके ज्वरे ॥३॥

इस रोग के जीवाणु मनुष्य की मज्जा, अन्त्र, अण्डकोश, फुफ्फुस, अन्त्रभित्ति तथा अस्थि में रहते हैं, और विशेषतः यकृत्, प्लीहा में रहते हैं। उन्हीं जीवाणुओं की अधिकता के कारण क्षुब्ध हुए २ वे यकृत और प्लीहा (इस कालज्वर में) बढ़ जाते हैं और सौत्रिक तन्तुमय हो जाते हैं।

कालज्वरस्य स्वरूपं निर्दिशति—

अस्मिन् रोगे ज्वरः पूर्वमविसर्गी प्रवर्तते।
सप्ताहत्रितयं यावदधिकं वा निरन्तरम् ॥४॥
आरोहस्थित्यवारोहविभागेनाधितिष्ठति।
ततः कालं मनाङ् मुक्त्वा पुनरावर्तते ज्वरः ॥५॥
पूर्वोक्तैर्लक्षणैः प्रायः क्रममेनं सदाचरेत्।
एवं वारद्वयं भूत्वा कुरुते रक्तहीनताम् ॥६॥
स्वेदस्याङ्गेषु प्राचुर्यं शाखासु च प्रपीडनम्।
ज्वरश्च मन्दतां यातः स्थायी भवति निश्चितम् ॥७॥
अस्मिन्काले भवेत् पाण्डुः ग्रहणी कामलाऽथवा।
ऊर्ध्वगं रक्तपित्तं च तथा स्याद्रोमकूपिकम् ॥८॥

---

१ काला आज़ार Kala-Azar.

करयोश्चरणयोर्वक्त्रे शोफः सञ्जायते ततः।
एवं कष्टतरोऽयं हि त्यक्त्वा सद्यःफलां क्रियाम् ॥९॥

पहले इस रोग में ज्वर अविसर्गी होता है, जो कि तीन सप्ताह वा चार सप्ताह तक चढ़ाव, स्थिति और उतार के अनुसार रहता है। तदनु तीन वा चार सप्ताह के बाद ज्वर कुछ दिन छोड़कर पुनः पूर्वोक्त लक्षणों के साथ चढ़ आता है, इसका सदा यही क्रम होता है। इस प्रकार दो वार आवर्तित होकर वह शरीर में रक्तहीनता, अङ्गों में स्वेदाधिकता तथा शाखाओं में पीड़ाधिकता कर देता है। एवं ज्वर मन्द हुआ २ निश्चय स्थायी हो जाता है। इस समय में पाण्डु, ग्रहणी, कामला, ऊर्ध्वगरक्तपित्त तथा रोमकूपभव रक्तपित्त हो जाता है। तदनु हाथों, पांवों और मुख में सूजन हो जाती है। एवं यह रोग सद्यःफलप्रद चिकित्सा के बिना अतिकष्टसाध्य है।

कालज्वरस्योपद्रवानाह—

वमनारुचिसंयुक्तं क्षीणामिषबलेन्द्रियम्।
युक्तं फुफ्फुसदाहेन तथाच राजयक्ष्मणा ॥१०॥
प्रवाहिकातिसाराभ्यां युक्तञ्चैभिरुपद्रुतम्।
रोगिणं हि विजानीयान्महावैद्यस्य पार्श्वगम् ॥११॥

वमन और अरुचि से युक्त, क्षीणमांस, क्षीणबल एवं क्षीणेन्द्रिय, फुफ्फुसदाह तथ राजयक्ष्मान्वित, प्रवाहिका और अतिसार वाले, एव इनसे उपद्रुत रोगी को निश्चित यम राज के पास गया हुआ समझना चाहिए।

इति श्रीदीनानाथशर्मविग्रथिते निदानपरिशिष्टे कालज्वरनिदानम्।

अथ परिशिष्टज्वरनिदानम्।

आह्निकज्वरमाह—

स्वल्पेन रक्तशोफेन युक्ते नासापुटान्तरे।
ज्वरगात्ररुजोपेतः स्यात्कफेनाह्निको ज्वरः ॥१॥

नासापुटान्तर में स्वल्प रक्तवर्ण की सूजन से युक्त, ज्वर और गात्रशूल वाला ऐकाहिक ज्वर कफ से होता है।

श्लैपदिकज्वरमाह—

शाखायां मुष्कयोर्वापि रागशोफरुजाकरः।
पक्षान्ते प्रायशो भावी ज्वरः श्लैपदिकः स्मृतः ॥२॥

शाखाओं वा फलकोषों में रक्तिमा, सूजन और पीड़ाओं को करने वाला तथा प्रायः पक्ष बाद होने वाला ज्वर श्लैपदिक ज्वर कहलाता है।

औपद्रविकज्वरमाह—

जीर्णरोगेषु सर्वेषु ग्रहण्यादौ विशेषतः।
सन्निपातप्रकोपेण स्यादौपद्रविको ज्वरः ॥३॥

सभी जीर्ण रोगों में विशेषतः ग्रहणी आदिकों में सन्निपात के प्रकोप से औपद्रविक ज्वर होता है।

देशान्तरीयज्वरानाह—

देशान्तरेषु दृश्यन्ते लोहितपीतकादयः ।
युद्धखातादयश्चैव लक्ष्यास्ते शास्त्रदर्शनात् ॥४॥

लोहितपीतकादि तथा युद्धखातादि अनेक ज्वर दूसरे २ देशों में होते हैं उनका ज्ञान शास्त्र को देखकर करना चाहिए।

तदेव पुनराह—

अन्येऽप्येवं ज्वरा लोके दृश्यन्तेऽनेकजातयः ।
देशकालादिभेदैश्च तेऽपि चिन्त्या यथायथम् ॥५॥

देशकालादि के भेदानुसार संसार में इसी प्रकार और भी अनेक प्रकार के ज्वर दीखते हैं, उनका भी यथायथ ज्ञान कर लेना चाहिए।

इति श्रीदीनानाथशर्मविग्रथिते निदानपरिशिष्टे ज्वरपरिशिष्टं समाप्तम् ।

अथ औपसर्गिकविसूचिकानिदानम् ।

औपसर्गिकविसूचिकां परिचाययति—

विसूचीदोषसंयुक्ता प्रोक्ता हि मुनिभिः पुरा ।
उपसर्गजा च या स्यात् सेयं सम्प्रति वक्ष्यते ॥१॥
अयं सङ्क्रामको रोगो मारीरूपेण सर्पति ।
वमनश्चातिसारश्चाधिक्येनैवात्र जायते ॥२॥

दोषों से सम्बन्धी विसूचिका मुनियों ने पहले दर्शा दी है। जो उपसर्ग के कारण होती है, अब वह कही जाती है। यह उपसर्गज विसूचिका नामक रोग महामारी के रूप में फैलता है। इसमें वमन और अतीसार अत्यधिक होते हैं।

अस्य निदानमाह—

अस्य कीटाणवः प्रोक्ताः कारणं दण्डसन्निभाः ।
मले मूत्रे तथाऽन्त्रे च प्रायेण निवसन्ति ते ॥३॥
पित्ताशये कदाचित्स्युरुदरावरणे तथा ।
समुत्पन्नासु ग्रन्थीषु लसीकोत्पादकेषु हि ॥४॥
आन्त्रिकज्वरसङ्काशं प्रसरन्त्यस्य कीटकाः ।
अस्य रोगस्य, ग्रीष्मे कैः प्रावृषि च विशेषतः ॥५॥
वस्त्रखाद्यादिभिश्चैव मलिनैर्वस्तुवास्तुभिः ।
अनेनायं विधानेन रोगः सङ्क्रमतां व्रजेत् ॥६॥

इस रोग का कारण दण्डाकार कीटाणु हैं और वे मल, मूत्र, अन्त्र में अधिकतर रहते हैं। कभी २ वे पित्ताशय में वा उदरककला में होने वाली लसीकोत्पादक ग्रन्थियों में भी रहते हैं। इस रोग के कीटाणु आन्त्रिकज्वर के कीटाणुओं की तरह प्रसार पाते हैं। विशेषकर इस रोग के कीटाणु ग्रीष्मऋतु में वा वर्षाऋतु में एवं जल द्वारा प्रसार पाते हैं

(अतः तब यह रोग भी अधिक होता है)। इसी प्रकार यह रोग वस्त्र, खाद्य, मलिनवस्तु एवं मलिनस्थानों द्वारा भी फैलता है। यह रोग इस विधान से सङ्क्रमण करता है।

अस्य सम्प्राप्तिमवतारयति—

कीटाणवोऽन्नमार्गेण गत्वा क्षुद्रान्त्रमास्थिताः।
तत्रैव वृद्धिमापाद्य विषं रक्ते हि तत्यजुः ॥७॥
तदा विसूचिकोत्पत्तिर्जायेतेत्युच्यते बुधैः।
अन्ये बुधास्त्विति प्राहुर्विषं तत्रैव तिष्ठति ॥८॥
तत्रैव स्थितिमास्थाय विसूचीञ्चोपपादयेत् ॥९॥
रोगस्यैवं समुत्पत्तिर्जायतेऽन्त्रे लघीयसी।
स्थितग्रन्थिषु शूनत्वमुदरावरके तथा ॥१०॥
या लसीकोपपादिन्यः सन्ति तासु च शूनता।
भवेद्, वम्यतिसाराभ्यां स्याच्च तरलनिर्गमः ॥११॥
घनता येन रक्तस्य जायते तदनन्तरम्।
अनेन हेतुना तत्र विषस्य च प्रभावतः ॥१२॥
वृक्कयोर्मूत्रनिर्मित्याः संरोधः खलु जायते।
येन मूत्रप्रवृत्तेर्हि तत्राभावः प्रजायते ॥१३॥
अन्तस्तापो वहिः शीतमल्पयोस्तरलरक्तयोः।

कीटाणु अन्नमार्ग से जाकर अन्त्र में ठहर जाते हैं, और वहीं वढ़ कर विष को रक्त में फैला देते हैं, तब विसूचिका की उत्पत्ति हो जाती है, यह विद्वानों का कथन है। किन्तु दूसरे विद्वान् कहते हैं कि विष क्षुद्रान्त्र में ही रहता है और वहीं ठहर कर विसूचिका को उपजा देता है, एवं इस प्रकार रोग की उत्पत्ति होती है। इसके बाद क्षुद्रान्त्र में स्थित ग्रन्थियों में तथा उदरककला में होने वाली लसीकोत्पादक ग्रन्थियों में सूजन हो जाती है। तब वमन और अतीसार से तरल निकल जाता है, जिससे रक्त गाढ़ा हो जाता है। इसके बाद वहां इसी कारण तथा विष के प्रभाव से वृक्कों में मूत्रनिर्माण बन्द हो जाता है जिससे इस रोग में मूत्र नहीं आता। तरल और रक्त की न्यूनता हो जाने से बाद में इस रोग में अन्दर ताप और बाहर शीतता होती है।

विसूच्याः पूर्वलक्षणमाह—

पूर्वं नाशः क्षुधायास्तु तृष्णाधिक्यं तथैव च।
हृल्लासो वलहानिश्चाऽरतिश्चोजोविनाशनम् ॥१४॥
पूर्वरूपाणि

पहले क्षुधानाश, फिर तृषाधिक्य, तदनु हृल्लास, बलहानि, अरति और ओजोनाश, ये पूर्वरूप होते हैं।

विसूच्या लक्षणमाह—

रूपं हि विसूच्याः संप्रदर्श्यते।
क्वचित्स्यादतिसारो हि क्वचिद्वा केवला वमिः ॥१५॥

उग्रे रूपे गदस्यास्य मरणञ्च मुहूर्ततः।
तथाविधेऽस्मिन्सञ्जाते रोगे च बहुदारुणे ॥१६॥
रोगाक्रान्तशरीराश्च म्रियन्ते हि सहस्रशः।
विसूच्याश्चापि रूपाणि पूर्वोक्तान्यखिलान्यपि ॥१७॥
साध्यासाध्यस्वरूपाणि ज्ञेयान्यत्र विचक्षणैः।
केचिन्मन्देऽपि रोगेऽस्मिन् यान्ति भयेन पञ्चताम् ॥१८॥
सुखार्थं कैश्चिदस्यानु चतुर्था क्रियते तनुः।
तद्ज्ञानं मनुजैः कार्यं तेषां निर्मितितः खलु ॥१९॥

अब विसूचिका लक्षण बताया जाता है कि इसमें कहीं अतिसार और वमन दोनों होते हैं, और कहीं २ केवल वमन ही होता है। इस व्याधि का रूप यदि उग्र हो जावे तो मनुष्य क्षण भर में ही मर जाता है। इस प्रकार के दारुण रोग हो जाने पर इससे आक्रान्त शरीर वाले हज़ारों मनुष्य मर जाते हैं। पूर्वोक्त विसूची के साध्य और असाध्य रूप वाले सम्पूर्ण लक्षण भी इसमें जानने चाहिएं। कई विद्वानों ने सुखज्ञानार्थ इसका स्वरूप चार प्रकार का माना है, मनुष्यों को चाहिए कि उनका ज्ञान उन्हीं के ग्रन्थों से करें।

इति श्रीदीनानाथशर्मविग्रथिते निदानपरिशिष्टे औपसर्गिकविसूचिकानिदानम्।

उरस्तोयनिदानम्।

अस्य निदानपूर्विकां सम्प्राप्तिमाह—

आनुबन्ध्येन रोगोऽयं ज्वरादिषूपजायते।
क्वचिद्वाह्यसमुत्थानैर्गुप्तरोगैरथापि च ॥१॥
उरस्येकतरे पार्श्वे पार्श्वयोर्वाप्यपां चयः।
उरस्तोयगदे स्यात्तु प्रायशः प्राणनाशनः ॥२॥

यह रोग ज्वर आदि व्याधियों में अनुबन्ध रूप से तथा कहीं २ आघात आदि बाह्य कारणों से एवं कहीं २ गुप्तरोगों से होता है। इस उरस्तोय नामक व्याधि में उरःस्थल के किसी एक पार्श्व में अथवा दोनों पार्श्वों में जलीय धातुओं का चय हो जाता है, जो कि प्रायः प्राणनाशक होता है।

वक्तव्य—विषमज्वर, अतिसार, प्रवाहिका, प्लीहा, पाण्डु, शोथ, अर्बुद, हृद्रोग, उदररोग, यकृद्रोग और वृक्करोग में यह उरस्तोयनामक विकार उपद्रव रूप से होता है, तथा बाह्य आघात आदि द्वारा कीटाणु फुफ्फुसावरण में जाकर इस रोग को उपजा देते हैं, एवं फिरङ्ग आदि गुप्त रोगों में भी यह हो जाता है। इस रोग का क्षयरोग में होना आवश्यक सा है। 'अपां चयः' से यहां जलीय वा तरल धातुओं का चय लेना चाहिए, एवं पूयमय, रक्तमय और साधारण तरलमय इन तीनों का ही ग्रहण हो जाता है। वस्तुतः यह रोग दो प्रकार से होता है—१ शुष्क २ आर्द्र। कई आचार्य इन दोनों को फुफ्फुसावरण प्रदाह कहते हैं, किन्तु कइयों का विचार है कि शुष्क फुफ्फुसावरण प्रदाह है, और आर्द्र

१ Pleurisy.

उरस्तोय। आगे चल कर आचार्यों ने शुष्क के दो भेद किए हैं। एक—बिलकुल शुष्क और दूसरा—फाइब्रीनस (Fibrinous)। एवं आर्द्रभेद तीन प्रकार का होता है। एक—केवल तरलमय, दूसरा—पूयमय और तीसरा—रक्तमय। इनमें से सामान्यतः शुष्क और तरल ही देखने में आते हैं। शेष विरलावस्था में होते हैं। अतः यहां 'अपां चयः' से केवल तरल भी लिया जा सकता है। यहां यह अवधेय है कि उपर्युक्त दोनों से भी आर्द्र का अधिक दर्शन होने से यहां वर्णन भी उसी का है। इनका विशेष विवरण पाश्चात्य ग्रन्थों में से वा डाक्टर आशानन्दजी निर्मित व्याधिविज्ञान में से देखें।

उरस्तोयस्वरूपमाह—

उरस्तोये हि कृच्छ्रत्वं श्वासस्य कफनिस्रवः।
आस्योष्ठयोश्च नीलत्वं पिपासा पादशोफता॥३॥
धरा सूक्ष्मतरा शीघ्रगामिनी विषमा तथा।
स्वैरं स्वैरं तथा स्वैरं मूत्रं कृच्छ्रात्प्रवर्तते॥४॥
शयानस्य न सौख्यं स्यादासीनो लभते सुखम्।
एवं कष्टतमो रोग उरस्तोयाभिधो मतः॥५॥

उरस्तोय नामक रोग में श्वास कठिनता से आता है, कफ बहता रहता है, मुख और ओष्ठ नीले हो जाते हैं, प्यास लगती है, पैर सूज जाते हैं, नाड़ी सूक्ष्मतर शीघ्रगामिनी एवं विषम हो जाती है, मूत्र धीरे धीरे, मात्रा में न्यून एवं लग कर आता है। इस रोग में सोते हुए मनुष्य को सुख नहीं होता किन्तु बैठा हुआ कुछ सुखी होता है। इस प्रकार उरस्तोय नामक रोग कष्टतम माना गया है।

इति श्रीदीनानाथशर्मविग्रथिते निदानपरिशिष्टे उरस्तोयनिदानम्।

अथ फुंफ्फुसावरणप्रदाहनिदानम्।

अस्य परिचयमाह—

उरस्तोयाभिधे रोगे हेतुर्यः प्रतिपादितः।
तेनैव हेतुना चात्र रोगं जनयन्ति कीटकाः॥१॥
तद्वच्च प्रसरं प्राप्यावरणं तरलेन हि।
पूरयन्ति च तत्पश्चाच्छुष्कतां गच्छति द्विधा॥२॥
सर्वतः प्रथमस्तत्र द्वितीयोऽसर्वतस्तथा।
सामान्यं प्रोच्यते लिङ्गं तयोर्विद्वत्प्रकीर्तितम्॥३॥

उरस्तोय नामक रोग में जो कारण कहा गया है, उसी कारण से यहां पर भी कीटाणु रोग को उत्पन्न कर देते हैं और वे कीटाणु उसी प्रकार प्रसार करके फुप्फुसावरण को तरल से पूर्ण कर देते हैं, और बाद में वह तरल दो प्रकार से सूख जाता है, जिनमें से एक सम्पूर्ण शुष्कता होती है, और दूसरी असम्पूर्ण शुष्कता होती है। अब उन दोनों के लक्षण, जो कि विद्वानों ने बताए हैं, समान्यतयाः कहे जाते हैं।

---

१ Pleurisy Dry.

अस्य लक्षणमाह—

पार्श्वशूलं तथा कासो ज्वरश्चान्तःप्रपीडनम् ।
शयानो रुग्णपार्श्वेण लभते पुरुषः सुखम् ॥४॥
स्पर्शे च घर्षणप्राप्तिः ठेपने ठोसशब्दता ।
श्रवणे घर्षणप्राप्तिः स्याच्च श्रवणयन्त्रतः ॥५॥

इस रोग में पार्श्वशूल, कास, ज्वर और अन्दर (शोथयुक्त स्थान में) पीड़ा होती है। इसमें मनुष्य रुग्णपार्श्व से सोने पर सुखी होता है । स्पर्श परीक्षा से घर्षण शब्द सुनाई देता है, ठेपन करने पर ठोस शब्द सुनाई देता है, एवं श्रवणयन्त्र (स्टैथ्सकोप) द्वारा शब्द सुनाई देता है ।

वक्तव्य—स्पर्शन—ठेपन और श्रवण; तथा घर्षण एवं ठोस ये पारिभाषिक शब्द हैं। इनका विशेष विवेचन अन्य पुस्तकों में मिलेगा ।

इति श्रीदीनानाथशर्मविग्रथिते निदानपरिशिष्टे फुफ्फुसदाहनिदानम् ।

अथ स्मरोन्मादनिदानम् ।

अस्य निदानमवतारयति—

उन्मादो दयिताऽप्राप्तेः शुक्रस्य विकृतेरपि ।
जननेन्द्रियदोषाच्च वैगुण्यादनिलस्य च ॥१॥
पुरुषस्य तथा नार्याः स्मरोन्माद इतीरितः ।

दयिता की प्राप्ति न होने पर वा शुक्र की विकृति होने पर अथवा जननेन्द्रिय के दोष से वा वायु की विगुणता के कारण पुरुषों को एवं स्त्रियों को उन्माद हो जाता है। यह स्मरोन्माद कहलाता है ।

स्मरोन्मादस्य लक्षणमाह—

स्तब्धता कम्पनं श्वासः प्रलापः पाण्डुता तथा ॥२॥
अधैर्यं रोदनं चिन्ता दृश्यते स्मरजे मदे ।

स्तब्धता, कम्पन, श्वास, प्रलाप, पाण्डुत्व, अधीरता, रोदन और चिन्तन ये लक्षण स्मरोन्माद में दीखते हैं ।

स्मरोन्मादस्यावस्थामाह—

चक्षूरागस्तदनु मनसः सङ्गतिर्भावना च
व्यावृत्तिः स्यात्तदनु विषयग्रामतश्चित्तखेदात् ।
निद्राछेदस्तदनु कृशता निस्त्रपत्वं ततोऽप्यु-
न्मादो मूर्च्छा तदनु मरणं स्युर्दशास्तत्क्रमेण ॥३॥

इसमें पहले आंखों द्वारा प्रेम होता है, फिर उस ओर मन की लग्नता होती है, पुनः तद्विषयक सङ्कल्प उठते हैं, तदनु विषय से निवृत्ति होती है, फिर चित्त की खिन्नता के कारण नींद नहीं आती, पुनः कृशता होने लगती है, तदनु निर्लज्जता आ जाती है,

फिर उन्माद, पुनः मूर्च्छा और उसके बाद मरण भी हो जाता है, एवं इसमें ये दस दशाएं क्रमशः होती हैं।

इति श्रीदीनानाथशर्मविग्रथिते निदानपरिशिष्टे स्मरोन्मादनिदानम्।

अथ भ्रमोन्मादादिनिदानम्।

भ्रमोन्मादो जडोन्मादो गर्भयौवनजौ तथा।
उन्मादौ प्रसवोन्मादप्रभृतयोऽपरे मताः।
व्यञ्जनानि तु सर्वेषां भवन्त्यावस्थिकानि च ॥१॥

भ्रमोन्माद, जड़ोन्माद, गर्भोन्माद, यौवनोन्माद और प्रसवोन्माद प्रभृति अन्य उन्माद भी होते हैं; और उन सब के लक्षण अवस्थानुसार भिन्न २ होते हैं।

इति श्रीदीनानाथशर्मविग्रथिते निदानपरिशिष्टे भ्रमोन्मादादिनिदानम्।

अथ महागदनिदानम्।

अस्य पर्यायानाह—

महागदो गदोद्वेगोऽथातत्त्वाभिनिवेशता।
विक्षिप्तता तथा स्याच्च न्यूरस्थीनियनामकः ॥१॥
अपदार्थगदश्चायं रोगो नाम्ना प्रकीर्तितः।
महागदो गदोद्वेगो बहुभिर्मन्यते पृथक् ॥२॥
सूक्ष्मदृष्ट्या तु भेदोऽत्र नैव कश्चित् प्रदृश्यते।
तत्रापि विषमा बुद्धिर्मताऽत्रापि तथैव च ॥३॥
महागदेऽभिव्याप्नोति गदोद्वेगो गदः खलु।
तथापि सुखज्ञानार्थं पृथगेव प्रदर्श्यते ॥४॥

यह रोग; महागद, गदोद्वेग, अतत्त्वाभिनिवेश, विक्षिप्तता, न्यूरस्थीनिया और अपदार्थगद इन नामों से कहा जाता है। बहुत से विद्वानों ने महागद और गदोद्वेग को पृथक् पृथक् माना है, किन्तु सूक्ष्मदृष्टि से देखने पर यहां कोई भेद नहीं दिखाई देता; क्योंकि महागद में भी बुद्धि विषम होती है, और गदोद्वेग में भी बुद्धि विषम होती है, प्रत्युत महागद में गदोद्वेग व्याप्त हो जाता है, किन्तु फिर भी सुखज्ञान के लिए इन्हें यहां पृथक् पृथक् ही कहा जाता है।

महागदमभिवर्णयति—

मलिनाहारशीलस्य वेगान् प्राप्तान्निगृह्णतः।
शीतोष्णस्निग्धरूक्षाद्यैर्हेतुभिश्चातिसेवितैः ॥५॥
हृदयं समुपाश्रित्य मनोबुद्धिवहाः शिराः।
दोषाः सन्दूष्य तिष्ठन्ति रजोमोहावृतात्मनः ॥६॥

रजस्तमोभ्यां वृद्धाभ्यां बुद्धौ मनसि चावृते ।
हृदये व्याकुले दोषैरथ मूढोऽल्पचेतनः ॥७॥
करोति विषमां बुद्धिं नित्यानित्ये हिताहिते ।
अतत्त्वाभिनिवेशं तमाहुराप्ता महागदम् ॥८॥

जो नित्य मलिन आहारसेवी होता है, जो प्राप्त वेगों को निग्रह किए रहता है, एवं शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्षादि हेतुओं को अतिसेवन करता है, उसके दुष्टदोष हृदय में आश्रित हो मन और बुद्धिवह सिराओं को दूषित कर ठहर जाते हैं। तदनु रजोगुण तथा मोहव्याप्त आत्मा से तथा प्रवृद्ध रज और तम से बुद्धि और मन के व्याप्त हो जाने पर एवं दोषों से हृदय के व्याकुल हो जाने पर मूढ़ एवं स्वल्प चेतना वाला वह मनुष्य नित्य और अनित्य में तथा हित और अहित में विपरीत बुद्धि कर लेता है। इस महागद व्याधि को आप्त मनुष्य अतत्त्वाभिनिवेश कहते हैं।

गदोद्वेगमभिवर्णयति—

चेतसोऽत्यन्तदौर्बल्यान्मस्तिष्कस्य च सम्भ्रमात् ।
मुधा वैचारिको रोगो गदोद्वेगः प्रकीर्तितः ॥९॥
अत्रैव प्रोच्यते कैश्चिदिदमस्य हि वर्णनम् ।
विना व्याधिं व्याधिशङ्का गदोद्वेग इतीरितः ॥१०॥
पदार्थत्वाभाववत्त्वादपदार्थगदश्च सः ।

मन की अत्यन्त दुर्बलता के कारण और मस्तिष्क के सम्भ्रम के कारण व्यर्थ कल्पनामात्र से होने वाला रोग गदोद्वेग कहलाता है। कई विद्वानों ने यहां इसका वर्णन इस प्रकार किया है कि व्याधि के बिना ही व्याधि की शङ्का होनी गदोद्वेग कहलाता है। इसमें किसी व्याधि विशेष (पदार्थ) के न होने से यही अपदार्थगद भी कहलाता है।

गदोद्वेगस्य निदानमाह—

कायिको हार्दिको वापि श्रमः शोको बलक्षयः ॥११॥
आशारज्जोस्तु सञ्छेदो मानहानिर्महाभयम् ।
दुर्दैवं बीजदोषश्च तथा सत्त्वस्य शून्यता ॥१२॥
गदोद्वेगगदस्यैते हेतवो मुनिभिर्मताः ।

शारीरिकश्रम, मानसिकश्रम, शोक, बलहानि, निराशता, अपमान, अत्यन्तभय, विधि वामता और सत्त्वहानि, मुनियों ने ये गदोद्वेग नामक रोग के कारण माने हैं।

गदोद्वेगस्य लक्षणमाह—

अद्भुतस्यास्य रोगस्य लक्षणान्यद्भुतानि हि ॥१३॥
यस्य रोगस्य स्याद्ध्यानं लक्षणं चात्र तादृशम् ।
कोऽप्यत्र मन्यते नूनं सर्पं विष्टं निजोदरे ॥१४॥
जानाति च भ्रमन्तं तं खाद्यमानञ्च खादितम् ।
किं निर्यास्यति केनाद्धा केनोपायेन नंक्ष्यति ॥१५॥
किं करिष्यति नो जाने स्यां न दष्टो यतस्ततः ।

केनोपायेन नाशः स्याज्जठरस्थस्य तस्य वै ॥१६॥
ध्रुवं मृत्युर्मदीया हि भविताऽनेन हेतुना।
इति विचारयन् कश्चित् सततं दुःखमश्नुते ॥१७॥
कश्चिन्मन्यते चात्र मस्तिष्के भेकसङ्गतिम्।
अनुभवति मस्तिष्कं छित्वा मां नु हनिष्यति ॥१८॥
कश्चिद्धि मन्यते कायां स्वीयां काचमयीं खलु।
अतस्तस्य स रक्षायै कामं प्रयतते सदा ॥१९॥
इत्येवं बहुरूपाभिर्मुधा चिन्ताभिराकुलः।
गदोद्वेगी सदा भीतोऽसुखी शुष्येद्दिवानिशम् ॥२०॥
बहुधा सान्त्वनैर्वाक्यैः सान्त्वितोऽपि पुनः पुनः।
स्वान्ताद्भ्रममपाकर्तुं न स शक्नोति दुर्भयम् ॥२१॥
योऽस्मै बोधयेद् भ्रान्तिं तस्मै(तं हि)द्रुह्यति नित्यशः।
यश्चास्मिन्मन्यते व्याधिं स तस्मै रोचते भृशम् ॥२२॥

इस अद्भुत रोग के लक्षण भी अद्भुत ही होते हैं । इस रोग में मनुष्य को जिस रोग का ध्यान आ जाता है, उसमें लक्षण भी वैसे ही प्रतीत होने लगते हैं (अर्थात् रोगी स्वयं वैसे ही लक्षणों को अनुभव करने लगता है)। कोई रोगी इस रोग में यह समझने लगता है कि मेरे पेट में सांप प्रविष्ट हुआ है, और समझता है कि वह सांप मेरे पेट में घूम रहा है, और जो कुछ मैंने खाया है अन्दर बैठा हुआ वह उसे खाए जाता है, क्या यह बाहर निकल जावेगा ? यदि निकलेगा तो किस मार्ग से निकलेगा ? वा यह किस उपाय से नष्ट होगा ? यह क्या करेगा ? यह भी मैं नहीं जानता । मैं कहीं उसी से काटा तो न जाऊंगा। उस उदरस्थ सांप का किस प्रकार नाश हो सकता है। मेरी मृत्यु अवश्य इसी सांप के कारण ही होगी । यह सब कुछ सोचता हुआ हमेशा दुःखी रहता है। एवं कोई २ यहां पर यह समझता है कि मेरे मस्तिष्क में मेंढक चला गया है, और यह मेरे मस्तिष्क को छिन्न कर मुझे मार देगा। कोई २ इस रोग में अपने शरीर को काचमय हो गया समझता है, अतः वह उसकी रक्षा के लिए सदा बहुत ही चेष्टा करता है। इस प्रकार बहुत प्रकार की व्यर्थ चिन्ताओं से व्याकुल हुआ २ गदोद्वेगी सर्वदा भीत रहने वाला एवं दुःखित हुआ २ प्रत्यहं सूखता जाता है। वह रोगी बहुत बार सान्त्वना वाक्यों से सान्त्वित करने पर भी अपने मन से भ्रम को दूर करने में समर्थ नहीं होता। एवं जो उसे यह कहता है कि तुझे यह भ्रम है, उससे यह शत्रुता करने लगता है, और जो इसके कथनानुसार व्याधि को मान लेता है वह उस रोगी को अच्छा लगता है।

तदेव पुनराह—

रुजा कष्टतरा तस्य पक्काशये प्रतीयते।
जिह्वा कफेन लिप्ता स्यात्तथा स्याच्छ्वासपूतिता ॥२३॥
उत्क्लेशः छर्दनञ्चैव जीर्णचिह्नं भवेदिदम्।
प्राखर्यं स्पर्शशक्तेश्च पाण्डुता चोदरामयः ॥२४॥
हृदि संघातवान् व्याधिः केन चाप्यनुभूयते।

गदोद्वेगवतान्येन पुरुषत्वास्य संक्षयः ॥२५॥
ज्वरः सततकोऽन्येन दुष्प्रतीकार्य एव च ।
किमाश्चर्यं धूननाद्यं जायते च तदा तदा ॥२६॥
इत्थं हि विविधा रूपा आमयाः कल्पनाभवाः ।
भ्रमरूपा हि जायन्ते निस्सत्त्वानाममेधसाम् ॥२७॥
साकल्येन व्याधयश्चात्र वक्तुं नैव प्रभूयते ।
विद्वद्भिर्लक्षणीयास्ते यथास्वं दोषलक्ष्मभिः ॥२८॥
कैशोरे वयसि नैव नापि जरसि जायते ।
गदोऽयं, ज्ञायते प्रायो हेतुरत्र मनोगतिः ॥२९॥
रजःप्रसेकान्नारीणां मासि मासि विशुध्यति ।
धातुव्यूहरतो तासु भवेत्प्रायो मनोगदः ॥३०॥

इस रोग से ग्रस्त रोगी को पक्काशय में अतिदारुण व्यथा प्रतीत होती है, उसकी जिह्वा कफ से लिप्त रहती है एवं उसका श्वास दुर्गन्धित होता है । इसमें उत्क्लेश और वमन भी होता है, यह जीर्णता का लक्षण है । इसमें कोई २ प्रखर स्पर्शशक्ति, पाण्डुता, जलोदरादि व्याधियां और हृदय में संघातिक व्याधि को अनुभव करता है । किसी २ में पुरुषत्व का नाश, किसी २ में दुष्प्रतिकार्य सततक ज्वर की प्रवृत्ति और किसी २ में कम्पन आदि भी होता है । इस प्रकार अनेक रूपों वाली काल्पनिक व्याधियां निस्सत्त्व एवं मूर्ख मनुष्यों में भ्रमवश ही हो जाती हैं । इसमें व्याधियों की सम्पूर्णता नहीं कही जा सकती । अतः विद्वान् दोषों के लक्षणों को देखकर उनका ज्ञान कर लें । यह रोग किशोरावस्था में वा वृद्धावस्था में नहीं होता । इसमें कारण प्रायः मन की गति है । मास मास के बाद आर्तव के आने से स्त्रियों का धातुसमूह शुद्ध हो जाता है । अतः इनमें यह व्याधि प्रायः नहीं होती ।

इति श्रीदीनानाथशर्मविग्रथिते निदानपरिशिष्टे महागदनिदानम् ।

अथ वृक्करोगनिदानम् ।

वृक्करोगस्य पूर्वरूपमाह—

शोथो नेत्रास्यपादेषु वह्निमान्द्यं तथैव च ।
निद्रानाशस्त्वचा रूक्षा स्तब्धोष्णा वेगिनी धरा ॥१॥
पूर्वलिङ्गानि स्युरत्र

नेत्र (कूटों) पर, मुख पर, एवं पाँवों पर सूजन, अग्निमान्द्य, निद्रानाश, त्वग्रूक्षता, नाड़ी का स्तब्ध उष्ण एवं वेग वाली होना इसके पूर्वरूप हैं ।

वृक्करोगस्य लक्षणमाचष्टे—

लक्षणं चाथ वक्ष्यते ।
रक्तहानेश्च पाण्डुत्वं मुखस्याग्नेश्च हीनता ॥२॥
स्वेदह्रासस्त्वचो रौक्ष्यं धरा च वेगिनी भवेत् ।

वृक्कस्थाने च कट्यां च तथा स्यादुदरे व्यथा ॥३॥
सपीडमुष्णमूत्रं च मुहुः स्रवति विन्दुशः ।
वृक्कयोरश्मरीयोगात् शिश्नाग्रे जायते व्यथा ॥४॥
कदाचिदथवा दाहो कदाचित्तीव्रलक्षणम् ।
कदाचिद्रक्तमूत्रं स्याच्छैत्यञ्च करपादयोः ॥५॥
वृक्कयोः कार्यशैथिल्यात् यकृत्प्लीहहृदां खलु ।
दारुणो जायते रोगः स्वस्वलक्षणलक्षणः ॥६॥
कर्णनादोऽक्षिरोगश्च मोहो भङ्गो ध्वजस्य च ।
शाखासु गौरवं मूर्च्छा शिरोग्रीवांसवेदना ॥७॥
वृक्करोग इमानि स्युर्लक्षणानि विशेषतः ।
रक्तस्य परिवृत्त्या हि जायते वृक्कवैकृतम् ॥८॥

अब वृक्करोग का लक्षण कहा जाता है । रक्त की क्षीणता के कारण मुख पाण्डुवर्ण का हो जाता है, अग्नि मन्द हो जाती है, पसीना कम आता है, त्वचा रूक्ष होती है, धमनी वेगवती हो जाती है, वृक्कस्थान—कटी और उदर में पीड़ा होती है, मूत्र उष्णता लिए हुए पीड़ा से बार बार बूँद बूँद करके आता है । वृक्कों में अश्मरी के होने से शिश्न के अग्रभाग में पीड़ा होती है, अथवा कभी २ शिश्न के अग्रभाग में दाह होता है और कभी इस अवस्था में उपर्युक्त लक्षण तीव्ररूप में हो जाते हैं । इसी अवस्था में कभी २ रक्तान्वित मूत्र आता है तथा हाथ पैर ठण्डे हो जाते हैं । जब वृक्कों के कार्य में शिथिलता आ जाती है तो यकृत्, प्लीहा और हृदय में दारुणरोग हो जाता है, जो कि अपने अपने लक्षणों से चिह्नित होता है । कर्णनाद, नेत्ररोग, मोह, ध्वजभङ्ग, शाखागौरव, मूर्च्छा, शिरोवेदना, अंसवेदना और ग्रीवावेदना होती है । एवं ये लक्षण वृक्करोग में होते हैं । विशेषतः यह रोग रक्त की परिवृत्ति से होता है ।

इति श्रीदीनानाथशर्मविग्रथिते निदानपरिशिष्टे वृक्करोगनिदानम् ।

अथ अग्न्याशयरोगनिदानम् ।

अग्न्याशयस्य लक्षणमाह—

सम्प्रत्यग्न्याशयो यः सः क्लोमनाम्नाभिधीयते ।
प्राक्तनं क्लोम कुत्रास्ति नचाद्याप्यवधार्य्यते ॥१॥
साम्प्रतिकन्तु यत्क्लोम तच्चैवात्र निगद्यते ।
अधस्तु दक्षिणे भागे हृदयात्क्लोम तिष्ठति ॥२॥
अपां वाहि सिरामूलं तृष्णोत्पादनकृन्मतम् ।

जो अग्न्याशय है वह आजकल क्लोम के नाम से कहलाता है । पूर्वाचार्यों का माना हुआ क्लोम कहां पर है, इसका निश्चय अभी तक नहीं हुआ । आज कल जिसे क्लोम माना जाता है वही यहां कहा जाता है कि—हृदय के दक्षिण भाग में नीचे की ओर क्लोम होता है । वह क्लोम जलवाही सिराओं का मूल है तथा तृष्णोत्पादक है ।

अग्न्याशयरोगनिदानमाह—

तच्चातिस्निग्धगुरुभिरन्नैरत्यर्थसेवितैः ॥३॥
अभिघातादिभिश्चैव प्राप्नोति वृद्धिमार्दवे ।
शोणितस्य च संघातो विद्रधिश्चापि जायते ॥४॥
अन्ये चैवं विधा रोगाः स्युरस्मिन्नतिदारुणाः ।

वह क्लोम अतिस्निग्ध एवं अतिगुरु अन्नों के अत्यन्त सेवन से तथा अभिघात आदि के कारण वृद्धि और मृदुता को प्राप्त कर लेता है। इसी प्रकार इसमें रक्तसंघात तथा विद्रधि भी हो जाती है, तथा इसमें इसी प्रकार के अन्य दारुण रोग भी हो जाते हैं।

अग्न्याशयरोगस्य लक्षणमाह—

अस्मिन् रोगे तु वह्नेः स्यात् सादः कार्श्यञ्च पाण्डुता ॥५॥
सादो भ्रमश्च काठिन्यमौष्ण्यमूर्ध्वोदरे तथा ।
उत्क्लेशो वमनश्चापि भवेदत्र च कामला ॥६॥
विद्रधेर्विकृतौ तत्र शूलाध्मानौ तृषाधिका ।
अश्मरीसदृशा घोरा शिला स्यात्तत्र कष्टदा ॥७॥

इस रोग में अग्निमान्द्य, कृशता, पाण्डुत्व, साद, भ्रम, ऊर्ध्वोदर में कठिनता, ऊर्ध्वोदर में उष्णता, उत्क्लेश, वमन और कामला हो जाता है। वहां विद्रधि की विकृति में शूल, आध्मान, पिपासातिशय और अश्मरी के समान घोर शिला हो जाती है।

इति श्रीदीनानाथशर्मविग्रथिते निदानपरिशिष्टे अग्न्याशयरोगनिदानम्।

अथ तान्तविकरोगनिदानम्।

अस्य निदानसम्प्राप्तिपूर्वलिङ्गमाह—

अतिवर्षादिभिः प्रायो दुष्टं हि वारिसेवनात् ।
शाखासु कुपितो दोषः शोफं कृत्वा विसर्पवत् ॥१॥
भिनत्ति तत्क्षते तत्र सोष्मस्नायुं विशोष्य च ।
श्वेतं तन्तुनिभं कुर्याज्जीवं हि वर्तुलं बहिः ॥२॥
स्वैरं स्वैरं निस्सरति क्षतात्, छेदाच्च कुप्यति ।
तस्मिन्निस्सरिते शान्तिर्भवनं स्थानान्तरे पुनः ॥३॥
भवेच्च स्नायुके रोगे, त्रुटिते चाथ कथ्यते ।
बाह्वोर्यदि प्रमादेन त्रुट्यते जङ्घयोरपि ॥४॥
सङ्कोचं खञ्जताञ्चैव छिन्नश्चाथ करोत्यसौ ।

अतिवर्षादि के कारण दूषितजल के सेवन से कुपितदोष शाखाओं में विसर्प [illegible]सी सूजन कर फाड़ देता है, एवं उस सूजन के फट जाने पर वहां की स्नायु को सुखाकर [illegible]तन्तु के समान एवं गोल जीव को त्वचा से बाहर कर देता है और वह तन्तु धीरे धीरे [illegible] क्षत से निकल आता है, किन्तु काट देने पर प्रकुपित हो जाता है। उसके निकल जाने [illegible] शान्ति हो जाती है तथा पुनः वह किसी दूसरे स्थान से निकलना आरम्भ हो जाता है।

उसके टूट जाने पर क्या होता है? इस विषय में यह कहा जाता है कि यदि प्रमादवश वह बाहुओं में वा जङ्घाओं में टूट जाता है तो वह टूटा हुआ बाहु सङ्कोच और खञ्जत्व कर देता है।

वातादिभेदेन तस्य लिङ्गमाह—

श्यावो रूक्षो रुजायुक्तो भवति वायुना स वै ॥५॥
सदाहो नीलिमायुक्तः पीतश्च वायुना भवेत्।
पृथुः श्वेतो गरीयाँश्च श्लेष्मणा स्नायुको मतः ॥६॥
रक्तकान्तिश्च रक्तेन बहुदाहयुतश्च सः।
द्वन्द्वेन द्वन्द्वलिङ्गः स्यान्निचयेन त्रिलिङ्गकः ॥७॥
रोगोऽयमष्टधा प्रोक्तो मुनिभिः स्नायुसंज्ञकः।
बहूपद्रवसंयुक्तः प्राणहा हि भवेदयम् ॥८॥

वह तन्तुक वायु के कारण श्याव, रूक्ष एवं पीड़ान्वित होता है; पित्त के कारण दाहान्वित, नीलिमान्वित, एवं पीतवर्ण होता है; श्लेष्मा के कारण स्थूल, श्वेत एवं भारी होता है; रक्त के कारण लालवर्ण का एवं अत्यधिक दाह वाला होता है, द्वन्द्व के कारण द्वन्द्व के लक्षणों वाला और सन्निपात के कारण सान्निपातिक लक्षणों वाला होता है। एवं यह स्नायुसंज्ञक रोग मुनियों ने आठ प्रकार का कहा है, और यह रोग जब बहुत से उपद्रवों वाला हो जाता है तो प्राणहर बन जाता है।

इति श्रीदीनानाथशर्मविग्रथिते निदानपरिशिष्टे स्नायुकरोगनिदानम्।

अथ चुल्लिकाग्रन्थिरोगनिदानम्।

अस्य परिचयं रोगाँश्चाह—

ग्रीवायां चुल्लिकाग्रन्थिः स्यात् स्वरयन्त्रसन्निधौ।
रसोऽस्य बहुलाभाय शरीरे जायते खलु ॥१॥
अस्य स्युर्द्विविधा रोगा रसस्य वृद्धिहानिजाः।
वहिर्नेत्रगले गण्डस्तत्र वृद्धिनिमित्तजः ॥२॥
श्लैष्मिक आर्द्रशोथश्च वामतत्त्वमथापि च।
गलगण्ड इमे रोगास्त्रयो हानिनिमित्तजाः ॥३॥
गलगण्डे तु जायेत ग्रन्थेर्वृद्धिर्विशेषतः।
लक्षणानि तु सर्वेषां वक्ष्यन्तेऽत्र क्रमेण वै ॥४॥

ग्रीवा में स्वरयन्त्र के समीप (अर्थात् सामने नीचे की ओर) चुल्लिका नाम वाली एक ग्रन्थि होती है। इसका रस शरीर में बहुत लाभ के लिए होता है। रसवृद्धिनिमित्तज और रसहानिनिमित्तज भेद से इसके दो प्रकार के रोग होते हैं। उनमें वहिर्नेत्र गलगण्ड नामक रोग रस की वृद्धि के कारण होता है; और श्लैष्मिक आर्द्रशोथ, वौनापन तथा गलगण्ड ये तीन रोग रस की हानि के कारण होते हैं। गलगण्ड में (पूर्व दो रोगों की अपेक्षा)

---

१ Thyroid gland.

यह विशेषता है कि इसमें चुल्लिकाग्रन्थि विशेषरूप से बढ़ जाती है। अब यहां पर इन रोगों के लक्षण क्रमशः बतलाए जाते हैं।

बहिर्नेत्र गलगण्ड Fxopthalmic goitre.

अथ निदानमाह—

चिन्ताशोकभयक्रोधसेवनादतिमात्रया ।
उष्णप्रधानदेशेषु रोगोऽयमुपजायते ॥५॥
भूम्ना तत्रापि सभ्येषु स्त्रीषु तत्रापि भूयसा ।
पञ्चदशाब्दतो विंशतिर्वर्षं व्याप्य जायते ॥६॥

चिन्ता, शोक, भय और क्रोध के अत्यन्त सेवन से उष्णप्रधान देशों में यह रोग हो जाता है। सामान्य मनुष्यों की अपेक्षा यह रोग सभ्यों में अधिकतर होता है; और पुरुषों की अपेक्षा भी स्त्रियों में अधिकतर होता है। यह रोग प्रायः १५-२० वर्ष की आयु तक में होता है।

अथ सम्प्राप्तिमवतारयति—

अन्त्राद्विषं हि संलीय तथा रुगुपवृक्कयोः ।
याता, पिङ्गलनाड्यास्तु चक्रवालं हि क्षोभयेत् ॥७॥
अनेन विधिना रोगः स्यादित्याहुर्मनीषिणः ।

अन्त्र से विष लीन होकर तथा उपवृक्कों में पीड़ाएं जाकर पिङ्गल नाड़ी मण्डल को उत्तेजित कर देती हैं। तदनु इस प्रकार यह रोग हो जाता है, यह विद्वान् वैद्यों का कथन है।

अथ स्वरूपं निर्दिशति—

श्रमो मानसिकः क्षोभः कदाचिदथ पीडयेत् ।
कदाचिद्धृदये कम्पश्चक्षुर्व्युदास एव च ॥८॥
वृद्धिश्च चुल्लिकाग्रन्थेः कामशक्तेश्च हीनता ।
इतीमानि हि रूपाणि पीडयेयुर्नरानथ ॥९॥

इस रोग में मनुष्यों को श्रम, मानसिक क्षोभ, हृदय की धड़कन, आँखों का बाहर आ जाना, चुल्लिकाग्रन्थि की वृद्धि और कामशक्ति की हीनता ये रूप पीड़ित करते हैं।

वक्तव्य—श्रम वा थकावट की अवस्था में शक्ति का व्यय आहार आदि होने वाले उपचय की अपेक्षा अधिक होता है, अतः रोगी प्रतिदिन क्षीण ही होता चला जाता है। मानसिकक्षोभ—इस अवस्था में मन में विकृति आ जाती है, रोगी का स्वभाव चिड़चिड़ा वा कोमल हो जाता है, उसे अशान्ति और अवसाद अधिक तङ्ग करते हैं, जिससे कि वह कभी कभी आत्मघात के लिए भी उद्यत हो जाता है। इस अवस्था में हाथों और पाँओं में कम्पन भी होता है। हृत्कम्प—इस अवस्था में हृदय की गति ७२ से बढ़कर प्रति मिनट १२० से १५० तक हो जाती है, धमनियों की फड़कन अत्यधिक हो जाती है, बहुत देर तक यह अवस्था रहने पर हृदय दुर्बल, विस्तृत एवं मर्मरशब्दान्वित हो जाता है। चक्षुर्व्युदास—इस अवस्था में निकटस्थ वस्तु पर दृष्टि स्थिर करना कठिन है। मुँह नीचे करके ऊपर की ओर देखने से मस्तक में सिलवटें नहीं पड़तीं। इसमें निमीलन भी पूर्ण रूप से नहीं होता। चुल्लिकाग्रन्थिवृद्धि—इस अवस्था में ग्रन्थि में रक्तसञ्चार अधिक होता है।

कामशक्ति की हीनता—में कामशक्ति में कमी हो जाती है, ऐसी अवस्था में स्त्रियों को रक्तप्रदर हो जाता है; जिससे क्षीणता और भी बढ़ जाती है, तब यदि गर्भ रह जावे तो बहुत कष्ट होता है।

अत्र साध्यासाध्यत्वमाह—

मार्दवेऽस्य विकारस्य वर्षात्स्वास्थ्यं हि जायते।
तीव्रे वर्षाद्द्वयाद्वापि म्रियते व्याधितः खलु ॥१०॥

इस विकार के मृदु होने पर एक वर्ष बाद स्वास्थ्य ठीक हो जाता है, और तीव्र होने पर एक वर्ष बाद वा दो वर्ष बाद रोगी अवश्य मर जाता है।

अत्र रिष्टमाह—

गलगण्डाख्यरोगेऽस्मिन् वहिर्नेत्रपुरःस्थिते।
शक्त्या व्ययोऽधिको स्याच्च तदा तं रिष्टमादिशेत् ॥११॥

वहिर्नेत्रपूर्वक गलगण्ड नामक इस रोग में यदि शक्ति का व्यय अधिक होता है, तो इसे अधिक (शक्ति व्यय को) रिष्ट कहना चाहिए।

श्लैष्मिकार्द्रशोथं परिचाययति—

श्लैष्मिक आर्द्रशोथे तु ग्रन्थेः स्याद्रसहीनता।
स्थूलत्वञ्च गुरुत्वञ्च स्यात्कलायां तथा त्वचि ॥१२॥
इन्द्रलुप्तस्य सम्भूतिः स्यात् क्रियायां च मन्दता।

मिक्सीडीमिया रोग का परिचय यह है कि इसमें चुल्लिकाग्रन्थि का रस न्यून हो जाता है, श्लैष्मिककला तथा त्वचा में स्थूलता तथा भारीपन हो जाता है, बाल झड़ने लगते हैं एवं शारीरिक तथा मानसिक क्रियाओं में मन्दता हो जाती है।

श्लैष्मिकार्द्रशोथस्य कारणं लक्षयति—

कारणं चुल्लिकाग्रन्थेराकर्षणमशेषतः ॥१३॥
तथा चास्य स्वयं नाश आर्द्रशोथे तु श्लैष्मिके।
पुरुषापेक्षया स्त्रीषु सप्तगुणाधिको भवेत् ॥१४॥

श्लैष्मिक आर्द्र शोथ में चुल्लिकाग्रन्थि को बिलकुल निकाल देना वा चुल्लिकाग्रन्थि का स्वयं नष्ट हो जाना कारण है। यह रोग पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में सात गुणा होता है।

श्लैष्मिकार्द्रशोथस्य सम्प्राप्तिमवतारयति—

अन्तःस्था रसकर्तारः ग्रन्थ्यंशा यान्ति हीनताम्।
त्वगधो वर्तते श्लेष्मा यः स वृद्धिं समश्नुते ॥१५॥
तेनैव जायते स्थूला त्वचा च श्लेष्मला कला।
एवं रोगसमुत्पत्तिर्जायते नात्र संशयः ॥१६॥

चुल्लिकाग्रन्थि के रसनिर्मापक भीतरी अंश (सैल) क्षीण हो जाते हैं; और त्वचा के नीचे जो श्लेष्मा होती है, वह बढ़ जाती है। एवं इसी कारण त्वचा तथा श्लैष्मिक कला मोटी हो जाती है, इस प्रकार इस रोग की उत्पत्ति होती है, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

Myxoedema.

श्लैष्मिकार्द्रशोथस्य लक्षणं निरूपयति—

प्रारम्भे स्वान्तसंसादस्तथा स्या त्स्मृतिनष्टता ।
ततः शाखासु पीडा स्यात् गुरु च वर्त्ममण्डलम् ॥१७॥
त्वचा स्थूला च शुष्का च खरस्पर्शा च जायते ।
जायन्ते च तथा केशाः शुष्काः स्थूला च विकृताः ॥१८॥
तथा पतनशीलाश्च वृद्धे रोगे च जायते ।
शरीरे गुरुता चास्य रोगिणः स्याच्च मूढता ॥१९॥
आननमायतं स्थूले महत्योष्ठे च वर्ततः ।
गण्डयोर्लालिमाप्राप्तिः कर्णपाल्याश्च गौरवम् ॥२०॥
स्थूलौ करौ च पादौ च स्यातां रोम्णां च हीनता ।
द्विजानां पतनं चापि स्यात्तथा बुद्धिमन्दता ॥२१॥
करणानि तथा हृच्चाऽश्नुवते क्षीणतां ध्रुवम् ।
तापो न्यूनः क्षुधा मन्दा भूम्ना कोष्ठस्य बद्धता ॥२२॥
तथा स्यात्स्त्रीषु वन्ध्यात्वं रोगेस्मिन्नतिदारुणे ।

इस रोग की प्रारम्भिक अवस्था में मन में अवसाद एवं स्मृति में भ्रष्टता आ जाती है। इसके बाद शाखाओं में पीड़ा होने लगती है तथा पलकें भारी हो जाती हैं। इसमें त्वचा स्थूल, शुष्क एवं खरस्पर्श वाली होती है; तथा केश शुष्क, स्थूल, विकृत एवं पतनशील हो जाते हैं। रोग के और बढ़ जाने पर रोगी के शरीर में भारीपन आ जाता है; तथा उसमें मूढ़ता उपज आती है। रोगी का मुख चौड़ा, होंठ स्थूल और बड़े होते हैं। कपोलों पर लालिमा आ जाती है और कर्णपाली में गौरव आ जाता है। इसमें हाथ और पाँव मोटे हो जाते हैं, रोमों में क्षीणता, दांतों में गिरावट और बुद्धि में मन्दता आ जाती है। हृदय तथा इन्द्रियें क्षीण हो जाती है। इस अतिदारुणरोग में ताप न्यून, क्षुधा मन्द, ायः कोष्ठबद्धता और स्त्रियों में वन्ध्यात्व हो जाता है।

वामनत्वं परिचाययति—

वामने मानहीनत्वं तथा च बुद्धिमन्दता ॥२३॥
जननेन्द्रियसूक्ष्मत्वं संक्षेपेणात्र जायते ।

इस वामनपन (Cretionism बौना) में संक्षेपतः कद छोटा, बुद्धि मन्द तथा जननेन्द्रियां सूक्ष्म होती हैं।

वक्तव्य—भाव यह है कि संक्षेपतः इस रोग का परिचय यह है इसमें कद छोटा, बुद्धि मन्द तथा जननेन्द्रियों की सूक्ष्मता होती है।

वामनत्वस्य कारणं निरूपयति—

जन्मना चुल्लिकाग्रन्थिर्यस्य नास्ति नरस्य वै ॥२४॥
यस्य वा क्षीणता ग्रन्थेर्जन्मनैव भवेत् खलु ।
तं नरं हेतुना तेन वामनत्वं प्रजायते ॥२५॥
सहकारि निदानं स्यात्कुलबीजोपतप्तता ।
गलगण्डाख्यरोगेण तथा देशविशेषता ॥२६॥

जिस मनुष्य की चुल्लिकाग्रन्थि जन्म से ही नहीं होती वा जिस मनुष्य की जन्म से ही चुल्लिकाग्रन्थि की क्षीणता होती है उस मनुष्य को इस कारण से बौनापन हो जाता है। इसमें गलगण्ड नामक रोग से कुल के वीज का दूषित होना तथा देश की विशेषता सहकारी कारण है।

वक्तव्य—देश की विशेषता से यहां यह भाव है कि जिस देश में गलगण्ड रोग अधिक होता है उसमें भी यह हो जाता है।

वामनरोगस्य लक्षणं लक्षयति—

श्लैष्मिक आर्द्रशोथे हि लिङ्गान्युक्तानि यानि वै।
पुरा तानि तु वोध्यानि वामनत्वे विशेषतः ॥२७॥
लघून्यङ्गानि सर्वाणि मेदसा गर्भितानि च।
भवन्त्यत्र च वैशिष्ट्यं यत्तत्सम्प्रति कथ्यते ॥२८॥
जङ्घे वक्रे भुजे वक्र उदरे चाति गौरवम्।
त्वचा चात्र खरा स्थूला शिथिला चाथ जायते ॥२९॥
शूने नासापुटे चात्र मुखं च वर्तुलाकृतिः।
आयता नासिका चाथ ललाटस्य विशालता ॥३०॥
ओष्ठे स्थूले तथा जिह्वा स्थूला बुद्धेश्च मन्दता।
अभावोऽनुभवोत्पन्नोपलब्धेश्च प्रधानतः ॥३१॥
मेदोजो दारुणे रोगे स्वरभेदश्च जायते।
प्रजोत्पादसमर्थानां करणानाञ्च हीनता ॥३२॥
मन्दता चात्र जायेत कामशक्तेर्विशेषतः।
इतीमानि हि चिह्नानि ज्ञेयानि वामनामये ॥३३॥

जो लक्षण पहले श्लैष्मिक आर्द्रशोथ (Myxoedema) में कहे हैं, वे सब बौनेपन में स्पष्ट रूप से होते हैं। इसमें सभी अङ्ग छोटे एवं मेद से भरे हुए होते हैं। और जो यहां पर विशेषता है, अब वह कही जाती है। इसमें टांगे टेढ़ी, बाहें टेढ़ी, पेट भारी, त्वचा खर स्थूल एवं शिथिल, नथने फूले हुए, मुख गोल, नासिका चौड़ी, मस्तक चपटा, होठ मोटे, जिह्वा मोटी, बुद्धि मन्द, प्रायः स्मृतिनाश, दारुण अवस्था में मेदोज्वरभेद, जननेन्द्रियों की हीनता तथा कामशक्ति का अभाव होता है। ये लक्षण बौनापन में जानने चाहिएं।

गलगण्डमाह—

गलगण्डाख्यरोगो नु प्रोक्तो हि मुनिभिः पुरा।
तद्वदस्य स्वरूपं स्यादतो ज्ञेयस्ततो ह्ययम् ॥३४॥

गलगण्ड नामक रोग मुनियों ने पहले कह दिया है, इसका स्वरूप भी उसी जैसा है। अतः इसे वहीं से जानना चाहिए।

इति श्रीदीनानाथशर्मविग्रथिते निदानपरिशिष्टे चुल्लिकाग्रन्थिरोगनिदानम्।

---

१ Zloitre.

अथ क्लैब्यनिदानम् ।

पूर्वं क्लैब्यप्रकारानाह—

बीजध्वजोपघाताभ्यां जरया शुक्रसंक्षयात् ।
क्लैब्यं सम्पद्यते तस्य शृणु सामान्यलक्षणम् ॥१॥

ध्वजोपघात, बीजोपघात, वार्धक्य और शुक्रक्षय इन कारणों से नपुंसकता होती है। अब इनके सामान्य लक्षण कहे जाते हैं।

वक्तव्य—यद्यपि ये कारण हैं, किन्तु विशिष्ट कारण होने से नपुंसकता के प्रकार भी हैं।

क्लैब्यलक्षणमाह—

क्लीबः स्यात् सुरताशक्तस्तद्भावः क्लैब्यमुच्यते ।
न मूत्रं फेनिलं यस्य विष्ठा चाप्सु निमज्जति ॥२॥
मेढ्रश्चोन्मादशुक्राभ्यां हीनः स क्लीब उच्यते ।
सङ्कल्पप्रवणो नित्यं प्रियां वश्यामपि स्त्रियम् ॥३॥
न याति लिङ्गशैथिल्यात्कदाचिद्याति वा यदि ।
श्वासार्तः स्विन्नगात्रश्च मोघसङ्कल्पचेष्टितः ॥४॥
म्लानशिश्नश्च निर्बीजः स्यादेतत्क्लैब्यलक्षणम् ।
सामान्यं लक्षणं ह्येतत् विस्तरेण प्रवक्ष्यते ॥५॥

जो मनुष्य मैथुन करने में असमर्थ होता है, वह क्लीब होता है, और उसके भाव को क्लैब्य (क्लीबता वा क्लीबत्व) कहा जाता है। जिसका मूत्र फेनिल नहीं होता, जिसकी विष्ठा जल में डूब जाती है, एवं जिसका मेढ्र उत्थान तथा शुक्र से हीन होता है, वह क्लीब होता है। जो नित्यसङ्कल्पप्रवण मनुष्य लिङ्ग की शिथिलता के कारण प्यारी वशवर्तिनी स्त्री के पास भी नहीं जाता; और यदि कभी २ जाता भी है तो श्वासार्त, स्विन्न शरीर, विफलसङ्कल्प, विफलचेष्टित, शिथिललिङ्ग एवं निर्बीज रहता है। यह क्लैब्य का सामान्य लक्षण है, और आगे विस्तार से कहा जावेगा।

वक्तव्य—चरकादि आचार्यों ने उपर्युक्त पांच प्रकार का ध्वजभङ्ग माना है, किन्तु कई आचार्य मानस, पित्तज, शुक्रक्षयज, मेढ्ररोगज, उपघातज, शुक्रस्तम्भज, और सहजभेद सात प्रकार का नपुंसकत्व मानते हैं। ये सब भेद चरकोक्त उपर्युक्त बीजोपघात आदि में अन्तर्हित हो जाते हैं। परन्तु फिर भी सुखज्ञानार्थ इन सब का पृथक् निर्देश भी किया जावेगा। इनके अतिरिक्त सुश्रुत ने आसेक्य, सौगन्धिक, कुंभीक, ईर्ष्यक और षण्ड संज्ञक ये पांच और भी नपुंसक माने हैं। इनमें से पहले चार सशुक्र नपुंसक हैं और अन्तिम अशुक्र नपुंसक जैसे सुश्रुत ने कहा भी है कि—

आसेक्यश्च सुगन्धी च कुम्भीकश्चेर्ष्यकस्तथा ।
सरेतसस्त्वमी ज्ञेया अशुक्राः षण्डसंज्ञिताः ॥

एवं चरक ने द्विरेत, पवनेन्द्रिय, संस्कारवाही, मन्दवेगी, अल्पहर्षी, वक्री, ईर्ष्यारति और वातिक षण्डक ये ८ और भी नपुंसक बताए हैं। यद्यपि इन सब का भी अन्तर्भाव

"बीजध्वजोपघाताभ्याम्"–इत्यादि में प्रदर्शित हो जाता है, किन्तु सुखबोध के लिए इनका भी वर्णन यहां कर दिया जावेगा।

बीजोपघातजक्लैब्यमाह—

शीतरूक्षाल्पसंक्लिष्टविरुद्धाजीर्णभोजनात् ।
शोकचिन्ताभयत्रासात् स्त्रीणां चात्यर्थसेवनात् ॥६॥
अभिचारादविस्रम्भाद्रसादीनाञ्च संक्षयात् ।
वातादीनाञ्च वैषम्यात् तथैवानशनाच्छ्रमात् ॥७॥
नारीणामरसज्ञत्वात् पञ्चकर्मापचारतः ।
बीजोपघाताद्भवति पाण्डुवर्णः सुदुर्बलः ॥८॥
अल्पप्राणोऽल्पहर्षश्च प्रमदासु भवेन्नरः ।
हृत्पाण्डुरोगतमककामलाश्रमपीडितः ॥९॥
बीजोपघातजं क्लैब्यं प्रोक्तं दृढबले खलु ।

ठण्डे, रूखे, थोड़े, संक्लिष्ट, द्रव्यादि विरुद्ध तथा अजीर्ण भोजन से; शोक, चिन्ता, भय (शत्रु आदि जन्य भय), त्रास (मुधाभय) और स्त्रियों को अत्यन्त सेवन करने से एवं अभिचार, अविश्वास, रसादिकें क्षय, वातादिकों की विषमता, अल्पभोजन, परिश्रम, स्त्रियों की अरसज्ञता और वमन, विरेचन, निरूहण, अनुवासन तथा ऊर्ध्वविरेचनरूप पञ्चकर्म के अपचार के कारण उत्पन्न बीजोपघात से मनुष्य पाण्डुवर्ण, दुर्बल, अल्पप्राण और स्त्रियों में अल्पहर्ष वाला हो जाता है, तथा वह मनुष्य हृदयरोग, पाण्डुरोग, तमकश्वासरोग, कामलारोग एवं श्रमरोग से पीड़ित हो जाता है। दृढबल में (चरक में) यह बीजोपघातज क्लैव्य कहा है।

ध्वजभङ्गजक्लैब्यस्य कारणमाह—

पुनश्च कथितं तत्र ध्वजभङ्गकृतं शृणु ॥१०॥
अत्यम्ललवणक्षारविरुद्धाजीर्णभोजनात् ।
अत्यम्बुपानाद्विषमात् पिष्टान्नगुरुभोजनात् ॥११॥
दधिक्षीरानूपमांससेवनाद् व्याधिकर्षणात् ।
कन्यानां चैव गमनादयोनिगमनादपि ॥१२॥
दीर्घरोगां चिरोत्सृष्टां तथैव च रजस्वलाम् ।
दुर्गन्धां दुष्टयोनिञ्च तथैव च परिस्रुताम् ॥१३॥
ईदृशीं प्रमदां मोहाद्यो गच्छेत्कामहर्षितः ।
चतुष्पदाभिगमनाच्छेफसश्चाभिघाततः ॥१४॥
अधावनाद्वा मेढ्रस्य शस्त्रदन्तनखक्षतात् ।
काष्ठप्रहारनिष्पेषाच्छूकानां चातिसेवनात् ॥१५॥
रेतसश्च प्रतीघाताद् ध्वजभङ्गः प्रवर्तते ।

पुनः चरक में प्रतिपादित ध्वजभङ्गज क्लैव्य को सुनो! अतिअम्ल, अतिलवण, अतिक्षार, विरुद्ध और अजीर्णभोजन से; अतिजलपान, विषमभोजन, पीठी के अन्न तथा

गुरुभोजन से; दधि सेवन, दूध सेवन, आनूपमांस सेवन, व्याधियों से क्षीण, कन्याओं से मैथुन और अयोनिमैथुन (हस्तमैथुन वा गुदमैथुन आदि) से; दीर्घरोगिणी, अति ब्रह्मचारिणी, रजस्वला, दुर्गन्धित, दुष्टयोनि, एवं परिस्रुतयोनि स्त्री के पास जो कामार्त मनुष्य जाता है उसे इन कारणों से; एवं अजा आदि चार पाँवों वाली मनुष्येतर जातियों से मैथुन करने से, लिङ्ग पर चोट लगने से, मेढ्र को न धोने से, शस्त्रक्षत से, दन्तक्षत से, नखक्षत से, काष्ठप्रहार से, निष्पेषण से, शूकों के अत्यधिक सेवन से तथा शुक्र को रोकने से ध्वजभङ्ग हो जाता है।

ध्वजभङ्गजक्लैब्यस्य स्वरूपमाह—

भवन्ति यानि रूपाणि तस्य वक्ष्याम्यतः परम् ॥१६॥

वातिकध्वजभङ्गमाह—

श्वयथुर्वेदना मेढ्रे रागश्चैवोपलक्ष्यते।

पैत्तिकध्वजभङ्गमाह—

स्फोटाश्च तीव्रा जायन्ते लिङ्गपाको भवत्यपि ॥१७॥

श्लैष्मिकध्वजभङ्गमाह—

मांसवृद्धिर्भवेच्चास्य व्रणाः क्षिप्रं भवन्त्यपि।
पुलाकोदकसङ्काशः स्रावः श्यावारुणप्रभः ॥१८॥
वलयीकुरुते चापि कठिनश्च परिग्रहः।

रक्तजध्वजभङ्गमाह—

ज्वरस्तृष्णा भ्रमो मूर्च्छाच्छर्दिश्चास्योपजायते ॥१९॥
रक्तं कृष्णं स्रवेच्चापि नीलमाविललोहितम्।

सान्निपातिकध्वजभङ्गमाह—

अग्निनेव च दग्धस्य तीव्रो दाहः सवेदनः ॥२०॥
वस्तौ वृषणयोर्वापि सीवन्यां वंक्षणेषु च।
कदाचित्पिच्छिलो वापि पाण्डुः स्रावश्च जायते ॥२१॥
श्वयथुश्च भवेन्मन्दः स्तिमितोऽल्पपरिस्रवः।
चिराच्च पक्वतां याति शीघ्रं वाऽथ प्रमुच्यते ॥२२॥
जायन्ते क्रिमयश्चापि क्लिद्यन्ते पूतिगन्धि च।
विशीर्यते मणिश्चास्य मेढ्रं मुष्कावथापि च ॥२३॥
ध्वजभङ्गकृतं क्लैब्यमित्येतत् समुदाहृतम्।
एवं पञ्चविधं केचिद् ध्वजभङ्गं वदन्त्यपि ॥२४॥

उस ध्वजभंगकृत क्लैब्य में जो रूप होते हैं, अब वे कहे जाते हैं। (वातिकध्वजभङ्ग में—) मेढ्र में सूजन, वेदना तथा अरुणवर्णता हो जाती है, (पैत्तिकध्वजभङ्ग में—) तीव्रस्फोट तथा लिङ्गपाक हो जाता है, (श्लैष्मिकध्वजभङ्ग में—) लिङ्ग पर मांसवृद्धि हो जाती है; तथा शीघ्र ही व्रण हो जाते हैं, जिनमें से पुलाकजल के समान श्याव और अरुणप्रभा वाला स्राव बहने लगता है। इसमें शिश्न वलयी (वर्तुल) हो जाता है तथा इसका परिग्रह

(फैलाव) कठिन हो जाता है। (रक्तज ध्वजभंग में—) ज्वर, प्यास, भ्रम, मूर्च्छा और छर्दि हो जाती है। इसमें व्रणों द्वारा कृष्ण, नील, आविल एवं लोहित रक्त बहता है, (एवं सन्निपातज ध्वजभङ्ग में—) बस्ति में, वृषणों में, सीवन में और वंक्षणों में अग्नि से दग्ध की तरह वेदनान्वित तीव्र दाह होता है। इसमें स्राव कभी २ पिच्छिल एवं पाण्डुवर्ण का होता है। इसमें सूजन मन्द एवं स्तिमित (निश्चल) होती है तथा स्राव अल्प बहता है। इसमें पाक देर से होता है और शीघ्र ही छोड़ जाता है। इसमें क्रिमि उपज आते हैं। यह क्लिन्न रहता है तथा मुर्दे की सी गन्ध वाला होता है। इसके मेढ़ में होने वाली मणि (शिश्नमुण्ड) फट जाती है तथा कभी २ मुष्क भी फट जाते हैं। यह ध्वजभङ्गकृत क्लैब्य कहा गया है। कई इसी ध्वजभङ्ग को पांच प्रकार का मानते हैं।

वक्तव्य—अर्थात् कई आचार्य 'श्वयथुर्वेदना' इत्यादि से वातिक, 'स्फोटाश्च' इत्यादि से पैत्तिक, मांसवृद्धि आदि से श्लैष्मिक, 'ज्वरस्तृष्णा' इत्यादि से रक्तज और 'अग्निना' इत्यादि से सान्निपातिक; एवं पांच प्रकार का ध्वजभङ्ग मानते हैं।

जरासम्भवक्लैब्यमाह—

क्लैब्यं जरासम्भवं हि प्रवक्ष्याम्यथ तच्छृणु।
जघन्यमध्यप्रवरं वयस्त्रिविधमुच्यते ॥२५॥
अथ प्रवयसां शुक्रं प्रायशः क्षीयते नृणाम्।
रसादीनां संक्षयाच्च तथैवावृष्यसेवनात् ॥२६॥
बलवीर्येन्द्रियाणाञ्च क्रमेणैव परिक्षयात्।
परिक्षयादायुषश्चाप्यनाहाराच्छ्रमात् क्लमात् ॥२७॥
जरासम्भवजं क्लैब्यमित्येतैर्हेतुभिर्नृणाम्।
जायते तेन सोऽत्यर्थं क्षीणधातुः सुदुर्बलः ॥२८॥
विवर्णो विह्वलो दीनः क्षिप्रं व्याधिमथाश्नुते।
एतज्जरासम्भवं हि

ध्वजभङ्गज क्लैब्य के बाद अब मैं जरासम्भव क्लैब्य को कहता हूं। जघन्य, मध्य और प्रवर भेद से अवस्था तीन प्रकार की कही है। इनमें से प्रवर अवस्था वाले मनुष्यों का शुक्र प्रायः रसादिकों के क्षय होने पर तथा अवृष्य पदार्थों के सेवन से क्षीण हो जाता है। बल, वीर्य और इन्द्रियों के क्रमशः क्षीण होने से तथा आयु के भी क्षीण होने से एवं अनाहार, श्रम और क्लम इन हेतुओं के सेवन से जरासम्भव क्लैब्य होता है। पुनः इससे वह मनुष्य अत्यन्त क्षीणधातु, अत्यन्त दुर्बल, विवर्ण, विह्वल एवं दीन हो जाता है तथा शीघ्ररोगी हो जाता है। यह जराज क्लैब्य है।

शुक्रक्षयजक्लैब्यमाह—

चतुर्थं क्षयजं शृणु ॥२९॥
अतीवचिन्तनाच्चैव शोकात् क्रोधाद्भयादपि।
ईर्ष्योत्कण्ठादथोद्वेगान्सदा विशति यो नरः ॥३०॥
कृशो वा सेवते रूक्षमन्नपानमथौषधम्।
दुर्बलप्रकृतिश्चैव निराहारो भवेद्यदि ॥३१॥

असात्म्यभोजनाच्चापि हृदये यो व्यवस्थितः ।
रसः प्रधानधातुर्हि क्षीयेताशु नरस्ततः ॥३२॥
रक्तादयश्च क्षीयन्ते धातवस्तस्य देहिनः ।
शुक्रावसानास्तेभ्यो हि शुक्रं धाम परं मतम् ॥३३॥
चेतसो वातिहर्षेण व्यवायं सेवते तु यः ।
शुक्रं तु क्षीयते तस्य ततः प्राप्नोति स क्षयम् ॥३४॥
घोरं व्याधिमवाप्नोति मरणं वा स गच्छति ।
एतन्निदानलिङ्गाभ्यामुक्तं क्लैब्यं चतुर्विधम् ॥३५॥

जो मनुष्य अतिचिन्ता, शोक, क्रोध, भय, ईर्ष्या, उत्कण्ठा तथा उद्वेग से युक्त हुआ २ मैथुन करता है अथवा जो कृश होते हुए भी रूक्ष अन्न, रूक्ष पान और रूक्ष औषध का सेवन करता है, वा जो दुर्बल प्रकृति होने पर भी निराहार रहता है एवं जो असात्म्य भोजन करता है, उसकी हृदय में स्थित इस रूपप्रधान धातु हीन हो जाती है और उसके बाद मनुष्य भी शीघ्र क्षीण हो जाता है। ऐसे मनुष्य की रक्तादि शुक्रान्त धातुएं भी क्षीण हो जाती हैं, और उनमें से शुक्र का दर्जा ऊंचा है। अथवा जो मनुष्य अति प्रहृष्ट मन से मैथुन करता है, उसका शुक्र क्षीण हो जाता है और तदनु वह मनुष्य क्षीण होने लगता है। एवं वह मनुष्य घोर व्याधि से ग्रस्त हो जाता है वा मर जाता है। एवं यह निदान और लक्षण से चार प्रकार का क्लैब्य कहा है।

अत्र मतान्तरमाह—

केचित् क्लैब्ये त्वसाध्ये द्वे ध्वजभङ्गक्षयोद्भवे ।
वदन्ति शेफसश्छेदाद् वृषणोत्पाटनेन वा ॥३६॥

कई आचार्य ध्वजभङ्ग तथा क्षय के कारण होने वाले दो और क्लैब्यों को मानते हैं, जो कि (दोनों ही) असाध्य होते हैं। एवं अन्य कई आचार्य लिङ्गच्छेदन तथा वृषणोत्पाटन के कारण होने वाले दो और क्लैब्यों को भी मानते हैं।

बीजदोषाद्गर्भजक्लैब्यमाह—

मातापित्रोर्बीजदोषादशुभैश्चाकृतात्मनः ।
गर्भस्थस्य यदा दोषाः प्राप्य रेतोवहाः शिराः ॥३७॥
शोषयन्त्याशु तन्नाद्रेतश्चाप्युपहन्यते ।
तत्र सम्पूर्णसर्वाङ्गः संभवत्यपुमान् पुमान् ॥३८॥

माता पिता के बीज में दोष होने से और अकृतात्मा मनुष्य के अपने अशुभ कर्मों के कारण गर्भावस्था में ही स्थित उस मनुष्य की शुक्रवाहिनी शिराओं में जब दोष प्राप्त हो जाते हैं तो ये दोष उन शिराओं को सुखा देते हैं। एवं उन शिराओं के सूख जाने से शुक्र भी नष्ट हो जाता है, तब वहां सम्पूर्ण सभी अङ्गों वाला स्त्री पुरुषों के व्यापार करने में असमर्थ मनुष्य उत्पन्न होता है।

एषामसाध्यत्वमाह—

एते त्वसाध्या व्याख्याताः सन्निपातसमुच्छ्रयात् ।

सन्निपात की उत्कटता होने के कारण ये क्लैब्य असाध्य कहे हैं।

आसेक्यलक्षणमाह—

पित्रोरत्यल्पवीर्यत्वादासेक्यः पुरुषो भवेत् ।
स शुक्रं प्राश्य लभते ध्वजोच्छ्रायमसंशयम् ॥३९॥

पिता के अत्यन्त स्वल्पवीर्य वाला होने से, उससे होने वाला पुरुष आसेक्य नामक क्लीब होता है और वह क्लीव असंशय शुक्र खाकर ही प्रहर्ष को प्राप्त होता है।

वक्तव्य—शुक्र भक्षण से यहां पर गन्धमार्जार वीर्य भक्षण लेना चाहिए, क्योंकि वह वृष्य है और वृष्यता के लिये ही उसका प्रयोग होता है। कई यहां 'अंबर' का प्रयोग करते हैं।

सौगन्धिकलक्षणमाह—

यः पूतियोनौ जायेत स सौगन्धिकसंज्ञकः ।
स योनिशोफसौगन्ध्यमाघ्राय लभते बलम् ॥४०॥

जो मनुष्य दुर्गन्धित योनि से उत्पन्न होता है, उसे सौगन्धिक संज्ञक कहा जाता है। वह मनुष्य योनि और लिङ्ग की गन्ध को सूंघकर प्रहृष्ट होता है।

कुम्भीकलक्षणम्—

स्वे गुदेऽब्रह्मचर्याद्यः स्त्रीषु पुंवत्प्रवर्तते ।
कुम्भीकः स च विज्ञेयः

जो अपनी गुदा का ब्रह्मचर्य न रखता हुआ स्त्रियों में पुरुष की सी प्रवृत्ति करता है, वह कुम्भीक नामक क्लीव जानना चाहिए।

ईर्ष्यकं लक्षयति—

ईर्ष्यकं शृणु चापरम् ॥४१॥

दृष्ट्वा व्यवायमन्येषां व्यवाये यः प्रवर्तते ।
ईर्ष्यकः स च विज्ञेयः

जो मनुष्य दूसरों के मैथुन को देखकर (एवं उससे प्रहृष्ट हो) स्वयं मैथुन में प्रवृत्त होता है, उसे ईर्ष्यक जानना चाहिए। क्योंकि उसे ईर्ष्या के कारण प्रहर्ष होता है।

षण्ढं लक्षयति—

षण्ढकं शृणु पञ्चमम् ॥४२॥

यो भार्यायामृतौ मोहादङ्गनेव प्रवर्तते ।
तस्य स्त्रीचेष्टिताकारो जायते षण्ढसंज्ञितः ॥४३॥

हे सुश्रुत ! अब पांचवें षण्ढ नामक क्लीव को सुनो ! जो मनुष्य ऋतु के समय अपनी स्त्री के साथ अज्ञानवश स्त्री की तरह (स्त्र्यायत वा विपरीत) मैथुन करता है उसका पुत्र स्त्रियों की सी चेष्टाओं तथा स्त्रियों के से आकार वाला होता है। इस प्रकार से उत्पन्न मनुष्य को षण्ढ कहा जाता है।

वक्तव्य—इसी प्रकार से उत्पन्न मनुष्य को आज कल 'जनाना' कहा जाता है। एवं यदि स्त्री पुरुषायत करती है, तो उससे होने वाली कन्या नरचेष्टिता होती है। जैसे सुश्रुत ने कहा भी है कि—

"ऋतौ पुरुषवद्वापि प्रवर्तेताङ्गना यदि।
तस्य कन्या यदि भवेत् सा भवेन्नरचेष्टिता॥" [सु. शा. अ. २]

द्विरेतःक्लीबमाह—

बीजात्समांशादुपतप्तबीजात् स्त्रीपुंसलिङ्गी भवति द्विरेताः।

समांश में उपतप्त शुक्रशोणित के कारण होने वाला द्विरेत नामक क्लीब स्त्रीपुंसलिङ्गी होता है।

पवनेन्द्रियत्वं लक्षयति—

शुक्राशयं गर्भगतस्य हत्वा करोति वायुः पवनेन्द्रियत्वम्॥४३॥

वायु गर्भस्थ मनुष्य के शुक्राशय को नष्ट कर उसे पवनेन्द्रिय बना देता है।

संस्कारवाहस्य लक्षणमाह—

शुक्राशयद्वारविघट्टनेन संस्कारवाहं कुरुतेऽनिलश्च।

वायु शुक्राशय के द्वार को दूषित करने से मनुष्य को संस्कारवाही बना देती है।

मन्दबेगाल्पहर्षयोर्लक्षणमाह—

मन्दाल्पबीजा च बलाबहर्षौ क्लीबौ तु हेतुर्विकृतिद्वयस्य॥४४॥

मन्दबीज और अल्पबीज वाले एवं अबल और अहर्ष वाले (दोनों) क्लीब विकृतिद्वय के कारण हैं।

वक्रीलक्षणमाह—

मातुर्व्यवायप्रतिघेन वक्री स्याद्बीजदौर्बल्यतया पितुश्च।

मैथुन के समय यदि स्त्री अपने अङ्गों को विषम कर लेती है तो उस समय जातगर्भ उस स्थिति से होने वाला तथा मनुष्य के शुक्र में दुर्बलता होने से उससे होने वाला पुरुष वक्री होता है।

ईर्ष्यारतिलक्षणमाह—

ईर्ष्याभिभूतावपि मन्दहर्षावीर्ष्यारतेरेव वदन्ति हेतुम्॥४५॥

मन्दहर्ष वाले जो स्त्री पुरुष ईर्ष्या से अभिभूत होकर मैथुन में प्रवृत्त होते हैं, उन्हें ईर्ष्यारति कहा जाता है।

वातिकपण्डं लक्षयति—

वाय्वग्निदोषाद्वृषणौ तु यस्य नाशं गतौ वातिकपण्डकः सः।

इत्येवमष्टौ विकृतिविकाराः कर्मात्मकानामुपलक्षणीयाः॥४७॥

वायु और अग्नि (पित्त) के दोष के कारण जिनके वृषण नष्ट हो जाते हैं, उसे वातिक पण्डक कहा जाता है। इस प्रकार ये आठ विकृतिविकार पूर्वजन्म में किए हुए कुकर्मों का उदित फल जानना चाहिए।

इति श्रीदीनानाथशर्मविरचिते निदानपरिशिष्टे क्लैब्यनिदानम्।

अथ शुक्रदोषनिदानम् ।

शुक्रदोषं परिचाययति—

बीजं यस्माद्व्यवायेषु हर्षयोनिसमुत्थितम् ।
शुक्रपौरुषमित्युक्तं तस्माद्वक्ष्यामि तच्छृणु ॥१॥
यथा बीजमकालाम्बुकृमिकीटाग्निदूषितम् ।
न विरोहति संदुष्टं तथा शुक्रं शरीरिणाम् ॥२॥

गर्भारम्भक बीज मैथुन में प्रहर्ष के कारण आता है। अतः इसे पौरुष शुक्र कहा जाता है। अब उसी के विषय में कहा जाता है कि अकालिक जल, कृमि, कीट और अग्नि से दूषित बीज जिस प्रकार नहीं उगता ठीक उसी प्रकार मनुष्यों का शुक्र भी दुष्ट हुआ २ प्ररोहक नहीं होता।

अस्य कारणपूर्विकां सम्प्राप्तिं लक्षयति—

अतिव्यवायाद्व्यायामादसात्म्यानां च सेवनात् ।
अकाले वाप्ययोनौ वा मैथुनं न च गच्छतः ॥३॥
रूक्षतिक्तकषायातिलवणाम्लोष्णसेवनात् ।
नारीणामरसज्ञानां स्रवणाज्जरया तथा ॥४॥
चिन्ताशोकादविस्रम्भात् शस्त्रक्षाराग्निविभ्रमात् ।
भयात्क्रोधादतीसाराद्व्याधिभिः कर्षितस्य च ॥४॥
वेगाघातात्क्षताच्चापि धातूनां सम्प्रदूषणात् ।
दोषाः पृथक् समस्ता वा प्राप्य रेतोवहाः सिराः ॥५॥
शुक्रं दूषयन्त्याशु तद्वक्ष्यामि विभागशः ।

अतिमैथुन से, अतिव्यायाम से, असात्म्य सेवन से, बिना समय मैथुन करने से, अयोनि मैथुन (हस्तमैथुन आदि) से, अमैथुन से, रूक्ष, तिक्त, कषाय, लवण, अम्ल, उष्ण पदार्थों के अतिसेवन से, अरसज्ञ नारियों के सेवन से, शुक्रस्रवण से, जरा से, चिन्ता से, शोक से, अविश्वास से, शस्त्र लगने से, क्षारपात से, अग्निदाह से, भय से, क्रोध से, अतीसार से, व्याधियों के कारण क्षीणता होने से, वेगावरोध से, क्षत से और धातुओं के दुष्ट होने से, दुष्ट वातादि व्यष्टि वा समष्ट रूप से शुक्रवह शिराओं में प्राप्त होकर शीघ्र ही शुक्र को दूषित कर देती हैं। अब उस दुष्टि को विभागशः कहा जाता है।

शुक्रस्याष्टदोषानाह—

फेनिलं तनु रूक्षं च विवर्णं पूति पिच्छिलम् ।
अन्यधातूपसंसृष्टमवसादि तथाष्टमम् ॥६॥

झागदार, तनु, रूक्ष, विवर्ण, दुर्गन्धित, पिच्छिल, अन्यधातूपसंसृष्ट तथा अवसादि ये आठ दुष्ट शुक्र हैं।

तत्र वातदुष्टलक्षणमाह—

फेनिलं तनु रूक्षं च कृच्छ्रेणाल्पं च मारुतात् ।
भवत्युपहतं शुक्रं न तद्गर्भाय कल्पते ॥७॥

झागदार, पतला, रूक्ष और कठिनता से (पीड़ा के साथ) थोड़ा २ आने वाला शुक्र वातोपहत होता है और वह शुक्र गर्भोत्पादक नहीं होता।

पित्तदुष्टलक्षणमाह—

स नीलमथवा पीतमत्युष्णं पूतिगन्धि च।
दहल्लिङ्गं विनिर्याति शुक्रं पित्तेन दूषितम् ॥८॥

नीलिमा लिए हुए अथवा पीतता लिए हुए, अत्युष्ण, दुर्गन्धित तथा जो जलाता हुआ सा निकलता है, वह पित्त दूषितशुक्र होता है।

श्लेष्मदुष्टलक्षणमाह—

श्लेष्मणा बद्धमार्गं तु भवत्यत्यन्तपिच्छिलम्।

श्लेष्मा से शुक्र बद्धमार्ग वाला एवं अत्यन्त पिच्छिल होता है।

रक्तान्वितशुक्रमाह—

स्त्रीणामत्यर्थगमनादभिघातात् क्षतादपि ॥९॥
शुक्रं प्रवर्तते जन्तोः प्रायेण रुधिरान्वयम्।
वेगसन्धारणाच्छुक्रं वायुना विहतं पथि ॥१०॥
कृच्छ्रेण ग्रथितं गच्छत्यवसादि तथाष्टमम्।
इति दोषाः समाख्याताः शुक्रस्याष्टौ सलक्षणाः ॥११॥

स्त्रियों में अत्यन्त गमन करने से, अभिघात से तथा क्षत से, मनुष्यों में प्रायः रक्तान्वित शुक्र प्रवर्तित होता है। वेगावरोध के कारण वायु द्वारा मार्ग में रुका हुआ शुक्र बड़ी कठिनता से ग्रथित एवं अवसादि रूप में आता है। ये शुक्र के आठ सलक्षण दोष कहे हैं।

शुद्धशुक्रलक्षणम्—

स्निग्धं घनं पिच्छिलं च मधुरं चाविदाहि च।
रेतःशुद्धं विजानीयाच्छ्वेतं स्फटिकसन्निभम् ॥१२॥

स्निग्ध, घन, पिच्छिल, मधुर, अविदाहि एवं स्फटिक के समान श्वेतशुक्र शुद्ध होता है।

इति श्रीदीनानाथशर्मविग्रथिते निदानपरिशिष्टे शुक्रदोषनिदानम्।

अथ शुक्रमेहनिदानम्।

शुक्रमेहे कारणम्—

अविधिना हि यो मूढः करोति रेतसः क्षयम्।
दारुणो जायते तस्य शुक्रमेहगदः खलु ॥१॥

जो मूर्ख हस्तमैथुन आदि द्वारा शुक्र को गिराता है, उसे निश्चित दारुण शुक्रमेह नामक रोग हो जाता है।

शुक्रमेहस्य लक्षणमवतारयति—

मलमूत्रस्य वेगेन तथा कामस्य वेगतः।

ध्यानेन च विलासस्य शुक्रं पतति मुहुः ॥२॥
रमण्यां रमणात्स्वप्नेऽथवा दर्शनमात्रतः।
स्पर्शज्ञानात्तथाङ्गानां तरुण्याः स्खलति लघुः ॥३॥
तन्द्रायां शयने वापि अध्वनि चापि गच्छतः।
स्मृत्वा सुरूपसम्पन्नां दृष्ट्वा वा च्यवनं खलु ॥४॥
त्रिवारं वा चतुर्वारं जायतेऽत्रानिशं ध्रुवम्।
एवमस्मिन्नतिरूढे रोगे स्याद्ध्वजमार्दवम् ॥५॥
तथा चानेन रोगेण ग्रस्तो न भवति प्रभुः।
कन्दर्पदर्पदृप्तानां ना स्त्रीणां मानमर्दने ॥६॥
प्रत्युत सोऽत्र संयाति स्खलितीं स्पर्शमात्रतः।
तदा तु ह्रीविषादाभ्यां विषण्णश्चैति दुर्दशाम् ॥७॥
विरक्तो भुवनाच्चैव वैक्षिप्त्यगो हि कदाचन।
भवत्यथवा मृत्युं स्वयमेवाभिवाञ्छति ॥८॥

इस रोग में मलवेग से, मूत्रवेग से, कामवेग से तथा विलास के ध्यानमात्र से शुक्र बार २ स्खलित होता है। स्वप्न में स्त्री के साथ रमण करने से, अथवा दर्शनमात्र से वा तरुणी के अङ्गस्पर्शमात्र से शीघ्र ही वीर्य गिर जाता हैं (ये सब स्वप्न की बातें हैं)। इस रोग में जब मनुष्य तन्द्रा में होता है तब, वा जब शयन स्थान में होता है तब, अथवा जब मार्ग में चल रहा होता है तब भी सुरूपसंपन्ना स्त्री का स्मरण कर वा उसे देखकर दिन रात में तीन वा चार बार स्खलित हो जाता है। इस प्रकार इस रोग के बहुत बढ़ जाने पर शिश्न मृदु हो जाता है। इस रोग से ग्रस्त मनुष्य कन्दर्प के दर्प से दृप्त स्त्रियों के मानमर्दन में समर्थ नहीं होता, प्रत्युत मनुष्य उनके स्पर्शमात्र से स्खलित हो जाता है। तब लज्जा और विषाद से विषण्ण हुआ २ वह बुरी दशा वाला हो जाता है। तब वह मनुष्य कभी कभी संसार से विरक्त हो विक्षिप्त हो जाता है वा आत्मघात करने की चेष्टा करता है।

शुक्रमेहस्योपसर्गानाह—

कोष्ठावरोधः शिरसश्च घूर्णनं वह्नेर्विनाशस्त्वतिसार एव च।
ह्रासश्च दृष्टेस्तनुनीलिमा दृशोरजीर्णमेतेऽत्र भवन्त्युपद्रवाः ॥९॥

यहां मलमूत्रावरोध, शिरोघूर्णन, अग्निमान्द्य, अतीसार, दृष्टिक्षीणता, नेत्रों में हल्की नीलिमा तथा अजीर्ण ये उपद्रव होते हैं।

इति श्रीदीनानाथशर्मविग्रथिते निदानपरिशिष्टे शुक्रमेहनिदानम्।

अथ ओजोमेहनिदानम्।

तत्र निदानं निर्दिशति—

वह्निमान्द्यामवाताभ्यामभिघातादजीर्णतः।
विषमातङ्कशोफाद्यैः क्षयकासादिभिस्तथा ॥१॥

शोणितस्रोतसां दुष्ट्या वृक्कयोश्च तथासृजः ।
लसीकापूयशुक्रास्रैर्मूत्रे दुष्टे तथा नृणाम् ॥२॥
अन्तर्वत्न्यास्तथा द्रव्यैर्मधुरैौजस्करैः खलु ।
कषायकटुकक्षाररहितैरतिसेवनात् ॥३॥
गुरोः पर्युषितान्नस्य चादनादतिभोजनात् ।
गोधूमनवधान्यादिहंसशावातिसेवनात् ॥४॥
अम्भसि शीतले दुष्टे स्नानपानावगाहनात् ।
कारणैरेभिरन्यैश्च विकृतादोजसो भवेत् ॥५॥
ओजोमेहः स एवोक्तः आयुर्बलनिकृन्तनः ।

अग्निमान्द्य से, आमवात से, अभिघात से, अजीर्ण से, विषमज्वर से, शोफादि से, क्षय से एवं कास आदि से रक्तवह स्रोतों की दुष्टि होने पर, वृक्कों की दुष्टि होने पर एवं रक्त की दुष्टि होने पर तथा लसीका, पूय, शुक्र, और रक्त से मनुष्य मूत्र के दूषित होने पर, एवं गर्भवती स्त्री के कषाय, कटु और क्षार रहित मधुर एवं ओजस्कर पदार्थों के अति सेवन से; गुरु अन्न, बासी अन्न और अधिक अन्न, गेहूं, नए धान्य और हंस शावकों के अति सेवन से; एवं दुष्ट तथा शीतल जल के पान, स्नान और अवगाहन से; इन तथा अन्य कारणों से ओज के दूषित हो जाने पर ओजोमेह नामक रोग होता है, जो कि आयु और बल को क्षीण करने वाला होता है।

पुनश्चास्य हेतुपूर्वकस्वरूपमाह—

तनोः श्रमवशाच्चैव तथा चान्येन हेतुना ॥६॥
द्रुतं रक्तस्य सञ्चारात् प्रकृतेश्च विपर्ययात् ।
ओजोदुष्टिं समापन्नं हंसाण्डोज्ज्वलभागवत् ॥७॥
तण्डुलोदकवद्वापि सहमूत्रेण संस्रवेत् ।

शारीरिक श्रम के कारण अथवा अन्य हेतु से, वा रक्त के शीघ्र सञ्चार से अथवा प्रकृति के विपर्यय से दुष्टि को प्राप्त हुआ हुआ हंसाण्ड के श्वेत भाग की तरह श्वेत वा तण्डुलोदक के समान श्वेत ओज मूत्र के साथ साथ बहने लगता है।

अत्र साध्यादिकमाह—

जाते मेदःक्षये तत्र ज्वरे चारोचके तथा ॥८॥
शोथे च वह्निमान्द्ये च गदोऽसाध्यो न संशयः ।
अन्यथा दुःखसाध्यः स विद्वद्भिः परिकीर्तितः ॥९॥

ओजोमेह में मेद के क्षीण हो जाने पर, ज्वर हो जाने पर, अरोचक हो जाने पर, शोथ हो जाने पर, और अग्निमान्द्य हो जाने पर यह निःसंशय असाध्य होता है। यदि ये लक्षण न हों तो यह विद्वानों ने कष्टसाध्य कहा है।

इति श्रीदीनानाथशर्मविग्रथिते निदानपरिशिष्टे ओजोमेहनिदानम् ।

अथ सोमरोगमूत्रातिसारनिदानम् ।

अत्र कारणमाह—

विलासो श्रमराहित्यं गुर्वभिष्यन्दि भोजनम् ।
विचारो मैथुनं मद्यं कुजलं गुडवैकृतम् ॥१॥
मर्माघातो यकृद्दुष्टिर्धराचक्रस्य वैकृतम् ।
अभिचारिकहेतुश्च भयशोकगराणि च ॥२॥
सततं स्वान्तसङ्गो हि विषये स्वान्तिके खलु ।
अतिनिद्रा दिवास्वापः सेवा च रोगिणां सदा ॥३॥
नियतं नगरे वासो वेगानाञ्च विनिग्रहः ।
ऊष्माभितप्तदेहस्य त्वरया शीतसेवनम् ॥४॥
एतैरेवं विधैरन्यैर्हेतुभिरतिसेवितैः ।
रोगोऽयं जायते नृणां सम्प्राप्तिं सम्प्रति शृणु ॥५॥

विलास, श्रमहीनता, गुरुभोजन, अभिष्यन्दिभोजन, विचार, मैथुन, मद्य, दुष्टजल, गुड़विकृति, मर्माघात, यकृद्दुष्टि, नाड़ीमण्डलविकार, अभिचारिककारण, भय, शोक, गरविष, मानसिक विषयों में मन की सर्वदा प्रवृत्ति, अतिनिद्रा, दिवानिद्रा, सततरोगीसेवा, सर्वदा नगरनिवास, वेगविनिग्रह, उष्णाभितप्त शरीर का शीघ्र ही शीतलसेवन, तथा एवंविध अन्य हेतुओं के अति सेवन से मनुष्यों में यह रोग उत्पन्न हो जाता है। अब सम्प्राप्ति कही जाती है।

अस्य सम्प्राप्तिमाह—

पूर्वोक्तैस्तद्विधैश्चान्यैः कारणैरतिसेवितैः ।
आपः सर्वशरीरेभ्यः क्षुभ्यन्ति प्रस्रवन्ति च ॥६॥
तस्मात्ताः प्रच्युताः स्थानान्मूत्रमार्गं व्रजन्ति च ।
प्रसन्नाः सुसिताः शीता निर्गन्धा नीरुजास्तथा ॥७॥
दुर्गन्धा मन्ददाहा वा चातिमात्रं स्रवन्ति च ।

पूर्वोक्त तथा उन जैसे अन्य कारणों के अत्यधिक सेवन से सारे शरीर में होने वाला जल क्षुब्ध हो बहने लगता है। तब वह अपने स्थान से प्रच्युत हुआ २ मूत्रमार्ग में चला जाता है, तदनु निर्मल, श्वेत, शीतल, निर्गन्ध, नीरुज अथवा दुर्गन्धित एवं मन्ददाह वाला वह अत्यधिक स्रवित होने लगता है।

अथ मूत्रमानपूर्वकं लक्षणमाह—

अहोरात्रे मूत्रमानं यावत् प्रस्थचतुष्टयम् ॥८॥
रात्रिपर्युषितं मूत्रमुपर्यच्छमधो घनम् ।
मूत्रमार्गे भवेत् कण्डूः पिडका दुःक्षतोऽथवा ॥९॥
चर्मक्षयश्च तेन स्याद्रोगिणश्चावसीदनम् ।
अङ्गदाहोऽधिका तृष्णा शुष्का जिह्वा सकण्टका ॥१०॥
तीव्राग्निर्वह्निमान्द्यं वा कृशता मलबद्धता ।

रूक्षा त्वङ्म्लाननेत्रत्वं पेशी शिथिलकोमला ॥११॥
शिरोघूर्णत्वमालस्यं सङ्कोचो हृदयस्य च ।
मैथुनशक्तिहीनत्वं क्षीणता च बलस्य हि ॥१२॥
मुखमालिन्यमुद्वेगोऽरतिः कर्मसमुच्चये ।
मेदसः क्षीणता गाढा मुखताल्वोर्विशोषणम् ॥१३॥
सोमक्षयान्नृणां देहे सोमरोगोऽयमीरितः ।
क्रमशोऽतिप्रवृद्धः स स्रवेन्मूत्रमभीक्ष्णशः ॥१४॥
रोगमेनं तु मूत्रातीसारमाहुर्मनीषिणः ।
भवेन्नाशो बलस्यात्र तृष्णा चाति प्रजायते ॥१५॥
मूर्च्छाप्रलापवीसर्पदुष्टव्रणक्षतक्षयैः ।
आविशेन्मरणं रोगीहाभिन्यासाद्युपद्रवैः ॥१६॥

दिन और रात में मूत्र का प्रमाण चार प्रस्थ तक होता है, एवं रात का रक्खा हुआ वह मूत्र ऊपर स्वच्छ तथा नीचे घन होता है। इसमें मूत्रमार्ग में कण्डू, पिडकाएँ अथवा दुष्टक्षत वा चर्मक्षय हो जाता है, जिससे कि रोगी अत्यन्त पीड़ित होता है। इस व्याधि में अङ्गदाह, तृष्णाधिक्य, जिह्वा शुष्क एवं काँटों से व्याप्त, तीक्ष्णाग्निता वा मन्दाग्निता, कृशता, बद्धविट्कता, त्वक्रूक्षता, नेत्रम्लानता, पेशियों में शैथिल्य एवं कोमलता, शिरोघूर्णता, आलस्य, हृदयसङ्कोच, मैथुनशक्तिहीनता, बलक्षीणता, मुखमालिन्य, उद्वेग, कर्मसमूह में अरति, मेद की अत्यन्त क्षीणता एवं मुख और तालु का शोष ये लक्षण होते हैं। सोम के क्षय से मनुष्यों (स्त्रियों) में होने वाला यह रोग सोमरोग कहलाता है। तदनु क्रमशः बढ़ा हुआ यह रोग बार बार अधिक मूत्र को प्रवृत्त करता है। इसी रोग को विद्वान् लोग मूत्रातिसार कहते हैं। इसमें बल का नाश, तृष्णा की अधिकता, मूर्च्छा, प्रलाप, वीसर्प, दुष्टव्रण, क्षत, क्षय और अभिन्यासादि उपद्रवों से मनुष्य मर जाता है।

अत्रर्तोः प्रभावमाह—

निदाघे जायते रोगस्तथा तत्रैव कुप्यति ।
कदाचिच्छीतले काले प्रवृत्तिरस्य जायते ॥१७॥
कारणैर्बहुमूत्रोक्तैर्मधुमेहोऽपि जायते ।
एवमस्य बुधैः प्रोक्तं निदानादि समासतः ॥१८॥

यह रोग निदाघ में उत्पन्न होता है तथा निदाघ में ही प्रकुपित होता है। कभी कभी शीतकाल में भी इसकी प्रवृत्ति हो जाती है। इन बहुमेहोक्त कारणों से मधुमेह भी हो जाता है। विद्वानों ने इसका निदानादि इस प्रकार संक्षेप से कहा है।

इति श्रीदीनानाथशर्मविग्रथिते निदानपरिशिष्टे सोमरोगमूत्रातीसारनिदानम्।

अथ वन्ध्यारोगनिदानम्।

भेदा वन्ध्याबलानां हि नवधा परिकीर्तिताः ।
तत्रादिवन्ध्या प्रथमा पापकर्मविनिर्मिता ॥१॥

क्वचित् स्यात्प्रमितिरस्याऽङ्गुलद्वयसम्मिता ।
अतोऽधिका भवेज्जातु क्वचिदष्टाङ्गुलोन्मितिः ॥२॥
स्थितिरपि भवत्यस्या यथा नरानुसारिणी ।
एवमस्याः प्रदाहे तु रुजा तीव्रा प्रजायते ॥३॥

मनुष्यों में भिन्न प्रमाण वाली अन्त्र पुट के स्थान पर अन्त्र से लगी हुई उपान्त्र नाम वाली एक नलिका होती है, जिसका प्रमाण कहीं २ दो अङ्गुल होता है, और कहीं २ वह इससे भी अधिक प्रमाण वाली वा आठ अङ्गुल प्रमाण वाली होती है। इसकी स्थिति नरानुसार होती है, एवं इसके प्रदाह में पीड़ा तीव्र होती है।

अत्र कारणमाह—

आहारस्य यदांऽशोत्र तथान्यत्कठिनं यदा ।
वस्तुप्रवेशमाप्नोति तदा दाहो प्रजायते ॥४॥

जब आहार का अंश अथवा कोई और कठिन वस्तु उपान्त्र में चली जाती है, तो उसमें प्रदाह हो जाता है।

अस्य सम्प्राप्तिमाह—

भित्त्यां श्लेष्मकलायां वा कीटाः कुर्वन्ति शूनताम् ।
शनैः शनैः प्रवृद्धा सा व्रणतामुपयाति हि ॥५॥
तदात्र यानि लिङ्गानि भवन्ति तानि च ब्रुवे ।

उपान्त्र की भित्ति अथवा श्लैष्मिककला में कीटाणु सूजन उपजा देते हैं, तदनु वह सूजन शनैः २ बढ़कर व्रण के रूप में आ जाती है। और तब इसमें शेष लक्षण भी हो आते हैं, जिन्हें कि अब कहा जाता है।

उपान्त्रशोथस्य स्वरूपमाह—

दक्षिणे श्रोणिदेशे तु पीडास्मिञ्जायते भृशम् ।
देशे कपर्दसंज्ञे वा क्वचित्पूर्वं प्रजायते ॥६॥
तदनु चोदरं व्याप्य पुनः श्रोण्यां समेति हि ।
वमनस्य तथाधिक्यमाटोपो मांसपैशिकः ॥७॥
उपान्त्रस्य च रुक् स्पर्शे तीव्रा जायते खलु ।
दक्षिणं सक्थि संकोच्य रोगी स्वपिति सर्वदा ॥८॥
ज्वरश्चापि भवत्यत्र द्व्युत्तरशतसम्मितः ।
भूम्ना स्यान्नु विबन्धोऽत्र कदाचिच्चातिसारता ॥९॥

इस रोग में दक्षिण श्रोणिप्रदेश पर दारुण पीड़ा होती है; या कभी २ कौड़ी प्रदेश में पीड़ा पहले उत्पन्न होकर तदनु सारे उदर में व्याप्त हो जाती है, पुनः दक्षिण श्रोणि प्रदेश में जाकर ठहर जाती है। इसमें वमन अधिकतर होते हैं; और पेशियों में तनाव भी होता है। उपान्त्र का स्पर्श करने पर वहां अतितीव्र पीड़ा होती है, एवं इस रोग में रोगी सदा दाईं टांग को सिकोड़ कर सोता है। इसमें १०२ फ. तक ज्वर भी होता है और अधिकतर इसमें विबन्ध रहता है, किन्तु विरलावस्था में अतिसार भी होने लगता है।

अत्र साध्यत्वादिकमाह—

साध्ये मृदुरयं रोगः क्रमाच्चैवापवर्तते।
द्विदिवसात् त्र्यहाद्वापि सुखमेति ततो नरः॥१०॥
मुहुर्मुहुर्भवेदस्य नरेष्वाक्रमणं यदा।
तदास्यकृच्छ्रता प्रोक्ता वैद्यविद्याविशारदैः॥११॥
यदात्र विद्रधेर्योगः स्फुटनं वाऽथ जायते।
तथोदरकलायां च शोथस्यागमो भवेत्॥१२॥
तदात्रासाध्यता ज्ञेया विना शल्यचिकित्सितम्।
जातेऽत्र विद्रधीयोगे लक्षणान्यतिशेरते॥१३॥
तथोदरकलाशोथे तापः स्वस्थमितो भवेत्।
वमनं शीतकायादिलिङ्गान्यत्र भवन्ति च॥१४॥

साध्यावस्था में यह रोग मृदु रहता है और क्रमशः २-३ दिन वाद कम होने लगता है एवं रोगी सुख अनुभव करने लगता है। जब मनुष्यों में इसका आक्रमण वार वार होता है, तो विद्वान् वैद्यों ने इसे कृच्छ्रसाध्य कहा है। जब इस रोग में विद्रधि हो जाती है तथा वह फूट जाती है; एवं उदरककलाशोथ हो जाती है, तो यहां शल्यचिकित्सा के विना असाध्यता जाननी चाहिए। इस उपान्त्रशोथ नामक रोग में जब विद्रधि हो जाती है, तो ज्वर आदि लक्षण बढ़ जाते हैं। यहां उदरककलाशोथ हो जाने पर ज्वर स्वस्थ के समान हो जाता है; और वमन एवं शीतकाय आदि लक्षण भी हो जाते हैं।

इति श्रीदीनानाथशर्मविग्रथिते निदानपरिशिष्टे उपान्त्रशोथनिदानम्।

अथ हृद्यन्त्ररोगनिदानम्।

तत्र पूर्वमावरणिकमाह—

वृक्कदोषामवाताभ्यां तथार्द्रशीतसेवनात्।
हृत्कोष्ठावरणे रोगो जायते भृशदारुणः॥१॥
तत्र कोष्ठव्यथा शोथो दौर्बल्यं श्वासकृच्छ्रता।
ऊष्मा दाहो तथा कासो गुरुता महती व्यथा॥२॥
रक्तपित्तञ्च नासागं जठराग्नेश्च मन्दता।
शाखासु जायते शोथो नाडी विषमगामिनी॥३॥
हृदावरणिको व्याधिरेषः सुधीभिरुच्यते।
जातमात्रश्चिकित्स्योऽयं नैवोपेक्ष्यः कदाचन॥४॥

वृक्करोग और आमवात से, आर्द्रस्थान सेवन तथा शीतस्थान सेवन से हृत्कोष्ठीय आवरण में अत्यन्त भयानक व्याधि हो जाती है। इस रोग में कोष्ठपीड़ा, सूजन, दुर्बलता, श्वासकृच्छ्रता, ऊष्मा, दाह, कास, गौरव, अत्यन्त पीड़ा, नासागत रक्तपित्त, अग्नि-मान्द्य, हाथों पैरों में सूजन और नाड़ी की विषमगति हो जाती है। विद्वानों ने यह हृदा-

वरणिक व्याधि कही है, जो कि उत्पन्न होते ही चिकित्सा करने पर साध्य है और उपेक्षा करने पर असाध्य हो जाती है।

कौष्ठिकहृद्यन्त्ररोगनिदानम्—

अभिघातामवाताभ्यां तथावरणिकाद् गदात्।
हृत्कोष्ठे जायते शोफो गद एष हि कौष्ठिकः ॥५॥
श्वासः कासोऽरुचिः कम्पो वैवर्ण्यमग्निसंक्षयः।
ज्वरो दाहस्तथा यक्ष्मा कोष्ठे पूयस्य सञ्चयः ॥६॥
मूर्च्छाऽऽक्षेपः प्रलापश्च धरा विषमगामिनी।
आतङ्कादारुणादस्माद्दैवात् कश्चित् प्रमुच्यते ॥७॥

अभिघात से, आमवात से तथा आवरणिकरोग से हृदय के कोष्ठ में सूजन उत्पन्न हो जाती है और यह कौष्ठिक हृद्यन्त्र रोग कहलाता है। इस रोग में श्वास, कास, अरोचक, कँपकँपी, विवर्णता, अग्निनाश, ज्वर, दाह, राजयक्ष्मा, कोष्ठ में पूय का सञ्चय, मूर्च्छा, आक्षेप, प्रलाप और नाड़ी की विषमगति होती है। इस दारुण व्याधि से भाग्य से ही कोई बचता है।

पृथुकहृद्यन्त्ररोगमाह—

रुधिरस्य गतौ कोष्ठे व्याहतायामनात्मनः।
हृत्पेशी स्थूलतां याति मिथ्याहारविहारतः ॥८॥
हृदये वेपनं पीडा दौर्बल्यं श्वासकृच्छ्रता।
भ्रमो मोहोऽरतिश्चैव पृथुकातङ्कलक्षणम् ॥९॥

कोष्ठ में रक्त के जाने पर आहत मन एवं आत्मा वाले मनुष्य की मिथ्याहार विहारादि से हृदयपेशी स्थूल हो जाती है; और उसमें कम्पन, पीड़ा तथा दुर्बलता हो जाती है। इस रोग में श्वास कठिनता से आता है, चक्कर आते हैं, मूर्च्छा होती है तथा अरति भी होती है। यह पृथुकहृद्यन्त्र नासक व्याधि के लक्षण हैं।

आयामिकहृद्यन्त्रमाह—

हृत्कोष्ठविस्तृतिर्यत्र व्याधिरायामिको हि सः।
शोथः श्वासो भ्रमो मूर्च्छा हृत्कम्पोऽनलमन्दता ॥१०॥
दकोदरमनिद्रा च क्षीणता बलमांसयोः।
एभिरेवंविधैरन्यैर्लिङ्गैर्लिङ्ग्यो मनोगदः ॥११॥

जहां पर हृदयकोष्ठों की विस्तृति होती है, वह आयामिक नाम वाली व्याधि होती है। इसमें सूजन, श्वास, भ्रम, मूर्च्छा, हृत्कम्पन, अग्निमान्द्य, जलोदर, नींद न आना, मांसक्षीणता और बलक्षीणता होती है। यह रोग इन लक्षणों वा इन जैसे अन्य लक्षणों से जानना चाहिए।

परिक्षयहृद्यन्त्ररोगमाह—

परिक्षयाभिधो व्याधिः क्षयात् सञ्जायते खलु।
कोष्ठपेश्याः क्षयस्तत्र दौर्बल्यं सदनं भ्रमः ॥१२॥

श्वासो हृत्कम्पनं वह्निमान्द्यं क्रमाच्च शूनता ।
जायते, लक्षणैरेभिर्लिङ्ग्यो व्याधिः परिक्षयः ॥१३॥

परिक्षय नामक व्याधि क्षय के कारण होती है । इस (परिक्षय) में कोष्ठीय पेशी की क्षीणता, दुर्बलता, साद, श्रम, श्वास, हृत्कम्पन, अग्निमान्द्य और सूजन होती है । इन लक्षणों से परिक्षय नामक व्याधि जाननी चाहिए ।

मेदःसूत्राख्यहृद्यन्त्ररोगमाह—

हृत्कोष्ठे मांससूत्रेषु मेदःकणचयो यदा ।
भवेत्तदा गदोऽयं हि स्यान्मेदःसूत्रसंज्ञकः ॥१४॥
हृदयेऽत्र भवेत्कम्पो धरा च मन्दगा भवेत् ।
भ्रमो मूर्च्छाऽवसादश्च नाडीनां बलक्षीणता ॥१५॥
हृदावरणसम्भेदात् सहसा मरणं भवेत् ।
उत्पत्तावेव साध्योऽयमन्यथा नैव सिध्यति ॥१६॥

जब हृदय के कोष्ठों में होने वाले मांससूत्रों में मेदसकणों का संचय हो जाता है, तब मेदःसूत्र नाम वाला यह रोग उत्पन्न हो जाता है । इस रोग में हृदय में कम्पन, नाड़ी की मन्दगति, चक्कर, मूर्च्छा, अवसाद, नाड़ियों की क्षीणता और अकस्मात् हृदयावरण के भिन्न हो जाने से मृत्यु हो जाती है । यह रोग उत्पत्ति के समय ही साध्य होता है, अन्यथा (उत्पत्ति के बाद) असाध्य होता है ।

विक्षेपिकाख्यहृद्यन्त्ररोगमाह—

हृत्कोष्ठाक्षेपिका पीडा नाम्ना विक्षेपिका स्मृता ।
जातेऽस्मिन् दारुणे रोगे कोष्ठदेशेऽप्युरोऽस्थ्यधः ॥१७॥
वामबाहौ तदंसास्थि ग्रीवायां पृष्ठदेशतः ।
दारुणा जायते पीडा प्राणमर्मनिपीडिनी ॥१८॥
भेदस्तोदो समाकर्षो दाहश्चाप्युपजायते ।
भूयः श्वासस्य रोधः स्याच्छीता त्वक् धर्मनिर्गमः ॥१९॥
आध्मानानाहमोहाश्च वैवर्ण्यक्षीणतेऽरुचिः ।
क्रमाच्चेन्द्रियनाशः स्यात् मरणञ्चाप्यनात्मनः ॥२०॥

हृदयकोष्ठ को आक्षिप्त करने वाली पीड़ा विक्षेपिका नाम वाली व्याधि होती है; और इस दारुण व्याधि में कोष्ठप्रदेश में उरःअस्थि के नीचे, बांई बाहु में, बांएं अंस की अस्थि में, ग्रीवा में और पीठ में दारुण पीड़ा होती है, जो कि प्राण और मर्मों को पीड़ित करने वाली होती है । एवं इस व्याधि में भेद, सुइयों की सी चुभान, आकर्षण, दाह, बार बार श्वास की रुकावट, त्वचा में शीतता, पसीने का आगमन, आध्मान, आनाह, मोह, विवर्णता, क्षीणता, अरुचि, क्रमशः इन्द्रियों का नाश तथा मृत्यु भी हो जाती है ।

अथोपसंहारमाह—

एवं हृदि विकारा हि भवन्ति भृशदारुणाः ।
सर्वे नवनवाः साध्यास्तथा च निरुपद्रवाः ॥२१॥

अन्ये कृच्छ्रास्तथा याप्या असाध्याः क्रमशो मताः ।
कालजा अनुबन्धोक्तास्तथा च सर्वहेतुजाः ॥२२॥

हृदययन्त्र में इस प्रकार अत्यन्त दारुण रोग होते हैं और ये सभी रोग जब उपद्रव रहित एवं नए २ उत्पन्न हुए हों तो साध्य होते हैं। इनसे अतिरिक्त बहुत देर के उत्पन्न हुए हुए, उपद्रवों वाले तथा सभी निदानों से उत्पन्न ये विकार इन्हीं लक्षणों की तरतमतानुसार क्रमशः कृच्छ्रसाध्य, याप्य एवं असाध्य होते हैं ।

इति श्रीदीनानाथशर्मविग्रथिते निदानपरिशिष्टे हृद्यन्त्ररोगनिदानम् ।

अथ पारदरोगनिदानम् ।

लक्षणमाह—

शुद्धो रसोऽमृतं साक्षादशुद्धस्तु स्मृतो विषम् ।
अयुक्तियुक्तो रोगाय युक्तियुक्तो रसायनः ॥१॥
विधिवत्सेव्यमानोऽयं निहन्ति सकलामयान् ।
तस्य मिथ्योपचारेण भवन्त्येते महागदाः ॥२॥
पीनसो नासिकाभङ्गो दन्तपातः शिरोव्यथा ।
भगन्दरो विसर्पश्च नेत्ररोगो मुखामयाः ॥३॥
कोठः कण्डूस्त्वचां वर्णहानिर्नासादिषु क्षतम् ।
कुष्ठोपदंशचिह्नानि गात्रेषु विविधानि हि ॥४॥
ग्रन्थिवच्छोथकाठिन्यं सरुजं फलकोषयोः ।
पक्षाघातो ग्रन्थिवातः प्रदाहोऽस्थ्नाश्च दारुणः ॥५॥
जाड्यं मनोविकारश्च सर्वे कृच्छ्रतमा गदाः ।
भवन्ति, तत्र कर्तव्यं यथायुक्तश्च भेषजम् ॥६॥

शुद्ध अर्थात् संस्कृत पारद साक्षात् अमृत होता है, तथा अशुद्ध पारद विष कहा है। अयुक्तियुक्त पारद रोगोत्पादक होता है और युक्तियुक्त पारद रसायन का काम करता है। एवं यथाविधान सेवन किया हुआ वह सभी व्याधियों को नष्ट करता है। इसके मिथ्या सेवन से पीनस, नासाभङ्ग, दन्तपात, शिरोव्यथा, भगन्दर, विसर्प, नेत्रविकार, मुखरोग, चकत्ते, खुजली, विवर्णता, नासा आदिकों में व्रण, शरीर पर कुष्ठ वा उपदंश के अनेकविध चिह्न, अण्डकोषों में पीड़ायुक्त गाँठ की तरह सूजन, पक्षाघात, ग्रन्थिवात (गँठिया), अस्थियों में दारुणप्रदाह, जड़ता एवं मानसिकविकारादि सभी कृच्छ्रतम विकार होते हैं। इन सब में यथोचित चिकित्सा करनी चाहिए।

इति श्रीदीनानाथशर्मविग्रथिते निदानपरिशिष्टे पारदरोगनिदानम् ।

अथागन्तुजपक्षाघातनिदानम् ।

लक्षणमाह—

पक्षाघातो द्विधा प्रोक्तो दोषागन्तुजभेदतः ।
दोषजः कथितः पूर्वं सम्प्रत्यन्योऽभिधीयते ॥१॥
चतुर्धाऽऽगन्तुजो ज्ञेयो कारणानां हि भेदतः ।
प्रथमो रसजस्तत्र द्वितीयो नागजो भवेत् ॥२॥
ऐन्द्रियकविकारोत्थस्तृतीयः प्रोच्यते बुधैः ।
चतुर्थः सुधीभिः प्रोक्तो व्यापारिकविकारजः ॥३॥

पक्षाघात दो प्रकार का कहा है । एक—दोषनिमित्तज और दूसरा—आगन्तुनिमित्तज । जिनमें से दोषज पक्षाघात पहले (वातव्याधि में) कहा जा चुका है । अतः अब आगन्तुज कहा जाता है । आगन्तुज पक्षाघात कारणभेद से मुख्यतः चार प्रकार का होता है, जिनमें से प्रथम पारद से उत्पन्न होने वाला, दूसरा नाग (सीसक) से उत्पन्न होने वाला, तीसरा ऐन्द्रियक विकारज और चौथा व्यापारिक विकारज होता है ।

तत्र पारदहेतुजमाह—

सततं रससंस्पर्शात् तद्धूमस्य च सेवनात् ।
पक्षाघातो भवेद्यस्तु स ज्ञेयो रसहेतुजः ॥४॥

हमेशा पारद का स्पर्श करते रहने से वा उसके धूम्र सेवन करते रहने से जो पक्षाघात होता है वह पारदनिमित्तज जानना चाहिए ।

पारदजपक्षाघातलक्षणमाह—

पूर्वं बाह्वोर्बलध्वंसस्ततो भवति वेपथुः ।
कम्पेते सक्थिनी चापि वपुः सर्वं ततः परम् ॥५॥
भारस्य वहनेऽशक्तो नृत्यन्निव च गच्छति ।
अव्यक्तं भाषते सोऽहि न च क्षाम्यति चर्वितुम् ॥६॥
ततस्तस्यातिनिद्रा च प्रलापो बलसंक्षयः ।
हृल्लासो वह्निनाशो लालालुत्वं दन्तभङ्गता ॥७॥
जायते पारदोत्थे वै पक्षाघाते सुदारुणे ।
शान्तिः स्याद्वेपथोरत्र धारितेऽङ्गे करादिभिः ॥८॥

इस रोग में पूर्व बाहुओं का बल नष्ट होता है और पुनः कम्पकम्पी होती है । पहले सक्थिप्रदेश काँपने लगते हैं; और तदनु सारा शरीर काँपने लगता है । इसमें मनुष्य भार नहीं उठा सकता और नाचता हुआ सा चलता है । इसका रोगी अव्यक्त भाषण करता है तथा चबा नहीं सकता । इसके बाद अतिनिद्रा, प्रलाप, बलहानि, हृल्लास, अग्निमान्द्य, प्रसेक और दन्तभेद ये लक्षण पारदजन्य पक्षाघात में होते हैं । इसमें हाथ आदि द्वारा अङ्गों को थामने पर कम्पन शान्त हो जाती है ।

नागहेतुजपक्षाघातमाह—

सततं हि मनुष्या ये नागैः कर्म प्रकुर्वते ।
तेषु प्रजायते रोगो पक्षाघातो हि नागजः ॥९॥
अङ्गुलीभ्यः समारभ्य मणिबन्धं ततोऽखिलम् ।
व्याप्नोति दारुणो व्याधिरयं नागनिमित्तजः ॥१०॥
प्राधान्येन महत्तत्र दौर्बल्यं लक्षणं भवेत् ।
अंसप्रकोष्ठयोस्तोदो बाह्वोश्च परिशीर्णता ॥११॥
नीलिमा दन्तवेष्टे स्यात्तथा शूलश्च जायते ।

जो मनुष्य हमेशा नाग (सीसक) से काम करते हैं, उनमें यह नागज पक्षाघात नामक रोग उत्पन्न हो जाता है। यह नाग के कारण होने वाली दारुण व्याधि अङ्गुलियों से प्रारम्भ होकर बाद में सारे मणिबन्ध को व्याप्त कर लेती है। प्रधानतः वहां पर दुर्बलता होती है। इसमें अंस और प्रकोष्ठों में तोद, बाहुओं में शीर्णता, दाँतों में नीलिमा तथा शूल होता है।

ऐन्द्रियक विकारजपक्षाघातमाह—

सुषुम्नाशीर्षके वापि मस्तिष्कगतिवर्त्मनि ।
शोथोऽर्बुदं तथा क्षैण्यं रक्तस्रावस्तथैव च ॥१२॥
पार्श्वस्थाङ्गस्य शूनत्वं भवेच्चेत्तेन जायते ।
गतिक्षेत्रीयतन्तूनामवरोधस्त्रुटनं तथा ॥१३॥
ततस्तु जायतेऽभावो गत्या व्याधेश्च सम्भवः ।
पूर्वोक्तानि हि लिङ्गानि ज्ञेयानि मनुजैरिह ॥१४॥

सुषुम्नाशीर्षक में वा मस्तिष्क के गतिक्षेत्र में यदि सूजन, अर्बुद, क्षीणता, रक्तस्राव वा समीपस्थ अङ्गों में सूजन हो जावे और उससे यदि गतिक्षेत्र की तन्तुएँ दब वा टूट जावें तो गति का अभाव हो जाता है, तथा यह व्याधि उपज आती है। इसमें पूर्वोक्त लक्षण ही जानने चाहिएँ।

व्यापारिकविकृतिजं पक्षाघातमाह—

रोगेऽस्मिञ्जायते नैव विकारो गतिवर्त्मनि ।
परन्तु जायते क्षेत्रे विकारः स्वान्तसंज्ञके ॥१५॥
मन एव गतिक्षेत्रं गत्या याज्ञपति ध्रुवम् ।
अतस्तस्मिन् हि सञ्जाते विकारे तन्न यच्छति ॥१६॥
आज्ञां नु गतितन्तुभ्यस्तस्मात् कार्यं न जायते ।
एवञ्च मांसपेशीनां शैथिल्यमुपजायते ॥१७॥
येन पक्षस्य घातः स्यात्तज्ज्ञा च लक्ष्मसंघता ।
एवं कष्टप्रदो व्याधिः स्यादयं मानसः खलु ॥१८॥

इस व्यापारिक विकृतिजन्य पक्षाघात में गतिपथ में कोई विकार नहीं होता, किन्तु मानसिक क्षेत्र में विकृति हो जाती है। मन ही गतिक्षेत्र को आज्ञा देता है। अतः

उसके विकृत हो जाने पर वह गति तन्तुओं को आज्ञा नहीं देता जिससे कि कोई कार्य नहीं होता। इस प्रकार मांसपेशियां शिथिल हो जाती हैं, जिससे पक्षाघात तथा पक्षाघातज लक्षण व्यूहता हो जाती है। इस प्रकार होने वाली यह कष्टद व्याधि मानसिक व्याधि है।

इति श्रीदीनानाथशर्मविग्रथिते निदानपरिशिष्टे आगन्तुजपक्षाघातनिदानम्।

अथ शैशवसंन्यासनिदानम्।

लक्षणमाह—

दुष्टस्तन्यस्य पानेन शीतसदनसेवनात्।
वातातपविहीनस्य दूषितस्य च दूषणैः ॥१॥
ईदृशस्य च गेहस्य सततं खलु सेवनात्।
मिथ्याहारविहारैश्च सेवितैर्बहुभिः शिशुः ॥२॥
संन्यासाभिधरोगेण ग्रस्यते क्रिमिभिस्तथा।
लक्षणानि च यानि स्युरुच्यन्ते तानि साम्प्रतम् ॥३॥
उत्तारनयनो बाल आक्षिप्ताङ्गो निसंज्ञकः।
काष्ठवत्पतितो भूमौ स्तब्धदेहो मृतोपमः ॥४॥
नाम्ना शैशवसंन्यासो रोगोऽयं शिशुपीडकः।
क्रिया शीघ्रफला चात्र रेचनञ्च हितं भवेत् ॥५॥

दुष्टस्तन्यपान से, शीतगृह के सतत सेवन से, वातातप रहित तथा दूषणों से दूषित गृहादि के सेवन से और मिथ्याहार विहार के अत्यधिक सेवन से बालक संन्यास नामक रोग से तथा कृमियों से पीड़ित हो जाता है। इस रोग में जो लक्षण होते हैं, अब ये कहे जाते हैं। इसमें बालक उत्तारलोचन, आक्षिप्ताङ्ग, संज्ञारहित एवं काष्ठ की तरह स्तब्ध शरीर वाला (वह) भूमि पर गिर जाता है। यह शैशवसंन्यास नामक रोग बालकों को पीड़ित करने वाला होता है। इसमें सद्यःफलप्रदा क्रिया तथा विरेचन हितकर होता है।

इति श्रीदीनानाथशर्मविग्रथिते निदानपरिशिष्टे शैशवसंन्यासनिदानम्।

अथ योषापस्मारनिदानम्।

योषापस्मारं परिचाययति—

मानसक्षेत्रसम्बन्धः प्रत्यक्षं यत्र नश्यति।
वेदना गतिरूपाभ्यां क्षेत्राभ्यां हि कथंचन ॥१॥
तथा यत्र च लिङ्गानि स्युश्चित्राणि बहूनि च।
यस्य रोगस्य ध्यानं स्यात्तस्यैवाक्रमणं भवेत् ॥२॥

---

१ Hysteria.

वस्तुतः किन्तु रोगस्य कस्यचिन्नात्र संस्थितिः ।
एवंविधश्च रोगोऽयं योषापस्मार उच्यते ॥३॥
केचिद्वैद्यास्त्विमं रोगं गणयन्त्यपतन्त्रके ।
योषित्स्वाधिक्यसम्भूतेर्योषापस्मार उच्यते ॥४॥

जहां पर किसी कारणवश मानसिक क्षेत्र का सम्बन्ध गतिक्षेत्र और सांवेदनिक क्षेत्र से स्फुट रूप से टूट जावे तथा जहां विचित्र और असंख्येय लक्षण होने लगें, एवं जहां वास्तव में कोई रोग न होने पर भी जिस रोग का ध्यान आवे उसी का ही आक्रमण हो जावे, इस प्रकार के रोग को योषापस्मार कहा जाता है । कई एक वैद्य इस रोग को अपतन्त्रक में ले लेते हैं। स्त्रियों में अधिकतर होने के कारण यह रोग योषापस्मार कहलाता है ।

वक्तव्य—योषापस्मार (Hysteria) उस अवस्था को कहा जाता है, जिसमें कि मानसिक क्षेत्र का प्रकट सम्बन्ध गतिक्षेत्र तथा सांवेदनिक क्षेत्र से टूट जाता है। इस प्रकार की स्थिति हो जाने पर इसमें सर्वथा विचित्र एवं असंख्येय लक्षण होते हैं। बल्कि यदि यह कह दिया जाय कि इसमें प्रत्येक रोग के लक्षण हो सकते हैं, किन्तु वस्तुतः कोई रोग नहीं होता तो कोई अत्युक्ति नहीं है। बहुत से वैद्यों ने इसे अपतन्त्रक के नाम से लिया है। यह व्याधि पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में अधिक होती है, क्योंकि स्त्रियां प्रकृतिपेलव (पेलवप्रकृति, नाजुकमिजाज) होती हैं अतः उनमें सहन शक्ति न्यून होती है; किन्तु पुरुष दृढसंकल्प होते हैं अतः उनमें सहन शक्ति अधिक होती है, जिससे उन्हें यह रोग नहीं होता । हाँ, जो पुरुष पेलवप्रकृति, अदृढसंकल्प और असहनशील होते हैं, उन्हें यह रोग हो जाता है । अतएव 'योषित्स्वाधिक्यसम्भूतेः' यह कहा है। अब इसमें यह बात आती है कि यदि यह रोग पुरुषों में भी होता है तो इसका नाम 'योषापस्मार' क्यों रक्खा है ? इसका उत्तर यह है कि ऐलोपैथी के अन्वेषकों ने जब इस रोग का अन्वेषण किया था तो उन्होंने इसे स्त्रियों में होने वाला रोग निर्धारित किया था। अतः उन्होंने इसका नाम 'हिस्टीरिया' रक्खा था किन्तु बाद में उन्हें अनुभव हुआ कि यह रोग पुरुषों में भी होता है, परन्तु इस अनुभव के समय इस रोग का उक्त (हिस्टीरिया) नाम प्रसिद्ध हो चुका था, जिससे कि परिवर्तित नहीं किया जा सका। अतएव यह रोग अब तक इसी नाम से चला आता है। बाद में आयुर्वेद के विद्वानों ने अनुवाद करते हुए इसका अर्थानुवाद कर दिया तथा यह उसी (योषापस्मार) नाम से प्रसिद्ध हो गया। अब इसे परिवर्तित करना विद्वानों की शृङ्खला भङ्ग करना है । अतः हमने भी इस पारिभाषिक नाम को उसी तरह यहां स्थापित कर दिया है । परिवर्तन में शक्तिग्रह विलम्ब से होने की सम्भावना होती है ।

योषापस्मारकारणान्याह—

रुधिरस्य क्षयाद्वापि तथाऽजीर्णस्य भावतः ।
कोष्ठबन्धान्मनोभङ्गाच्छोकादुद्वेगतस्तथा ॥५॥
तरुणीनां रजोनाशाज्जरायुविकृतेस्तथा ।
प्रकृतेः पेलवत्वाच्च नैष्ठुर्याद् गृहजैः कृतात् ॥६॥

पत्युरस्नेहभावाच्च वैधव्यशोकहेतुतः ।
रोगोऽयं जायते कष्टो मनोदेहप्रतापनः ॥७॥
योपित्सु जायते भूम्ना रोगोऽयमतिदारुणः ।
अपस्मारस्वरूपोऽतो योपापस्मारसंज्ञितः ॥८॥
रोगस्यास्य कालो हि यौवनं सुधीभिर्मतः ।
न भवेद्द्वादशाद्वर्षात्पूर्वं पञ्चाशतः परम् ॥९॥

शोणितक्षय से, अजीर्ण से, कोष्ठबद्धता से, मानसिक कष्ट से, शोक से, उद्वेग से, स्त्रियों के मासिक धर्मनाश से, जरायु (अपरा) की विकृति से, प्रकृतिपेलवता के कारण, गृहजनों की निष्ठुरता के कारण, पति के प्रेम का अभाव होने से और वैधव्यज दुःख के कारण, मन और शरीर को सन्ताप देने वाला कृच्छ्रसाध्य यह रोग हो जाता है। यह अपस्मार स्वरूप अतिदारुण रोग अधिकतर स्त्रियों में ही होता है। अतः योपापस्मार कहलाता है। विद्वानों ने इसका काल युवावस्था माना है, अतः यह १२ वर्ष की अवस्था से पूर्व तथा पचास वर्ष की अवस्था के बाद नहीं होता।

योपापस्मारस्य सम्प्राप्तिनिर्देशः—

पूर्वोक्तैर्हेतुभिः स्याद्धि मनःसंस्थानविकृतिः ।
ततो मानसिकक्षेत्रसम्बन्धविच्युतिर्भवेत् ॥१०॥
वेदनागतिरूपाभ्यां क्षेत्राभ्यां हि सकाशतः ।
ततः प्राग्रूपरूपाणां दर्शनञ्चात्र जायते ॥११॥

पूर्वोक्त शोणितक्षय आदि कारणों से यहां पहले मानसिक क्षेत्र में विकृति आ जाती है; और बाद में सांवेदनिक क्षेत्र तथा गतिक्षेत्र से मानसिकक्षेत्र की सम्बन्ध-विच्युति हो जाती है। एवं इसके बाद इसमें पूर्वरूप और रूपों का दर्शन होता है। यह इसकी सम्प्राप्ति है।

योपापस्मारस्य प्राग्रूपं निरूपयति—

हृत्पीडा जृम्भणं चैव सादो मनःशरीरयोः ।
योपापस्मारतः पूर्वं भवतीति न संशयः ॥१२॥

हृदयपीड़ा, जम्भाइयाँ, मानसिक अवसाद और शारीरिक अवसाद निःसंशय योपापस्मार से पूर्व होता है।

योपापस्मारस्य लक्षणमाह—

लक्षणानि भवन्त्यत्र विचित्राणि बहूनि च ।
यस्य रोगस्य ध्यानं स्यात्तस्यैवाक्रमणं भवेत् ॥१३॥
अथवा यानि लिङ्गानि सुदृष्टानि श्रुतानि च ।
कश्चिद्रोगिणि तानि स्युरातुरेऽस्मिन् महागदे ॥१४॥
तथापि यानि लिङ्गानि दृश्यन्तेऽत्र विशेषतः ।
आचित्य तानि सर्वाणि लिख्यन्ते बोधनाय वै ॥१५॥

क्रन्दनं रोदनं बुद्धेर्विभ्रमश्च विचित्तता।
प्रलापो ज्योतिर्विद्वेष उच्चैःक्रोशस्तथा भ्रमः ॥१६॥
कण्ठे कफाशये पीडा चौद्धत्यं श्वासकृच्छ्रता।
क्वचिदङ्गे सदा पीडा स्पर्शशक्तेश्च वर्धनम् ॥१७॥
जठराच्च गलं यावत्स्यान्मिथ्यागुल्मजन्मता।
बुद्धिनाशस्तथा मूर्च्छा रोगेऽस्मिञ्जायते खलु ॥१८॥

इस रोग में लक्षण विचित्र एवं बहुत होते हैं। इसमें जिस रोग का ध्यान आ जावे उसी के लक्षण प्रारम्भ हो जाते हैं। अथवा किसी रोगी में जो लक्षण देखे वा सुने हों वे लक्षण भी इस दारुण व्याधि के रोगी में हो आते हैं। यद्यपि इस रोग के विषय में यही बातें हैं, किन्तु फिर भी जो लक्षण इसमें विशेषतः दीखते हैं, उन सब को एकत्रित कर ज्ञानार्थ लिखा जाता है। कुरौना, रोना, बुद्धिविभ्रम, खिन्नमनस्कता, बकवास, प्रकाश-द्वेष, ऊँचा चिल्लाना, भ्रम, कण्ठ पीड़ा, आमाशय पीड़ा, उद्धतता, श्वासकाठिन्य, किसी एक अङ्ग में सदा पीड़ा, किसी एक अङ्ग में स्पर्शशक्ति की वृद्धि, जठर से कण्ठ तक झूठे गुल्मों की उत्पत्ति, बुद्धिनाश और मूर्च्छा ये लक्षण प्रायः इस रोग में होते हैं।

योषापस्मारपरिणामः—

परिस्थित्यनुसारं स्यादस्य परिणतिः खलु।
यैरयं जायते रोगस्तैः शान्ते सम्प्रशाम्यति ॥१९॥
स्थितैस्तैः कारणैर्वृद्धिर्दृश्यते नात्र संशयः।
विनाशे कारणानान्तु हठादेव प्रशाम्यति ॥२०॥
कश्चिदत्रातुरो नैव प्रायो याति हि पञ्चताम्।
आयुर्वृद्धौ तु रोगोऽयं स्वत एव प्रशाम्यति ॥२१॥
प्रकृतेरन्यथाभावो न जातु जायते क्वचित्।
तस्मादस्यापि रोगस्य भवेदाक्रमणं मुहुः ॥२२॥

इसका परिणाम परिस्थिति के अनुसार होता है। यह रोग जिन कारणों से होता है, उनके दूर हो जाने पर शान्त हो जाता है, और यदि वे कारण स्थित रहते हैं, तो निःसंशय रोग की वृद्धि हो जाती है। जब इसमें उत्पादक कारण नष्ट हो जाते हैं, तो यह रोग अकस्मात् शान्त हो जाता है। इस रोग में प्रायः कोई रोगी नहीं मरता। आयु की वृद्धि हो जाने पर यह रोग स्वयं शान्त हो जाता है। कहीं पर भी कभी प्रकृति का परिवर्तन नहीं होता अतः (कोमलप्रकृति का भी परिवर्तन नहीं होता जिससे) रोगी पर इस रोग का वार वार आक्रमण होता है।

इति श्रीदीनानाथशर्मविग्रथिते निदानपरिशिष्टे योषापस्मारनिदानम्।

अथोपदंशनिदानम् ।

उपदंशं परिचाययति—

विद्वद्भिरस्य नामानि यानि प्रोक्तानि तानि हि ।
तेषां ग्रन्थेभ्य आदाय विलिख्यन्तेऽत्र साम्प्रतम् ॥१॥
आतशकोपदंशौ च गर्मीसिफलिसौ[1] तथा ।
फिरङ्गरोगनामा च न्वैते पर्यायवाचकाः ॥२॥
कैश्चित्फिरङ्गरोगस्तु पर्यायेणात्र नोच्यते ।
परन्तु मन्यतेऽस्माभिर्मिलितैव तदाकृतिः ॥३॥
साम्प्रतमुपदंशस्य विषयश्चावलम्ब्यते ।
पूर्वं द्विधोपदंशः स्यात्तत्र दोषनिमित्तजः ॥४॥
प्रथमो, जन्तुसम्भूतो द्वितीयः प्रोच्यते बुधैः ।
दोषजः कथितः पूर्वं जीवाणुजोऽथ कथ्यते ॥५॥
अयं रोगश्चिरस्थायी संसर्गहेतुसम्भवः ।
व्रणाश्चैवात्र जायन्ते वहिस्थे जननेन्द्रिये ॥६॥
पश्चाद्रोगाणवो रक्ते गत्वा कुर्वन्ति लक्षणम् ।
सामान्यं लिङ्गमेतद्धि विशिष्टं चाथ कथ्यते ॥७॥

विद्वानों ने इसके जितने नाम लिखे हैं, वे सब उनके ग्रन्थों से उद्धृत कर अब यहां लिखे जाते हैं। आदशक, उपदंश, गर्मी, सिफलिस (Syphilis) तथा फिरङ्गरोग; ये नाम हैं। कई विद्वानों ने फिरङ्गरोग को इनका पर्यायवाचक नहीं माना। परन्तु हम इस निदानपरिशिष्ट में उसे मिलित ही लिखेंगे। अब उपदंश का विषय लिया जाता है। उपदंश पहले दो प्रकार का होता है—एक दोषज और दूसरा जीवाणुज। इनमें से दोषज उपदंश पहले (मा० नि० में) कहा जा चुका है, अतः अब जीवाणुज उपदंश कहा जाता है। यह एक चिरस्थायी सांसर्गिक रोग है, जिसमें बाह्य जननेन्द्रियों पर व्रण हो जाते हैं; और बाद में रोगाणु रक्त में जाकर विविध लक्षण उत्पन्न करते हैं। यह इसका सामान्य परिचय है। अब विशेष परिचय आगे कहा जाता है।

अस्य कारणमाह—

प्रधानं कारणं चास्य 'स्पाइरोकीट[2] पैलिडा' ।
प्रोक्तं तस्याकृतिर्ज्ञेया जीवाणोः कर्तरिणीसमा ॥८॥
ग्राम्यधर्मेण प्रायोऽस्य भवेदाक्रमणं खलु ।
क्वचित्संक्रमणैश्चान्यैरस्य संक्रमणं भवेत् ॥९॥
पित्रोरपि हि बालेषु रोगेणानेन ग्रस्तयोः ।
स्याद्रोगस्यास्य सम्भूतिर्वर्ण्यते पृथगेव सा ॥१०॥

१ Syphilis. २ [illegible]

जीवाणोर्मैथुनाद्यत्र प्रसरस्तत्र मन्यते ।
व्रणता लिङ्गवास्तुषु स्त्रीपुंसोरुपदंशजा ॥११॥

इस रोग में प्रधान कारण 'स्पाइटो कीटा पैलिडा' है । इस जीवाणु की आकृति कर्पिणी के समान होती है । इसका आक्रमण अधिकतर मैथुन द्वारा होता है, किन्तु कहीं २ अन्य संक्रमणों द्वारा भी इसका संक्रमण हो जाता है । इस उपदंश रोग से ग्रस्त माता पिता से भी यह रोग बालकों में आ जाता है । इसका वर्णन पृथक् किया जावेगा । जहां पर मैथुन के कारण जीवाणुओं का प्रसार होता है, वहां पर स्त्री पुरुषों की बाह्य जननेन्द्रियों में उपदंशजव्रणता अवश्य मानी जाती है ।

अस्य सम्प्राप्तिरुच्यते (प्रथमावस्था)—

स्पर्शस्थानेऽस्य रोगस्य जीवाणुः कुरुते व्रणम् ।
त्वचि पूर्वं हि सैलानां सूक्ष्माणां वर्धनं भवेत् ॥१२॥
ततः सौत्रिकतन्तूनामेधनं जायते खलु ।
रक्तधरा कला शूना सैलयुक्ता तथा भवेत् ॥१३॥
अनेन हेतुना तासां धराणां वर्त्मसूक्ष्मता ।
भवेत्तथा लसीकाग्रन्थीनां सन्निधिवर्तिनाम् ॥१४॥
वृद्धिस्तासु हि सैलानामाधिक्येन च जायते ।
अस्येयं प्रथमावस्था विद्वद्भिः कथिता खलु ॥१५॥

इस रोग का जीवाणु स्पर्शस्थान पर व्रण उत्पन्न कर देता है । पहले वहां त्वचा पर सूक्ष्म (एवं गोल) सैलों की वृद्धि होती है और तदनु वहाँ सौत्रिक तन्तुओं की वृद्धि हो जाती है । रक्तवाहिनियों की रक्तधरा कला शोथयुक्त हो जाती है और उनमें गोल सैलें बढ़ जाती हैं । इसीकारण उन रक्तवाहिनियों का मार्ग तंग हो जाता है । एवं उनमें गोल सैलों की भी वृद्धि हो जाती है । विद्वानों ने इस रोग की इस अवस्था को पहली अवस्था कहा है ।

अस्या एव द्वितीयामवस्थामाह—

सप्ताहे खलु षट्के तु ग्रन्थिभ्यो यान्ति शोणिते ।
जीवाणवोऽस्य रोगस्य ततो हि कुर्वते त्वचि ॥१६॥
श्लैष्मिकावरणे वाऽथ पिडकाः स्फोटकाँस्तथा ।
लसीकाग्रन्थयश्चात्र वर्धन्तेऽखिलकायजाः ॥१७॥
पूर्ववत्सैलतन्तूनां वृद्धिश्च ग्रन्थिपूर्भवेत् ।
अस्येयं सुधीभिः प्रोक्ता द्वितीया हि परिस्थितिः ॥१८॥

छः सप्ताह में इस रोग के जीवाणु लसीकाग्रन्थियों से रक्त में चले जाते हैं और तदनु वहां जाकर त्वचा वा श्लैष्मिककला में पिडकाएँ वा स्फोट उत्पन्न कर देते हैं । इसमें सारे शरीर की लसीकाग्रन्थियाँ बढ़ जाती हैं तथा उनमें पूर्ववत् गोल सैलों और सौत्रिकतन्तुओं की वृद्धि हो जाती है । यह इस रोग की विद्वानों द्वारा प्रतिपादित द्वितीय अवस्था है ।

अस्या एव तृतीयामवस्थामाह—

प्रायो वर्षद्वयादूर्ध्वमस्य रोगस्य चाणवः ।
तनोर्विशिष्टभागेषु श्यानग्रन्थीन्नु कुर्वते ॥१९॥
ग्रन्थयश्चैव तत्रस्था मांसपेशीभिरावृताः ।
असौक्ष्म्यसौक्ष्म्ययुक्ता वा सैलैः सुलघुवर्तुलैः ॥२०॥
तथा श्लैष्मिकसैलैः स्युः कृताश्च सौत्रतन्तुभिः ।
एवं च ग्रन्थयः पश्चात् स्फुटतां यान्ति मध्यतः ॥२१॥
ग्रन्थीनां स्फुटिते पश्चात् व्रणता तत्र जायते ।
धराश्च रज्जुसङ्काशाः सङ्कीर्णाश्च भवन्ति वै ॥२२॥
मस्तिष्के हि यदा तासां जायते मार्गरुद्धता ।
तदा पक्षवधो मूर्च्छा मरणं चापि जायते ॥२३॥
हृदये वा यदा तासां जायते वर्त्मरुद्धता ।
हृदयकार्यावरोधश्च भवेच्च विस्तृतिर्हृदः ॥२४॥
अन्ये चाप्युपसर्गा हि भवन्ति प्राणनाशनाः ।
अस्येयं सुधीभिः प्रोक्ता तृतीया हि परिस्थितिः ॥२५॥

प्रायः दो वर्ष के बाद इस रोग के जीवाणु शरीर के विशेष भागों में श्यान ग्रन्थियां (गमा- Gumma) उपजा देते हैं। वे ग्रन्थियां मांसपेशियों से आवृत, सूक्ष्म वा स्थूल, क्षुद्र गोल सैलों से, श्लैष्मिकसैलों से तथा सौत्रिकतन्तुओं से निर्मित होती हैं। इसके अनन्तर वे ग्रन्थियां गलकर बीच से फूट जाती हैं और उनके फूट जाने पर वहां व्रण बन जाते हैं। इस अवस्था में रक्तवाहिनियां रज्जु के समान दृढ़ एवं सङ्कीर्ण मार्ग वाली हो जाती हैं। सङ्कीर्णता की अधिकता हो जाने के कारण जब कभी मस्तिष्क में उनका मार्ग रुक जाता है, तो पक्षाघात, मूर्च्छा तथा कभी २ मृत्यु भी हो जाती है। अथवा जब कभी हृदय में उनका मार्ग रुक जाता है, तो हृदयकार्यावरोध (हार्ट फेल) या हृदयविस्तृति अथवा अन्य प्राणनाशक उपद्रव हो जाते हैं। विद्वानों ने यह इसकी तीसरी अवस्था मानी है।

आसूत्तरोत्तरं जीवाणूनामल्पतामाह—

आस्ववस्थासु जानीयादुत्तरोत्तरमल्पता ।
व्रणेषु रोगकर्तॄणां जीवाणूनां हि निश्चितम् ॥२६॥

उपर्युक्त इन तीन अवस्थाओं में होने वाले व्रणों में रोगकारक जीवाणुओं की निःसन्देह उत्तरोत्तर अल्पता जाननी चाहिए।

वक्तव्य—भाव यह है कि प्रथमावस्था के व्रणों में जीवाणु बहुत ज्यादह होते हैं। द्वितीयावस्था में अल्प और तृतीयावस्था में अल्पतम होते हैं। इसका सारांश यह है कि प्रथमावस्था के व्रणों में जीवाणुओं की अधिकता होने के कारण रोगप्रसार अतिशीघ्र होता है, द्वितीयावस्था के व्रणों में जीवाणुओं की अल्पता होने के कारण रोगप्रसार शीघ्र नहीं होता। एवं तृतीय अवस्था के व्रणों में जीवाणुओं की अल्पतमता होने के कारण रोग-प्रसार अत्यल्प होता है या नहीं होता।

अस्य लक्षणम्—

शरीरे यत्र तत्र स्युर्ग्रन्थयः श्यानसंज्ञिताः।
वर्णं तु भवेदेषां ताम्रवन्मांसवत्तथा ॥२७॥
शरीरस्योभयोः स्युश्च भागयोः समदेशगाः।
मिलिता वहवस्ते हि व्रजन्ति चक्रवालताम् ॥२८॥
मन्दज्वरो भवेदत्र तथा च कण्ठपाकता।
रक्तस्य न्यूनता चापि तथा स्यादिन्द्रलुप्तता ॥२९॥
नक्तं शिरसि पीडा स्यादस्थिषु शूनताव्यथे।
मुखनासौष्ठपायुषु श्लेष्मच्छदे च योनिजे ॥३०॥
व्रणानां हि समुत्पत्तिर्जायते नात्र संशयः।
परिस्थित्यां तृतीयायां लिङ्गानां वर्धनं भवेत् ॥३१॥
पूर्वोक्तानां, तथास्थिषु श्यानग्रन्थिसमुद्भवः।
हृदि च यकृति प्लीह्नि फुफ्फुसयोश्च संभवः ॥३२॥
श्यानानां हि भवेदत्र ततश्च स्फुटनं भवेत्।
स्फुटिते च तथा रूढे तत्र स्यात्सौत्रतन्तुता ॥३३॥
स्त्रीषु गर्भस्य पातः स्यात् पूर्वं हि क्रमशस्ततः।
विलम्बेन, ततोऽपातोऽल्पजीवी च प्रजायते ॥३४॥
एवमत्र क्रमाद्बालः सोपदंशस्तथायुवान्।
जायते, सहजं तस्य नूपदंशं समादिशेत् ॥३५॥

इस रोग में यत्र तत्र श्यानग्रन्थियां हो जाती हैं, जिनका वर्ण ताम्रवत् वा मांसवत् होता है। ये ग्रन्थियां शरीर के दोनों ओर सम भागों में होती हैं। जब वे बहुत सी मिल जाती हैं, तो मण्डल की आकृति में परिणत हो जाती है। इसमें मन्दज्वर, कण्ठपाक, रक्तन्यूनता, इन्द्रलुप्त, रात को सिर में पीड़ा, अस्थियों में पीड़ा एवं सूजन हो जाती है। मुख, नासिका, ओष्ठ, गुदा और योनि की श्लैष्मिककला में व्रण हो जाते हैं। इसकी तीसरी अवस्था में इन पूर्वोक्त लक्षणों की और भी वृद्धि हो जाती है; तथा अस्थियों में श्यान ग्रन्थियां उपज आती हैं। हृदय, यकृत, प्लीहा और फुफ्फुसों में भी श्यानग्रन्थियां हो जाती हैं; और बाद में वे फूट जाती हैं। उनके फूट कर भर जाने पर वहां सौत्रिकतन्तु हो जाते हैं। इस रोग में ग्रस्त स्त्रियों में पहले गर्भपात हो जाता है, फिर क्रमशः वह पात देर देर बाद होता जाता है, तदनु च पात नहीं होता किन्तु अल्पजीवी बालक उत्पन्न होता है। एवं यहां पर क्रमशः बाद में उपदंशयुक्त एवं दीर्घायु बालक भी उत्पन्न होता है। उस बालक में होने वाले उपदंश को सहज उपदंश कहा जाता है।

वक्तव्य—भाव यह है कि उपदंशवती स्त्री को यदि गर्भ हो जावे तो वह मर कर गिर जाता है। पुनः दूसरा गर्भ उससे कुछ देर बाद गिरता है एवं तीसरा उससे भी देर बाद। तदनु कुछ आगे चल कर ऐसी अवस्था आ जाती है कि पूरे समय पर अल्पजीवी बालक पैदा होता है। इसके भी बाद दीर्घजीवी बालक भी उत्पन्न होता है, किन्तु उसे सहज उपदंश अवश्य होगा।

अत्रोपद्रवानाह—

फुफ्फुसे यकृति प्लीह्नि संकोचः पक्षवातता ।
अपस्मारश्च मूर्च्छा च तथा स्युर्वातजा गदाः ॥३६॥
उन्मादोपि भवेदत्र जातूपसर्गरूपतः ।

फुफ्फुस, यकृत और प्लीहा में सङ्कोच, पक्षाघात, अपस्मार, मूर्च्छा, वातिकरोग और उन्माद ये यहां पर उपद्रव रूप से होते हैं ।

इति श्रीदीनानाथशर्मविग्रथिते निदानपरिशिष्टे उपदंशनिदानम् ।

अथ सहजोपदंशनिदानम् ।

सहज उपदंशः स्यादादिवलनिमित्तजः ।
उपदंशस्य जीवाणुभिर्दुष्टे शुक्रशोणिते ॥१॥
सति, तयोर्भवेद्गर्भश्चेत्स हि पतति ध्रुवम् ।
अथ कदाचिदपातः स्यान्नव्येप्युपदंशसंज्ञके ॥२॥
रोगे, बालस्य चोत्पत्तिः स्यात्तथास्मिन्महागदे ।
स सहजोपदंशेन तदा युक्तो हि जायते ॥३॥
अन्तर्वत्नी यदि कान्ता नूपदंशेन जायते ।
उपदंशेन तदाक्रान्तो जातो हि जायते शिशुः ॥४॥

सहज उपदंश आदि बल (जीवाणुजुष्ट शोणितशुक्र) के कारण होता है । शुक्र और शोणित के उपदंशीय जीवाणुओं के दुष्ट होने पर, यदि उनसे गर्भ रह जावे तो वह गिर जाता है और यदि दैववश कभी नव्य उपदंश में भी गर्भ न गिरे तथा बच्चा पैदा हो जावे तो वह बच्चा सहज उपदंश से युक्त ही उत्पन्न होता है । यदि गर्भवती स्त्री को उपदंश हो जावे तो उससे उत्पन्न बालक सांसर्गिक उपदंश से ग्रस्त होता है ।

वक्तव्य—भाव यह है कि यदि गर्भधारण से पूर्व स्त्री वा पुरुष को उपदंश हो और तदनु गर्भस्थिति होकर सन्तानोत्पत्ति हो जावे तो वह सन्तति सहज उपदंश से ग्रस्त होगी; और यदि गर्भस्थिति के अनन्तर स्त्री को उपदंश हो जावे तथा उसकी योनि पर औपदंशिक व्रण उपज आएं एवं तदनु वह बालक उन व्रणों से सम्पर्कित होकर आवे तो वह सांसर्गिक उपदंश से ग्रस्त होगा ।

अत्र वैशिष्ट्यमाह—

सहजातोपदंशे तु बुधैः ज्ञेयमिदं सदा ।
मातरि ह्युपदंशस्य चिह्नानि नैव स्युर्यदि ॥५॥
बालके तानि चेत्स्युश्च तदा स खलु बालकः ।
प्रभवति न रोगाय मातरि, जायते पुनः ॥६॥
अन्यत्र रोगसंक्रान्त्यै प्रभुर्नैवात्र संशयः ।

कथञ्चिद्यदि दम्पत्योरुपदंशार्तयोरथ ॥७॥
नीरुपदंशको बालो जायते तु तदा पुनः ।
संसर्गजोऽपि तं रोगो नोपदंशो भवेदिह ॥८॥
आयुर्वृद्धौ तु रोगस्य क्षमतेयं सुशाम्यति ।

सहज उपदंश के विषय में बुद्धिमान् वैद्यों को यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि यदि माता में उपदंश के चिह्न न हों और बालक में वे चिह्न हों तो वह बालक माता में (अपने व्रणों द्वारा सांसर्गिक) उपदंश नहीं उपजा सकता, किन्तु अन्य व्यक्तियों में निःसंदेह उपजा सकता है । अथच यदि किसी प्रकार उपदंश से पीड़ित दम्पति से उपदंश (लक्षणों से) रहित बालक उत्पन्न हो जावे तो वह बालक सांसर्गिक उपदंश से भी आक्रान्त नहीं होता । परन्तु अवस्था के बढ़ जाने पर यह क्षमता शान्त हो जाती है ।

सहजोपदंशलक्षणम्—

लक्षणानि भवन्त्यत्र यानि तानि प्रचक्ष्महे ॥९॥
जातमात्रे तु बाले हि न किञ्चिल्लक्षणं भवेत् ।
चतुःसप्ताहतः पश्चात् पाटलपिडकाजनिः ॥१०॥
स्यान्मुखनासिकादिषु नग्नेषु चैव धामसु ।
व्यापिन्यस्तु ततो भूत्वा व्रणतां खलु यान्ति ताः ॥११॥
क्षीयन्त ईदृशा बाला वलिभिर्निचिताननाः ।
नखेषु पतनं तेषामथवा स्याच्च विकृतिः ॥१२॥
इन्द्रलुप्तस्य सम्भूतिर्व्रणता च मुखोष्ठयोः ।
स्वरयन्त्रस्य नासायाः श्लैष्मिकावरणे व्रणाः ॥१३॥
जायन्ते, जायते चैव नासास्थ्नोर्गलितिर्ध्रुवम् ।
विलम्बेनास्थिकेन्द्राणां सङ्गमो जायते मिथः ॥१४॥
त्वरया दशनोत्पत्तिर्विनाशश्चापि जायते ।
युवावस्थासमापन्ने तस्मिँल्लक्षणानि वै ॥१५॥
भवन्ति यानि चोक्तानि प्राक् तृतीयपरिस्थितौ ।
सन्त्येतानि हि चिह्नानि कुमारे बीजदोषजे ॥१६॥
क्षीणदुर्बलते स्यातां गरीयानायुर्विभासते ।
चिप्पिटो नासिकासेतुः शिरसि समता भवेत् ॥१७॥
चिरेण कस्य रन्ध्राणि प्रायो यान्ति हि पूर्णताम् ।
तीक्ष्णाः कीलसमाः स्युश्च ऊर्ध्वस्था भेदका रदाः ॥१८॥
ओष्ठयोः प्रान्ततो बाह्यं व्रणाः स्युश्चक्रलक्षणाः ।
सन्ति स्थूलानि चान्तानि दीर्घास्थ्नां, नेत्रयोस्तथा ॥१९॥
कदाचिच्छुक्रसम्प्राप्तिः शौन्यं स्याच्चोपतारके ।
अन्ये च नेत्ररोगाः स्युर्बाले सहजोपदंशजे ॥२०॥

सहज उपदंश में जो लक्षण होते हैं, अब वे कहे जाते हैं। उत्पन्न होते ही बालक में कोई विशेष लक्षण नहीं होता; किन्तु चार सप्ताह के बाद मुख, नासिका आदि नग्न प्रदेशों पर पाटल (गुलाबी) वर्ण की पिडकाएँ हो आती हैं। बाद में वे परस्पर व्याप्त होकर व्रण में परिणत हो जाती हैं। इस रोग से ग्रस्त ऐसे बालक क्षीण होते जाते हैं; तथा उनके मुख पर झुर्रियां पड़ जाती हैं। उनके नाखून गिरने लग जाते हैं, वा विकृत हो जाते हैं। बाल झड़ने लगते हैं। मुख और ओष्ठों पर व्रण हो जाते हैं। स्वरयन्त्र और नासिका की श्लैष्मिककला में व्रण उपज आते हैं; तथा नासा की अस्थि गल जाती है। अस्थियों के केन्द्रों का परस्पर मिलाव विलम्ब से होता है, दांतों की उत्पत्ति अवस्था से पूर्व ही हो जाती है तथा (दूध के) दांत गिर भी शीघ्र जाते हैं। एवं जब सहजोपदंशग्रस्त बालक युवा अवस्था में आ जाता है, तो उसे उपदंश की तीसरी अवस्था में प्रतिपादित किए हुए लक्षण हो आते हैं। उपदंश के जीवाणुओं से उपतप्त शुक्र शोणित-जन्य बालक के कुछ बड़ा हो जाने पर उसमें क्षीणता और दुर्बलता आ जाती है। वह छोटी अवस्था वाला होने पर भी बड़ी अवस्था वाला प्रतीत होता है। उसका नासासेतु चिप्पिट तथा सिर सपाट होता है। सिर के रन्ध्र देर बाद मिलते हैं, ऊर्ध्वस्थभेदक दांत तीक्ष्ण एवं कील के समान हो जाते हैं। होठों के किनारों के बाहर की ओर चक्र के समान व्रण हो जाते हैं, दीर्घ अस्थियों के सिर स्थूल होते हैं, नेत्रों में कभी २ फोला पड़ जाता है, उपतारिका में सूजन हो जाती है तथा इस सहजोपदंशी बाल में अन्य नयनविकार भी हो जाते हैं।

उपदंशातिदेशेन फिरङ्गरोगस्याकृतिः—

इयमेव फिरङ्गस्य सुधीभिराकृतिर्मता।
अस्य नाम्नि तु यद्बीजं तदिह वक्ष्यतेऽधुना ॥२१॥
फिरङ्गसंज्ञके देशे बाहुल्येनैव यद्भवेत्।
तस्मात्फिरङ्ग इत्युक्तो व्याधिर्व्याधिविशारदैः ॥२२॥
गन्धरोगः फिरङ्गोऽयं जायते देहिनां ध्रुवम्।
फिरङ्गिणोऽङ्गसंसर्गात् फिरङ्गिण्याः प्रसङ्गतः ॥२३॥

फिरङ्ग रोग का लक्षण भी विद्वानों ने यहीं माना है। इसके नाम में जो बीज है, वह अब यहां पर बताया जाता है। फिरङ्ग नामक देश में अधिक होने के कारण व्याधि-विशारद वैद्यों ने इस व्याधि को 'फिरङ्गरोग' के नाम से कहा है। यह फिरङ्गरोग गन्ध-रोग है और यह रोग मनुष्यों में, फिरङ्गियों के अङ्गस्पर्श के कारण या फिरङ्गिणी के साथ मैथुन आदि करने के कारण होता है।

फिरङ्गोपदंशरोगे उपसर्गानाह—

कार्श्यं बलक्षयो नासाभङ्गो वह्नेश्च मन्दता।
अस्थिशोषोऽस्थिवक्रत्वं फिरङ्गोपद्रवा अमी ॥२४॥

कृशता, बलहानि, नासाभङ्ग, अग्निमान्द्य, अस्थिशोष और वक्रास्थिता; ये फिरङ्ग रोग के उपद्रव हैं।

[illegible]—

फिरङ्गस्त्रिविधो ज्ञेयो बाह्य आभ्यन्तरस्तथा।

वहिरन्तर्भवश्चापि तत्र साध्यादिकं ब्रुवे ॥२५॥
वहिर्भवो भवेत् साध्यो नवीनो निरुपद्रवः ।
आभ्यन्तरस्तु कष्टेन साध्यः स्याद्द्वयमामयः ॥२६॥
वहिरन्तर्भवश्चापि क्षीणस्योपद्रवैर्युतः ।
व्याप्तो व्याधिरसाध्योऽयमित्याहुर्मुनयः पुरा ॥२७॥

फिरङ्ग (आतशक वा उपदंश) तीन प्रकार का होता है—एक बाह्य, दूसरा आभ्यन्तरिक और तीसरा उभयग (बाह्याभ्यन्तरभव) । अब यहां साध्यादि कहे जाते हैं । निरुपद्रव बाह्य उपदंश साध्य होता है, आभ्यन्तरिक उपदंश कष्टसाध्य और क्षीण मनुष्य का उपद्रवान्वित एवं व्याप्त उपदंश असाध्य होता है; यह मुनियों ने पूर्व कहा है ।

इति श्रीदीनानाथशर्मविग्रथिते निदानपरिशिष्टे उपदंशरोगनिदानम् ।

अथ भृशोष्णवातनिदानम् ।

अस्य परिचयः—

गनोरिया सुज़ाकश्च तथा भृशोष्णवातकः ।
एतेऽस्य वक्ष्यमाणस्य नामान्यामयस्य हि ॥१॥
तीव्रे सांसर्गिके रोगेऽस्मिन्स्यात्पूयस्य निर्गमः ।
नरेषु मूत्रमार्गेण स्त्रीषु योनिपथा तथा ॥२॥

गनोरिया (Gonorrhea), सुज़ाक तथा भृशोष्णवात; ये इस वक्ष्यमाण व्याधि के नाम हैं । इस तीव्र सांसर्गिक रोग में मनुष्यों में मूत्रमार्ग द्वारा तथा स्त्रियों में योनिमार्ग (अपत्यपथ) द्वारा पूय आने लगती है ।

भृशोष्णवातस्य कारणम्—

कारणं ह्यस्य रोगस्य युगलबिन्दुकासमाः ।
कीटाणवो बुधैः प्रोक्ता रोगस्यास्य च सङ्क्रमः ॥३॥
ग्राम्यधर्मेण जायेत मातुश्च योनिवर्त्मनः ।
जायमानेषु बालेषु नेत्रपाको हि सङ्क्रमात् ॥४॥

विद्वानों ने इस रोग का कारण युगल बिन्दुकाकार कीटाणु कहा है और इस रोग का सङ्क्रमण मैथुन द्वारा होता है । एवं माता के योनिमार्ग से उत्पन्न होते हुए बालकों में सङ्क्रमण द्वारा नेत्रपाक हो जाता है ।

वक्तव्य—उपर्युक्त का भाव यह है कि यह रोग मैथुन से फैलता है । इसका मुख्य कारण युगल बिन्दुकाकार कीटाणु है, तथा रोगग्रस्त योनिपथ से उत्पन्न होते हुए शिशु की आंखों में सङ्क्रम होने से नेत्रपाक हो जाता है ।

भृशोष्णवातस्य सम्प्राप्तिः—

कीटाणवोऽस्य रोगस्य प्राप्तास्ते जननेन्द्रिये ।

---

१ Gonorrhea.

मैथुनेन हि, तत्रस्थां दहन्ति श्लैष्मिकां कलाम् ॥५॥
तदास्पदं प्रदग्धं हि स्यादाशु पूयसंयुतम् ।
स्वैरं स्वैरं हि रोगोऽयं मूत्रस्थानं प्रधावति ॥६॥
ग्रसयन् मूत्रवर्त्मानं नृग्रन्थिं फलकोशके ।
कदाचिच्छूनता तत्र भवेत् पूयादिकं तथा ॥७॥
कदाचिदस्य रोगस्य कीटकाः शोणिते गताः ।
सन्धिशोथं हि कुर्वन्ति कदाचित् कीटरक्तताम् ॥८॥
कृत्वा च रोगिणस्तस्य जायन्ते मृत्युहेतवे ।

इस रोग के वे कीटाणु मैथुन द्वारा जननेन्द्रिय में प्राप्त होकर वहां की श्लैष्मिककला को प्रदग्ध कर देते हैं। पुनः वह प्रदग्ध स्थान शीघ्र पूयान्वित हो जाता है; तथा यह रोग धीरे धीरे मूत्रमार्ग, पौरुषग्रन्थि तथा अण्डकोशों को ग्रस्त करता हुआ मूत्राशय की ओर चला जाता है। एवं कभी २ यहां सूजन तथा पूय आदि लक्षण भी हो जाते हैं। कभी कभी इस रोग के कीटाणु रक्त में जाकर सन्धिशोथ उपजा देते हैं और विरलावस्था में सैप्टीसीमिया उत्पन्न करके रोगी की मृत्यु का कारण बन जाते हैं।

अस्य परिपाककालमाह—

कालोऽस्य परिपाकस्य द्व्यहादष्टदिनावधिः ॥९॥

इस रोग के परिपाक का समय दो दिन से आठ दिन तक है।

भृशोष्णवातस्य लक्षणमाह—

मूत्रमार्गे भवेद्दाहो रुजया च समन्वितः ।
पूयस्यागमनं पश्चाच्छिश्नमुण्डे च शूनता ॥१०॥
कटिश्रोणिप्रदेशे च रुजा, ज्वरसमागमः ।
शोथः श्लेष्मकलायाश्च स्थितायां मूत्रवर्त्मनि ॥११॥
मूत्रकृच्छ्रश्च मेहश्च रक्तस्य, मूत्ररोधता ।
अग्रे रोगस्य संक्रान्तिस्ततश्च स्याच्च शूनता ॥१२॥
पौरुषग्रन्थ्याश्च शुक्रस्य धाम्नि च शुक्रग्रन्थिषु ।
एभिरुपद्रवैर्जातैरवस्था दुःखदा भवेत् ॥१३॥
रोगस्य च न शान्तिः स्यादथ कदाचित्स्यादपि ।
सौत्रिकतन्तुभिर्मार्गं तत्स्यात्सङ्कीर्णतां गतम् ॥१४॥
तदा दाहादिभिः कष्टैः रोगी भवति दुःखितः ।
स तेन जीवनं वेत्ति सर्वथा नरकायितम् ॥१५॥
प्रमदासु च रोगोऽयं जायते योनिवर्त्मनि ।
गर्भस्य वास्तुनि डिम्बप्रणाल्यावरकेषु च ॥१६॥

इस रोग में मूत्रमार्ग में दाह और पीड़ा होती है, पूय आती है, शिश्नमुण्ड में सूजन हो जाती है, कटि तथा श्रोणिप्रदेश में पीड़ा होती है, ज्वर भी आने लगता है, मूत्रमार्ग की श्लैष्मिककला में सूजन हो जाती है, मूत्रकृच्छ्र हो जाता है, रक्तमेह हो

जाता है, मूत्र रुक जाता है, रोग आगे की ओर बढ़ जाता है और पौरुषग्रन्थि, शुक्राशय तथा शुक्रग्रन्थियों में सूजन हो जाती है। इन उपद्रवों के हो आने पर अवस्था दुःखद हो जाती है, तथा रोग की शान्ति नहीं होती। यदि कभी कुछ समय के लिए शान्ति सी हो भी जाए तो मूत्रमार्ग सौत्रिक तन्तुओं के कारण संकुचित हो जाता है। तब दाहादि कष्टों से रोगी अत्यन्त दुःखित होता है, तथा उस दुःख के कारण वह अपने जीवन को सर्वदा नरकसदृश समझता है। स्त्रियों में यह रोग योनिमार्ग, गर्भाशय, डिम्बप्रणालियों व परिविस्तृतकला में हो जाता है।

अस्योपसर्गाः—

शूनता पौरुषग्रन्थ्यां तथा शुक्राशये पुनः।
शुक्रग्रन्थिषु मूत्रस्य धाम्नि मूत्रस्य पूर्णता ॥१७॥
परितो मूत्रमार्गस्य विद्रधीनां भवेज्जनिः।
स्फुटिताभिस्ततस्ताभिरुग्रा भवति शूनता ॥१८॥
अथवा जायते नाडी बहुदुःखप्रदा खलु।
उपद्रवा भवन्त्यत्र चोष्णवाते सुदारुणे ॥१९॥

पौरुषग्रन्थि, शुक्राशय तथा शुक्रग्रन्थियों में सूजन; मूत्राशय का मूत्रपूर्ण, मूत्रमार्ग के चारों ओर विद्रधियों की उत्पत्ति, उन विद्रधियों के फटने से उग्र सूजन अथवा बहुदुःखद नाडीव्रण का होना, ये इस दारुण उष्णवात में उपद्रव होते हैं।

इति श्रीदीनानाथशर्मविग्रथिते निदानपरिशिष्टे भूशोष्णवातनिदानम्।

अथ अंशुघातनिदानम्।

अंशुघातस्य (Sun stroke.) नामानि—

सनस्ट्रोकोऽशुघातश्च 'सर्दी गर्मी' तथैव च।
नामान्येतानि रोगस्य प्रोक्तान्यस्य बुधैः पुरा ॥१॥

पहले विद्वानों ने इस रोग के सनस्ट्रोक (Sun stroke), अंशुघात तथा सर्दी गर्मी—ये नाम कहे हैं।

अंशुघातकारणम्—

प्राय उष्णप्रदेशेषु प्रचण्डातपकारणात्।
भूप्रदेशस्य चार्द्रत्वान्नैश्चल्यात् पवनस्य च ॥२॥
प्रकुर्वत्सूष्णकार्येषु नरेषु तत्प्रभावतः।
अंशुघाताभिधो व्याधिर्दुर्बलादिषु जायते ॥३॥

प्रायः उष्ण प्रदेशों में प्रचण्ड धूप के कारण, स्थान के क्लिन्न होने के कारण तथा वायु के स्तब्ध होने के कारण इन्हीं के प्रभाव से उष्णव्यवसाय करने वाले मनुष्यों में तथा दुर्बलादिकों में यह अंशुघात नामक रोग हो जाता है।

वक्तव्य—भाव यह है कि यह रोग गर्मी में ही अधिकतर होता है और उस पर भी तब जब कि छाया स्थानों का भी ताप ११० फा. से अधिक हो जावे तथा वायु मन्द

हो। निरन्तर धूप में, एञ्जिनों में अथवा टीन की छत वाले मकानों में काम करने वालों को इसके होने की अधिक सम्भावना रहती है। थकावट, दुर्बलता तथा ज्वर ये इस रोग के सहायक कारण हैं।

अंशुघातस्य सम्प्राप्तिः—

तीव्रतापाच्छरीरस्थसैलविश्लेषणं भवेत्।
ततो विषं समुद्भूय करोति विषरक्तताम् ॥४॥
अथवा घृणयो भानोः प्रचण्डाः कोपयन्ति हि।
तापकेन्द्रं सुषुम्नास्थं तेन स्याद्रोगसम्भवः ॥५॥

अतितीव्रताप से शरीरस्थ सैलों का विश्लेषण होता है, जिससे कि विष उत्पन्न होकर रक्त में मिल जाता है, (अर्थात् विषरक्तता-टाक्सीमिया कर देता है) अथवा सूर्य की प्रचण्ड किरणें सुषुम्ना में स्थित तापकेन्द्र को प्रकुपित कर देती हैं, जिससे कि रोग उत्पन्न हो जाता है।

वक्तव्य—यह आवश्यक नहीं है कि अतितीव्रताप वा सूर्यरश्मियाँ तत्काल रोग उपजा दें। प्रत्युत पहले शरीर में दोषसञ्चय होता रहता है, पुनः किसी साधारण कारण से भी रोग उत्पन्न हो जाता है। तीव्रतापादि से सन्तप्त सुषुम्नागत तापकेन्द्र उत्तेजित होकर तापसञ्चय करता रहता है।

अंशुघातस्य लक्षणमाह—

अवस्थाश्चास्य रोगस्य तिस्रो हि परिकीर्तिताः।
शीता साधारणा तीव्रा नाम्ना चोक्ता मनीषिभिः ॥६॥
तत्राद्यां श्रममूर्च्छायौ स्यातां त्वक्क्लिन्नशीतला।
दुर्बला च तथा तीव्रा नाडी ह्यत्र मता बुधैः ॥७॥
रोगिणो नात्र मृत्युः स्यात् क्रियया सैव जीवति।
यदि स्यात्कारणं तत्र हृदः कार्यावरुद्धता ॥८॥
द्वितीयायां शिरःशूलं पीडा च वमनं तथा।
त्वचा शुष्का तथोष्णा च चञ्चला क्षीणदुर्बला ॥९॥
दुर्बलौ हृदयश्वासौ स्यातामत्र विशेषतः।
मूर्च्छादीनि हि चिह्नानि पूर्ववदिति निश्चितम् ॥१०॥
तृतीयायां ज्वरस्तीव्रः प्रलापः श्वसनं तथा।
वर्णे नीलत्वमत्र स्यात् संन्यासो मरणं तथा ॥११॥

इस अंशुघात नामक रोग की तीन अवस्थाएँ होती हैं, जो कि विद्वानों ने क्रमशः शीत, साधारण और तीव्र नाम से कही हैं। उनमें पहली अवस्था में श्रम, मूर्च्छा, त्वक्क्लिन्नता, त्वक्शीतता और नाड़ी की दुर्बलता एवं तीव्रता होती है। इसमें रोगी की मृत्यु नहीं होती, किन्तु चिकित्सा करने से वह बच जाता है और यदि कदाचित् मृत्यु हो भी तो उसमें कारण हृदयकार्यावरोध होता है। द्वितीय अवस्था में विशेषतः शिरःशूल, पीड़ा, वमन, त्वचा में शुष्कता एवं उष्णता, नाड़ी में चञ्चलता, क्षीणता एवं दुर्बलता और

हृदय तथा श्वास की दुर्बलता होती है। एवं मूर्च्छादि लक्षण इसमें पहली अवस्था की तरह होते हैं। तीसरी अवस्था में ज्वर तीव्र होता है, प्रलाप होता है, श्वास होता है, वर्ण नीला हो जाता है एवं इसमें संन्यास तथा मृत्यु भी हो जाती है।

अत्रासाध्यलक्षणमाह—

पाणौ पादे च नीलत्वं धमन्याः क्षणलुप्तता।
विक्षेपणं च गात्राणां मरणायांशुघातिनः ॥१२॥

हाथ पैरों का नीला होना, क्षण क्षण में धमनी का अदृश्य हो जाना और गात्रों में विक्षेपण होना अंशुघात रोगी की मृत्यु के लिए होता है।

इति श्रीदीनानाथशर्मविग्रथिते निदानपरिशिष्टे अंशुघातनिदानम्।

अथ शीतलानिदानम्।

शीतलां परिचाययति—

देव्या शीतलयाऽऽक्रान्ता मसूर्यः शीतला बहिः।
ज्वरयेयुर्यथा भूताधिष्ठितो विषमज्वरः ॥१॥
ताश्च सप्तविधाः ख्यातास्तासां भेदान् प्रचक्ष्महे।

शीतला देवी से आक्रान्त मनुष्य में मसूरिकाएँ भूताभिषङ्गज विषमज्वर की तरह ज्वरित कर लेती हैं; और वे मसूरिकाएँ सात प्रकार की होती हैं। अब उनके भेद कहे जाते हैं।

वक्तव्य—उपर्युक्त का भाव यह है कि शीतलारोग में शरीर पर पिडकाएँ निकल आती हैं, तथा भूताभिषङ्गज विषमज्वर की तरह उसमें ज्वर भी हो आता है।

बृहतीशीतलालक्षणम्—

ज्वरपूर्वा बृहत्स्फोटैः शीतला बृहती भवेत् ॥२॥
सप्ताहान्निस्सरत्येव सप्ताहात्पूर्णतां व्रजेत्।
ततस्तृतीयसप्ताहे शुष्यति स्खलति स्वयम् ॥३॥

बड़ी माता ज्वर पूर्व बड़े बड़े स्फोटों से युक्त होती है। यह एक सप्ताह में निकलती है, दूसरे सप्ताह में पूर्ण होती है, तीसरे सप्ताह में सूखती है और तदनु स्वयं गिर जाती है।

वक्तव्य—भाव यह है कि तीसरे सप्ताह के बाद माता के स्फोट सूख जाते हैं, अतः तब खुरण्ड उतर २ कर गिरने लगते हैं, जो कि धीरे धीरे सभी उतर जाते हैं।

कोद्रवशीतलालक्षणम्—

वातश्लेष्मसमुद्भूता कोद्रवा कोद्रवाकृतिः।
कश्चित्तां प्राह पक्केति सा तु पाकं न गच्छति ॥४॥
जलशूकवदङ्गानि सा विध्यति विशेषतः।
सप्ताहाद्वा दशाहाद्वा शान्तिं याति विनौषधम् ॥५॥

कोद्रव नाम वाली शीतला वातश्लेष्म से उत्पन्न होती है तथा कोदों की सी आकृति वाली होती है। कोई कोई विद्वान् इसे 'पक्का' कहता है और यह पाक को प्राप्त नहीं होती।

यह अङ्गों को जलशूक की तरह विद्ध कर देती है; तथा सात दिन वा दस दिन के बाद औषधि के विना ही शान्त हो जाती है।

पाणिसहाशीतलास्वरूपम्—

ऊष्मणा सूक्ष्मजा रूपा सकण्डूः स्पर्शनप्रिया।
नाम्ना पाणिसहाख्याता सप्ताहाच्छुष्यति स्वयम् ॥६॥

गर्मी से आग के समान कण्डूयुक्त और स्पर्शप्रिय जो शीतला होती है, वह पाणिसह नाम वाली होती है तथा एक सप्ताह के बाद अपने आप सूख जाती है।

सर्षपिकाशीतलाया आकृतिः—

चतुर्थी सर्षपाकारा पीतसर्षपवर्णिनी।
नाम्ना सर्षपिका ज्ञेयाऽभ्यङ्गमत्र विवर्जयेत् ॥७॥

चौथी मसूरिका सर्षप के समान आकार वाली और पीली सरसों के समान वर्ण वाली होती है। इसे सर्षपिका नाम से जानना चाहिए। यहां अभ्यङ्ग त्याज्य है।

राजिकाकृतिमसूरिकालिङ्गम्—

किञ्चिदूष्मनिमित्तेन जायते राजिकाकृतिः।
एषा भवति बालानां सुखं च शुष्यति स्वयम् ॥८॥

राजिकाकृति मसूरिका कुछ गर्मी के कारण राई की सी आकृति में होती है। प्रायः यह बालकों में ही होती है तथा अपने आप सुखपूर्वक सूख जाती है।

षष्ठीं मसूरिकामाह—

कोठवज्जायते षष्ठी लोहितोत्ततमण्डला।
ज्वरपूर्वा व्यथायुक्ता ज्वरस्तिष्ठेद्दिनत्रयम् ॥९॥
स्फोटानां मेलनादेषा बहुस्फोटाऽपि दृश्यते।

छठी मसूरिका कोठ की तरह लाल और ऊपर की ओर विस्तृत मण्डल वाली होती है। इसमें ज्वर पहले होता है तथा व्यथा भी होती है। इसमें ज्वर तीन दिन तक रहता है। यही मसूरिका स्फोटों के मेल से बहुस्फोटा के रूप में भी दीखती है।

सप्तमीं मसूरिकामाह—

एकस्फोटा च कृष्णा च बोद्धव्या चर्मजाभिधा ॥१०॥

एक एक स्फोट वाली तथा कृष्णवर्ण की मसूरिका चर्मजा नाम वाली होती है।

इति श्रीदीनानाथशर्मविरचिते निदानपरिशिष्टे शीतलारोगनिदानम्।

अशीतिवातरोगनामानि।

अशीतिर्वातजा रोगाः कथ्यन्ते मुनिभाषिताः।
प्रस्रंसस्वेदयोर्नाशो दुर्बलत्वं बलक्षयः ॥१॥
कम्पः कार्श्यं श्यावता च प्रलापः क्षिप्रमूत्रता।
आक्षेपको हनुस्तम्भ ऊरुस्तम्भः शिरोग्रहः ॥२॥

मूकत्वमतिजृम्भा स्यादत्युद्गारोऽन्त्रकूजनम् ।
वातप्रवृत्तिः स्फुरणं सिराणां पूरणं तथा ॥३॥
वाह्यायामोऽन्तरायामः पार्श्वशूलं कटिग्रहः ।
अङ्गपीडाङ्गशूलश्च सङ्कोचस्तम्भरूक्षता ॥४॥
अङ्गभङ्गोऽङ्गविभ्रंशो विड्ग्रहो बद्धविट्कता ।
दण्डापतानकः खल्ली जिह्वास्तम्भस्तथार्दितम् ॥५॥
अङ्गभेदोऽङ्गशोषश्च मिन्मिनत्वं च कल्लता ।
प्रत्यष्ठीला तथाऽष्ठीला वामनत्वं च कुब्जता ॥६॥
पक्षाघातः क्रोष्टुशीर्षो मन्यास्तम्भश्च पङ्गुता ।
अपतानो व्रणायामो वातकण्टोऽपतन्त्रकः ॥७॥
गृध्रसी पादहर्षश्च विश्वाची चापवाहुकः ।
कलायखञ्जता तूनी प्रतितूनी च खञ्जता ॥८॥
रेतःप्रवर्तनं चाति नवा स्यात् कृशता तथा ।
चेतसश्चानवस्थानं काठिन्यं विरसास्यता ॥९॥
कषायमुखताऽऽध्मानं प्रत्याध्मानञ्च शीतता ।
भीरुत्वं रोमहर्षश्च तोदः कण्डू रसाज्ञता ॥१०॥
वधिरता प्रसुप्तिश्च गन्धाज्ञानं दृशोः क्षयः ।
इमे नानात्मजा रोगा वायोरुक्ता मुनीश्वरैः ॥११॥

अब मुनियों से कहे हुए वायु के अस्सी (८०) रोग कहे जाते हैं—१ निद्रानाश, २ स्वेदनाश, ३ दुर्बलता, ४ बलक्षय, ५ कम्पन, ६ कृशता, ७ श्यावता, ८ प्रलाप, ९ शीघ्रमूत्रता, १० आक्षेपक, ११ हनुस्तम्भ, १२ ऊरुस्तम्भ, १३ शिरोग्रह, १४ मूकपन, १५ अतिजृम्भा, १६ अत्युद्गार, १७ अन्त्रकूजन, १८ वातप्रवृत्ति, १९ स्फुरण, २० सिरापूरणता, २१ वाह्यायाम, २२ अन्तरायाम, २३ पार्श्वशूल, २४ कटिग्रह, २५ अङ्गपीड़ा, २६ अङ्गशूल, २७ अङ्गसङ्कोच, २८ स्तम्भ, २९ रूक्षता, ३० अङ्गभङ्ग, ३१ अङ्गविभ्रंश, ३२ विड्ग्रह, ३३ बद्धविट्कता, ३४ दण्डापतानक, ३५ खल्ली, ३६ जिह्वास्तम्भ, ३७ अर्दित, ३८ अङ्गभेद, ३९ अङ्गशोष, ४० मिन्मिनत्व, ४१ कल्लता, ४२ प्रत्यष्ठीला, ४३ अष्ठीला, ४४ वामनपन, ४५ कुब्जता, ४६ पक्षाघात, ४७ क्रोष्टुशीर्ष, ४८ मन्यास्तम्भ, ४९ पाङ्गुल्य, ५० अपतानक, ५१ व्रणायाम, ५२ वातकण्टक, ५३ अपतन्त्रक, ५४ गृध्रसी, ५५ पादहर्ष, ५६ विश्वाची, ५७ अपवाहुक, ५८ कलायखञ्ज, ५९ तूनी, ६० प्रतितूनी, ६१ खञ्जता, ६२ शुक्रातिप्रवृत्ति, ६३ शुक्राप्रवृत्ति, ६४ कृशता, ६५ अनवस्थितचित्तता, ६६ कठिनता, ६७ विरसास्यता, ६८ कषायमुखता, ६९ आध्मान, ७० प्रत्याध्मान, ७१ शीतता, ७२ भीरुत्व, ७३ रोमहर्ष, ७४ तोद, ७५ कण्डू, ७६ अरसज्ञता, ७७ अश्रुति, ७८ प्रसुप्ति, ७९ गन्धाज्ञान और ८० दृष्टिनाश; ये मुनिप्रोक्त वायु के नानात्मज रोग हैं ।

चत्वारिंशत्पित्तरोगनामानि ।

चत्वारिंशद्भिदाः पित्तजन्याः प्रोक्ता मुनीश्वरैः ।
धूमोद्गारो विदाहश्चोष्णाङ्गत्वं मतिविभ्रमः ॥१॥
छविह्रासो गले शोषो मुखशोषोऽल्पशुक्रता ।
तिक्तास्यताम्लवक्त्रत्वं घर्मस्रावोऽङ्गपाकता ॥२॥
क्लमो हरितवर्णत्वमतृप्तिः पीतगात्रता ।
तमसो दर्शनं पीतमण्डलानाञ्च दर्शनम् ॥३॥
उष्णोच्छ्वासत्वमुष्णत्वं मूत्रस्य च मलस्य च ।
शीतेच्छा पीतनखता तेजोद्वेषोऽल्पनिद्रता ॥४॥
कोपश्च गात्रसादश्च भिन्नविट्कत्वमन्धता ।
दौर्गन्ध्यं पीतमूत्रत्वमरतिः पीतविट्कता ॥५॥
पीतावलोकनं पीतनेत्रता पीतदन्तता ।
रक्तद्रावोऽङ्गदरणं लोहगन्धास्यता तथा ॥६॥
निस्सरत्वञ्च पित्तस्य चत्वारिंशद्रुजः स्मृताः ।

मुनियों ने पित्त के ४० रोग कहे हैं। तद्यथा—१ धूमोद्गार, २ विदाह, ३ उष्णाङ्गता, ४ मतिविभ्रम, ५ कान्तिह्रास, ६ कण्ठशोष, ७ मुखशोष, ८ अल्पशुक्रता, ९ तिक्तमुखता, १० अम्लमुखता, ११ घर्मस्राव, १२ अङ्गपाक, १३ क्लम, १४ हरितवर्णता, १५ अतृप्ति, १६ पीतगात्रता, १७ तमोदर्शन, १८ पीतमण्डलोत्पत्ति, १९ उष्णोच्छ्वास, २० उष्णमलता, २१ उष्णमूत्रता, २२ शीतेच्छा, २३ पीतनखता, २४ तेजोद्वेष, २५ अल्पनिद्रता, २६ क्रोध, २७ गात्रसाद, २८ भिन्नविट्कता, २९ आन्ध्य, ३० दुर्गन्धता, ३१ पीतमूत्रता, ३२ अरति, ३३ पीतविट्कता, ३४ पीतावलोकन, ३५ पीतनेत्रता, ३६ पीतदन्तता, ३७ रक्तद्राव, ३८ अङ्गविदरण, ३९ लोहगन्धमुखता और ४० पित्तनिस्सरता—ये ४० पित्तज रोग हैं।

विंशतिः श्लेष्मरोगनामानि ।

कफस्य विंशती रोगास्तृप्तिस्तन्द्राऽतिनिद्रता ।
स्तैमित्यं गुरुगात्रत्वमालस्यं मुखमिष्टता ॥१॥
मुखस्रावो बलासस्योद्गिरणं मलभूरिता ।
कण्ठहृदुपलेपश्च धमनीप्रचयो बलासकः ॥२॥
गलगण्डोऽति च स्थौल्यं शीताग्नित्वमुदर्दता ।
श्वेतावभासता श्वेतविण्मूत्रनेत्रता तथा ॥३॥

कफ के बीस रोग होते हैं। तद्यथा—१ तृप्ति, २ तन्द्रा, ३ अतिनिद्रा, ४ स्तिमितता, ५ गुरुगात्रता, ६ आलस्य, ७ मुखमाधुर्य, ८ मुखस्राव, ९ कफोद्गिरण, १० मलाधिक्य, ११ कण्ठोपलेप, १२ हृदयोपलेप, १३ धमनीप्रतिचय, १४ बलासक, १५ गलगण्डता, १६ अतिस्थूलता, १७ अग्निमान्द्य, १८ उदर्दता, १९ श्वेतावभासता तथा २० मलमूत्र और नेत्र की श्वेतता।

ग्रथितुर्विनीतावेदनम्—

स्खलितं यद्यदत्र स्यात् प्रमादेन भ्रमेण वा।
तत्तत्सर्वं समाधाय मां हि क्षाम्यन्तु शास्त्रिणः॥४॥

प्रमादवश वा भ्रमवश यहां जो जो त्रुटि हो गई हो उस उस त्रुटि का समाधान कर विद्वान् लोग मुझे क्षमा करें।

इति श्रीदैवज्ञदिवाकरश्रीपण्डितदेवीचन्द्रशर्मात्मजेन कविराजश्रीदीनानाथशर्म-शास्त्रिवैद्यवाचस्पतिना विग्रथितं निदानपरिशिष्टं समाप्तम्।

शुद्धिपत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
८	३३	इनमें	इनसे
१२	२८	चरकेन	चरकेण
१६	२५	कालिक	त्रैकालिक
१८	२२	नम्रताभाव	नम्रभाव
३०	१०	हेतुनिदानम्	हेतुर्निदानम्
३१	२८	एककस्यै०	एकस्यै०
४०	१४	०कार्य	कार्थे
४१	१४	अन्तराग्नि	अन्तरग्नि
४१	२१	अन्नकूजन	अन्त्रकूजन
४१	३२	०नुपपद्यन्ते	०नुपद्यन्ते
४३	२६	विग्रद्धप	विग्रद्देप
५५	३१	प्रस्वप्न	प्रस्वप्नं
६२	५	कार्य कारण	कार्य में कारण
७९	२१	वैपम्य	वैपम्यं
८१	३३	मदातुर	सदातुर
८१	३७	आपको	आम को
९४	४	तैर्यग्योना	तैर्यग्योन्या
१०४	३६	लवणाम्लौ	लवणाम्लौ
२१६	३२	रक्त	रक्तं
२३७	३२	यथाभिलापी	यथोभिलापी
२९६	२८	विधान	बाधन
३७७	१	प्रकोप	प्रकुपित
४००	६	क्षौम	धौत
४०३	३	क्षीणे तेना	क्षीणेषु तेना०
४९५	५	अनभिधान	अभिवात
४६५	६	किंय	कि
४६५	६	रक	परक
५१७	१०	लिङ्ग वृद्धि के	लिङ्ग वृद्धि में
६०५	१८	निषेध	विक्षेप
६५७	१८	कल्यागृरकः	कर्णागूथकः
८०६	२५	०वापेयानां	०बुभेमानां
६२३	१०	मूलं दण्ड०	मूलं हि दण्ड०
६२४	१५	विविधैः	नाना
६२४	२४	भिन्नाध्रता	भिन्नान्त्रता
६२५	२२	सीमा	सीमात्र
६२५	२५	मोद्धू०	उद्धू०
६२५	२६	तारा वा०	ता एवा०
६२६	१	परिताचिता	परितश्चिता
६२६	२	०वर्द्धति	०वर्द्धति
६२८	२७	कीटाणुनि०	कीटो हि नि-
६२८	३१	तासां	तेषां
६२९	१	सर्वैव	सर्वे च
६३९	१	शरीरजा	शरीरजाः
६४०	१३	सर्वाः	सर्वे
६४१	२३	रोगिने	रोगिणे
६४३	२१	आन्त्रिकः	आन्त्रिकश्च
६४६	११	केचिच्छ्ले०	केचिन्नु श्ले०
६४६	२६	बाहुल्येना०	बहु चा०
६६७	२५	अभितः०	अभितो०
६४९	२२	फुफ्फुदहौ	फुफ्फुसंदहौ
६५०	१४	सर्वेस्त्रू०	सर्वेष्वू०
६५१	१२	चर्मनो०	चर्मना०
६५२	२८	प्रायः०	प्रायो०
६५३	६	गले	मले
६५५	१४	०ष्पाद०	०ष्पत्
६५५	२३	मगक	मग
६५६	८	ऽष्टाहेन	अष्टाहेषां
६५८	२०	वारोहे तु	वारोहे
६५९	३१	ज्वरघ्न	ज्वरश्च
६६०	१	पुनर्न्यासत्र	पुनरन्वग
६६१	११	मानु	मानु
६७२	६	वायुना	मायुना

छप गई ! छप गई !! छप गई !!!

महर्षि सुश्रुत प्रणीत

सुश्रुतसंहिता

भाषा टीका सहित

अनुवादक

डा. भास्कर गोविन्द घाणेकर

बी. एस्. सी., एम्. बी. बी. एस्., आयुर्वेदाचार्य

प्रोफेसर आयुर्वेद कालेज, हिन्दू विश्वविद्यालय, बनारस

भूमिकालेखक

भारतविख्यात आचार्य यादव जी त्रिकम जी, बम्बई

भाषा बहुत सरल। भाषा टीका के अतिरिक्त प्रत्येक अनुवादांश के साथ विद्वत्तापूर्ण मार्मिक वक्तव्य दिए गए हैं, जिनमें आयुर्वैदिक मतों व गूढ़ आशयों का परीक्षण डाक्टरी, होमियोपैथी, सायन्स आदि के साथ किया गया है। प्राच्य और पाश्चात्य चिकित्सा प्रणाली के विस्तारपूर्वक विवेचन से यह ग्रन्थ अपने ढंग का बिलकुल नया और सर्वोत्तम है। इसके मुकाबले के भाषानुवाद सहित सुश्रुतसंहिता आज तक भारत भर में नहीं छपी। विद्वानों के कथनानुसार यह टीका आयुर्वैदिक संसार में नवीन युग परिवर्तन करने वाली है। विद्यार्थियों के लिए यह एक अत्यावश्यक अंग है। सूत्र और निदान स्थान छप गया। अन्य स्थान भी छप रहे हैं। समग्र की पृष्ठसंख्या १५०० के लगभग होगी।

सूत्र-निदान स्थानात्मक प्रथम भाग। पृष्ठसंख्या ५०० के लगभग।

सजिल्द मूल्य केवल ५) पाँच रुपये

प्राप्तिस्थान

मेहरचन्द लक्ष्मणदास

संस्कृत हिन्दी पुस्तक विक्रेता

सैदमिट्ठा बाज़ार, लाहौर